श्री अद्वैत सिद्धान्त

"आदि भूल"

द्वारा

वेदान्तकेसरी श्री स्वामी हेमराज जी महाराज चिदाकाशी

प्रकाशक

श्री सत्य धर्म मण्डल (रजि०)

स्वामी हेमराज चिदाकाशी मिशन

Scanned with CamScanner

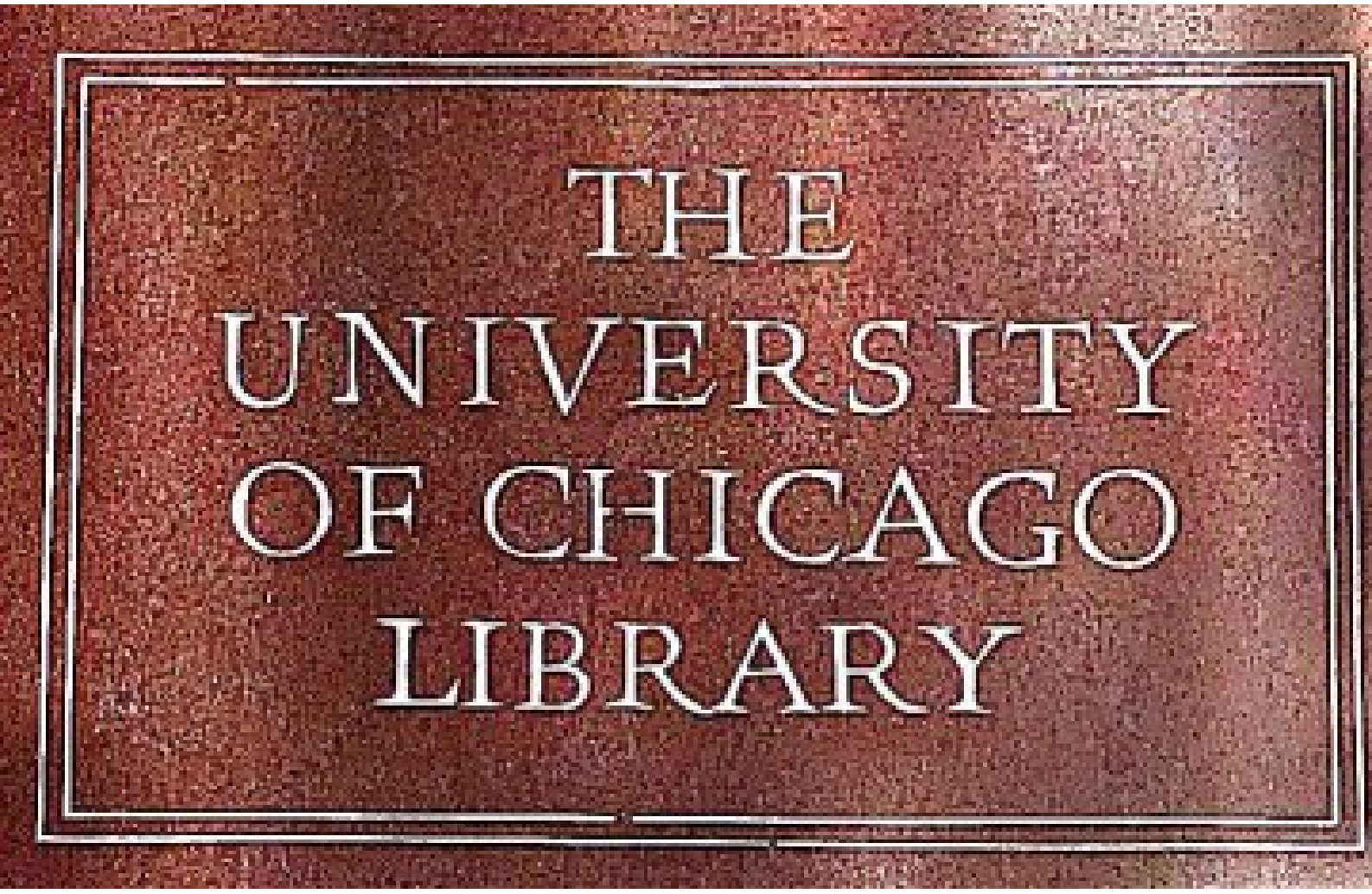

Scanned with CamScanner

I-H-73-913197

Provided by the Library of Congress
Public Law 480 Program.

प्रकाशक :
श्री विद्यावती सत्यधर्म मन्दिर (रजि०)
स्वामी हेमराज मिशन मार्ग,
७/५, पूर्वी पटेल नगर, नई दिल्ली-१२
परिवर्तित मूल्य ..... रुपये

Scanned with CamScanner

Sri advaita siddhanta

श्री अद्वैत सिद्धान्त

"आदि मूल"

कृत

वेदान्तकेसरी श्री स्वामी हेमराज जी महाराज चिदाकाशी

Chidakashi, Hanraj

UNIVERSITY OF CHICAGO LIBRARY

अनुवादक

वेदान्ताचार्य श्री स्वामी चेतनानन्द जी चिदाकाशी आयुर्वेद वृहस्पति

(D. Sc. A)

प्रकाशक

श्री सत्य धर्म मण्डल (रजि०)

स्वामी हेमराज चिदाकाशी मिशन

कार्यालय

१५४२, दरियागंज, समीप पटौदी हाउस,

दिल्ली-६

आश्रम

श्री सत्यधर्म मन्दिर, स्वामी हेमराज मिशन मार्ग

७/५, पूर्वी पटेलनगर, नई दिल्ली-१२

Scanned with CamScanner

© सर्वाधिकार सुरक्षित

PL 480

प्रकाशक	:	वेदान्ताचार्य स्वामी चेतनानन्द चिदाकाशी आयुर्वेद वृहस्पति, D. Sc. A. संस्थापक श्री सत्य धर्म मण्डल स्वामी हेमराज मिशन (रजि०) ७।५ स्वामी हेमराज मिशन मार्ग, पूर्वी पटेलनगर, नई दिल्ली-१२
कार्यालय	:	१५४२, दरियागंज, समीप पटौदी हाउस, दिल्ली-६
द्वितीय संस्करण	:	सितम्बर १९६२
मूल्य	:	~~आठ~~ रुपये
मुद्रक	:	श्यामसुन्दर गर्ग, हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, १४९९, शिवाश्रम, क्वींस रोड, दिल्ली-६

Scanned with CamScanner

अनुक्रमणिका

ब्रह्मशतकम्	५
प्राक्कथन	७
विनम्र निवेदन	९
श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ श्री १०८ स्वामी हेमराज जी महाराज चिदाकाशी की संक्षिप्त जीवनी	११
परमहंस श्री स्वामी परमानन्द जी चिदाकाशी की संक्षिप्त जीवनी	१७
अब दिल्ली में	२५
	पृष्ठ से तक
१. सत्य धर्म सिद्धान्त	१— २४
२. जिज्ञासा सिद्धान्त	२५— ९०
३. सत्संग सिद्धान्त	९१—१०८
४. सद्गुरु सिद्धान्त	१०९—१३६
५. मन सिद्धान्त	१३७—१५९
६. उपासना सिद्धान्त	१६०—१७९
७. शरीर सिद्धान्त	१८०—२१४
८. जीवात्मा सिद्धान्त	२१५—२६०
९. संसार सिद्धान्त	२६१—२९६
१०. परमात्मा सिद्धान्त	२९७—३०९
११. यथार्थ ज्ञान सिद्धान्त	३१०—३९०
१२. यथार्थ ज्ञानी सिद्धान्त	३९१—४१९
१३. विज्ञान सिद्धान्त	४२०—४६६
१४. जीवन मुक्ति सिद्धान्त	४६७—४९५
१५. विदेह मुक्ति सिद्धान्त	४९६—५१८
१६. सम्मतियाँ	५१९—५३१

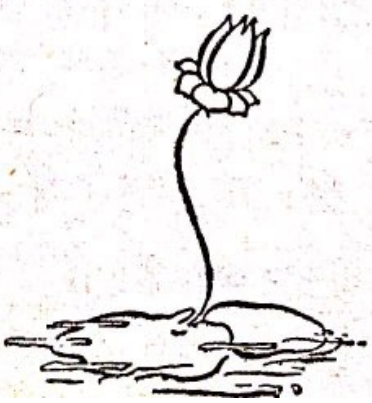

Scanned with CamScanner

॥ ॐ नमः शुद्धचिदानन्दब्रह्मणे ॥

अथ ब्रह्मशतकम्

ओम् तत् सत् ब्रह्म अज, शुद्ध अजन्म अनूप।
निर्विकार केवल अचल; सत् चित् आनन्द रूप ॥ १ ॥

सर्वव्यापी एक रस, निराकार निजरूप।
पूर्ण पुरुष अपार इक, स्वयं प्रकाश अरूप ॥ २ ॥

अधिष्ठान आधार जग, नारायण श्रीराम।
ज्ञानस्वरूप अखंड अति, सर्वात्म निहकाम ॥ ३ ॥

दुख भंजन संकटहरण, दीनानाथ दयाल।
वंदनयोग बंधु सकल, हितकारी किरपाल ॥ ४ ॥

विष्णुरूप प्रतिपाल जग, सगुण विराट स्वरूप।
संहारक शिवरूप सो, कारण ब्रह्मा रूप ॥ ५ ॥

अविनाशी अक्षर अमल, शून्य विज्ञान असंग।
परमातम पररूप सों, निर्विशेष निहरंग ॥ ६ ॥

दयासिन्धु करुणाभवन, क्षमानिधि गुणमूल।
सर्वसंग सब तें परे, नाशक सगरे शूल ॥ ७ ॥

वासुदेव ईश्वर सकल, प्रेरक इन्द्रिय बुद्ध।
पतित पुनीत पवित्र अति, कारण शुद्ध अशुद्ध ॥ ८ ॥

महादेव महा तेजस्वी, महाबलिष्ठ महातत्।
महाधीर महाज्ञानवंत, महावीर अव्यक्त ॥ ९ ॥

भगवत् अतिप्यारो सकल, साक्षी नित कूटस्थ।
क्षोभरहित आनन्दमय, स्वतःसिद्ध नित स्वस्थ ॥ १० ॥

निरुपाध निर्गुन सदा, शुद्ध चैतन्य अकाल।
निरावयव अंजन रहित, निजप्रकाश त्रैकाल ॥ ११ ॥

शिवस्वरूप कल्याणमय, सीमा सुख अरु शान्त।
नित्य प्राप्त आतम सकल, संहारक भय भ्रान्त ॥ १२ ॥

ब्रह्म शतक अस्तोत्र यह, पढ़े विचारे जोय।
हेमराज संशय नहीं, ज्ञानमुक्ति लहे सोय ॥ १३ ॥

॥ इति ब्रह्मशतकम् ॥

Scanned with CamScanner

श्री सत्यधर्म मण्डल स्वामी हेमराज मिशन के उद्देश्य

(१) मानव मात्र के साथ अपना निजी सम्बन्ध निश्चित् कर लोक-कल्याण में प्रवृत्त होना।
(२) गंभीर विचार, परस्पर प्रेम और निजी श्रेष्ठाचार से विश्वमैत्री का भाव भरना।
(३) साम्प्रदायिकता, व्यर्थ का वितंडावाद और दूसरों के छिद्रान्वेषण से दूर रहना।
(४) अपने धन, बुद्धि और ज्ञान को यथासंभव परोपकार तथा जनहित में लगाना।
(५) सब धर्मों और उनके पवित्र पुस्तकों से गुणग्रहण कर उनके दोषों की ओर दृष्टि न डालना।
(६) आत्मिक, नैतिक, भौतिक और शारीरिक सुधार और उन्नति के मार्ग पर अग्रसर रहना।
(७) अनाथों, विधवाओं, यात्रियों तथा रोगियों के सुख और रक्षा का चिन्तन तथा क्रियात्मक-योग देना।
(८) उस सच्चिदानन्द और असीम ईश्वर पर ही पूर्ण विश्वास रखना।
(९) किसी धर्म व पन्थ के विरुद्ध अपमानजनक शब्दों से अपनी जिह्वा को अपवित्र न करना।
(१०) प्रत्येक के साथ अपने ज्ञान, सद्व्यवहार, आचरण और आत्मभाव से परस्पर स्नेह तथा सौहार्द बढ़ाना।

—गुलज़ार मानी से उद्धृत)

!! नियम !!

(१) सदाचार का दृढ़ता से पालन करना।
(२) सत्संग में निर्वैर विरोध सम्मिलित होना।
(३) ईश्वर के प्रति आस्था, ऋषि-महर्षि तथा अन्य महापुरुषों के निर्मल जीवन के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखना।
(४) मांस, मदिरा, भंग, तम्बाकू आदि सर्वप्रकार की मादक वस्तुओं, जूआ, चोरी, व्यभिचार आदि दुर्व्यसनों और संशययुत भ्रमात्मक विचारों से दूर रहना।
(५) आत्मोन्नति के मुख्य साधन शरीर के व्यायाम, प्राणायाम, आसन और आत्मसंयम के विशेष पालन की चेष्टा करना।
(६) प्रातः उठते समय और रात्रि को सोते समय प्रभुप्रार्थना द्वारा कुछ क्षण अवश्य मानसिक शुद्धि और आत्म-शांति के लिए नित्यनियम का पालन करना।
(७) प्रति वर्ष भगवान् राम तथा गुरुजनों के जन्म-दिवस को सर्वसम्मिलित रूप से मनाना।
(८) प्रत्येक दैनिक, साप्ताहिक तथा वार्षिक सत्संग में सम्मिलित होने के लिए अपने परिवार सहित इष्ट मित्रों को प्रेरित करना।
(९) हिन्दू संस्कृति के पालन करने के मुख्य साधन हिन्दी और संस्कृत भाषा का ज्ञानोपार्जन तथा प्रसार करना।
(१०) वेदादि धर्मशास्त्रों और गुरुजनों के शास्त्रों का यथासंभव स्वाध्याय, मण्डल के उद्देश्यों के मनन और प्रचार के अतिरिक्त गुरु ग्रन्थों का मुद्रण, प्रकाशन, एवं प्रसारण करना।

Scanned with CamScanner

॥ प्राक्कथन ॥

वेदान्तकेसरी महाराज स्वामी हेमराज जी चिदाकाशी राजवंशी परिवार में से थे। आपके परदादा मलिक बनवारीलाल अफगानिस्तान काबुल-कन्धार के रहने वाले थे, जो कि अहमदशाह अब्दाली बादशाह काबुल की ओर से मुलतान प्रान्त के शासक नियत होकर आए, जिनकी अध्यक्षता महाराज रणजीतसिंह के शासनकाल में तथा अंग्रेज़ों से पूर्व प्रचलित रही। वेदान्त केसरी श्री स्वामी जी ने आश्विन कृष्णाषष्ठी १९०८ तदनुसार २१ सितम्बर, १८५१ को मुलतानमें जन्म लिया। बाल्यकाल में ज्ञानी पण्डितों और अनुभवी पूर्वजों के चरणों में विद्या प्राप्त की। अंग्रेज़ी शिक्षा मिशनरी पादरियों ने दी। फ़ारसी, हिन्दी, उर्दू तथा अंग्रेज़ी में प्रवीण थे। १८ वर्ष की आयु में मुख्याध्यापक बने। पुनः निरन्तर १८ वर्ष सरकारी नौकरी रीडर, डिप्टी कमिश्नर मुज़फ्फरगढ़ रहे। पुनः इस बन्धन और सम्बन्ध की परतन्त्रता की शृंखला को तोड़ने के लिए आपने सन् १८८८ में त्यागपत्र दे दिया। फिर इस स्वतन्त्रता से अपनी आयु को जनता के परोपकार में व्यतीत किया। स्वामी जी के विचार बाल्यावस्था से मानवता-पूर्ण थे। वह तत्वज्ञ स्थिति वान थे। मत-मतान्तर भेद-भाव आदि से दूर थे। प्रत्येक को अपना मित्र व भाई समझते थे, सद्विचार, सद्भावना, एकता, प्रेम भाव तथा अद्वैत वाद के स्वरूप थे। प्रतिदिन आप साधु महापुरुषों और सत्संगियों को जीवन सुधार, हृदय की निर्मलता, चरित्र उत्कृष्टता, आत्म चिन्तन तथा भक्ति-भाव का उपदेश करते थे। उन्होंने सन् १८८७ में भारत की यात्रा की।

उनके प्रमुख शिष्य स्वामी परमानन्द जी चिदाकाशी ने अपना सारा जीवन श्री गुरु चरणों में व्यतीत करके ज्योति प्राप्त की। अन्त तक गुरु महाराज की सेवा का व्रत पालते हुए सिन्ध के कई नगरों में गुरुदेव की पुण्य स्मृति में कई मठों की स्थापना करके प्रसार तथा प्रचार का कार्य किया। महाराज जी के दो पुत्र थे। मलिक दौलतराय जी चिदाकाशी और मलिक रघुनाथराय जी। उनके बड़े सुपुत्र ने अपने पिता जी का अनुयायी बनकर सरकारी कर्मचारी होते हुए भी महाराज जी के उपदेशानुसार अपना आचार-विचार रखा। बहुत से श्रद्धालु जन स्वामी जी की सेवा में अपनी शंकाओं की निवृत्यर्थ प्रश्नों के रूप में पत्र भेजा करते थे, जिनके उत्तर स्वामी जी यथा अधिकार सबको देते रहते थे। उन पत्रों की नकल पास में रहने वाले सेवक करके रख देते थे। इस प्रकार का संग्रह पर्याप्त मात्रा में हो जाने पर मलिक साहब तथा दूसरे कई सत्संगियों ने गुरु महाराज से प्रार्थना की, जिस पर महाराज जी ने इस सारे संग्रह को पन्द्रह सिद्धान्तोंमें विभक्त करके उनको छपवाने की आज्ञा दे दी। जिसको मुलतान तथा मुज़फ्फर गढ़ के सत्संगियों ने श्री अद्वैत सिद्धान्त के नाम से सन् १९०१ में मुद्रित कराकर प्रकाशित किया।

मुलतान नगर तथा कई बस्तियों के प्रेमी सत्संगियों को प्रेरणा देकर श्री मलिक साहब ने स्वामी जी की पुण्य स्मृति में कई सत्संग के स्थान बनवाए, जहाँ पर उनके आदेशानुसार सत्संग का प्रचार किया।

अल्प समय में ही इस पुस्तक की प्रतियाँ समाप्त हो गईं। इसके पश्चात् बहुत से सत्संगियों की बार-बार श्री अद्वैत सिद्धान्त की माँग आने पर श्रीमान मलिक साहब ने स्वामी परमानन्द जी महाराज चिदाकाशी को इसके छपवाने की प्रेरणा दी और श्रीस्वामी परमानन्दजी ने सत्यधर्म सभा हैदराबाद के पुरुषार्थ से द्वितीय आवृति संवत् १९७८ तदनुसार सन् १९२२ में छपवाकर प्रकाशित की। दूसरी बार प्रकाशित प्रतियाँ भी पाकिस्तान बनने से पूर्व प्रायः समाप्त हो गई थीं। परन्तु विभाजन के पश्चात् भी इस ग्रन्थ की मुमुक्षुओं द्वारा बार-बार मांग की जाती रही। दूसरी ओर सारा पुस्तक भण्डार पाकिस्तान में

Scanned with CamScanner

रहने के कारण बहुत-सी कठिनाइयाँ आईं। साथ ही पुनः ग्रन्थ प्रकाशनार्थ, धन, स्थान और उनकी सुरक्षा आदि के प्रश्न आगे आते थे। प्रायः प्रेमी जन शरणार्थी होने के कारण धन-बल ही न थे।

श्री स्वामी चेतनानन्द जी महाराज जिन्होंने बाल्यकाल से श्री स्वामी परमानन्द जी चिदाकाशी के चरणों में आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त की और गुरुदेवजी के १८ मई, १९३४ में ब्रह्म लीन होने के पश्चात् स्वामी जी को सिन्ध व पंजाब में मिशन के प्रचार करने का कार्य-भार सौंपा गया। स्वामी रामानन्द जी भी गुरुदेव के सेवक थे और मुज़फ्फर गढ़ मन्दिर में प्रचारार्थ प्रचारक नियुक्त किये गए, वे प्रायः सिन्ध में ही प्रचार के लिए जाया करते थे। आजकल वे अपने परिवार सहित बम्बई में रहते हैं और अपना प्रचार भी करते हैं।

श्री स्वामी चेतनानन्द जी चिदाकाशी ने एक श्री चिदाकाशी सत्य धर्म मण्डल की दरियागंज दिल्ली सन् १९४९ में स्थापना की। इसके पश्चात् बड़े गुरुदेवजी की शताब्दी पर २१ सितम्बर सन् १९५१ में एक श्री सत्य धर्म मन्दिर, स्वामी हेमराज मिशनमार्ग ७/५, पूर्वी पटेल नगर, नई दिल्ली–१२ में स्थापित किया। पिछले सात वर्षों से सत्य धर्म मण्डल मेरी अनुमति से महाराज के पुस्तक प्रकाशन का कार्य करता आ रहा है। इन पुस्तकों में 'श्री बाल रक्षा' 'श्री शान्ति सरोवर' 'श्री हरिभक्ति माला' आदि स्वामी जी के परिश्रम से मुद्रित हो चुके हैं। पांच वर्ष के निरन्तर परिश्रम के पश्चात् इस वर्ष श्री स्वामी जी ने आदि मूल श्री अद्वैत सिद्धान्त को जो मूलतः गुरमुखी लिपि और पंजाबी भाषा में था, यथासम्भव सरल अनुवाद करके हिन्दी भाषा में 'चिदाकाशी सत्यधर्म मण्डल' द्वारा प्रकाशित कराया है। श्री स्वामी जी निरंतर तन, मन व धन से सेवा का प्रमाण दे रहे हैं।

श्री स्वामी जी ने अपनी सारी आयु आध्यात्मिक प्रचार व परोपकार में व्यतीत की है। वे एक विशाल हृदयी, बाल-ब्रह्मचारी, ज्ञानवान एवं सम्माननीय हस्ती हैं। यह चिदाकाशी सत्य धर्म मण्डल बड़े महाराज जी के सिद्धान्तानुसार महाराज जी की पुस्तकों का प्रचार कर रहा है। इनको वेदान्तकेसरी महाराज स्वामी हेमराज जी की प्रत्येक पुस्तक मुद्रित तथा प्रकाशित आदि कराने का प्रत्येक भाषा में पूर्ण अधिकार है। इस प्रथम हिन्दी संस्करण में सिद्धान्तों के अन्त में जो भजन दिए गए हैं वह श्रीमान मलिक दौलतराय जी चिदाकाशी के रचे हुए दिए गए हैं।

सेवक—

महताब राय चिदाकाशी

पौत्र स्वामी हेमराज जी चिदाकाशी, हालवासी चण्डीगढ़। ता० १६-३-५८

Scanned with CamScanner

विनम्र निवेदन

(द्वितीय संस्करण)

प्रिय पाठकों आज मुझे यह लिखते हुए अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है कि हम वेदान्त-केसरी १०८ श्री स्वामी हेमराज जी महाराज चिदाकाशी कृत अद्वैत सिद्धान्त की द्वितीय आवृत्ति प्रकाशित कर रहे हैं। यह महान ग्रन्थ सर्व प्रथम पंजाबी में गुरुमुखी लिपि में सन् १९०१ में प्रकाशित हुआ था जो १९२२ में समाप्त हुआ और १९२२ में इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ। यह संस्करण सन् १९५७ में समाप्त हुआ।

पाकिस्तान से आने के अनन्तर अनन्त श्री विभूषित महामण्डलेश्वर वेदान्ताचार्य श्री १०८ स्वामी चेतनानन्द चिदाकाशी जी महाराज ने पाँच वर्ष के अथक परिश्रम से इस ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद कर मण्डल के सामने रखा। मण्डल ने पिछले मार्च १९५८ में प्रकाशित कराया। स्वामी जी महाराज ने वेदान्त के इस महान् ग्रन्थ की रहस्यमयी पहेलियों को समझाने के लिए जिस सरल और भावपूर्ण भाषा को अपनाया है वह अत्यन्त सराहनीय है। यही कारण है कि १९५८ में प्रकाशित हुई प्रतियाँ दो वर्ष के अन्दर ही हाथों-हाथ बिक गईं और अब हम हिन्दी की दूसरी आवृत्ति जिसमें महाराज जी ने भाषा और भाव को अधिक परिमार्जित किया है प्रकाशित कर रहे हैं।

वेदान्त के प्रेमी सज्जनों ने जिस सहृदयता के साथ इस ग्रन्थ को अपनाया है उसके लिए हम उन सबके परम आभारी हैं और आशा करते हैं कि पाठक इसे भी उसी प्रकार अपनाकर हमें उत्साहित करेंगे।

विनीत

नन्दलाल मनचन्दा

P. C. S.

भूतपूर्व न्यायाधीश (पंजाब)

सभापति सत्यधर्म मण्डल

श्री हेमराज मिशन। दिल्ली

Scanned with CamScanner

आदि गुरु वेदान्तकेसरी श्री स्वामी हेमराज जी महाराज चिदाकाशी।

Scanned with CamScanner

॥ श्री गुरु स्तुति ॥

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु, गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म, तस्मै श्री गुरुवे नमः॥
सर्वश्रुति शिरोरत्नं, विराजित पदांबुजम्।
वेदांतांबुजमार्तंडं, तस्मै श्री गुरुवे नमः॥
अखण्ड मण्डलाकारं, व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन, तस्मै श्री गुरुवे नमः॥
अज्ञान तिमिराधंस्य, ज्ञानांजनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्री गुरुवे नमः॥

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ श्री १०८ स्वामी हेमराज जी महाराज चिदाकाशी की संक्षिप्त जीवनी

२१ सितम्बर, १८५१को अविभाजित पंजाब प्रदेश में नृसिंहावतार कीनगरी मुल्तान में भक्तप्रवर प्रह्लाद के बहुचिर उपरान्त एक महापुरुष का अभ्युदय हुआ था। उन्होंने बाल सुलभ चेष्टाओं द्वारा अपनी प्रतिभा, अनोखेपन, प्रभु भक्ति, स्वरूपज्ञान, एवं स्थिति की ओर अपनी रुचि का संकेत कर माता-पिता अध्यापक एवं मुलतान निवासियों को अपनी तरफ आकर्षित किया। उस महापुरुष का नाम वेदान्त-केसरी स्वामी हेमराज जी चिदाकाशी था। इनकी वाणी गृहस्थ एवं त्याग मार्ग की गुत्थियों को यथार्थरूप में सुलझाने का प्रकाश देकर आज भी पथ-भ्रष्ट मानव को कल्याणकारी पथ की ओर अग्रसर करती है। इन पंक्तियों के लेखक को भी यह सौभाग्य प्राप्त है कि श्री स्वामी जी महाराज के कार्य को जनता तक पहुँचा कर अपना कल्याण कर सके। श्रद्धेय स्वामी जी ने मतमतान्तरों, वाद-विवादों एवं खण्डन-मण्डन के पचड़ों से अलग होकर जनसाधारण में वेदान्त का संदेश सरल भाषा में दिया और एक ऐसी भावना जागरण की, जो जीवनोत्थान के साथ-साथ राष्ट्रोन्नति एवं विश्वशांति का संदेश देने वाली थी। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि श्री स्वामी जी ने गृहस्थ जीवन केवल २५ वर्ष बिताकर एक अपूर्व अनुभूतिपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत किया। संस्कृत तथा आंग्ल भाषा के महान विद्वान होते हुए भी उन्होंने जनसाधारण के लिए सरल भाषा का माध्यम चुना।

आदि गुरु श्री स्वामी जी का बाल्यकाल अनेकानेक विचित्रताओं का संगम है। "होनहार बिरवान की होत चीकने पात" वाली लोकोक्ति आप पर पूर्णतया चरितार्थ होती है। थोड़े समय में ही आपने हिन्दी संस्कृत, उर्दू, फारसी एवं अंग्रेज़ी भाषाओं का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया और एक हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक नियुक्त हुए। इस महापुरुष ने अपने अध्यापन काल में छात्रों को योग्य से योग्यतम बनाकर सच्चरित्रता तथा राष्ट्रीयता के साँचे में ढाला। एक बार की बात है कि इनके स्कूल का निरीक्षण करने छोटे लाट साहब आने वाले थे। वह स्कूल मुजफ्फरगढ़ में बड़ा प्रसिद्ध था। ज़िला के डिप्टी कमिश्नर के साथ शिक्षा विभाग के इन्स्पेक्टर महोदय भी पधारे। उन्हें यह निश्चय था कि लाट साहब के आगमन पर स्कूल सजा सजाया होगा क्योंकि जिस स्कूल में वह जाते थे वहाँ उनका सजधज कर स्वागत होता था। स्वामी जी के स्कल में जाने पर उन्हें एक अनोखा दृश्य दिखाई दिया। वहाँ पर सजावट का नामोनिशान न था।

Scanned with CamScanner

आखिर इन्स्पेक्टर महोदय ने पूछा तो आपने कहा कि विद्यालय की उन्नति उसकी ईंट की दीवारों एवं कमरों की सजावट से नहीं होती अपितु शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों के चरित्र एवं मतिष्क के उत्थान से होती है। मेरा यही उद्देश्य रहता है कि मैं इन विद्यार्थियों के चरित्र को श्रेष्ठ बना सकूं। आपकी राष्ट्रीयता एवं राष्ट्रभाषा प्रेम का मूल्यांकन इस बात से लगाया जा सकता है कि अंग्रेजी का सम्यक् ज्ञान होने पर भी आपने हिन्दी, पंजाबी, फ़ारसी, तथा उर्दू में ही रचनाएँ लिखीं और प्रकाशित कराईं।

सात वर्ष तक अध्यापन कार्य करने के उपरान्त श्री स्वामी जी ने सरकारी नौकरी कर ली। किन्तु कुछ वर्षों के बाद ही इस अध्यात्म पुरुष ने आकाशीय वृत्ति धारण कर ली और सत्संग, आत्म-अभ्यास, आत्म चिन्तन, तथा आत्म स्थिति में अपना सारा समय बिताने लगे। अब तक श्री स्वामी जी की कीर्ति समस्त सिन्ध, पंजाब तथा सीमान्त प्रदेश में फैल चुकी थी। जिस प्रकार बंगला में श्री स्वामी विवेकानन्द द्वारा श्री रामकृष्ण परमहंस की जीवन वाणी गूँज रही थी, उसी प्रकार स्वामी जी सिंध तथा पंजाब प्रांत में पथ भ्रष्ट नागरिकों को आत्म सन्देश सुना रहे थे। गृहस्थ जीवन बिताते हुए श्री स्वामी जी के दो पुत्र रत्न श्रीमान् मलिक दौलतराय जी महाराज तथा मलिक रघुनाथराय जी हुए। ये महानुभाव कुछ ही वर्ष हुए इस असार संसार को त्याग कर बैकुण्ठवासी हुए हैं।

श्री स्वामी जी महाराज के कनिष्ट भ्राता मलिक चान्दूरामजी गुरुदेव की आज्ञानुसार मिंटगुमरी और पाकपटन आदि स्थानों में और श्रीमान् मलिक दौलतराय साहब मुलतान और समीप की बस्तियों में गुरुदेव जी की वाणी का प्रचार करते रहे।

श्री स्वामी जी जहाँ अध्यात्मवाद के प्रवक्ता थे; वहाँ एक अपूर्व कवि भी थे। उनकी कविताएँ वेदान्त जैसे गूढ़ विषयों की अलौकिक सरल व्याख्या थीं, उनके भाषणों में भी ओज, माधुर्य एवं सरलता आदि गुण थे, जो मानव के हृदय में प्रभाव डालते थे। इसी सम्बन्ध में एक दो घटनाओं का वर्णन करना अनुचित न होगा। स्वामी जी का एक चेला मजनू फकीर मुसलमान था। वह मुसलमान बहुत अमीर था। एक दिन प्रातः काल सैर करते हुए वह स्वामी जी को अपने बँगले में ले गया। उन्हें अपने अत्यन्त निकट पाकर वह उनसे बहुत प्रभावित हुआ और याचना की कि मुझे अपने चरणों में स्थान देकर खुदा का घर दिखाएं। स्वामी जी ने कहा कि यह रास्ता बड़ा टेढ़ा है, घर द्वार त्यागना एवं फूंकना पड़ता है। यदि चाहते हो तो समस्त सम्पत्ति जन सेवा में लगा दो, गरीबों में बाँट दो, तब मुझसे उक्त प्रस्ताव करना। कहते हैं, स्वामी जी की वाणी का उस पर इतना प्रभाव पड़ा कि दूसरे दिन प्रातः ही वह व्यक्ति लँगोटी पहनकर स्वामी जी के द्वार पर पहुँच गया। स्वामी जी ने उस धन-पति से पहले झाड़ू लगवाई तब कहीं अपने चरणों में स्थान दिया। इसी प्रकार पं० ठाकुरदास पुलिस सारजण्ट की एक और घटना है। यह मुलतान का ब्राह्मण युवक था। यह किसी मुस्लिम युवती के प्रेम पाश में फँसकर उससे विवाह के लिए धर्म परिवर्तन करने को तैयार हो गया। उसके धर्म परिवर्तन का समाचार सारे नगर में आंधी की भाँति फैल गया। उस ब्राह्मण युवक के इष्ट-मित्र एवं सम्बन्धी बहुत चिंतित हुए। उनमें से एक स्वामी जी के पास पहुँचा और उसे समझाने की प्रार्थना की। स्वामी जी ने कहा कि उसे किसी प्रकार मेरे पास लाओ। योजनानुसार उसके मित्र भ्रमण करते हुए उसे स्वामी जी के पास ले गए। सत्संग का समय था; मित्रगण उसके साथ ऐसी जगह बैठे जहाँ से कि वह उठ न सके। प्रवचन प्रारम्भ हुआ; पहले तो उस युवक ने उठने की चेष्टा की किन्तु कुछ ही समय बाद वह इतना तल्लीन हुआ कि शरीर की सुध-बुध खो बैठा। प्रवचन समाप्त होने पर वह स्वामी जी के निकट आकर खूब रोया और सारी बात कह दी। अब उसके विचारों में परिवर्तन होते ही हृदय परिवर्तन हो गया और उसने उस मुस्लिम रमणी के साथ विवाह करना और धर्म त्याग की बात सर्वथा त्याग दी। स्वामी जी ठाकुरदास की यह अवस्था देखकर बहुत प्रसन्न हुए और अपने गले लगाकर आशीर्वाद दिया।

इसी प्रकार अन्य जिज्ञासुओं में से निम्नलिखित व्यक्ति आपकी विशेष कृपा के पात्र बने :—

Scanned with CamScanner

अब्दुल मजीद आगरा, श्री बूटासिंह जी रावलपिंडी, सरदार भगवानसिंह शिमला, ला० अर्जुन दास जी आर्य शिमला, पं० जानकीप्रसाद काश्मीर, पं० देवदत्त शर्मा हरिद्वार तथा मुजफ्फर गढ़ के एक क्रिश्चियन पादरी ने आपकी संगति से विशेष लाभ उठाया। विभिन्न धर्मों के अनुयायियों ने प्रश्नोत्तर के द्वारा अनेक संशय-भ्रमों का निवारण किया और कृतज्ञतापूर्ण कृतकृत्य हुए। श्री स्वामी जी महाराज जब आत्म मस्ती में तल्लीन होते थे उनके मुख से कविता की लहर स्वयंमेव निकलती थी। स्वामी जी की कविताएँ मानव हृदयों में हिलोर उत्पन्न कर सत्य धर्म की ओर प्रवृति कराने वाली थीं। उस पद्य सागर से केवल दो-चार बूंदें पाठकों के रसास्वादनार्थ हिन्दी तथा उर्दू के नमूने-मात्र नीचे उद्धृत करना असंगत न होगा।

॥ भजन ॥

तेरे दिल विच महरम यार सखी, तूँ अपना आप विचार सखी ॥ १ ॥ रहाउ।
तूं नहीं देह न देह के धर्मा, तूं नहीं प्राण न इन्द्रिय कर्मा।
तूं नहीं चितवन संशय परमा, तूं साक्षी रहित अकार सखी ॥ २ ॥
तूं नहीं नाम न आश्रम वर्णा, तूं नहीं शीश न नेत्र न कर्णा।
तूं नहीं बाल न वृद्ध न तरुणा, तूं सूक्ष्म रहित विकार सखी ॥ ३ ॥
तूं नहीं अन्दर तूं नहीं बाहिर, तूं नहीं बातिन तूं नहीं जाहिर।
तूं नहीं जाहिल तूं नहीं माहिर, तूं केवल आतम सार सखी ॥ ४ ॥
तूं अक्रिय निर्मल निजरूपा, स्वयं प्रकाशी महा अनूपा।
तूं सत्चित आनन्द स्वरूपा, तूं दुई दा घुंड उतार सखी ॥ ५ ॥
यार अभेद तूं भेद पछानें, प्राप्त को अप्रापत मानें।
आतम को तूं न्यारा जानें, तूं संशय सकल विसार सखी ॥ ६ ॥
तूं भेद दा परदा फाड़ सखी, तूं ज्ञान दे नैन उघाड़ सखी।
हेमां आप नूं यार निहार सखी, हो निश्चल पांव पसार सखी ॥ ७ ॥

॥ भजन ॥

हम आतम पद के वासी हैं, सत्चित् आनन्द अविनाशी हैं ॥ १ ॥ रहाउ।
नहीं मात पिता ते जाए हैं, नहीं कर्ता ते उपजाए हैं।
नहीं काहू ते हम आंए हैं, नित्य स्थित निज परकाशी हैं ॥ २ ॥
महतत्त अहंकार न माया हैं, गुण इन्द्रिय प्राण न काया हैं।
नहीं बिम्ब अज्ञान न छाया हैं, हम निरमल सद् परकाशी हैं ॥ ३ ॥
सब इन्द्रिय अपना काज करें, मन चित बुद्धि अपना ध्यान धरें।
तन उपज-उपज कर फेर मरें, हम अक्रिय सहज निवासी हैं ॥ ४ ॥
हम नूतन नित्य नवीने हैं, हम आतम रस कर भीनें हैं।
हम पूरण सद् तृपतीने हैं, नित उद्यत परम विलासी हैं ॥ ५ ॥
नहीं ईश जीव का भेद कोई, नहीं मैं तू का परिछेद कोई।
नहीं बँध मुक्त का खेद कोई, **हेमां** अनुभव मात्र सुभासी हैं ॥ ६ ॥

॥ कुण्डली ॥

अपना देव भुलाय के, पूजें अवरें देव।
भ्रान्ति मात्र संसार में, शान्ति न लहें कदेव ॥

Scanned with CamScanner

शान्ति न लहें कदेव, काल का दण्ड सहारें।
नहीं त्यागें हठ धर्म, न अपना आप विचारें॥
कहें **हेमां** स्वाराज, आन का नाम न जपना।
जो चाहो कल्याण, भजो नित् आतम अपना॥ ४॥

॥ कुण्डली ॥

मुख में भक्ति धार के, नेत्रों में वैराग।
रिद में ज्ञान विचार के, जग में वरत सभाग।
जग में वरत सभाग; सर्व से मीठा बोलो।
नहीं बाँधो कहूँ दृष्टि, सर्व को मिथ्या तोलो॥
कहे **हेमां** स्वाराज, रहो भीनें आतम सुख।
विचरो जग के बीच, होय नित प्रति अन्तर्मुख॥ १॥
सोई विद्या सार है, जाँते उपजे शान्त।
अनुभव आतम-वोध लहि, मन की जावे भ्रान्त॥
मन की जावे भ्रान्त, न व्यापे क्षोभ कदाचित्।
सब में पूरण एक, जान के पावे इस्थित॥
कहे **हेमां**, स्वाराज, पढ़े यह विद्या जोई।
विचरे जीवन मुक्त, लहे निश्चल पद सोई॥२॥

(श्री शान्ति सरोवर से)

॥ गज़ल ॥

गुँचये तौहीद का है गुल खिला सब देख लो।
है तमाशा बेचिगूनो बेचिरा सब देख लो॥
हस्त मुतिलिक का ज़हूरा है यह आलम सरवसर।
परदये ग़फ़लत उठाकर वर मला सब देख लो॥
ग़ैर था होगा न है साक़ी सरापा नूर है।
ज़ात यक्ता आप है जलवा नुमा सब देख लो॥

(२)

उठा जो परदा दुई का दिल से हुई सलामत मदाम यारो।
मुहीत देखा सभो में ख़ुद को मिटी हिकारत सलाम यारो॥ १॥
अमन वह पाया कि जिसके आगे हज़ार फ़रदोस खाक चूमें।
क़याम अपने में होके क़ायम मिटी ख़मोशी कलाम यारो॥ २॥
मदाम राहत मदाम अशरत मदाम उज़मत मदाम हशमत।
सरूर दायम ग़रूर दायम अरूज देखो दवाम यारो॥ ३॥
यह ख़ुद शनासी ख़ुदाशनासी-ख़ुदाशनासी यह ख़ुदशनासी।
न फर्क साकी सरेमू इसमें न छेड़ो दीगर क़लाम यारो॥ ४॥

(३)

नुमायां हर सिमत में यार का जलवा सिफ़ाती है।
सिफ़ाती को उठा देखो यही इसरार जाती है॥ १॥

Scanned with CamScanner

विसाले यार गर चाहो तो पूछो वासलों से जा।
कि हिकमत यार के मिलने की उनको खूब आती है॥ २॥
दुइ को दूर कर देखो कि हर जा यार है पैदा।
सिफ़ाती में अयां ज़ाती है ज़ाती में सिफाती है॥ ३॥
न मानो आपको बन्दा कि बन्दा महज़ गंदा है।
खुदा को ज़ात अपनी के सिवा नहीं और भाती है॥ ४॥
नुक़ाबे हस्तिये मौहूम को दिल से उठा देखो।
कि सिर से पाउँ तक ज़ाते खुदा ही जगमगाती है॥ ५॥
कहाँ आना कहाँ जाना तआय्युन को भुलावें जब।
इस आमदो रफ़्त में क़ैदे तआय्युन हम को लाती है॥ ६॥
खुदाई में जुदाई का निशां मिलता नहीं हरगिज़।
जुदाई सिर्फ ग़ैरियत में होकर पाई जाती है॥ ७॥
खुदा के वास्ते तुम भूल कर देखो न दुनिया को।
हज़ारों आफतें सिर पर यह फ़ितना साज़ लाती है॥ ८॥
तक्कबुर ज़ाहिरो बातन् को जब दिल से उठा देखा।
न खतरा मौत का दिल में न अब खाहिश हयाती है॥ ९॥
तआय्युन का नुक़ाब ऐसा उठा अब दिल की आँखों से।
कि चार अतराफ़ में इक ज़ात मौला जी को भाती है॥१०॥
दिया **साक़ी** ने जिस दम जाम वहदत का तल्लतुफ़ से।
उसी दम से यह कसरत ऐन वहदत नज़र आती है॥११॥

(नगमये तौहीद से)

वर्तमान समय में आप इस संसार में नहीं है अर्थात् ब्रह्मलीन हो गए हैं किन्तु आपका पद्यमय साहित्य 'शान्ति सरोवर' हिन्दी एवं 'नग़मये तौहीद' उर्दू में आज भी अध्यात्मवाद की अपूर्व दुन्दभी बजा रहा है। श्री स्वामी जी महाराज ने सारे भारत वर्ष में पर्यटन करके अनेक जिज्ञासुओं का उद्धार किया और अपने अन्तर-ज्ञान-दृष्टि से जो कुछ अनुभव किया वह अपने पिता जी की प्रेरणा से लेखनी बद्ध करके उनको पत्रों के रूप में भेजते रहे। इस सारे पर्यटन का विस्तृत वर्णन 'श्री आइनये हिन्द' ग्रन्थ के तीन भागों में प्रकाशित है, यह ग्रन्थ ज्ञानमय यात्रा का अलौकिक भण्डार है।

श्री स्वामी जी के "अद्वैत सिद्धान्त", "आफतावे हकीकत", "आइनये हिन्द", "गुलजार-ए-मुआनी", "श्री बालरक्षा", "चश्मये तिहारत", "सिद्धान्त पंचक", "सिद्धान्त पुष्पावली", "सिद्धान्त प्रकाश", "हरिभक्ति माला", "सत् धर्म स्मृति" तथा "सिद्धान्त सागर" आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। श्री स्वामी जी के ग्रन्थों में यह एक विशेषता है कि कहीं भी यथार्थ वचनों के सिवा और किसी वचन को उन्होंने स्थान ही नहीं दिया।

श्री स्वामी जी महाराज ने अपने सेवक स्वामी परमानन्द को अपना उत्तराधिकारी बनाने के विषय पर खूब छानबीन की। अनवरत १४ वर्ष तक उनकी सेवाओं पर आँख रखते और देखते रहे कि यह कहाँ तक उपयुक्त सिद्ध होता है। स्वामी परमानन्द जी भी कर्मठ सेवक की भाँति गुरुदेव की सेवा निष्ठा-पूर्वक करते थे और प्रत्येक कार्य को अपना पवित्रतम उद्देश्य समझकर पूर्ण करने में अपने शरीर की सुध-बुध भी खो बैठते थे। उनके सेवा कार्य का एक-दो उदाहरण देना असंगत न होगा। स्वामी परमानन्द जी भण्डारे में भोजन निर्माण में जटे थे। गर्मियों का समय था। आसपास चार-चार अँगीठियाँ जलकर और

Scanned with CamScanner

भी उष्णता उत्पन्न कर रहीं थीं किन्तु स्वामी जी प्रसन्न बदन हो अपने कार्य में मस्त थे मानो गर्मी का नामोनिशान न हो, यद्यपि शरीर पसीने से पानी पानी हो रहा था। इसी बीच स्वामी हेमराज जी महाराज भण्डारे के निरीक्षणार्थ पधारे और अपने शिष्य को भयंकर गर्मी में भी आग के पास सेवा में तत्पर देखकर गद्‌गद् हो उठे। उन्होंने स्नेह पूर्ण एवं आत्मीयता जन्य भाषा में कहा—परमा ! तुम बड़ी सेवा कर रहे हो। तुमने हमारी संगति में बड़ा कष्ट उठाया है। हम तुमसे बहुत प्रसन्न हैं। यह सुनकर गुरुदेव के चरणों में गिर कर आपने कहा, महाराज ! मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है कि दास का शरीर आपके सेवा कार्य में सफल हो रहा है। संसारी जनों का जीवन अपने-अपने झूठे सम्बन्धियों की सेवा में खर्च होकर भी कभी जीवन की सफलता प्राप्त नहीं करता और न ही कभी वे प्रसन्न होते हैं, प्रत्युत् उनका वह जीवन निष्फल हो जाता है। परन्तु मेरा सौभाग्य है कि झूठे शरीर का एक-एक श्वास आपकी पवित्र सेवा में पूर्णतः सफल हो रहा है। मैं अपने भाग्य की क्या सराहना करूं। मेरी यही सविनय प्रार्थना है कि आपकी यह असीम कृपा मुझ तुच्छ सेवक पर आजीवन बनी रहे। यही मेरे जीवन की एकमात्र अभिलाषा है। गुरुदेव ने गद्‌गद् होकर अपने प्यारे बालक को वक्षस्थल से लगाकर अनाथ से सनाथ बना दिया। कुछ समय के पश्चात् श्री स्वामी जी की शारीरिक अवस्था शिथिल हो गई। उन्होंने अपनी ज्योति अपने चरणों में आये हुए १४ वर्ष से सेवाधारी स्वामी परमानन्द जी महाराज में डाल कर अपना नूरानी ताज़ उनके मस्तक पर रखा और १९०३ ई० ३ सितम्बर को मध्याह्न १॥ बजे इह लोक की लीला समाप्त कर ब्रह्मलीन हुए। इस प्रकार श्री स्वामी जी महाराज वेदान्त के सजीव स्वरूप, सरल व्याख्याकार, कर्म में अकर्म बनकर असंगता, तृप्ति, शान्ति, गम्भीरता, समता और आत्मलीनता से वेदशास्त्र अनुरूप, कहनी रहनी की एकता के प्रतीक हो ५२ वर्ष पर्यन्त जनता जनार्दन को सुपथगामी बनाने में प्रकाश स्तम्भ बने रहे।

विशेष—स्वामी जी का विस्तृत जीवन-चरित्र अंग्रेज़ी, गुरुमुखी, सिन्धी तथा हिन्दी में पृथक् मुद्रित हैं। जिज्ञासु-जन सत्यधर्म मन्दिर ७।५ ईस्ट पटेल नगर, नई दिल्ली-१२ से प्राप्त कर लाभ उठा सकते हैं।

Scanned with CamScanner

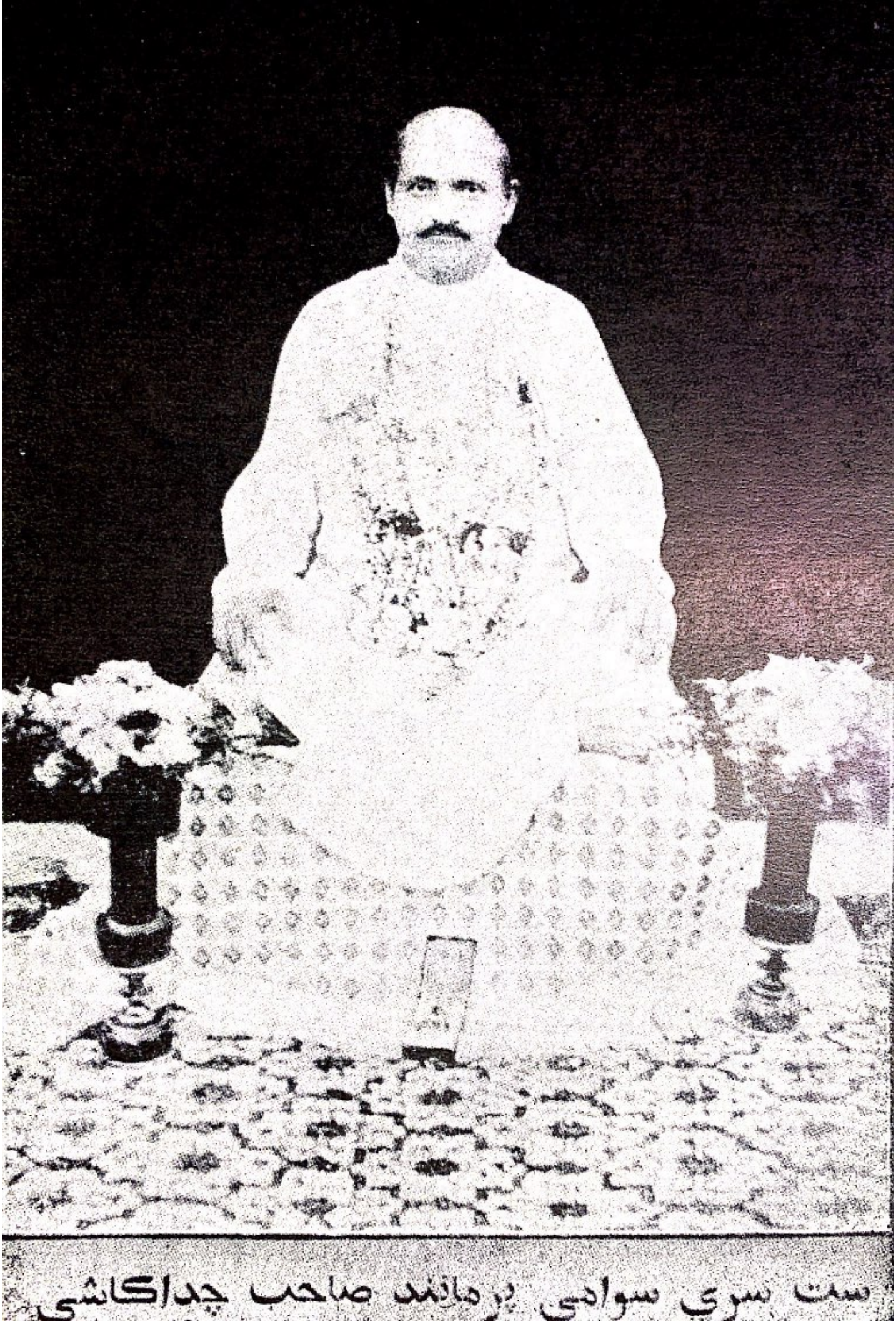

ست سری سوامی پرمانند صاحب چداگاشی

Scanned with CamScanner

परमहंस श्री स्वामी परमानन्द जी महाराज चिदाकाशी की संक्षिप्त जीवनी

॥ श्री गुरु वन्दना ॥

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं, केवलं ज्ञानमूर्तिम्,
द्वन्द्वातीतं गगन सदृशं, तत्वमस्यादिलक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतम्,
भावातीतं त्रिगुणरहितं, सद्गुरुं तं नमामि॥
ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः, पूजामूलं गुरोःपदम्।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं, मोक्षमूलं गुरोः कृपा॥

आदि गुरुदेव वेदान्त केसरी श्री स्वामी हेमराज जी चिदाकाशी के ब्रह्मलीन होने के उपरान्त जिस पुरुष ने उनकी शिक्षाओं का प्रचार एवं प्रसार किया और स्वामी हेमराज मिशन के कार्य को एक विरक्त के जीवन से लेकर जनसाधारण तक पहुँचाया, वे थे परमहंस श्री स्वामी परमानन्द जी चिदाकाशी। आप इन पंक्तियों के लेखक के पूज्य गुरुदेव थे। आपके ही चरणों में बैठने का इसे सौभाग्य प्राप्त हुआ था। स्वामी परमानन्द जी श्री स्वामी हेमराज जी चिदाकाशी के प्रमुख शिष्य थे अतः वही उनके उपरान्त गद्दीनशीन हुए।

स्वामी परमानन्द महाराज का जन्म शिकारपुर (सिन्ध) निवासी श्री भावनशाह के कुल में हुआ था। श्री भावनशाह बाद में अपने कारोबार के सम्बन्ध में खानगढ़ जिला मुजफ्फर गढ़ (प० पाकिस्तान) में बस गए। श्री भावन शाह के पाँच पुत्र थे। उनमें से द्वितीय पुत्ररत्न श्री खानचन्द जी की धर्मपत्नी की कुक्षि से हमारे चरित्र नायक गुरुदेव श्री स्वामी परमानन्द जी का अवतरण हुआ।

श्री स्वामी परमानन्द जी का बाल्यकाल अनेकानेक गुणों से भरपूर था। वे बचपन से ही शांति-प्रिय थे। जब उनकी अवस्था पाँच वर्ष की हुई तो उनके पिता जी का देहान्त हो गया। अब आपके लालन-पालन का भार सात्विकता एवं धार्मिकता की सजीव मूर्ति मातेश्वरी श्री मीरादेवी पर पड़ा। ७ वर्ष की अवस्था में ही आपका झुकाव एकान्त वास की ओर गया। वे दो-दो घण्टे मौन होकर विचार मग्न रहते। माता मीरा जी बालक को न देखकर विह्वल हो जातीं, घर-घर पूछतीं तो पता चलता कि उनका पुत्र मन्दिर में समाधिस्थ है। माताजी जाकर ठाकुरद्वारे से अपने पुत्र को लिवा लातीं।

आठ वर्ष की अवस्था में बालक परमानन्द खानगढ़ की पाठशाला में प्रविष्ट हुए। प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त कर लेने के उपरान्त उच्च शिक्षा के लिए मुजफ्फर गढ़ के स्कूल में प्रविष्ट हुए किन्तु रुग्णता के कारण स्कूल छोड़ना पड़ा। अब वे खानगढ़ में ही रहने लगे। माता मीरा की हार्दिक इच्छा थी कि उनका पुत्र किसी कारोबार को हाथ में लेकर गृहस्थी चलाये। अपनी मनोकामना की पूर्ति के लिए उन्होंने श्री विशन दास मुन्शी के साथ मुलतान में अपने पुत्र को छोड़ दिया। श्री विशनदास जी का परिवार धर्मनिष्ठ था। साधु-सन्तों पर इस परिवार की बहुत श्रद्धा थी। जब श्री परमानन्द जी इस परिवार में कार्य करने के लिए आए तो श्री विशनदास जी के पिता श्रीगोपालदास जी बहुत प्रसन्न हुए। वे इन्हें उर्दू, फारसी की पुस्तकें पढ़ाने लगे। इसी बीच श्री विशनदास जी की तबदीली मुजफ्फर गढ़ में हो गई, फलस्वरूप श्री परमानन्द जी भी वहीं चले गए और जो भी वेतन उन्हें मिलता वह अपनी माता जी के पास खानगढ़ भेज देते।

Scanned with CamScanner

मुजफ्फर गढ़ में रहते हुए श्री परमानन्द जी को आदि गुरदेव का साक्षात्कार हुआ। बात यह थी कि श्रीगोपालदास प्रतिदिन स्वामी हेमराज जी के सतसंग में जाते थे। उन्होंने श्री परमानन्द जी से कहा कि तुम भी सत्संग में चलना चाहो तो चल सकते हो। उत्तर में श्री परमानन्द जी ने कहा कि मेरा अहो भाग्य होगा यदि आप उनके चरणों में ले चलेंगे। श्रीगोपाल दास जी से प्रेरणा पाकर श्री परमानन्दजी सत्संग में गये और फिर प्रथम दर्शन कर वे भी गुरुदेव के अनन्य भक्त बन गये। अब श्री परमानन्द जी प्रतिदिन नियम पूर्वक सत्संग का लाभ उठाने लगे और अपने आपको श्री चरणों में समर्पित कर दिया। जब स्वामी हेमराज जी महाराज भारत यात्रा पर जाने लगे तो श्री परमानन्द जी ने साथ चलने का अभ्यर्थना-पूर्वक आग्रह किया। श्री स्वामी जी उनके प्रेम पूर्ण आग्रह को न टाल सके और साथ चलने की आज्ञा दे दी। श्री परमानन्द जी यात्रा काल में अनन्य भक्ति-भाव से श्री स्वामी जी की सेवा में लीन रहते और उनके सत्संग का अमृतपान करते रहते। यात्रा से वापस आने पर श्री परमानन्द जी पुनः अपने कार्य पर चले गए किन्तु उनका मन न लगा। अन्त में स्वामी जी से प्रार्थनी की कि मुझे अब अपने चरणों में सदा के लिए स्थान देकर अपनी सेवा का सौभाग्य प्रदान करने का अनुग्रह कीजिए। यह संसार अब मुझे अच्छा नहीं लगता। जिस प्रकार जल बिना मछली व्याकुल रहती है उसी प्रकार श्री चरणों के बिना मेरी दशा है।

स्वामी हेमराज जी ने श्री परमानन्द जी की लगन एवं श्रद्धा की परीक्षा लेने के उपरान्त उनकी विनती स्वीकार की और चरणों में स्थान दिया। अब श्री परमानन्द जी पूर्णरूप से गुरुदेव की सेवा में ही अपना सम्पूर्ण समय बड़ी तत्परता से बिताने लगे और लंगर की सेवा का पवित्र कार्य भार स्वयं वहन करने लगे। जब माता जी को यह सूचना मिली तो वह व्याकुल हो उठीं किन्तु विधाता की इच्छा स्वीकार कर तथा अपने स्वर्गीय पतिदेव की अन्तिम आज्ञा पूरी होते देखकर सन्तोष कर लिया। बात यह थी कि श्री परमानन्द जी का जन्म किसी साधु के वरदान से हुआ था और इसी कारण पिताजी ने उसे साधु को अर्पण कर देने का संकल्प किया था किन्तु पुत्र मोह वश ऐसा न कर सके। जब मरणासन्न हुए तो उन्होंने अपनी धर्मपत्नी मीरादेवी को इस प्रकार साधु को अर्पण करने की बात कही थी किन्तु माता जी भी पुत्र मोहवश पति की आज्ञा को विस्मरण कर गई थीं। एक बार बालक परमानन्द जी आन्त्रिक ज्वर (मियादी बुखार) से ग्रस्त हुए और मरणासन्न अवस्था आ गई तब माता जी को भान हुआ और उन्होंने ईश्वर से अनन्य-भाव से प्रार्थना की हे प्रभु ! यह बालक आपका ही है। मैं मोहवश आपकी दी हुई धरोहर को भूल गई। अब मैं प्रतिज्ञा करती हूँ कि यह आपका ही बालक आपके ही चरणों में समर्पित है। जिस क्षण से यह प्रार्थना सच्चे हृदय से माता ने की, उसी क्षण से ही बालक परमानन्द अच्छा होने लगा और शीघ्र ही पूर्ण स्वस्थ हो गया।

अब माता जी खानगढ़ से मुजफ्फरगढ़ चली आईं और वह भी श्री महाराज के अमृतरूपी वचनों का श्रवण कर अपना शेष समय सत्संग में बिताने लगीं।

श्री परमानन्द जी पूर्णरूप से श्री स्वामी हेमराज जी चिदाकाशी के शिष्य वन गये। उन्होंने अपनी सेवा से श्री गुरुदेव को मुग्ध कर लिया। जब स्वामी जी यात्रा के लिए बाहर जाते तो स्वामी परमानन्दजी भी साथ जाते और यात्रा काल में गुरुदेव की सेवा करते तथा उनके आध्यात्म भाव से ओत-प्रोत प्रवचनों का श्रवण करते। इसी प्रकार समय बीतता गया। स्वामी परमानन्द जी अपने गुरुदेव के अत्यन्त सन्निकट होते गये।

एक बार बड़े गुरुदेव जी का शरीर रुग्ण हो गया तब श्री परमानन्द जी ने रात दिन एक करके उनकी सेवा की। समय पर दूध और समय पर दवाई देते। जब स्वामी जी ने अपनी शारीरिक अवस्था को दुर्बल देखा तो श्री परमानन्द जी को आज्ञा दी कि वे प्रेमीजनों को आध्यात्मवाद का उपदेश दें। गुरुमुख

Scanned with CamScanner

से आज्ञा पाकर स्वामी परमान्द जी कथावार्ता भी कहने लगे। आपके प्रवचनों से श्रोतागण मुग्ध हो जाते। शिष्यगण स्वामी जी महाराज के समक्ष उनकी प्रशंसा करते। श्री महाराज जी अपने शिष्य की प्रशंसा सुनकर गद्‌गद् हो जाते और सत्संगियों से कहते कि यह बच्चा गुदड़ी में लाल है। यही हमारा उत्तराधिकारी बनेगा।

३ दिसम्बर, १६०३ को स्वामी हेमराज जी इस लोक की लीला समाप्त कर ब्रह्म लीन हुए। शरीर छोड़ने से पूर्व हीं अपनी ज्योति स्वामी परमानन्द की आत्मा में भर दी और अपने मिशन की सम्पूर्ण बागडोर उन्हें सौंप कर निश्चिन्त हो गये।

आदि गुरुदेव महाराज अपने पीछे ३२५ रु० और एक कम्बल मात्र सम्पत्ति छोड़ गये थे। जिसमें से स्वामी परमानन्द जी ने ३०० रुपया गुरुदेव की यादगार में किये गये भण्डारे पर लगा दिये। श्री स्वामी परमानन्द जी अपने गुरु श्री हेमराज जी चिदाकाशी की इच्छाओं को पूर्ण करने में पूर्णतया सफल रहे। भक्ति, ज्ञान, नीति, विचार, धैर्य, संयम, वैराग्य के मानों वे अवतार थे। श्रद्धालु भक्त उनके दर्शन और प्रवचन सुनकर कृत-कृत्य होते थे।

श्री स्वामी परमानन्द जी आदि गुरुदेव की वाणियों का प्रचार करने में लगे रहे। आपके प्रयत्नों से सत् धर्म का प्रचार अधिकाधिक होने लगा और अनुयायियों की संख्या बढ़ने लगी। विभिन्न स्थानों से सेवक एवं अनुयायियों के पत्र आते, उन पत्रों में कई प्रकार की शंकाएँ, जिज्ञासाएँ होतीं। उनका उचित समाधान गुरुदेव पत्रों द्वारा किया करते थे। जो व्यक्ति एक बार भी स्वामी जी के सम्पर्क में आता वह सदा के लिए उनका अनुयायी बन जाता था।

श्री स्वामी परमानन्द जी अपने सेवकों के अनुरोध पर यात्रा के लिए भी जाते और कुछ दिन रहकर अपने प्रवचनों से श्रद्धालुओं की शंकाओं का समाधान करते थे। वे अनन्त गुणों के भण्डार थे और पूर्ण दक्षता के साथ अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए आने वाली पीढ़ी के लिए आदर्श स्थापित करते रहे। वे सूर्य की गति के साथ अपने अहर्निश के कार्य पूर्ण करते थे। अलिप्तता तथा असंगता उनके प्रत्येक कार्य में दिखाई देती थी। प्रत्येक प्राणी चाहे वह स्त्री हो या पुरुष यही अनुभव करता था कि वह हमारे ही हैं, परन्तु जब उनके अन्त.स्थिति को देखते थे तो ऐसे ही लगता था जैसे दर्पण के समक्ष जब तक अपनी छाया बनी रहती है तब तक वहाँ प्रतिबिम्ब समक्ष रहता है जहाँ आप हटे तो दर्पण स्वच्छ का स्वच्छ ही रहता है वैसे ही वह स्वच्छ थे।

श्री गुरुदेव के चरणों में आने के उपरान्त लेखक को उनके गुणों को निकट से परखने का अनेक बार अवसर मिलता था। वे अनन्त विभूति थे। सहस्रों बार ऐसे रूप आये कि लोग रोते-रोते आपसे विदा होते परन्तु उनसे पृथक् होने के उपरान्त जब शयनागर में जाते तो एक क्षण के अन्दर खूब गहरी नींद का आनन्द लेते मानो उनके संकल्प के अन्दर तीनों काल कोई रूप आया ही नहीं था।

श्री गुरुदेव के जीवन की कई घटनाओं में से यह घटना पठनीय है कि जब एक बार भयंकर व्रण के कारण उनका शरीर अत्यन्त अस्वस्थ हो गया उस समय विदेशी चिकित्सक बिना किसी क्लोरोफार्म के जब दस इंच के घेरे को ६ इंच गहरा छेदन करते हैं, आपको अपने शरीर का तनिक भी ज्ञान नहीं रहता। आपकी अटूट समाधि को देखकर चिकित्सक दंग रह गये। सारा आपरेशन पौने घण्टे में पूरा समाप्त हो गया, आप निश्चल भाव से शान्त अपने स्वरूप का आनन्द लेते रहे। जब इस सेवक ने ऊँचे स्वर से प्रार्थना की—भगवन्! आपरेशन पूरा हो गया। तो आप सहज मुख से कहते हैं—अच्छा! क्या आपरेशन हो गया? मानों उनके लिए पौन घण्टा नहीं एक क्षण ही बीता हो। ऐसी सैकड़ों घटनाएँ इस लेखक के सामने घटी हैं।

श्री गुरुदेव रात-दिन आदि गुरुदेव के मिशन का कार्य करते रहे। उनके अलौकिक सत्संग के प्रचार

Scanned with CamScanner

ने जन-समूह पर विलक्षण आकर्षण उत्पन्न किया, सैकड़ों लोग आपके चरणों में आये और नाम की दीक्षा लेकर अपने-अपने स्थान पर सत्संग जमाकर अखण्ड ज्योति जगायी । थोड़े ही समय में हैदराबाद, कराची आदि कई स्थानों पर आपने मठों की स्थापना की और अपने योग्य शिष्यों द्वारा नित्य सत्संग की स्थापना कर सत्संग चलाने का यह बीज बोया कि—आज वह सघन छायादार वृक्ष बनकर सहस्रों नर-नारियों के संतप्त जीवन को शीतलता प्रदान करने लगा है ।

पूज्यपाद परिव्रा जकाचार्य परमहंस गुरुदेव श्री परमानन्द जी महाराज जब अपने गुरु भक्ति और सत्गुरु-मूर्ति के ध्यान में तल्लीन होते तब सहज ही उनके मुखारविन्द से कविता सरिता प्रवाहित हो पड़ती थी तथा पढ़ने वाले जिज्ञासुओं में गुरु भक्ति तथा आत्म मस्ती अनायास ही हिलोरें लेने लगती थी। नास्तिक से नास्तिक हृदय भी महापुरुषों की महान् कृपा का पिपासु बनकर अपने को गुरु कृपा का पात्र बनाकर, अज्ञान निवृत्यर्थ निरन्तर प्रयत्नशील रहता था । जिज्ञासुओं की गूरु भक्ति की प्यास बुझाने के लिए महाराज श्री की कुछ भावात्मक कविताएँ निम्नलिखित रूप में दे रहा हूँ । आशा है, सार ग्राही सज्जन इनसे लाभ उठायेंगे ।

●

सत्गुरु महिमा और लक्षण

परउपकारी पुरुष सुजान, ब्रह्म विद्या का देवें दान ।
मुक्ति अखुट भंडारा जोई, कहिए गुरु हमारा सोई ।।
खण्डन-मण्डन की नहिं नीत, वाद विवाद हार नहिं जीत ।
निज में निज स्थित है जोई, कहिए गुरु हमारा सोई ।।
कब दिखलाई देवे रामा, कब दरशावे कृष्ण श्यामा,
सगरे काल दिखीजे जोई, कहिए गुरु हमारा सोई ।।
भेद छेद से नित ही परे, शिष्य के संकट सहारे हरे ।
संशय रंच न राखे कोई, कहिए गुरु हमारा सोई ।।
करनी रहनी जिह सम भई. दृष्टि ऊँच नीच उड़ गई ।
धनी निर्धन भेद न कोई, कहिए गुरु हमारा सोई ।।
जिस संग मन पर होवे जीत, विनशे सगरी नीत अनीत ।
सकल विपर्यय नाशे जोई, कहिए गुरु हमारा सोई ।।
अमृत वाणी नित मुख बोले, श्रोता का चित कबहुँ न डोले ।
श्रवण से शान्ती मन होई, कहिए गुरु हमारा सोई ।।
युक्ति वासनायाम बतावे, तत्त्व ज्ञान का भानु चढ़ावे ।
वाक्य विवेक सुनावे जोई, कहिए गुरु हमारा सोई ।।
अनेकता में एक दिखलावे, बहुड़ एक से दृष्टि उठावे ।
वस्तु ज्ञान जितलावे जोई, कहिए गुरु हमारा सोई ।।
दीन जान कर शरणी लावे, मन की सगरी तप्त बुझावें ।
परमानन्द ब्रह्मवपु जोई, कहिए गुरु हमारा सोई ।।

Scanned with CamScanner

॥ कुण्डली ॥

गुरु ईश्वर में भेद कुछ, रंच न जान सुजान। एक नक्कारा बाजिया, वरने वेद पुराण॥
वरने वेद पुराण, अक्षर हैं केवल दोय। अर्थ पछानों एक, शंक नहिं राखो कोय॥
कहे **परमां** अधिराज, हृदय में राख निरन्तर। ईश्वर गुरु अभेद, जानकर सेवो मग गुरु॥ १॥
सेव गुरु के चरण को, जांते होय कल्याण। जगत् नसाय तिमिर हरें, मुक्ति देवें दान॥
मुक्ति देवें दान, गिने नहिं जात न पात। केवल श्रद्धा प्रेम, गिने उत्तम यह जात॥
कहे **परमां** अधिराज, करे भव माँहि अभेद। मैं मेरी धन अरप, करो सतगुरु की सेव॥ २॥
देह रोग हित वैद्य बहु, मन हित केवल एक। होय अरोग न गुरु बिन, सेवे यतन अनेक॥
सेवें यतन अनेक, रोग नहिं मन का जावे। गुरु उपदेश कमाय, तभी नीरोग कहावे॥
कहें **परमां** अधिराज, अवर नहिं कीजे नेह। मन के जावें रोग, पाय जब सतगुरु देह॥ ३॥
कानों बौरे होय कर, जग से नेत्र मूंद। मुक्ति वाक्य विचारकर, निज में निज को ढूंढ़॥
निज में निज को ढूंढ़, गुरु जो मन्त्र दृढ़ांय। देही दृष्टि उठाय, आप में स्थित पाय॥
कहे **परमां** अधिराज, शब्द जग अनर्थ जानो। नेत्र मूंद के वरत, जगत में बौरे कानो॥ ४॥
मुक्ति खड़ी गुरु द्वार ते, जो माँगे सो पाय। तन मन धन वाणी अरप, सतगुरु सेव कमाय॥
सत्गुरु सेव कमाय, गुरु वच में मन जोड़ो। केवल गुरु लख मीत, अवर सम्बन्ध सब तोड़ो॥
कहे **परमां** अधिराज, जान यह सौखी युक्त। निज हृदय में धार, चलो जो चाहो मुक्त॥ ५॥
साचा सत्गुरु पाय कर साचा मिल हरि राय। साची कार कमाय कर, साचा पल्ले पाय॥
साचा पल्ले पाय, पर्वतवत् श्रद्धा राखो। नित ही जयजयकार, गुरु की मुख से भाखो॥
कहे **परमां** अधिराज, अवर सब जानो काचा। जेतक जग के मित्र, गुरु बिन कोय न साचा॥ ६॥
चेला गुरु कहावना, जीते ही मर जाय। आपा मरे गुरु लहे, मन का मान गँवाय॥
मन का मान गँवाय, गुरु वच कहनी राखे। चीत डुलाय न रंच, नहीं कोई शंका भाँखे॥
कहे **परमां** अधिराज, हृदय जिस गुरु का डेरा। धारे गुरु उपदेश, मान तिंह गुरु का चेरा॥ ७॥

●

॥ सोरठा ॥

निज में निज स्थित, भूले तुरिया पद सदा। त्यागे सकल असत, **परमां** सो गुरु जानिए॥
नित ही पेखे आप, आप भिन्न सूझे नहीं। जपे न दूसर जाप, **परमानन्द** स्थित सदा॥
नहिं भय देवे काहिं, निज में भय जाँके नहीं। वंदो **परमां** तांहि, निर्भय वरते जो सदा॥
हानि लाभ भयो सम, हर्ष शोक उपजे न जिंह। रंच हृदय नहिं तम, **परमां** वंदन योग गुरु॥
बंधन मुक्ति दोय, कल्पित अक्षर जानिए। दोय उल्लंघित होय, **परमां** परम सुजान गुरु॥
चित अचित्त भयो नित्त, नित ही पेखे आपको। भूले जाँहि अनित, **परमां** गुरु सोऊ गिनो॥
लोक शब्द को लीन, निज में करे व्योमवत्। **परमां** सतगुरु चीन, निन्दा स्तुति सम जिंह॥
वर्षा सत उपदेश, बादल ज्यूं जग में करे। तपत न जिंह मनलेश, **परमानन्द** पावन गुरु॥
ऊठत बैठत ज्ञान, ज्ञान बिना सूझे न जिंह। निश्चय निज विज्ञान **परमां** धारे गुरु सो॥
ठागे ठगनी जोय, निर्भय वरते सिंह ज्यूं। सूरा सतगुरु सोय, **परमानन्द** बरवानिए॥
काहू नाहीं दुःखाय, पर का दुःख सहार जो। सब को सुख पहुँचाय, **परमां** पूरण गुरु सो॥
चले चलाये सत्य, आन धर्म सूझे न जिंह। नामरूप कल्पित, **परमां** गुरु जाने सदा॥

Scanned with CamScanner

जाँके दर्शन भेंट, सकल तप्त मन नाश होय। संशय सब जो मेट, परमां तिंह गुरु जानिए॥
विषय रस को त्याग, तत्त्व ज्ञान रस लेय जो। ऐसो गुरु अनुराग, परमानन्द पूजो सदा॥
जाने सत ही सत, सत से भिन्न न और कुछ। सारा जगत् असत्, परमां जाने सतगुरु॥
संशय परमां छेद, छेदे आवागवन को। वाणी ताँकी वेद परमां सो गुरु सेव नित॥

●

गुरुदेव के कार्य का विस्तृत क्षेत्र सिंध, पंजाब, बिलोचिस्तान सीमाप्रान्त, बहावलपुर आदि प्रदेश ही रहा। नवीन शास्त्र रचना के बारे में आप सदैव यही कहते रहे कि प्रत्येक बात हमारे गुरुदेव ने सरल रूप में अपनी कृतियों में लिख दी है। हमने तो उन पर केवल आचरण ही करना है फिर भी जिज्ञासु जनों को समय-समय पर जो भी उत्तर आपने उनके अज्ञान निवारणार्थ दिये अथवा सेवकों ने विशेष विषयों पर प्रकाश डालने की प्रार्थना की, तो उन प्रार्थनाओं को स्वीकार करके उन्होंने लेखनी बद्ध उत्तर दिये। उन्हीं उत्तरों का संकलन "श्री ज्ञान भण्डार" मखजन उल इसरार, स्त्री-भूषण, कन्या शिक्षा, नारी सुधार, अनुभव चरित्र, आनन्दावली' स्वामी हेमराज जीवन चरित्र, वेदान्त पर निबन्ध, (Essays on the Vedanta) आदि की रचना की। आपने अपना सम्पूर्ण जीवन ब्रह्मचर्य तथा विरक्त होकर साधना युक्त बिताया। अन्तिम समय में आपकी केवल एकमात्र इच्छा यह थी कि स्वामी हेमराज मिशन के कार्य को भविष्य में फलता-फूलता रखा जाए।

गुरुदेव की वसीयत

२६ अप्रैल, १९३४ दोपहर १२॥ बजे प्रेम मन्दिर में सत् गुरुदेव श्री स्वामी परमानन्द जी महाराज की दशा अकस्मात् नाजुक अवस्था में पहुँच गई और श्वास-प्रश्वास की क्रिया में अवरोध होने लगा। इस अवस्था को देखकर मैं उनकी रुग्णशैया पर बैठ गया और उन्हें अपनी गोद में लिटा लिया। उसी क्षण मास्टर झमटमल, श्रीमती मेंघीबाई, ठाकुरीबाई, केसरबाई भी वहाँ आ बैठीं। श्री स्वामीजी महाराज को ऐसे अनुभव होने लगा कि अब यह शरीर अधिक समय तक उनका साथ नहीं देगा। तब अपने हृदय की अन्तिम वसीयत (निष्ठा पत्र) बड़ी कठिनता से परन्तु सावधान और दृढ़ निश्चय के साथ पाँच-आठ श्वास लेने के पश्चात् कहने लगे, "झमटमल ! हमारा शरीर अब अधिक समय शायद न रहे। आप लोग हमारी यह अन्तिम वसीयत सुन लें। हमारे तीन मन्दिर हैं। इन तीनों मन्दिरों के लिए हम अपने तीन शेर बच्चे आपको देते हैं। तीनों लायक और सुपात्र हैं। प्रत्येक अपने-अपने स्थान पर उन्नति करता रहेगा। रामानन्द यहाँ मुजफ्फरगढ़ में सेवा करेगा। बोधराज पहले से ही हैदराबाद (सिंध) में जैसे सेवा कर रहा है वैसे करता रहे। मुजफ्फरगढ़ और हैदराबाद के मन्दिर पहले ही बस चुके हैं। इसलिए आगे उन्नति करते रहेंगे। कराची एक पढ़े-लिखे लोगों का शहर है। इसमें ज्यादा पढ़े-लिखे की जरूरत है। चेतनानन्द डाक्टरी (आयुर्वेद) और संगीत विद्या पास करके आया है। आजकल के समय में इनकी विशेष जरूरत है। कराची की पंचायत अगर आज्ञा माने, तो चेतनानन्द वहाँ पर सेवा करेगा।"

('अगर' शब्द गुरुदेव इसलिए प्रयोग में लाये क्योंकि १९३२ में मुझे गुरुदेव ने कराची मन्दिर की जिम्मेवारी सौंपने के लिए विशेष बुलावा भेजकर शिमला से कराची बुलाया था। ४ दिन उद्घाटन आदि समारोह का समय पूर्ण होने के पश्चात् गुरुदेव ने जब अपना निश्चय समीप के संत्सगियों के सामने प्रकट किया कि इस स्थान पर चेतनानन्द को अधिष्ठित कराने का विचार हम कर रहे हैं, तब झमटमल ने इस विचार का किंचित विरोध किया था। इसलिए उस समय स्वामी जी को अपने विचार को अल्प समय के लिए स्थगित करना पड़ा जिससे कि वह सर्वसम्मति से अपना निश्चय अमल में ला सकें।

Scanned with CamScanner

यह सारी हकीकत गुरुदेव ने सेठ आयलदास नसीराबाद वाले को कराची में उस वक्त बतलाई जिस समय मैं कराची छोड़ने के लिए उनसे विदा लेने गया। उन्होंने आयलदास को यह भी कहा कि हम झमटमल को समझा देंगे। इसलिए इस मौके पर गुरुदेव ने "अगर आज्ञा माने" शब्द कहकर सारा श्रेय और समस्त कार्य को पूर्ण करने का उत्तरदायित्व झमटमल के गले में डाल दिया जिससे कि वह उनकी आज्ञानुसार अमल करें। दूसरा इस समय सत्संगी पुरुषों में से बैठे भी केवल झमटमल ही थे।)

गुरुदेव आगे कहने लगे, अब हमारी जिम्मेवारी पूरी हुई। जिस रूप में हमने यह वसीयत की है, क्या वैसे ही उसपर अमल किया जाएगा न?"

मास्टर झमटमल ने उत्तर दिया—भगवन्! आपने जैसी आज्ञा की है वैसे ही हम पालन करेंगे। आगे झमटमल ने पूछा कि मुल्तान के मन्दिर का क्या होगा? गुरुदेव ने कहा, "उसके साथ हमारा कोई वास्ता नहीं है। बाकी मलिक दौलतराय साहब जो इस समय यहाँ हमारे बाग में टिके हुए हैं उनसे पूछ ल कि (मुजफ्फरगढ़) शहर वाला मन्दिर सत्संग के लिए बराबर काम में लाने देते रहेंगे न?"

फिर झमटमल ने पूछा कि नारायणदास भाटिया के लिए क्या आज्ञा है?

गुरुदेव ने कहा—उसकी बात ही न करें।

इसके पश्चात् फिर गुरुदेव बोल ही न सके और तबीयत की हालत अधिक नाजुक होती गई किन्तु दूसरे दिन तबीयत पूर्णरूप से स्वस्थ हो गई और उनका मन मिशन के भविष्य के निमित्त पूर्णतया निश्चिन्त था। इस प्रकार की निश्चिन्तता के संकेत कई बार भिन्न-भिन्न समयों पर आप प्रकट करते रहे। १५ मई को गुरुदेव की प्रकृति पुनः विकृत हो गई और १८ मई प्रातः ८ बजे से अधिक तन्द्रा छाती गई और श्वास की गति तेज होती गई। मध्यान्ह के पूरे डेढ़ बजे, जिस समय श्री स्वामी हेमराज जी महाराज ने देह त्याग किया था, उसी पवित्र समय एवं घड़ियों में आप इस नश्वर शरीर का सहज ही त्यागकर ब्रह्म-लीन हो गए और अनन्त कोटि की निश्चलता और परमानन्द प्राप्त किया।

जिस सज्जन सत्संगी ने गुरुदेव को उनके द्वारा की गई वसीयत पर अमल करने के लिए विश्वास दिलाया था, उसने लोगों के सामने वह वसीयत प्रकट न की अपितु कुछ ऐसे मनगढ़न्त रूप तथा अनर्गल तथ्य बनाकर लोगों के सामने रखे, जो वास्तविकता से बहुत ही भिन्न थे। मान और माया के प्रभाव ने उनके हृदय को साधारण लोगों की तरह अपनी लपेट में ले लिया और उस महानुभाव ने अनुत्तरदायित्वपूर्ण, अयथार्थ और मनगढ़न्त बातों को बनाकर सत्संगी बन्धुओं के सामने रखा जिसका दुष्परिणाम मिशन को बड़ी बुरी तरह भोगना पड़ा। इससे लोगों में गलत धारणा उत्पन्न हुई। इस प्रसंग की जानकारी से मिशन के प्रायः सभी सत्संगी भली प्रकार से अवगत हैं।

गुरुदेव से स्वीकृत तीनों अधिकारी अपने-अपने कार्य को बिना किसी बाधा के चलाते रहे। उन तीन शिष्यों में से महानुभाव—श्री स्वामी बोधराज जी सांसारिक मनोवृत्तियों से अलिप्त रहकर कई सत्संगियों के साथ गुरुदेव से प्रदत्त सेवा का कार्य निरन्तर करते रहे। इस बीच में आपने विवाह करके गृहस्थ भी स्वीकार कर लिया। हैदराबाद सिन्ध किले में एक सत्संग आश्रम निर्माण करके गुरुदेव का सत्संग चलाते रहे। उसी स्थान पर ही अपना अलग मकान बनाकर रहने भी लगे। आप एक हाई स्कूल में अच्छे अध्यापक थे, उसी आय से ही अपना जीवन-निर्वाह करते थे। इनके प्रमुख साथियों में गुरुदेव के अनन्य भक्त श्री रुघूमल जीवितराम, श्री छत्तोमल टेऊँमल, श्री टहलराम बी० आसवानी, मास्टर डांडू-मल खानचन्द के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन महानुभावों ने गुरुदेव के जीवन-काल में ही श्री स्वामी हेमराज जी तथा स्वामी परमानन्द जी के बहुत से ग्रंथों का सिन्धी में अनुवाद किया। चिदाकाशी मिशन का प्रमुख मासिक-पत्र 'प्रेम' का गुरुदेव के जीवन-काल में सम्पादन किया। २ अक्टूबर १९४४ को २८ वर्ष लगातार श्री स्वामी हेमराज मिशन की सेवा कर आपने भी शरीर-यात्रा समाप्त की।

Scanned with CamScanner

विभाजन के पश्चात् कई प्रेमियों अर्थात् श्री रुग्घूमल, श्री टहलराम, श्री सोभराज, श्री खेमचन्द, श्री प्रतापराय लद्धाराम, श्री गुन्नोमल ताराचन्द ने उनकी पुण्य स्मृति में अजमेर में "स्वामी बोधराज सत्संग आश्रम" बनाकर सत्संग का नित्य नियम पूर्ववत् चला रखा है।

दूसरे महानुभाव स्वामी रामानन्द जी भी गृहस्थी हैं। विभाजन के पूर्व इनका प्रायः सिन्ध में ही आना-जाना रहता था। आपके बेटों के नाते रिश्ते भी सिन्धियों में ही हो गए हैं। अतः विभाजन के पश्चात् आप अपने बाल-बच्चों तथा बहू-बेटों के साथ बम्बई में रहकर आनन्द से अपना जीवन बिताते हैं और अपना प्रचार भी कर रहे हैं।

तीसरे शिष्य, इन पंक्तियों के लेखक को इस मायावी प्रपंच को देखकर बड़ी निराशा हुई और यही उचित समझा कि इस राग-द्वेषमय जीवन से दूर रहकर गुरुदेव के बताये हुए दस नियमों के अनुसार अपना जीवन त्याग एवं तपोमय बनाना चाहिए। परमार्थ-पथ पर भी मान एवं माया की दुर्गन्धि बनी रही तो परमार्थ साधनों का कोई फल नहीं मिल सकता। यह विचार कर पूर्ण एकांत एवं असंगता के साथ जीवन-यापन करते हुए निजी श्रम द्वारा अर्जित धन से गुरुदेव के पवित्र स्मारक के रूप में लारकाना सिन्ध (पश्चिमी पाकिस्तान) में सन् १९३४ ई० में "श्री सत्य धर्म मन्दिर स्वामी हेमराज चिदाकाशी" के अतिरिक्त श्री "परमानन्द भण्डार", चिदाकाशी वीविंग फैक्टरी, लक्ष्मी आयुर्वेदिक दो औषधालय और एक आतुरालय की स्थापना करके निरन्तर रोगियों के शारीरिक तथा मानसिक सेवा का पवित्र कार्य करता रहा।

उसी सत्य धर्म मन्दिर के अन्तर्गत एक सदाचार आश्रम भी खोला गया था, जिसमें सत्संगियों के बालक विद्यार्थी रूप में रहा करते थे। उनके शारीरिक एवं मानसिक विकास के निमित्त स्वास्थ्य तथा चरित्र की भली प्रकार देखभाल हुआ करती थी। इसी के साथ एक "सत्यधर्म बालक बैंक" भी खोला गया और स्वयं आश्रम निवासी बालकों द्वारा ही संचालित कर उनमें मितव्ययता तथा समाज सहायता के संस्कार भरने का भरसक प्रयत्न किया जाता था। आश्रम निवासी बालकों के चारित्रिक उत्थान के आधारभूत श्री स्वामी हेमराज जी चिदाकाशी द्वारा रचित बाल-रक्षा पुस्तक थी। इसके अनुसार उनके आचरण पर बल दिया जाता था।

कराची स्थित मीठादर गऊ गली में एक धर्मार्थ औषधालय का भी संचालन करके जन-सेवा की जाती रही।

सन् १९४५ में श्री रामनवमी के शुभ अवसर पर "दूसरा सिन्ध पंजाब चिदाकाशी सम्मेलन" लारकाना सिन्ध में बुलाया गया था। इसकी अध्यक्षता स्वामी हेमराज जी के कनिष्ट भ्राता के सुपुत्र माननीय मलिक फतहचन्द जी ने की थी। इसमें बड़े-बड़े विद्वान महापुरुषों के गुरुदेव की शिक्षाओं पर प्रवचन तथा भाषण हुए। तीन दिन का उक्त कार्यक्रम बड़ा ही विशाल, महत्वपूर्ण एवं आकर्षक था। यह समय बहुत ही विकट महंगाई का था, परन्तु गुरुदेव की कृपा से सम्मेलन सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। तब से यह सम्मेलन प्रति वर्ष रामनवमी तथा स्वामी हेमराज जयन्ती पर विराट रूप से मनाते चले आ रहे हैं।

इसी प्रकार सत्संग के केन्द्र पेशावर, रावलपिण्डी, स्यालकोट और लाहौर की रामगली में खोलकर स्वामी हेमराज मिशन का प्रचार-कार्य निरन्तर करते रहे।

●

Scanned with CamScanner

Scanned with CamScanner

अथ श्री अद्वैत सिद्धान्त

॥ मंगल ॥

॥ सवैया ॥

चेतन रूप अनाद अनामय, सत्ता मात्र अखण्ड प्रकाशी।
अचल अनाम अरूप अजूनी, अगम अपार अभय अविनाशी।
नित्य सनातन पुरुष पुरातन, परमानन्द सर्व सुख राशी।
सत्य स्वरूप निरन्तर इस्थित केवल अनुभव मात्र हुलासी।।१॥

एक अखंड निरंजन अद्वै आतम रूप स्वतः परकाशी।
निकट न दूर न अन्तर बाहर, पूरण रूप महा आकाशी।
आद न मध्य न अन्त निरन्तर, ऊँच न नीच न शोक हुलासी।
ईश न जीव न सेवक स्वामी, केवल चेतनमात्र विलासी॥ २॥

पूरण रूप अकाश विराजे, चेतन रूप पवन सुखदाई।
अग्नि प्रकाश अति छवि छाजे, जल सर्वातम रूप सुहाई।
इस्थित रूप धरचो धरती वप, जगत् और ब्रह्म में भेद न राई।
दूसर हुआ न होग न है कछु, वस्तु अद्वैत सदा अस्थाई॥ ३॥

नाहिन रूप न रंग कछू सब, रूप और रंग कियो उजियारा।
नाहिन नाम न जात कछू सब, नाम और जात कियो पासारा।
नाहिन भेष न पक्ष कछू सब, भेष और पक्ष कियो विस्तारा।
नाहिन देह अकार कछू अब, हेमां देह कियो आकारा॥ ४॥

Scanned with CamScanner

: १ :

★ सत्यधर्म सिद्धान्त ★

प्रश्न १—जगत् में कौन-सा धर्म सत्य और श्रेष्ठ है, जो सब जीवों के धारण करने योग्य है ?

उत्तर—इस जगत् में परस्पर प्रेम और सुमित्रता के समान कोई धर्म नहीं। जिन पुरुषों के चित्त ईर्षा, विरोध, दंभ, विद्या-चातुर्य और मायावी मान से मुक्त होकर आत्म-हित और परस्पर प्रेम-परायण हुए हैं, वे धन्य और वन्दनीय हैं। ऐसे परम हितकारी सज्जनों की प्रीति, सुख का मूल और आनन्द का हेतु है। जिस स्थान पर कई धर्मात्मा मनुष्य अपना काल व्यतीत करते हैं, वह स्थान ब्रह्मलोक से भी उत्तम है। अतः सब मनुष्य इस धर्म को धारण कर अपना काल व्यतीत करें। यदि सब मनुष्य इस धर्म को धारण करने में निर्बल हों तो बुद्धिमान, न्यायकारी, पारदर्शी, जिज्ञासुओं, भक्तों, विद्वानों, ज्ञानियों, उप-देशकों, महात्माओं और सारग्राहियों के लिए उचित है कि सर्वात्म वृत्ति को धारणकर अज्ञानी और मूढ़ जीवों को अपने बल और पुरुषार्थ से विरोधात्मक आसुरी स्वभावों से मुक्त कर दैवी-सम्पदा-सम्पन्न करें; इससे संसारी जन नीच गति से मुक्त होकर उत्तम गति प्राप्त हों एवं जीव का देह के साथ सम्बन्ध होते ही ऐसी गति प्राप्त हों कि संसार मंडल के मध्य स्थित होकर परमानन्द अवस्था में विलीन रहें। ऐसी अवस्था परस्पर प्रेम और सुमित्रता के बिना प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिये उचित है कि इस धर्म का प्रचार विशे-षरूप से रहे। यही वास्तव में सत्यधर्म है।

प्रश्न २—सत्यधर्म किस उपाय से दृढ़ होता है ? और इसका प्रचार जगत् में कैसे होता है ?

उत्तर—सत्यधर्मरूपी वृक्ष के दृढ़ करने के निमित्त सर्वधार्मिक और सारग्राही पुरुषों को उचित है कि वे, निरन्तर अभ्यासरूप जल-सिंचन करें। जिस प्रकार जल-सिंचन से रहित वृक्ष सूखकर छाया से शून्य हो जाता है उसी प्रकार निरन्तर अभ्यास के बिना सत्यधर्म का प्रचार शिथिल होकर आसुरी-सम्पदा के स्वभावों से नवीन और अल्प-बुद्धि पुरुषों के अन्तःकरण को मलिन और विक्षिप्त कर देता है। इसलिये परोपकारी, सुमित्रजन

Scanned with CamScanner

और विद्वान् पुरुष उद्वेग को त्यागकर निरन्तर सत्यधर्म के प्रचार में सावधान और स्थिर-बुद्धि रहते है। इसका फल यह होता है कि अपने हृदय को सत्यधर्म से प्रकाशित कर अपने तटस्थ और समीपवर्ती सज्जनों, जिज्ञासुओं, भक्तजनों और दूसरे उदासीन पुरुषों के हृदयरूपी आकाश में उत्तम गुण का प्रकाश फैलाते हैं। इसलिये अनादिकाल से महापुरुषों, पारदर्शियों, महामुनियों और महर्षियों ने सत्संग का प्रचार स्थापित कर सामान्य जीवों को सुखपूर्वक चलाया है, चलाते हैं और चलाते रहेंगे। ऐसा सत्संग जिन लोगों को नित्य प्राप्त हो इस उत्तम, निर्मल तथा महानपूज्य धर्म को श्रद्धा, दृढ़ता, सत्यता, प्रेम, निर्मानता और अभ्यास से स्थिर रखें। दिन-प्रतिदिन परस्पर पुरुषार्थ और उत्साह से इस प्रचार को बढ़ाते रहें। इससे बस सत्यधर्म सेवकों की बुद्धि मलिनता से मुक्त होकर परम पावन और शुद्ध होती रहे।

महा पुरुष जिस कर्म को रुचि से करते हैं, अन्य पुरुष भी उनको देखकर उसी प्रकार बर्ताव करते हैं। अतः बड़े सत्संगियों को उचित है कि वे नित्यप्रति अपने कर्मों पर विचार कर अपने आपको दैवी-सम्पदा के गुणों से सुशोभित और मंगलमय बनाते रहें। मलिन कर्मों के त्याग करने में प्रयत्न कर अपने अन्तःकरण को स्फटिक की नाँई स्वच्छ और उज्ज्वल करें। वैराग्य और उपरति के अभ्यास से चित्त की ममता और लौकिक प्रीति को दूर हटाकर आत्मबोध को दृढ़ करें। सहनशील, शान्तिवान्, गंभीरमूर्ति, विरक्त तथा परम सहृदय सुमित्रजन मानापमान से रहित होकर आत्मसन्तुष्ट रहें। इससे दूसरे जिज्ञासु, भक्तजन और उदासीन पुरुष प्रेरणा पाकर सत्यधर्म के मार्ग पर चलने की इच्छा करें। उनके दृष्टान्त से दूसरे पुरुषों को सहज ही प्रेरणा हो। जब इस रीति से सब बड़े सत्संगी अपने पुरुषार्थ में सावधान हों, संसार में तब धर्म का प्रचार अतिशय सुगम हो जावेगा।

प्रश्न ३—सत्यधर्म पर चलने की सामर्थ्य कैसे प्राप्त होता है ?

उत्तर—न्यायशील विचार और विचारपूर्वक अभ्यास से।

प्रश्न ४—सत्य-सभा स्थापन और स्थित करने की क्या रीति है ?

उत्तर—इस भूताकाश में सब काम प्रेम और परस्पर मिलाप से सिद्ध हो रहे हैं। प्रेम और मिलाप के विना कोई कार्य सिद्ध नहीं हो पाता। अतः सब बुद्धिमान और पारदर्शी परस्पर प्रेम और मिलाप से सत्य सभा को निरन्तर स्थापित रखें। फिर सत्य शास्त्र कथन, श्रवण, चिन्तन, मनन और निदिध्यासन से सत्य वचनरूप अमृत फल चखें। अपनी एकता और परस्पर मित्रता से दूसरों को सुख और अज्ञानियों को भी शांति और ज्ञान का भाग दें। फिर यत्न से मित्रता और एकता को निरन्तर दृढ़ और स्थित रखें। किसी प्रकार का ईर्षा द्वेष, मान, दम्भ और मत्सर अन्तःकरण में न लाएं। एक-दूसरे के विकारों, अवगुणों और दुःखों को हितकारी, गम्भीर और विचारपूर्वक दृष्टि से पावन करते रहें। निरन्तर आत्माभ्यास में स्थित होकर संसार के दुःखों से रहित रहें कि

Scanned with CamScanner

जिससे सत्संग-स्थापन करने में किसी प्रकार का विघ्न एवं प्रतिबन्ध न हो। नित्यप्रति सर्वात्मभावी जिज्ञासु, मुमुक्षु, संतसेवी, सद्गुरुभक्त, ब्रह्म-विद्या के श्रोतागण श्रद्धा, प्रेम, विनम्रता, सत्यता, दृढ़ता और प्रसन्नता से ब्रह्मस्थान पर आकर शोभनीय और मंगल-कारिणी सभा जमाते रहें। सत्य वचनों को श्रवण कर उन्हें हृदय में बसाते रहें। प्रतिदिन अपनी वृत्ति को अनात्मा अर्थात् शरीर की ओर से हटाकर आत्मा में स्थित कर ब्रह्मानन्द पाते रहें। अपने आपको न्याय एवं ज्ञानरूपी दर्पण में देखकर शुद्ध और पावन बनाते रहें। निरन्तर अपने अन्तःकरण और इन्द्रियों के संकल्पों को विचाररूपी तराजू में तोलकर निष्पक्ष और निर्दंभ रीति से हिसाब लगाते रहें। न्यायशील बनकर अपने नीच, मलिन, निंदित, असुर और विकारी स्वभावों के लिए पश्चात्ताप कर उनका त्याग करें। उत्तम, पावन, दैवी और निर्विकार स्वभावों और कर्मों से सुशोभित होकर यश, शोभा, जीवनमुक्ति और सद्गुरु प्रसन्नता का लाभ उठाते रहें। सब जिज्ञासुजन निर्बाध नित्य समयानुसार सभा में आते रहें उत्कट जिज्ञासा, सत्यप्रेम, दृढ़ श्रद्धा, निर्विघ्न प्रीति तथा सावधानता से कीर्त्तन और कथन का परम रस श्रोत्रेन्द्रिय से पानकर अपनी तृषा बुझाते रहें। सत्संग-समाप्ति पर्यन्त सब सभासद स्थिर-बुद्धि सहित आसन जमाकर सभा को सुशोभित मांगलिक करें। सब लोग एक रूप होकर सत्यधर्म रूप स्तम्भ को ऐसा दृढ़ और अचल रखें कि कोई भौतिक, लौकिक, व्यावहारिक, वाचिक, कायिक और मानसिक विघ्न उस स्तम्भ को अपने मूल से निर्मूल न कर सकें। अडिग-चित्त, गम्भीर-मति, दृढ़-निष्ठावान्, सद्गुरु-भक्त, दैवीगुण-सम्पन्न और जीवनमुक्त होकर नित्यप्रति आत्मचर्चा, आत्मकथा, आत्मकीर्त्तन, आत्मचिन्तन, आत्मश्रवण, आत्ममनन, आत्म-निदिध्यासन, आत्म-स्थिति और आत्म-तृप्ति का आनन्द लेते रहें। सब जन परस्पर हित, प्रेम, भय, श्रद्धा, मित्रता, सहृदयता, सतत निष्कपटता, समानता, प्रेमपूर्ण वचन, आज्ञा पालन से अपनी एकता और सभा को दृढ़, स्थिर, अचल और आनन्दमय बनाकर सद्गुरु की प्रसन्नता का लाभ उठाते रहें।

प्रश्न ५—जगत् में एकता श्रेष्ठ है अथवा विरोध ? यदि एकता श्रेष्ठ है तो उसका कारण क्या है ?

उत्तर—इस जगत् में परस्पर एकता से ही ईश्वरीय और मानवीय सब कार्य सिद्ध हो रहे हैं। जबतक एकता न हो तब तक कोई कर्म, धर्म अथवा व्यवहार सिद्ध नहीं होता। अतः एकता ही सम्पूर्ण ब्रह्मानन्द की मर्यादा को स्थापित और स्थिर रखने का स्तम्भ है। जब एकता लुप्त होती है और द्वैत भावना अथवा परस्पर विरोध बीच में आ जाता है। वह जगत् की मर्यादा को व्यभिचारी कर अधर्म, अन्याय, दोषदृष्टि, युद्ध, हिंसा, खण्डन-मण्डन और परस्पर घात-प्रतिघात में एक दूसरे को लगाता है। इसलिए सब बुद्धिमान् सत्यधर्मी, ज्ञानी और पारदर्शी पुरुषों को द्वैत अथवा विरोध का त्याग उचित है।

जब लोग विद्या, पारदृष्टि और सौभाग्य से भेदोच्छेद, वैर-विरोध, ईर्षा-मत्सर, वाद-

Scanned with CamScanner

विवाद और खण्डन-मण्डन से रहित होकर श्रवण, मनन और निदिध्यासन से अपना समय मंगलमय और पावन बनाते हैं और उनकी श्रद्धा तथा एकता निरन्तर स्थिर व दृढ़ हो जाती है, तब कोई विघ्न बीच में प्रतिबन्धक होकर चित्त को क्षुब्ध और विक्षिप्त नहीं करता।

प्रश्न ६—जो लोग वैर और विरोध से परस्पर लड़ते रहते हैं, इसका कारण क्या है ?

उत्तर—अपने वास्तविक स्वरूप का अज्ञान और देह का अभिमान सृष्टि में परस्पर विरोध का कारण है। मनुष्य अज्ञान से धनादि पदार्थों में ममता कर अपने आपको उत्तम मानते हैं और दूसरे को नीच मानकर उस पर क्रोध करते हैं। धन, पृथ्वी, स्त्री के निमित्त परस्पर ममताशील होकर निशदिन श्वानों की नाँई लड़ते रहते हैं, यह सब अज्ञान की ही कृपा है।

प्रश्न ७—जगत् में परस्पर वाद-विवाद, प्रेम और विरोध का क्या कारण है और किस उपाय से ये सब व्याधियां निवृत्त होती हैं ?

उत्तर—इस जगत् में शब्द का बखेड़ा फैला हुआ है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सब शब्द से सिद्ध होते हैं और शब्द के भेद से नानारूप होकर भासते हैं। अतः संसार शब्द ही का पसारा है। जितने प्राणधारी शरीर हैं, वे सारे शब्द के पात्र हैं। भेद केवल इतना है कि पशु-पक्षी तिर्यकादिकों के शब्द निरर्थक हैं और मनुष्यों के शब्द सार्थक हैं। इसलिए पशु आदि प्राणियों में किसी प्रकार का वाद-विवाद झगड़ा-रगड़ा, खण्डन-मण्डन, प्रेम-विरोध, नहीं है किन्तु मनुष्य में यह सब-विकार प्रत्यक्ष प्रतीत होते हैं। उसका कारण यह है कि मनुष्य सृष्टि में शब्द की प्रतीति अतिशयरूप से हो रही है। अतः जगत् केवल मनुष्य सृष्टि में है और मनुष्य सृष्टि के भी शब्दों में प्रपंच की सिद्धि होती है। शब्द के बिना प्रपंच की सिद्धि नहीं होती। इसलिए केवल मनुष्य सृष्टि ही अपने शब्द से आप बद्ध है। परन्तु इस शब्द में भी भेद है, जो शब्द तत्त्वज्ञानी के मुख से निकलता है वह संसार का बाधक और मोक्ष का साधक है तथा जो शब्द (जगत्) ज्ञानी के मुख से निकलता है वह जगत् का साधक है और मोक्ष का बाधक होता है। अतः तत्वज्ञानी का शब्द श्रवण करना, मनन करना, निदिध्यासन करना, परम कल्याण और परम आनन्द का साधन है। इसके बिना दूसरे जितने भी शब्द हैं, वे सब बन्धन के मूल, दुःख के हेतु और क्लेश के भंडार हैं। बुद्धिमान् मनुष्य केवल तत्त्वज्ञानियों के शब्दों से प्रीति रखे और जगत्-ज्ञानी के शब्द को केवल अर्थ-सिद्धि-निमित्त श्रवण करें, किन्तु सत्य प्रतीत कर हृदय में धारण न करें।

प्रश्न ८—धर्म भावना जागृत करने के लिए माता-पिता को अपनी सन्तान के साथ कैसा व्यवहार उचित है और किस आयु में धर्म-विद्या देनी चाहिए ?

उत्तर—बालकों को प्रारम्भ से ही धर्मविद्या पढ़ाना उचित है। जिससे उनकी पिछली

Scanned with CamScanner

आयु सुख और शांति से व्यतीत हो। माता-पिता का यही धर्म है कि अपनी सन्तान को सत्य मार्ग पर चलावें। वे माता-पिता धन्य हैं, जो अपनी सन्तान को सत्य मार्ग पर चलाने की प्रेरणा देते हैं। इससे बालकों के हृदय में सत्यमार्ग स्थित होकर उन्हें धर्मात्मा बनाता है।

माता-माता को उचित है कि प्रारम्भ से ही अपनी सन्तान के हृदय में धर्म के संस्कार डालते रहें। जब लड़का अथवा लड़की पढ़ने योग्य हों तब उनको पहले धर्मविद्या पढ़ावें। इससे उनके अन्तर में धर्मज्ञान छोटी ही आयु में परिपक्व हो जांए, क्योंकि छोटी आयु में जो संस्कार हृदय में स्थित हो जाते हैं, वे कभी नष्ट नहीं होते। जैसे दूसरी विद्या बालक को छोटी आयु में शीघ्र ही आ जातीं है। इसके अतिरिक्त छोटी आयु में अन्तःकरण विकारों से रहित, विषयों से रहित, संशयों से मुक्त और अगली-पिछली कहानियों के संस्कारों से निर्मूल तथा दूसरे धर्मों से अज्ञात होता है। इसलिए धर्मविद्या और धर्म के संस्कार उसमें शीघ्र ही प्रवेश कर जाते हैं। जब लड़कियाँ लड़के बड़े होते हैं और व्यावहारिक विद्या पढ़ते हैं तो उस विद्या के संस्कार हृदय में बहुत गहराई में प्रवेश नहीं करते। दूसरे धर्म-वालों की प्रेरणा व संगति से वे अपने धर्म का त्याग भी नहीं करते, क्योंकि प्रारम्भिक धर्म शिक्षा उनका स्वभाव हो जाता है। जब तक धर्म स्वभावरूप न हो, तब तक दृढ़ नहीं होता। अतः धर्म को स्वभावरूप बनाने के लिये बालकों को पाँच वर्ष की आयु से धर्म विद्या में लगाना ठीक है। व्यावहारिक विद्या बाद में पढ़ावें। इससे व्यवहार की चतुरता निर्बल रहेगी तथा धर्मविद्या प्रबल रहेगी और दूसरे धर्मो के संस्कार भी हृदय में प्रवेश कर अपने धर्म से विमुख न करेंगे। छोटी आयु में जो कुछ स्मरण किया जावे वह बहुत काल पर्यन्त स्मरण रहता है। इसलिए धर्म विद्या का समय बाल्य और कुमारावस्था है। बाल्यकाल दस वर्ष तक और कुमारावस्था पन्द्रह वर्ष तक होती है। इस अवस्था के संस्कार मरणपर्यन्त रहते हैं। इसलिए उचित है कि सब माता-पिता अपनी सन्तान को पन्द्रह वर्ष तक धर्म विद्या में प्रवृत्त रखें। यदि वे पहली अवस्था में व्यावहारिक विद्या पढ़ाएँगें तो किशोरावस्था में अर्थात् पन्द्रह से बीस वर्ष पर्यन्त चित्त की वृत्ति विषयारूढ़ और यौवन के उन्माद से बलवान् होकर धर्म की ओर नहीं लगती। इसलिए महात्माओं ने पहली आयु धर्म के निमित्त रखी है, दूसरी आयु अर्थ के निमित्त, तीसरी आयु काम के निमित्त और चौथी आयु मोक्ष के निमित्त रखी है, अर्थात् पाँच वर्ष से पन्द्रह वर्ष तक धर्म विद्या पढ़ें। पन्द्रह वर्ष से पच्चीस वर्ष तक व्यावहारिक विद्या पढ़े। पच्चीसवें वर्ष से पच्चास वर्ष पर्यन्त गृहस्थ करे। उसके उपरान्त गृहस्थ और व्यवहार त्यागकर मोक्ष के निमित्त एकांत-सेवन, सत्संग, सत्यधर्म, प्रीति, सत्यस्वरूप चिन्तन, सत्यशास्त्र-विचार और समाधि आदि में अपनी आयु को लगावें।

प्रश्न ६—पाठशाला में बालकों के मध्य किस ढंग से विचरना चाहिए जिससे वे मनो-विकार, चंचलता एवं मूर्खतासे मुक्त रहें ?

Scanned with CamScanner

उत्तर—वैराग्य और विचार सहित विचरने से प्राणी मनोविकार, चंचलता और मूर्खता से मुक्त रहता है अर्थात् वह किसीके साथ चित्त से प्रीति न रखे और न किसी को अपना मित्र बनावे। अपना व्यवहार सिद्ध करने के लिये सब के साथ वाणी विलास करे। पाठशाला-के नियमों के अनुसार उनसे व्यवहार करे। विद्या के अध्ययप वा अभ्यास के लिए उनके साथ चर्चा वार्ता करे एक स्थानपर बैठकर उनके साथ भोजन करे; परन्तु किसी के साथ चित्त न बाँधे और न ही किसी के मलिन और नीच स्वभावको अपनाए विचार पूर्वक सबके संग-दोष-से रहित रहे। विचार को त्यागकर किसी भी समय कोई भी व्यवहार अथवा कर्म करना उचित नहीं। इस प्रकार पाठशाला में किसी बालकका दूसरे बालकों के साथ बर्ताव रहे तो बालकों की चंचलता और विकारी स्वभाव उनके अन्तःकरण में प्रवेश नहीं करेंगे। यदि वह इस रीति से न विचरेगा, वह दूसरे चंचल और विकारी बालकों के साथ प्रीति कर चंचल, मूर्ख और विकारी हो जाता है। इसलिए जिज्ञासु को उचित है वह जितनी देर पाठशाला में रहे, उतनी देर उपर्युक्त नियमानुसार बर्ताव करे। यदि अभ्यास की इच्छा मान में तीव्र हो तो रात्रिके समय जब सारे बालक निद्रामें हों, तब उठकर अभ्यास करे और किसी को उसका वृत्तान्त न कहे। मौन होकर अपना समय व्यतीत करता चले। यदि सत्य शास्त्र-विचार की जिज्ञासा हो तो कोई एकान्त समय इस कार्यको पूरा करने के लिए नियत करे। उस समय दूसरे बालकों के साथ बातचीत न करे, सावधान होकर शास्त्र के अर्थोंका रस लेवे, इस युक्ति से कालको व्यतीत करता चले।

प्रश्न १०—कई शास्त्रों में ऐसा निर्णय है कि प्रथम कर्म करे, फिर उपासना से दृढ़ बने, तब ज्ञान प्राप्त होता है। इस क्रम का क्या प्रयोजन है? यह क्रम किस लिए स्थिर किया गया है? इसका कब तक सेवन करना उचित है?

उत्तर—कर्म का फल अन्तःकरण की शुद्धि है, उपासना का फल अन्तःकरण की एकाग्रता है और ज्ञान का फल स्वरूप की प्राप्ति है। इस क्रम से मनुष्य शरीर में तीन कर्म करता है। इन्द्रिय, अन्तःकरण और जीवात्मा की शुद्धि के तीन उपाय हैं। कर्म से इन्द्रियाँ शुद्ध होती हैं। उपासना से अन्तःकरण शुद्ध होता है और ज्ञान से आत्मा का साक्षात्कार होता है। इनका क्रमिक अनुष्ठान इसलिए स्थिर किया है कि इससे मनुष्य का बाह्य बर्ताव, अन्तर्गत-संकल्प और स्वरूप-निष्ठा तीनों शुद्ध और यथार्थ रहें। उत्तम कर्मों से बाहर का बर्ताव शुद्ध रहता है। उपासना से अन्तःकरण के संकल्प शुद्ध होते हैं। ज्ञान से सब संशयों की निवृत्ति होकर अपना शुद्ध-स्वरूप प्रत्यक्ष होता है। अतः ये तीनों साधन सम-काल सेवन करने से मनुष्य को जीवन-मुक्ति का अधिकारी बनाते हैं। जब तक प्राण और शरीर का संयोग रहे तब तक इनको करता रहे। यद्यपि कर्म के बाद उपासना है और उपासना का फल ज्ञान है, तथा ज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर कर्म और उपासना की अपेक्षा नहीं रहती, तथापि जिस प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति में कर्म और उपासना सहायक हैं, उसी

Scanned with CamScanner

प्रकार ज्ञान की स्थिति में भी कर्म और उपासना सहायक हैं। जैसे तृप्ति के सहायक भोजन का बनाना और भोजन का खाना है; शरीर तृप्ति के लिए आजीवन भोजन बनाया और खाया जाता है, उसी प्रकार कर्म और उपासना ज्ञान के सदा सहायक हैं। भाव यह है कि ज्ञानी उत्तम स्वभावों को धारकर और एकाग्रचित्त से विलक्षण आनन्द एवं जीवनमुक्ति भोगता है। उत्तम स्वभाव वालों के लिए उत्तम कर्म हैं और चित्त की एकाग्रता के लिए उपासना है। इस प्रकार कर्म और उपासना से ज्ञानी अपने ज्ञान की रक्षा करता है। इस प्रयोजन से शास्त्रों में इन तीनों का निर्णय है।

प्रश्न ११—अन्तःकरण की शुद्धि किस प्रकार हो सकती है ?

उत्तर—निष्काम शुभ कर्मों से।

प्रश्न १२—शुभ कर्म कौन से हैं ?

उत्तर—जिन कर्मों से अन्तःकरण की शुद्धी हो, वे शुभ कर्म हैं।

प्रश्न १३—शुभ कर्म कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर—तीन प्रकार के हैं--कायिक, वाचिक और मानसिक।

प्रश्न १४—इनका विस्तृत वर्णन कैसे है?

उत्तर—

कायिक कर्म ये हैं—

(१) मंजन, अर्थात् मुख को दातुन से साफ करना।
(२) स्नान, अर्थात् देह को जल से धोना।
(३) आसन, अर्थात् शरीर को दृढ़ और अचल रखना।
(४) सन्मार्ग यात्रा, अर्थात् तीर्थ अथवा सत्संग के अर्थ गमन करना।
(५) सद्गुरु-सेवा, अर्थात् आलस्य, दोषदृष्टि और दंभ से रहित होकर सद्गुरु, सत्पुरुष व पूर्णदर्शी महात्मा की सेवा करना।

वाचिक कर्म ये हैं—

(१) सत्य वचन अर्थात् सच बोलना।
(२) मौन, अर्थात् व्यर्थ वचन न बोलना।
(३) जप, अर्थात् किसी पुण्य पाठ अथवा मन्त्र का स्मरण करना।
(४) कीर्त्तन, अर्थात् हरिभजन गायन करना।
(५) कथा अर्थात् सत्यशास्त्र अथवा सत्य उपदेश का कहना और सुनना।

मानस कर्म ये हैं—

(१) ध्यान, अर्थात् मन को परमात्मा के स्मरण और चिन्तन में लगाना।

Scanned with CamScanner

(२) संतोष अर्थात् यथा लाभ संतुष्ट रहना।

(३) ब्रह्मचर्य; अर्थात् मलिन संकल्प कर परस्त्री की वार्ता न सुनना, न स्मरण करना न कीर्त्तन करना, न चिन्तन करना, एकांत होकर न बात करना, उससे मिलने का न संकल्प करना, उससे मिलने का न यत्न करना और न उससे मिलना।

(४) धैर्य अर्थात् सुख-दुःख एवं मान-अपमान आदि को सहना।

(५) उपकार, अर्थात् दूसरे के सुख के लिए तन, मन, धन और वाणी को लगाना।

जिज्ञासु पूर्वोक्त कर्मों के अभ्यास से अन्तःकरण को शुद्ध करे। कायिक और वाचिक कर्मों से मानसिक कर्मों का अभ्यास विशेष दृढ़ करे; क्योंकि ज्ञान का सम्बन्ध केवल मन से है। काया और वाणी मन के अधीन हैं। जब मन शुद्ध हो जायेगा तब वाणी और काया स्वाभाविक ही शुद्ध हो जावेगी। यदि कायिक और वाचिक कर्म का अभ्यास करता रहा और मानसिक कर्म के निमित्त पुरुषार्थ न किया तो अन्तःकरण की शुद्धि का लाभ न होगा। अतः उचित हैं कि मन की शुद्धी का मुख्याभ्यास करे। अन्तःकरण की शुद्धि के बिना जिज्ञासु ज्ञान का अधिकारी नहीं होता। इसलिए अन्तःकरण का शुद्ध करना सर्व आत्मजिज्ञासुओं और मुमुक्षुओं के लिए आवश्यक है।

प्रश्न १५—शुभ कर्मों की ओर प्रवृत्ति और अशुभ कर्मों से निवृत्ति किस उपाय से होती है ?

उत्तर—जिज्ञासु नित्यप्रति अपने कर्मों पर विचार करे। शुभ कर्मों को दृढ़ और परिपक्व करने का पुरुषार्थ करे और अशुभ कर्मों को विस्मरण और त्याग करने का यत्न करे। ऐसा करने में आलस्य कभी न करे। निरन्तर विचार करता रहे। जब इस रीति से जिज्ञासु विचार से पुरुषार्थ करेगा तब अल्पकाल में सब अशुभ कर्मों से निवृत्त हो जावेगा और वह शुभ कर्मों का पात्र होकर आत्मज्ञान का अधिकारी होगा। यदि ऊपर लिखी रीति से पुरुषार्थ न करेगा तो अशुभ कर्मों के मेल से वह कभी शुद्ध नहीं होगा। अतः सद्विचारको अपना मंत्री रखें जिससे सब अशुभ कर्म और मलिन स्वभाव नष्ट हो जावें।

प्रश्न १६—शिखा और यज्ञोपवीत अर्थात् जनेऊ और चोटी से सनातन आचार्यों का क्या प्रयोजन था ?

उत्तर—जो पुरुष षट्शास्त्र पढ़कर षट्कर्मों का अधिकारी होता था, उसे गुरु सार्टीफिकेट की नाँई षट्तन्तु देते थे, उसे यज्ञोपवीत कहते थे। तात्पर्य यह है कि जिसके गले में षट्तन्तु हों वह यज्ञादि षट्कर्मों को करने और कराने का अधिकारी है, क्योंकि वह षट्शास्त्रों का ज्ञाता है। जनेऊ मानो पुरुष की विद्या और कर्म में सम्पन्न होने का प्रतीक है। शिखा का अर्थ उपदेश है। जब पुरुष गुरु से उपदेश लेता था, उसके उपरांत उसके सारे बाल मुण्डन कराकर गोखुर के समान शीश के ऊपर शिखा का चिह्न रखते थे, जिससे यह सिद्ध होता था कि यह पुरुष शिष्य है अर्थात् इसने गुरु का उपदेश लिया है। इस रीति से

Scanned with CamScanner

यज्ञोपवीत और शिखा का प्रयोजन जिज्ञासु को केवल साधन सम्पन्न करने का था। तात्पर्य यह है कि यज्ञोपवीत कर्म और उपासना का साधन था और शिखा ज्ञान का। साथ-साथ ही ही कर्म, उपासना और ज्ञान की सिद्धि का प्रतीक अर्थात् सार्टीफिकेट भी थे। अब इसका प्रयोजन केवल हिन्दुधर्म की पहिचान है। आदि काल में जनेऊ और चोटी से सत्यधर्म की पहिचान होती थी। सारे जनेऊवाले नहीं थे और न ही सारे चोटी वाले थे। जो पुरुष षट्शास्त्र सम्पन्न होकर षट्कर्मों का कर्त्ता और गुरु उपदेश द्वारा आत्मज्ञानी होता था, वह पुरुष यज्ञोपवीत अर्थात् जनेऊ तथा शिखा अर्थात् चोटी रखता था।

प्रश्न १७—कौपीन बाँधने की प्रवृत्ति का क्या प्रयोजन है? इसे बाँधने से क्या लाभ होता है और न बाँधने से क्या हानि होती है?

उत्तर—कौपीन की प्रवृत्ति का प्रयोजन जत और संतोष है। त्यागी केवल कौपीन पर संतुष्ट होकर दूसरे वस्त्रों का प्रयोग नहीं करते थे। दूसरा, कौपीन इसलिए धारण करते हैं कि पुरुष का लिंग अर्थात् उपस्थेन्द्रिय गुप्त रहे। कौपीन के बंधन से निर्बल और संकुचित रहे। इसलिए महान् बुद्धिमान् और पारदर्शी पुरुषों ने इसे प्रचलित किया। इसके बाँधने से निम्नलिखित लाभ होते हैं—

(१) उपस्थेन्द्रिय का निरन्तर संकोच।

(२) अण्डकोश का निरन्तर संकोच।

(३) नल के उतरने की निर्भयता। अर्थात् कौपीन बाँधने वाले का नल नहीं उतरता।

(४) पहाड़ के रोग से मुक्ति। अर्थात् किसी रोग से अण्डकोष में पानी अथवा वात न भर जाएँ और स्थूल न होने लगें, अथवा फूलने न लगें। कौपीन बाँधने से स्थूलता की निवृत्ति होती है।

(५) जो पुरुष निर्धन हो जावे और वस्त्रकी सामर्थ्य न हो तो केवल कौपीन-मात्र से भी अपने शरीर का निर्वाह कर सकता है। अतः सन्तोष का लाभ भी इसमें है।

(६) स्त्री के दर्शन से यदि मन चलायमान भी हो तो भी कौपीन के बल से उपस्थ इन्द्रिय संकुचित और निर्बल रहती है, इससे पुरुष मैथुन से बचा रहता है।

(७) दीर्घकाल कौपीन के अभ्यास से उपस्थ इन्द्रिय बालक के समान सूक्ष्म और निर्बल हो जाती है। स्त्री के सामीप्य से भी पुष्ट और बलवान् नहीं होती। इससे कामरूप रोग निर्बल हो जाता है और वृत्ति अचल रहती है।

(८) ब्रह्मचर्य की रक्षा कौपीन से होती है।

(९) वीर्य और मूत्र जो उपस्थ इन्द्रिय द्वारा निकलता अथवा स्रवित होता है उसके बन्धन के लिये कौपीन परमोत्तम उपाय हैं। कौपीन वाला मूत्र के वेग को कुछ समय के लिये रोक सकता है और वीर्य को बन्धन में रख सकता है।

(१०) कौपीन के बांधने से गुदा में जो बवासीर आदि रोग होते हैं, उनका बल भी

Scanned with CamScanner

न्यून रहता है अर्थात् गुदा का छिद्र कौपीन से बंधकर रोग की निर्बलता का हेतु होता है।

(११) कौपीन से अपानवायु अधिक नहीं उतरता, इससे मनुष्य की पवित्रता और शुद्धि रहती है।

(१२) कौपीन बांधने वाले मनुष्य की कटि अर्थात् कमर बलवान् रहती है क्योंकि कमर के चारों ओर कौपीन का ऊर्ध्व भाग लपेटा हुआ रहता है।

(१३) यदि कहीं मार्ग में चलते-चलते अतिशय वेगसे पवन चले, और धोती आदि वस्त्र पवन के वेग से उड़कर टांगों को नग्न करे तो कौपीन बांधने वाला नग्न नहीं होता।

(१४) जो पुरुष निरन्तर कौपीन बांधने का अभ्यास करता है, वह दूसरे वस्त्र अर्थात अंगोछा आदि की उपाधि से मुक्त रहता है।। जिस स्थान पर पानी अथवा कीचड़ हो, कौपीन के आसरे पार उतर जाता है और कपड़े बचाता है।

इस प्रकार कौपीन बांधने से और भी अनेक लाभ हैं। उपर्युक्त लाभ उत्तम और महत्त्वपूर्ण हैं। जो कौपीन नहीं बांधता, वह इन लाभों से विहीन पशुवत् चंचल और विक्षिप्त-चित्त रहता है। अतएव इसका बांधना उचित है और महापुरुषों का धर्म है।

प्रश्न १८—कौपीन के बांधने से वृत्ति अचल और एकाग्र कैसे रहती है? मनुष्य केवल काम-वृत्ति से मुक्त होता है अथवा दूसरे विकारों से भी?

उत्तर—कौपीन दो प्रकार का है, एक बाहर का, दूसरी अंतर का। बाहर का कौपीन कपड़े का होता है। यह कमर को बांधकर लिंग और गुदा को आच्छादित करता है और अंतर की कौपीन विचार और जतसे रचित कामादिक विकारों को नाश करता है। जो पुरुष दोनों प्रकार का कौपीन बांधता है, उस पुरुष की वृत्ति अचल और एकाग्र होती है। वह सब कामादि सब विकारों से मुक्त रहता है। केवल बाहर की लंगोटी बांधने वाला विकारों से मुक्त नहीं हो सकता। वास्तविक लंगोट जत है जिसका अर्थ इन्द्रिय और अन्तः करण का जीतना है। जब जतरूप लंगोट अन्तःकरण की भूत भविष्यत-वृत्ति को निरोध करता है, तब वृत्ति अचल और एकाग्र होकर विषयों, विकारों, दोषों, क्लेशों और तापों से मुक्त हो जाती है। इसलिए अंतर की कौपीन वृत्ति की एकाग्रता का साधन है और बाहर की कौपीन केवल उपस्थेन्द्रिय के संयम का साधन है। इसलिए आत्म-जिज्ञासु अंतर का कौपीन चढ़ाकर सब विकारों से मुक्त रहे। बाहर का कौपीन भी चढ़ाता रहे परंतु केवल बाहर का कौपीन से कामादिक विकार निवृत्त नहीं होंगे।

प्रश्न १९—कौपीन बांधनेवाले का वीर्य स्वप्नावस्था में पात होता है अथवा नहीं?

उत्तर—वीर्य के पात होने का सम्बन्ध मन की वृत्ति के साथ है, कौपीन के साथ नहीं। और वृत्ति का वेग शरीर की अवस्था के अनुसार होता है। यदि शरीर में पित्त अथवा वात

Scanned with CamScanner

का बल अधिक हो तो स्वाभाविक ही वीर्यपात हो जाता है। यदि शरीर में वात, पित्त कफ की समानता हो तों कौपीन के बिना भी वीर्यपात नहीं होता। अतः कौपीन बांधने वाला केवल कौपीन से स्वप्नावस्था में वीर्यपात से मुक्त नहीं हो सकता। यदि वह शरीर को विचार, सयंम, शुद्धाहार, शुद्धाचार और शुद्धव्यवहार से नीरोग रखे, स्वप्न क्या जाग्रत अवस्था में भी वीर्यपात से मुक्त रहता है। दूसरा, मन की वृत्ति काम का आकार होकर वीर्य को पतला करती है। तात्पर्य यह कि बारम्बार कामचिंतन से प्राणों में क्षोभ होता है। प्राणों के क्षोभ से जठराग्नि अधिक प्रज्ज्वलित होती है। अग्नि के ताप से लहू ऊष्णरूप हो जाता है। रक्त के उष्ण होने से वीर्य पिघलकर पतला हो जाता है। वह उपस्थेन्द्रिय द्वारा वृत्ति के संस्कार के अनुसार बाहर निकलकर कौपीन अथवा धोती को अपवित्र करता है। अतः वीर्यपात शरीर और वृत्ति की अवस्था पर है। कौपीन के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं।

प्रश्न २०—राजबैद्य कहते है कि शरीर की नीरोगिता के लिए मासिक धर्म के उपरान्त स्त्री संयोग उचित है। यंह वचन यथार्थ है अथवा नहीं ?

उत्तर—जो पुरुष गृहस्थी है अथवा स्त्री के साथ सम्बन्ध रखता है और जिसका स्वभाव नित्यप्रति अथवा अंतर डालकर मैथुनानन्द लेने का है, वह पुरुष यदि वीर्य का त्याग न करे, उसके शरीर में रोग आदि की उत्पत्ति का भय होता है परन्तु थोड़े दिन के लिये। उसके उपरान्त वीर्य की रक्षा करने से उसका शरीर बलवान और सुन्दर हो जाता हैं। जो पुरुष विरक्त है या स्त्री के साथ किसी प्रकार का संयोग नहीं करता और न कभी वीर्य का त्याग करके मैथुनानन्द लेता है उसका शरीर सदा नीरोग रहता है। अब उसे वीर्यत्याग की आवश्यकता नहीं। वीर्य शरीर में स्तम्भ रूप होता है। जैसे स्तम्भ गृह की रक्षा करता है वैसे वीर्य भी शरीर की रक्षा करता है। यदि वीर्य अधिक निकलने लग जाय, अथवा स्त्री-सेवन से उसका पात होता रहे, अथवा किसी रोग से इसका त्याग मूत्र के साथ मिलकर होने लगे, अथवा स्वप्नावस्था में नित्यप्रति पात होता रहे, अथवा चिंतन द्वारा व स्त्री-दर्शन द्वारा पिघलकर उपस्थ इन्द्रिय से निकलता रहे तो अल्पकाल में ही शरीर कृश, निर्बल, असुन्दर, रोगी और मलिन होकर अमंगलरूप हो जाता है और अनेक यत्न से भी पुष्ट नहीं होता। इसलिये वीर्य का त्याग सर्व प्रकार से शरीर का घातक, आयु का नाशक, बल का शत्रु, वुद्धि का प्रतिबंधक, तेज का विरोधी, यश का नाशक और पराक्रम का संहारक है। इसलिए वीर्य त्याग को आचार्यों और मुनीश्वरों ने महापाप और अधर्म रूप से वर्णन किया है। वैद्यों के अनुसार मासिक-धर्म के उपरान्त स्त्री सहवास का आशय यह है कि प्रतिमास स्त्री को रति आती है, उस समय स्त्री कामाधीन होकर संयोग की इच्छा करती है। इसलिए उसका पति ऋतु-स्नाता स्त्री से संयोग करे जिससे स्त्री की इच्छा पूर्ण हो और प्रकृति की मर्यादा सन्तानोत्पत्ति पूर्ण हो। अतः गृहस्थी जब तक गृहस्थाश्रम में विचरने की इच्छा रखे तब तक उसे बल के अनुसार संयोग करना उचित है। जो पुरुष शरीर

Scanned with CamScanner

से निर्बल हो जाये अथवा वृद्धावस्था से उसका वीर्य सूख जाये, अथवा वैराग्य वृत्ति से मैथुन में दोष देखकर संन्यास स्वीकार करे, अथवा उसकी स्त्री मर जाय, संतान अधिक होने से दूसरी संतान की इच्छा न हो; दूसरी ओर यदि स्त्री भी निर्बल, वृद्ध, संतुष्ट, उपरत और उदासीन हो जावे तो पुरुष को संयोग करना किसी प्रकार से भी उचित नहीं है। उसके सिर पर किसी शास्त्र अथवा चिकित्सक का दंड नहीं। जब तक पूर्वोक्त दशा में पुरुष गृहस्थ से उदास न हो, तब तक वीर्य का त्याग प्रतिमास स्त्री सहवास गृहस्थ की रक्षा के लिए ठीक है। इससे शरीर की नीरोगता और रोग का सम्बन्ध कोई नहीं। वीर्य रक्षा से शरीर नीरोग रहता है।

प्रश्न २१—काम की अधिकता का कारण क्या है और इससे मुक्त होने का क्या उपाय है ?

उत्तर—काम की अधिकता के चार कारण हैं। पहला, स्त्री की निरन्तर समीपता, दूसरा, स्त्री का निरन्तर चिंतन। तीसरा, कामी पुरुषों का संग और चौथा, गर्म और उत्तेजक आहार। कामरूपी रोग से मुक्त होने की इच्छा हो, वह इन चारों का त्याग करे। और वह बारम्बार स्त्री में दोष-दृष्टि रख मन को उसके चिंतन और कामना से उपरत रखे और स्त्री के समीप नित्य शयन न करे, दूसरे स्थान पर सोवे। जो गृहस्थी है वह ऋतुकाल के उपरांत सन्तानोत्पत्ति के लिए संयोग करे। वह भी सर्वदा विषयरस के अधीन होकर काम-चेष्टा न करे, क्योंकि कामी पुरुष शीघ्र ही रोगी, निर्बल और वृद्ध हो जाता है और बुद्धि से हीन होकर स्त्री का दास बन जाता है। इसलिए काम से उपरत रहना सुख, बल, पराक्रम, यश, तेज, लक्ष्मी, ज्ञान और गम्भीरता का हेतु है। योगीजन वीर्य की रक्षा से प्राण अपान कला को ब्रह्मरंध्र में स्थित करने में समर्थ होते हैं। पहलवान लोग वीर्य रक्षा कर अगणित लोगों में शोभा और जय-जयकार पाते हैं। अतः वीर्यरक्षा शरीरधारी के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार जो पुरुष यत्न करे, वह काम से मुक्त होकर अकामी होता है।

प्रश्न २२—कायिक व्रत का तात्पर्य क्या है ?

उत्तर—कायिक व्रत से यह तात्पर्य है कि जिज्ञासु नित्य-प्रति दिन-रात नियत समय पर दो बार आहार करे। अर्थात् एक बार दिन में और दूसरी बार रात को। इस प्रकार आहार का नियम और संयम यत्न और खेद रहित व्रत है। इससे भिन्न व्रत के अर्थ और कोई नहीं। यह स्वभाव भी महात्माओं ने इस निमित्त रखा है कि बारम्बार खाने से स्वभाव नीच, अन्तःकरण मलिन और जठराग्नि निर्बल हो जाती है। समयानुसार क्षुधापूर्धक खाने से स्वभाव उत्तम, अन्तःकरण शुद्ध और जठराग्नि बलवान् रहती है। इसलिए आहार का नियम और संयम उचित है इसी का नाम कायिक व्रत है। जो लोग किसी विशेष दिन अन्न का त्यागकर फल अथवा किसी दूसरी वस्तु का आहार करते हैं अथवा आहार का अत्यन्त

Scanned with CamScanner

त्याग कर देते हैं वह कायिक व्रत का लाभ नहीं उठाते किन्तु रोग के अधीन होकर काया को घटाते हैं। इसलिये बुद्धिमान् नित्य-प्रति अपने स्वभाव को ऐसा दृढ़ बनावे कि अन्न के बिना किसी दूसरी वस्तु के खाने का संकल्प न उठे अन्न भी नित्य-प्रति समयानुसार खावे। संयम से उतना खावे जो पचकर शरीर का भाग हो और जिससे शरीर की नीरोगिता स्थिर रहे। इस प्रकार के नियम और संयम से कायिक व्रत सिद्ध होता है।

प्रश्न २३—गृहस्थ में किस प्रकार व्यवहार किया जाए ?

उत्तर—गृहस्थ में उदासीन वृत्ति से बर्ताव करे। जिससे मोह का काँटा पग में न चुभे। जितना समय गृह में बैठे, सत्संग की वार्ता करे। बहुत समय घर में बैठना उचित नहीं। प्रयोजनमात्र बैठकर एकांत देश में स्थित होना चाहिए जिससे मान और वैराग्य बना रहे और काल सुख से व्यतीत हो।

प्रश्न २४—किस उपाय से मनुष्य गृहस्थरूप, अंध-कूप, जगत् के व्यवहार और देह के सम्बन्ध से मुक्त हो सकता है ?

उत्तर—गृहस्थ के जंजाल और धंधे बहुत हैं और मनुष्य की आयु अल्प है। इसलिए बुद्धिमान् वैराग्य और विचार से गृहस्थ में विचरता है। जब तक मनुष्य आप पुरुषार्थ कर धंधे को थोड़ा न करे तब तक धंधा स्वयं थोड़ा नहीं होता, क्योंकि धंधा जड़ है और चेतन जीव द्वारा सिद्ध होता है। अतः जीव अपनी रक्षा आप करे। अपनेको भूलकर जड़ और कल्पित व्यवहारों में अपनी आयु नष्ट न करे। क्षण-क्षण सत्य-असत्य का विचार कर सत्य को ग्रहण करे और असत्य का त्याग करे। सत्य-स्वरूप केवल परमात्मा है। वह सब जीवों में आत्मरूप होकर पूर्ण है और सत्, चित्, आनन्दरूप है। निर्विकार है। निरंजन है। निराकार है। शुद्ध है। अकाल है। अजूनी है। ब्रह्म है। अविनाशी है। ऐसे स्वरूप को मन में धारण कर बारम्बार स्मरण और चिंतन करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है और यथार्थ ज्ञान का अधिकारी होकर जगत्-रूपी जंजाल और गृहस्थरूप अंधकूप से मुक्त हो जाता है। देह असत्यरूप है और देह का सम्बन्ध, नाम, वर्ण, आश्रम आदि भी असत्य हैं। इसका स्मरण चित्त को मलिन करता है और अन्तपर्यन्त गृहस्थ और व्यवहार में बाँध रखता है। इसलिए देह और देह के सम्बन्धी को असत्य, जड़, दुःख-रूप, नाशवान्, स्वार्थ-मित्र, मलिन, कल्पित और मिथ्या निश्चय कर विस्मरण करना चाहिए और सत्य-स्वरूप परमात्मा को प्रतिश्वास में स्मरण करना चाहिए। जब इस प्रकार जीव पुरुषार्थ करता है, तब देह के सम्बन्ध, व्यवहार के जंजाल और गृहस्थ के अंधेकूप से मुक्त होता है। इसलिए पुरुष सावधान होकर पुरुषार्थ करे। निर्बल होकर दिन-दिन फँसता न जाए।

प्रश्न २५—स्त्रियों को गृह में किस रीति से विचरना चाहिए ?

उत्तर—स्त्रियों को भी उचित है कि सत्य-धर्म में स्थित रहें, सावधान होकर अपने समय को शुभ रीति से व्यतीत करें। शांति, धैर्य, पतिव्रत धर्म, सत्यवचन, विनम्रता और

Scanned with CamScanner

दया से अपने गृह में रहकर जन्म सफल करें। हठ, कल्पना, कपट, विषय-प्रीति, भूषण और वस्त्र-प्रीति, मलिन स्वभाव और क्रोध से मुक्त रहें और अपनी संतान को भी शुभ-मार्ग पर चलावें।

प्रश्न २६—हे कृपा-निधान ! दया के सागर सद्गुरु ! जीवनकाल को किस रीति से व्यतीत करना सुखरूप है ? दया कर उपदेश करें।

उत्तर—हे मेरे प्यारे सत्संगियो ! अपना काल सत्संग में व्यतीत करते रहें। जो-जो वचन नित्यप्रति सुनते रहें, उनका मनन, निदिध्यासन कर अपनी बुद्धि में जमाते रहें। जगत् की प्रीति घटाते रहें और आत्मा की प्रीति बढ़ाते रहें। अपने स्वभावों का विचार कर मलिन-स्वभावों को निकालते रहें और उत्तम स्वभावों को स्थापित करते रहें। शरीर का कोई भरोसा नहीं। देखते-देखते क्षीण हो जाता है। जब तक प्राणों का संयोग है तब तक इसे अमूल्य जानकर आत्मज्ञान का लाभ पावें। लौकिक व्यवहार से प्रीति उतनी रखें जिससे शरीर का निर्वाह चल जावे। सारा दिन इसी धंधे में व्यतीत कर चित्त को चंचल न बनावें। गृहस्थ में उदासीन होकर विचरें। मोह से अशक्त होकर अपने विचार और वैराग्य-रूप शक्ति का नाश न करें। नित्यप्रति समयानुसार सत्संग में जाकर अमृतवाणी को प्रेम सहित सुना करें। लोगों की निन्दा और चर्चा और अपनी हठधर्मी और मूर्खता से अपनी प्रीति न घटावें। प्रह्लाद, ध्रुव, कबीर और नामदेव की नाईं अपनी सत्यधर्म प्रीति अन्त-पर्यन्त पालते रहें। सद्गुरु के वचन को सबसे उत्तम निश्चय कर बुद्धिरूपी सोने पर नग की भाँति जमावें कि शरीर नष्ट हो जाए किन्तु वह वचन स्थिर रहे। एक दूसरे के साथ मित्रभाव, आत्महित, प्रेम और सत्यता सहित बर्ताव रखें। क्रोध,ईर्षा,मत्सर,निन्दा,अविद्या चंचलता और विषय-प्रीति से रहित रहें। मन का संकल्प शुद्ध रखें। कदाचित् मिथ्या संकल्प अथवा विषय-चिन्तन अथवा रजोगुण चिन्तन न करें। वाणी से सत्य,मृदु,कोमल औरविनम्र वचन बोलें। शरीर की चेष्टा पवित्र, उज्ज्वल, विधिपूर्वक और विचारशील रखें। नित्य-प्रति ओंकार का स्मरण कर मन को वश में किया करें। खाते-पीते,चलते-फिरते, उठते-बैठते ओंकार का मन में चिन्तन करते रहें। इससे मन शुद्ध हो जाये और सब रजोगुणी और तमो-गुणी चिंतन से मुक्त होकर केवल सतोगुणी रह जावे। कल्पना,वितंडावाद और हठ से रहित रहें। अन्दर-बाहर शांतरूप रहकर परम आनन्द का अनुभव करें। अपने-अपने घर में भी उत्तम स्वभावशील रहें। अपनी स्त्री, संतान और दूसरे सम्बन्धियों को सत्यधर्म सिखलावें और सत्संग में लावें और आप भी उन्हें सुनी हुई कथा सुनावें। संसार को केवल शब्दमात्र जानकर इससे अपना चित्त न बाँधें। इस प्रकार क्रमशः आत्मा की प्रीति में तत्पर होकर जीवन व्यतीत करें।

प्रश्न २७—मनुष्य अन्तपर्यन्त क्लेश क्यों पा रहे हैं ?

उत्तर—हे प्यारे ! शरीर नाशवान् है। इसलिए इसका व्यवहार कदाचित् पूर्ण नहीं

Scanned with CamScanner

होता। गृहस्थ का मोह प्रतिदिन अधिक दृढ़ होता जाता है,अतः सद्गुरु का उपदेश हृदय में नहीं ठहरता। फलतः मनुष्य मरण पर्यन्त तिलों की नाईं गृहस्थरूप कोल्हू में व्यवहाररूप बैल द्वारा चूर-चूर होकर विपरीत गति पा रहे हैं। लोग अर्थ के लाभ को उत्तम जान परमार्थ के लाभ का त्याग कर रहे हैं; किन्तु उन्हें अर्थ का लाभ भी नहीं होता। व्यर्थ यत्न, चिन्ता, दीनता और बन्धन से आयु व्यतीत करते हैं। सद्गुरु के उपदेश को हृदय में धारण नहीं करते और न उनके सत्संग में रहकर अज्ञान का नाश करते हैं। प्रतिदिन धन, स्त्री, पुत्रादि के मोह में बँधकर सद्गुरु से विमुख होते हैं। वे अपनी वासना से स्वयं बंधकर नाना प्रकार के क्लेश सहते हैं और आपको चतुर, प्रधान, बुद्धिमान् और मानधारी भी समझते हैं। वास्तव में वे मूढ़मति, बुद्धिहीन, अज्ञानी, दण्ड देने योग्य और धिक्कार के अधिकारी हैं। इसलिए महात्मा लोग उन पर दया करके वाणी और लेखनी द्वारा उपदेश करते हैं, किन्तु ये मूढ़मति उनके उपदेश का रंचकमात्र भी आदर नहीं करते। कृतघ्न होकर उल्टा उन पर हँसते हैं जिससे मरण पर्यन्त संसाररूप शून्यवन में अंधे मृग की नाँईं भटक-भटककर क्लेश पाते रहते हैं।

प्रश्न २८—श्राद्ध करना योग्य है या नहीं?

उत्तर—श्राद्ध करने से पुण्य नहीं और न करने से पाप नहीं। केवल नैमित्तिक शुभ कर्म है। अभ्यागत की पालना के लिए उसे स्थापित किया गया है। कामना और ममता को त्याग कर श्राद्ध करना चाहिए।

प्रश्न २९—अपना या बेगाना जो पुरुष हमें अथवा हमारे सम्बन्धियों को दुःख दे, उससे किस प्रकार बर्ताव करना चाहिए?

उत्तर—जब कोई पुरुष किसी निमित्त से हमें या हमारे सम्बन्धियों को दुःख दे, तो जिस दूषण के कारण वह हमें दुःख देता है, उस दूषण को हृदय से निकालना उचित है, जिससे फिर वह पुरुष हमें न दुखावे। जो मनुष्य ईर्षा से, अन्याय से, अत्याचार से, अभिमान से, किसी की प्रेरणा से अथवा अपने स्वार्थ से हमें निर्दोष दुखाता है, प्रथम उसे धैर्य से सहें। यदि वह अपने स्वभाव का त्याग कर दे, तो ठीक। यदि वह न रुके तो किसी दूसरे पुरुष द्वारा अथवा आप उसे समझावें कि निरर्थक दुःख देना उचित नहीं। इस प्रकार यदि वह पुरुष अपने मलिन स्वभाव का त्याग कर दे, ठीक। इतने पर भी यदि वह दुःख देने से न रहे, उसके साथ न्याय-धर्म और राजनीति के अनुसार बरतें, जिससे उसका क्लेश निवृत्त हो। आप क्रुद्ध होकर किसी प्रकार भी न्याय विरुद्ध काम न करें और न धैर्य का त्याग करें और न ही अपने स्वभाव को बिगाड़ें। विचार, धैर्य और उपकार से शत्रु को निर्बल करें। वास्तव में दुःख देनेवाला कोई नहीं। मनुष्य अज्ञान से अपने आपको कुछ मानता है, कुछ अपनी बड़ाई चाहता है, दूसरे पदार्थों में ममता रखता है और लोभादिक विकारों से पूर्ण होता है। इसलिये दूसरे का जो कर्म इसके मान, बड़ाई, पदार्थ अथवा स्वभाव के विरुद्ध होता है, उससे

Scanned with CamScanner

इसे दुःख प्रतीत होता है। यदि उसे ज्ञान हो जावे, अहंकार, ममता, मान तथा दूसरे नीच स्वभाव निवृत्त हो जावें तो न दुःख भावेगा और न दुःख देनेवाला प्रतीत होगा। अतः उचित यह है कि यथार्थ ज्ञान से अपने वास्तविक स्वरूप का विचार करे, जिससे दुःख निवृत्त हों; नहीं तो जब तक जगत् में रहेगा, दुःख बना रहेगा। अपनी ओर से किसी के साथ बुरा करना उचित नहीं। यदि दूसरे हमसे बुरा करते हैं, वे आप फल पावेंगे। हमें उचित यह है कि बुरा करनेवाले से भी भला करें और भला करनेवाले से भी। अपने हृदय से किसी को शत्रु न मानें, सबको अपनी आत्मा निश्चय करें। बुरा करने वाले को देखकर भी अपने मन में ईर्षा, ग्लानि या क्रोध न करें। शान्तात्मा, गम्भीरमति, सुमित्रजग, सुहृदयमूर्ति और प्रसन्नचित रहें। दूसरे के कर्मों को देखकर अपने स्वभाव को किसी प्रकार न बिगाड़ें।

प्रश्न ३०—ऐसी अवस्था में संत जन किस प्रकार बर्ताव करते हैं ?

उत्तर—वे समता, मित्रता, धैर्य, विस्मृति और शान्ति से रहते हैं; क्योंकि उनका मन ज्ञानरूपी अग्नि से भस्म हो गया है। इसलिए साधारण मनुष्यों के धर्म उनमें नहीं होते किन्तु ईश्वर के धर्म उनमें रहते हैं। उनकी दृष्टि में दुःख देनेवाला और सुख देनेवाला, सेवा करनेवाला और पीड़ा देनेवाला, मान देनेवाला और अपमान करनेवाला समान हैं। वह सबको अपनी आत्मा मानते हैं और सबके साथ समान बर्ताव करते हैं।

प्रश्न ३१—वानप्रस्थी के क्या कर्तव्य हैं ? बहुत-से लोग तो तीर्थवास को वानप्रस्थ मानते हैं और कई लोग वन-भ्रमण या वनवास को वानप्रस्थ समझते हैं। वास्तविक वानप्रस्थ क्या है ? आचार्यों ने किस प्रयोजन से यह आश्रम स्थापित किया है और किस साधन से यह पूरा होता है ? कृपा करके इसका निर्णय करें।

उत्तर—वानप्रस्थी के लिए अतिशय संयम और विचार आवश्यक हैं, क्योंकि वानप्रस्थ नाम उपराम का है। उपराम उस समय होता है जब कुछ काल संत्संग में रहकर अपने मन को विषयों की वासना, भूत की स्मृति, भविष्यत की चिन्ता, दारा-सुत की प्रीति, व्यवहार चतुरता, मायावी पुरुषों का संग, धन संग्रह का प्रेम, प्रसिद्धि की इच्छा से रहित होकर केवल सत्चित् आनन्द परमात्मा के ध्यान में लीन रखे। यह नहीं कि केवल तीर्थ पर निवास कर यात्रा, व्यर्थवचन, तमाशा और निरर्थक मनोराज्य में उपराम के समय को व्यतीत करे। सामान्य जीव गृहस्थ से उदास होकर हरिद्वार, ऋषिकेश, वृन्दावन, काशी, मथुरा, अयोध्या, द्वारका और रामेश्वर आदि में निवास करते हैं तथापि जिस प्रयोजन को उन्होंने अपना गृह त्यागकर तीर्थ निवास अंगीकार किया है, वह प्रयोजन तीर्थ पर भी पूरा नहीं हो सकता। उसके पूरा होने के निमित्त सत्संगरूपी तीर्थ है। जब तक मनुष्य किसी पूर्ण पुरुष निष्पक्ष, समदर्शी, ब्रह्मज्ञानी महात्मा के पास कुछ काल निवास न करे, तब तक अज्ञान और अज्ञान का रचा हुआ संसार उसके अन्तःकरण से नष्ट नहीं होगा। तीर्थों पर रहने से केवल भ्रमण, विषय सेवन, प्रसिद्धि, विक्षिप्तता, संशय, बाह्य सुख अथवा भय आदि की

Scanned with CamScanner

प्राप्ति होती है। इससे दूसरा कोई यथार्थ लाभ-ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान ब्रह्मदर्शन नहीं होता। इसलिए गृहस्थाश्रम को त्यागकर पुरुष सत्संग करे। शीघ्रता से किसी तीर्थ की ओर न चला जावे। जब शरीर के निर्वाह के लिए धन भी अधिक हो तो धन द्वारा ज्ञान प्राप्त करे, जिससे जन्म सफल हो। ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती। जैसे श्रीकृष्ण ने कहा है "हे अर्जुन ! मैं सबकी आत्मा हूँ। सबके हृदय में मेरा निवास है। जो पुरुष अपने आपको पहिचानता है, वही मेरा परम भक्त है। भक्त ही नहीं किन्तु मेरा स्वरूप है।" इससे सिद्ध होता है कि हमारा शरीर ही वृन्दावन है, जिसमें हम सदा रहते हैं। वास्तविक वृन्दावन को न समझकर कल्पित वृन्दावन में जाने से क्या लाभ होगा ? इसलिए परमात्मा को अपने हृदय में खोजें। परमात्मा अंतर है और वह सबकी आत्मा है। कभी किसी से भिन्न नहीं होता। मनुष्य अज्ञान से उसके लिए दूसरे स्थान पर जाकर दुख क्लेश और विक्षोभ पाते हैं। वास्तव में उन्हें अचिन्त, अशोक और स्थितप्रज्ञ रहना चाहिए। सब व्यवहार त्यागकर मनुष्य अपने काल को ऐसी युक्ति से व्यतीत करे कि निशिवासर परमार्थपरायण हो। कुछ काल शरीर की चेष्टा सिद्ध करने के लिए रखे और कुछ काल गृह,स्त्री और पुत्र को त्याग एकांकी सत्संग करे। सन्तों के वचनरूपी अमृत से अपनी अविद्या को हृदय से निकाले। इस रीति से जो पुरुष ५०वर्ष की आयु में वानप्रस्थ अंगीकार करेगा, लाभ उठायेगा,अन्यथा रंचकमात्र लाभ नहीं मिलेगा। उपरत जिज्ञासु पुरुषार्थ कर वृत्ति को सत्संग में लगावे। सत्संग भी पूर्ण पुरुष का करे, जो यथार्थ उपदेश करनेवाले हों और जिससे कल्याण भी हो। ऐसे तो जगत में उपदेशक बहुत हैं किन्तु यथार्थ उपदेशक वह है जिसके संग और उपदेश से अविद्या नष्ट हो और ब्रह्मविद्या प्राप्त हो, शान्ति और आनन्द की प्राप्ति हो। वानप्रस्थ आश्रम के फल को संन्यास कहते हैं।अतः वानप्रस्थ जिज्ञासु पूर्वोक्त रीति से अपने काल को विचार, न्याय, पारदृष्टि और सत्य धर्म से व्यतीत करे, जिससे उसका उपराम रूप मनोरथ सिद्ध हो।

प्रश्न ३२—पुरातन-कथा, इतिहास, संवाद और शास्त्रों में परस्पर भेद का क्या हेतु है ? इनके मानने से कुछ लाभ होता है या नहीं ?

उत्तर—पुरातन-इतिहास, कथा और संवाद विचार करने योग्य हैं, क्योंकि समयानुसार कवीश्वर और शास्त्रकार अपनी रचना करते हैं। इसलिए जिस समय में इनकी रचना होती है, उस समय कुछ लाभदायक होती हैं। दूसरे समय, सृष्टि की प्रवृत्ति वदलने से वह शास्त्र लाभदायक नहीं होते। उस समय के अनुसार कोई दूसरा शास्त्र रचता है। वह पिछले शास्त्रोंका खण्डन करता है। फिर उसका शास्त्र प्रवृत्त होता है। कुछ समय के बाद वह शास्त्र भी फलदायक नहीं रहता। तत्पश्चात कोई तीसरा चतुरबुद्धि विद्वान अपने संकल्प और मानसिक कल्पनारूपी रत्नों को अक्षररूपी तागोंमें पिरोकर काग़ज़रूपी भित्तिपर सजाता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न शास्त्रों की रचना हुई है और समय के अनुसार ही शास्त्रकारोंके संकल्प, निश्चय और धर्म रहते हैं। यही उनमें बड़ा भेद है, जिससे सबशास्त्रों में परस्पर भेद और परिच्छेद प्रतीत होता है। सारे शास्त्र एकही

Scanned with CamScanner

समय में नहीं रचे गये किन्तु हज़ारों वर्षों में एक दूसरे के उपरान्त लिखे गये हैं। इसलिये एक शास्त्र का मत दूसरे शास्त्र से नहीं मिलता और उसी भेद को लेकर वर्तमानकालमें अनेक मत फैले हुए हैं। इसलिए सारे मत मिथ्या और कल्पित हैं। वास्तवमें एक ही धर्म और एकही मत है। विचारके बिना अज्ञानी वादविवादमें अपनी आयु और बुद्धि को नाश कर रहे हैं परन्तु यथार्थवेत्ता इस मर्यादा को भली प्रकार समझकर अपने वास्तव स्वरूप में स्थित रहता है। जो श्रद्धालु उसके वचन सत्य मानता है, वह सर्वकल्पित धर्मों, भेदयुक्त मतों और विरोध मिश्रित वाक्यों से मुक्त होकर निश्चल और शान्तस्वरूप रहता है। शेष सब संशय-रूपी महावन में भटक-भटककर मर जाते हैं।

प्रश्न ३३—अनित्य संकल्पोंसे कैसे मुक्ति प्राप्त हो ?

उत्तर—भूतकाल की स्मृति और भविष्यतकाल की चिन्ता त्याग करनेसे।

प्रश्न ३४—जो लोग पीरोंको पूजते हैं, उन्हें इनसे कुछ लाभ होता है या नहीं?

उत्तर—कोई लाभ नहीं मिलता; केवल देखा-देखी है। अपने स्वरूप के अज्ञान से मूर्खों के शब्दों पर विश्वास करने से यह रीति जगत में प्रवृत्त हो रही है। भेड़ की तरह एक दूसरे के पीछे चले जाते हैं। परमार्थ को नहीं समझते। इसलिये उनका यह कर्म निरर्थक और अज्ञानरचित है। जैसे गुरुग्रन्थ साहब में लिखा है। (हिन्दू अन्धा, मुसलमान काना, इन दोनों में ज्ञानी स्याना)।

(२) अज्ञान से हिन्दू अपने धर्म के विरुद्ध ऐसे अयथार्थ कर्म करते हैं, जिन्हें अपने धर्म का ज्ञान नहीं होता, वे ऐसे अयोग्य कर्म करते हैं। जो धर्मज्ञ हैं और सत्य-असत्य विचार-युक्त हैं, उनकी चेष्टा और आचार शुद्ध और पावन है। जो मूढ़ है, विवेकहीन हैं, शास्त्रों से अनभिज्ञ हैं, सत्संग से मनमुख हैं, लोगों के शब्दों पर विश्वास करने वाले हैं, वे अपने धर्म के विरुद्ध बर्ताव करते हैं। इसलिए उनके ये कर्म अयथार्थ और त्यागने योग्य हैं।

प्रश्न ३५—लोग किस लाभ के निमित्त गो दान करते हैं ?

उत्तर—यश के निमित्त दान करते हैं, क्योंकि दान शुभ कर्म है और शुभ कर्म करने से लोगों में यश होता है। यश से अन्तःकरण में हर्ष होता है, वह हर्ष ही पुण्य अथवा धर्म रूप है। इसी अभिप्राय से लोग गो दान करते हैं।

प्रश्न ३६—ईश्वर-अर्पण जो दान किया जाए, वह किसे दिया जाए ?

उत्तर—अभ्यागत को देना उचित है। अथवा जब कोई भिक्षुक किसी वस्तु की प्रार्थना करे और मन भी उसको देना चाहे तो नाम-रूप की दृष्टि से शुद्ध होकर उस मंगते को दें। दान के समय सोचना उचित नहीं; क्योंकि सोचने से मन अवगुणग्राही होकर दान करने से विमुख हो जाता है। अतः उचित है कि जब त्याग का संकल्प उठे, तब अविलम्ब त्याग कर देवें।

प्रश्न ३७—शुभ गुणों द्वारा बर्तने में आनन्द कैसे आता है ?

उत्तर—बर्ताव से। अर्थात् अपने कर्मों पर नित्यप्रति विचार-कर अशुभ कर्मों का त्याग करने से और शुभ कर्मों को परिपक्व करने से रस आता है।

Scanned with CamScanner

प्रश्न ३८—सत्यधर्म के अनुसार बर्तने से जगत् के लोग दुःख देते हैं इससे छूटने का क्या उपाय है ?

उत्तर—जगत् में विलक्षण रूप से बरतने के समय सब संसारी जन ईर्षा और विरोध के वशीभूत होकर बलपूर्वक दुःख देते हैं। दुर्वचन बोलते हैं, मिथ्या अपराध लगाते हैं, नाना प्रकार के वचनों से उपहास करते हैं। आपस में मेल-जोल कर, खान-पान आदि से दूर रहते हैं और गृहस्थ के व्यवहारों की सिद्धि में प्रतिबंधक होकर चित्त को क्षुब्ध बनाते हैं। अतः सब सत्यविद्या के धारन करने वालों, सत्य मार्ग पर चलने वालों और सत्यधर्म कमाने वालों, सत्गुरु की आज्ञा मानने वालों और सत्संगति में निश्चय जमाने वालों के लिए अनिवार्य है कि ऐसे समय में धैर्य और स्थिरता को अपना मित्र बनावें। सुमेरु पर्वत की नाँईं अचल होकर पूर्वोक्त सब अनर्थों को पुष्प-वर्षा जानें। दुष्ट लोगों के वचनों को कूकर, शूकर और जम्बुक के शब्दवत् जान नित्यप्रति उदित-मुदित और निश्चल रहें। अपने गृहस्थ के व्यवहार की सिद्धि के निमित्त अर्थात् बेटा-बेटी के विवाह निमित्त अपने सत्संगी भाइयों से सम्बन्ध जोड़ें। वर्णाश्रम के भेद को त्याग कर जिज्ञासु आपको चिदाकाशी निश्चय करें। इस रीति से सत्यधर्म की स्थापना कर जय-जयकार होगी।

प्रश्न ३९— **॥ चौपाई ॥**

हे भगवन् वह कौन उपाय, जाते नाशे नीच स्वभाव।
सत्यधर्म हिरदे प्रकाशे, पाप भावना सकल विनाशे॥
प्रेम सहित हरिनाम धियावें, परमातम की कीरति गावें।
शांति सहित विचरें गृहमांही, शोक-मोह दुःख परसे नाहीं॥

उत्तर— **॥ चौपाई ॥**

नित्प्रति अपने करम विचारो, नीच तजो उत्तम गुण धारो।
न्याय सहित सत्धर्म कमावो, मन के सारे पाप मिटावो॥१॥
कपट रहित साधो व्यवहारा, दृढ़ कर गहो शुद्ध आचारा।
आहार शुद्ध सुख राखो प्रीति, जांते निर्मल होवे रीति॥२॥
क्षमा ग़रीबी धीरज धारो, काम-क्रोध हंकार निवारो।
निर्मल चित्त रहो रस भीने, तृषणा रहित सदा तृप्तीने॥३॥
ब्रह्म स्तुति को नित प्रति गावो, मनते भव-जंजाल भुलावो।
शान्ति सरोवर डुबकी मारो, तप्त हिये की सकल निवारो॥४॥
गुरु-उपदेश कमावो निशि दिन, गुरु चरनन चित्त राखो छिन-छिन।
गुरु की मूरत हिरदय धारो, अवर कल्पना सकल विसारो॥५॥
प्रेम सहित हरि नाम धियावो, नारि-पुरुष मिल मंगल गावो।
सुत अभिलाषा सकल तियागो, सत् स्वरूप आतम अनुरागो॥६॥
ओंमकार उच्चारो नीता, जांते इस्थिर होवे चीता।
होय अनन्य धियान लगावो, चित्त विक्षेपता सकल मिटावो॥७॥

Scanned with CamScanner

भव को मनो मात्र ही जानो, तन को स्वास मात्र ही मानो।
इन दोनों से रहो उदासा, विचरो जग में होय निरासा ॥८॥
गृह धन वित की ममता त्यागो, निर्भय होय शान्त अनुरागो।
संग दोष से रहो असंगा, सावधान को चढ़ें न रंगा ॥९॥
शान्ति सहित गृह में सुख पावो, मूल न अपना मन कलपावो।
हानि-लाभ में सम चित्त रहो, हर्ष शोक का कष्ट न सहो ॥१०॥
प्रेम मित्रता सत्-उपकारा, इनको धार रमो संसारा।
जीवन लौं सत्यधर्म कमावो, **हेमराज** उत्तम गति पावो ॥११॥

प्रश्न ४०—बुद्धि किस प्रकार चतुर और उज्ज्वल हो तथा विचार शक्ति कैसे बढ़े?

उत्तर—बुद्धि को चतुर और विचारशील बनाने की युक्ति यह है कि थोड़ा खाओ। समयानुसार शुद्ध और पथ्य आहार करो। मलिन पदार्थ अर्थात् बासी रोटी, बहुत आहार, गुड़, मूली, तेल की वस्तु, कचालू और मांस आदि से बचो। नशीली किसी वस्तु का सेवन न करो। तमाखू न पीवो। नित्यप्रति प्रातःकाल उठकर स्नान करो और एकान्त में बैठकर उपासना करो। सवेरे नित्यप्रति वन-यात्रा करो। क्षोभ और क्रोध को त्याग कर चित्त को नित्य शान्त रखो। वीर्य की रक्षा करो। हर बात को सोचने का स्वभाव बनाओ। बिना सोचे कोई काम न करो। बुद्धिमानों और सत्पुरुषों की संगति करो। सत्शास्त्रों का विचार कर उनका गम्भीरता से मनन करो। जब इस रीति से अपनी रहनी बनाओगे, बुद्धि उज्ज्वल और विचार शक्ति सुदृढ़ बनेगी।

प्रश्न ४१—नीरोग रहने के मुख्य साधन क्या हैं?

उत्तर—नीरोग रहने के मुख्य साधन निम्नलिखित हैं :—

(१) प्रातः सूर्य निकलने से दो घन्टे पहले उठने का स्वभाव बनाओ।

(२) उठते ही वन में जाकर मल-त्याग करो। मल-त्याग के समय वृथा संकल्प न उठाओ। उसी कर्म में वृत्ति रखो, जिससे सुख से शौच हो। किसी नदी, नहर, कुएँ व अपने स्थान पर भली प्रकार दातुन करो, जिससे मुख और उसके सम्बन्धी नेत्र, कर्णादि इन्द्रियाँ शुद्ध हों। फिर भली प्रकार अंगों को मसल कर स्नान करो। सिर पर पानी डालो और शुद्ध वस्त्र से अंगों को सुखाओ।

(३) किसी एकान्त और पवित्र स्थान पर आसन जमाकर बैठो। छाती और ग्रीवा को सीधा रखो। श्वास भरकर अन्दर ले जाओ। कुछ देर अन्दर रोक कर सहज से बाहर निकालो। क्षण, दो क्षण निःश्वास रहो। इस प्रकार दस बार करो। श्वास अन्दर ले जाते समय यही धारणा करो कि बाहर की पवन सब इन्द्रियों और नाड़ियों को शुद्ध कर रही है। श्वास बाहर लाते समय यह भावना करो कि अन्दर की अशुद्ध और विषैली हवा निकल रही है। इस प्रकार का नियमानुसार वायु स्नान शरीर को नीरोग बनाता

Scanned with CamScanner

(४) इसके बाद ॐकार स्मरण व चिन्तन स्वरूप उपासना करो। अर्थात् सब संकल्पों को त्याग कर वृत्ति को प्रणव ध्यान में जोड़ो। अपने को शरीर इन्द्रिय और उनके कर्म, मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार और उनके धर्म; नाम, जाति, वर्णाश्रम, गुण स्वभाव से न्यारा, सबका साक्षी अनुभवमात्र निश्चय करो। इसी प्रकार सब ब्रह्मांड के नामरूप का आधार अपने को निश्चय कर जगत् को अपनी कल्पना देखो। ब्रह्म-ध्यानरूप यह चिन्तन बारम्बार करो। ऐसा चित्त-शोधक ध्यानरूप स्नान नियमपूर्वक तथा प्रेमसहित करने से सब प्रकार के रोग और विकार दूर हो जाते हैं।

(५) इसके उपरान्त साधारण व्यायाम करना उचित है जिससे सब अंग हिलें और बलवान् हों। जैसे कुछ बार उठना-बैठना, डंड पेलना, जंगल में दौड़ना। सबसे सुगम और लाभदायक व्यायाम प्रातःकाल योगासन और वन यात्रा है। इसे नित्यप्रति सेवन करने से स्वास्थ्य स्थिर रहेगा।

(६) पथ्य आहार समयानुसार स्वस्थ होकर खाओ। दिन-रात में केवल दो या तीन बार नियत समय पर खाना दिन-रात का शेष समय व्रत रखना उचित है। पानी भी समय पर ऋतु-अनुसार पीना चाहिए। अन्न भली प्रकार चबाकर खाना चाहिए। निश्चिन्त होकर धीरे-धीरे खाओ।

(७) तमाखू, भांग, शराब आदि किसी नशीली वस्तु को सेवन न करो। मांस भी अपाच्य, तामसी और अप्राकृतिक भोजन है।

(८) क्रोध और चिन्ता कभी न करो। सदा शान्तरूप और प्रसन्न रहो। ईर्षा और द्वेषभावना रोग का मूल हैं। प्रेमपूर्ण रहो, जिससे सब दुःख नाश हों।

(९) पेट और अन्तड़ियों में मल के अधिक हो जाने से सब रोग उत्पन्न होते हैं। कुपथ्य सेवी जनों की अन्तड़ियों में यह मल जमता रहता है और जमकर इतना सख्त हो जाता है कि नित्यप्रति के दैनिक मल के साथ नहीं उतर पाता। इस सख्त मल के साथ कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं। इससे अनेक प्रकार के रोग और विकार प्रकट होते हैं। इसलिए अन्तड़ियों में मल को न जमने देना चाहिए। इसकी शुद्धि-निमित्त कोई साधारण विरेचन अथवा वस्ती कर्म का सरल और प्राचीन उपाय ही उपयोगी है। वस्ती यन्त्र (वा गुदा-शोधन पिचकारी) से थोड़े गर्म व कोसे जल के साथ कभी-कभी नीरोग पुरुष को अपनी अन्तड़ियों को धो डालना चाहिए।

(१०) ताप आदि रोगों के समय लंघन रखना सुख-रूप है। इससे शीघ्र ही पाचन-क्रिया ठीक होकर ताप उतर जाता है।

(११) वीर्य की रक्षा स्वास्थ्य का मुख्य सहायक है। विषयाधीन होकर वीर्य को नाश करने वाला आत्मघाती है।

(१२) खुले स्थान में निवास रखो, जहाँ स्वच्छ पवन और सूर्य की रोशनी आवे।

Scanned with CamScanner

आसपास दुर्गन्ध न हो। रात को समयानुसार शुद्ध हवादार स्थान में सोओ। सोते हुए मुंह बन्द कर अर्थात् ओष्ठों को मिलाकर सोओ।

(१३) बहुत बोलना, बहुत सोच, बहुत बैठक, बहुत निद्रा, बहुत खाना, धूप और सर्दी में फिरना रोग के कारण हैं। इनमें सब प्रकार का संयम रखो।

इन नियमों से शरीर प्रायः स्वस्थ रहता है। अन्यथा शरीर रोगों की खान है।

॥ सत्यधर्म ॥

॥ भजन ॥ (१)

प्राणी आपको आप सुधारो ॥
जो-जो कर्म करो दिन भर में, सोते वक्त विचारो ॥१॥
नीच कर्म पर अति पछतावो, मन को करो धिकारो ॥२॥
पश्चाताप से निज समझावो, मन को नित प्रति प्यारो ॥३॥
रे मन मानुष जन्म पायकर, तजे न असुराचारो ॥४॥
नीच कर्म में हरे शवासा, लज्जा को नहिं धारो ॥५॥
भला पुरुष तुझे लोग पुकारें, तुझमें अनिक विकारो ॥६॥
धन अरु भोगों के फ़िकरों में, रैन दिवस तुम हारो ॥७॥
इत विधि नित-प्रति ताड़न करके, खोटे कर्म निकारो ॥८॥
जाग सवेरे परमातम को, करो प्रणाम पियारो ॥९॥
फिर कहो आज उपदेश रात का, रे मन नहीं विसारो ॥१०॥
भोगों में, मिथ्या फुरने में, मूल न आप बिगारो ॥११॥
इस विधि नित लेखा अपना कर, अपना आप संवारो ॥१२॥
अपने पुरुषारथ बिन हेमां, कभी न होय उधारो ॥१३॥

॥ भजन ॥ (२)

अपना सुधार करना, तेरा परम धरम है।
उत्तम स्वभाव धरना, तेरा परम धरम है ॥१॥
सच बोलना सदा ही, सच बरतना सदा ही।
चित प्रेम से ही भरना, तेरा परम धरम है ॥२॥
सबका भला ही चाहना, चित्त में न द्वेष लाना।
सब पर भलाई करना, तेरा परम धरम है ॥३॥
प्रभु पर भरोसा रखना, बने जो राज़ी रहना।
संतोष दृढ़ पकड़ना, तेरा परम धरम है ॥४॥
पहले सब करम के, सबको विचार करले।
धीरज सदा ही रखना, तेरा परम धरम है ॥५॥

Scanned with CamScanner

सब पर दया बहाना, किसका न दिल दुःखाना।
आदर सबों का करना, तेरा परम धरम है ॥६॥
व्यवहार सांचा राखो, छल द्रोह चोरी त्यागो।
नित न्याय से विचरना, तेरा परम धरम है ॥७॥
मीठा सभीसे बोलो, निंदा में मुख न खोलो।
सेवा सबों की करना, तेरा परम धरम है ॥८॥
संतों का संग रखना, दुर्जन का संग तजना।
विद्या यतन से पढ़ना, तेरा परम धरम है ॥९॥
इन्द्रियों को वश में लाना, मन के न पीछे जाना।
अद्वैत ब्रह्म सिमरना, तेरा परम धरम है ॥१०॥
शांति को धरना नित, अरु क्रोध मारना नित।
उपराम चित्त रहना, तेरा परम धरम है ॥११॥
संकल्पों को घटाना, मैं मेरी को मिटाना।
चिद्घन में निश्चय धरना, तेरा परम धरम है ॥१२॥
हेमां पुकारे नर सुन, धारो अवश्य शुभ गुण।
जीवन-मुक्त हो रहना, तेरा परम धरम है ॥१३॥

॥ भजन ॥ (३)

साधो पर अवगुण न निहारो।
क्षमा समान नहीं सुख आदर, तांको दृढ़ कर धारो ॥१॥
अवगुण द्रष्टा अति मलीन है, उसका संग निवारो ॥२॥
मित्र शत्रु होय अवगुण कहकर, उपजे अनिक विकारो ॥३॥
दूषित देह को अवगुण कहकर, क्या है लाभ तुम्हारो ॥४॥
सब विकार अवगुण साधारण, किस पर चित्त उखारो ॥५॥
तुम हो अवगुण-भरे आप ही, प्रथमें आप सुधारो ॥६॥
क्षमा गही वृछ ने धरती ने, उनके भरे भंडारो ॥७॥
जो कोई पीड़ा देवे तुमको, उस पर कोप न धारो ॥८॥
जो अपमान करे वा हानि, उस पर क्षमा पसारो ॥९॥
क्षमा गही विष्णु ने भृगु पर, भगवन् हुआ प्यारो ॥१०॥
बख्शे अवगुण पापी के सब, गोविन्द हुआ अपारो ॥११॥
जल जन्तु पर चादर तानी, नद भयो सृष्टि अधारो ॥१२॥
अपनी-अपनी करनी भरनी, पर तज आप संवारो ॥१३॥
फल में छील गीट ज्यों त्यागो, त्यों पर औगुन डारो ॥१४॥
अवगुण तज लेने गुण सबसे, सो **हेमां** अवतारो ॥१५॥

Scanned with CamScanner

॥ भजन ॥ (४)

प्राणी हृद में प्रेम भरीजे ॥
प्रेम रसायन प्रेम कल्प वृक्ष, प्रेमामृत नित पीजे ॥१॥
प्रेम है अद्भुत मिकनातीसी, रग-रग तांहि रंमीजे ॥२॥
प्रेम मिटावे रोग दुःख भय, झगड़े सकल चुकीजे ॥३॥
प्रेम खड्ग से जग वश आवे, राज्य अटल कर लीजे ॥४॥
पशु-पक्षी तिर्यक् मानुष पर, प्रेम भरे दृष्टिजे ॥५॥
हंसमुख रहो मीठा नित बोलो, सेवा सबकी कीजे ॥६॥
परम पिता के पुत्र सभी हम, रुच-रुच कण्ठ लगीजे ॥७॥
भूमि सब को अन्न स्थान दे, रल मिल आयु निभीजे ॥८॥
इक ही जल से तृषा निवारें, फिर क्यों द्वेष करीजे ॥९॥
इक ही वायु सब का जीवन, आतस रूप पतीजे ॥१०॥
इक रस्ते आयें जायें सब, क्यों आपस मांहि लड़ीजे ॥११॥
कर्त्ता इष्ट सबों का प्रभु ही, किसको खंडन कीजे ॥१२॥
पानी प्रेम सिखावे हमको, रवि से प्रेम सिखीजे ॥१३॥
पूरब पश्चिम एको साईं, पेख-पेख मन भीजे ॥१४॥
ऊँच नीच पर करता छाया, वृछ से प्रेम गहीजे ॥१५॥
आपस मांहि मिलाप रखो नित, सहजे मुक्ति लीजे ॥१६॥
इक दूसर की सेवा कीजे, दृष्टि न दोष धरीजे ॥१७॥
गोविन्द सब में पूर रह्यो है, किसको नीच लखीजे ॥१८॥
करता भर्त्ता धरता जग का, प्रेम को निश्चय कीजे ॥१९॥
धर्म मूल है प्रेम ही **हेमां**, प्रेम सों गोविन्द रीझे ॥२०॥

॥ इति श्री प्रथम सिद्धान्त समाप्तम् ॥

Scanned with CamScanner

: २ :

★ जिज्ञासा-सिद्धान्त ★

प्रश्न १— ॥ दोहा ॥

भगवन् ! कृपा कर कहो, जिज्ञासु के धर्म !
कैसे विचरत कहाँ रहत, कैसे काटत कर्म ?

उत्तर— ॥ दोहा ॥

श्रद्धालु उज्ज्वल मति, सत्गुरु भक्त अमान।
गुण ग्राहक धर्मातमा, उपकारी बुद्धिमान् ॥ १ ॥
आज्ञाकारी शुद्ध मन, नम्र भूत निष्काम।
विद्यायुक्त कोमल हृदय, चाहत आतम राम ॥ २ ॥
मन वच कर्म सेवक सुमति, रहित दंभ निरमान।
स्वस्थ चित्त शीतल अमल, प्रीतम शिष्य सुजान ॥ ३ ॥
सावधान हो आप में, रोके मन की दौर।
पहरुवे की दृष्टि ज्यों, आंख रखे निशिभोर ॥ ४ ॥
विषयन ते विपरीत बुद्ध, मोक्ष भावना सहित।
सम दमवान् उदार मत, दंभ ईर्षा रहित ॥ ५ ॥
तात मात सुत भ्रात जन, जाने बांधन हार।
तजे मोह सर्वत्र का, शुभ विचार बलधार ॥ ६ ॥
नहीं को किसका बाप है, नहीं को किसका पूत।
कारण कारज एक हैं, ज्यों कपड़ा अरु सूत ॥ ७ ॥
सदा रहे निर्भय अचल, गुरु वचनन को धार।
लोक लाज कुल लाज भय, सकले मन सें डार ॥ ८ ॥
अज्ञानी के संग को, सिंह–सर्पवत् त्याग।
ज्ञानवान् के संग में, धारें दृढ़ अनुराग ॥ ९ ॥
प्रेम सहित सेवें सदा, सन्त वचन सुख रूप।
जांते सूरज ज्ञान का, प्रकटे अमल अनूप ॥ १० ॥

Scanned with CamScanner

ऐसे ज्ञान प्रकाश से, सोधें नित्य अनित्य।
नित्य वस्तु दृढ़ कर गहें, त्यागें वस्तु अनित्य ॥११॥
नित्य वस्तु है आतमा, सत्‌चित्‌ आनन्द रूप।
अनित्य वस्तु यह देह है, जड़ असत्य दुःख कूप ॥१२॥
ताते निशिदिन सावधान, ध्यावें आतम सार।
रंचमात्र चितवें नहीं, देह अनित्य असार ॥१३॥
जग सम्बन्ध है देह का, आतम का नहिं कोय।
वर्णाश्रम और नामरुप, सगरे तन के जोय ॥१४॥
ज्यों-ज्यों तन भावन मिटे, प्रगटे आतम ज्ञान।
तांते दृढ़ अभ्यास कर, त्यागें नत अभिमान ॥१५॥
परमार्थ की प्रीति में, पुरुषार्थ दृढ़ धार।
प्रतिबन्धक त्यागें सकल, पावें मोक्ष द्वार ॥१६॥
जब लग चित्त में मोह मल, तब लग बंधन आहिं।
मोह मिटे जब चित्त से, तब कुछ बंधन नाहिं ॥१७॥
निर्मम निरहंकार हो, बरतें भव के माहीं।
मान मोह मत्सर गरव, शोक फुरे कुछ नाहीं ॥१८॥
अहो भाग्य विद्या अहो, अहो बुद्धि अहो प्रेम।
अहो शील संयम अहो, अहो नित्य अहो नेम ॥१९॥
सदा रहें निर्मल हृदय, रहित विकार असंग।
लोभहीन नित्य तृप्त चित्त, भीने आतम रंग ॥२०॥
सदा रहे शान्तात्मा, राग द्वेष से रहित।
हेमां विचरें स्वस्थ हो, समता मुदता सहित ॥२१॥

प्रश्न २—

॥ दोहा ॥

गुरुमुख शिष्य इस जगत्‌ में, कोटिन में कोई एक।
कपटी भेषी लालची, दम्भी साधु अनेक ॥१॥
तांते लक्षण शिष्य के, वर्णन करें दयाल।
जांके दर्शन स्पर्श से, तन मन होय निहाल ॥२॥

उत्तर—

॥ दोहा ॥

श्रद्धालु निर्मल हृदय, सत्‌गुरु भक्त सुजान।
आज्ञाकारी कुशल मन, जिज्ञासु बुधिमान्‌ ॥१॥
गुण ग्राहक उज्ज्वल मति, दोष दृष्टि से रहित।
प्रेम प्रीत भीने सदा, समता दृढ़ता सहित ॥२॥
तन मन धन वाणी अरप, सत्‌गुरु सेवें नीत।
सत्‌गुरु मूरत प्रेम युत, निशिदिन धारें चीत ॥३॥

Scanned with CamScanner

सावधान सिमरें सदा, सत्गुरु का उपदेश।
निशिदिन पुरुषारथ करें, कटे अविद्या लेश ॥४॥
संग न काहू से करे, सबसे रहे असंग।
प्रेम सहित आतम भजे, चढ़े न दूसर रंग ॥५॥
उपरामी वैराग्य युत, शम दम सहित अकाम।
सत्य असत्य विवेक कर, खोजत आतम राम ॥६॥
ममता तज सेवे सदा, गुरु चरणन चित लाय।
सेव-सेव शुद्धि लहें, आतम राम समाय ॥७॥
सदा रहें शीतल सुखी, राग द्वेष से रहित।
तृप्त चित्त सन्तुष्ट मन, समता मुदता सहित ॥८॥
शांतवान हेमां रहें, निश्चल मति अक्षोभ।
रंचमात्र परसे नहीं, क्रोध मोह और लोभ ॥९॥

प्रश्न ३—जिज्ञासु के लिए कौन-कौन से साधन करने योग्य हैं; जिससे सर्व दुःखों की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति हो ?

उत्तर—अन्तःकरण में तीन दोष होते हैं। एक मल अर्थात् विषयों की तृष्णा, दूसरा विक्षोभ अर्थात् विषयों का चिन्तन और जगत् के व्यवहारों की चिन्ता, तीसरा आवरण अर्थात् अज्ञान। जब तक ये द्वेष निवृत्त न हो तब तक ज्ञान का प्रकाश पूर्ण रीति से हृदय में उदय नहीं होता। इसलिए इनकी निवृत्ति का उपाय करना जिज्ञासु को उचित है। अब इनका उपाय लिखते हैं।

मल दोष की निवृत्ति निष्काम शुभ कर्मों से होती है। तात्पर्य यह कि नीच कर्म और मलिन स्वभाव को त्याग कर उत्तम कर्म और श्रेष्ठ स्वभाव धारण करने से अन्तःकरण मल दोष से शुद्ध होता है, शुभ कर्म तीन प्रकार के हैं—कायिक, वाचिक, और मानसिक।

कायिक कर्म ये हैं—

(१) मंजन अर्थात् दातुन करना।
(२) स्नान।
(३) आसन।
(४) शुभ मार्ग की यात्रा।
(५) सत्गुरु अथवा सन्त सेवा।

वाचिक कर्म ये हैं—

(१) मन्त्र-जप अर्थात् वाणी से जप करना।
(२) नाम स्मरण।
(३) सत्य वचन अर्थात् सत्य बोलना।
(४) कीर्त्तन अर्थात् परमात्मा का मंगल गायन करना।
(५) मृदु वचन अर्थात् मीठा बोलना।

Scanned with CamScanner

मानसिक कर्म ये हैं—

(१) दया, सब जीवों को तन, मन, धन और वाणी से सुख देना।

(२) ब्रह्मचर्य अर्थात् मलिन संकल्प से परस्त्री की न वार्ता सुनना, न स्मरण करना, न उसका वर्णन करना, न चिन्तन करना, न एकान्त में उससे बात करना, न उसके मिलने का संकल्प करना, न उसके मिलने का यत्न करना और न उससे मिलना।

(३) धैर्य।

(४) सन्तोष।

(५) प्रेम।

विक्षोभ दोष की निवृत्ति उपासना से होती है। तात्पर्य यह कि मन को ओंकार के साथ मिलाना। यहाँ तक कि मन और ओंकार एक रूप हो जावें, ओंकार के बिना दूसरा संकल्प न उठे।

तीसरे आवरण की निवृत्ति ज्ञान से होती है। ज्ञान चार साधनों से उत्पन्न होता है। तीन साधनों से परिपक्व होता है और तीन साधनों से उसकी रक्षा होती है।

ज्ञान की उत्पत्ति के चार साधन हैं :—

(१) **विवेक** अर्थात् नित्य अनित्य का विचार करना।

(२) **वैराग्य** अर्थात् अनित्य का त्याग करना।

(३) **षट् सम्पत्ति**। इसमें छः साधन हैं।

(क) **शम** अर्थात् मन को विषयों की वासना से रोकना।

(ख) **दम** अर्थात् इन्द्रियों को विषयों से रोकना।

(ग) **तितिक्षा**, अर्थात् सुख-दुःख, मान, अपमान, तृषा आदि को हठ करके सहारना।

(घ) **उपराम** अर्थात् व्यवहारी, विषयी, भेदवादी, बकवादी, गृहस्थासक्त अज्ञानी, वा भ्रामक के संग से उपरत रहना।

(ङ) **श्रद्धा** अर्थात् सत्गुरु और सत्शास्त्र के वचनों में सत्य विश्वास रखना।

(च) **सावधानता**, अर्थात् सावधान होकर साधनों को साधना और सत्गुरु के उपदेश को सुनना। तात्पर्य यह कि नींद और आलस्य, विक्षेपता अर्थात् चित्त की चंचलता से रहित होकर उपदेश को सुनना और कमाना।

(४) **मोक्ष इच्छा**—अर्थात् हृदय में यह इच्छा धारण करनी कि कब मेरे सारे दुःख निवृत्त होंगे और परमानन्द प्राप्त होगा।

जब ये चार साधन परिपक्व हो जाते हैं तब ज्ञान की परिपक्वता के लिए तीन साधन अर्थात् श्रवण, मनन और निदिध्यासन का अभ्यास करना होता है। भाव यह है कि ब्रह्म-ज्ञानी महात्मा के वचनों को श्रद्धा, प्रेम, एकाग्रता, विचार, आस्तिक-बुद्धि और दृढ़ता सहित सुनना। इन्हें सुनकर एकान्त स्थान में उन वचनों को बारम्बार स्मरण करना, विचार करना, मनन करना। मनन करने के बाद उन वचनों को परमार्थ [अद्वैत वस्तु] के साथ

Scanned with CamScanner

वृत्ति सहित ऐसे मिलाना जैसे पानी की बूंद तप्त लोहे के साथ मिल जाती है, अथवा जैसे बताशा पानी में घुल मिल जाता है, अथवा जैसे नमक दाल में मिल जाता है। बारम्बार वृत्ति को अद्वैत वस्तु के आकार करने से निदिध्यासन दृढ़ हो जाता है। जब निदिध्यासन परिपक्व हो जाता है तब सत्य-स्वरूप का साक्षात्कार होकर अंतर बाहर सत्य-स्वरूप भासता है। भेद और परिच्छेद निवृत्त हो जाते हैं।

उपर्युक्त निश्चय की रक्षा के तीन साधन हैं—तत्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय हैं ?

तत्वज्ञान का अर्थ है तत्व-स्वरूप को ज्यों का त्यों जानना।

मनोनाश का अर्थ है कि मन को पांच विषयों से उपरत रखना। अर्थात् मन को पांच प्रकार की वृत्ति अर्थात् प्रमाण, विकल्प, स्मृति अभाव और उदासीनता से शुद्ध रखना।

वासनाक्षय का अर्थ है कि मन को लोकवासना, शास्त्र-वासना और देहवासना से शुद्ध रखना। मन में कदाचित् यह वासना उत्पन्न न हो कि लोग मेरी स्तुति करें मुझे भला कहें, क्योंकि यह वार्ता असम्भव है। सारे लोग एक पुरुष की स्तुति नहीं कर सकते। इसलिए लोक-वासना करनी मूर्खता है। शास्त्र-वासना भी त्यागने योग्य है। शास्त्र-वासना का आशय यह है कि सारे शास्त्र मुझको स्मरण हो जावें, सारी धरती को मैं जीत लूं, सब लोक मेरी वाणी को सुनकर बलिहार-बलिहार करें। यह वार्ता भी असम्भव है, क्योंकि मनुष्य की आयु अल्प और क्षणभंगुर है। सारे शास्त्र स्मरण नहीं किए जा सकते। सारी धरती के लोगों को जीतना भी कठिन है। सारे लोगों में अपनी वाणी को सुनाकर जय-जयकार पाना भी असम्भव है। इसलिए शास्त्र-वासना भी त्यागने योग्य है। देहवासना भी मिथ्या है। जब देह नाश्वर है, इसके पुष्ट, बलवान, सुन्दर, सुगन्धित और नीरोग रखने की वासना भी निरर्थक है। इसलिए देह-वासना भी त्याज्य है। इस रीति से तत्वज्ञान, मनो-नाश और वासनाक्षय से ज्ञान की रक्षा होती है।

जब पूर्वोक्त चौदह साधनों से ज्ञान ही आत्मा हो जाती है; तब जिज्ञासु कृत-कृत्य होकर जीवनमुक्त होता है। अर्थात् सदा अपने में आप मग्न रहता है। ऐसी दशा में कर्म, वह उपासना और ज्ञान की सीमा को लाँघ कर सहज अवस्था के झूले में झूलता है। बालक-वत् निर्भय, निष्काम और रागद्वेष से रहित होकर शारीरिक क्रिया करता है और मतवाले की तरह संसार मंडल में भेद रहित आनन्द सहित विचरता है। इसलिए जिज्ञासु को उचित है कि ऐसी पावन, गम्भीर और परमानन्द अवस्था के निमित्त पूर्वोक्त साधनों का सेवन करे।

प्रश्न ४—मुक्ति किन साधनों से प्राप्त होती ?

उत्तर—सम, सन्तोष विचार और सत्संग से। इसका विस्तार नीचे वर्णन किया जाता है। जिज्ञासु को उचित है कि उन साधनों को प्रेम और श्रद्धासहित कमावे।

१. सम अर्थात् अपने मन को विषय-वासना, गृहस्थ की चिन्ता, जगत का चिंतन, भूतकाल की स्मृति, भविष्यत की चिन्ता और दूसरे व्यर्थ संकल्पों से रोकना। पहले मन को फुरने ही न देना। यदि कदाचित् किसी इन्द्रिय के साथ मिलकर वह विषय का चिंतन

Scanned with CamScanner

करे अथवा गृह के किसी व्यवहार को सोचकर शोक करे अथवा धनवृद्धि के निमित्त धनी और सम्पत्तिशाली की सुश्रुषा के लिए व सन्तान के लिए अथवा अपनी प्रभुता के लिए सोचे अथवा किसी भूतकाल की वार्ता या अपनी अवस्था के निमित्त स्फुरण करे अथवा भविष्यत के निमित्त चिन्ता करे अथवा दूसरे मूर्खों और अज्ञानियों की संगति में बैठकर निरर्थक मनोराज उठावे, उसी समय मन को विचार और हठ द्वारा संग त्याग से भूत भविष्यत की स्मृति से रोके। बारम्बार प्रेम और दृढ़ता सहित इस श्रेष्ठ साधन को कमाता रहे, सर्व जगत के जंजालों से छूटने का यही उपाय है। सम के समान जगत में कोई सुख का साधन नहीं है। इसलिए उचित है कि सावधान होकर इस साधन का अभ्यास करे जिससे सुख और मोक्ष की प्राप्ति हो।

२. **सन्तोष** अर्थात् जो कुछ केवल मात्र पुरुषार्थ से प्राप्त हो, उस पर सन्तुष्ट रहना। अधिक के लिए इच्छा न करना। थोड़े के लिए शोक न करना, क्योंकि संसार में तृष्णा के समान मनुष्य का कोई शत्रु नहीं। तृष्णा मित्र बन कर सत्यानाश करती है। यह ऐसी चुड़ैल है कि किसी वस्तु से इसका पेट नहीं भरता। जितना पदार्थ अधिक होता जाय इसकी भूख उतनी अधिक होती जाती है। इस रीति से यह तृष्णा मनुष्य को प्राणान्त पर्यन्त खिन्न और विक्षिप्त रखती है। इसलिए इसका त्याग ही मोक्ष की प्राप्ति है। तृष्णा केवल सन्तोष से पूर्ण होती है। तृष्णा रूपी रोग की निवृत्ति के लिए संसार में सन्तोष के बिना कोई उपाय नहीं। अतः जो पुरुष मुक्ति का जिज्ञासु हो, उसे उचित है कि सन्तोष को अपना मित्र बनावे और तृष्णा से अपनी प्रीति घटावे। तृष्णावान जगत के क्लेशों से रहित न होकर शान्त नहीं होता। सदा दुःख और सन्ताप का अनुभव करता रहता है। तृष्णा कदाचित् पूर्ण नहीं होती। किन्तु मूर्ख मनुष्य नित्य इसके पूर्ण करने का यत्न करता रहता है। नाना प्रकार के व्यवहार तथा खेती आदि करता है, सेवा करता है, भेष बनाता है, मंत्र-जंत्र-तंत्र से भूत, पिशाच आदि को सिद्ध करता है। कपट, चोरी, घूस आदि खोटे कर्म करता है किन्तु तृष्णा पूर्ण नहीं होती। इसलिए इसका संग ही जिज्ञासु के लिए उचित नहीं। सन्तोष से अपना निर्वाह करना उचित है।

३. **विचार** ! विचार का अर्थ है कि प्रथम यह सोचना कि इस जगत में सत्य वस्तु क्या है और असत्य वस्तु क्या है ? फिर यह सोचना कि इस शरीर में सत्य वस्तु क्या और असत्य वस्तु क्या है ? जब विचार द्वारा समझ ले कि जगत और शरीर दोनों असत्य हैं, आत्मा और परमात्मा दोनों सत्य हैं, उसके उपरान्त यह सोचे कि मैं कौन हूँ। शरीर हूँ अथवा आत्मा हूँ ? जब सिद्ध हो कि मैं आत्मा हूँ, फिर यह विचारना कि मैं परमात्मा से भिन्न हूँ अथवा उसके साथ एक रूप हूँ ? क्योंकि परमात्मा सत्य है और आत्मा भी सत्य है, परमात्मा चेतन है और आत्मा भी चेतन है; परमात्मा आनन्दरूप है और आत्मा भी आनन्दरूप है। एक धर्म वाली वस्तु सदा समान होती है। इसलिए परमात्मा आत्मा रूप है और आत्मा परमात्मा रूप है। शास्त्रकार में केवल जगत की उपाधि से सत्य वस्तु का नाम परमात्मा और शरीर की उपाधि से सत्य वस्तु का नाम आत्मा रखा है। जब जगत

Scanned with CamScanner

और शरीर दोनों असत्य सिद्ध हुए, आत्मा और परमात्मा सत्य सिद्ध हुए, उनके मध्य भेद भी असिद्ध हुआ। इस रीति से विचार जब हृदय में स्थित हो, तब जगत और शरीर को विस्मरण करके आत्मा को परमात्मा के साथ ऐसा मिलावे कि फिर किसी काल में शरीर जगत का संकल्प न उठे। जब किसी जगत के धन्धे में प्रवृत होकर व किसी शरीर के दुःख से दुःखी होकर व अज्ञानी पुरुषों की संगति से व पदार्थों के मोह से सत्यस्वरूप भूलकर जगत और शरीर का स्मरण आवे, उसी समय विचार द्वारा जगत और शरीर को असत्य जान कर आत्मा परमात्मा का पुनः चिन्तन करे। इस रीति से इस विचार को बारम्बार धारण कर मन को शरीर और जगत के मोह से छुड़ावे और स्वयं को आत्मरूप जानकर परमात्मा के साथ ऐसामिलावे कि जगत की ओर से अज्ञात हो जाए। इस साधन से जीव को अपने वास्तव स्वरूप का ज्ञान होता है। यही ज्ञान मुक्ति का परम साधन है, क्योंकि जितने दुःख और संताप जीव को इस जगत में प्राप्त हो रहे हैं, वे सारे अज्ञान से ही हो रहे हैं। जब ज्ञान होता है तब सारे दुःख निवृत होते हैं, शान्ति और मुक्ति प्राप्त होती है। इसीलिए वेद में भी ज्ञान से मुक्ति लिखी है। विचार और ज्ञान पर्यायवाची शब्द हैं। इसका अर्थ एक है। इसलिए सावधान होकर इस स्थान को श्रद्धा और दृढ़ता सहित सिद्ध करें।

४. **सत्संग**—इसके अर्थ हैं, उस संगति में जाना जहां सत्य परमात्मा, सत्यविद्या और सत्यधर्म का निर्णय हो। सत्संग के बिना किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता और ज्ञान के बिना कोई साधन सिद्ध नहीं हो सकता और साधन के बिना कोई फल प्राप्त नहीं होता। अतः सत्संग सब साधनों की माता है। इससे सम, सन्तोष और विचार उत्पन्न होते हैं और इसी की सहायता से पूर्वोक्त तीन साधन परिपक्व होते हैं। इसलिए सब धर्मों, सब कर्मों, सब ज्ञानों और सब स्थानों की खान सत्संग है। जो लोग श्रद्धा से नित्यप्रति सत्संग का सेवन करते हैं, वे अल्पकाल में जगत के बन्धनों से मुक्त होते हैं। फिर यह सत्संग दो प्रकार का है; वहिरंग और अन्तरंग। वहिरंग यह है कि ब्रह्मज्ञानी महापुरुषों की सेवा में श्रद्धा और विनम्रता से जाकर उनके आगे प्रणाम करना और उनके अमृतरूपी वचनों का रस ऐसे प्रेम से पीना जैसे बालक अपनी माता के स्तनों का रस पीता है। तात्पर्य यह कि सब ओर से अपनी वृत्ति को रोक कर उनके वचन के अभिप्राय को अपनी बुद्धि में बसाना। अन्तरंग सत्संग यह है कि महात्मा से आज्ञा लेकर एक एकान्त और शुभ स्थान में बैठकर सुने हुए वचनों को इस रीति से स्मरण करे जैसे उष्ट्र खाए हुए घास की जुगाली करता है। तात्पर्य यह कि एक-एक वचन अपनी बुद्धि में ऐसा बसाए जैसे विद्यार्थी अपने पाठ को स्मरण करता है। एक-एक वचन के अर्थ को भी ऐसा समझे कि उसका अभिप्राय अपना निश्चय हो जावे। इसके लिए ऐसा बल उत्पन्न करे कि उसके निदिध्यान में जो जो दुःख और कष्ट हों उन्हें धीरज और प्रेम से सहारे। यदि एकान्त में बैठकर वचन स्मरण न आवें, तो किसी मननशील, निर्मलमति, धीरजवान और सुहृदय चित्त दूसरे सत्संगी भाई को अपने साथ लेकर व उसके पास जाकर सुने हुए वचनों का पूर्वोक्त रीति से लाभ उठाए। अन्तरंग सत्संग के बिना वहिरंग सत्संग से फल नहीं मिलता। जैसे जठराग्नि द्वारा परिपक्व होकर

Scanned with CamScanner

आहार जब तक बल उत्पन्न न करे तब तक आहार से कुछ लाभ नहीं होता। उसी प्रकार जब तक महात्मा जनों के वचनों को पूर्ण रीति से न कमाया जाये तब तक उनकी संगति का फल नहीं मिलता। यद्यपि सत्संग से सब प्रकार का लाभ प्राप्त होता है तथापि वास्तविक प्रयोजन मुक्ति और शान्ति मनन और निदिध्यासन के बिना प्राप्त नहीं होती। इसलिए उचित है कि उत्कट श्रद्धा और सत्यता से अपने बलानुसार उभय रीति से सत्संग का सेवन करें। सत्संग के समान कोई गति नहीं, मानो सत्संग मुक्ति का द्वार है। जैसे नौकरी की इच्छा वाला नौकरी के लिए नित्यप्रति राजद्वार की इच्छा करता है और कुछ काल के उपरान्त उसकी इच्छा पूर्ण होती है। वैसे ही मुक्ति की इच्छा वाले को उचित है कि नित्यप्रति सत्संग की जिज्ञासा करे और शीघ्रता न करे। श्रद्धा और धीरज सहित सत्संग करता रहे सत्संग के उपदेशों को पूर्ण रीति से मनन और निदिध्यासन करता रहे। कुछ काल उपरान्त सब दुःखों और क्लेशों से रहित होकर वह मोक्षरूपी सिंहासन पर विराजमान होगा और सत्संग की महिमा का गायन करेगा।

(५) महात्मा पुरुषों के वचन अमृतरस से भरे होते हैं जो पुरुष सच्ची श्रद्धा और अधिक प्रीति से उन वचनों को बारम्बार पढ़कर विचारता है और उनके अर्थ हृदय में धारण करता है, उसका दुःख मूलक अज्ञान न होकर ज्ञानामृत बन जाता है, जिसे पीकर अर्थात् निश्चय करके जीते जी मृत्यु के भय से निर्भय और जीवन-मुक्त होकर परमानन्द का लाभ उठाता है।

प्रश्न ५—हे भगवान्! साधनों का सेवन जिज्ञासु के निमित्त ही क्यों नियत है और इसका फल क्या है?

उत्तर—हे निर्मल बुद्धि! जब तक मनुष्य साधन चतुष्टय से सम्पन्न होकर जिज्ञासा को पूर्ण न करे तब तक ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति अत्यन्त कठिन है। यदि शास्त्र विचार अथवा श्रवण से हृदय में ज्ञान प्रकाशित हो भी, साधन के बिना दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान होकर भय, ताप, क्लेश, अविद्या, विपर्यय, लज्जा, दोष और भ्रांति का निवारण नहीं होता। इसलिए जिज्ञासु का प्रथम साधनों का अभ्यास उचित है, क्योंकि ज्ञान की स्थिति अन्तःकरण की शुद्धि बिना नहीं होती और स्थिति बिना सब दुःखों की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति नहीं होती। अतः अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञान की प्राप्ति और स्थिति का महान उपाय है।

प्रश्न ६—अन्तकरण की शुद्धि का क्या लक्षण है?

उत्तर—अन्तःकरण की शुद्धि का यह लक्षण है, कि इस लोक में किसी राजा, धनी, जिन, परी, गृह, जादू, पितर, जन्त्र, मन्त्र, तन्त्र का भय और प्रतीत बुद्धि में न रहे। किसी सम्बन्धी अर्थात् माता, पिता, भ्राता, चाचा तथा मामा, नाना, ससुर, जवाई, साला, बहनोई, पुत्र, भगिनी, भार्या और मित्रों और दूसरे जनों का मोह और भय हृदय में रंचक मात्र भी न हो। धन, स्त्री, पुत्र, यश, तेज, प्रताप, रिधि, सिधि, महिमा, व्यवहार, खेती, वणिज, सेवा, रसायन आदि की कामना और प्राति निमित्त यतन न रहे! लोक-लज्जा, कुल-लज्जा

Scanned with CamScanner

और वेद लज्जा का अभाव हो जाए और वर्णाश्रम की आसक्ति, वर्णाश्रम रीति, वर्णाश्रम कर्म, वर्णाश्रम धर्म, वर्णाश्रम ईर्षा, वर्णाश्रम खण्डन-मण्डन, वर्णाश्रम बन्धन अत्यन्त कल्पित और निष्फल समझे। पर-लोक भय अर्थात् अपगतिमृत्यु, अपुत्रवत् पिंड आदि क्रिया, यमदूत आगमन, वैतरणी उल्लंघन, धर्मराज और चित्रगुप्त न्याय, नर्क भोग, पुनः पुनर्जन्म, श्राद्ध आदि पितृ-सेवन तथा प्रेत अवस्था आदि भयानक वचन, भ्रांतिजन्य और कल्पित प्रतीत होकर निश्चय से गिर जायें और परलोक के सुख अर्थात् स्वर्ग में नन्दन वन, अमृतपान, अप्सरा-भोग, सुन्दर कान्ति आदि इन्द्रिय भोग की कामना हृदय से निवृत्त हो जावे। बैकुण्ठ आदि लोकों के ऐश्वर्य की श्रेष्ठता और महत्ता कपोल-कल्पित और रोचक प्रतीत होकर हृदय से भूल जावे। केवल सत्यस्वरूप में स्थिति की इच्छा शेष रहे, तब निश्चय करे कि अन्तःकरण शुद्ध होकर यथार्थ ज्ञान का अधिकारी हो गया है। इसलिए जिज्ञासु पूर्वोक्त रीति से अपने अन्तःकरण को चार साधनों से सम्पन्न कर लोक और परलोक के भय और सुख से शुद्ध करे।

प्रश्न ७—क्या वैराग्य और विचार से बल अथवा लाभ मिलता है ?

उत्तर—इस जगत में कोई किसी को बाँधने वाला नहीं, अपना चित्त ही बाँधने वाला है। जब तक जिज्ञासु अपने चित्त को वैराग्य और विचार-रूपी बल से बलवान नहीं करता, तब तक वांछित मनोरथ अर्थात् सत्संग द्वारा प्राप्य ज्ञान सिद्ध नहीं होता; ऐसे ही इच्छा करते-करते काल व्यतीत हो जाता है। इसलिए जिज्ञासु को उचित है कि वह अपने दृढ़ बल से सम्बन्धियों के मिथ्या भय और मोह से अपने को मुक्त रखे।

(२) ब्रह्म-नित्य-प्राप्त-रूप है, क्योंकि सब का आत्मा है, परन्तु देह-अभ्यास से वह अप्राप्य है। इसलिए देह-अभ्यास की निवृत्ति ब्रह्मरूप आत्मा की प्राप्ति का परम साधन है। अतः जिज्ञासु विवेक और वैराग्य से देह-अभ्यास को निवृत्त करे।

प्रश्न ८—गृहस्थ और व्यवहार हमें छोड़ते नहीं, किस प्रकार इनसे छुटकारा हो ?

उत्तर—जब तक मनुष्य आप पुरुषार्थ करके गृहस्थ और व्यवहार से उपरत न हो, तब तक इनका सम्बन्ध चित्त को नहीं छोड़ता। आप ही वैराग्य से समय को बचाएँ और सतगुरु के उपदेश में मन लगाएँ। जिस प्रकार मनुष्य दूसरे कार्मों को अपने यत्न और पुरुषार्थ से पूर्ण करता है, उसी प्रकार इस कर्म में भी प्रेम और नियम सहित पुरुषार्थ करना उचित है। जगत के व्यवहारों में आलस्य करना उचित है, परन्तु परमार्थ में आलस्य करना उचित नहीं। जगत से वैराग्य सुखरूप है, परन्तु परमात्मा से वैराग्य सुख रूप नहीं। अज्ञानी जगत के साथ प्रीति जोड़ता है और मरमेश्वर से वैराग्य करता है। ज्ञानी जगत और परमेश्वर को एकरूप जानकर रागद्वेष रहित रहता है। इसलिए जिज्ञासु जगत से अपनी वृति को उपरत करे और पुरुषार्थ करके वृत्ति को परमात्मा के साथ तदाकार करे। परमात्मा सबका आत्मा है, नित्य प्राप्त-रूप है, क्योंकि अपना आप है। बुद्धि को बारम्बार आत्मा के साथ केवल तद्रूप निश्चय करे। शरीर के अहं का त्याग करे। जब आत्मा का निश्चय परिपक्व

Scanned with CamScanner

हो जाता है, तब शरीर और शरीर के सम्बन्धी स्वभावतः मन से विस्मृत हो जाते है। जैसे स्वप्न के निवृत्ति होने पर स्वप्न के सम्बन्धी भी नष्ट हो जाते हैं।

प्रश्न ९—जिज्ञासु सम्बन्धियों के बंधन से किस प्रकार मुक्त होता है ?

उत्तर—पहले यह विचार करना उचित है कि पिता, भ्राता, चाचा, माता, नाना पुत्र, पौत्र, भार्या भगिनी आदि का सम्बन्ध मेरे साथ शरीर द्वारा है अथवा स्वतः सिद्ध है। दूरदर्शिता से यह सिद्ध होता है कि शरीर के सम्बन्ध द्वारा दूसरे शरीरों का सम्बन्ध है। अशरीर अवस्था में सम्बन्ध और सम्बन्धी का लक्षण व हेतु कोई नहीं था। अब मैं अपने को शरीर से न्यारा निश्चय कर चुका हूँ। इसलिए शरीर के सम्बन्धियों से भी मैं न्यारा हूँ, क्योंकि सब सम्बन्धियों का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न काल में उत्पन्न होकर मनौत के आसरे मन को मिथ्या मोह और लज्जा में बाँध रहा है। मेरा स्वरूप शरीर मन, मोह, लज्जा और मनौत से भिन्न केवल अनुभवमात्र है। अन्य किसी वस्तु के साथ मेरा किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं, क्योंकि मैं अद्वैत हूँ। इसलिए अपने साथ भी मेरा सम्बन्ध नहीं। जब अपने साथ भी सम्बन्ध नहीं और शरीर के साथ भी सम्बन्ध नहीं, तो दूसरे पदार्थों और शरीरों के साथ किस प्रकार सम्बन्ध होगा ? इसलिए न मैं किसी का सम्बन्धी हूँ और न मेरा कोई सम्बन्ध है, केवल सत्ता समान अपने-आपमें स्थित हूँ। इस रीति से जिज्ञासु वास्तव-स्वरूप का विचार कर अपने को सम्बन्ध के बन्धन से मुक्त करे। वह यह विचार करे कि सब-जगत-ब्रह्म-रूप है। वही ब्रह्म मेरी आत्मा है। द्वितीय वस्तु न थी न है और न होगी। जब द्वितीय वस्तु ही नहीं तो सम्बन्ध और सम्बन्धी भाव किस रीति से सिद्ध हो ? केवल अद्वैत वस्तु अपनी महिमा से स्थित है। इस दृष्टि के अज्ञान से मैं किसी को पिता, किसी को पुत्र, किसी को भ्राता, किसी को भतीजा, किसी को भार्या और किसी को भगिनी मानता था। अब श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पूर्ण सत्गुरु की कृपा से मुझे निश्चय हुआ है कि एक ही वस्तु नाम और रूप की संज्ञा से रहित अपने में आप स्थित है। वह सब प्रपंच उसका विवर्त, विलास, प्रकाश, महिमा अथवा स्वरूप है। इसलिए द्वैत का अत्यन्त अभाव है। इस ज्ञानबल से अब मैं शरीर के होते हुए भी अशरीर अवस्था को प्राप्त हुआ हूँ। सबसे अनुलंघित पद पाकर लौकिक, व्यवहारिक, वैदिक, पौराणिक, कायिक, वाचिक और मानसिक बंधनों से रहित हूँ। सम्बन्ध और सम्बन्धी भाव का मेरे स्वरूप में अत्यन्ताभाव है। एकाकी आप में आप हूँ। ऐसे विचार से अपने को सम्बन्धियों के मोह, दया, लज्जा, हित और बन्धन से मुक्त करे।

प्रश्न १०—जिज्ञासु अपने को किस विचार द्वारा वर्णाश्रम के बन्धन से रहित जाने ?

उत्तर—जिज्ञासु को वह विचार कर लेना चाहिए कि वर्णाश्रम के साथ मेरा सम्बन्ध शरीर द्वारा है अथवा साक्षात् ? यदि शरीर द्वारा है तो मैं वर्णाश्रम से रहित शुद्ध स्वरूप हूँ, क्योंकि विवेक द्वारा मैं अपने-आपको शरीर से भिन्न केवल चेतनमात्र निश्चय कर चुका हूँ; और वर्णाश्रम केवल निर्वाह के लिए आचार्यों ने कल्पित किये हैं। इसलिए उनका बल देह अभिमान से है, आत्मज्ञानी से नहीं, क्योंकि मैं निश्चय से अपने-आपको देह निश्चयसे भिन्न जानता हूँ। इसलिए वर्णाश्रम के कर्मों व धर्मों का बल अथवा संयोग मेरे

Scanned with CamScanner

साथ नहीं। मैं इन कल्पित सम्बन्धियों, वर्णों और आश्रमों से रहित अनुभवमात्र हूँ। इस रीति से विचार कर जिज्ञासु अपने-आपको वर्णाश्रम के बन्धन से मुक्त करे।

प्रश्न ११—जिज्ञासु वर्णाश्रम अभिमानी के साथ किस प्रकार बरते?

उत्तर—वर्णाश्रम अभिमानी सदा अपने वर्णाश्रम के कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं। वे आत्म-जिज्ञासा और आत्मज्ञान से शून्य होते हैं। वे केवल कल्पित कर्मों में प्रवृत्त होकर अपनी महिमा मानते हैं और आत्मजिज्ञासु अथवा आत्मज्ञानी को दोषदृष्टि से देखते हैं। इसलिए आत्म-जिज्ञासु को उचित है कि वर्णाश्रम अभिमानियों के संग से पृथक् रहे। उनके साथ वाद-विवाद न करे और उनको अपने हृदय का अभिप्राय न सुनावे और न उनको अपनी चेष्टा दिखलावे। एकांत प्रदेश में उपराम और मौन होकर गुरु-उपदेश पर चले। यदि एक स्थान पर रहने का संयोग भी बने तो उदासीन और असंग होकर निर्वाह करे। शांति, मित्रता, धीरज और विचार सहित बर्ताव करे।

प्रश्न १२—गृहस्थाश्रम में मनुष्य को व्रत, एकादशी, यज्ञोपवीत, शिखा आदि कर्म प्रवृत्त करते हैं, सत्य जिज्ञासु के लिए क्या उचित है?

उत्तर—ये कर्म केवल वाह्यमुखी-गृहस्थाश्रम और वैदिक धर्म की रक्षा निमित्त पुरातन आचार्यों ने स्थापित किये थे। इनका फल साधारण तथा वाह्य है। केवल शुद्ध आचार और लोक मर्यादा के निमित्त ये जगत में चले आते हैं। इनके न करने से पाप नहीं होता और करने से विशेष पुण्य नहीं होता। केवल नित्य और निमित्तक कर्म हैं। इनसे अज्ञानी-जन अपने वर्णाश्रम धर्म में बंधे रहते हैं। जिज्ञासु के हृदय में जगत् और गृहस्थ से वैराग्य होने से केवल सत्यस्वरूप आत्मा में प्रेम होता है। वह विवेक बुद्धि से शरीर और शरीर के शुभ तथा अशुभ कर्मों को अनित्य निश्चय कर केवल आत्मा को नित्य मानता है। आत्मा को वह अपना आप मानता है। अपने को शरीर और शरीर के कर्मों से न्यारा, केवल सत्तामात्र निश्चय करता है। यदि जिज्ञासु इस प्रकार कर्त्ताबुद्धि से रहित, गृहस्थाश्रम के कर्मों में प्रवृत्त रहे, तो उसकी हानि नहीं। कर्त्ताबुद्धि हृदय में धारण न करे, उदासीन होकर अहंकार से रहित अपने वर्णाश्रम के कर्मों में बर्ताव करता रहे और अन्तर से आत्म-जिज्ञासा के द्वारा इन कर्मों के बन्धन से मुक्त रहे। यदि कदाचित् कोई शुभ कर्म उत्साह सहित होवे, उसमें पुण्यवृत्ति को अपनाकर हर्षित न होवे। यदि किसी निमित्त से कर्म न होवे, तो उसमें पाप-वृत्ति को अपनाकर शोकातुर न होवे। उदासीन अर्थात् असंग होकर शुभ कर्मों में बरतता रहे और अन्तर से अपने को अकर्त्ता निश्चय करे।

प्रश्न १३—शरीर के रोग तो शीघ्र निवृत हो जाते हैं, परन्तु मन के रोग यत्न से निवृत होते हैं। जो स्वभाव स्वभावरूप हो जाये, उनका निवृत्त होना दुःसाध्य है। इसलिए बुद्धिमान, पारदर्शी किसी स्वभाव को अपनी वृत्ति के साथ तदाकार नहीं करते। शरीर नश्वर है। इसका संयोग जीव को ऐसा दीन बनाता है, जिसका अन्त नहीं। शरीर के विषय जीव को बाँध लेते हैं। परमात्मा गुप्त वस्तु है। उसका आनन्द किसी पारदर्शी को प्रतीत होता है और विषयानन्द सबको अनुभव होता है। इसलिए जब सारी सृष्टि विषयानन्द में

Scanned with CamScanner

बँधी हुई है, जिज्ञासु किस पुरुषार्थ द्वारा सब ओर से मन को निरोध कर परमानन्द में स्थिति पावे ?

उत्तर—श्रद्धावान्, निर्मानचित्त, परमार्थ-मार्ग पर सप्रेम चलने वाले, सत्गुरु की आज्ञा को परमधर्म मान कर अपना जन्म सफल करने वाले, आत्म दर्शन के जिज्ञासु युवावस्था में विषयों से वैराग्य कर अपने चित्त को सदा परमात्म तत्त्व में स्थित रखें। मायारूपी नटनी के दाँव-पेच में मन को न फँसावें। सब जगत को मृग तृष्णा के जल के समान देखें। किसी विषय अथवा कोई पदार्थ को उत्तम जानकर अपना चित्त न लुभावें। गृहस्थ के मोह में मन को आसक्त न बनावें। शरीर की ममता अन्तःकरण में न लाएं। इस रीति से सब ओर से चित्त को निरोध कर परमानन्द स्वरूप में स्थिति पावें।

प्रश्न १४—शरीर से विरक्त होने की युक्ति क्या है ?

उत्तर—शरीर से वैराग्य की युक्ति यह है कि जिस समय अभ्यास के निमित्त बैठें, उस समय विवेक द्वारा देह को आत्मा से भिन्न करें अर्थात् यह विचार करें कि देह अनित्य है, जड़ है, अमंगलरूप है, अनेक वस्तुओं से रहित है, क्षणभंगुर है, अपवित्र और अविद्या-रूप है। आत्मा नित्य, चेतन, मंगलरूप, अकृत्रिम (अर्थात् किसी वस्तु से रचित नहीं) स्वतः सिद्ध, अखंड, पवित्र और ज्ञानस्वरूप है। इसलिए देह और आत्मा का सम्बन्ध नहीं। मैं आत्मा हूँ, क्योंकि शरीर, शरीर के धर्मों, कर्मों और इन्द्रियों को जानता हूँ। जानना धर्म चेतन का है। शरीर में आत्मा के बिना दूसरी कोई वस्तु चेतन नहीं है। इसलिए सिद्ध हुआ कि मैं चेतनरूप होने से आत्मा हूँ, क्योंकि आत्मा का शरीर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। मैं आत्मा हूँ, इसलिये मेरा शरीर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। जब इस रीति से आत्मा का निश्चय हो, उस समय निश्चल होकर स्थित हो जावे। यदि इस प्रकार निश्चल न हो सके, तो इस रीति से निश्चल होकर ओंकार-विचार द्वारा परमब्रह्म में स्थिति पावे। ओंकार शब्द ब्रह्म है। उसके अर्थों से जो ज्ञानस्वरूप सिद्ध होता है, वह परम ब्रह्म है। अर्थात् ओंकार के साथ एकता ब्रह्म के साथ एकता है। इस रीति से जो पुरुष सावधान होकर नित्यप्रति अभ्यास करता रहेगा तो क्रमशः शरीर का अभ्यास निवृत्त होकर आत्म-साक्षात्कार होगा। यही उपाय भवसागर से पार उतरने का है।

प्रश्न १५—हे भगवन् ! बुद्धि के निश्चल करने की युक्ति क्या है ?

उत्तर—हे शिष्य ! प्रथम यह सोचें कि बुद्धि किसे कहते हैं। बुद्धि नाम निश्चय का है। यदि निश्चय सत्य-वस्तु का हो तो बुद्धि अचल रहती है। यदि निश्चय असत्य वस्तु का हो तो बुद्धि विक्षिप्त होती है। सत्य-वस्तु आत्मा है और असत्य-वस्तु शरीर है। जब तक पुरुष अपने को सिर से पाँव तक शरीर-मात्र, विशेष नाम वाला, विशेष वर्णवाला, अमुक का पुत्र, कर्मों का कर्ता और उनके फल का भोक्ता मानता है, तब तक उसकी बुद्धि निश्चल नहीं होती। जब अपने को शुद्ध, चेतना, आत्मा, शरीर से रहित, नाम से भिन्न, वर्ण से न्यारा, पिता और पुत्र के सम्बन्ध से रहित, अकर्त्ता और अभोक्ता मानता है, उस समय बुद्धि अचल पद को प्राप्त होती है। दीर्घकाल के अभ्यास के उपरान्त बुद्धि की चंचलता निवृत्ति

Scanned with CamScanner

होती है। बुद्धि को चंचल करने वाली केवल शरीर की ममता है। जब ममता दूर हो जाए तब शान्ति और विश्राम है। इसलिए विचार द्वारा अपने स्वरूप में सावधान रहना ही बुद्धि की निश्चलता का सुगम उपाय है।

प्रश्न १६—माया से मुक्त होने का क्या उपाय है ?

उत्तर—माया से मुक्त होने का उपाय केवल आत्म-विचार है। इसलिए उचित है कि आत्मा का विचार रखें, स्वरूप से सावधान रहें, तब माया मित्र होकर सुख देगी। अज्ञान से माया ब्रह्मरूप भासती है। शरीर के अभिमान का नाम माया है। आत्माज्ञान से माया दूर हो जाती है। तात्पर्य यह कि अपने स्वरूप का अज्ञान ही माया है और ज्ञान ही इससे मुक्ति का उपाय है। इसके बिना दूसरा कोई उपाय माया से विमुक्त होने का नहीं। इसलिए उचित है कि खाते-पीते, चलते, सोते, जागते, बैठते, आत्म-चिन्तन में सावधान रहे। फिर माया घेर न सकेगी। माया का कोई स्वरूप नहीं। देह और जगत में मिलकर जो चित्त की फुरना है, वह माया है। जब चित्त परमात्मा का चिंतन करता है, उस समय ब्रह्मरूप होकर माया से पार हो जाता है। अतः अपने चिंतन को शुद्ध करें, तब कोई क्लेश नहीं रहेगा।

प्रश्न १७—अज्ञान रचित बन्धनों से मुक्ति का क्या उपाय है ?

उत्तर—जगत् के बन्धनों से मुक्त होने के उत्तम उपाय ये हैं—नित्य सत्गुरु-उपदेश में सावधान रहना। धन, स्त्री, पुत्र के मोह में न फँसना। व्यवहार को बाह्यमुखी दृष्टि से पूर्ण करते रहना। अन्तःकरण को गृहस्थ और व्यवहार की मल से शुद्ध रखना। सदा अपने आपको शरीर से भिन्न निश्चय करना। नाम और वर्ण में अभिमान न करना। सदा अपने वास्तविक स्वरूप को केवल निर्गुण, निराकार, ज्ञानमात्र, चिद्घन, निर्विकार, कूटस्थरूप ही स्मरण रखना। कदाचित् अविद्या से कल्पित व्यवहार व सम्बन्ध में न बाँधना। सत्गुरु के उपदेश को विस्मरण करना तो जगत के बन्धनों में बन्धना है। इस संसार को केवल संकल्प-मात्र जानना अपने को इस संकल्प से भिन्न इसके प्रकाश करने वाला मानना, कदाचित् अपने संकल्प के पीछे चलकर अपने को न भुलाना, किन्तु निरन्तर अपने को स्मरण रखना और सदा आत्मविद्या में स्थित होकर अविद्या का संग त्याग करना नित्य ही सुख और शान्ति का साधन है।

प्रश्न १८—रोग और दुःख के समय जिज्ञासु किस विचार से अपनी वृत्ति को अचल और दुख रहित करे ?

उत्तर—दुःख अथवा रोग के समय जिज्ञासु को विवेक से यह विचारना चाहिए कि शरीर के साथ मेरा सजातीय, विजातीय और स्वगत कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि शरीर पाँच तत्वों से रचित है और पाँच तत्व परस्पर विरोधी होने से रोग और दुःख के हेतु हैं। रोग और दुःख शरीर में रहते हैं इसलिए शरीर के धर्म हैं। मैं पाँचतत्व से न्यारा केवल बुद्धिस्वरूप हूँ, मेरा धर्म रोग अथवा दुःख नहीं है। मैं सदा शिवरूप अर्थात् कल्याणस्वरूप और दुःख रहित अर्थात् आनन्द स्वरूप हूँ। रोग अथवा दुःख का जो ज्ञान मुझमें प्रतीत होता है, वह भी मन की समीपता से मिथ्याज्ञान है। दूसरा, शरीर के संघात में केवल मैं ही चेतना हूँ।

Scanned with CamScanner

मेरी चेतनता के प्रकाश से सूर्य मंडल प्रकाशित होता है। जैसे सूर्य के प्रकाश से सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार मेरे ज्ञान के प्रकाश से सब सिद्ध होते हैं। इतने पर भी किसी के साथ मेरा सम्बन्ध नहीं है। मैं केवल चिदाकाशरूप हूँ। न रोग में घटता हूँ और न निरोग्य में स्थूल होता हूँ। न दुःख से व्याकुल होता हूँ, न सुख से तृप्त होता हूँ। सदा समान रूप अपने आप में स्थित हूँ। शरीर की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का प्रकाशक हूँ, परन्तु किसी अवस्था के गमन आगमन से मैं व्यभिचारी नहीं होता, क्योंकि आकार से शून्य, रूप से रहित केवल केवलीमात्र हूँ। इस रीति से जिज्ञासु विचार कर रोग अथवा दुःख के समय अपनी वृति को निश्चल रखे।

प्रश्न १९—भगवन् शरीर के होने पर भी किस विचार द्वारा शरीर के सम्बन्ध से मुक्ति प्राप्त होती है, जिससे शरीर का दुःख-सुख, राग और द्वेष का हेतु नहीं होता।

उत्तर—शरीर रोगों की खान है, सर्वदा इसकी यही अवस्था है। तुम्हारा स्वरूप शरीर से भिन्न है, क्योंकि तुम चेतन हो और शरीर जड़ है। तुम निराकार हो और शरीर आकार वाला है। तुम सत्यरूप हो और शरीर असत्य रूप है। तुम सूक्ष्म हो और शरीर स्थूल है। इसलिए तुम शरीर नहीं हो यह दृढ़ निश्चय रखो। जब शरीर को दुःख हो उस समय अपने स्वरूप को स्मरण करो, दुःख में अपने को न्यारा समझो। यदि बारम्बार अपने स्वरूप को विचारोगे तो शरीर के सम्बन्ध से मुक्त हो जाओगे। जिस प्रकार शरीर की मनौती तुम्हारे हृदय से निवृत हो जायेगी उसी प्रकार मान, वर्ण, आश्रम, जाति, मान, प्रताप आदि की प्रतीति भी विस्मरण हो जायेगी। जब इनसे मुक्त हो जाओगे तब स्त्री, पुत्र और दूसरे सम्बन्धियों की प्रीति भी नष्ट हो जायेगी और मन स्वाभाविक ही शान्तरूप हो जायेगा। अतः उचित है तुम अपने वास्तविक स्वरूप का बारम्बार स्मरण करो। शरीर के साथ मिलकर अपने-आपको कर्मों का कर्ता क्यों मानते हो? तुम तो कर्मों के साक्षी हो इन्द्रियाँ अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्ति रहती हैं। तुम अपने को भूलकर दूसरे के धर्मों और कर्मों को अपने में मान रहे हो। इसलिए दुःख और शोक का अनुभव करते हो। आपको सम्भालो; अपने को शरीर के अभिमान के जाल से निकालो, जिससे सुख व दुःख से राग व द्वेष उत्पन्न न हों।

प्रश्न २०—हर्ष-शोक की उत्पत्ति कैसी होती है और उससे मुक्ति कैसे प्राप्त होती है?

उत्तर—मन की वृत्ति सबसे चंचल है। क्षण-क्षण में व्यभिचारी होती रहती है। पाँच इन्द्रियों के मार्ग से निकलकर पाँच विषयों के साथ सम्बन्ध करती है। विषयों को पाकर हर्षित होती है और विषयों के वियोग में शोकातुर होती है। संयोग-वियोग विषयों का क्षण-क्षण में होता रहता है। इससे हर्ष-शोक भी क्षण-क्षण में वृत्ति का संगी रहता है। यही भारी दुःख है। हर्ष शोक की निवृति के बिना शांति, समता, प्रसन्नता और तृप्ति नहीं होती। हर्ष-शोक तब निवृत्त होगा जब वृत्ति को विषयों के संग और स्मरण से उपरत किया जावे। उपरत विवेक और वैराग्य से होती है। इसलिए जिज्ञासु विवेक और वैराग्य के द्वारा अपनी

Scanned with CamScanner

वृत्ति को इन्द्रियों और विषयों के संग से उपरत रखे, जिससे हर्ष-शोक से मुक्त रहे। जब हर्ष-शोक निवृत्त हो जायेंगे तब सम अवस्था प्राप्त होगी। वही आत्मा का स्वरूप है। इसलिए सावधान होकर अपनी रक्षा आप करनी चाहिए।

प्रश्न २१—जिज्ञासु का कल्याण महात्मा की कृपा से होता है या निजी पुरुषार्थ से ?

उत्तर—यद्यपि महात्मा की कृपा से जिज्ञासु का कल्याण होता है तथापि जिज्ञासु जब तक महात्मा के उपदेश को पूरा-पूरा न कमावे, तब तक केवल उनकी कृपा से कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। यदि गुरु की कृपा और शिष्य का पुरुषार्थ एकत्र हो जावें तो संसार से उद्धार हो सकता है अन्यथा इसी प्रकार कहते-कहते आयु समाप्त हो जाती है, और माया के जाल किसी रीति से खण्डित नहीं होते। आयु अल्प और नश्वर है और संशय का सागर विस्तीर्ण और अपार है। इससे शीघ्र ही पार उतरने का उपाय करना उचित है। ढील और आलस्य करना उचित नहीं। मृत्यु शरीर को सर्वदा नष्ट कर रही है। इसका भय रखना ही कल्याण का हेतु है।

प्रश्न २२—जिज्ञासु का कल्याण किस उपाय से होता है ?

उत्तर—जिज्ञासु को चाहिए कि सर्वदा सत्गुरु को सन्मुख जानकर उनके उपदेश के मनन और निदिध्यासन में सावधान रहे, क्योंकि जिज्ञासु का कल्याण केवल इसी धर्म से होता है। यदि जगत के धन्धों में प्रवृत्त होकर सत्गुरु के उपदेश को न कमाये तो दूसरे मूर्खों की नाँई संसार रूपी महाघोर वन में भटक-भटककर क्लेश और दुःख सहारता रहेगा। इसलिए जिज्ञासु अपनी वृति के सुधार का यत्न करता रहे और जो-जो उपदेश सत्गुरु से सुने, उसे स्मरण कर अपने मन में बसावे और सावधान होकर उसे कमावे। शरीर का कोई भरोसा नहीं। शीघ्र ही अपने स्वभावों को सँवारना, अपने स्वरूप में निष्ठा को दृढ़ करना उचित है।

प्रश्न २३—सत्यविद्या, सत्गुरु-प्रीति और निर्दंभ श्रद्धा से जिज्ञासु को क्या फल मिलता है ?

उत्तर—इस मरुस्थल संसार में जिज्ञासु नित्य सुगन्धित और प्रफुल्लित वृक्ष की नाँई रहता है। देहाभिमान रूपी ग्रीष्म ऋतु के तापसे अज्ञान रूपी महाशून्य और शुष्क वन की शून्यता में गृहस्थाश्रम की अनन्त वृतियाँ रूपी संतप्त बालू की उष्णता से अपने सौभाग्य, प्रफुल्लता और स्थिरता का त्याग नहीं करता। ऐसा वृक्ष ही दूसरे पंथियों और मार्गवासियों का ताप निवृत्त करके सुख और शांति का हेतु होता है। इसलिए जो वृक्ष स्थितमूल, प्रफुल्लित पत्र, शीत छायायुक्त, सत्गुरु भक्ति, प्रेम, श्रद्धा और सेवा रूपी पुष्पों से सुशोभित, दृढ़निष्ठा, आत्मस्थिति, समता और मुदता रूप फलों से मंगलीक तरुवर है, वह सदा इन विशेषणों सहित अपने आप में मग्न रहता है।

प्रश्न २४—जिज्ञासु की श्रद्धा किन कर्मों से प्रतीत होती है ?

उत्तर—जिज्ञासु की श्रद्धा कष्ट सहारने, सेवा करने, यात्रा करने, सम्बन्धियों से दूर

Scanned with CamScanner

होने, धन का त्याग करने, व्यवहार से उपरत होने और केवल सत्गुरु की इच्छा पूर्ण करने से प्रतीत होती है।

प्रश्न २५—जिज्ञासु को सत्गुरु के पास चलकर जाना चाहिए है अथवा सत्गुरु को अपने पास बुलाना ?

उत्तर—जिसको उत्कट जिज्ञासा होती है, वह सब कष्ट सहारकर जहाँ सत्गुरु होते हैं, उस स्थान पर जाकर संग करता है। यह बात वैसे उचित नहीं कि विरक्त, त्यागी, तृप्त-चित्त महापुरुष गृहस्थियों, धनवानों, व्यवहारियों और मूर्खों के ग्रामों तथा द्वारों पर भटकते फिरें। यद्यपि परोपकार वृत्ति है, किन्तु उपकार भी भेद दृष्टि में है। अभेददर्शी पर्वत के समान अचल रहते हैं। ऐसे महापुरुषों को बुलाना उचित नहीं, किन्तु उनके पास चलकर जाना वेक है।

प्रश्न २६—युवावस्था महाअनर्थरूप है। मन पाँच इन्द्रियों सहित प्रबल होकर अपने करतूत प्रकट करता है और कुसंग भी स्वाभाविक प्राप्त हो जाता है, इससे जिज्ञासु की रक्षा कैसे हो ?

उत्तर—जिज्ञासु को उचित है कि युवावस्था में सत्गुरु के उपदेश का भय रखे कुसंग से दूर रहे। मन को विषयों के चिंतन से रोककर परमात्मा के चिंतन में लगावे। प्रेमसहित परमेश्वर की भक्ति करे। गोविन्द-गीत का गायन करे। विकार को त्यागकर विचार का आश्रय ले। सब ठौर सत्गुरु को सम्मुख देखे। मन की प्रतीत न करे मन, विषयी, विकारी, लोभी, झूठा और चंचल है, इसकी संगति से दूर रहे। वैराग्य, विचार, संतोष, जत, सत्संग और प्रेम को मित्र बनाकर रखे। इस रीति से जो जिज्ञासु बर्ताव करेगा वह सुख से युवा-वस्था से भी पार हो जायेगा।

प्रश्न २७—वृद्धावस्था में किस विचार से पुरुष मोह से मुक्त होता है; और किस साधन के अभ्यास से ज्ञान को पाकर सुखसहित अपना काल व्यतीत करता है ?

उत्तर—शरीर की ऐसी अवस्था है कि देखते-देखते भुजाएँ टूट जाती हैं, अंग क्षीण होते जाते हैं, बुढ़ापा आ जाता है। एक दिन ऐसा होगा कि शरीर सूखी लकड़ी की नाईं पृथ्वी पर गिर पड़ेगा और सम्बन्धी उसको आग में जला देंगे। इसलिए उचित है कि जब तक शरीर का प्राण के साथ संयोग रहे और इन्द्रियाँ अपने-अपने कर्मों को करती रहें, तब तक चित्त को सम्बन्धियों के मोह से रोककर केवल परमात्मा के ध्यान में स्थित रखे, जिससे जन्म का सुधार हो। सम्बन्धियों का मोह सुख नहीं देगा। सारी आयु उनके पालन और प्रीति में नष्ट हो जायेगी। इसलिए जितना काल शरीर रहे उतना काल सत्संग में स्थिर होकर सत्यधर्म का सेवन, सत्यशास्त्रों का श्रवण और सत्य-परमात्मा का स्मरण और ध्यान उचित है, क्योंकि अज्ञान रूप रोग की सबसे उत्तम औषधि यही है। इसलिए इसे सेवन कर अपने मन को नीरोग बनावे और वृद्धावस्था में मान पाकर काल के भय से मुक्त होवे।

प्रश्न २८—मन और इन्द्रियों के वश में करने का क्या उपाय है ?

उत्तर—विचार।

Scanned with CamScanner

प्रश्न २९—विचार कितने प्रकार का है ?

उत्तर—विचार दो प्रकार का है—परमार्थ-विचार, और अर्थ-विचार।

प्रश्न ३०—परमार्थ विचार का स्वरूप क्या है और अर्थ-विचार का क्या है ?

उत्तर—परमार्थ विचार का स्वरूप आत्मचिन्तन, आत्म-मनन और आत्म निदिध्यासन है। तात्पर्य यह कि वास्तवस्वरूप में निरन्तर वृत्ति का प्रवाह परमार्थ-विचार है। अर्थ-विचार का स्वरूप अनात्म-चिन्तन, अनात्म मनन और अनात्म निदिध्यासन है। तात्पर्य यह कि शरीर, विषय, धनादि सामग्री में वृति का निरन्तर प्रवाह अर्थ-विचार है।

प्रश्न ३१—अर्थ-विचार की ओर वृत्ति स्वाभाविक और निर्यत्न प्रवृत्त होती है और परमार्थ-विचार यत्नसहित भी प्रवृत्त नहीं होती। इसका क्या हेतु है ? किस उपाय से वृत्ति परमार्थ विचार में स्थित हो ?

उत्तर—अर्थ-विचार की अधिकता और परमार्थ-विचार की न्यूनता ही इसका कारण है। तात्पर्य यह कि जन्म से ही मनुष्य व्यवहारी, अर्थ-सेवी देहाभिमानी, गृहस्थी और धनासक्त पुरुषों के संग में रहकर उनके वचनों का श्रवण करता है। उन वचनों के संस्कार देह तथा मन में परस्पर स्वभावरूप हो जाते हैं, क्योंकि उन संस्कारों के मनन और निदिध्यासन में इसको रस और लाभ प्राप्त होता है। इसलिए अर्थ-विचार में वृति निर्यत्न ही प्रवृत रहती है। परमार्थ-विचार केवल विरक्त, त्यागी, ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्मश्रोत्री, पूर्णपुरुष के वचनों से हृदय में प्रवेश करता है। ऐसे पुरुषों का संग सौभाग्य और संयोग से प्राप्त होता है। ऐसे महापुरुष का संग जन्म से प्राप्त नहीं होता। उनके वचन सूक्ष्म, गम्भीर और नवीन प्रतीत होते हैं। हमारी वृति चिरकाल से स्थूल पदार्थरूप होने से अर्थविचार के अभ्यास में ऐसी प्रवृत रहती है कि पदार्थरूप होकर स्थूल हो जाती है। इसलिए महात्माओं के सूक्ष्म वचनों के धारण करने में हमारी वृत्ति अपने की निर्बल मानकर उनकी प्रवृति में यत्नारूढ़ नहीं होती। जब अर्थ-विचार के समान चिरकाल पर्यन्त परमार्थ-विचार का अभ्यास रहे, तब वृत्ति जैसे अर्थ-विचार में स्वाभाविक, और निर्यत्न प्रवृत हो जाती है, वैसे ही परमार्थ-विचार में स्वाभाविक और निर्यत्न प्रवृत्त होगी। इसलिए परमार्थ-विचार की दृढ़ता का उपाय परमार्थ-विचार का अभ्यास है। अर्थ-विचार की विस्मृति का उपाय भी परमार्थ-विचार का बारम्बार स्मरण है। तात्पर्य यह कि विचार से विचार का शुद्धि होती है। विचार अद्वैत है। वही अर्थ सहित दुःखरूप है और परमार्थ सहित सुखरूप है। उपाधि के संग से एक ही विचार उभय प्रकार का होता है। जब शरीर के साथ तदरूप होकर विचरता है, तब अर्थ-विचार की संज्ञा से दुःखरूप, मिथ्या, कल्पित और बंधन का निमित्त कहा जाता है। जब आत्मा के साथ तदरूप होकर विचरता है, तब परमार्थ-विचार की संज्ञा से सुखरूप, सत्य, यथार्थ और मोक्षदायक प्रतीत होता है। इसलिए उपाधि में भेद है विचार में भेद नहीं है। अतः विचार को अर्थ-उपाधि से शुद्ध कर केवल विचार में लगावे। तात्पर्य यह जब जिज्ञासु अन्य विचार को त्याग कर अपना विचार करता है, तब यही विचार आत्मारूप होकर परमार्थ गति को प्राप्त होता है। विचार के बिना आत्मा का स्वरूप और कोई नहीं तथा

Scanned with CamScanner

विचार से बिना परमार्थ का स्वरूप भी और कोई नहीं। विचार और चेतन यथार्थ शब्द हैं। उपाधि भेद से जैसे चेतन को जीव और ब्रह्म की संज्ञा शास्त्रकारों ने दी है वैसे ही उपाधि-भेद से अर्थ विचार और परमार्थ-विचार की संज्ञा शास्त्रकारों ने विचार को दी है। विचार और चेतन दोनों एक रूप हैं, इसलिए अर्थ-विचार ही जीवरूप है और परमार्थ विचार ही ब्रह्मरूप है। अर्थ और परमार्थ के भेद से एक वस्तु दो पदों को प्राप्त हो रही है। वास्तव में अद्वैतरूप है। उपाधि भेद से भययुक्त होकर संसार मंडल को सुशोभित और मंगलमय बना रही है। जब विचाररूप चेतन अपनी स्फुरण शक्ति को त्यागकर केवल सत्तामात्र में स्थित होता है तब अपना स्वरूप पाकर परमार्थ गति प्राप्त करता है। इसलिए ऊपर लिखा गया है कि विचार से विचार की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह कि आत्मा से आत्मा की प्राप्ति होती है। सजातीय सम्बन्ध के बिना प्राप्ति असम्भव है। इसलिए विचार का सजातीय विचार जब अपनी स्थिति के लिए प्रवृत होता है तब आप-ही-आप में स्थित होकर अपने आह्लाद और प्रसन्नता शक्ति का अनुभव करता है। इस प्रकार जिज्ञासु परमार्थ विचार के अभ्यास से अर्थ-विचार को निर्बल करे। यथार्थ-ज्ञान श्रवण ही केवल परमार्थ विचार का हेतु है। इसलिए यथार्थज्ञानी का संग ही परमार्थ विचार की दृढ़ता का उत्तम उपाय है। अर्थ-विचार की दृढ़ता और परमार्थ-विचार में प्रवृत्त न होने का हेतु केवल व्यवहारी और अर्थ-सेवी पुरुषों का संग है। जो पुरुष यह चाहता है कि मेरी वृत्ति में परमार्थ-विचार अधिक हो, से उचित है कि परमार्थ-सेवी, परमार्थ-दर्शी, परमार्थ-स्थित अथवा परमार्थ-स्वरूप पुरुषों का संग कर उनके वचनों को श्रवण करे। यदि श्रवण से विचार प्रवाहरूप हो जाये तो ठीक उन वचनों का बारम्बार मनन कर परमार्थ-विचार को नदी के वेगवत् प्रवाहरूप करे, जिससे अर्थ-विचार का प्रवाह धीमा होकर परमार्थ विचार में लीन हो जावे। यदि मनन से भी परमार्थ-विचार स्थिर न हो तो दृढ़ और कष्टसाध्य यत्न कर वृति को सब ओर से रोककर निर्वात दीपक की तरह यथार्थ वचनों के आकार बनाए और सावधान होकर वासनारूप वायु से अपनी वृति की रक्षा करे। यथार्थ-स्वरूप के विचार के बिना अपनी वृत्ति को दूसरी ओर फुरने की आज्ञा न देवे। दिन और रात इस रीति से अपनी वृति पर दंड रखे। इसी का नाम निदिध्यासन है। ऐसे निदिध्यासनरूप परमसाधन से वृति परमार्थरूप होकर निरन्तर ही परमार्थ में स्थित रहेगी। जब वह नित्य परमार्थ में स्थित रहती है, इसी का नाम साक्षात्कार है। जब परमार्थ का साक्षात्कार हुआ तब अन्तर बाहर परमार्थ ही परमार्थ प्रतीत होगा। इस रीति से परमार्थ विचार की स्थिति होती है।

प्रश्न ३२—परमार्थ विचार और अर्थ विचार का फल क्या है?

उत्तर—परमार्थ विचार का फल यथार्थ ज्ञान, उत्तम स्वभाव, जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति है। अर्थ-विचार का फल व्यवहार-ज्ञान, चतुराई बंधन और संशय-आसक्ति है।

प्रश्न ३३—इन दोनों विचारों में कौन-सा विचार अपनाने योग्य है?

Scanned with CamScanner

उत्तर—परमार्थ-विचार अपनाने योग्य है, परन्तु शरीर का निर्वाह अर्थ-विचार के बिना नहीं हो सकता। इसलिए अर्थ-विचार को भी शरीर के निर्वाह लिये अल्पमात्र अपनाना उचित है। तात्पर्य यह है कि वृत्ति को निरन्तर परमार्थ में स्थित रखे। शरीर के भोजन छादन के लिए जो व्यवहार सिद्ध करना पड़े, उसे भी विचार धैर्य, गम्भीरता, धर्म और मर्यादा सहित सिद्ध करे। विचार सहित अर्थ व्यवहार भी सुखदायक होता है। व्यवहार का मूल शरीर है, जब तक इसका संयोग है तब तक व्यवहार का अत्यन्त अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रियों की चेष्टा का नाम ही व्यवहार है। जब तक प्राण शरीर में स्थित हैं तब तक इन्द्रियाँ अन्तःकरण अपने-अपने व्यवहार में सावधान हैं। इसलिए प्राण और शरीर का सम्बन्ध ही व्यवहार अर्थात् अर्थ-स्वरूप है। जो चेतन प्राण, अन्तःकरण, इन्द्रियों और शरीर का आधार है और नित्यस्थित है, वह परमार्थ स्वरूप है। इसलिए शरीर दिशा में व्यवहार और परमार्थ का विचार अवश्य करना पड़ता है। परमार्थ विचार सत्य, अविनाशी, सुखरूप और स्वाधीन है। अर्थ विचार असत्य, नश्वर, दुःखरूप और पराधीन है। पारदर्शी परमार्थ विचार में बुद्धि को स्थित कर शरीर का व्यवहार भी परमार्थ विचार करते हैं। तात्पर्य यह है कि चेतन को यथार्थ निश्चय कर शरीर और शरीर के व्यवहार को उसमें कल्पित देखते हैं। इससे व्यवहार काल में भी यथार्थज्ञानी को खेद नहीं होता। नित्य ही परमार्थ दृष्टि में स्थित रहता है और परमार्थ स्वरूप को अपना आत्मा निश्चय करता है। विचार को अपनी शक्ति मानकर शरीर के भोजन और छादन का व्यवहार भी इसके द्वारा सिद्ध करता है। इस प्रकार दोनों प्रकार के विचारों को युक्ति सहित अपनाकर देह के होते हुए विदेह हो जाता है।

प्रश्न ३४—इस संसार में अर्थ व परमार्थ किसके द्वारा सिद्ध हो रहा है?

उत्तर—इस संसार में सत्य-प्रतीति के समान कोई धर्म नहीं। जगत के सारे व्यवहार प्रतीति के द्वारा चलते हैं और परमार्थ भी प्रतीत के आसरे है। जैसे एक नाम के ऊपर प्रतीत करने से पुत्र, स्त्री, धन, पृथ्वी, पशु और मन्दिर उसी नाम के कहे जाते हैं तथा वही नाम सब लोक और राज्यद्वार में प्रसिद्ध होकर नामधारी को मान अथवा अपमान दिलाता है। नाम कल्पित है। जब कल्पित पर सत्य प्रतीत करने से उसका जगत के सारे पदार्थों को सम्बन्ध हो जाता है तो जो अपने शुद्ध स्वरूप पर प्रतीत करे उसके शुद्ध स्वरूप होने में क्या संशय है।

दृष्टांत—जैसे एक ब्राह्मण अपने ब्राह्मण जगत को नेत्रों से नहीं देखता, केवल दूसरे लोगों से सुनकर उसको निश्चय होता है कि मैं ब्राह्मण हूँ। उस निश्चय के बल से वह क्षत्रिय और वैश्य घरों में इतना मान और आदर पाता है। केवल ब्राह्मण-प्रतीति ने उसको इतना मान और आदर दिया। यद्यपि उसका ब्राह्मणत्व कल्पित और मिथ्या है, परन्तु प्रतीति के बल से ब्राह्मणत्वरूप अपने मानने वाले दूसरे लोगों की आँख में पूज्य और आदर योग्य बन रहा है। वैसे ही हमारा वास्तव स्वरूप शुद्ध चेतन ब्रह्म है। जो ब्राह्मण की प्रतीत की नाईं उसके ऊपर अपनी प्रतीत को दृढ़ करे, तो वह सारे संसार में पूज्य और सबको आत्मा

Scanned with CamScanner

हो जाए। इसलिए उचित है कि मिथ्या प्रतीत को त्यागकर सत्य प्रतीत को अपना मित्र बनावें। मिथ्या प्रतीत के अर्थ नाम, जाति वर्ण, आश्रम, कुल, देश और मान की प्रतीति है। यह प्रतीत कल्पित होने से मिथ्या है। सत्यस्वरूप के अर्थ हैं सत्यस्वरूप आत्मा। तात्पर्य यह कि सब मिथ्या प्रतीति के त्याग उपरान्त जो शेष रहता है, वह सत्य है, उसको अपने आप जानकर उस पर प्रतीत करनी। उसका नाश कदाचित् नहीं होता, क्योंकि वह त्रिकालाबाध है, सर्व विकारों से रहित है। ऐसे स्वरूप पर प्रतीत रखनी सत्य प्रतीत है। यही सत्य प्रतीत जगत के सब दुखों से मुक्त करके परमानन्द की प्राप्ति कराती है।

प्रश्न ३५—परमार्थ-प्रीति की अधिकता किस उपाय से होती है जिसके फलस्वरूप ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है?

उत्तर—व्यवहार और परमार्थ का विरोध है। एक समय एक सिद्ध होता है, दोनों सिद्ध नहीं हो सकते। इसलिए प्रेमी जिज्ञासु कुछ काल व्यवहार त्यागकर परमार्थ का सेवन करते हैं। यदि कोई दोनों को इकट्ठा सिद्ध करना चाहे, वह सिद्ध नहीं होता। अज्ञानी जन व्यवहार को उत्तम जानते हैं और ज्ञानी जन परमार्थ को। व्यवहार विक्षोभ का हेतु होने से बंधन रूप है और परमार्थ एकाग्रता का हेतु होने से मुक्तिस्वरूप है। इसलिए व्यवहार त्यागने योग्य है और परमार्थ ग्रहण करने योग्य। परमार्थ केवल परमार्थ-दर्शी के संग से प्राप्त होता है। व्यवहारियों को संगति से परमार्थ का नाश होता है, सत्संग की प्रीति घट जाती है और धन की प्रीति अधिक हो जाती है। इससे व्यवहारी की संगति का त्याग ही परमार्थ की अधिकता का उपाय है।

२. अभ्यास महाबलवान है, जिस ओर दृढ़ होकर अभ्यास किया जाये, वही काम पूर्ण होकर शांति और लाभ देता है। जगत् अभ्यासरूप है। सब पदार्थ जड़ अथवा चेतन अभ्यास में लगे हुए हैं। इसी से जगत् अपनी मर्यादा में स्थित चला आता है। यदि अभ्यास का त्याग हो जावे तो जगत् की शोभा नष्ट हो जावे। इसलिये अभ्यास ही जगत का रक्षक और प्रतिपालक है। भिन्न-भिन्न कर्मों का अभ्यास भिन्न-भिन्न फलों का दाता है। व्यवहारिक अभ्यास व्यवहार को पुष्ट करता है। इसका फल विषयानन्द है। अतः उत्तम जिज्ञासु परमार्थ अभ्यास में अपने तन और मन को लगाकर ब्रह्मानन्द का लाभ उठाते हैं। वह मनुष्य का परम प्रयोजन है।

प्रश्न ३६—किस शास्त्र का विचार तथा श्रवण करना उचित है?

उत्तर—जगत में शास्त्र बहुत हैं और बहुत लोग कहने और लिखने वाले हो चुके हैं और होंगे। यह वार्ता भी प्रवाहरूप से चली आती है, कोई नवीन बात नहीं। जिस शास्त्र के वचन, दृष्टान्त और प्रमाण उत्तम और हृदयंगम प्रतीत होवें, उनका मनन और निदिध्यासन करना उचित है, क्योंकि श्रेष्ठता केवल धारणा में है। धारणा के बिना शास्त्र ज्ञान पंगु है। श्रवण मनन के बिना निरर्थक है। जब तक शास्त्रज्ञान को हृदयंगम कर उसके अनुसार अपनी अवस्था न बनाई जावे तब तक शास्त्र के सुनने, पढ़ने और विचारने का फल कुछ नहीं। इसलिए जिज्ञासु को उचित है कि श्रवण करके मनन और निदिध्यासन प्रवृत्त हों, जिससे

Scanned with CamScanner

गृहस्थ से उदासीनता और संसार से वैराग्य उत्पन्न होने पर चित्त को ब्रह्मानन्द में मग्न रखे। उत्तम शास्त्र वही है, जिसके द्वारा कल्पित सम्बन्ध और देह अभ्यास की निवृत्ति से यथार्थ-ज्ञान और असंग की प्राप्ति हो। अन्यथा शास्त्र जगत में अनन्त हैं। ऐसे भी हैं, जो आज तक प्रसिद्ध नहीं हुए और ऐसे भी बहुत हैं जो प्रसिद्ध होकर लोगों में प्रचलित हो रहे हैं। अतः किस-किस को सुनकर अपने मन को बहलायेंगे। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न शास्त्रों के श्रवण करने से वृत्ति संशय और विपर्यय में पड़कर यथार्थ-ज्ञान से विमुख हो जाती है। इसलिए सबसे श्रेष्ठ, महत्वपूर्ण और मोक्षदायक शास्त्र केवल सत्गुरु का उपदेश है। उनके उपदेश से शास्त्रों का यथार्थ बोध होता है अन्यथा शास्त्र भी पुरुष को संशयरूपी वन में भटकाते हैं। इसलिए गुरुमुख द्वारा शास्त्रों का श्रवण, यथार्थ-बोध और परमानन्द की प्राप्ति का हेतु है, किन्तु अपनी बुद्धि द्वारा शास्त्रों को विचारना, संशय, विपर्यय, शंका, तर्क और चंचलता का हेतु है। इसलिए उचित यह है कि केवल यथार्थज्ञानी, यथार्थ-दर्शी, यथार्थ-निष्ठावान् और यथार्थ-उपदेशक के वचन पर श्रद्धापूर्वक प्रतीत करके अपना कल्याण करें। शास्त्रों रूपी महाघोर वन में भटक-भटककर अपनी आयु और बुद्धि को व्यर्थ में नष्ट न करें।

प्रश्न ३७—शास्त्रों में कितने प्रकार के वचन हैं, और वे किस निमित्त से भिन्न शास्त्रकारों ने भिन्न-भिन्न लिखे हैं ?

उत्तर—शास्त्रों में तीन प्रकार के वचन होते हैं। भयानक, रोचक और यथार्थ। जन्म-मरण, आवागमन, तर्क आदि भयानक वचन हैं। स्वर्ग, ब्रह्मलोक, मुक्ति आदि रोचक वचन हैं। न उत्पत्ति, न लय, न बंधन, न मुक्ति, यह यथार्थ वचन हैं। भयानक और रोचक विषय कल्पित एवं निरर्थक हैं, इसलिए त्यागने योग्य हैं। केवल यथार्थ वाक्य निश्चय करने योग्य हैं। और सत्यमार्ग की ओर प्रेरणा के लिए पुरातन और नवीन आचार्यों तथा शास्त्र-कारों ने भयानक और रोचक वाक्य स्वभाव की शुद्धि का निरूपण किया है, क्योंकि युवा-वस्था के विषयरस में बंधा हुआ अभिमानी पुरुष भय और लोभ के बिना सत्यमार्ग पर आता है और यथार्थ-ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करता है, तब भयानक और रोचक को कपोल कल्पित और मिथ्या निश्चय कर यथार्थ को सत्य मानता है। इसलिए उचित है कि शास्त्रों के वचनों को यथार्थ बुद्धि रूप छाननी शुद्ध करे। केवल व्यवहार की शुद्धि के लिए यह वचन हैं। जैसे सरकार प्रजा की शुद्धि के निमित्त कानून बनाती है, वैसे ही महा-त्माओं ने तीन प्रकार के वचन लिखे हैं। वास्तव वस्तु अपने आप में स्थित है।

प्रश्न ३८—शास्त्र विचार के समय जिज्ञासु को किस वृत्ति को अपनाए कि संशय की निवृति, आत्मा की प्राप्ति और स्वभावों की शुद्धि हो ?

उत्तर—शास्त्रों के विचार में विवेक बड़ा आवश्यक है, क्योंकि शास्त्रकार अपने शास्त्र की प्रसिद्धि और स्थापना के लिए नाना प्रकार के दृष्टांत, इतिहास, प्रसंग, प्रमाण और युक्तियाँ देते हैं। भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न पुरुष एक ही मत के पुस्तक बनाते हैं, परन्तु उनमें भेद होता है। पाठक उन शास्त्रों को देखकर संशयालु हो जाता है और किसी वचन पर प्रतीत नहीं कर सकता। इसलिए शास्त्र-विचार के समय विवेक को अपना

Scanned with CamScanner

मित्र बनावें। जिस वचन के समझने में संशय की निवृत्ति हो, आत्मा की प्राप्ति हो तथा स्वभाव शुद्ध हों, उस वचन को अंगीकार करें। उससे भिन्न सारे वचन विस्मरण कर देवें, उसी पुरुष को शास्त्रों का विचार सुखदायक होता है।

प्रश्न ३९—भावना से सब कुछ मिलता है—यह कथन कहाँ तक सत्य है ?

उत्तर—यह सत्य है कि भावना बड़ी बलवती होती है। मोक्ष भावना वाले मोक्ष प्राप्त करते हैं और जगत भावना वाले जागत को प्राप्त करते हैं, क्योंकि अनुभव कल्पवृक्ष है, इसमें स्थित होकर जैसी-जैसी भावना की जाये, वैसा-वैसा फल प्राप्त होता है। जो शुद्ध अन्तःकरण वाले हैं और भावना भी पावन रखते हैं, उसका फल उनको उपरति और मुक्ति मिलती है। वे एकाकी होकर जीवनमुक्ति का सुख प्राप्त करते हैं। और परम अगाध, आनन्द समुद्र में लीन होकर शाश्वत शान्ति प्राप्त करते हैं। इसलिए भावना शुद्ध रखनी चाहिए।

प्रश्न ४०—वह कौन-सा गुण है, जिसके द्वारा हृदयाकाश में ज्ञानरूप भाव प्रकाशित हो जाता है और सब संशयों से रहित होकर उत्तम गति पाता है ?

उत्तर—श्रद्धा, विद्या, और सतता। जिस हृदय में इनका निवास होता है, उस हृदय में ऐसा प्रकाश होता है कि अणु-अणु उसकी दृष्टि में भानुवत् प्रकाशित होकर ऐसा दिखाई देता है, जिसमें द्रष्टा और दृष्टि की समाई नहीं। श्रद्धा प्राप्तरूप वस्तु है, परन्तु उसकी मित्रता और सहायता के बिना अप्राप्त की नाँई प्रतीत होती है। जब वह सहायक होकर सत्गुरु की शरण ले आती है और मित्र होकर सत्गुरु की मूर्ति को हृदय में जमाती है तथा उनके वचन को सत्य प्रतीत कराती है, उस समय उनके वचनों का तात्पर्य रूप अनुभव उसे प्राप्त होता है। उससे वह कृत्य-कृत्य होकर आनन्द मनाती है। इसलिए तू धन्य है अणु को सूर्य बनाना, राई को पर्वत करके दिखाना, लघु को दीर्घ बनाना, बिन्दु को समुद्र का निश्चय कराना इसी का काम है। इसलिए जिज्ञासुओं को चाहिए कि हृदय में सदा श्रद्धा अंकुरित रखें !

प्रश्न ४१—ज्ञानरूपी बीज़ किस धरती में अंकुरित होकर प्रफुल्लित होता है ?

उत्तर—श्रद्धारूपी धरती में ज्ञानरूप बीज़ अंकुरित होता है, क्योंकि ज्ञान का स्वरूप केवल सत्गुरु का वचन है और वचन की स्थिति सत्य प्रतीत के बिना नहीं हो सकती। इसलिए सत्य प्रतीत ज्ञान की उत्पत्ति और स्थिति का कारण है और प्रतीत तथा श्रद्धा एक अर्थ वाले शब्द हैं। अतः श्रद्धा को अपना सत्गुरु के वचन पर निश्चय रखना यथार्थ-ज्ञान की प्राप्ति का श्रेष्ठ और सुगम साधन है। इसलिए धन्य है वह बुद्धि, जो इस मरुस्थल संसार में श्रद्धा से मिलकर विवेक, वैराग्य, समता, संतोष, सत्गुरु-सेवा, मोक्षेच्छा आदि शीतल, प्रफुल्लित, सुगन्धित और रसदायक वृक्षों की फुलवारी ही बना देती है, जिससे शांति छाया है और तृप्ति फल है। इसलिए उचित है कि सब जिज्ञासुजन अपनी बुद्धि को श्रद्धामयी बनावें।

Scanned with CamScanner

प्रश्न ४२—यदि मोटी बुद्धि या मंद बुद्धि हो तो क्या ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है?

उत्तर—मोटी बुद्धि का भय नहीं, खोटी श्रद्धा का भय है। यदि श्रद्धा सच्ची हो और बुद्धि मोटी हो तो भी ज्ञान की प्राप्ति और संशय की निवृत्ति हो जाती है। यदि श्रद्धा मलिन हो तो विपरीत-ज्ञान होकर संशय को परिपक्व और दृढ़ करता है, इसलिए बुद्धि से श्रद्धा उत्तम और श्रेष्ठ है। श्रद्धावान ज्ञानवान हो जाता है, किन्तु श्रद्धा से शून्य बुद्धिमान् अज्ञान-रूप महाघोर वन में ठोकरें खाता है। अतः श्रद्धा को स्थिर रखना जिज्ञासु का परमधर्म है। जब श्रद्धा दृढ़ होकर वचनों का मनन और निदिध्यासन करेगी, तब बुद्धि यत्न के बिना ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित हो जावेगी। इसलिए बुद्धि के मोटे और मन्द होने का भय अथवा शोक करना उचित नहीं।

प्रश्न ४३—आत्मा की प्रीति जाग्रत नहीं होती, किन्तु धन, स्त्री, पुत्रादि की प्रीति दिन-दिन अधिक होती जाती है। इसका क्या कारण है? किस उपाय से इनकी प्रीति निवृत्त होकर आत्मा की प्रीति जगे?

उत्तर—यद्यपि आत्मा नित्य प्राप्त है, किन्तु देह अध्यास से विषयों में प्रीति करके आच्छादित हो रहा है। इसलिए अप्राप्त की नाँई भासता है। विषयों का साधन धन स्त्री आदि प्रत्यक्ष हैं, इसी से प्रेय प्रतीत होते हैं। वास्तव में उनमें कोई सुख नहीं, परन्तु अज्ञान से आत्मा अपना सुख रूप भूल रहा है। इसलिए दुःखरूप अनात्म पदार्थ-धन, स्त्री, पुत्रादि बारम्बार स्मरण आते हैं और प्रिय प्रतीत होते हैं। जब विवेक से अपने-आपको परमानन्द-रूप निश्चय करता है, तब अनात्म पदार्थों की प्रीति निवृत्त होती है और आत्मा की प्रीति उदय होती है। अतः उचित है कि विवेक सुखरूप आत्मा का नित्यप्रति चिन्तन करे, जिससे दुःखरूप अनात्म पदार्थों का चिंतन नष्ट हो जावे।

प्रश्न ४४—किस विचार द्वारा चित्त संसार से विरक्त होकर सत्चित् आनन्दरूप आत्मा में स्थित होता है?

उत्तर—दिन भर में तीन अवस्थाएँ जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति व्यतीत होती हैं। जाग्रत अवस्था में स्थूल और सूक्ष्म संघात काम करता है; स्वप्नावस्था में केवल सूक्ष्म संघात काम करता है; और सुषुप्ति अवस्था में स्थूल और सूक्ष्म संघात लीन हो जाता है। केवल आनन्द घन अवस्था शेष रहती है। जाग्रतावस्था में स्वप्न और सुषुप्ति का अभाव है और स्वप्नावस्था में जाग्रत और स्वप्न का अभाव है। इसलिए यह तीनों अवस्थाएँ एक-दूसरे के विरोध से मिथ्या हैं और इन तीनों का प्रकाशक जो सत्-चित्तआनन्द आत्मा है वह सत्य है। जब जाग्रतावस्था के साथ तद्रूप होता है, तब जाग्रत सत्य होती है और स्वप्न तथा सुषुप्ति मिथ्या होती है। जब स्वप्न के साथ तद्रूप होता है; तब स्वप्न सत्य होता है, जाग्रत सुषुप्ति मिथ्या होती है। और जब सुषुप्ति के साथ तद्रूप होता है तब सुषुप्ति सत्य होती है, जाग्रत स्वप्न मिथ्या होती हैं। जब नर इन तीनों अवस्थाओं से अपने आपको न्यारा निश्चय करता है, तब तीनों अवस्थाओं को अपने स्वरूप में कल्पित देखकर अपने में आप मग्न रहता है। अतः आत्मा की सतता से ये अवस्थाएँ सत्य प्रतीत होती हैं और आत्मा की सत्ता से

Scanned with CamScanner

विवेक करके ये अवस्थाएँ मिथ्या हैं। इससे सिद्ध हुआ कि यह तीनों अवस्थाएं कल्पित और मिथ्या हैं और आत्मा केवल सत्यरूप है। प्रपंच व संसार इन तीनों अवस्थाओं के नाम हैं। इसलिए सब प्रपंच मिथ्यारूप हैं। केवल सत्-चित्-आनन्द रूप आत्मा सत्य रूप है। ऐसे विवेक को उत्तम जिज्ञासु संसार की ओर से अपने चित्त को उपरत रखते हैं और सत्चित-आनन्द रूप आत्मा से चित्त की वृति को स्थित रखते हैं। इस अभ्यास के बल से कुछ काल के उपरान्त संसार अपनी सामग्री सहित उनकी वृत्ति से विस्मृति हो जाता है और सत्य स्वरूप आत्मा शेष रहता है।

जैसे एक लाल की रश्मियां अनन्त होती हैं कोई रक्त, कोई पीत और कोई लाल रत्न के समान। तात्पर्य यह कि जो रंग लाल के सम्मुख आता है, उसका प्रतिविम्ब लाल में रश्मि रूप होकर प्रकट होता है और वही रश्मि लाल के अज्ञान का कारण होती है। जो रश्मि लाल के वास्तविक रंग की होती, वह लाल के ज्ञान का कारण होती है। जब उस वास्तविक रश्मि की ओर दृष्टि लगाकर देखा जाये तो लाल का यथार्थ ज्ञान होता है। इसलिए दूसरी रश्मिों को मिथ्या जानकर उसकी वास्तविक रश्मि की ओर दृष्टि लगाने से लाल का वास्तविक स्वरूप, जो सब रंगों से रहित है, प्रतीत होता है। वैसे ही आत्मा रूपी लाल में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अनन्त रश्मियाँ हैं। इन रश्मियों से भी आत्मा का वास्तविक स्वरूप प्रतीत नहीं होता। जो एक ही रश्मि इन अवस्थाओं के मध्य में शुद्ध ज्ञान-रूप है, जिसे साक्षी भी कहते हैं, उससे आत्मा का वास्तविक स्वरूप प्रतीत होता है। अतः आत्म-जिज्ञासु को उचित है कि दूसरी रश्मियों—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति से दृष्टि उठाकर केवल शुद्ध ज्ञानरूप साक्षी पर दृष्टि रखें, जिससे आत्मा का यथार्थ-ज्ञान प्राप्त होकर संसार भ्रम की निवृत्ति हो। वास्तव में आत्मा शु द्धरूप है, माया के संयोग से उसमें जाग्रत, स्वप्न सुषुप्तिरूप संसार प्रतिबिम्बित होता है। माया नाम अज्ञान का है। जब यथार्थ ज्ञान के आसरे अज्ञान नष्ट होता है तब माया का रचा हुआ प्रपंच भी नहीं रहता। इसलिए नित्यप्रति सत्-चित् आनन्दरूप आत्मा में स्थित रहना ही उचित है जिससे संसार का लेश भी न रहे।

प्रश्न ४५—आत्मानन्द विस्मरण क्यों हो जाता है ?

उत्तर—जैसे थोड़ा-सा बादल जब नेत्रों के सम्मुख आ जाता है तब सूर्य के प्रकाश को नेत्रों से छिपा लेता है, वैसे ही शरीर अथवा गृहस्थ का अल्प संकल्प जब वृत्ति में उत्पन्न होता है, तब आत्मानन्द को आच्छादित कर देता है। अतः उचित है कि वृत्ति को अनात्म-चिन्तन, अनात्म-निष्ठा अनात्म-सम्बन्ध, अनात्म-अभिमान, अनात्म लज्जा और अनात्म चेष्टा से मुक्त रखें और परमानन्द रूप आत्मा का रस चखें।

प्रश्न ४६— ॥ **चौपाई** ॥

उत्तर— हे भगवान्, वह कौन विचारा, जांते नसे द्वैत संसारा।
आतम-ज्ञान भानुवत् भासे, देह-अभिमान निशावत् नासे ॥ १ ॥
संशय रहे न मन में कोई, निःसंशय निर्मल मति होई।
जग में विचरें होय असंगा, संग दोष का चढ़े न रंगा ॥ २ ॥

Scanned with CamScanner

उत्तर—

॥ चौपाई ॥

सुनो वचन जांते भव नाशे, रवि ज्यों आतमज्ञान प्रकाशे।
संशय रहे न चित्त में कोई, परमातम में इस्थिति होई॥ १॥
प्रथम करो विचार निरन्तर, रंच मात्र राखो नहीं अन्तर।
अपने गुण अवगुण वीचारो, अवगुण त्यागो गुण को धारो॥ २॥
मन में सिमरो ओंकारा, जांते होय ज्ञान उजियारा।
ओंकार का अर्थ बीचारो, तीन त्याग चौथो उरधारो॥ ३॥
जाग्रत, स्वप्न सुषुपति जोई, इनको साक्षी आतम सोई।
ऐसे निश्चय कर दृढ़ मानो, आतम रूप आप को जानो॥ ४॥
देह भावना सकल विसारो, क्षण-क्षण आतम तत्त्व बिचारो।
वर्णाश्रम और नाम भुलावो, शेष रहे तासूं मन लावो॥ ५॥
देह असत्य, मलीन, विनाशी, चिंता शोक रोग दुःख राशी।
आतम सत्य पवित्र अनूपा, निर्विकार केवल शुद्ध रूपा॥ ६॥
निशदिन यही विचार विचारो, देह विसारो आतम धारो।
देह अभिमान अविद्या मूला, देह अभिमान शोक और शूला॥ ७॥
देह मान कर जीव कहावे, मान तजे ईश्वर गति पावे।
देह अभिमान दुःख की राशी, देह-अभिमान मान दृढ़ फाँसी॥ ८॥
तांते देहअभिमान त्यागो, आतम तत निरन्तर लागो।
मान, मोह, मत्सर जो कहिए, देह भाव के अन्तर लहिये॥ ९॥
देह भावना जब मिट जावे, सहजे नीच करम बिनसावे।
ज्यों रजनी में तम ही भासे, रजनी नाशे तम ही नाशे॥ १०॥
रवि निकसे रजनी दुर जाये, असुर कर्म सहजे बिनसाय।
तांते आतम तत् चितारो, बल कर देह अभिमान विसारो॥ ११॥
भूत भविष्यत् चिन्ता त्यागो, वर्तमान में मन अनुरागो।
निशिदिन सेवो देश एकान्त, क्षोभरहित भुंचो रस शान्त॥ १२॥
सत्य शास्त्र विचारो नीता, जांते इस्थिर होवे चीता।
जो कुछ चित चितवे सो त्यागो, होय अचिन्त शांति रस पागो॥ १३॥
लौकिक वचन भुलावो ऐसे, कूकर वचन अर्थ बिन जैसे।
मन के संशय सकल मिटावो, निःसंशय आतम गति पावो॥ १४॥
भेद भावना सकल विसारो, अन्तर बाहर ब्रह्म निहारो।
सदा रहो आतम रंग राते, प्रेम सहित समता मद माते॥ १५॥
भ्रांति मात्र संसार पछानो, भ्रांति तजो केवल सुख मानो।
निर्मम निरहंकार विराजो, मंगल रूप परम छवि छाजो॥ १६॥

Scanned with CamScanner

नहिं कुछ त्यागो नहिं कुछ धारो, केवल आतम तत्व विचारो।
जहां देखो तहां आतम देखो, आतम बिना रंच नहिं पेखो ॥ १७ ॥
अन्तर्मुखता का रस पावो, बाहिर्मुखता सकल मिटावो।
लीन करो मन को मन मांही, संकल्प विकल्प फुरे कुछ नांही ॥ १८ ॥
जब जावे मन भव की ओरा, पारब्रह्म देखो सब ठौरा।
आन दृष्टि कबहुं नहीं धारो, जित कित पूरण ब्रह्म निहारो ॥ १९ ॥
जगत भावना सकल भुलावो, परमातम में इस्थिति पावो।
नहिं कहीं आवो नहिं कहीं जाओ, स्वस्थ होय आनन्द मनावो ॥ २० ॥
जनम मरण का संशय मेटो, अमर अजूनी आतम भेंटो।
नहिं कोई आवे नहिं कोई जावे, आप मांही निज आप समावे ॥ २१ ॥
कर्म करो अभिमान न धारो, आतम अक्रिय अचल विचारो।
पुण्य पाप का बीज जलावो, देह मांही निर्मल गति पावो ॥ २२ ॥
देह अभिमानी बंधन पावे, आतम ज्ञानी सहज समावे।
तांते देह अभिमान कूं त्यागो, आतम चिन्तन में अनुरागो ॥ २३ ॥
आतम निराकार निर्बन्धा, देह कर्म का नहिं सम्बन्धा।
तांते आतम तत्व चितारो, देह कर्म का मान बिसारो ॥ २४ ॥
इस विधि निध्यासनदृढ़ धारो, सहजे ही भव रोग निकारो।
कमल पुष्पवत् रहो असंगा, कर्म भरम का चढ़े न रंगा ॥ २५ ॥
द्वैतभाव निश्चय नहिं आनो, पूरण अद्वै चिद्घन मानो।
मंगलरूप रहो रस भीने, निज आतम में निज तृप्तीने ॥ २६ ॥
मोक्षकामना हूं नहीं धारो, निज आतम नित मुक्त विचारो।
जन्म मरण है केवल भ्रांति, भ्रांति त्याग पावो पद शांति ॥ २७ ॥
कथा पुरातन सकल विसारो, केवल आतम तत्त चितारो।
नित्य अचल रहो निज मांही, हर्ष शोक परसे हूं नाहीं ॥ २८ ॥
सावधान हो श्रद्धा धारो, संशय वृत्ति समग्र निकारो।
इन वचनन को हृदय बसावो, हेमराज निश्चल गति पावो ॥ २९ ॥

प्रश्न ४७—आत्मा क्यों नहीं भासता है ?

उत्तर—आत्मा हृदयाकाश में सूर्यवत् प्रकाशित होता है, परन्तु अज्ञानरूप बादल में आच्छादित होकर प्रकाशमान नहीं होता। जब ज्ञानरूप पवन से अज्ञानरूप बादल निवृत्त होता है, तब आत्मारूप सूर्य ज्यों का त्यों प्रकाशित होजाता है। अज्ञान का स्वरूप यही है कि मैं शरीर वाला हूँ, अमुक नाम वाला हूँ, अमुक का बेटा हूँ, यह मेरा धन है, यह मेरी स्त्री है। यह मुझको करना योग्य है और यह अयोग्य है, यह मेरा शत्रु है, यह मेरा मित्र है। अब मैं बालक, युवा अथवा वृद्ध हूँ। मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र हूँ। मैं गृहस्थी, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी अथवा संन्यासी हूँ। इसके अतिरिक्त दूसरे संकल्प और संशय अज्ञान कहलाते हैं,

Scanned with CamScanner

क्योंकि ऐसे संकल्पों का स्वरूप कोई नहीं, केवल विकल्पमात्र है। यही संकल्प आत्मा के आगे पटल स्वरूप है। जब सतगुरु के उपदेश से यह निश्चय हुआ कि न मैं शरीर हूँ, न ब्राह्मण आदि वर्ण हूँ, न गृहस्थी आदि आश्रम हूँ, न किसी का बेटा हूँ, न मेरा नाम है, न मेरा कोई शत्रु है न मेरा कोई मित्र है। उस समय संशयरूप बादल के निवृत्त होने पर आपको देखता है कि मैं ज्ञानमात्र, निराकार, चिदाकाशरूप और स्वतः प्रकाशी हूँ। इस ज्ञान से आत्मा अर्थात् अपना आप ज्यों का त्यों प्रकाशित होता है। जब अपना आप सूझता है तब सब दुःख नाश होजाते हैं और परमानन्द प्राप्त होता है। इसलिए सब जिज्ञासु जन अपने को शरीर से भिन्न केवल ज्ञानमात्र निश्चय करें और सुखी रहें।

प्रश्न ४८—

॥ चौपाई ॥

कहो वचन जाँते तमनाशे, रवि ज्यों आतम-ज्ञान प्रकाशे!
संशय रहे न मन में कोई, निःसंशय निर्मल गति होई!!

उत्तर—

॥ चौपाई ॥

प्रथमे करो विवेक निरन्तर, रंचमात्र राखो नहीं अन्तर।
सत्य असत्य विचारो चीता, त्याग असत्य गहो सत मीता॥ १॥
निशिदिन अपने कर्म विचारो, उत्तम धारो नीच निकारो।
न्याय सहित निज काल निभावो, सहजे ही भव रोग मिटावो॥ २॥
संग दोष से रहो अतीत, हर्ष शोक की फूटे भीता।
आहार शुद्ध स्यूं राखो प्रीति, गहो यत्नकर निर्मल रीति॥ ३॥
धर्म सहित साधो व्यवहारा, जित कित राखो शुद्ध आचार।
धन अभिलाषा सकल निकारो, केवल मोक्षभावना धारो॥ ४॥
सुख दुःख मानपमान संहारो, दंभ ईरषा ममता टारो।
सत्गुरु में श्रद्धा दृढ़ धारो, सत् उपदेश सुनो विचारो॥ ५॥
देह अनित्य अमंगल जानो, आतम सत्य पवित्र पछानो।
तांते देह संग नहिं धारो, निशिदिन आतम तत् चितारो॥ ६॥
बल कर मन को उपसम राखो, निर्विकल्प अमृत रस चाखो।
इन्द्रिन को विषयन से रोधो, नित्य प्राप्त आतम सुख सोधो॥ ७॥
जब धारे मन तन अभिमाना, तत्क्षण सिमरो आतम ज्ञाना।
आतम अचल अकाम अनूपा, सत्य-चित्त आनन्दमय स्वरूपा॥ ८॥
निराकार निर्मल स्वरूपा, जामें गुण की छांव न धूपा।
ऐसा आतम निशिदिन ध्यावो, विषयन सहित शरीर भुलावो॥ ९॥
भूत भविष्यत चिन्ता त्यागो, केवल वर्तमान सुख पागो।
इस विधि शुद्ध करो निज चीता, हेमां प्रगटे ज्ञान अतीता॥ १०॥

Scanned with CamScanner

॥ सोरठा ॥

रहो असंग पुनीत, संग रंग परसे नहीं।
कहूँ न बांधो चीत, विचरो जग में व्योमवत् ॥ ११ ॥
सत्संगत सत्धाम, सेवो श्रद्धा सहित नित।
निशिदिन रहो अकाम, चित चंचल स्थिति गहे ॥ १२ ॥
निशिदिन सिमरो आप, सत्तामात्र, स्वरूप जो।
मिटें सकल पुनपाप, निर्मल सुख प्रगटे सदा ॥ १३ ॥
शब्दरूप संसार, जांका रूप न रेख कुछ।
शब्द परे निज सार, नित्य प्राप्त आनन्दघन ॥ १४ ॥
पूरण ब्रह्म अनाम, सर्व नाम भी तास के।
सत्चित् आनन्द राम, निर्मल निर्भय सुख भवन ॥ १५ ॥
निशदिन अन्तर ध्यान, लीन रहो परब्रह्म में।
मिटे अनाम ज्ञान, सर्वातम भासे अमल ॥ १६ ॥
सहित ज्ञान विज्ञान, विचरो भव में मीत नित।
रहे सदा कल्याण, शोक मोह परसे नहीं ॥ १७ ॥
परम पवित्र अगाध, परम शान्त परमातमा।
मैं तू इह उह बाध, हेमराज निज धाम सो ॥ १८ ॥

प्रश्न ४९—संसार की निवृत्ति और शुद्ध चेतन में स्थिति किस विचार से होती है?

उत्तर—संसार कोई वस्तु नहीं। यह केवल मन की मन्नत और वाणी का शब्द संसार है। यह दोनों चेतन प्रकाश का आभास अर्थात् परछाँई हैं। आभास में अधिष्ठान को बंधन अथवा लोप करने की सामर्थ्य नहीं। क्योंकि आभास आप ही तुच्छ और मिथ्या है। तुच्छ और मिथ्या वस्तु सत्य और स्थिर वस्तु को चंचल नहीं कर सकती। केवल अज्ञान से अपना वास्तविक स्वरूप आच्छादित प्रतीत होता है। यदि यथार्थ-विचार में निरन्तर लगे रहें तो मन्नत और शब्द कल्पित प्रतीत होकर स्वरूप में अपना प्रवेश नहीं कर सकते। यदि मिथ्या-विचार सन्मुख रहें तो मन्नत और शब्द स्वरूप में प्रवेश करके भ्रांतिज्ञान उत्पन्त कर देते हैं। इससे बुद्धिमान नित्य ही यथार्थ-विचार को अपना मित्र बनावे। मिथ्या-विचार से सम्बन्ध न रखे। यथार्थ-विचार का अर्थ आत्म-विचार है और मिथ्या-विचार का अर्थ अनात्म-विचार है।

२. जैसे दीपक के आसरे घर के सब कार्य सिद्ध होते हैं, परन्तु दीपक अक्रिय और असंग रहता है वैसे ही चेतन प्रकाश के आसरे सब कार्य सिद्ध होते हैं, परन्तु प्रकाश चेतन अक्रिय और असंग रहता है। अतः चेतन सबका आत्मा है, उसमें स्थित होना सुख और शांति का हेतु है।

३. शरीर का सम्बन्ध महादुःखरूप है। नाना प्रकार के क्लेश, दीनता, चिन्ता, भय आदि इसमें रहते हैं। विचारवान विचार द्वारा इस सम्बन्ध को सुख सहित व्यतीत करता

Scanned with CamScanner

है। इसलिए जिज्ञासु विचार का आसरा लेकर अपने व्यवहार को सिद्ध करता रहे। अपने को असंग और साक्षी निश्चय कर संसार से निवृत्त होकर आत्मा में स्थित हो।

प्रश्न ५०—मन क्या है, उसका स्वरूप क्या है और उसका निवास किस स्थानमें है ?

उत्तर—मन पाँच तत्व अर्थात् अग्नि, जल, पृथ्वी, आकाश और पवन का सूक्ष्म भाग है। फुरना उसका स्वरूप है। शरीर के अन्तर हृदय में निवास है।

प्रश्न ५१—मेरा मन काम-क्रोध, आदि से विक्षिप्त रहता है और निरन्तर रागद्वेष की पीड़ा सहता रहता है। यह दुःख किस उपाय से निवृत्त हो ?

उत्तर—तुम्हारा शत्रु कोई नहीं, केवल स्वरूप का अज्ञान ही अपने संकल्पों को बलवान करके दुःख दे रहा है। जब ज्ञान के संकल्प बलवान हो जाएँगे, उस समय सब प्रकार से आनन्द और कुशल रहेगा। तुम सर्वदा अपने स्वरूप में स्थित रहो। शरीर के साथ मिलकर अपने को कुछ और न मानो। जब मन आठों पहर स्वरूप की ओर लगा रहेगा, तब दूसरे चिंतन करने की उसमें समर्थ न होगी। इसका फल शान्ति और आनन्द प्राप्त होगा। काम, क्रोध, लोभ, मोह अहंकार आदि का स्वरूप कोई नहीं; मन का फुरना ही इनका स्वरूप है। जब फुरना छूट जाता है तब सारे स्वभाव उज्ज्वल और निर्मल हो जाते हैं। इसलिए फुरने को सत्चित् आनन्द स्वरूप की ओर लगाये रखो। व्यर्थ चिन्ता, शोक, वासना और कल्पना न करो। हे प्यारे, सरलता और निष्कपटता से अपना व्यवहार करते रहो। चतुराई-सहित व्यवहार प्रीतियोग्य नहीं।

प्रश्न ५२—चित्त अतिशय क्षोभ वाला है। कभी एक रस नहीं होता। सदा विक्षिप्त और विषयाधीन रहता है आप सर्वज्ञ, अर्न्तयामी और सब के परम-पिता हो। कृपा कर ऐसा उपदेश करो जिससे सदा सुख रहे और अविद्या नष्ट हो जावे।

उत्तर—जब चित्त विषय का चिंतन करे, उसी समय उस विषय के दोष पर विचार कर उसे उस चिंतन से रोको और सत्चित् आनन्द आत्मा के चिंतन में लगाओ। यह अभ्यास क्षण-क्षण करते रहो। चित को साक्षी होकर देखते रहो। जब विक्षिप्त होने लगे अर्थात् विषय के आधीन होने लगे, उसी क्षण सावधान होकर विचार और वैराग्य द्वारा उसे रोको और एकाग्र करो। इस प्रकार अभ्यास करते हुए सुख की प्राप्ति होगी और अविद्या नष्ट होगी।

प्रश्न ५३—हे भगवान् ! कभी-कभी मेरे हृदय में गृहस्थ से दोष-दृष्टि उत्पन्न होती है, परन्तु वैराग्यरूप होकर मैं चित्त को जंजाल से मुक्त नहीं कर सकता। इससे मेरी अवस्था ऐसी हो रही है जैसे कोई पुरुष नदी में कभी गोता खावे और कभी बाहर निकल आये। अब मैं क्या करूँ ?

उत्तर—जब तक दोष-दृष्टि को परिपक्व करके वैराग्य को मित्र नहीं बनाओगे, जब तक तुम्हारा चित्त स्थिर नहीं होगा। वह मरकटवत् कूदता और फाँदता रहेगा। वैराग्य भी वही अक्षर है जो विचार-पूर्वक हो। मूर्खता सहित वैराग्य दुःख का हेतु होता है और विचार सहित वैराग्य सुख का। इससे जिज्ञासु दोष-दृष्टि के समय पारदर्शी ब्रह्मज्ञानी सत्-

Scanned with CamScanner

गुरु की संगति में स्थित होकर उनके वचनों द्वारा अपनी दोष-दृष्टि को दृढ़ करे। वह जो-जो युक्तियाँ, दृष्टान्त और इतिहास विचार सहित गृहस्थ में रहने के लिए अथवा गृहस्थ के त्याग-निमित्त निरूपण करें, सावधान होकर उनका मनन और निदिध्यासन करे। फिर अपने मन को देखे कि गृहस्थ में रहना चाहता है या गृहस्थ के त्याग की इच्छा करता है। जो इच्छा तीव्र हो उस इच्छा को सत्गुरु की युक्ति अनुसार पूर्ण करे। यदि दोष-दृष्टि के समय घर से निकलकर इधर-उधर भटकता रहे तो चित्त और भी व्याकुल होकर दुःख का हेतु हो जाता है और नित्य ही विक्षिप्त रहकर जल में तृण की नाँईं वृत्ति को चंचल और क्षुब्ध रखता है। इसलिए उचित है कि दुःख के समय सत्गुरु की सेवा और संगति की सहायता माँगे। इसके बिना केवल भटकना है।

प्रश्न ५४—हे शांति के दाता! अन्तःकरण में जो विक्षेप्ता आदि विकार हैं, वे कैसे निवृत हों और शांति किस विचार से नित्य बनीं रहें?

उत्तर—हे शांति-रूपी धन के भिक्षुक! इस संसार में कल्पना का मूल केवल अज्ञान है। जब अज्ञान अन्तःकरण में दृढ़ होता है, तब काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्षा आदि विकार प्रकट होते हैं। जब इन विकारों से अन्तःकरण दुःखित होता है, तब नित्य ही विक्षेप्त कल्पना, चंचलता आदि विकार रहते हैं। अतः शांति के जिज्ञासु! अज्ञान के निवृत करने का यत्न करो। अज्ञान नाम अपने वास्तव स्वरूप के न जानने का है। इसलिए सत्गुरु के उपदेश द्वारा अपने वास्तव-स्वरूप को वास्तविक रीति से जानकर मनन और निदिध्यासन से उस ज्ञान को दृढ़ करना ही अज्ञान की निवृति का परम उपाय है। जब अज्ञान सर्वथा निवृत्त होगा, तब देह अभिमान भी नहीं रहेगा। देह अभिमान के निवृत होने से जो-जो स्वभाव चित्त को चंचल करने वाले हैं, सारे निवृत्त हो जायेंगे, शेष शान्त अवस्था रह जाएगी। इस रीति से वास्तव-स्वरूप का चिन्तन, कथन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन अन्तःकरण को विकारों से शुद्ध कर शान्त-रूप रखता है! जिस युक्ति से शान्ति की प्राप्ति हो, वह युक्ति ही भजन, समाधि अथवा इष्ट-रूप है।

प्रश्न ५५—संतों ने मनन की महिमा क्यों की है? और मननकिसका उचित है?

उत्तर—इस जगत में सब कार्य मनन द्वारा सिद्ध हो रहे हैं। जैसा-जैसा मनन होता है वैसा-वैसा फल होता है। जिस पुरुष को व्यवहारिक वचनों का मनन दृढ़ है, उसे व्यवहार फलीभूत होकर प्रिय प्रतीत होता है। जिस पुरुष को परमार्थ वचनों का मनन है, उसे सत्गुरु, सत्शास्त्र और सत्संग फलीभूत होकर प्रिय प्रतीत होते हैं। व्यवहार का फल चित्त की विक्षेप्ता है और परमार्थ का फल चित्त की एकाग्रता है। इसलिए बुद्धिमान, पारदर्शी, मोक्षेच्छु पुरुषार्थ कर मन को परमार्थ वचनों के मनन में लगाते हैं और निरन्तर अभ्यास से मन को उन वचनों के विचार में स्थित कर एकाग्रता का फल पाते हैं। हे जिज्ञासु! जगत का स्वरूप केवल अज्ञानी पुरुषों के वचनों का मनन है। इसलिए यथार्थ ज्ञानी पुरुषों के वचनों में दृढ़ श्रद्धा रखो और उनको बारम्बार मनन कर अपना निश्चय बनाओ।

Scanned with CamScanner

प्रश्न ५६—शांत रस का लाभ कैसे प्राप्त होता है ?

उत्तर—शान्त रस का लाभ निम्न प्रकार से होता है। सदा शान्त-स्वरूप आत्मा का अभ्यास करते रहना। सचाई, धर्म, धैर्य और निर्मानता से अपना व्यवहार चलाते रहना। युवावस्था को उत्तम और लाभदायक जानकर आत्म-अभ्यास, शास्त्र-चिन्तन सत्य-धर्म धारण, ओंकार-स्मरण और सत्गुरु सेवा व दर्शन से निभाते रहना। उदासीन होकर गृहस्थ में अपना समय व्यतीत करते रहना और मायावी लोगों की संगति से अपने को बचाते रहना।

प्रश्न ५७—जिस उपाय से अन्तकरण की शुद्धि हो, उस उपाय का कृपा कर निरूपण करें, क्योंकि शुद्ध अन्तकरण के बिना अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति दृढ़ नहीं होती।

उत्तर—आठ पहर में तीन अवस्थाएँ अन्तःकरण की होती हैं—सतोगुणी, रजोगुणी, और तमोगुणी। जब सतोगुणी अवस्था होती है तब अन्तःकरण में शान्ति, वैराग्य, उदारता, विचार और संतोष होते हैं। जब रजोगुणी अवस्था होती है; तब अन्तःकरण में वासन रागद्वेष, जगत-चतुराई, लोभ, मोह आदि विकार होते हैं और जब तमोगुणी अवस्था होती है तब अन्तःकरण में मूढ़ता, आलस्य, नींद, क्रोध तथा उदासी होती। अतः जिज्ञासु पुरुषार्थ कर अन्तःकरण को सतोगुणी रखे। जब रजोगुण और तमोगुण का चक्कर आने लगे, तब सावधान होकर वृत्ति को उस ओर से हटावे और सतोगुण में लगावे। इसी प्रकार यत्न करता रहे। अन्तकरण में जब दिन के बहुत समय तक सतोगुण का प्रवेश रहेगा तब ज्ञान की दृढ़ता हो जावेगी। रजोगुण और तमोगुण से अन्तःकरण में ज्ञान स्थिर नहीं होता, क्योंकि रजोगुण से अन्तःकरण चंचल रहता है, और तमोगुण से अन्तःकरण मलिन रहता है। केवल सतोगुण से अन्तःकरण शुद्ध होता है। जैसे शुद्ध दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब अथवा दूसरी वस्तु का प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष होता है। वैसे ही शुद्ध अन्तःकरण में आत्मा का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। संशय विपर्यय नाश हो जाते हैं, जीवन मुक्ति प्राप्त होती है। इसलिए सर्वदा तमोगुण का अभ्यास रखें, सतोगुण के अभ्यास-निमित्त सत्य-शास्त्रों का विचार करे, संतों का संग, अपने स्वभावों का सुधार, ओंकार का स्मरण करें रजोगुणी और तमोगुणी पुरुषों के संग का त्याग, व्यवहारों की शुद्धि, एकान्त-सेवन, थोड़ा बोलना, धन, स्त्री पुत्र प्रीति का त्याग, देह-अभिमान का त्याग और आत्मा में स्थिति ही उचित है। सदा एकरस स्थिर बुद्धि होकर अभ्यास करता रहे। इसका फल अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति है, जिससे सब दुःख नाश होंगे और परमानन्द की प्राप्ति होगी।

आत्मा नित्य प्राप्तरूप है और परमानन्द स्वरूप है, परन्तु देह अभिमान से अप्राप्तरूप और दुःखरूप प्रतीत हो रहा है। अतः विवेक से देह अभिमान का त्याग करें। अपने को केवल ज्ञानस्वरूप आत्मा निश्चय करें, जिससे दुःख निवृत्त हों। शरीररूप अपने को मानना ही दुःख है और शरीर से न्यारा अपने को निश्चय करना ही परम सुख है। बारम्बार यही विचार करें कि न मैं शरीर हूँ, न ही यह मेरा शरीर है, क्योंकि शरीर असत्य है और मैं सत्य हूँ, शरीर जड़ है और मैं चेतन हूँ; शरीर दुःखरूप है और मैं आनन्द स्वरूप हूँ, शरीर अनेक वस्तुओं से रचित है और मैं अनादि अर्थात् रचना से रहित स्वतः सिद्ध हूँ। इसलिए

Scanned with CamScanner

मैं शरीर से न्यारा केवल सत्चित्-आनन्दरूप हूँ। इस विचार से आत्मज्ञान दृढ़ होता है और यह विचार सतोगुण से दृढ़ होता है। इससे उचित है कि वृत्ति को सतोगुणी करके आत्मज्ञान का अभ्यास करता रहे जिससे परमपावन गति प्राप्त हो।

प्रश्न ५८—हे भगवान्! यह बुद्धि संसारी व्यवहारों में चंचल हो जाती है, स्थिर नहीं रहती। इससे महा कष्ट और क्षोभ होता है। अतः कोई ऐसा उपाय बतलाएँ, जिससे बुद्धि व्यवहार में निश्चल रहे?

उत्तर—यदि बुद्धि में विवेक और वैराग्य निरन्तर स्थित रहें तो बुद्धि व्यवहार में चंचल नहीं होती। यदि विवेक वैराग्य विस्मरण हो जावें तो अल्प व्यवहार भी बुद्धि को चंचल कर देता है। इसलिए व्यवहारी जिज्ञासु व्यवहार काल में विवेक और वैराग्य को अपनी बुद्धि का सहायक रखे, जिससे एकाग्रता और शान्ति प्राप्त रहे। विवेक के अर्थ सत्यासत्य विचार हैं और वैराग्य के अर्थ असत्य को हृदय से त्यागना है। जब इन दोनों साधनों के बल से असत्य का बुद्धि से त्याग हुआ और सत्य का निश्चय दृढ़ हुआ तब बुद्धि सत्यपद में विश्राम पाकर निश्चल हो जाती है। इसलिए विवेक और वैराग्य को साध कर वांछित मनोरथ पावें। दूसरा उपाय यह है कि व्यवहार के समय अपने को व्यवहार से न्यारा प्रतीत करे, किसी वस्तु में सम्बन्ध मानकर अहंता ममता का निश्चय न करे। जैसे नौकरी वाला सरकारी नौकरी करके अलग हो जाता है, किसी में हानि-लाभ नहीं मानता, वैसे ही बुद्धिमान जिज्ञासु शरीर के निर्वाह के लिए कुछ काल व्यवहार को साधे पर मन से न्यारा रहे। हानि-लाभ मान कर राग-द्वेष का भागी न हो, सब पदार्थ ईश्वर रचित निश्चय कर ईश्वरार्पण करे। किसी पदार्थ में ममता बुद्धि न धारे, असंग और उदासीन रहे। इस उपाय से भी बुद्धि समान भाव में स्थिर रहेगी।

प्रश्न ५९—किस उपाय से बुद्धि निश्चल, निश्चय दृढ़ और स्वभाव उत्तम होते हैं?

उत्तर—निरन्तर अभ्यास से। अर्थात् जो पुरुष अन्तराय से रहित सत्संग, सत्शास्त्र-चिन्तन, नामस्मरण और गुण अवगुण विचार का अभ्यास करता रहे, उस पुरुष की बुद्धि निश्चल, निष्ठा दृढ़ और स्वभाव श्रेष्ठ हो जाते हैं। अभ्यास के बिना कुछ सिद्ध नहीं हो सकता। जब व्यवहार भी अभ्यास से सिद्ध होता है तो परमार्थ में अभ्यास परम आवश्यक है। यह अभ्यास ही संसाररूप सागर से पार लगाने का जहाज़ है। इसलिए परमार्थ अभ्यास को अपना श्रेष्ठ और दृढ़ सहायक निश्चय कर इसमें आलस्य करना अत्यन्त अनुचित है। इस-लिए जिज्ञासु परमार्थ-अभ्यास का किसी अवस्था में त्याग न करे। इस प्रकार जो पुरुष दृढ़ होकर सत्पुरुष के वचनों और उपदेशों का मनन और निदिध्यासन करता रहेगा, उसे वांछित मनोरथ गृहस्थ में ही प्राप्त हो जावेगा और जो दृढ़ होकर अभ्यास नहीं करेगा। कदाचित् बिजली के भाँति चमक प्रेम के आधीन होकर सत्शास्त्र-चिन्तन, सत्संग, नामस्मरण अथवा गुण अवगुण विचार का अभ्यास करेगा तो बहुत काल पर्यन्त भी मन-वांछित लाभ प्राप्त नहीं होगा। किन्तु अदृढ़ता और निराशा बुद्धि का भूषण होकर प्रेम को ऐसा शिथिल कर देंगे कि फिर वृति का प्रवाह परमार्थ की ओर लगना

Scanned with CamScanner

अत्यन्त ही कठिन हो जावेगा। इसलिए दृढ़ता सहित निरन्तर अभ्यास करना उचित है। सब अवस्थाओं में अपनी वृत्ति का साक्षी रहे, किसी काल में अपने स्वरूप को न भूले, नित्य-प्रति अपने गुण अवगुण का विचार करता रहे। अशुभ स्वभावों का त्याग कर शुभ स्वभाव दृढ़ करता रहे। कदाचित् अभ्यास में आलस्य न करे किन्तु अभ्यास को दिन प्रति-दिन ऐसा अधिक करे कि अग्निवत् प्रज्ज्वलित होकर सर्व संशय, पाप, मलिन, स्वभाव, संकल्प और वासना आदि दग्ध हो जावें। हृदय को यथार्थ ज्ञानरूप सूर्य के उदय होने की पूर्व की दिशा बना देवें। जब इस रीति से अभ्यास में बहुत काल पर्यन्त अन्तराय से रहित, आलस्य से मुक्त प्रेमपूर्वक, दृढ़ता और श्रद्धायुक्त प्रवृत्त रहेगा, तब बुद्धि निश्चल होगी, स्वरूपनिष्ठा परिक्व होगी; और स्वभाव उत्तम और वंदनीय होंगे।

प्रश्न ६०—किस वृत्ति में हर्ष सर्वदा रहता है?

उत्तर—शुद्ध चित्त सदा हर्षित रहता है और मलिन चित्त सदा शोकातुर। सबसे कठिन और महान उपाय यही है कि चित्त को सब प्रकार से शुद्ध रखें। फिर जहाँ रहेंगे, शान्तरूप और परमानन्द रूप।

प्रश्न ६१—सुख के क्या अर्थ हैं, और सुख किस साधन से प्राप्त होता है?

उत्तर—सुख पद के अर्थ चित्त की एकाग्रता है। एकाग्रता के साधन समता, संतोष, विचार और सत्संग हैं। इनमें से सत्संग माता है, समता, संतोष और विचार उसके तीन बेटे हैं। जब सत्संग में मन की प्रीत लग जाती है और सत्गुरु के वचन प्यारे और सुखदायक प्रतीत होते हैं, तब जिज्ञासु यत्न कर विचार द्वारा अपने मन को विषय वासना से उपरत करता है और लोभ को त्याग कर यथालाभ संतुष्ट रहता है। जैसे-जैसे उसका विचार दृढ़ होता है वैसे ही समता और संतोष दृढ़ होते हैं। ये सब लाभ सत्संग से प्राप्त होंते हैं। इस-लिए श्रद्धा और प्रेमसहित सत्संग करें और वचनों के मनन और निदिध्यासन से अपने मन को एकाग्र करें, तो सुख प्राप्त होगा।

प्रश्न ६२—दुःख के क्या अर्थ हैं? किस साधन से प्राप्त तथा किस निवृत्त होता है?

उत्तर—दुःख पद का अर्थ चित्त की विक्षेप्ता है। दुःख के साधन, विक्षेप, लोभ और कुसंग हैं। इनमें से कुसंग माता है। अज्ञान, विक्षेप और लोभ उसके तीन बेटे हैं। जब कुसंग में मन की प्रीत लग जाती है, मूर्खों, विषइयों और धनवानों के वचन प्यारे और सुखदायक प्रतीत होते हैं, तब पुरुष अज्ञान के आधीन होकर विषयों और धन की वासना करता है और लोभ कर कभी तृप्त और संतुष्ट नहीं होता। जैसे अज्ञान दृढ़ होता है वैसे ही विक्षेप और लोभ दृढ़ होते हैं, जिसका फल दुःख अर्थात् चिन्ता, शोक और क्लेश मिलता रहता है। इसलिए यत्न करके कुसंग का त्याग करे। लोभ और विक्षेप के त्याग निमित्त शम और संतोष को अपनाए और अज्ञान की निवृत्ति के लिए विचार को अपना मित्र बनावे। फलतः विचार सत्संग से प्राप्त होता है। जब जिज्ञासु सत्संग में प्रीत लगाता है, अर्थात् सत्यपुरुष सत्गुरु की सेवा, समीपता, आज्ञामनन और आत्मनिवेदन में सावधान होता है, तब अज्ञान

Scanned with CamScanner

नष्ट हो जाता है। अज्ञान के नष्ट होने पर दुःख भी नष्ट हो जाता है। केवल आनन्द रहता है। इसलिए ऊपर लिखी हुई रीति से सुख का पुरुषार्थ करता रहे, शीघ्रता न करे, धैर्यवान होकर साधन सिद्ध करता रहे। शनैः-शनैः साधन फलीभूत होगा।

प्रश्न ६३—जगत में अज्ञानी बहुत हैं। अज्ञान को ही अपना प्रीतम मानते हैं। ज्ञान से रुचि नहीं रखते, इसका कारण क्या है? जिज्ञासु को क्या करना चाहिए?

उत्तर—जगत अज्ञान से रचा हुआ है। इसलिए सारे लोग अज्ञानी हैं और अज्ञान-रचित कर्मों और संशयों से रुचि रखते हैं। वे ज्ञान की वार्ता अथवा उपदेश नहीं चाहते; जैसे चमगादड़ अँधेरे को प्यार करता है और सूर्य को नहीं चाहता, वैसे ही अज्ञानी लोग चमगादड़ की नाईं हैं। वे अज्ञानरूप अँधेरे और अँधेरे के पदार्थों से प्रेम करते हैं। ज्ञानरूप सूर्य को नहीं देख सकते। देखने में यद्यपि सारे मनुष्य हैं तथापि मनुष्यों के लक्षण किसी विरले में ही पाये जाते हैं। जैसे फूल अनेक हैं किन्तु सुगन्धि वाला फूल कोई-कोई होता है। वैसे ही मनुष्याकार लोग बहुत हैं किन्तु ज्ञानरूप सुगन्धिवाला कोई होता है। इसलिए जिज्ञासु इनके संग से उपरत रहकर अभ्यास करता रहे, अज्ञानी के साथ चर्चा वार्ता भी न करे। जैसे धनी अपने धन को छिपाकर रखता है कि चोर न लूट ले, वैसे ही आत्मधन को छिपाकर रखना योग्य है, कहीं प्रतिवादी उसको लूट न ले जावें। लूटना यही है कि अपने-अपने दुर्वचन सुनाकर वृत्ति को आत्मज्ञान से हटा न देवें। अतः इन के संग से उपरत रहना ही भला है और इनके साथ आत्म-ज्ञान की वार्ता करनी भी उचित नहीं। मौन होकर अभ्यास करता रहे। किसी प्रेमी के साथ चर्चा-वार्ता करे और सत्यशास्त्र का विचार और मनन करता रहे। गीता-गोविन्द का गायन करे और ब्रह्मानन्द में वृत्तिको लगावे। जब स्वभाव और अवस्था पावन, उत्तम, गम्भीर और निर्मल हो जावेंगे, तब इसका फल दूसरों को भी प्राप्त होगा। इसलिए जिज्ञासु को सदा अभ्यास में स्थित होना चाहिए। दूसरों की ओर देखना नहीं चाहिए।

प्रश्न ६४—हे भगवान्! जब किसी के हृदय में शुभ इच्छा का अंकुर उदय होने लगता है। तो गृहस्थ के सभी सम्बन्धी उस मुक्ति की इच्छा नहीं करते। उसे केवल सत्य-मार्ग पर चलता हुआ देखकर प्रसन्न भी नहीं होते हैं। यदि किसी संयोग से किसी का बेटा सत्यविद्या को पढ़ने लगे या सत्यपुरुष की सेवा करने लगे, सत्यमार्ग पर प्रेम-सहित चलने लगे, उसके माता-पिता उसको मध्य में रोक लेते हैं अथवा रोकने का यत्न करते हैं, तो उसे अपनी रक्षा के निमित्त कैसा उपाय करना चाहिए?

उत्तर—वह पुरुषार्थ से अपनी जिज्ञासा और श्रद्धा को दृढ़ रखें। यदि सम्बन्धी दुर्वचन बोलें या दण्ड देवें, तो भी वह अपनी जिज्ञासा को हृदय से न निकाल दें प्रत्युत दिन-दिन अधिक करते चलें। अपने प्रेम को दृढ़ता से पूरा करने का प्रयत्न करते रहें। एक दिन उसकी कामना अवश्य पूर्ण हो जावेगी। शीघ्रता से कोई काम पूरा नहीं होता। धीरज से दुःसाध्य कर्म भी सुखेन सिद्ध हो जाता है। जब गाँठ बल से नहीं खुल सकती, वह धीरज और युक्ति से खुलती है। ऐसे ही मनुष्य भी सम्बन्धियों के बन्धन से बल द्वारा मुक्त नहीं

Scanned with CamScanner

हो सकता। किन्तु शनैः-शनैः सत्गुरु की युक्ति से मुक्त हो जाता है। अतः जिज्ञासु न घबराये और न शीघ्रता करे। प्रेम और जिज्ञासा को हृदय में दृढ़ रखे। एकान्त में बैठकर शास्त्रों का विचार करता रहे। किसी के साथ वाद-विवाद न करे। मौन रहकर अपना काल व्यतीत करे। अपने घर में भी वह सत्संग प्रेम को प्रकट न करे। न ही उनके सन्मुख सत्संग का कभी वाणी से निकाले। अन्दर ही अन्दर अपने प्रेम को परिपक्व करता रहे। एक दिन उसका प्रेम पूर्ण हो जावेगा। घर का कामकाज ऐसे उदासीन भाव से करता रहे जैसे कोई मनुष्य किसी की सेवा करता है, परन्तु उसमें अपना कोई सम्बन्ध नहीं जोड़ता। वैसे ही वह अपने घर का काम करता रहे किन्तु किसी के साथ अपना सम्बन्ध न जोड़े। जो काम सम्मुख आवे, उदासीन होकर उसको पूरा करें, मन में उसका संकल्प और चिंतन न करे। इस रीति से बर्ताव करता रहेगा, तो किसी प्रकार का खेद न होगा।

व्यवहारी लोग धन के दास हैं। जिस कर्म से धन प्राप्त हो, वे उसी कर्म को करते हैं। निर्दम्भ, सत्यवादी, निष्काम, यथार्थदर्शी सत्पुरुष केवल सत्य परमात्मा का उपदेश करते हैं। वे अपने जिज्ञासुओं को कल्पित कर्म तथा विषयों से मुक्त कर सत्यमार्ग पर चलते हैं। इसलिए व्यवहारी लोग उनके सत्संग का लाभ नहीं उठा सकते। दंभी, पाखण्डी, कर्मकांडी, मूढ़, भेषधारी और संशयात्मक वृत्ति वाले सन्त को उत्तम जानकर उसके पीछे दौड़ते हैं। इससे आयु-पर्यन्त भटकते रहते हैं। शान्ति कदाचित् नहीं पा सकते। दूसरा, जिनकी जीविका केवल कर्म और भ्रान्त विचारों के आसरे होती हैं, वे तो सत्पुरुषों से ऐसे भागते हैं, जैसे धनुष से बाण भागता है। वे अपनी सन्तान को भी सत्पुरुष की संगति से और सत्शास्त्र के विचार से रोकते हैं। उनका यह विचार होता है कि ऐसा न हो हमारी संतान संसार त्यागकर सत्यवादी, सत्यसेवी, सत्यज्ञाता और सत्यमन्ता हो जावे। उनका प्रयोजन यह है कि हमारी सन्तान अज्ञानी, मूढ़, भ्रमी, कपटी, द्रोही, कर्मी और ऊपर से भजन, परन्तु अन्तर से व्यवहारी रहे। लोगों को परचा कर धन कमा लावें और भक्ति भी करते रहें। ऐसे पुरुषों की संगति एक सत्प्रेमी के लिए भारी प्रतिबन्धक है। इसलिए जिज्ञासु इनसे उदासीन रहे और अपना कल्याण आप करे तथा अपने आपको आप सम्भाले।

प्रश्न ६५—मनुष्य जगत से किस उपाय द्वारा मुक्त होता है?

उत्तर—अज्ञानी पुरुष को यह जगत अज्ञान से सत्य प्रतीत होता है। इससे उसे सदा क्लेश और ताप रहता है। दैवी-संयोग से वह जब ब्रह्मज्ञानी महात्मा की शरण में आता है और शुद्ध, प्रेम, विनम्रता, भक्ति, जिज्ञासा, मोक्षभावना और सावधान होकर उनके वचनों को श्रवण करता है, एकान्त देश में बैठकर सुने हुए वचनों का मनन करता है और मनन किये हुए वचनों को अपना स्वभाव बनाने के निमित्त निदिध्यासन द्वारा अभ्यास करता है, तब उसके अन्तःकरण से अज्ञान निवृत्त हो जाता है। अज्ञान के नष्ट होने से जगत असत्य प्रतीत होता है। जब जगत असत्य प्रतीत होता है तब सारे क्लेश और पाप निवृत्त हो जाते हैं और वह मनुष्य जीते जी मुक्त हो जाता है। इसलिये मोक्षेच्छु ब्रह्मज्ञानी सत्गुरु के उपदेश को श्रद्धा और सावधानी से मनन और निदिध्यासन करता रहे। शनैः-शनैः अज्ञान नष्ट हो

Scanned with CamScanner

जावेगा। ब्रह्मज्ञानी गुरु की कृपा के बिना संसार से मुक्त होने का और कोई उपाय नहीं। केवल सत्गुरु के वचन ही संसाररूपी सागर से पार उतरने का जहाज है। इसलिए मोक्षेच्छु सत्गुरु के उपदेश का नित्यप्रति अभ्यास कर अपने कर्मों और स्वभावों को न्याय और विचार-रूप तराजू में तोलकर उनका हिसाब लगाता रहे। नीच कर्मों और मलिन स्वभावों के त्याग का यत्न करता रहे। उत्तम कर्मों और श्रेष्ठ स्वभावों को अपनाने का पुरुषार्थ करता रहे। संग से उपरत रहने का उद्यम करता रहे। गृहस्थ के मोह में चित्त को न फंसावे। धन-प्रीति अधिक कर चित्त को चंचल न करे और घर में उदासीन होकर रहे। शुद्ध व्यवहार चलाकर अपना निर्वाह करे और विषय-प्रीति से मन को उपरत रखे। देहाभिमान, कुलाभिमान, यौवनाभिमान, धनाभिमान, व्यवहाराभिमान, विद्याभिमान से अपने मन को मुक्त रखे। दिन-रात सत्-चित् आनन्द आत्मा का ध्यान करता रहे। व्यर्थ न बोले, अर्थ के बिना इधर-उधर न घूमे। शान्त धैर्यवान, क्षमावान और निर्मान-चित्त रहने से सहज ही मुक्ति होगी।

प्रश्न ६६—

॥ दोहा ॥

हे सत्गुरु पूरण अमल, आपत काम अमान।
अनुभवरूप प्रकाशमय, तत्वित् परम पुमान॥
कैसे विचरूँ जगत में, जांते उपजे शान्त।
आतम तत् भासे अमल, मन की जावे भ्रान्त॥

उत्तर—

॥ दोहा ॥

श्रद्धालु निर्मल हृदय, गुणग्राहक निरमान।
सत्संगी प्रेमी भगत, मोक्ष इच्छु बुधिमान॥ १॥
आशा फांसी काट कर, विचरो होय निराश।
निशदिन चीनो आतमा, निर्भय परम प्रकाश॥ २॥
मन की गति चंचल महा, राग द्वेष को मूल।
त्याग तांहि विचरो अमल, क्षीण होय भव शूल॥ ३॥
क्यों भूले हो आप को, मन की संगत लाग।
सावधान हो आप में, मन की संगत त्याग॥ ४॥
नित्य अनित्य विचार कर, चीनो अपना रूप।
देह अनित्य विसार कर, सिमरो नित्य स्वरूप॥ ५॥
क्यों खोते हो बुद्धिबल, मिथ्या धन के हेतु।
क्यों भूले हो सन्त वच, काहे भये अचेत॥ ६॥
दया करो अब आप पर, चीनो अपना आप।
यतन सहित मन वश करो, नाशें सकलहि ताप॥ ७॥

Scanned with CamScanner

मित्र करो वीचार कर, जांते उपजे शान्त।
आशा तृष्णा चिन्त तज, सेवो देश एकान्त ॥ ८ ॥
सदा रहो शीतल सुखी, माया मद से मुक्त।
सिमरो आतमराम नित, समता मुदता युक्त ॥ ९ ॥
नित नूतन मंगल महा, निर्विकार निभ्रांत।
विचरो जग में व्योमवत्, संग दोष से शान्त ॥ १० ॥
सदा रहो निष्कल्प मन, आतम सुख में लीन।
नित सन्तुष्ट अक्षोभ चित, राग द्वेष से हीन ॥ ११ ॥
भूत भविष्यत त्याग कर, वर्तमान सुख पाय।
हेमराज नित स्वस्थ हो, पूरण ब्रह्म समय ॥ १२ ॥

प्रश्न ६७—जगत की मर्यादा क्या सिखलाती है ? इसमें निवास करने से क्या फल मिलता है ? जगत में काल किस रीति से व्यतीत करें कि जीवन-मुक्ति का परम लाभ और जगत की यात्रा का मुख्य फल प्राप्त हो ?

उत्तर—इस जगत की मर्यादा सब जिज्ञासुओं को वैराग्य, उपरति और धैर्य का पाठ पढ़ाती है। जो बुद्धिमान, इसकी मर्यादा को देखकर अपनी वृति को गम्भीर, उदासीन और एकान्त-सेवी बनाते हैं, उन्हें जगत के दर्शन-स्पर्श का लाभ पूरा-पूरा मिलता है। जो लोग विचाररूपी नेत्रों को मूंद कर आयु रूप यात्रा पूरी करते हैं, वे अन्तपर्यन्त मोह, लोभ, क्रोध, मान, मत्सर, चंचलता और विषय-प्रीति से पीड़ित और दुःखी रहते हैं। यह स्थान उदासीन होकर रहने का है। सब-सम्बन्धी, मित्र, दास, दासी, भ्राता, पुत्र, भार्या, शिष्य, अनुचर स्वार्थ के निमित्त एक-दूसरे से चिपटे हुए हैं। स्वार्थ के बिना कोई किसी का नहीं। यह मर्यादा हमको यह उपदेश करती है कि हे जगतवासियो ! एक-दूसरे के साथ चित्त न बांधो। जान-बूझ-कर अन्ध कूप में न कूदो। कुटुम्ब-पालन के निमित्त द्रोह, छूस, मिथ्या-वचन, ठगी, चोरी और हिंसा न करो। गृहस्थी कूप के चारों ओर बैल की नाँई आयु पर्यन्त घूमते न रहो। सावधान ! यह संसार केवल मन नटुवे का खेल है, भ्रम से सिद्ध है। मिथ्या और कल्पित वचन के रज्जू से बँधे हुए सब मनुष्य बन्दरों की भाँति क्रीड़ा कर रहे हैं। अतः इसमें रहने से रंचक मात्र लाभ नहीं, सब प्रकार की हानि है। अज्ञानीजन अविद्या से अन्धे हुए इस इन्द्र-जाल को सत्य निश्चय कर हर्षित हो रहे हैं, और अपने बल-बुद्धि के इसी क्रीड़ा में नष्ट कर राग-द्वेष, हर्ष-शोक, पश्चात्ताप, बंधन, स्मृति तथा विषय-रति का फल उठा रहे हैं। कोई विचारवान ही अविद्यारूपी नींद से सावधान होकर इस जगत की मर्यादा को विचारता है, और उससे उपरान्त होकर सुखसहित आत्मानन्द का अनुभव करता है। हे मेरे प्यारे सत्-संगियों ! इस संसाररूपी अटवी में न भटकें। स्त्री पुत्रादि के मीठे २ बचनों पर न भूलें। धन लाभ के लिए व्यवहाररूपी खाई में दिन-रात ठोकरें न खाते रहें। अपनी रक्षा निमित्त, धन-संचय के कारण अथवा सुख-प्राप्ति के हेतु मलिन स्वभाव निश्चय कर उनका सेवन न

Scanned with CamScanner

करें। शीघ्र ही अविद्या को परित्याग कर सत्यधर्म में तत्पर रहें। शरीर को दम का दमामा निश्चय कर इसकी पुष्टि, सुन्दरता, निरोगता और चेष्टा पर भूलकर न फूलें। यह शरीर क्षणभंगुर है। देखते-देखते क्षीण हो जाता है। इसका भरोसा कर संसार के व्यवहार में लीन रहना महामूर्खता है। देखो, हमारे साथ बैठने वाले, मिलकर खाने वाले और हँसने वाले शरीर से अशरीर होने पर नेत्रों से ऐसे लोप हो जाते हैं कि अब उनका चिह्न भी कहीं नहीं मिलता, हम सबकी ऐसी दशा है। दूसरे की मृत्यु हमारी मृत्यु का संदेशा है। अन्ध जीव अविद्या से दूसरे की मृत्यु को भुलाकर अपने लाभ के अर्थ यत्न करते रहते हैं और अपने आपको स्थिर मानकर वैराग्य का लाभ नहीं उठाते। ऐसी बुद्धि पर धिक्कार है। अज्ञान ने इस जीव को कैसी दुर्गति पर पहुँचाया है कि वैराग्य का वचन सुनकर इसको ग्लानि होती है और राग का वचन सुनकर इसको प्रसन्नता होती है। सन्त के समीप जाने से इसको भय होता है और धनी की सेवा करने में वह अपनी भलाई मानता है। आत्म-अभ्यास को निरर्थक जानता है और व्यवहार को उत्तम मानता है। इस चित्त की ऐसी मलिन अवस्था केवल अविद्या के संग से हुई है। इसलिए हे मेरे भाइयों! हे मेरे सहृदय मित्रो! हे मेरे परमपावन सत्-संगियो! इस अविद्या का संग तोड़ो और सब लौकिक तथा व्यवहारिक उपाधियों से मुक्त होकर नित्यप्रति सत्यवस्तु में अपनी वृत्ति को जोड़ो, जिससे तुम्हारा जीवन सफल हो। उत्तम स्वभावों को अपनाकर जीवन-मुक्ति का लाभ उठाओ। यह संसार प्रवाहरूप है। इसका कोई पदार्थ नवीन नहीं है। इससे चित्त उपरत कर अकृत्रिम पदार्थ आत्मा में स्थित करो। शान्ति, समता और मोद सहित अपनी आयु निभाओ, जिससे जीवन का परलाभ और जगत की यात्रा का वास्तविक फल प्राप्त हो।

प्रश्न ६८—मृत्यु भय करने से क्या लाभ मिलता है?

उत्तर—काल महाबली है। वह किसी को नहीं छोड़ता। सबको भस्म कर देता है। इसलिए काल भय, वैराग्य और उपरान्त उत्पन्न करता है। भाव यह है कि जैसे-जैसे मनुष्य अपने सम्बन्धियों, मित्रों और दूसरे लोगों को मरता हुआ देखता है, वैसे ही उसकी वृत्ति जगत से उदास होकर सत्यरूप परमात्मा में लगती है। यहाँ तक कि न इसे अपने शरीर से मोह रहता और न शरीर के दुःख और क्लेश से घबराता है। शरीर को काल के आधीन जानकर वह इससे अलग रहता है। काल को चक्र की नाँई जानकर इसकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं से आनन्द लेता है। अतः काल भी जगत का गुरु है। इसके उपदेश के बिना किसी को जगत मिथ्या और शरीर नश्वर प्रतीत नहीं होता। जब लोग मृत्यु रूपी पुस्तक खोलकर यह उपदेश पढ़ते हैं, तब सबको जगत की असत्यता और शरीर की क्षण भंगुरता ज्ञान होता है। वैराग्य और उपरति प्राप्त करते हैं। इसलिए यह काल नहीं किन्तु जगत के मोह से छुड़ाने वाला है। इसके उपदेश को स्मरण रखें। जब मोह, क्रोध, अभिमान, अथवा कोई और दोष-चित्त को सतावे, तब काल का उपदेश स्मरण करें, सब दुःख निवृत हो जावेंगे। मृत्यु का सरोवर अति ठण्डा है, इसमें नित्यप्रति स्नान करते रहें। तात्पर्य यह है कि अपने

Scanned with CamScanner

शरीर को और दूसरों के शरीरों को नश्वर और मिथ्या समझें, जिससे क्रोध और मोह न रहे। जब जिज्ञासु इस संघात को नश्वर निश्चय करेगा, तब शेष ऐसा स्वरूप प्रतीत होगा जिसका न रूप है, न रंग। वही स्वरूप सत्य है उसमें न मोह बनता है और न क्रोध! इस रीति से सत्य और असत्य का विचार कर अपने मन को क्रोध, मोह, लोभ आदि विकारों से मुक्त करते हुए काल के भय का लाभ उठावें।

प्रश्न ६९—भविष्य के निमित्त चिन्ता उचित है अथवा नहीं?

उत्तर—भविष्य के निमित्त चिन्ता अनुचित है, क्योंकि शरीर क्षणभंगुर है। और सर्व-कर्म इसी शरीर द्वारा सिद्ध होते हैं। इसलिए क्षण भंगुर का आसरा लेकर भविष्यत काल की चिन्ता करनी यथार्थ-ज्ञान और यथार्थ वचन के विरुद्ध है। जीवन-मुक्त विद्वानों की यही निष्ठा है कि भूत और भविष्यत काल को विस्मरण कर केवल वर्तमान काल में मग्न रहे। जगत की मर्यादा ऐसी है कि सब मनोरथ समय के अनुसार सिद्ध होते चले जाते हैं। अतः किसी के निमित्त चिन्ता करनी उचित नहीं। अतः सदा अचिन्त होकर अपने काल व्यतीत करें। भविष्यत काल की चिन्ता न करें। यदि शरीर रहेगा तो सारा जगत और जगत के पदार्थ इसी के निमित्त हैं और यदि नाश हो जावेगा तो अपने कारण में समाकर समष्टि गति को प्राप्त होगा। इसलिए भविष्य की चिन्ता सर्वथा ही अनुचित है।

प्रश्न ७०—जगत के लोग जिन पदार्थों पर मोहित है उनका स्वरूप और फल क्या है?

उत्तर—शरीर क्षणभंगुर है, जवानी बिजली की नाँई अस्थिर है। धन वृक्ष की छाया है। प्रताप उड़ते हुए कबूतर की परछाईं है। घर जेलखाना है। स्त्री और पुत्र पाँव में बेड़ियाँ हैं। चिन्ता नित्य की चिन्ता है। भूत की स्मृति और भविष्य की चिन्ता मच्छरों के देश हैं। अज्ञानियों अर्थात् व्यवहारियों की संगति दलदल है। भयानक और रोचक शास्त्रों के शब्द भूतों के शब्द हैं। विषयों में प्रीति साँप का पालना है। तन की प्रति नित्य का रोग है। लोग-लज्जा मरण-पर्यन्त बंधन है। कुल-लज्जा चक्की-पीसना है। वेद-लज्जा काला पानी है। इसलिए पदार्थों को दुःखरूप और बंधन का निमित्त जानकर इससे प्रीति हटावे।

प्रश्न ७१—जब कोई मित्र अथवा सम्बन्धी मित्रता के सम्बन्ध का त्याग कर दे और चित्त उसके त्याग से शोकातुर हो, तो चित्त की शान्ति और शोक की निवृत्ति के लिए क्या उपाय करना चाहिए?

उत्तर—सावधान होकर विचार यह करना है कि जब शरीर, शरीर की अवस्था, शरीर के अंग, शरीर के स्वभाव और शरीर के गुण सर्वदा साथ नहीं देते। देखते-देखते बदल जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं, दूसरे शरीर के विरोध पर शोक करना अत्यन्त ही अनुचित है। यदि दूसरे ने मित्रता नहीं की तो इसमें आश्चर्य क्या है, यह वार्ता आदि प्रकृति से अर्थात् ईश्वर की इच्छा से है। जगत को खेल-तमाशा-बाज़ी, स्वांग; स्वप्न, मनोसंकल्प की नाईं बनाया गया है। इन सारी अवस्थाओं में कोई वस्तु एकरस नहीं रहती। क्षण-मात्र अपना प्रकाश दिखाकर फिर विपरीत हो जाती है। जब ऐसी अवस्था है तो किसी प्राणधारी अथवा

Scanned with CamScanner

जड़ पदार्थ के निमित्त चिन्ता अथवा शोक उचित नहीं।

जड़ और चेतन सब पदार्थ नश्वर हैं। काल का भेद है, कोई चार दिन आगे और कोई चार दिन पीछे। यदि काल के भेद को मध्य से उठाकर देखें तो सर्वमृतक हैं, कोई जीता नहीं। जब सर्व ही मृतक हैं तो मित्र कौन है और शत्रु कौन है? सबको मृतक और आपको भी मृतक मानकर शोक से रहित रहें। सब को जीवित न मानें और न ही अपने को जीता मानें। सबको नश्वर निश्चय कर निश्चल रहें। जो कुछ दृष्टि आवे, सबको मित्र निश्चय करके उस सम्बन्ध और मोह से रहित रहें।

जब मन किसी मित्र का संकल्प करे, तब उस संकल्प को रोककर मन को समझावें, 'हे मन! तू अपना मित्र आप है। क्यों अपनी मनौत से एक शरीर को अपना मित्र मानने लगा है? जब तेरी मनौत विपर्य्य हो जावेगी तो उसी मित्र को अपना शत्रु मानने लगेगा। इसलिए। दूसरा न कोई मित्र है और न कोई शत्रु। तू ही अपना मित्र है और तू ही अपना शत्रु है। अतः तेरा त्याग सब का त्याग है। इस विचार से मन के संकल्प को मित्र और शत्रु के चिंतन से रोकता रहे। एक दिन मन शान्त होकर सुख देगा। इस जगत में कोई किसी का मित्र और शत्रु नहीं, केवल मन ही शत्रु है और मन ही मित्र है। यदि मन स्थिर रहे तो मन मित्र है और यदि मन चंचल हो जावे तो मन शत्रु है। इसलिए मन को न चंचल करें और न किसी और का चिंतन। जब संकल्प उठावे, उसी समय उसका निरोध करें।

जो दुःख-सुख, व्यवहार, मित्रता, विरोध, हर्ष, शोक आदि व्यतीत हो जावें, उनका स्मरण करना उचित नहीं। उनका विस्मरण करना ही उचित है। यदि पुरातन मित्र को स्मरण करेगा और अब उसकी दूसरी अवस्था देखोगे तो उसका चित्र सदा जलता रहेगा, कभी भी शान्त नहीं होगा। इसलिए उचित है कि पिछली वार्ता को अत्यन्त ही विस्मरण करें। यदि कोई हमारा मित्र हो हमें वह त्याग कर दूसरों का मित्र बन जावे तो उनको अत्यन्त ही विस्मरण कर देवें, जिससे उसके दर्शन और स्मरण से हृदय में क्लेश न हो। इस जगत में विस्मृति के समान कोई सुख का साधन नहीं और स्मृति के समान कोई दुःख का साधन नहीं। अतः उचित है कि पिछली वार्ता कदाचित् स्मरण न करे किन्तु अत्यन्त ही विस्मरण कर देवे। यदि सुख से विस्मरण न हो ती पुरुषार्थ से उसके विस्मरण करने का यत्न करें।

यदि कोई हमारा सम्बन्ध और मित्रता त्याग दे, तो उसका उपकार समझना चाहिए, क्योंकि हमने तो उसके साथ सम्बन्ध बनाया था। भला हो उसका, जिसने हमें त्यागकर अपने आपको हमसे मुक्त किया। ऐसे पुरुष को अपना गुरु मानना चाहिए, क्योंकि उसने हमें वैराग्य का उपदेश दिया है। तात्पर्य यह कि इस रीति से उसने हमसे वैराग्य कर हमें विस्मरण कर दिया है। हम भी उसे त्यागकर अपने हृदय से विस्मरण कर देवें। उसे अपना गुरु मानकर फिर किसी से मित्रता अथवा प्रीत न करें। सबसे अलग और असंग रहें। अपने हाथ से अपने पांवों तले कांटे क्यों फैलाते हैं और आप ही खेद पाते हैं। हमसे छोटी आयु वाले शिष्य, मित्र हमारी परवाह नहीं करते और उनसे वृद्ध उनके गुरु उनके पीछे दीवाने हो रहे हैं। यही अज्ञान है। इसलिए उचित है कि वैराग्य करने वाले से वैराग्य करें और जगत

Scanned with CamScanner

के किसी पदार्थ के साथ प्रीत न करे। मोह शोक का कारण है, अतः मोह से रहित रहे।

यदि केवल वैराग्य, विचार, विस्मृति, गुरुधारण और उपसम से मन झुरने का त्याग न करे तो चालीस दिन पर्यन्त निरन्तर दस हजार बार ओंकार नाम का स्मरण करें, जिससे मन ओंकार का आकार होकर मित्रों के चिंतन और स्मरण से रहित हो और रागद्वेष, चिन्ता, शोक से मुक्त होकर आत्म-ज्ञान का अधिकारी हो।

जो पुरुष मित्र होकर विरोध करे, आत्मजिज्ञासु उसका सत्चिदानन्द रूप देखे। उसका नाम, वर्ण, आश्रम, कर्म, धर्म, सम्बन्ध और आकार मन से विस्मरण कर केवल उसके वास्तव स्वरूप पर अपनी दृष्टि रखे। उसके मित्रों को भी सत्चिदानन्दरूप देखे। दोषदृष्टि सर्वथा निवृत्त कर देवे। इस रीति से अपने मन को शान्त रखे।

यदि ऐसी पावन और उत्तम दृष्टि से अपना कल्याण न कर सके, तो जिसके लिए उसे शोक है, अपने उस मित्र अथवा सम्बन्धी के दूषणों पर विचार करे। उसके द्वारा जो दुःख और क्लेश प्राप्त हुए हैं, उन्हें स्मरण करे। उसके द्वारा प्राप्त सुखों का स्मरण न करे। यदि सुख स्मरण करेगा तो मन कोमल और स्नेहयुक्त होकर फिर उसको प्रीति में फँस जावेगा। यदि उसके दुःख स्मरण करेगा, मन उपरत होकर उससे मुक्त हो जावेगा। अतः सर्वदा उसके विकारों, दूषणों, क्लेशों और मूर्खतापूर्ण आचारों को स्मरण करके चित्त में उससे ग्लानि रखे, जिससे उसकी स्मृति का नाश होवे और शांति प्राप्त हो।

प्रश्न ७२—जगत में ऐसी मर्यादा है कि जब सम्बन्धी और कुटुम्बी चाहते हैं कि मनुष्य पशुवत् उनकी इच्छा और आज्ञा के आधीन बरते। यदि कदाचित् उनकी इच्छा के विरुद्ध बरताव होवे तो वह क्रुद्ध होकर विषाद और द्वेष करते हैं। इनसे किस उपाय से मुक्त होकर स्वच्छन्दता से देहसम्बन्धी काल व्यतीत किया जावे ?

उत्तर—ऐसी मर्यादा अज्ञानी जनों में प्रवृत्त है। विचारवान इस मर्यादा को लाँघकर स्वच्छन्द विचारता है। ज्ञानी सम्बन्धियों की मर्यादा और रीति को बालकों का खेल निश्चय कर उनसे उपरत और असंग रहता है। बाद में अपने ज्ञान तथा धैर्य के बल से उनके क्रोध, द्वेष, कठोर वचन, निंदा, उपहास और विपरीत बुद्धि को सहार कर पूर्ववत् अपने-आपमें अचल स्थित रहता है। इससे उसके लोक-लज्जा और कुल लज्जा रूपी बंधन निवृत हो जाते हैं और वही विचारवान शनैः-शनैः अपने स्वरूपचिन्तन, संग-त्याग, एकान्त सेवन, वैराग्य, धीरज, संतोष और आत्मस्थिति के बल से गृहस्थाश्रम में संन्यास आश्रम की गति प्राप्त होता है। इसलिए परमानन्द का जिज्ञासु सम्बन्धियों से भयभीत होकर अपनी असंगता, सुमित्रता, उपरति, स्वच्छन्दता, निर्भयता और आत्मस्थिति का त्याग न करे। वह प्रतिदिन सब सम्बन्धियों के संग और भय से असंग और निर्भय होता जावे, जिससे देह-सम्बन्धी काल असंगति और शांति सहित व्यतीत हो। सम्बन्धियों से मुक्त होने का यह परम उपाय है।

प्रश्न ७३—जिज्ञासु को सम्बन्धियों से किस प्रकार बर्ताव करना चाहिए ?

उत्तर—निर्मम, निर्मोह, असंग और उपरात होकर बर्ताव करना उचित है। जिस प्रकार एक परदेशी किसी धर्मशाला में अपना काल व्यतीत करता है और धर्मशाला के लोगों

Scanned with CamScanner

से ममता, मोह, संग-दोष और विरोध से रहित होकर मित्रता और समता से बर्ताव करता है वैसे ही जिज्ञासु अपने घर को धर्मशालावत् निश्चय कर असंगति और निर्ममता से निवास करे। अपने सम्बन्धियों को धर्मशाला का अथवा मार्ग का मित्र निश्चय कर मोह, ममता, संग-दोष और विरोध से रहित रहे। उनके साथ मित्रता, सहृदयता, निरमानता और समता से बर्ताव करे और अपने आपको विचार तथा वैराग्य के बल से उनके बंधन से मुक्त रखे। पशुवत् उनके अधीन होकर अपनी जिज्ञासा को कुण्ठित न करे। जिज्ञासु के हृदय में प्रेम, वैराग और विचार होता है और सम्बन्धियों के हृदय में राग, अज्ञान और व्यवहार-प्रीति होती है। इसलिए संबंधी जिज्ञासु के सहायक नहीं होते, उल्टा उसके शत्रु होते हैं। जिज्ञासु के प्रेम, वैराग्य और विचार को शिथिल, निर्मल और अदृढ़ करने का बलपूर्वक यत्न करते रहते हैं? इसलिए जिज्ञासु को सम्बन्धियों का संग और आज्ञापालन न्याय और विचारपूर्वक करना चाहिए। तात्पर्य यह कि सम्बन्धी परमार्थ के सहायक हों, उनके संग और आज्ञा-पालन में कोई दूषण नहीं और यदि परमार्थ के विरोधी हों तो उनके संग और आज्ञापालन में न्याय सहित विचार उचित है। सम्बन्धी कोई नहीं, अपने स्वरूप के अज्ञान से मनरचित सम्बन्ध से बँध जाते हैं। ऐसे कल्पित सम्बन्ध में आसक्त होना जिज्ञासुके लिए सर्वथा अनुचित है। वैराग्य द्वारा इनके मोह और दण्ड से मुक्त होना उचित है। यदि सम्बन्धियों का निवास एक स्थान पर हो तो जिज्ञासु को असंग होकर उनके साथ बर्ताव करना चाहिए। उन्हें अपना सम्बन्धी जान उनके साथ बाहर से प्रीत करे। परन्तु अपनी जिज्ञासा को नष्ट कर अपने-आपको बंधन में न बाँधे किन्तु स्वच्छन्द होकर विचरे।

प्रश्न ७४—जिज्ञासु को देहपालन के लिए कौन-सा व्यवहार करना उचित है।

उत्तर—जिज्ञासु के लिए वह व्यवहार उचित है जिससे चित्त निर्मल, शान्त धर्मनिष्ठ और निर्विकार रहे। अतः धन भी केवल देह पालन मात्र संग्रह कर सर्वदा व्यवहार में लीन होकर अपनी जिज्ञासा को निष्फल और निरर्थक न करे। इसलिए अल्प, सुगम, साधारण, स्वच्छन्द और निर्मल व्यवहार से देहपालन करे।

प्रश्न ७५—जगत का व्यवहार किस रीति से चलावें कि खेद न हो?

उत्तर—जगत का व्यवहार नौकर की तरह करना चाहिए। तात्पर्य यह कि जैसे नौकर जानता है कि मैं मजदूरी लेने वाला हूँ, लाभ-हानि से मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं। अतः वह समयानुसार केवल अपना काम पूरा कर देता है। वैसे ही तुम भी यही सोचा करो कि हमने केवल भोजन और छादन शरीर के लिए प्राप्त करना है, लाभ-हानि से हमारा कुछ प्रयोजन नहीं। वह व्यवहार तुम्हें दुःख नहीं देगा। इसमें न अपना सम्बन्ध मानो, न अपने को किसी वस्तु का अभिमानी जानो तथा न किसी कर्म का कर्त्ता, न फल का भोक्ता निश्चय करो। असंग और निरमान होकर कार्य करते रहो; तुम्हें दुःख और सुख न होगा। सदा शान्तरूप रहोगे।

प्रश्न ७६—असंग और निर्लेप रहने के लिए शरीर को किस प्रकार निश्चय करें?

उत्तर—शरीर को किराये वाली गाड़ी के समान निश्चय करें। जैसे किराये वाली गाड़ी से सवारी का काम लेकर वांछित स्थान पर पहुँचते हैं और किराया देकर उससे भिन्न हो

Scanned with CamScanner

जाते हैं। उसमें न अपना किसी प्रकार का अभिमान वा सम्बन्ध होता है और न उसके रहने से हर्ष और टूटने से शोक ही होता है। प्राणी दोनों से मुक्त रहते हैं। वैसे ही शरीर से सब कर्म करें, और उसके द्वारा सत्गुरु-सेवा कर आत्म-ज्ञान पावें। नित्यप्रति भाड़े की नाँई इसको अन्न-जल दिया करें, परन्तु इसमें किसी प्रकार का अभिमान अथवा आसक्ति न रक्खें। अपने को इससे न्यारा जानें; फिर शरीर के रहने से हर्ष और शरीर के न होने से शोक नहीं होगा। दोनों से रहित सदा समवृत्ति, रहोगे। जो शरीर को इस रीति से निश्चय करे, वह शरीर में रहकर असंग और निर्लेप रह सकता है।

प्रश्न ७७—काषाय वस्त्र धारण करना चाहिए या नहीं? करना चाहिए तो किसे?

उत्तर—यदि पहले से ही गृहस्थ की उपाधि से रहित हो उदासीन वृत्ति अपनाकर काल व्यतीत करता हुआ सत्संग के प्रताप से अपने वास्तव स्वरूप को जाने और भिक्षा से अपना जीवन निर्वाह करे, उसे काषाय वस्त्र धारण करने की कोई अपेक्षा नहीं। भगवा वस्त्र धारण करने के उपरान्त मान, दंभ, चंचलता और शून्यता बुद्धि में प्रवेश कर बुद्धि को गुण ग्रहण करने से विमुख बनाते हैं। इसलिए गृहस्थ में उदासीन जिज्ञासु अथवा गृहस्थ से रहित ज्ञातज्ञेय व ब्रह्मचारी पुरुष को काषाय वस्त्र धारण करने की आवश्यकता नहीं, किन्तु उसी आश्रम में सत्पुरुष की सेवा और संगति का लाभ उठाना उचित है। यदि गृहस्थ में क्लेश प्रतीत हो, व्यवहार अधिक हो साथ ही आत्म-जिज्ञासा तीव्र हो और सत्संग के निमित्त समय न मिले तो गृहस्थ और व्यवहार से मुक्त होने के लिए काषाय वस्त्र धारण करना उचित है। जैसे मक्खियों को उड़ाने के लिए झलनी हाथ में उठानी पड़ती है वैसे ही सम्बन्ध और व्यवहार से निर्बंध होने के लिए भेषरूप झलनी को अंगीकार करना उचित है। वह भी अभिमान रहित होकर प्रीति और गुण-ग्राहक वृत्ति धारण करे अन्यथा भेष भी बंधनरूप है। काषाय वस्त्र धारण का लाभ केवल उदासीनता, उपरति, वैराग्य, स्वतन्त्रता, निर्मानता, कोमलता, क्षमा, शान्ति, सतता, संतोष, ब्रह्मचर्य, ध्यान, एकान्त-सेवन और यथार्थ ज्ञान में है। यह लाभ केवल सत्संग से प्राप्त होता है। यदि काषाय वस्त्र धारण कर सत्संग से विमुख हो जाये और मान, दंभ, निरर्थक-चतुराई के आधीन होकर गुणियों के गुण का भाग न ले। भाँग, चरस, तम्बाकू, अफीम आदि नशीले पदार्थों के सेवन में वृत्ति लगाकर लोभ के अधीन होकर निशदिन श्वानवत् द्वार-द्वार पर भटकता रहे। कपट से लोगों को अपने आधीन कर उनका धन हरे। जंत्र, तंत्र, मंत्र, रसायन आदि से अपनी फकीरी को पूर्ण और बलवान निश्चित करावें, बुद्धिहीन और अज्ञानी पुरुषों को संशयरूपी बन में रुलावे। उनका धन लूटकर ले जावे तथा विद्या को अध्ययन कर खण्डन-मण्डन में अपनी बुद्धि को लगावे। सृष्टि को शान्त मार्ग से विपरीत कर विक्षिप्त बनावे। वह भावना भेषधारी साधु चोर से भी अधिक दण्ड देने योग्य है। वह काषायवस्त्र से अपनी आयु को नाश कर अपने-आपको बाँध रहा है। इसलिए भगवा वस्त्र भी महाबुद्धिमान, उत्तम-गुणवान और निरमान पुरुषों को शोभदायक और फलदायक होता है। बुद्धिमान भेष को कल्पित और मिथ्या निश्चय कर उसके द्वारा सम्मान स्वीकार नहीं करता। इसलिए उसको जीवन मुक्ति का विलक्षण

Scanned with CamScanner

आनन्द प्राप्त होता है। जो मानधारी हो जाता है, वह गृहस्थी से भी अधिक बंध जाता है। अतः केवल निरमान आत्मजिज्ञासु को काषाय वस्त्र से संन्यास लेना उचित है। जिस पुरुष का स्वभाव गृहस्थ में उत्तम और मोहादि बंधनों से मुक्त है। आत्मज्ञान से प्रकाशित संशय विपर्यय से रहित है, उसे काषाय वस्त्र से संन्यास लेना उचित नहीं।

प्रश्न ७८—जिज्ञासु को विवाह करना चाहिए अथवा नहीं ?

उत्तर—जिज्ञासु यदि अपनी वृत्ति को सर्वदा शुद्ध और पावन रख सके तो विवाह न करे। केवल ब्रह्मविद्या के साथ विवाह करे। यदि वृत्ति चंचल हो, स्त्री का चिंतन करता हो तो द्वार-द्वार भटकने से एक स्त्री के साथ संयोग करना श्रेष्ठ है। युवावस्था महा-भयानक है। इसमें कामदेव का बड़ा बल होता है। इस अवस्था में अपने मन को वश करना महावीरता है। पहले-पहल वैराग्य हो जाता है, परन्तु संग दोष से वैराग्य नष्ट हो जाता है। इसलिए विचार से सब कामों में प्रवृत्त होना चाहिए। इसके लिए कुछ काल पूर्ण पुरुष सत्-गुरु की संगति और सेवा में व्यतीत करे और मन को अभ्यास में लगाकर विषयों से हटाता रहे। जब दृढ़ अभ्यास के बल से मन विषयवासना से मुक्त हो जावे, तब इस पर प्रतीत हो सकती है। अन्यथा यह स्फुरणरूप शक्ति महादुस्तर और चंचल है। विवाह से प्रथम जिज्ञासु को उचित है कि कुछ काल मन की परीक्षा करे। आत्म-चिंतन की ओर मन को लगावे। गृहस्थ के दुःख स्मरण करे और उपरति के सुख विचारे। फिर देखे कि मन की क्या अवस्था है। यदि शान्त हो जावे, तो ब्रह्मचर्य परमार्थ में प्रवृत्त होवे। यदि विषय चिंतन हो, विवाह कर विचार से काल व्यतीत करे। सत्संग की सहायता से भोग और मोक्ष दोनों का लाभ उठावे।

प्रश्न ७९—स्त्री सहित त्याग सुखरूप है वा बंधनरूप ?

उत्तर—इस जगत में उपरत के प्रतिबंधक अनेक हैं। सत्यमार्ग के यात्री को अपनी इच्छानुसार नहीं चलने देते। जीवन कालचक्र की नाँई क्षण-क्षण व्यतीत हो रहा है। काल का वेग किसी प्रकार से स्थिर नहीं हो सकता और शरीर काल के अधीन है। जीवनमुक्ति शरीर के होने पर ही प्राप्त होती है। शरीर प्राण के आसरे होने से क्षणभंगुर है। इसलिए दूरदर्शी, बुद्धिमान् जिज्ञासु सब प्रतिबंधकों को तोड़कर उपरति रूप वन में सत्संगरूप फुल-वारी की गुण आनन्दित और पावन सुगन्ध से अपने मन को प्रफुल्लित और मुदित करे। स्त्री सहित त्याग बंधनरूप है। सत्संग का आनन्द केवल केवलीरूप में अनुभव होता है। यदि रंचमात्र भी प्रतिबंध हो तो अखण्ड आनन्द और पूर्ण बोध नहीं होते। इसलिए स्त्री आदि के संग से रहित होकर सत्पुरुष के संग में स्थित होना लाभदायक है।

प्रश्न ८०—

॥ दोहा ॥

चाह चमारी चूहड़ी, अति नीचन की नीच।
यह तो पूरण ब्रह्म था, चाह न होती बीच॥

इसके क्या अर्थ हैं ? इसमें यह शंका है कि चाहना बिना कोई कार्य सिद्धि नहीं हो

Scanned with CamScanner

सकता, किन्तु इस वचन में चाहना के त्याग का उपदेश है कि किस रीति से चाहना का त्याग कर शरीर का निर्वाह करे ?

उत्तर—इस दोहे के तात्पर्य यह है कि इच्छा की उपाधि से चेतन जीव पद को प्राप्त हुआ है। यदि विचार द्वारा इच्छा त्याग करे, वह पूर्ण ब्रह्मरूप है। यद्यपि इस जगत में चाहना के बिना कोई काम पूर्ण नहीं हो सकता, परन्तु चाहना के त्याग के बिना आत्म-विश्राम और आत्म-स्थिति भी प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए चाहना का त्याग करना अनिवार्य है। इच्छा का त्याग करने में यह विचार करना उचित है कि किस प्रकार की इच्छा से मेरे हृदय में शोक और चिन्ता प्रगट होती है और किस प्रकार की इच्छा से मेरे निश्चय में भेद, स्वार्थ, प्रीति, ईर्षा, विरोध और कृपणता उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार अनात्म इच्छा को विचार द्वारा त्यागना चाहिए। परमात्मा के भजन की इच्छा, संतों के संग की इच्छा, शास्त्रों के विचार की इच्छा, गृहस्थ के त्याग की इच्छा, और मुक्ति की इच्छा सुखरूप होने से धारण करने योग्य हैं। अभिप्राय यह कि सतोगुणी इच्छा अपने हृदय में स्थित रखें और रजोगुणी वा तमोगुणी इच्छा अपने हृदय से निकालें। तमोगुणी इच्छा अर्थात् शुभ-इच्छा, मोक्ष-इच्छा, भजन-इच्छा, त्याग-इच्छा, दान-इच्छा, एकान्त-सेवन-इच्छा, समाधि-इच्छा, शास्त्र-चिन्तन-इच्छा, संतोष-इच्छा, धीरज-इच्छा और वैराग्य आदि इच्छाएँ हैं। इनमें धन-संग्रह-इच्छा, विषय-भोग-इच्छा, स्त्री-इच्छा, पुत्र-इच्छा, रसदायक आहार-इच्छा, कीर्ति-इच्छा, वस्त्र-इच्छा, भूषण-इच्छा, मान-इच्छा, सुन्दर-सेज-इच्छा, शरीर-पालन-इच्छा और कुटुम्ब-पालन आदि इच्छाएँ हैं। तमोगुणी इच्छाएँ —आलस्य-इच्छा, रजोगुणी निद्रा-इच्छा, बहुत खाने की इच्छा, अनुचित क्रोध-इच्छा, पर-पीड़ा-इच्छा, परनिन्दा-इच्छा, हिंसा-इच्छा, परद्रव्य-हरण-इच्छा, कठोर स्वभाव-इच्छा और हठ आदि। इन तीन प्रकार की इच्छाओं में से धन-संग्रह-इच्छा, केवल शरीर के निर्वाहार्थ ग्राह्य हैं और दूसरे पदार्थों की इच्छाएँ रजोगुणी इच्छाएँ त्याज्य हैं। तमोगुणी इच्छाओं में से केवल निद्रा समयानुसार अंगीकार करनी चाहिए। दूसरी सब प्रकार की तमोगुणी इच्छाओं का त्याग ही उचित है। इस रीति से शुभ इच्छाएँ ग्राह्य हैं और अशुभ इच्छाएँ त्याज्य हैं। जब अशुभ इच्छाओं को त्याग कर शुभ इच्छाएं अपनाई जाएं, वे भी परिपक्व होने पर त्यागने योग्य हो जावेंगी। जब उभय प्रकार की इच्छाओं का सम्बन्ध जीव से निवृत्त होगा, उस समय जीव साक्षात् पूर्ण ब्रह्म है। जिज्ञासु प्रथम रजोगुणी और तमोगुणी इच्छाओं को त्यागकर सतोगुणी इच्छा का अभ्यास करे। जब सतोगुणी इच्छा के अभ्यास से पूर्ण ज्ञान उदय होगा और समता, शांति मुदता, गंभीरता वृत्ति में समा जावेंगी, उस समय सतोगुणी इच्छा की समाप्ति होकर निरीहावस्था प्राप्त होगी। इसी अवस्था का नाम परमपद, तुर्यातीत और अवाच्य पद है।

प्रश्न ८१—कविता की इच्छा और यत्न मुमुक्षु को उचित है या नहीं ?

उत्तर—जगत में काफिया, सिहरफियाँ, छन्दादि की पुस्तकें अनेक प्रचलित हैं। श्रद्धा के बिना कोई वचन दूसरे को लाभ नहीं पहुँचा सकता। श्रद्धा दूसरों के हृदय में बहुत काल के उपरान्त अपना बल जमाती है। उसी समय वचन मान पाता है। इसलिए आत्म

Scanned with CamScanner

जिज्ञासु अपने मन की शुद्धि का पुरुषार्थ करे। कविता अथवा शास्त्र रचना के निमित्त अपने मन को चंचल और विक्षिप्त न करे। कुछ काल सब ओर से अपने मन को रोककर केवल आत्मचिन्तन में स्थित रखे, जिससे अविद्या और विक्षेपता नष्ट हो जाये। अपने नाम की प्रसिद्धि का संकल्प न करे। यह संकल्प महामलिन है, मनुष्य को दीवाना बना देता है। अत: विवेक और वैराग्य को अपना मित्र बना अपने वास्तव स्वरूप में स्थित रहे, जिससे शान्ति, तृप्ति, गम्भीरता, मुदता, समता और मित्रता प्राप्त हो। यदि एक पुस्तक बनाकर छपवाई तो दूसरी पुस्तक बनाने की तृष्णा चित्त को विक्षिप्त करेगी। जब दूसरी पूरी हो जावेगी, तीसरी की तृष्णा छाती को जलायेगी। इसी प्रकार प्राणांत-पर्यन्त शांति और तृप्ति नहीं आयेगी। इसलिए अपने मन को उपसम रखें और चित्त के निरोध तथा एकाग्रता का रस पीवें। जैसे संसार के व्यवहारों की तृष्णा दिन-प्रतिदिन अधिक होती जाती है वैसे ही कवीश्वरी तृष्णा भी दिन-दिन अधिक होकर चित्त को चंचल बनाती है। पाठक काफी, छन्द दोहा, चौपाई, सवैया, कवित्त, वैंत आदि के पढ़ने से आनन्द पाता है परन्तु कविश्वर अपनी छाती को जलाता है, सिर खपाता है, मन को चंचल बनाता है, दिन का सुख और रात की नींद गँवाता है। सर्वदा मनोराज और चिन्ता में प्रवृत्त होकर अपनी आयु को घटाता है। केवल अपने नाम की महिमा को सुनकर आनन्द मनाता है। इसके अतिरिक्त कोई लाभ नहीं पाता। इसलिए मुमुक्षु विचार करके इच्छा करे। ऐसा न हो कि इच्छा के निमित्त यत्न और विक्षेपता के आधीन होकर शोक और पश्चात्ताप का फल पावे और इच्छा भी पूर्ण न होवे। अत: सब कार्यों में विचार करना योग्य है।

प्रश्न ८२—कोई जिज्ञासु एक जगह निरीह बैठा है। उसकी इच्छा किसी पदार्थ के निमित्त नहीं है। उसी स्थान पर दैवयोग से कोई पर-स्त्री आकर जिज्ञासु से रति-विलास के निमित्त प्रार्थना करती है, ऐसी निर्जन अवस्था में उस जिज्ञासु को उस स्त्री के साथ संयोग करना चाहिए या नहीं? जिस प्रकार दूसरी इन्द्रियों से उनके विषयानुसार भोग भोगते हैं, उसी प्रकार उपस्थ-इन्द्रिय से भी विषय संयोग करना उचित है या नहीं?

उत्तर—अविकारी पुरुष इन्द्रिय के विशेष विषय-भोग से रहित रहता है; केवल शरीर के निर्वाह के लिए इन्द्रियों को समान रीति से समान विषयों में प्रवृत्त करता है। विशेष रीति अथवा प्रीति से किसी विषय को नहीं भोगता। इसलिए जो पदार्थ उसे प्राप्त होता है, उसके साथ उसका प्रयोजन नहीं है। पदार्थों के साथ सम्बन्ध करानेवाली इच्छा उसकी नष्ट हो चुकी है। इसलिए किसी पदार्थ के साथ उसका सम्बन्ध नहीं। वह इन्द्रियों को अपने शरीर के निर्वाह के लिए विषयों में इस प्रकार प्रवृत्त करता है जैसे बालक अपनी इन्द्रियों की सहज चेष्टा करता है। इसलिए अनिच्छित पुरुष दूसरे की प्रेरणा के अधीन होकर अपने धैर्य का त्याग नहीं करता। जब कोई पदार्थ छलरूप से प्राप्त होता है, तब वह बलवान होकर अपने मन को त्याग के बल से ऐसा पुष्ट करता है, जिससे किसी प्रकार भी मन की वृत्ति न डोले। जो जिज्ञासु साधन चतुष्टय सम्पन्न है अथवा साधना का अभ्यास करता है, उसे उचित है कि वह अपनी इन्द्रियों को हठ से रोके, क्योंकि 'दम' साधन

Scanned with CamScanner

के अर्थ इन्द्रियों के दमन के हैं। यदि विषयों से रहित रहनेवाला जिज्ञासु एक विषय को पाकर अपने व्रत को खण्डित कर दे, वह दूसरे विषयों में किस प्रकार सावधान रहकर अपनी जिज्ञासा को पूर्ण करेगा ? इसलिए जिज्ञासु अनिच्छित पदार्थ की प्राप्ति से भी अपने मन को उसकी प्रीति अथवा भोग में न बाँधे वह अपनी जिज्ञासा की रक्षा के लिए उसका त्याग करे। जैसे पुरुष को जब कोमल और सुन्दर सर्पिणी प्राप्त होती है, तब वह उसे पकड़कर अपने गले में नहीं डालता किन्तु उससे भयभीत होकर दूर भाग जाता है। वैसे ही जब दैव-योग से सुन्दर और युवती स्त्री अपनी इच्छा से रति भोग के निमित्त सन्मुख आकर प्रार्थना से पुरुष के मन को ललचावे, जिज्ञासु पुरुष उसे सर्पिणीवत् जानकर उससे दूर भागे। तात्पर्य यह है कि अपने सम,दम और वैराग्य का त्याग न करे किन्तु स्त्री का त्याग कर अपने धर्म की रक्षा करे। ज्ञानवान न्याय विचार से सब पदार्थों का उपयोग करे। जिस पदार्थ से धैर्य, बुद्धि, वीर्य, वैराग्य और स्वरूप आनन्द की हानि हो, उस पदार्थ के त्यागने में अपने ज्ञान-रूप बल को प्रवृत्त करे। स्त्री, धन- मान, लोक प्रीति, लोकवासना और मिथ्या मनो-राज आदि तो पूर्वोक्त विकार उत्तम स्वभावों के घातक हैं। इसलिए ज्ञानवान इनसे सर्व प्रकार से उपरत रहे। जब ज्ञानी को इनसे उपरत रहने में श्रेष्ठता और गम्भीरता प्राप्त है तो जिज्ञासु इन पदार्थों से अपनी वृत्ति को हठात उपरत रखे जिससे उसकी जिज्ञासा पूर्ण होकर तत्वज्ञान की प्राप्ति हो।

शरीर में दस इन्द्रियाँ हैं। इनमें से दो इन्द्रियाँ—रसना और उपस्थ अतिशय बल-वान और छल रूप हैं क्योंकि इन दोनों इन्द्रियों से दो-दो व्यवहार सिद्ध होते हैं। रसना इन्द्रिय से एक वचन उच्चारण और दूसरा रस-ग्रहण सिद्ध होता है। और उपस्थ इन्द्रिय से एक मूत्र त्याग तथा दूसरा रति-भोग सिद्ध होता है। शेष आठ इन्द्रियाँ एक-एक विषय की साधक हैं। इससे ये दो इन्द्रियाँ सब इन्द्रियों की स्वामी अथवा प्रेरक हैं। इसलिए इन दो रसना और उपस्थ इन्द्रियों को अपने वश में रखे। इनको समान रीति से प्रवृत्त करे और विशेषत: इनका दमन करे। तात्पर्य यह है कि रसना इन्द्रिय को केवल उदर-पूर्ति के लिए ग्रहण करे और प्रयोजन मात्र उससे वचन का उच्चारण करे। इसके अधीन होकर सब समय रसना को प्रवृत्त न करे और अज्ञान के अधीन होकर सर्वथा निरर्थक वचनों का उच्चारण भी न करता रहे। इसी प्रकार उपस्थ इन्द्रिय को भी केवल मूत्र त्याग के अर्थ प्रवृत्त करे। यदि गृहस्थी है, अपनी स्त्री से भी ऋतु स्नान के पश्चात् संयोग करे और फिर उससे भी उपरत रहे। विरक्त को वीर्यत्याग उचित नहीं। केवल मूत्र त्यागकर सन्तुष्ट रहे और वीर्य की सब प्रकार से रक्षा करे। इस रीति से रसना और उपस्थ इन्द्रियों को सामान्य-तया प्रवृत्त करने से दूसरी इन्द्रियाँ वश में रहती हैं। दूसरी इन्द्रियों के विषय-भोग विचार, न्याय, संतोष और धैर्य से भोगने चाहिए। यदि पूर्वोक्त सतोगुणी स्वभावों को त्यागकर किसी इन्द्रिय के विषय में अधिक प्रवृत्ति हो जावे तो वही इन्द्रिय बन्धनरूप होकर पुरुष के चित्त को मरण-पर्यन्त अपने अधीन रखती है। इसलिए इन्द्रिय के किसी विषय के साथ प्रीति उचित नहीं। रसना और उपस्थ के साथ तो प्रीति का अत्यन्त त्याग उचित है; क्योंकि

Scanned with CamScanner

रसना से रस का ग्रहण होता है और उपस्थ से रस का त्याग होता है। दूसरी किसी इन्द्रिय से किसी भौतिक पदार्थ का प्रवेश शरीर के अन्दर नहीं होता। दूसरी इन्द्रियों की अपेक्षा ये उभय इन्द्रियाँ चित्त को अपने मोह में फँसाने की अधिक दृढ़ सामर्थ्य रखती हैं। इसलिए इन दोनों इन्द्रियों को वश में रखना परम धर्म है।

प्रश्न ८३—जब ज्ञान के साधनों से अन्तःकरण की शुद्धि हो जाए तो शरीर की शुद्धि के लिए शास्त्रों के अनुसार स्नानादि कर्म करने से हानि है या नहीं ?

उत्तर—शुद्धि दो प्रकार की है, एक बाह्य दूसरी अन्तर। अर्थात् एक बहिरंग दूसरी अन्तरंग। बहिरंग शुद्धि जल के स्नान और शुभ निष्काम कर्मों से होती है और अन्तरंग शुद्ध विवेक, वैराग्य आदि साधन और ओंकार उपासना से होती है। जब तक बाह्य और अन्तर की शुद्धि न हो तब तक यथार्थ शुद्धि नहीं समझी जाती। इसलिए शुद्धि के जिज्ञासु बहिरंग शुद्धि के अर्थ जल स्नानादि कर्म और अन्तरंग शुद्धि के अर्थ विवेक, वैराग्य और उपासना आदि साधन सेवन करता रहे। इससे पूर्ण शुद्धि प्राप्त होकर यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति हो।

प्रश्न ८४—आत्म-जिज्ञासु को कर्म करना उचित है या नहीं ? यदि उचित है तो जिज्ञासु किन कर्मों में प्रवृत्त हो और किनसे आत्मज्ञान की प्राप्ति हो ?

उत्तर—जब तक शरीर है तब तक कर्म हैं। कर्म के बिना एक क्षण भी शरीर नहीं रह सकता। कर्म ही शरीररूप होकर स्थित है। इसलिए शरीर से कर्म निरन्तर होता रहता है और कर्म की सिद्धि का नाम जीवन है। जब कर्म सिद्ध नहीं होता तब शरीर जर्जररूप होकर मृतअवस्था को प्राप्त होता है। इसलिए जब तक शरीर रहे तब तक कर्म करना उचित है। नित्य और नैमित्तिक कर्म दो प्रकार का है। नित्य कर्म वे हैं, जो पुण्य पाप की कल्पना से रहित अपने शरीर की शुद्धि और रक्षा के लिए किये जाते हैं। जैसे शरीर को जल के साथ धोना, ईश्वर का स्मरण, अर्चन व ध्यान करना। क्षुधा निवृत्ति के लिए आहार खाना। तृषा शान्ति के लिए जल पीना, निद्रा के समय सोना। विष्ठा मूत्रादि का त्याग करना। मल से शरीर को शुद्ध रखना शीत व उष्णता से रक्षा के लिए वस्त्र ओढ़ना यात्रा के लिए पर्यटन करना। अपने वर्णाश्रम और देश की रीति के अनुसार शुद्ध आहार बनाना। नैमित्तिक कर्म वे हैं, पुण्य, प्रसिद्धि अथवा लोक लज्जा के निमित्त किये जावें। जैसे कार्तिक मास में सूर्य के उदय होने से पूर्व स्नान करना; व्रत, तीर्थयात्रा, होम, श्राद्ध, देवता पूजन, गृह पूजन, त्यौहार अर्थात् संक्रांति, अमावस-ग्रहण; पूर्णमाशी, संवत, वैसाखी आदि पर उत्साह करना। रोग अथवा दूसरी आपदा के समय कोई पाठ आरम्भ करना; तिल चढ़ाना, गोदान करना अथवा कोई दूसरी वस्तु देना। विवाह के समय अपने गृह के देवता आदि को आदर प्रतिष्ठा सहित गृह में लाना और उसको अपने सब कर्मों का साक्षी निश्चय कर उसकी सेवा में प्रवृत्त रहना स्त्रियों में प्रवृत्त दूसरी रीतियों को पूरा करना। मृत्यु के समय लौकिक रीति के अनुसार बरतना अर्थात् पिंड भरना, प्रातःकाल और सायं-काल स्नान कर क्रिया करना, और दूसरे मध्यवर्ती कर्मों को सिद्ध करना, गरुड़-पुराण

Scanned with CamScanner

श्रवण करना अथवा उसका पाठ करना, गया में पिंड भरना, गंगा में अस्थियों का डालना इत्यादि और भी अनेक हैं। इनमें से नित्य कर्म सरल और प्रकृति अनुसार हैं। उनके द्वारा शरीर की नीरोगता और रक्षा रहती है, अतः वे करने योग्य हैं। नैमित्तिक कर्म कठिन और कल्पित हैं। इनके करने से कायिक अथवा मानसिक लाभ प्राप्त नहीं होता। इसलिये त्यागने योग्य हैं। जिज्ञासु में जब तक संशय विपर्यय रहित अपरोक्ष आत्म अनुभव उदय न हो तब तक उसके चित्त में संशय की स्थिति रहती है और वह लोक-लज्जा, कुल लज्जा व वेद-लज्जा के आधीन होकर भय, विक्षेपता और शोक का भागी रहता है। अतः जब तक चित्त का संसय अत्यन्त निवृत्त न हो तब तक जिज्ञासु को भी लौकिक रीति के अनुसार नैमित्तिक कर्मों में बरतना उचित है जिससे उसकी वृत्ति लोगों की निंदा के वचन सुनकर आत्मज्ञान से विमुख न होवे। प्रत्युत यथार्थ ज्ञानरूप बल से पुष्ट होकर सब मन रचित कर्मों के त्यागने में सामर्थ्य हो। कर्म का फल केवल शरीर की रक्षा है। जीव की रक्षा नहीं जीव की रक्षा तो यथार्थज्ञान से होती है। इसलिए यथार्थ ज्ञान ही जिज्ञासु का इष्ट है परन्तु देह दिशा में देह की रक्षा के लिए कर्म करना भी विधिपूर्वक और प्रकृति अनुसार है। विचार सहित नित्य और अनित्य कर्मों में प्रवृत्त रहना बुद्धिमान् जिज्ञासु को उचित है। अज्ञानियों की भाँति सब नमित्तिक कर्मों के करने से संशय की वृत्ति, परिश्रम और बंधन होते हैं। अतः उचित है कि जब संशय विपर्यय रहित अपरोक्ष ज्ञान उदय हो जावे, तब सब कल्पित नैमित्तिक कर्मों से मुक्त होकर शरीर रक्षा के लिए केवल नित्य कर्म करता रहे।

(२) जिन कर्मों से अन्तःकरण की शुद्धि और ज्ञानाधिकार होता है वे जिज्ञासु के करने योग्य निम्नलिखित हैं—

(१) **दया**, अर्थात् सब जीवों को तन, मन, धन और वाणी से सुख देना।

(२) **सत्य वचन** अर्थात् सत्य बोलना!

(३) **ब्रह्मचर्य** अर्थात् पर स्त्री का त्याग करना। यदि गृहस्थी हो तो अपनी स्त्री से रति के समय संयोग करना और परस्त्री से रहित रहना और यदि विरक्त हो तो केवल ब्रह्मचारी अर्थात् यती रहना।

(४) **धैर्य** अर्थात् दुःख-सुख को सहारना।

(५) **संतोष** अर्थात् यथा लाभ संतुष्ट रहना।

(६) **मित्रता** अर्थात् सबको अपने समान जानकर मृदु वचन बोलना।

(७) **सहृदयता** अर्थात् सबको अपना आत्मा निश्चय कर सुख देना।

(८) **उपरति** अर्थात् अज्ञानी, भेदवादी, विषयी, व्यवहारी, मिथ्यावादी और मूढ़ की संगति से दूर रहना।

(९) **वैराग्य** अर्थात् किसी के साथ मोह, प्रीति अथवा सम्बन्ध न रखना।

(१०) **ध्यान**, अर्थात् मन को परमात्मा के स्वरूप में स्थित रखना।

(११) **एकान्त सेवन** अर्थात् सब पुरुषों से भिन्न होकर अकेले स्थान पर निवास करके मन को सब भूत और भविष्य-चिन्ता से रहित करना तथा एकाग्र होकर सत्य स्वरूप पर-

Scanned with CamScanner

मात्मा का ध्यान करना।

(१२) **सत्य शास्त्र चिन्तन,** अर्थात् जिन शास्त्रों में सत्य असत्य का विवेक हो, उन शास्त्रों को एकान्त में शुद्ध-बुद्धि से विचारना।

(१३) **सत्संगी** अर्थात् सत्पुरुष के समीप निर्मानता, श्रद्धा, प्रेम, भक्ति और सतता सहित जाना, उनके यथार्थ वचनों को श्रवण कर अपने मन में बसाना और एकान्त देश में उन वचनों को स्मरण कर मनन करना और फिर मनन किए हुए वचनों को अपनी वृत्ति के साथ ऐसा तदाकार करना कि वृत्ति और वचन एकरूप हो जावें। अर्थात् उन वचनों के तात्पर्य—केवल सत्य वस्तु के साथ वृत्ति को अभेद करना।

(१४) **सत्य संकल्प** अर्थात् अपने संकल्प को निरन्तर शुद्ध, निर्मल, निष्कपट, निर्मान, और सतोगुणी रखना। रजोगुण और तमोगुण का परित्याग करके केवल शुद्ध सतोगुणी कामना से सत्यमार्ग में प्रवृत्त रहना।

प्रश्न ८५—पाप और पुण्य कौन कराता है ?

उत्तर—अज्ञान।

प्रश्न ८६—रात्रि के समय बाहर जंगल में जाने से भूत आदि का भय प्रतीत होता है, इसका क्या कारण है ? वास्तव में भूत हैं या लोगों की झूठी धारणा है ? बाहर भय देने वाली कोई वस्तु प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होती, परन्तु अन्तर से भय का फुरना उठता है। नाना प्रकार के यह नीच संकल्प किस शास्त्र के विचार से निवृत्त होंगे ? कृपा कर उपदेश करें।

उत्तर— रात्रि के समय अँधेरे में पूरा-पूरा नहीं देख सकते और अन्तःकरण में शरीर की प्रीति और लोगों के भयानक वचनों के स्मरण से भय होता है। इसी से जंगल के वृक्ष और ठूठ चोर व भूत होकर प्रतीत होते हैं। किसी समय वृक्षों के अतिरिक्त अपने मन का भ्रम ही ऐसा बलवान हो जाता है कि अपने से भिन्न स्वरूप धारण कर भूत व प्रेत के रूप में आता है। इस प्रकार मनुष्य अपने से आप भयभीत होकर ऐसा घबराता है कि मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ता है।

दृष्टान्त

एक महात्मा किसी नगर से बाहर, कुछ अंतराय पर रहता था। एक बालक उनके पास नित्य भोजन ले जाया करता था। एक दिन किसी ने उस बालक से कहा कि जिस मार्ग से तू जाया करता है, उसी मार्ग में अमुक स्थान पर वृक्षों के मध्य एक बड़ा भूत रहता है। यह शब्द उस बालक के मन में स्थित हो गया। जब वह बालक नियमानुसार रात्रि के समय भोजन लेकर चला तो उस स्थान पर उसको ऐसा भय उत्पन्न हुआ कि दूसरा भयानक आकार उसके सम्मुख आया। यद्यपि उससे पूर्व भी वह नित्य-प्रति उसी मार्ग से आया जाया करता था, परन्तु भयदायक वचन उसके कान में नहीं पड़े थे। इसलिए उसको भय कभी नहीं हुआ था। अब मूर्खों के वचनों ने उसके चित्त को ऐसा विक्षिप्त कर दिया कि अपने संकल्प से भयभीत होकर रोता हुआ महात्मा के निकट पहुंचा और कहने लगा कि मैं कल से

Scanned with CamScanner

आपका भोजन नहीं लाऊँगा। उन्होंने पूछा, क्यों भाई! तू हमसे अप्रसन्न हो गया है? उसने कहा, महाराज! मार्ग में एक भूत रहता है। वह मुझे पकड़ना चाहता है। आज तो मैं किसी प्रकार उससे बचकर निकल आया हूँ। सदा उससे बच नहीं सकता। महात्मा ने कहा, तू सच्चा है। अच्छा हम तुम्हें एक उपाय बताते हैं, तू उसी प्रकार करना। यदि उसके उपरान्त फिर भूत तुम्हें दिखाई दे, तो न आना; यदि दृष्टि में न आवे, तो आते रहना। बालक ने मान लिया। महात्मा ने कहा, जब कल घर से चलो तो अपने दाएँ हाथ पर तेल लगाकर तवे से मसल लेना। हाथ काला हो जाएगा। जब वह भूत तुम्हारे सन्मुख आवे, बल से उसके मुँह पर वह हाथ मसल देना। फिर सीधे इस स्थान पर चले आना। दूसरे दिन बालक ने उसी प्रकार किया। जब महात्मा के समीप आया, उन्होंने पूछा, "क्यों भाई वह उपाय किया है?" उसने उत्तर दिया, "हाँ, महाराज किया है।" महात्मा ने उसे दर्पण दिखलाया, जब बालक ने दर्पण में अपना-मुख देखा तो सारा मुख काला दिखलाई दिया। पूछने लगा, "महाराज, यह क्या है?" कहने लगे, "हे बेटा! तुम्हारा भय ही भूतरूप था और वह भय तुमसे भिन्न नहीं है—किन्तु तुम्हारा अपना संकल्प है। इसलिए अपने स्वरूप के अज्ञान से तुम अपने-आपको दो स्वरूपों में देखने लगे थे। एक बालक, दूसरा भूत यद्यपि हाथ से स्याही लगाने के समय तुमको दूसरा आकार दिखाई दे रहा था, परन्तु वह दूसरा नहीं था, तुम आप ही थे। जैसे स्वप्न में एक स्वप्नद्रष्टा अपने को और तथा स्वप्न सृष्टि को अपने से भिन्न देखता है। वैसे ही तुम भी अपने को भिन्न और भूत को भिन्न देखते थे। वास्तव में तुम ही भूत थे। तुम्हारे बिना दूसरा कोई नहीं था।" जब उस बालक को यह ज्ञान हुआ, उसका भय मन से ऐसा निवृत्त हुआ कि फिर उसे लोगों के वचनों पर बिलकुल विश्वास न हुआ और वह नित्य-प्रति निर्भय आता जाता रहा।

इसी प्रकार हे जिज्ञासु तुम भी अपने स्वरूप के अज्ञान से भयभीत होते हो। देह-अभिमान से भय उत्पन्न होता है कि मैं मर जाऊँगा। मुझे पकड़ लेंगे। यदि तुम अपने आत्म-स्वरूप सत्चिदानन्द में सावधान रहो तो किसी देश, काल और वस्तु से तुम्हें भय न हो। सत्-शास्त्रों के विचार से (जिनमें ब्रह्मज्ञान का निर्णय है) इस प्रकार के संकल्प निवृत्त हो जाते हैं। इसलिए सत्य विचार द्वारा सत्य-वचनों को अपने हृदय में बसाकर सब पदार्थों को गोविन्द-रूप निश्चय कर द्वैत का भ्रम मन से मिटावो और अपने को शरीर से भिन्न केवल सत्चिदानन्द आत्मा निश्चय करो। जंगल में जाकर इस दृष्टि को बारम्बार पकाओ। अपनी वृत्ति के भय को निवृत्त कर ज्ञान का लाभ उठावो। तुम्हारा कोई शत्रु नहीं और न कोई तुमको दुःखाने वाला, दबाने वाला, डराने वाला व खाने वाला है। तुम अदाह हो, अच्छेद हो, अक्लेद हो, अशेष हो। तात्पर्य यह कि न आग से तुम जलने वाले हो, न हथियारों से तुम काटे जा सकते हो, न पानी में तुम गलाए जा सकते हो और न पवन से तुम सूख सकते हो। तुम सदा एक रस आप में आप स्थित हो। तुम सबकी आत्मा हो और सब तुम्हारी आत्मा हैं, किसी प्रकार का भेद नहीं। देवता, दैत्य, मनुष्य, पशु, पक्षी, भूत-प्रेत, पिचाश, गंधर्व, राक्षस, जिन्नपरी, सब आत्मा रूप हैं। तुम सबको परमात्मा निश्चय करो। द्वैत को मन से

Scanned with CamScanner

निकालो जब तक भेद रहेगा, तब तक भय नष्ट नहीं होगा। जब सबको अपनी आत्मा निश्चय करोगे, तब भय नहीं रहेगा। अपनी आत्मा को कोई दुःख नहीं देता। इस विचार से जंगल में नित्य जाया करो और पुनः-पुनः अपने स्वरूप को स्मरण कर और सब को परमात्मा में लीन कर अपने मन को धैर्य और निर्भयता के आसन पर स्थित किया करो। शरीर की दृष्टि दुःखों का मूल, भय देने वाली और दीन बनाने वाली है। आत्म-अभ्यास, शास्त्रचिन्तन और सत्संग से इस दृष्टि का त्याग करो। जिस प्रकार इसका त्याग होता जायगा, उसी प्रकार भय, दुःख और दीनता निवृत्त होते जाएँगे। नाम और रूप को त्याग कर केवल अस्ति भाँति-प्रेय पर निश्चय रखो। ज्यों-ज्यों नाम और रूप भूलेंगे त्यों-त्यों आनन्द और निर्भयता उदय होंगे। अतः बारम्बार अपने को शरीर से भिन्न, नाम रूप से न्यारा केवल सत्चित्त आनन्द निश्चय करो। ऐसे शास्त्र के पढ़ने से सब निरर्थक मनोराज और संशय निवृत्त होंगे।

प्रश्न ८७—इस जगत में मनुष्य किस प्रकार सुखी रहे?

उत्तर—जगत में वही मनुष्य सुखी रह सकता है जो विषयों से उपरत रहे। किसी के साथ प्रीति न रखे; क्रोध, लोभ, अभिमान, ईर्षा को अपने हृदय में प्रवेश न करने देवे। वैराग्य, धैर्य, संतोष, निर्मानता और मित्रता को अपना मित्र बना विचार से सब काम करे। संतों के वचनों को सत्य प्रतीत करके जगत के संशयों और गृहस्थ के धन्धों से मुक्त रहे। सदा अपने आप में मग्न रहे। सब जगत को ब्रह्मरूप देखे। भूत और भविष्य की चिन्ता न करे। वर्तमान में प्रसन्नचित्त रहे।

प्रश्न ८८—संसार में सुख किन साधनों स प्राप्त होता है?

उत्तर—हे प्यारे! संसार में सुख दो साधनों से प्राप्त होता है। पहला दृढ़, अपरोक्ष ब्रह्म-ज्ञान से, दूसरा दैवी सम्पदा के स्वभाव बनाने से। अतः अपरोक्ष ज्ञान के निमित्त सत्-संग, सत्-शास्त्र-चिन्तन, मनन और निदिध्यासन कर्तव्य हैं। दैवी-सम्पदा के निमित्त अपने स्वभावों पर विचारना, मलिन स्वभावों का त्यागना और उत्तम स्वभावों का ग्रहण करना, नीच अज्ञानी पुरुषों का संग छोड़ना, स्वरूप-चिन्तन और न्याय विचार कर वर्ताव करना ये साधन करने योग्य हैं। इसलिए पुरुषार्थ करके सुख साधनों का अभ्यास करते रहो, जिससे परम पुरुषार्थ की सिद्धि होकर मनुष्य शरीर का परम प्रयोजन प्राप्त हो।

(२) जब तक बुद्धि स्थिर न हो, तब तक रंचक मात्र भी सुख नहीं होता। बुद्धि सब इन्द्रियों की प्रेरक और मन की सहायक है। इसकी स्थिरता से सब इन्द्रियाँ और मन स्थिर हो जाते हैं और इसकी चंचलता से सब इन्द्रियाँ और मन चंचल होते हैं। इसलिए सुख के निमित्त बुद्धि को स्थिर करना योग्य है। स्थिर करने का उपाय यह है कि जिज्ञासु सत्चिदानन्द आत्मा में बुद्धि को मग्न रखे। आत्मा के बिना दूसरी ओर बुद्धि को न लगावे। जब अभ्यास करते-करते बुद्धि आत्मानन्द में मग्न हो जाती है तब संसार का अभाव हो जाता है। जैसे सुषुप्ति अवस्था में बुद्धि के लीन होने से संसार नहीं भासता वैसे ही जाग्रतावस्था में बुद्धि के लीन होने पर संसार प्रतीत नहीं होता। यही ज्ञान का परम प्रयोजन है।

प्रश्न ८९—हे भगवन्! जीवन-काल किस प्रकार व्यतीत करना योग्य है?

Scanned with CamScanner

उत्तर—हे प्यारे ! अपना जीवन-काल सत्संग, सत्शास्त्र-विवार स्वरूप-चिन्तन निर्विकल्प समाधि, अनुभव उल्लास, बन-यात्रा और एकान्त-सेवन में व्यतीत करते रहो। संसारीजनों का संग न करो क्योंकि इनका संग चित्त को विक्षिप्त करता है। इसलिए आत्म-जिज्ञासु तत्ववेत्ता के लिए असंगति, एकान्त-सेवन और मौन ही उचित और सुखदाई है।

प्रश्न ६०—

॥ चौपाई ॥

हे भगवान् ! पूरण हितकारी, सत्गुरु स्वामी परउपकारी।
कैसे विचरूँ जग में स्वामी; रहूँ अचिन्त असंग अकामी ?
देह-अभिमान मिटावूं कैसे, सत्य आत्मा पावूं कैसे ?
ऐसा सत् उपदेश सुनावो, मन के ताप क्लेश मिटावो ?

उत्तर—

॥ चौपाई ॥

सत्य असत्य विचारो निशदिन, देह आत्मा जानो भिन-भिन।
सत्य वस्तु में मन को जोड़ो, असत् वस्तु की ममता छोड़ो ॥ १ ॥
देह असत्त अमंगल जानो, आतम सत्य पवित्र पछानो।
तांते निशदिन देह भुलावो, आतम रूप निरन्तर ध्यावो ॥ २ ॥
देह अभिमान सरपवत् मारो, काम, क्रोध, अहंकार निवारो।
धन अभिलाषा सब तियागो, मोह नींद से वेगे जागो ॥ ३ ॥
चित चंचल को वश कर राखो, निर्विकल्प आतम रस चाखो।
निश दिन मन के करम विचारो, मलिन तियागो उत्तम धारो ॥ ४ ॥
निज इन्द्रिन को वश कर राखो; निर्विकार तृप्ती रस चाखो।
विषय वासना सकल भुलाओ, स्वर्ग कामना वेग मिटावो ॥ ५ ॥
शीतोषण को सम कर जानो, शत्रु मित्र एको कर मानो।
मान अपमान सहारो ऐसे, सृष्टि भार सहे धरती जैसे ॥ ६ ॥
सुत दारा की ममता त्यागो, सत्गुरु माँहि चित्त अनुरागो।
सत्गुरु को निज रक्षक जानो, परम पिता सत्गुरु को मानो ॥ ७ ॥
तन मन धन अरु वाणी भेटों, दोष दृष्टि चतुराई मेटो।
सावधान हो टहल कमाओ, सत्गुरु की परसनता पावो ॥ ८ ॥
द्वै कर जोड़ सुनो गुरु शिक्षा, देश एकान्त कमावो दीक्षा।
गुरु का ध्यान निरन्तर धारो, जगत वासना सकल विसारो ॥ ९ ॥
सत् कर मानो गुरु उपदेशा, नाशे तुरत अविद्या लेशा।
निशदिन मोक्ष भावना धारो, देह भावना सकल विसारो ॥१०॥
अज्ञानी का संग तियागो, ब्रह्मनिष्ठ की शरणी लागो।
दुर्जन की संगति नहिं सेवो, दुर्जन के अवगुण नहिं लेवो ॥११॥

Scanned with CamScanner

सन्तन की संगत सुखदाई, अवर संग सकले दुःखदाई।
ताते सकल संग को त्यागो, केवल सन्तन के संग लागो ॥१२॥
शांति समान तपस्या नाँही, सब दुःख है तृष्णा माँही।
परम सुख सन्तोष पछानो, दया समान धर्म नहीं जानो ॥१३॥
घर में रहो उदास निरन्तर, ममता मोह न व्यापे अन्तर।
नाम रूप मिथ्या कर जानो, अस्ति भाति प्रेय सत् कर मानो ॥१४॥
जब बैराग्य विचार अदोषा, धर्म प्रेम धीरज सन्तोषा।
प्रेम सहित सेवो अरु धारो, **हेमराज** भव रोग निकारो ॥१५॥

॥ दोहा ॥

धन दारा सुत भ्रातगण, सब हैं बाँधन हार।
कर विवेक तज भ्राँत सुख गहो आतम सुख सार ॥ १ ॥
भला-भला जब कहत जग, चित अशक्त तब होत।
भव की प्रसिद्ध निमित्त, शान्ति-सुख को खोत ॥ २ ॥
मृग तृष्णा जल जगत है, मृग ज्यों देख न भूल।
होय असंग विचरो सदा, जे चाहो सुख मूल ॥ ३ ॥

॥ चौपाई ॥

देश एकान्त सदा सुखदाई, जामें खेद न उपजे राई।
बाद विवाद न जग स्यूं भला, जाँते उपजे क्षोभ और कलह ॥ १९ ॥
जग अनर्थ महा तम कूपा, आतम शुद्ध परम सुख रूपा।
ताँते भव की चिन्ता त्यागो, अहिनिशि आतम सुख अनुरागो ॥ २० ॥
सत चित्त आनन्द विचारो, आन, चितवन सकल विसारो!
एकाएकी होय निभाओ **हेमराज** आतम सुख पावो ॥ २१ ॥

प्रश्न ९१—जिज्ञासु अथवा ज्ञानी को संसार में किस प्रकार बरतना उचित है ?

उत्तर—जिज्ञासु को गृहस्थ में मोहरहित उदासीन होकर बरतना चाहिए। व्यवहार में पवित्रता और सत्यता से बरतना उचित है। देह में अहं रहित असंग होकर काल व्यतीत करना ठीक है। दूसरे पदार्थों और सम्बन्धियों में ममता त्याग कर निर्मम और निरहंकार बरता सुख रूप है। भूत-भविष्य की स्मृति और चिन्ता से मुक्त होकर, अचिन्त और निष्काम बनकर काल व्यतीत करना परमानन्द और परमशांति का हेतु है। इस प्रकार का बरताव जिज्ञासु के साधनों और आत्मज्ञान को दृढ़ और निश्चल करता है। इसलिए जिज्ञासु अथवा ज्ञानी सर्वथा इसी प्रकार बरते।

प्रश्न ९२—ज्ञानी के देहपात से जिज्ञासु यदि खिन्न हो, वह कैसे धीरज धरे ?

उत्तर—इस जगत् की मर्यादा ऐसी चंचल है कि कोई वस्तु सदा एक रस नहीं रहती इसलिए अपनी बुद्धि को किसी पदार्थ से न बाँधे। वैराग्य और विचार सहित काल व्यतीत

Scanned with CamScanner

करे जिससे नित्य ही कुशल और आनन्द प्राप्त रहे। यद्यपि उत्तम, विचारवान, एकान्त-सेवी, मौनी, धैर्यवान, संतोषी, अभ्यासी और संतसेवी साधु की संगति से बहुत लाभ होता है तथापि शरीरों की संगति सदा स्थिर नहीं रहती। वियोग हो ही जाता है। वियोग काल में शोक और दुःख होता है। सो अज्ञानी ही इस दुःख का भागी होता है। ज्ञानवान सदा आत्मा में स्थित रहने से शरीर के संयोग और वियोग में समान रहता है। यह अपने स्वरूप को जानता है। शरीर की मर्यादा का ज्ञान भी उसको होता है। इसलिए निमित्त वियोग शोक करना उचित नहीं। ज्ञानवान तो शरीरपात के उपरान्त विदेहमुक्त होकर विराट हो जाता है और सर्वात्मा होकर स्थित होता है। ऐसे आत्मरूप सन्त को निरन्तर आपमें देखकर प्रसन्नचित्त रहना उचित है। जिज्ञासु साधु के उपदेशानुसार अपना काल विचार, धीरज, सत्य, जत, शान्ति, मौन, एकान्त सेवन, आत्म-अभ्यास, सत्गुरु-ध्यान और शास्त्रचिन्तन से व्यतीत करे। कुसंग से उपरत रहे, चिन्ता न करे, अचिन्त होकर निर्वाह करे। सदा सत्गुरु को सन्मुख देखे और अपने स्वरूप को स्मरण रखे। जब कभी चित्त उदास हो तो जो महात्मा शरीर सहित हैं उनकी संगति करे अथवा पत्र के आसरे उनका उपदेश ग्रहण करे।

प्रश्न ९३—जगत् में किस रीति से विचरना चाहिए ?

उत्तर—जैसे प्राण शरीर से असंग हैं और शरीर के बीच में भी रहते हैं, वैसे ही तुम सबके मध्य रहो और सबसे असंग रहो। जैसे नेत्र सबको देखते हैं, परन्तु किसी के आकार को धारण नहीं करते वैसे ही तुम भी सबको देखो पर किसी के आकार को धारण न करो। जैसे उदर सब पदार्थों को अपने में लेता है, किन्तु तृष्णा से रहित होकर सबका त्याग कर देता है, वैसे ही तुम सब पदार्थों को ग्रहण करो। परन्तु उदर की नाँईं तृष्णा से रहित होकर सबका त्याग कर दो। इस रीति से संसार में विचरते रहो।

प्रश्न ९४

॥ दोहा ॥

हे सत्गुरु पूरण अचल, निर्भय आपत काम।
सुखदाता सुख रूप नित, सुख सागर सुखधाम ॥१॥
मैं अनाथ अतिशय दुःखी, डूबत मध्य संसार।
दया दृष्टि को धारकर, मोहे कर प्रभु पार ॥२॥
ऐसो निज उपदेश दे, जाते दुःख मिट जाय।
यत्न देश तन धाम में, प्रगटे सहज सुभाय ॥३॥

उत्तर—

॥ दोहा ॥

श्रद्धालु निर्मल हृदय, सत्गुरु भक्त सुजान।
गुण ग्राहक निर्मान चित, जिज्ञासु बुद्धिमान ॥१॥
अहंता ममता भेंट कर, सेवो गुरु चरनार।
भासे रवि ज्यों आतमा, नासें सकल विकार ॥२॥

Scanned with CamScanner

सत्गुरु परम जहाज है, भवसागर के माँही ।
श्रद्धा से जो जन चढ़े, परमातम तट पाहीं ॥३॥
पूरण गुरु के वाक्य में, धारो सत्य प्रतीत ।
सहजे ही संशय मिटे, इस्थिर होवे चीत ॥४॥
आशा तृष्णा ईरषा, चिन्ता तज सुख पाय ।
काम क्रोध मत्सर गरव, लोभ मोह विनसाय ॥५॥
जत विचार वैराग्य सम, क्षमा गरीबी ज्ञान ।
सत् संतोष विवेक दम, सत्संगत सुख मान ॥६॥
वाक्य व्यर्थ उचरो नहीं, नहिं घूमो नित नीत ।
संग न काहू से करो, सुनो न भव के गीत ॥७॥
विषय भावना त्यागकर, रोधो चित को नीत ।
निर्विकार निज आतमा, निशिदिन धारो चीत ॥८॥
सँकल्प रूप संसार को, चित से वेग भुलाय ।
निर्विकल्प आतम विखे, निशदिन इस्थित पाय ॥९॥
देहभाव को त्याग कर, सिमरो आतम राम ।
अंतरमुखता धार कर, पावो नित विश्राम ॥१०॥
वर्णाश्रम कुलमान तज, रहो अमान असंग ।
लीन रहो परब्रह्म में, ज्यों सागर में गंग ॥११॥
इन्द्रिन कर जो-जो करो, ताँका संग न धार ।
इन्द्रिन का साक्षी अचल, अपना आप विचार ॥१२॥
निशवासर जो-जो करो, ताको वेग भुलाय ।
बालकवत् विचरो अमल, प्रगटे सहज सुभाय ॥१३॥
आठ याम चौसठ घड़ी, सत्चित् आनन्द ध्याय ।
चित विक्षेप से रहित हो, परमानन्द समाय ॥१४॥
निर्मल चित शीतल सुखी, राग द्वेष से शून्य ।
व्योम तुल्य विचरो अमल, फुरे विशेष न न्यून ॥१५॥
सदा रहो एकाग्र चित्त, हर्ष शोक से रहित ।
भुञ्जो आतमज्ञान रस, समता मुदता सहित ॥ १६ ॥
शांतवान संतुष्ट मन, निर्मम निरहंकार ।
लोक-लाज, कुललाज तज, वरतो मध संसार ॥ १७ ॥
भेद भाव संकल्प तज; सर्वातम वृत्ति धार ।
हेमराज सहजे मिटें, नामरूप संसार ॥ १८ ॥

प्रश्न ९५—हे भगवान् ! इस जगत में सुख किसमें है ?

उत्तर—हे प्यारे ! विचार के बिना इस जगत में मनुष्य को किसी देश, काल, व्यव-

Scanned with CamScanner

हार और भेष में सुख नहीं। जो सद्विचार से बरतते हैं वे अपना काल सुख से व्यतीत करते हैं। भाव यह है कि वे अपने मन में सोचें कि सत्य क्या है और असत्य क्या है? जो सदा एकरस रहे, वह वस्तु सत्य है और जो वस्तु क्षण-क्षण में नाश हो जावे वह असत्य है। अतः आत्मा सत्य है और देह असत्य है। आत्मा निराकार है इसलिए सब उपाधि से रहित है। इस प्रकार जानकर आपको आत्मा निश्चय करे। वासना को घटावे, अपने को देह न माने। यह संसार केवल मन की मनौत है। जिस पुरुष, स्त्री, व पदार्थ में मन की मनौत है अर्थात् जिसके साथ मेरा मेरी का सम्बन्ध है, वही पदार्थ, पुरुष अथवा स्त्री बंधनरूप है। इसलिए जिज्ञासु आत्मविचार अपने को शरीर से न्यारा निश्चय करे और किसी पदार्थ में ममता न रखे। उदासीन होकर विचरे, नीच स्वभावों का त्याग और उत्तम स्वभावों का ग्रहण करता रहे। नाम का उच्चार नित्य किया करे। अज्ञानी की संगति से दूर रहे। सत्गुरु का उपदेश सदा स्मरण रखे। गुरु-उपदेश के अनुसार वरताब करे और मन को संकल्पों से मुक्त रखे तब सुखी रहेगा।

प्रश्न ९६—विहंगम-मार्ग और चीटीं-मार्ग दोनों में कौन-सा मार्ग श्रेष्ठ है?

उत्तर—विहंगम मार्ग श्रेष्ठ है। विहंगम-मार्ग से तात्पर्य ज्ञानयोग हैं। चींटी मार्ग के अर्थ हठयोग हैं। हठयोग अर्थात् प्राणायाम बहुत ही कष्ट और साधन से प्राप्त होता है। यह भी निश्चय नहीं होता कि प्राप्त हो अथवा न हो और शरीर भी स्थिर रहे अथवा न रहे। परन्तु विहंगम मार्ग में केवल अपनी वृत्ति को मोड़ना होता है। शरीर और इन्द्रियों का बाह्य कष्ट अपेक्षित नहीं। जब वृत्ति यथार्थवस्तु का आकार होकर यथार्थरूप हो जावे, तब सब प्रकार से कल्याण और कृत-कृत्यता है। अतः जिज्ञासु श्रद्धा और प्रेम सहित विहंगम मार्ग में प्रवृत्त रहे।

प्रश्न ९७—उत्तम जिज्ञासु के लक्षण क्या हैं और उनका अभ्यास व प्रचार क्या है?

उत्तर—उत्तम जिज्ञासु वह है, जो सत्संग रूपी फुलवारी के फूल चुनता रहे। वह प्रेम और श्रद्धा सहित सत्गुरु की आज्ञा के अनुकूल चलता रहे वह मान और दंभ से रहित होता है। सत्यधर्म में सावधान रहता है। कोमल चित्त, निर्मल हृदय, सहृदात्मा और बुद्धिमान होता है। वह एकाग्र और सावधान होकर सत्य-स्वरूप का अभ्यास करता है। सत्गुरु-उपदेश का मनन करता है वा ब्रह्मविद्या-चिन्तन और स्वरूप निदिध्यासन में प्रवीण होता है। वह वाद-विवाद, तर्क शंका, खण्डन, संशय, विपर्यय से दूर रहता है। उसकी गुणग्राहक बुद्धि, आस्तिक-भावना, गम्भीरता, मित्रता और दृढ़निष्ठा दैवी-सम्पदा के स्वभावों में सुशोभित रहती हैं। उसका निरन्तर आत्मकथन और आत्मचिन्तन, परस्पर आत्मबोधन से मंगलमय हो जाता है। सत्गुरु-आज्ञा-पालन में तत्पर उसका न्याय, ज्ञान और सत्यधर्म में पुरुषार्थ; परस्पर प्रेम, हितकारी मित्रता, सहृदयता और सारग्राही बुद्धि सत्संग रूपी फुलवारी को सींचती रहती है। भेद, प्रच्छेद, आलस्य, विक्षेपता, विरोध, अन्तराय, दोष-दृष्टि, मान, दंभ, चतुरता, लोक-लज्जा, कुल-लज्जा से मुक्त होकर वह निरन्तर ससता, दृढ़ता, सावधानता और प्रेम से सत्-सभा जुटाती है। नाम और रूप की भावना से मुक्त होकर वह अस्ति,

Scanned with CamScanner

भाँति, प्रेय में बुद्धि लगाता है। देहाभिमान, कुलाभिमान, धनाभिमान और विद्याभिमान न होने से वह पावन सत्गुरु वचनों में दृढ़ प्रीति रखता है। सर्वलौकिक, व्यावहारिक और वैदिक कर्मों तथा वचनों से उपरत होकर वह केवल सत्पुरुष और सद्गुरु के वचनों के श्रवण, मनन और निदिध्यासन में सावधान रहता है। निर्दोष, निर्विकार, ब्रह्मविद्यारूपी शांति सरोवर में श्रद्धा, नम्रता, दृढ़ता और एकाग्रता से स्नान कर वह तन और मन का ताप मिटाता है। संसार को केवल मन की कल्पना निश्चय कर वह अधिष्ठान स्वरूप में अपनी वृत्ति लगाता वा कायक रोग, वाचिक-कल्पना और मानसिक-विक्षेप्ता से मुक्त होकर जो सदा केवल-केवलीरूप में स्थिति की इच्छा करता है, वही उत्तम जिज्ञासु है। ऐसे भाग्यवान और विद्यासम्पन्न जिज्ञासु अपनी सारग्राहिणी बुद्धि और सत्य-प्रतीति इस अज्ञान रचित संसाररूपी वन में ज्ञानरूपी नित्यप्रफुल्लित और उदितफुलवारी की पावन और निर्दोष सुगन्ध से अपने हृदय को सुगन्धित करते रहते हैं। आत्मअभ्यास में निरन्तर पुरुषार्थ करते हुए अपनी जिज्ञासा को सफल करते रहते हैं।

प्रश्न ९८—उत्तम जिज्ञासु किस प्रकार अपना काल व्यतीत करते हैं।

उत्तर—उत्तम जिज्ञासु श्रद्धा की मूर्ति, प्रेम के रूप, सत्गुरु के प्यारे, मान और दंभ से न्यारे, सत्गुरु रूपी फुलवारी को सींचते हैं और आत्मा की मस्ती में रहते हैं। वे सदा शरीर के दुःखों, गृहस्थ की चिन्ता, मन के विकारों, विषयों के चिन्तन, परस्पर विरोध, इर्षा वा निन्दा से रहित होकर सत्संग, सत्य विचार, सत्य वचन, सत्य संकल्प, सत्य ज्ञान और सत्य स्थिति का आनन्द मानते हैं। श्रद्धालु, बुद्धिमान और भाग्यवान जिज्ञासु सत्गुरु को पूर्ण जानकार उनके उपदेश और आज्ञा के अनुसार अपना समय व्यतीत करते हैं। उसके हृदय में किसी किसी प्रकार की दोष-दृष्टि, ग्लानि, तर्क अथवा शंका प्रवेश नहीं करती। ऐसे सच्चे जिज्ञासु, हृदयंगम शिष्य और प्रेमीभक्त सदा आत्मानन्द में मग्न रहते हैं। उनका निश्चय दिन-प्रतिदिन स्वरूप में दृढ़ होता जाता है। कोई विघ्न, ताप, दुःख, वचन, संग, शास्त्र अथवा संकल्प उनके निश्चय को चंचल नहीं कर सकता। वे पर्वत की नाँईं अचल, अडोल और अखंड स्थित रहते हैं। सद्गुरु सेवा, सद्गुरु प्रीति, सद्गुरु श्रद्धा, आत्म-जिज्ञासा, धैर्य, सन्तोष, परस्पर प्रेम, विचार और वैराग्य आदि शुभ गुण उनके अन्तःकरण के भूषण होकर उन्हें सुन्दर और मंगलमय बना देते हैं वे सदा शांति तृप्ति, मुदता, सतता, मित्रता, ब्रह्मविद्या और क्षमा से आयु व्यतीत कर निज धाम में स्थित होते हैं।

प्रश्न ९९—जिज्ञासु की जिज्ञासा कैसे पूर्ण होती है ?

उत्तर—व्यवहार से जितना काल बचे, उतना काल अवश्य आत्म-चिन्तन, आत्म-कथन, आत्म-मनन, आत्मबोधन और आत्म-श्रवण में व्यतीत करता रहे। इससे आत्माभ्यास दृढ़ होकर अविद्या का नाश होता है। अभ्यास के बिना कोई कार्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि आत्मजिज्ञासु को आत्मानन्द ही अभीष्ट है। इसलिए आत्म-अभ्यास में सावधानता उसके कल्याण और जिज्ञासा को पूर्ण करने का हेतु है। यदि अभ्यास चिरकाल पर्यन्त जल

Scanned with CamScanner

के प्रवाहवत् स्थिर रहे तो वह अभ्यास ही फलरूप होकर शांति अथवा लाभ का हेतु होता है। इसलिए परमार्थ सेवी को आत्माभ्यास करना उचित है।

शरीर का सम्बन्ध जगत् के सम्बन्ध का निमित्त है। जब तक यह सम्बन्ध है, तब तक जगत् से मुक्ति नहीं हो सकती। जिज्ञासु मुक्ति की इच्छा करता है। अतः वह शरीर की आसक्ति का त्याग और आत्माभ्यास कर देह की अहं और ममता को लीन करता रहे। जब ये दोनों विकार लीन हो जावेंगे तब देह का सम्बन्ध दुःखरूप न होकर सुखरूप होगा।

प्रश्न १००—जिज्ञासु किस रीति से प्रवृत्त हों कि उनका परस्पर प्रेम व सम्बन्ध स्थिर रहे, उनकी बुद्धि अज्ञानरचित कर्मों तथा विकारों से रहित होकर शुद्ध रहे और यथार्थज्ञान में स्थित होकर वह मुक्त हो जाए?

उत्तर—सब जिज्ञासुओं में परस्पर-प्रेम और सत्य-सम्बन्ध से सत्यसमागम और सत्य शास्त्र चिंतन बना रहे। इसके साथ-साथ सत्गुरु की महिमा भी सब जिज्ञासुओं के हृदय में ऐसी पूर्ण रहे कि सदा सद्गुरु को साक्षात् जानकार अपनी जिज्ञासा सफल करते रहें। ऐसी श्रद्धा और भक्ति को दृढ़ कर सत्यधर्म की वृद्धि में पुरुषार्थ करते रहें। जिज्ञासुजन अपने समय को सार्थक बनाने के निमित्त अन्तराय रहित सभा जमाकर सत्यविद्या का प्रचार करते रहें। नित्य का अभ्यास सब कामों को सिद्ध कर देता है। इसलिए सावधान होकर सत्य-विद्या, सत्यविचार, और सत्संग का अभ्यास करते रहें। जो वचन सत्पुरुषों और सत्शास्त्रों से सुनें, उन्हें मनन और निदध्यासन कर अपना निश्चय बनावें। अपने स्वभावों को सुधारने का दृढ़ अभ्यास करते रहें। अपने व्यवहार को शुद्ध कर हृदय को निर्मल रखें। गृहस्थ में मोह,शोक, चिन्ता, विरोध, ईर्ष्या, निन्दा, ममता, आसक्ति और दुर्बुद्धि से रहित होकर विचरते रहें। सत्गुरु के उपदेश को उच्चारण और विचार से निरन्तर शुद्धबुद्धि सहित कमाते रहें। इससे शुद्ध अन्तःकरण में ज्ञान की स्थिति होने से संशय रूपी संसार से मुक्ति प्राप्त हो।

प्रश्न १०१—दैवी सम्पदा के कौन-कौन से स्वभाव किस समय व्यवहार के योग्य हैं?

उत्तर—(१) **सत्गुरु की संगति** और समीप्य के समय दैवी सम्पदा के निम्नलिखित स्वभाव बरतने चाहिए—

(१) **सेवा**, अर्थात् तन, मन, धन और वाणी को अर्पण करना।

(२) **आस्तिक भावना**, अर्थात् सत्गुरु के वचनों को सत्य मानना।

(३) **निरमानता**, अर्थात् कुलाभिमाव, युवस्थाभिसान, सुन्दरता-अभिमान, विद्याभिमान, धनाभिमान, वर्णाश्रमाभिमान और प्रभुताभिमान से रहित होकर सत्गुरु का संग करना।

(४) **मौन** अर्थात् सत्गुरु के समीप बिना प्रयोजन न बोलना। वाणी को निरोध करके उनके उपदेश श्रवण रखना।

(५) **निर्दोष दृष्टि** अर्थात् सत्गुरु के किसी कर्म पर ग्लानि न करना।

(६) **स्मृति** अर्थात् सत्गुरु के मचन को याद करना।

Scanned with CamScanner

(७) **सावधानता** अर्थात् आलस्य और विक्षेप्ता से रहित होकर सत्संग करना, उपदेश सुनना और सेवा करना।

(८) **तितिक्षा,** अर्थात् मान अपमान, निन्दा-स्तुति, क्षुधा-तृषा, और दुःख-सुख को सहारना :

(९) **सुशीलता** अर्थात् सदा कोमल वचन बोलना और धैर्य सहित सब क्रिया करना।

(१०) **मोक्ष इच्छा** अर्थात् सदा यही इच्छा रखना कि कब मेरे सब दुःख निवृत्त होंगे और परमानन्द की प्राप्ति होगी।

(२) **सत्शास्त्र चिन्तन** के समय ये स्वभाव बरतने योग्य हैं—

(१) **श्रद्धा** अर्थात् शास्त्र के वचनों पर विश्वास रखना।

(२) **एकाग्रता,** अर्थात् चित्त को दूसरी ओर से निरोध कर शास्त्र चिन्तन में लगाना।

(३) **अर्थग्राहक बुद्धि,** अर्थात् शास्त्र के अर्थों को बुद्धि में धारण करना।

(४) **एकान्त-सेवन** अर्थात् एकान्त में बैठकर शास्त्रों का विचार करना।

(५) **प्रेम** अर्थात् चित्त को शास्त्र के वचनों में प्रीति सहित लगाना।

(६) **सावधानता** अर्थात् आलस्य, नींद, विक्षेप्ता और विस्मृति से रहित होकर शास्त्र विचारना और उसके अर्थ को मन में धारण करना।

(३) **आत्म-अभ्यास** के समय ये स्वभाव बरतने योग्य हैं—

(१) **आसन,** अर्थात् शरीर को एक बैठक पर जमाना।

(२) **विवेक,** अर्थात् नित्य और अनित्य का विचार करना। आत्मा को नित्य निश्चय करना और देह को अनित्य।

(३) **वैराग्य,** अर्थात अनित्य का त्याग करना।

(४) **सम,** अर्थात सब अनात्म वासनाओं से मन का निरोध करना।

(५) **दम,** अर्थात इन्द्रियों को विषयों से उपरत रखना।

(६) **धारणा** अर्थात् नित्यात्मा का बार-बार चिन्तन करना।

(७) **अहं ग्रह ध्यान,** अर्थात् यह धारणा दृढ़ करनी कि मैं सत्य हूँ, चेतन हूँ, अनादिरूप हूँ, अखण्ड हूँ, चिदाकाशरूप हूँ, नित्यमुक्त हूँ, नित्यशुद्ध हूँ, नित्य तृप्त हूँ, नित्य कूटस्थ हूँ, अव्यक्त हूँ, और ब्रह्म हूँ।

(८) **समाधि,** अर्थात् चिन्तन करते-करते परमानन्द स्वरूप में चित्त ऐसा विलीन हो जाए कि कोई फुरना न उठे। केवल स्वरूपाकार होकर अखण्ड रूप से वृत्ति स्थित रहे। सो अवस्था समाधि है और यही आत्माभ्यास का परम फल है।

(४) **गृहस्थ** में ये स्वभाव बरतने योग्य हैं—

(१) **निरहंकार,** अर्थात् अहंकार से रहित रहना, अपने-आपको किसी मायावी पदार्थ वा मान के साथ न मिलाना।

Scanned with CamScanner

(२) **निर्ममता,** अर्थात् किसी पदार्थ को अपना न मानना।

(३) **उदासीनता,** अर्थात् सब गृहस्थ के व्यवहारों, पदार्थों और सम्बन्धियों से असंग रहना।

(४) **धीरज,** अर्थात दुःख, निर्धनता, अपमान और सम्बन्धियों के वियोग के समय बुद्धि को स्थिर रखना।

(५) **उदारता,** अर्थात अपने धन और दूसरे पदार्थों से अभ्यागतों अंगहीनों, महात्माओं, क्षुधार्थियों, विद्यार्थियों, निर्धनों, विद्वानों, सन्तों और विद्वान ब्राह्मणों की यथाधिकार सेवा करना और अपनी सामग्री को सबके साथ मिलकर बरतना। कृपणता त्याग जीते जी अपने धन को अपने हाथ से देना और यश-कीर्ति का लाभ लेना।

(६) **आर्यत्व,** अर्थात अपने आचार और कर्म को निर्दोष रखना।

(७) **मित्रता,** अर्थात सब सम्बन्धियों के साथ यथाधिकार कोमल और मीठे स्वर से बोलना।

(८) **सत्य-विद्या-प्रचार,** अर्थात बेटे, बेटी, स्त्री, छोटे भाई और दूसरे सम्बन्धियों को सत्यविद्या सुनाना, पढ़ाना व परमार्थ की ओर प्रेरणा करके लगाना।

(९) **धर्म,** अर्थात सत्यवचन, सत्य संकल्प और सत्य कर्म को स्थापित करना।

(१०) **अहिंसा,** अर्थात् सब जीवों को तन, मन, धन, और वाणी से सुख देना।

(११) **शान्ति,** अर्थात् क्रोध से रहित होकर चित्त को सदा ठंडा रखना।

(१२) **उपरति,** अर्थात् लौकिक रीति, प्रीति और मित्रता से रहित होना और निरन्तर सम्बन्धियों के मध्य न बैठना, किन्तु एक देश में अपने काल को व्यतीत करना। समयानुसार घर जाना जिससे सुख और विश्राम बना रहे।

(१३) **विचार,** अर्थात् गृहस्थ के सब कामों को विचार सहित करना।

(१४) **सन्तोष,** अर्थात् जिह्वा और उपस्थ इन्द्रिय को तत्तद् रस जितना हो सके हटाना। केवल उदरपूर्ति और सन्तानोत्पत्ति निमित्त इन दोनों इन्द्रियों को प्रवृत्त करना। इसी प्रकार दूसरे इन्द्रियों के विषयों से भी अपने मन को न लगाना। अल्प वस्तु से काम चलाकर प्रसन्नचित्त रहना, जितना हो सके अपनी इच्छा को घटाना। साधारण शुद्ध आहार, साधारण-वस्त्र, अल्प-सामग्री और निवास-अनुसार स्थान रखना।

(५) **व्यवहार सिद्ध** करने के समय ये स्वभाव बरतने योग्य हैं—

(१) **धर्म,** अर्थात् पूरा बोलना, पूरा तोलना, पूरा लिखना और घूस न लेना।

(२) **निष्कपटता,** अर्थात् धोखा, छल, चुगली और ठगी से रहित रहना।

(३) **उपकार,** अर्थात् दूसरे का कार्य सिद्ध करने के निमित्त तन, मन और धन लगाना।

(४) **गम्भीरता,** अर्थात् सब समय धैर्य सहित रहना और बुद्धि को स्थिर रखना।

Scanned with CamScanner

(५) **पारदृष्टि,** अर्थात् जो व्यवहार करना उसके आदि अन्त को सोचना और विचार सहित सब कार्यों को करना।

(६) **सन्तोष,** अर्थात् व्यवहार न बढ़ाना। अल्प व्यवहार से अपना काम चलाना।

(७) **नियम,** अर्थात् समयानुसार व्यवहार करना और फिर रुक जाना। सारा काल व्यवहार में व्यतीत न करना।

(८) **न्याय,** अर्थात् स्वार्थ प्रीति त्यागकर सब कार्यों को न्याय सहित पूरा करना।

सब जिज्ञासु ऊपर लिखित साधनों और स्वभावों को भली प्रकार कमावें, जिससे शरीर के होते ही परमानन्द की प्राप्ति हो। इन स्वभावों के बरतने में धैर्य, स्थिरता और पुरुषार्थ उपयोगी हैं। जब तक प्राण और देह का संयोग रहे तब तक इन का सेवन करता रहे, क्योंकि जीवनमुक्ति का विलक्षण आनन्द इन्हीं स्वभावों के प्रयोग करने में है।

प्रश्न १०२—

॥ दोहा ॥

भवसागर के तरन का, भगवन् कौन उपाय।
जाके दृढ़ अभ्यास से, भव दुःख सहज विलाय ?

उत्तर—

॥ दोहा ॥

संकल्प रूप संसार है, बल कर ताँहि भुलाय।
शेष रहे जो शान्त पद; तामें वृत्ति लगाय ॥ १ ॥
जो-जो चिंतन चित्त रचे, सो-सो त्यागो मीत।
दृढ़ विचार वैराग्य कर, क्षण-क्षण रोधो चीत ॥ २ ॥
विषय कामना जब उठे, तत्क्षण त्यागो ताहिं।
दोष दृष्टि को धारकर, वरतो इन्द्रिन माँहि ॥ ३ ॥
मोह ममता मद कपट, छल मत्सर अरु राग।
पर निन्दा, परधन हरण, मिथ्या वचन तियाग ॥ ४ ॥
संग-दोष से रहित हो, विचरो एका एक।
मिले संग संयोग कर, धारो सहित विवेक ॥ ५ ॥
भूत भविष्य-चिन्त तज, वरतो होय अचिन्त।
जो-जो आवे स्वतः सिद्ध, गहो ताहीं बिन चिन्त ॥ ६ ॥
इन्द्रिन कर जो-जो करो, ताँ से रहो उदास।
सावधान धारो नहीं, रागद्वेष आभास ॥ ७ ॥
जो-जो फुरना मन रचे, उससे रहो असंग।

Scanned with CamScanner

साक्षी हो निर्मल रहो, चढ़े न भव को रंग ॥ ८ ॥
देह भावना अति मलिन, तजो ताँही बलधार।
निर्विकार निर्मल अचल, आतम-रूप सम्भार ॥ ९ ॥
निशिदिन सिमरो आतमा, जो है तेरो रूप।
ज्ञान मात्र केवल अमल, परमानन्द अनूप ॥ १० ॥
चिदाकाश वपु जीसका, चिद्घन चेतन सार।
मन चित बुधि हंकार का, साक्षी अरु आधार ॥ ११ ॥
ज्ञान प्रकाश स्वस्थ नित, उदय अस्त से रहित।
सत्ता मात्र अक्षोभ नित, जाँमे रहित न सहित ॥ १२ ॥
निराकार निर्द्वन्द्व पद, बोध मात्र चिद् रूप।
स्वतः प्रकाशी एक रस, नहिं छाया नहिं धूप ॥ १३ ॥
आप आप में आप है, इस्थित नित्त अभेद।
नाम रूप परपंच का, जाँमे रंच न भेद ॥ १४ ॥
जो है सो है आतमा, इतर वस्तु नहिं कोय।
अन्दर बाहर एक रस, पूरण चिद्घन सोय ॥ १५ ॥
ऐसे शुद्ध स्वरूप को, जानो अपना रूप।
जाँके ज्ञान प्रकाश से, नाशें भव तम कूप ॥ १६ ॥
बारम्बर विचार कर, निज में इस्थिति पाय।
मन चित बुधि को लीन कर, आतम माँहीं समाय ॥ १७ ॥
बिन आतम चितवो नहीं, रंच न दुतिया बात।
प्रेम सहित चितवो सदा, निज आतम दिन रात ॥ १८ ॥
चिरंकाल अभ्यास कर, धारो सत् परतीत।
जाँते नाशे सहज ही, मन चित बुद्धि की रीत ॥ १९ ॥
भवसागर के तरन का, उत्तम यही उपाय।
हेमराज निज चित्तधर, शान्त सहज सुख पाय ॥ २० ॥

प्रश्न १०३—

॥ चौपाई ॥

कैसे भासे सत्चित आतमा, भूले जड़ दुःख रुप अनातमा।
सर्व कल्पना भूले ऐसे, रवि निकसे तम नासे जैसे ?

उत्तर—

॥ चौपाई ॥

धार विवेक विचारो आतमा, पुरुषारथ कर तजो अनातमा।
नाम कुल वर्णाश्रम जेते, कल्पित जान भुलावो तेते ॥ १ ॥
अहं देह कबहूँ नहिं धारो, निराकार निज रूप सम्भारो।

Scanned with CamScanner

मैं तूं यह वह सकल भुलावो, शांतिरूप परमातम ध्यावो ॥ २ ॥
भूत भविष्य चिन्ता त्यागो, वर्तमान सुख मन अनुरागो।
लोक लाज कुल लाज विसारो, निर्विकार निजरूप चितारो ॥ ३ ॥
मग्न रहो आतम सुख माँहीं, देह भावना परसे नाहीं।
करता भाव रंग नहीं धारो, सब कर्मन से रहो नियारो ॥ ४ ॥
निज स्वरूप कूटस्थ पछानो, अक्रिय अचल आपको मानो।
आप माँही नित इस्थिति गहो, परमानन्द शान्त पद लहो ॥ ५ ॥
देह माँही उत्तम गति पावो, सतगुरु किरपा के गुण गावो।
ना कहीं आवो ना कहीं जावो, **हेमराज** निज माँही समावो ॥ ६ ॥

भजन (१)

जग के सभी असार पदारथ, इनमें चित न फंसावो।
नाम मात्र सब वस्तु प्यारे, मन को नित समझावो ॥ १ ॥
सारे पदारथ मनोत तेरी, क्यों कल्पित पीछे धावो ॥ २ ॥
राग द्वेष की विष भरी वस्तु, नाग बिच्छवत् पावो ॥ ३ ॥
नाशी वस्तु नाश होय तो, शोक न मन में लावो ॥ ४ ॥
नाशी वस्तु की रक्षा में, चिन्ता न वृथा उठावो ॥ ५ ॥
साथ न चाले कोई वस्तु, इनमें क्यों उलझावो ॥ ६ ॥
हृदय मलीन दुःखी रखे वस्तु, इनका ममत्व हटावो ॥ ७ ॥
गृह वस्त्र सम्पति चितवन से, चित छननी न बनावो ॥ ८ ॥
ज्यों-ज्यों चित चितवे विषयन को, दुःख क्लेश बढ़ावो ॥ ९ ॥
वस्तु से खाली चित करके, **हेमां** ब्रह्म समावो ॥१०॥

भजन (२)

साधो संकल्पों को घटावो ॥
फुरना तेरा शत्रु प्यारे, ज्यों त्यों इसे मिटावो ॥ १ ॥
सब क्लेश का कारण फुरना, फुरने को न बढ़ावो ॥ २ ॥
काम अरु क्रोध-लोभ उपजावे, फुरने को बिसमावो ॥ ३ ॥
भूत भविष्यत चिंतन त्यागो, वर्तमान स्थिति पावो ॥ ४ ॥
कभी न उबले तपे नहीं चित, यह अभ्यास कमावो ॥ ५ ॥
कमी है कल्पित विरथा चिंतन, बार-बार समझावो ॥ ६ ॥
चिन्मात्र में चित नित जोड़ो, कल्पित भाव भुलावो ॥ ७ ॥
नाम रूप की कल्पना मिथ्या, निशदिन यही धियावो ॥ ८ ॥
बल कर रहो शीतल शांतातम, कभी न मन कल्पावों ॥ ९ ॥
चित जब हुआ समाहित **हेमां**, ब्रह्मानन्द समावो ॥१०॥

Scanned with CamScanner

भजन (३)

तृष्णा को तजो, तृष्णा को तजो, इस रौरव नरक से प्यारे बचो।
सदा दीन कर भटकाती है, कभी तृप्ति नही न पहुँचाती है।
आराम से नहि बिठलाती है, तृप्ति की अधीनता इस नर की ॥ १ ॥
द्वारे द्वारे पे रुलवाती है; किरपन वेदरद बनाती है।
हरि भक्ति से दूर चलाती है, तृष्णा की प्रीति दूर करो ॥ २ ॥
छल दम्भ कपट सिखलावे यह, नित स्वारथ मित्र बनावे यह।
पशुओं से नीच ठहरावे यह, तृष्णा की खाई में न पड़ो ॥ ३ ॥
बन परवत माँहि खपाये कई, सागर के बीच डुबाये कई।
रणभूमि में कटवाये हैं कई, यह घोर चुड़ैल है इससे डरो ॥ ४ ॥
नित सुख चाहें तज तृष्णा को, शान्ति चाहे तज तृष्णा को।
निर्भय होवें तज तृष्णा को, तज तृष्णा **हेमां** हरि हर हो ॥ ५ ॥

भजन (४)

संतोष बड़ो सुखदाई साधो।
आवे जब संतोष हृदे में, सब शुभ गुण प्रगटाई ॥ १ ॥
तृप्त रखे नीरोग बनाये, चित में शान्ति बसाई ॥ २ ॥
आदर देवे चिन्ता खोवे, विषय विकार हटाई ॥ ३ ॥
हिंसा भय छल क्रोध ईरषा, वैर विरोध गंवाई ॥ ४ ॥
लोक लाज कुल लाज हटाकर, सदा प्रसन्न बनाई ॥ ५ ॥
क्लेश अरु आपद सारे भागें, जिन संतोष सहाई ॥ ६ ॥
संतोषी गिरहस्थी का घर, है देवपुरी सम भाई ॥ ७ ॥
संतोषी है सबका प्यारा, नैनों माँहि समाई ॥ ८ ॥
सकल उपाधि मिटी उस नर की जिसने चाह घटाई ॥ ९ ॥
संतोषी आयू अपनी को, शान्ती सहित निभाई ॥१०॥
तेज आनन्द बढ़े बुद्धि बल, जिहि संतोष सुहाई ॥११॥
हेमराज संतोष धार कर, सहजे मुक्ति पाई ॥१२॥

भजन (५)

तेरी मनौत है दुःखदाई।
बन्धन रूप मनौत जगत में, चित को यही फंसाई ॥ १ ॥
वस्तु जगत पहले भिन तुमसे, त्याग इनका क्या भाई ॥ २ ॥
वस्तु नाशें हम नहिं जाने, उसका शोक न आई ॥ ३ ॥
वस्तु है हम जाने नहीं हैं, उसका शोक दुःखाई ॥ ४ ॥
लाभ होय अरु हम नहिं जाने, उसका हर्ष न राई ॥ ५ ॥
राग द्वेष देवे वह वस्तु, जिसकी है ममताई ॥ ६ ॥

Scanned with CamScanner

ताँते राग द्वेष का कारण इक मनौत ही पाई ॥ ७ ॥
जन्म मरण सुख-दुःख पुन पाप, बिन मनौत नहीं भाई ॥ ८ ॥
नाम वरण मत मज़हब जेते, सब मनौत प्रगटाई ॥ ९ ॥
मात पिता दारा सुत बांधव, सब परतीत जनाई ॥१०॥
सब वस्तु हैं मनौत मातर, बाहर वस्तु न काई ॥११॥
सब मनौत है शून्य यह फुरना पीछे शून्य धाई ॥१२॥
कल्पित प्रतिबिम्ब मात्र है फुरना, इससे को तृप्ताई ॥१३॥
ताँते सर्व मनौत तियागो, **हेमां** ब्रह्म समाई ॥१४॥

॥ इति श्री द्वितीय सिद्धान्त समाप्त ॥

Scanned with CamScanner

: ३ :

★ सत्संग सिद्धान्त ★

प्रश्न १—

॥ दोहा ॥

भगवन् मानुष जन्म का, कैसे होत सुधार।
किस विचार से लीन हो, रागद्वेष संसार॥

उत्तर—

॥ दोहा ॥

जो-जो निशिवासर करो, देखो सुनो विशेष।
न्याय सहित सर्वत्र का, करो विचार अशेष॥१॥
जो-जो मलिन अशुद्ध हो, तजो सकल बलधार।
शुद्ध पवित्र आचार को; धारो सहित विचार॥२॥
काम, क्रोध, मत्सर गरव, लोभ मोह हंकार।
मिथ्या वचन कुसंग छल, त्यागो जान विकार॥३॥
जत वैराग्य विचार सत, धीरज संयम ज्ञान।
क्षमा मित्रता नम्रता, सम दम धर्म प्रमाण॥४॥
संग न काहू से करो, रहो असंग पुनीत।
लोक वचन कुलरीत से, विचरो होय अतीत॥५॥

॥ चौपाई ॥

निशिदिन उत्तम श्रद्धा धारो, शंका, तर्क विवाद विसारो।
निमख न मन से विसरे रामा, क्षण-क्षण चित आवे हरि नामा॥६॥
सन्त वचन अति मीठे लागें, रोग ताप सकले दुर भागें।
विषयन से होवे विपरीति, परमारथ में उपजे प्रीति॥७॥
प्रेम सहित सन्तन पे जाओ, कायक मानस टहल कमाओ।
भक्ति भाव कर ताँही रिझाओ, सहजे ज्ञान यथारथ पावो॥८॥

॥ दोहा ॥

क्षण भंगुर सुख जगत के, भूल न कर अनुराग।
सन्त संग मन जोड़ कर, मुक्ति पाय सूभाग॥ ९॥

Scanned with CamScanner

सतगुरु के वचनन विखे, निशिदिन राखो ध्यान।
राग द्वेष संशय मिटे, उपजे आतम ज्ञान ॥१०॥
निशिदिन सिमरो आतमा, सत्चित् आनन्द सार।
जड़ असत्य दुःखरूप तन, त्यागो जान असार ॥११॥
विषय चिंतना त्यागकर, चितवो आतम राम।
धन सुत दारा काम से, रहो सहा निष्काम ॥१२॥
सत्य पुरुष पूरण अचल, निर्भय अक्रिय रूप।
निशिदिन सिमरो तास को, नाशे जग भ्रम कूप ॥१३॥
क्षेम कुशल आनन्द से, विचरो भव में मीत।
प्रेम युक्त भीनें सदा, गावो गोविन्द गीत ॥१४॥
सदा रहो शांतातमा, समता सुख में लीन।
लोक गृहस्थ व्यवहार में, होय न कबहुँ दीन ॥१५॥
सदा रहो शीतल सुखी, मंगलरूप असंग।
मनोमात्र संसार का, चढ़े न रंचक रंग ॥१६॥
हेमराज संसार सब, मन का फुरना मान।
तातें फुरना त्याग कर, पावो पद निर्माण ॥१७॥

प्रश्न २—मुक्ति द्वार क्या है ?

उत्तर—सतसंग।

प्रश्न ३—सत्संग किसको कहते हैं और कहाँ से प्राप्त होता है ?

उत्तर—सत्संग से प्रयोजन यह है कि अपनी वृत्ति को सत् वस्तु के संग जोड़ना। यह अभ्यास सभी देशों में पूरा हो सकता है। एकान्त में बैठकर सत् शास्त्र का शुद्ध बुद्धि सहित विचार करना और उसके तात्पर्य को अपनी बुद्धि में उतारना सत्संग कहलाता है। अथवा अपनी वृत्ति को दस इन्द्रियों के संग से हटाकर ओंकार के ध्यान में लगाना और उस ध्यान में ऐसा मग्न होना कि संसार भूल जाए। इसका नाम सत्संग है। सत्पुरुषों की संगति में बैठकर उनके सत्य वचनों को एकाग्रचित्त सुनना, उनपर सत्यप्रतीत करना तथा उनके अनुसार सत्यवस्तु को पहचानकर अपनी वृत्ति को उसके साथ जोड़ना ही सत्संग है। सत्यपुरुष का मिलाप अतिशय कठिन है। दूसरी संगति में वृत्ति चंचल और विक्षिप्त होती है। इसलिए जिज्ञासु को उचित है कि सत्य-शास्त्रचिन्तन और ओंकार उच्चारण से सत्संग का लाभ उठाता रहे, क्योंकि जगत में कपट और दंभ बहुत हैं, सत्य का अभाव है। अतः विचार करके संग करे।

प्रश्न ४—किस रीति से सत्संग करें कि जीवन मुक्ति रूप फल प्राप्त हो ?

उत्तर—जो कर्म नित्यनिरन्तर होता है, उसका फल दृढ़ और स्थिर मिलता है। जो कर्म अन्तराय सहित होता है उसका फल क्षणभंगुर और विनाशी होता है। इसलिए प्रेम, उत्साह, श्रद्धा, विनम्रता, परमार्थ-प्रीति, सतगुरु-आज्ञापालन, निर्मल रीति और निर्दोष

Scanned with CamScanner

दृष्टि द्वारा नित्यप्रति समयानुसार सत्संग-रूपी कामधेनु के ज्ञानरूप दूध से अपने मन को तृप्त और सन्तुष्ट करता रहे। अर्थ यह कि व्यवहार, गृहस्थ, लौकिक-प्रीति, आलस्य, विषय-सेवन, निरर्थक-चिंतन, संतति-मोह आदि विकारों से चित्त को शुद्ध करे और परमपूज्य, अति-श्रेष्ठ, मोक्षदायक, निर्दोष, परम पावन धर्म-सत्संग का सेवन कर अमृतरूप वचनों को श्रवण करे। उन वचनों का मनन और निदिध्यासन करे। श्रवण मनन से दृढ़ होता है और मनन निदिध्यासन से फलीभूत होता है। इसलिए निदिध्यासन का निरन्तर अभ्यास अत्यन्त श्रेयरूप है। नित्यप्रति के सत्संग में जो सत् वचनों का कथन और श्रवण होता है। उसमें मनन को सिद्धि होती है। आत्मध्यान, अत्म-चिन्तन अथवा ओंकार-स्मरण के आसरे वृत्ति की एकाग्रता होती है। निदिध्यासन की परिपक्वता और सिद्धि होती है। इसलिए पूर्वोक्त साधन जिज्ञासुओं के कल्याण और शान्ति का निमित्त होने से श्रद्धा-युक्त सेवन योग्य हैं। अतः निरन्तर प्रेम और श्रद्धा के रंग से रँगा रहे। कायिक, मानसिक, व्यावहारिक, वैदिक, लौकिक, भ्रामिक दुःखों, कर्मों, वचनों और संशयों से मुक्त होकर सत्य-धर्म के पालन में स्थित-प्रज्ञ, दृढ़-निष्ठावान, निर्विघ्नमन और अक्षोभ चित्त रहे। किसी वचन, विषय, कर्म, संग अथवा संकल्प से वृत्ति चंचल, मनमुख, व्यभिचारी और विक्षप्त न रहो। सदा पर्वतवत् अडोल, अचल, और स्थित रहकर आत्मा की प्राप्ति और जगत की निवृत्ति का यत्न करता रहे। यद्यपि आत्मा नित्य प्राप्त रूप है और जगत नित्य-निवृत्तिरूप है, परन्तु अज्ञान में आत्मा अप्राप्त और जगत स्थितरूप प्रतीत हो रहा है। जब तक अन्तःकरण से अज्ञान की निवृत्ति न हो, तब तक आत्मा की नित्य-प्राप्ति और जगत की नित्य-निवृत्ति निश्चित नहीं हो सकती। इसलिए बुद्धिमान जिज्ञासु अज्ञान की निवृत्ति के लिए यत्न करे और यत्न सत्य वचन के श्रवण, मनन और निदिध्यासन से पूर्ण होकर अज्ञान की निवृत्ति का हेतु बने। इसी अभिप्राय से महा-मुनियों, महा-ऋषियों और महात्माओं ने नित्यप्रति सत्संग का नियम स्थापित किया है। यह नियम महा-उपयोगी और फलदायक है। उससे यथार्थज्ञान होकर जीवनमुक्त अवस्था प्राप्त होती है।

प्रश्न ५—महात्मा किस निमित्त से निरन्तर सत्संग के अभ्यास का उपदेश करते हैं? इसका क्या फल है? और इसको किस रुचि के साथ करना योग्य है?

उत्तर—यद्यपि आत्मा नित्य प्राप्त रूप है और जगत नित्य निवृत्ति रूप है, परन्तु अज्ञान से यह आत्मा अप्राप्त और जगत प्रवृत्ति रूप प्रतीत हो रहा है इसलिए ज्ञान के बिना अज्ञान और किसी उपाय से निवृत्त नहीं हो सकता और ज्ञानवान के संग के बिना ज्ञान दूसरी किसी रीति से प्राप्त नहीं हो सकता। ज्ञानवान का संग श्रद्धा और जिज्ञासा के बिना फलीभूत नहीं होता। जब कोई पुरुष श्रद्धा और जिज्ञासा से ज्ञानवान पुरुष के संग में कुछ काल व्यतीत करता है, उस समय उसके हृदय में ज्ञान के प्रकाश से अज्ञान का अँधेरा नष्ट हो जाता है। अज्ञान के नष्ट होने से आत्मा प्राप्तरूप तथा जगत् नित्य निवृत्त और असत्यरूप प्रतीत होता है। श्रेष्ठ, बुद्धिमान और पारदर्शी लोग ज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर भी अभ्यास का त्याग नहीं करते, क्योंकि शरीर में स्थित अन्तःकरण की अवस्था सदा व्यभिचारी और विलक्षण

Scanned with CamScanner

रहती है। जब तक दृढ़ अभ्यास और निरन्तर विचार का प्रचार न रहे, तब तक अन्तःकरण स्वस्थ और समान होकर स्थिर नहीं रहता। इसलिए जीवनमुक्त जिज्ञासु ज्ञान पाकर भी मनोनाश और वासना-क्षय के अभ्यास को अपना मित्र मानते हैं। इससे उनका ज्ञान दृढ़ होकर सब अज्ञान रचित दुःखों और क्लेशों को नाश करता है और जीते जी उनको परमानन्द रूपी हिंडोरे में सुख देता है। इसलिए, सब वृद्ध और पुरातन सत्संगी अभ्यास में शिथिलता न करें। जीवनमुक्ति के आनन्द के निमित्त अन्तर्मुक्ति के आनन्द के निमित्त अन्तर्मुखता, उपरति, निष्कामता, समता, मित्रता, मुदता और उपेक्षा को अपना स्वभाव बनावें, जिससे उनका ज्ञान दृढ़ होकर उन्हें परमसुख और शान्ति दे।

जिस प्रकार व्यवहार में दिनप्रतिदिन प्रीति अधिक होती है उसी प्रकार परमार्थ में भी दिन प्रतिदिन प्रीति अधिक करनी चाहिए। धनसंग्रह की तरह ब्रह्मविद्या संग्रह में भी अपनी रुचि नित्यप्रति बढ़ानी चाहिए। जैसे गृहस्थ की आसक्ति दिन-प्रतिदिन अधिक होकर चित्त को बाँध देती है, वैसे सत्संग-आसक्ति दिन-दिन अधिक बढ़ कर चित्त को मुक्त कर देती है। जिस प्रकार व्यवहार में प्रीति अधिक होकर चित्त को चतुर और बुद्धि को निपुण बनाती है, उसी प्रकार परमार्थ में वृत्ति को चतुर और बुद्धि को निपुण बनाना उचित है। जिस प्रकार संतति-प्रीति दिन-दिन अधिक होकर मन को मोह रूह बंधन-गृह में प्राणांत-पर्यन्त फंसाये रखती है उसी प्रकार दिन-दिन उत्तम स्वाभावों की प्रीति को अधिक कर उपरतिरूपी वन में अपने काल को व्यतीत करना चाहिए। जिस प्रकार संसारी पुरुषों के वचन हृदय में प्रवेश कर राग द्वेष की पीड़ा देते हैं उसी प्रकार संतों के वचनों को हृदय में दृढ़ कर रागद्वेष की पीड़ा से रहित होना चाहिए। जब इस रीति से वृद्ध और नवीन जिज्ञासु सत्यधर्म के अभ्यास में दृढ़ और सावधान होंगे, तब मोक्षरूपी सिंहासन पर विराजमान होकर अपने जीवित काल को शान्ति, तृप्ति; समता, मुदता और गम्भीरता से व्यतीत कर अपने वास्तव स्वरूप में समाएँगे।

प्रश्न ६—सत्संग में प्रीति उत्पन्न होती है? कोई ऐसी युक्ति हो, जिससे सत्संग में प्रीति बनी रहे और शरीर पालन के लिए जगत का व्यवहार भी पवित्रता से होता रहे?

उत्तर—जब मनुष्य के हृदय में यह विचार उत्पन्न होता है कि मेरी सारी आयु झूठे धन्धों में और इन्द्रियों के विषयभोग में व्यतीत हो गई। आज तक इस जीवन में कोई शुभ काम नहीं हुआ। अब भी पशुओं की नाईं निद्रा, मैथुन, भोग और भय में काल व्यतीत हो रहा है। देखने में यद्यपि मेरा आकार मनुष्य का है, परन्तु काम पशु के हैं। अतः मुझे धिक्कार है कि ऐसे उत्तम और उपकारी शरीर को पाकर भी मैंने परमात्म का ज्ञान न पाया। इस प्रकार हा-हा हू-हू में आयु व्यतीत कर दी। ऐसे विचार से मनुष्य के हृदय में संसार की ओर से वैराग्य उत्पन्न होता है और सन्तों के संग में प्रीति उत्पन्न होती है। तात्पर्य यह है कि विचार और वैराग्य से सत्संग में प्रीति उत्पन्न होती है। जब तक विचार द्वारा अपनी अवस्था आप न जाँचें, इसे अपने कर्मों से पश्चात्ताप न करे, क्योंकि पश्चात्ताप

Scanned with CamScanner

से मलिन कर्मों के त्यागने की इच्छा होती। तब तक नीच और मलिन कर्मों के त्यागने की सामर्थ्य उत्पन्न नहीं होती। जब तक सामर्थ्य न हो मन मलिन कर्मों से उपरत होकर सत् कर्मों में नहीं लगता और जब तक सत् कर्म और सत् स्वभाव हृदय में प्रवेश न करें तब तक सत्संग की प्रीति अन्तःकरण में उदय नहीं होती। इसलिए सत्संग द्वारा जिज्ञासु निरन्तर विचार के आसरे अपनी पिछली आयु के कर्मों को न्यायशील वृत्ति से जाँचता रहे, अपने-आपको धिक्कार कर नीच कर्मों का त्याग करता रहे और अपने ऊपर आप उपकार कर सत्संग में लगाता रहे। इस रीति से जब सत्संग-प्रीति हृदय में उत्पन्न हो जावे, फिर दिन-दिन उसको बढ़ाने का यत्न करे। ऐसा न हो कि घास की अग्नि की नाँई थोड़े काल के बाद उसमें प्रेम का अभाव हो जाए। वह नित्यप्रति प्रेम को अधिक करता रहे। जब विषयों की वृद्धि, और धन की प्रीति हृदय से अत्यन्त मिट जाती है उस समय सत्संग के वचन इसके हृदय में प्रवेश कर अपना फल प्रकट करते हैं। इससे अज्ञान न होकर ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान द्वारा इसे सब कामों के करने की युक्ति प्राप्त होती है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान के सहायक सन्तोष, धीरज, तत्व-विचार, असंगति, समता, मुदता और एकान्त सेवन इसे प्राप्त होते हैं। इनके प्रसाद से इसकी आयु सुख और शान्ति सहित व्यतीत होती है। इससे पाप का मूल लोभ हृदय से निवृत्त हो जाता है। इससे व्यवहार भी स्वाभाविक शुद्ध और अल्प हो जाता है। व्यवहार में जो द्रोह, कपट, मिथ्या वचन और ठगी आदि का बर्ताव होता है, उसका निमित्त केवल अज्ञान और लोभ है। जब अज्ञान और लोभ निवृत्त हो जाते हैं तब अज्ञान और लोभ के नीच और मलिन स्वभाव नष्ट हो जाते हैं। इससिए जिज्ञासु सत्य और असत्य का विचार उत्पन्न कर सत्य के साथ अपनी बुद्धि को जोड़े। जब सत्य वस्तु के साथ बुद्धि का पूरा-पूरा मिलाप हो गया, तब असत्य का अत्यन्ताभाव हो जावेगा। अतः यत्न कर सत्संग में प्रीति लगाना सब जिज्ञासुओं के लिए उचित है। इससे व्यवहार के सिद्ध कर की उत्तम युक्ति प्राप्त हो जाएगी।

प्रश्न ७—इस जगत में सत्संग के जिज्ञासु थोड़े क्यों हैं? इसका कारण क्या है?

उत्तर—इस जगत में धन, स्त्री, पुत्रादि के जिज्ञासु बहुत हैं। ये उनकी सेवा, टहला और प्रसन्नता में दिन-रात व्यतीत कर अपना जन्म निरर्थक गँवा रहे हैं। ये सत्संग का नाम भी नहीं जानते। सत्संग के उपदेश सुनकर अपने मन में बसा नहीं सकते। बैल अथवा भैंस की नाँई गृहस्थ व व्यवहार रूप अन्धे कूप में चारों ओर घूमते-घूमते मर जाते हैं। कोई भाग्यवान उज्ज्वलमति ही इन तीन पदार्थों के मोह से उपरत होकर सत्पुरुष महात्मा की सेवा, टहल और संगति में आयु व्यतीत कर जन्म का लाभ उठाता है। जो धन, स्त्री, पुत्रादि से वैराग्य कर सत्संग की ओर लगे हैं, उनकी बुद्धि महिमा योग्य है। जब वे उस प्रीति-पालन में सावधान हो जाते हैं कि परदेश का कष्ट, धन की हानि, व्यवहार का अभाव सहारकर आप्तकाम पुरुष की वाणी से वर्षा की नाँई द्रवीभूत होनेवाले चातक केवल अमृत रूप वचन पीते हैं, वे आत्म-तृप्ति का आनन्द लेते हैं।

प्रश्न ८—क्या यह पूर्व जन्म के मलिन कर्मों का फल है कि न सत्संग लाभ होता

Scanned with CamScanner

है और न मन की वृत्ति एक क्षण टिकती है ?

उत्तर—अन्तःकरण में सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण नामक तीन गुणों का प्रवाह रहता है। जब सतोगुण का वेग होता है तब उदारता, शांति, वैराग्य-विचार, उपरति, सत्संग-प्रीति आदि वृत्तियाँ अन्तःकरण में उत्पन्न होती हैं। जब रजोगुण का वेग होता है, तब राग-द्वेष, चंचलता, व्यवहार-चतुराई, विक्षेप्ता, लोक-लज्जा, विषय-प्रीति आदि वृत्तियाँ अन्तःकरण में होती हैं। और जब तमोगुण का वेग होता है तब मूढ़ता, आलस्य, निद्रा, मोह, क्रोध, मत्सर, शून्यता आदि वृत्तियाँ अन्तःकरण में होती हैं। सतोगुण का अभ्यास, क्योंकि अल्प है इसलिए सतोगुणी वृत्तियाँ भी निर्बल हैं और रजोगुण व तमोगुख का अभ्यास दृढ़ है इसलिए रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियाँ भी बलवती हैं। बलवती मन को अपनी ओर खींचती हैं। इसलिए सत्संग में मन नहीं लगता। जब सतोगुण का अभ्यास दृढ़ होगा और रजोगुण-व तमोणुण को अभ्यास अल्प होगा तब मन सत्संग में लीन होकर स्थित हो जावेगा

उत्पत्ति से लेकर अब तक रजोगुणी व तमोगुणी कर्मों का अभ्यास रहा है इसलिए मन चंचल हो गया है। सत्संग में मन नहीं लगता। इसके बिना और कोई हेतु नहीं। पूर्व जन्म से प्रयोजन पूर्व आयु का है। जो कुछ पूर्व आयु में किया जाता है उसी का फल आने वाले जीवन में प्राप्त होता है। जैसे बालक अवस्था में जिसने यत्न से विद्या का अध्ययन किया है, युवा और वृद्धावस्था में वही विद्या उसको फलदायक होती है। वैसे ही प्रारंभिक काल में पुरुषार्थ कर जिसने सतोगुण का अभ्यास किया है, वही अभ्यास उसको सत्संग में लगाकर ज्ञानवान बनाता है। जिसने बालक अवस्था खेल-कूद, चंचलता और दूसरे मलिन स्वभावों में व्यतीत की है, युवा और वृद्धावस्था में वह अपनी अविद्या और विक्षेपता से पश्चात्ताप का भागी होता है और उसके हाथ कुछ नहीं आता। जिसने पूर्वकाल रजोगुण और तमोगुण के कर्मों में अपना समय व्यतीत किया है, वह आयु पर्यन्त अपनी अविद्या और विक्षेप्ता से पश्चात्ताप का भागी रहता है। सत्संग में उसका मन नहीं लगता, मन मरकट की भाँति नाच नचाता है और अन्त पर्यन्त संसाररूपी चक्कर में घूमता है। इससे सिद्ध हुआ कि पहली आयु का पुरुषार्थ भावी आयु में फलदायक होता है। इसी पूर्ति की आयु का दूसरा नाम पूर्व जन्म है। इसके बिना और कोई जन्म नहीं। पूर्व नाम भूत का है और जन्म नाम आयु का है। इस निश्चय कर दूसरे संशयों को चित्त से निकालें और अपनी शुद्धि के लिए आप पुरुषार्थ करें। इस प्रकार सतोगुणी वृत्तियों का अभ्यास करते रहें। जब सतोगुण का अभ्यास प्रबल हो जावेगा तब रजोगुण और तमोगुण निर्बल हो जाएंगे और सत्संग में प्रेम और रुचि उत्पन्न होगी। अभ्यास से सब संकट निवृत्त हो जाते हैं। इसलिए मन लगे अथवा न लगे, आप सत्संग करते रहें। सत्यशास्त्रों के विचार में मन लगाते रहें। अपने कर्मों का विचार कर स्वभाव शुद्ध करते रहें। ध्यान और नामस्मरण से मन की चंचलता निवृत्त करते रहें। जब दृढ़ता से आपने अभ्यास किया तब मन स्वाभाविक ही शुद्ध हो जावेगा।

जब सत्संग में बैठे-बैठे वृत्ति दूसरी ओर जाये तो यत्न करके उसी समय उसका दमन

Scanned with CamScanner

करें। भाव यह कि सत्संग के वचनों में वृद्धि लगाना चाहिए। फुरना वृत्ति का धर्म है और यह शरीर-पर्यन्त रहेगा। पत्थर की नॉई वृत्ति फुरने से रहित होकर जड़ नहीं हो जावेगी। सत्संग और सत्य-विचार से इतना होगा कि वृत्ति भूत और भविष्य की चिन्ता से रहित होकर वर्तमान चेष्टा में लगकर गृहस्थ, व्यवहार, विषय-सेवन आदि के चिंतन से रहित रहेगी। समयानुसार चिंतन भी करेगी, परन्तु दीर्घ और निरर्थक मनोराज उत्पन्न करके विक्षप्त नहीं होगी। सतोगुणी मनोराज अर्थात् शास्त्र-विचार, श्रवण, मनन, स्वरूप-चिन्तन, दुःख-सुख में धैर्य, विषय की प्राप्ति के समय विषय से उपरति आदि संकल्प वृत्ति में रहेंगे। ये संकल्प संसार के संकल्पों से बलवान होकर अपने को यह निश्चय कराएँगे कि मेरा मन अब शुद्ध हो गया है। ऐसे शुद्ध संकल्प तीव्र अभ्यास के बिना दृढ़ नहीं हो सकते। इसलिए उचित है कि आप धीरज और प्रेम-सहित अभ्यास करते चलें। एक दिन आपकी वृत्ति सतोगुणी होकर सत्संग और सत्शास्त्र के रस को अंगीकार करेगी।

प्रश्न ९—मनुष्य इच्छा तो बहुत करता है कि सदा संतों के चरण कमल में रहकर आनन्द का लाभ उठावे। परन्तु कोई ऐसा प्रतिबंध आ जाता है कि इच्छा पूर्ण नहीं होती। जब प्रतिबंध नष्ट हो जाता है, तब सत्संग में रहकर इच्छा पूर्ण करता है। अतः प्रतिबंध कैसे निवृत्त हो ?

उत्तर—जगत में गृहस्थी जिज्ञासु के शरीर के प्राणान्त पर्यन्त प्रतिबंधक रहते हैं। जब शरीर नष्ट हो जाता है तब प्रतिबंधक भी निवृत्त हो जाते हैं। कोई-कोई पुरुष दृढ़ विचार और उपरति के बल से इन प्रतिबंधकों को जीवनकाल में निवृत्त कर स्वच्छन्द होकर परमानन्द का लाभ उठाता है। इन दोनों युक्तियों के बिना प्रतिबंधक की निवृत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार मृत्यु अवस्था में समान आनन्द को प्राप्ति होती है और जीवनकाल में प्रतिबंधकों से मुक्त होकर जिज्ञासु विशेष आनन्द का लाभ उठाता है।

इस संसार में गृहस्थ का मोह, व्यवहार की प्रीति, विषयवासना, लोक-लज्जा और अविद्या मनुष्य को बाँधने वाले हैं। जब इनसे उदास होकर जिज्ञासु सत्गुरु दर्शन और सत्संग की जिज्ञासा करे, तब समझना चाहिए कि अब इसके बंधन नष्ट होने वाले हैं। जब ऐसी जिज्ञासा दृढ़ हो, तब निश्चित ही उसके बंधन निवृत्त होंगे। वह सत्य वचनों को सुनकर अपने मन को निर्विकल्प करेगा। अतः उस जिज्ञासा को परिपक्व करें, ज्ञानरूप अमृत का रस चखें। सत्य-स्वरूप के चिन्तन में मग्न रहें जिससे संसार का रंग न चढ़े। शरीर और गृहस्थ से असंग और उदास रहकर प्रेम और श्रद्धा सहित सत्संग करते रहें।

प्रश्न १०—हृदय में सत्संग का प्रेम है, किन्तु प्रारब्ध के बिना प्राप्त नहीं हो सकता। इसका क्या उपाय है ?

उत्तर—जैसे नौकरी करने से तुम्हें भोजन-छादन प्राप्त होता है वैसे ही पुरुषार्थ करने से सत्संग प्राप्त होगा। प्रारब्ध पुरुषार्थ से प्राप्त होता है। पुरुषार्थ के बिना प्रारब्ध पंगु है। शरीर के पालन के लिए प्रारब्ध का भरोसा नहीं करते, किन्तु परमार्थ के निमित्त प्रारब्ध का भरोसा करते हो। यह बात, न्याय-विचार के बिल्कुल विरुद्ध है। इसलिए जब तक प्रारब्ध

Scanned with CamScanner

का भरोसा छोड़कर पुरुषार्थ नहीं करोगे तब तक परमेश्वर का मार्ग प्राप्त नहीं करोगे।

प्रश्न ११—श्रद्धेय महाराज ! इस भयानक समय में सत्संग-सेवन, परमार्थ-प्रीति, सत्गुरु-सेवा और सत्शास्त्र चिन्तन में वृत्ति स्थिर नहीं रहती। कृपा कर ऐसा उपदेश दें कि वृत्ति परमार्थ में स्थिर हो ?

उत्तर—हे श्रद्धावान्, जिज्ञासायुक्त सत्संगियो ! काल का चक्र महाबली है, देखते-देखते शरीर को नष्ट कर देता है। इसके किसी ढंग पर भरोसा कर परमार्थ-प्रीति से चित्त न हटाना। अपने उत्साह और प्रेम को दिन-प्रतिदिन अधिक बढ़ाना। गृहस्थ, लोक-लज्जा, धन-लाभ, व्यवहार-चतुराई, विरोधी-वाक्य, निन्दा, आलस्य और विक्षेप्ता से सत्गुरु-सेवा, सत्संग-सेवन, परमार्थ-प्रीति, नामस्मरण, गुरु-उपदेश, मनन और निदिध्यासन से चित्त को उदासीन कर संसार में न फँसाना। यह शरीर संसार समुद्र से पार उतरने का जहाज है। इस शरीर को पाकर दूसरे किनारे पर पहुँचने का पुरुषार्थ करना, जिससे अनर्थरूप संसार से मोक्ष प्राप्त हो। दिन-प्रतिदिन अपना प्रेम अधिक बढ़ाते रहना, कहीं ऐसा न हो कि न्यून होता चला जाए। परमार्थ की प्रीति बहुत रसदायक है, आनन्द से पूर्ण और अविनाशी है। अर्थ की प्रीति खेददायक है, दुःख से पूर्ण और नाशी है। परमार्थ नाम आत्मा का है और अर्थ नाम शरीर का है। आत्मा सत्य है ओर शरीर असत्य है इसीसे परमार्थ को अविनाशी और अर्थ को नश्वर माना गया है। तुम आत्म-जिज्ञासु हो। तुम्हारा शरीर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। सदा आत्म-श्रवण, आत्म-कथन, आत्म-चिन्तन, आत्म-मनन, आत्म-निदिध्यासन और आत्म-दर्शन, में सावधान होकर अभ्यास करते रहो। आत्मा तुम्हारा अपना आप है। मन के संकल्प, चित्त के चिन्तन, बुद्धि के निश्चय, और अहंकार के अहं को प्रकाशित करनेवाला ही आत्मा है, उसे अपना जान उसी में मग्न रहो। इस दृष्टि को परिपक्व करने के निमित सत्गुरु-सेवा, सत्संग-सेवन और सत्यशास्त्र विचार में तत्पर रहो। वैराग्य, संतोष, धीरज, प्रेम, विचार और सत्गुरु-प्रीति से अपना अन्तःकरण भूषित कर संसार मण्डल में यश और कीर्ति प्राप्त करो। धन, स्त्री, पुत्रादि सुखदायक नहीं है। भ्रांति से इनमें सुख मान रहे हो। सुखरूप केवल आत्मा हैं, वह नित्य ही प्राप्त है। अज्ञान से आत्मा का सुख धन, स्त्री और पुत्रादि के संयोग में प्रतीत हो रहा है। जब सत्संग द्वारा यह ज्ञान होगा कि आत्मा का चमत्कार इन्द्रिय के मार्ग से विषयों में पड़ता है और विषय सुख रूप प्रतीत होते हैं, तब विषयों से मन हटकर आत्मा की ओर लगेगा। फिर तीव्र अभ्यास से ऐसा मग्न होगा कि मन और आत्मा एक रूप हो जावेंगे। ऐसे ज्ञान और मिलाप का साधन सत्गुरु-सेवा, सत्संग-सेवन और सत्-शास्त्र चिन्तन हैं। इसलिए इन तीनों का आदर दृढ़ता से सेवन करते रहो। हे मेरे सुहृदय सत्संगियो ! मन की वृत्ति बड़ी चंचल है, जिस कर्म को पहले बड़े प्रेम और उत्साह से आरम्भ करती है, अन्त पर्यन्त उसी कर्म में उसी प्रकार नहीं रहती। उस ओर से विमुख होकर वह दूसरी ओर लग जाती है। उसी कर्म को नित्य और साधारण सम-कर अपना प्रेम और उत्साह घटाती है। आलसी होकर शून्य हो जाती है या किसी दूसरे की प्रेरणा से अपना प्रेम हटाती है। व्यवहार में आसक्त होकर परमार्थ से मूढ़ हो जाती

Scanned with CamScanner

है। अतः इसकी इस चेष्टा का ध्यान रखो। तुम मन के इस पेच में न आना, अपने प्रेम और उत्साह को दृढ़ रखना। अपनी श्रद्धा को प्रति-दिन अधिक करते रहना, जिससे सत्गुरु की प्रसन्नता का लाभ प्राप्त हो। मेरे इस उपदेश को हृदय में बसाकर वृत्ति में जो अवगुण हों, उन्हें निवृत्त कर अपना प्रेम नवीन करते चलो। शशिवत प्रेम और वैराग्य रूपी कला अधिक होती जावे, जिससे पूर्ण प्रकाश उदय होकर अज्ञान रूपी तम का नाश हो।

प्रश्न१२— शरीर धारण करने का प्रथम प्रयोजन क्या है?

उत्तर—शरीर धारण करने का परम प्रयोजन यही है कि आत्म-स्थिति में काल व्यतीत हो कल्पित पदार्थ और कल्पित ज्ञान अन्तःकरण से विस्मृत हो जावें। चिन्ता, शोक, गृहस्थ-आसक्ति, लोकलज्जा, कुललज्जा, वेदलज्जा, ईर्ष्या, मान, मोह, भूत-स्मृति, भविष्य चिन्तन, संशय, देह-अध्यास आदि निवृत्त हो जावें। केवल समता, मुदता, सतता, मित्रता, निर्विकल्पता हृदय में विराजमान रहें। ऐसी पावन और उत्तमावस्था सत्यस्वरूप के सामीप्य के बिना प्राप्त नहीं होती। इसलिए आत्मस्थिति के जिज्ञासु अपना काल महान और तत्व वत् पुरुष के संग में व्यतीत करे।

प्रश्न १३—जगत प्रसिद्ध साधु-संग कहाँ से प्राप्त हो, किसे पूर्ण साधु जान उसका संग करें?

उत्तर—इस जगत में सतसंग बहुत दुर्लभ हैं, क्योंकि पूर्णज्ञानी संत सर्वत्र नहीं मिलते भेदवादी और संशयात्मक साधु बहुत हैं। अतः उनका संग श्रेष्ठ नहीं, क्योंकि उनके संग से संशय की प्राप्ति और भेद की दृढ़ता होती है। इससे जीव संसार के बन्धनों में चिरकाल पर्यन्त बँधा रहता है। इसलिए सब प्रकार के साधुओं का संग योग्य नहीं। केवल यथार्थ-दर्सी, यथार्थवक्ता और यथार्थज्ञाता का संग उचित है।

प्रश्न १४—शास्त्रों द्वारा कथित साधुसंगति का अर्थ क्या हैं? सब प्रकार के साधुओं की संगति से लाभ मिलता है या किसी विशेष साधु की संगति से?

उत्तर—जगत में काषाय-वस्त्रधारी साधु बहुत हैं। यथार्थ साधु कोई-कोई है। अज्ञानी भेष को मानते हैं, इसलिए वेषधारी को ही संत जानते हैं। यथार्थ साधु की पहचान किसी बुद्धिमान और सारग्राही जिज्ञासु को ही होती है। अन्यथा सारी सृष्टि दंभी, पाखण्डी, भेद-वादी, कर्मकांडी, कपटी और वेषधारी को साधु मानकर अपनी जिज्ञासा और सेवा को बंधन का हेतु बना रही है। इसलिए बिचार से साधु की संगति करें। ऐसा न हो कि साधु-संगति में संशयात्मक होकर संसाररूपी वन में भटकते रहें।

सन्त वही है जिसके वचन से यह संसार मिथ्या और कल्पित प्रतीत हो। धन, राज्य प्रताप, स्त्री, पुत्रादि की प्रीति चित्त से नष्ट हो। विषय विष के समान भासे। संशय-विपर्यय और भ्रम निवृत्त हों। कुल-अभिमान, धन-अभिमान, राज-अभिमान, यौवनअभि-मान, सुन्दरता-अभिमान, और विद्या-अभिमान हृदय से नष्ट होकर चित्त को निरमान और कोमल बनावें। सच्चिदानन्दरूप परमात्मा का ज्ञान उदय हो। अपने निज स्वरूप का ज्ञान भी बुद्धि में प्रकाशित हो। इससे जीते जी सब विकारों, संकल्पों, दुःखों, क्लेशों,

Scanned with CamScanner

संशयों और विषयों से रहित होकर जीवन मुक्ति का आनन्द प्राप्त हो। ऐसे संत की संगति के अतिरिक्त दूसरे संग संसार में बाँधनेवाले हैं। अतः जिज्ञासु विचारवान, पूर्णदर्शी और ब्रह्मवेत्ता महापुरुष का संग करे।

प्रश्न १५—अज्ञानी को ज्ञानी की संगति में आनन्द नहीं होता, इसका कारण है?

उत्तर—जैसे अंधे पुरुष को दर्पण के सम्मुख अपने मुख का प्रतिबिम्ब नहीं भासता इसलिए उसे दर्पण प्यारा नहीं होता। ऐसे अज्ञानी को ज्ञानवान के सम्मुख अपने स्वभाव का ज्ञान नहीं होता। इसलिए ज्ञानी का साग अज्ञानी के लिए रसदायक नहीं होता।

प्रश्न १६—ज्ञानवान के संग में किसे प्रेम होता है?

उत्तर—जिज्ञासु को ज्ञानवान के संग में प्रेम होता है। जैसे-जैसे स्वरूप ज्ञान उसके हृदय में प्रकाशित होता है; वैसे-वैसे उसे ज्ञानवान के संग से आनन्द आता है। इसलिए परस्पर संग का पूरा आनन्द ज्ञानवान को होता है। इसी कारण ज्ञानवान जिज्ञासु सत्पुरुष के संग की शुभेच्छा से बाहर के कष्ट सहते हुए भी समीप से प्राप्त हुए मन वांछित फल प्राप्त करते हैं।

प्रश्न १७—इस जगत में सुख से आयु व्यतीत करने का कौन-सा साधन है?

उत्तर—इस जगत में सुख से आयु व्यतीत करने के दो साधन हैं। एक आत्मज्ञान और दूसरा श्रेष्ठ गुण। ये दोनों साधन निरन्तर सत्संग से प्राप्त होते हैं। सत्संग के बिना और किसी उपाय से इनकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिए सब मुमुक्षु जन श्रद्धा और प्रेम से सत्संग करते रहें। सत्शास्त्रों के सत्यवचन हृदय में धारणकर अपने अज्ञान को दूर करते रहें। आलस्य, व्यवहार, गृहस्थ-प्रीति, लोक-लज्जा, विषय-आसक्ति और कुसंग से रहित होकर अपने कल्याण का उपाय करते रहें। शरीर क्षणभंगुर है, आयु जल की नाँई वेगवाली है। इसलिए शीघ्र ही अपने कल्याण के निमित्त साधनों की साधना उचित है।

प्रश्न १८—संसार-समुद्र से पार उतरने का क्या उपाय हैं?

उत्तर—संसार संशय का समुद्र है। सारे लोग असंशय में डूबे हुए हैं। इसलिए संसार समुद्र से पार नही हो सकते। जब किसी निःसंशय, पूर्ण पुरुष की शरण आते हैं और उनके उपदेश श्रद्धा और दृढ़ता से सुनते हैं तथा सुनकर मनन और निदिध्यासन के आसरे हृदय में बसाते हैं, तब संशय रूप संसार से पार होते हैं। सद् उपदेश के बिना संशय निवृत्त नहीं होता। सत् उपदेश सत्यपुरुष के बिना और कोई नहीं सुनाता। इसलिए सत्यपुरुष का संग ही जगत से पार उतारनेवाला है। वचनों के श्रवण करने से ही संसार हृदय में अवस्थित हुआ और वचनों के श्रवण से ही संसार हृदय से निकलेगा। वास्तव में संसार कोई भी नहीं। विचार से देखें तो संसार कहीं मिलता ही नहीं। अतः विचार से ही संसार को निवृत्त करना उचित है। यह विचार सत्पुरुष के संग के बिना प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए सत्पुरुषों का संग संसार से पार उतरने का परम उपाय है। मनुष्य की आयु जिस प्रकार बढ़ती जावे, अपने सम्बन्धियों का मोह, गहस्थ-प्रीति और लोकलज्जा का त्याग

Scanned with CamScanner

करता जावे। ऐसा न हो कि आयु वृद्धि के साथ तृष्णा और मोह नवीन होते जावें। जब तक मन, स्त्री, पुत्र और धन की प्रीति से मुक्त नहीं होता तब तक सत्संग की प्रीति उत्पन्न नहीं होती। इसलिए वैराग्य को अपना मित्र बनाकर मोह को अपने हृदय से निकालें तथा उपरत होकर सत्संग का आनन्द पावें। मोह के समान मनुष्य को बाँधनेवाली और कोई फाँसी नहीं। इस फाँसी से बाँधा हुआ पुरुष मरण-पर्यन्त घर के जेलखाने में कैदी रहता है। जब वैराग्य और विचार की कतरनी इस फाँसी को काटती है, तब घर रूपी जेलखाने से मुक्त होकर वह सत्संग रूपी फुलवारी में स्थित होता है और ज्ञान को पाकर अपनी शेष आयु शांति, मुदता, तृप्ति और स्थिति से व्यतीत करता है। यही संसार से पार उतरता है।

प्रश्न १९—संसार अन्तःकरण में प्रवेश कैसे करता है और निकलता कैसे है?

उत्तर—संसार नाम संस्कार का है। यह संस्कार अज्ञानी पुरुषों के वचनों से अन्तःकरण में प्रवेश करते हैं। अज्ञानी जगत में बहुत हैं, सारा जगत अज्ञानियों से भरा हुआ है। इसलिए जहाँ जावो, संसार प्रत्यक्ष है। तत्वज्ञानी बहुत अल्प हैं। उनके वचनों से संस्कार मिथ्या ज्ञान होता है और तत्वस्वरूप सत्य प्रतीत होता है। जैसे-जैसे उनके वचनों का प्रवेश अधिक होता है वैसे-वैसे अज्ञान के संस्कार नष्ट होकर ज्ञान के संस्कार उदित होते जाते हैं। जैसे-जैसे अज्ञान के संस्कार निवृत्त होते जाते हैं, वैसे-वैसे संसार का अभाव होता जाता है। अतः सिद्ध हुआ किसंसार की निवृत्ति और तत्वस्वरूप की प्राप्ति का साधन केवल तत्वज्ञानियों का संग हैं। इसके अतिरिक्त दूसरे सब उपाय कल्पित हैं।

प्रश्न २०—जन्म का सुधार किस उपाय से होता है?

उत्तर—इस जगत में सन्तों के संग के समान कोई साधन जन्म को संवारनेवाला नहीं। अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होती है, ज्ञान सत्यवचनों के सुनने से प्राप्त होता है और सत्यवचन सत्संग में सुने जाते हैं। इसलिए सत्संग सब तीर्थों में उत्तम है। सन्त के समीप जाने वाले को एक-एक पग पर अश्वमेध यज्ञ का फल होता है। जब नेत्रों से उनका दर्शन करता है तो नेत्रों का पाप निवृत्त हो जाता है। जब मस्तिष्क उनके चरणों पर लगाता है तो अभिमान से जो पाप कमारा थे, सब निवृत्त हो जाते हैं। जब कानों के साथ उनके वचन को सुनता है तब पापों का मूल हृदय का अज्ञान नष्ट हो जाता है। जब वाणी से उनकी महिमा करता है, तो वाणी के पाप निवृत्त हो जाते हैं। इस रीति से सन्तों के दर्शन, स्पर्श और संगतिमात्र से ही अन्तर और बाहर के सब पाप नष्ट हो जाते हैं। इसीलिए सत्संग को तीर्थों में उत्तम माना गया है। धन्य भाग्य हैं उनके, जिन्हें सन्तों के दर्शन, स्पर्श और संग की इच्छा होती है। ऐसे मनुष्य इस मरुस्थल जगत में अति दुर्लभ हैं। जिनको युवावस्था में सत्संग में प्रीति उत्पन्न हो, वे अति दुर्लभ हैं। इस जगत के सब काम वचन और श्रवण द्वारा हो रहे हैं। जब तक किसी काम के निमित्त सुना न जाए, तब तक उसके लिए प्रेम उत्पन्न नहीं होता। इसलिए जब किसी महापुरुष की महिमा का शब्द कान में पड़े तो अवश्य उस प्रेम को पूरा करना चाहिए, क्योंकि उनके उपदेश से अज्ञान और अज्ञान के फल—संसार का

Scanned with CamScanner

नाश होकर सत्यस्वरूप का साक्षात्कार होगा। इसके अतिरिक्त सत्पुरुष सबको अपनी आत्मा देखते हैं, सबके साथ समान प्रेम और हित करते हैं। दंभ, ईर्ष्या, कपट, विरोध, मान और व्यवहारिक रीति से रहित होते हैं। उनके पास जो आवे वही फल प्राप्त करता है।

प्रश्न २१—शुद्ध चित्त वाले महात्मा का दर्शन कैसे हो ?

उत्तर—जैसे दर्पण सदा दर्शन के लिए खुला है। जब देखनेवाले का प्रेम अपने दर्शन के निमित्त प्रबल होता है, तब दर्पण के सम्मुख आकर वह अपना दर्शन पाता है। दर्पण को किसी से भेद अथवा प्रच्छेद नहीं। सदा स्वच्छ, असंग और अपने आप में स्थित है। वैसे ही शुद्ध चित्त वाले महात्मा सदा जिज्ञासुओं के निमित्त सावधान हैं। जब कोई प्रेमी भक्त व मित्र उनकी ओर देखता है, तो उसे अपना आप दिखलाने को समर्थ हैं, परन्तु सब अवस्था में वह स्वयं निर्मल, असंग और आत्म-सन्तुष्ट हैं।

प्रश्न २२—"साध के संग नहीं कुछ घाल।
दर्शन भेंटत होत निहाल॥" इसके क्या अर्थ हैं ?

उत्तर—साध का अर्थ है सत्य स्वरूप का संग। अर्थात् ज्ञान के उपरान्त कुछ घाल अर्थात् यत्न नहीं रहता, क्योंकि दर्शन भेंटत होत निहाल, अर्थात् सत्यस्वरूप के साक्षात्कार से जिज्ञासु कृत्-कृत्य हो जाता है। तत्वज्ञान तत्ववेत्ता के वचन द्वारा होता है। इसलिए तत्ववेत्ता का संग ही मुक्ति का हेतु है।

प्रश्न २३—गुण-ग्राहक और निरमान विद्वान पुरुष कौन है ?

उत्तर—जो पुरुष प्रछन्नता रूपी देह स्थल में कायिक, वाचिक, और मानसिक सब कर्मों और विकारों से अपनी बुद्धि को मुक्त कर केवल सत्तामात्र की स्थिति में प्रेरणा करे, जो महात्मा पुरुष के यथार्थ ज्ञान को अपने बल-बुद्धि में जगा दे, जो भिन्न शब्दों द्वारा अन्तःकरण में उत्पन्न होनेवाले विकल्पों को काटने के लिए प्रश्नरूपी विनीत प्रार्थना से निर्विकल्प रूपी उत्तर का जिज्ञासु हो, वह गुणग्राहक निरमान विद्वान पुरुष है। ऐसा श्रेष्ठ और सारगाही पुरुष धन्य है, जो विद्यारूपी बल से बलवान और ज्ञानरूपी सामर्थ्य से सामर्थ्यवान होता हुआ जिज्ञासुओं की विलास वृत्ति को अपनी प्रश्नरूपी डुबकी द्वारा ब्रह्मवित्त रूप अगाध समुद्र से वांछित अर्थरूप रत्नों के निकालने का प्रयत्न करता है।

प्रश्न २४—मन की स्थिति और शुभ कर्मों की दृढ़ता का सरल साधन क्या है ?

उत्तर—नित्य प्रति सत्संग सेवन ही सरल साधन है, क्योंकि सत्संग में मन स्वाभाविक स्थित हो जाता है, काल उत्तम रीति से व्यतीत होता है और शुभ कर्म में मन की प्रीति बढ़ती है। इसलिए सत्संग ही श्रेष्ठ और परम लाभदायक है।

प्रश्न २५—परमार्थ लाभ की प्राप्ति और दृढ़ता कैसे होती है ?

उत्तर—जो कर्म नित्य प्रति प्रेम सहित किया जावे उसका फल दृढ़ और सुखदायक होता है। जो कर्म किसी दिन किया जावे और किसी दिन न किया जावे, उसका फल कच्चा और दुःखदायक होता है। इसलिए पारदर्शी जिज्ञासु सत्गुरु के उपदेश को नित्यप्रति मनन करते हुए परम लाभ उठाते हैं। जो सत्गुरु का उपदेश कभी कमाते हैं अथवा विस्मरण

Scanned with CamScanner

कर व्यवहार में आसक्त हो जाते हैं, उनको यथार्थ लाभ की प्राप्ति नहीं होती। प्रकृति की यह मर्यादा है कि उसे सूर्य, चाँद आदि अपने-अपने कर्म में नित्य ही समयानुसार प्रवृत्त होकर जगत रूप फुलवारी को सुन्दर और शोभनीय रखते हैं। वैसे मनुष्य नित्य प्रति सावधान होकर समयानुसार सत्संग में आवे और अमृतरूप बचनों को पान कर अपने हृदय की तृष्णा मिटावे। जैसे व्यवहार में दृढ़ता और प्रेम को मित्र बनाकर धन का लाभ उठाता है, वैसे ही सत्संग में दृढ़ता और प्रेम को मित्र बनाकर आत्मप्राप्ति रूप धन का लाभ उठावे।

प्रश्न २६—बुद्धि की स्थिरता कैसे होती है?

उत्तर—बुद्धि की स्थिरता वैराग्य, उपरति और बोध से होती है। वैराग्य का अर्थ मोह और प्रीति का त्याग है, उपरति का अर्थ सब के संग से दूर रहने का है और बोध का अर्थ सत्यस्वरूप को यथार्थ-रीति से जानने का है। जब इन तीनों का अभ्यास समान हो तब बुद्धि चंचलता त्याग स्थिर हो जाती है। बुद्धि की चंचलता के निमित्त मोह, संग और अज्ञान है। जब सत्गुरु के उपदेश और शुद्धाभ्यास से इनकी निवृत्ति होती है, तब बुद्धि स्वाभाविक ही स्थिर हो जाती है अथवा निरन्तर सत्संग का सेवन भी बुद्धि को स्थिर कर देता है। अतः जिज्ञासु वैराग्य और उपरति का सत्संग श्रद्धा, प्रेम, दृढ़ता और निर्माणता से सेवन करें।

प्रश्न २७—इस जगत में सत्संग की महिमा क्यों है?

उत्तर—जगत में सत्संग की महिमा इस कारण है कि इसके प्रसाद से संशय नष्ट होते हैं। संशयों का नाम ही संसार है जब संशय अत्यन्त निवृत्त हो जाते हैं, तब संसार का लेश मात्र भी नहीं रहता। संशयों की निवृत्ति आत्मज्ञान के बिना ऐसे असम्भव है जैसे दीपक के बिना तम की निवृत्ति। आत्मज्ञान सत्संग से प्राप्त होता है। इसलिए सत्संग ही संसार-समुद्र से पार उतरने का जहाज़ या पुल है। इसका सम्बन्ध मन से है। भाव यह है कि आत्म-जिज्ञासु अपने मन में सत्संग के उपदेश को पाकर ऐसा प्रसन्न और अचिन्त रहता है कि अपने आपको चक्रवर्ती राजा से भी अधिक मानता है और रसायन जानने वाले से भी श्रेष्ठ जानता है। जिस हृदय में ऐसे सत्संग का रंग चढ़ा है, वही जानता है और महिमा करता है, दूसरे को ज्ञान नहीं होता।

इस जगत में प्रेम और मिलाप से सब-कार्य सिद्ध हो रहे हैं। जैसे पत्तों के मिलाप से छाया उत्पन्न होकर पक्षी को सुख देती है। जैसे स्त्री और पुरुष के मिलाप से संतान उत्पन्न होती है। जैसे प्राण और शरीर के मिलाप से जीवन सिद्ध होता है वैसे ही सत्संग के मिलाप से ज्ञान और योग का फल मिलता है। परस्पर सहृदयता और मित्रता बढ़ती है। एक-दूसरे की लज्जा और भय से मनुष्य उत्तम स्वभावों को अपनाकर नीच स्वभावों को त्याग देता है। इससे दूसरे लोगों को भी इसका फल मिलता है। अतः सब जिज्ञासु जन सत्संग को जल के प्रवाह की नॉईं स्थिर रखें। जगत में दूसरे जितने व्यवहार हैं, उनका फल देह-पालन और कुटुम्ब-पालन है। इनसे अतिरिक्त कोई तीसरा फल प्राप्त नहीं होता। मन का सुधार किसी व्यवहार से नहीं होता, किन्तु व्यवहार से मन का विकार बढ़ता चला जाता है।

Scanned with CamScanner

चंचलता, विक्षेप्ता, शोक और यत्न अधिक बढ़ जाते हैं। इसलिए सब व्यवहार जीव के दुःख का हेतु हैं। केवल सत्संग में मन के सुधार की युक्ति है। आत्मज्ञान द्वारा विषयों से वैराग्य प्राप्त होता है। इससे शान्ति, एकाग्रता और हर्ष सहज ही प्राप्त होते हैं। दिन-प्रतिदिन चित्त विश्राम करता है। संसार केवल मनोमात्र प्रतीत होता है। आत्मा सत्स्वरूप और प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। विषय चित्त को चंचल नहीं कर सकते और धैर्य, विचार, वैराग्य, उपरति, क्षमा, दया, सन्तोष, सत्य उपकार आदि स्वभाव प्रिय लगते हैं। इसलिए सत्संग सब व्यवहारों से उत्तम और ग्रहण करने योग्य है। सत्संग के समान कोई तप नहीं, कोई यज्ञ नहीं, कोई तीर्थ नहीं, कोई स्मरण नहीं, कोई पुस्तक व मार्ग नहीं, कोई भेष नहीं, सब हठ-धर्म वाद-विवाद हैं। यह परम उत्तम, शान्तिदायक और मंगलरूप धर्म है तथा नित्य प्राप्त रूप है। इसके निमित्त कोई यत्न करना नहीं पड़ता। केवल श्रद्धा और निरहंकारिता से आकर वचनों को शुद्ध-बुद्धि के साथ श्रवण करे, एकान्त देश में बैठकर मनन करे और निरन्तर अभ्यासरूप निदिध्यासन करे। उन वचनों के तात्पर्य ब्रह्म में मन ब्रह्माकार हो जावे। इस रीति से जब कुछ काल अभ्यास होता रहे, तब सत्य वस्तु प्रत्यक्ष प्रतीत होती है। सब संशय नष्ट हो जाते हैं। क्लेश निवृत्त होने से आनन्द और शान्ति प्राप्त होती है। इसे पाकर पुरुष कृत्-कृत्य होता है। इसलिए सत्संग के साथ अपनी प्रीति अधिक करे, क्योंकि सत्संग के अर्थ परमात्मा संग के हैं। परमात्मा का संग सबसे श्रेष्ठ है। अन्य सब पदार्थ असत्य हैं। केवल परमात्मा सत्य है। इसलिए परमात्मा के संग को ही सत्संग कहा जाता है। अन्य दूसरे संग को असत्य संग कहा जाता है। यही कारण है कि सत्संग की महिमा सब वेदों, शास्त्रों और पुराणों में प्रसिद्ध है। अतः विचारवान असत्य संग को त्यागकर केवल सत्संग में प्रीति रखे और फिर ऐसा सत्संग जिसमें केवल स्वरूप ज्ञान का ही निरूपण हो, जगत में दुर्लभ है। अहोभाग्य हैं उनके, जो इस मरुस्थल रूप संसार में सत्संग रूपी कल्पवृक्ष की छाया के नीचे बैठकर अपने समय को प्रेम और शांति सहित व्यतीत कर रहे हैं।

प्रश्न २८—सत्सङ्ग की महिमा कितनी है ? लोग इससे लाभ उठाते हैं या नहीं ?

उत्तर—इस जगत में सत्सङ्ग के समान कोई सहायक नहीं। अन्य सारे पदार्थ या सम्बन्धी तो बाँधने वाले संत जन ही कृपा करके अपने उपदेश से जगाकर संसार के बन्धनों से छुड़ाने वाले हैं। इसलिए संतों का सङ्ग सर्वजगत के पदार्थों और सङ्गों से उत्तम है। परन्तु जब सत्सङ्ग प्राप्त होता है तब लोग लाभ नहीं उठाते। आगे पीछे पश्चात्ताप करते हैं। अपने व्यवहार अथवा व्यापार के निमित्त परदेश में जाते हैं परन्तु सत्सङ्ग के निमित्त परदेश जाना स्वीकार नहीं करते आयु का लाभ आत्मज्ञान से है और आत्मज्ञान महात्मा की कृपा से प्राप्त होता है। अतः श्रद्धा से महात्मा की संगति करे।

प्रश्न २९—सुलभता से प्राप्त सत्सङ्ग की महिमा कैसे निश्चय होती है ?

उत्तर—परदेश के पर्यटन से और भिन्न-भिन्न पुरुषों की वाणी-श्रवण से संत्सग की महिमा और विशेषता का निश्चय होता है। इस जगत में जो वस्तु मनुष्य को सुगम और समीप से प्राप्त हो, उसकी महिमा और बड़ाई को वह नहीं जानता। जब भिन्न-भिन्न देशों में पर्यटन

Scanned with CamScanner

करता है और नाना प्रकार के क्लेश सहता है तथा भिन्न-भिन्न पुरुषों की संगति में बैठकर उनके वचनों को सुनकर शांति अथवा आनन्द कहीं नहीं पाता है, उस समय उसको सत्सङ्ग की महिमा निश्चय होती है। वह सत्सङ्ग के वचनों को सत्य मानता है। इस रीति से देख-भाल कर नित्य प्राप्त सत्सङ्ग की महिमा ज्ञात होती है।

प्रश्न ३०—सत्सङ्ग का लाभ कब प्रतीत होता ?

उत्तर—जब मनुष्य सत्सङ्ग से रहित किसी दूर देश में जाता है और भिन्न-भिन्न पुरुषों के सङ्ग द्वारा भिन्न-भिन्न व्यवहारों से नाना प्रकार के रागद्वेष आदि क्लेशों का अनुभव करता है, उस समय सत्सङ्ग के विचार, धैर्य और लाभ उपरति प्रत्यक्ष सुख देते हैं। जब शरीर किसी रोग से पीड़ित और खिन्न होता है तथा औषधि-सेवन से रोग की निवृत्ति नहीं होती, उस समय सत्सङ्ग के फल आत्म-विचार और आत्म स्थिति सहायक होकर रोग के होते हुए उसे सुखरूपी सिंहासन पर विराजमान करतेहैं। जब किसी सम्बन्धी का वियोग होता है, धननाश होता है, मान भंग हो जाता है, अंग क्षीण हो जाता है अथवा कोई और आपदा आ जाती है, उस समय असङ्गति, समता, एकाग्रता और सत्सङ्ग का बल संतोष रूपी हृदय में पूर्ण होकरउस आपदा को सम्पदा से भी अधिक सुखदायक और कल्याणरूप प्रतीत कराता है। जब शरीर रोग से निर्बल होकर मृत्यु-अवस्था के समीप होता है, वात्त-पित्त, कफ और लोहू अपने विरोध में शरीरधारी को नाना प्रकार के कष्ट और पीड़ा देते हैं, उस समय यथार्थ स्वरूप में स्थित सत्सङ्ग का परम लाभ अपरोक्ष से प्राप्त होकर उस परम खिन्न महाकष्टदायक और भयानक अवस्था को सहज सिंहासनवत् परमानन्द रूप बना देता है। रंचक मात्र क्षोभ भी प्रतीत नहीं होता। जैसे पुरुष अन्न और जल की मस्ती से नींद रूप हिंडोरे में सहज ही झूलता है वैसे ही यथार्थज्ञान की मस्ती से विदेह सत्सङ्गी मोक्षरूपी हिंडोरे में सहज ही झूलता है अर्थात् निर्वाण गति को प्राप्त होता है। वैसे सत्सङ्ग का लाभ सामान्य रूप से सर्वथा प्राप्त रहता है, परन्तु आपदा काल में सत्सङ्ग का लाभ, फल और बल प्रत्यक्ष सन्मुख होकर सहायक और सुखदायक होता। सत्सङ्ग के समान मनुष्य का कोई श्रेष्ठ और दृढ़ मित्र वा सम्बन्धी नहीं है। इसलिए श्रद्धा और प्रेम से इसका सेवन करें कि सर्वदा सुख और शान्ति प्राप्त हो।

प्रश्न ३१—सत्सङ्ग और सत्-शास्त्र चिन्तन से क्या फल प्राप्त होता है ?

उत्तर—सत्सङ्ग मुक्तिदाता है। इस काल में सत्सङ्ग के बिना कल्याण का मार्ग और कोई नहीं। सत्सङ्ग से सब साधन प्राप्त होते हैं अन्तःकरण शुद्ध और निर्मल होता है। सत्सङ्ग से ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान से जन्म-मरण का नाश होता है और जिज्ञासु मुक्त हो जाता है इसलिए केवल सत्सङ्ग ही मुक्ति का दाता है और सब तीर्थों में उत्तम है। इसके सेवन से जीव ब्रह्म-गति में पहुँचकर अविद्या के क्लेशों और तपस्या से बचता है। इसलिए श्रद्धा, दृढ़ता, प्रेम, मिलाप और सत्य-प्रीति से सत्सङ्ग का सेवन करें।

संशय का नाम संसार है और ज्ञान का नाम परमात्मा है। आत्मा के अज्ञान से संशय होता है और आत्मज्ञान से परमात्म-ज्ञान होता है। इसलिए आत्मज्ञान ही सर्व कल्पित

Scanned with CamScanner

संशयों की निवृत्ति द्वारा परमानन्द का हेतु है। आत्मा आप ही ज्ञानरूप है। जब ज्ञान होता है तब अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। ज्ञान से ज्ञान को पाकर जिज्ञासु ज्ञानमात्र आनन्द का अनुभव करता है। मानो वह ज्ञानरूप होकर ज्ञान के नेत्र से ज्ञान को देखता है। फिर ज्ञान को ज्ञान में लीन कर ज्ञान से उल्लंघित होकर रहता है। महात्मा की संगति का यह महाफल है।

सत्संग और सत्शास्त्र चिन्तन का यह फल है कि व्यवहार शुद्ध हो। तात्पर्य यह कि सत्संग से पहले जिस रीति से व्यवहार करते थे, अब व्यवहार उस रीति से न होना चाहिए, क्योंकि सत्संग का फल नहीं मिलता किन्तु सत्संग के बाद व्यवहार के समय सत्संग का फल मिलता है। जैसे भोजन खाने के समय भोजन का बल नहीं मिलता किन्तु भोजन करने के उपरान्त पाचन के समय भोजन का बल मिलता है, वैसे ही व्यवहार के समय यदि सचाई, धर्म, धीरज, विचार, मित्रता, शान्ति, उपकार, सत्यव्यवहार और संतोषादि स्वभाव रहें तो सत्संग, सत्गुरु-उपदेश और सत्शास्त्र-श्रवण, मनन का फल प्राप्त समझना चाहिए। इसलिए अपने व्यवहार में जो कमी हों पुरुषार्थ से उन्हें निकालें और क्षण-क्षण में अपनी वृत्ति की जाँचकर अपने व्यवहार को सम्भालें। आठ पहर सचाई, शान्ति, आत्मज्ञान और धीरज से बर्ताव करें। किसी भी समय क्षोभ पाकर झूठ, तृष्णा, अज्ञान और क्रोध से मिलकर अपने आपको न तपावें। सारे दिन में अधिक काल व्यवहार में व्यतीत होता है। यदि सत्संग का अल्पकाल सत्यधर्म में बरतें और व्यवहार का बहुत काल सत्यधर्म के नियमों से उपरत रहने में बिताएँ तो पूरा लाभ प्राप्त न होगा। इसलिए जिज्ञासु व्यवहार के समय सत्यधर्म को बरतें जिससे सत्संग और सत्शास्त्र चिन्तन का फल प्राप्त हो।

प्रश्न ३२—उत्तम जिज्ञासु किस वृत्ति से ब्रह्मविद्या की दीक्षा लेते हैं और किस रीति से अपने धर्म को स्थिर रखते हैं? वे ब्रह्मविद्या की दीक्षा से क्या लाभ उठाते हैं?

उत्तर—श्रद्धायुक्त, प्रेमारूढ़, निर्मलमति, मुमुक्षु और सत्यवादी जिज्ञासु नित्य ही समयानुसार ब्रह्मविद्या की दीक्षा लेने के लिए ब्रह्म-यज्ञ के स्थान पर उत्साह और शुभेच्छा-से आते हैं। भौतिक व्यभिचार अर्थात् वर्षाकाल; पवनवेगादि प्रतिबन्ध भी उनके प्रेम के नियम को प्रवाहरूप जिज्ञासा से प्रतिबन्धक नहीं बनाते। सज्जन पुरुष सतता, प्रसन्नता और आस्तिक भावना सहित सत्यपुरुष की मृदु और अमृतवाणी का रस कर्ण द्वारा पीकर हृदय रूपी कुण्ड को तृप्त करते हैं। इस प्रकार जिज्ञासु श्रवण, मनन और निदिध्यासनादि साधनों द्वारा दृढ़ और सच्ची प्रीति को अपनाकर नदीवत् ब्रह्मसागर के निकट आते हैं और प्रतिदिन प्रेम की अधिकता से ब्रह्म में समाते हैं।

प्रश्न ३३—सत्संगियों के साथ किस रीति से बरतना चाहिए, जिससे परस्पर लाभ प्राप्त हो और सत्संग भी स्थिर रहे?

उत्तर—सत्संगी अपने स्वभावों को ऐसा सुधारें कि दूसरे लोग देखकर उनके समान होने की इच्छा करें। दूसरों की निन्दा और स्तुति पर ध्यान न लगा कर अपना धर्म पूरा करते रहें। जगत केवल शब्दमात्र है। वे इस पर चित्त न बाँधे। वे आपस में ऐसा मिलाप रखें, जैसे दूध और मीठा परस्पर घुलमिल जाते हैं। एक-दूसरे की बात पर ईर्ष्या द्वेष न

Scanned with CamScanner

करें। एक-दूसरे को अपनी आत्मा निश्चय करें। जब एक भूल करे दूसरा उसे समझावे। ऐसा न करे कि पीछे उसकी निन्दा करें और मुख पर कुछ न कहे। सम्मुख होकर उसे समझावे, जिससे एक-दूसरे के दूषण निकलते रहें। सचाई, शुद्धता, शान्ति, उदारता और प्रेम से सत्यधर्म-सभा जुटाते रहें। इस रीति से सत्संग की अपार महिमा को निश्चय करें।

॥ भजन ॥ (१)

प्राणी सत्संगत नित कीजे ॥
सत्संगत में शुभ मति उपजें, सुखसन्मान लहीजे ॥ १ ॥
सन्तोषी धीर हरी जन का, संग प्रेमादर सों कीजे ॥ २ ॥
अल्पाहारीं निर्मल मति के, रुच रुच पास बहीजे ॥ ३ ॥
सन्त पास जो समय सुहावे, ताँको सफल लखीजे ॥ ४ ॥
जहाँ धरम अरु शुभ गुण उपजें, सोई संग गहीजे ॥ ५ ॥
शुभ संग बिन नहिं उपजे शुभ गुण, शुभ संग माँहि रहीजे ॥ ६ ॥
जैसा संग हो वैसा मन हो, निशदिन याद रखीजे ॥ ७ ॥
जो आनन्द सत्संग में आवे, स्वर्ग में नाँहि लभीजे ॥ ८ ॥
दुर्जन संगति दुःख की खानी, विषवत् जान तजीजे ॥ ९ ॥
दुर्जन दर्शन से विष व्यापे, दुर्जन नाँहि दिखीजे ॥१०॥
यश धर्म धन और प्रसनता, सत्संग का फल लीजे ॥११॥
शुभ ही चितवो नित इन्द्रिन से, भला करम ही कीजे ॥१२॥
दुःख कुसंग में, सुख सुसंग में, चित पर दृढ़ उकरीजे ॥१३॥
साध संग कर जनम उधारो, हेमां ब्रह्म समीजे ॥१४॥

॥ भजन ॥ (२)

साधो सुख दुःख उपजाई ॥
सन्तसंग में सुख नित उपजे, दुःख कुसंग में भाई ॥ १ ॥
सत्संगति में सत्य बतावे, झूठ कुसंग सिखाई ॥ २ ॥
धीरज शान्ति सत्संग देवे, क्रोध कुसंग बनाई ॥ ३ ॥
सद्विहार संयम सत्संग फल, विषय कुसंग फँसाई ॥ ४ ॥
दुष्ट संग से मनमुख पापी, सत्संग भक्ति लाई ॥ ५ ॥
चित चंचल है दुःख की खानी, स्थित चित है सुख दाई ॥ ६ ॥
संतसंग में चित स्थिर होवे, शुभ स्वभाव प्रगटाई ॥ ७ ॥
चित कुसंग में अति चंचल हो, नित दुःख में उलझाई ॥ ८ ॥
सत्संगी नित आदर पावे, धिक् कुसंग दिलाई ॥ ९ ॥
दुःख देवे दुःख पाय कुसंगी, मूल किसे नहिं भाई ॥१०॥
सत्संगी सुख दे सुख पावे, मोहे लोग लुगाई ॥११॥
कल्प वृक्ष चिन्तामणि सत्संग, सुख की खानी भाई ॥१२॥

Scanned with CamScanner

नीच उबारे सत्संग केते, सदना, सैना नाई ॥१३॥
जीते जी सुख यश दे साधु, जीवन सुखद बनाई ॥१४॥
चार पदारथ सत्संग देवे, हेमां कहत बुझाई ॥१५॥

॥ भजन ॥ (३)

जग में संग महाबलवान ॥
बीज उत्तम मिल भूमि जल से, प्रगटे वृक्ष बलवान ॥ १ ॥
बूटी गंदी खेत उत्तम को, करे तुरत वीरान ॥ २ ॥
करे अरुरी को फुलवारी, माली सो बुद्धिमान ॥ ३ ॥
चन्दन के संग कीकर चन्दन, देख संग शुभ शान ॥ ४ ॥
संत्संग में नाना दोषी, हो गए देव समान ॥ ५ ॥
संत पुत्र नीचन के संङ्ग में, दुर्जन हुए महान ॥ ६ ॥
सब इन्द्रिन के सङ्गों से हैं, शब्द सङ्ग परधान ॥ ७ ॥
ताँते शब्द तोल कर बोलो, सुनो शब्द सत् ध्यान ॥ ८ ॥
नीच संग से भागो निशदिन, अग्नि, सर्प समान ॥ ९ ॥
जैसी सङ्गति अरु आहार हो, तैसा बने पुमान ॥१०॥
कर सत्संग खाय पथ थोड़ा, होवे सकल कल्याण ॥११॥
पवन शुद्ध अन्न वस्तर गृह शुद्ध, शुभ नर सङ्ग प्रमाण ॥१२॥
फुरने व्यर्थ त्याग तुम निशदिन, विषका रूप तिंहि जान ॥१३॥
अन्तर बाहर शुभ सङ्गी जो, हेमां मुक्त पछान ॥१४॥

॥ भजन ॥ (४)

साधो सत्संगत जग सार ॥ १ ॥
आन संग जेतक जग माहीं, सगरे सहित विकार ॥ २ ॥
तीरथ से उत्तम सत्संगत, मन का होय उद्धार ॥ ३ ॥
सत्संगति में दुर्मति नासे, होवे शुद्ध आचार ॥ ४ ॥
सत्संगति में शुभ गुण उपजें, नासें सकल विकार ॥ ५ ॥
सत्संगति में सहजे उपजें, सम संतोष विचार ॥ ६ ॥
शांति-पदारथ निशिदिन पाइये, संतन के दरबार ॥ ७ ॥
बिन सत्संग शांति नहीं आवे, केतक हठ तप धार ॥ ८ ॥
संतन के संग गोविन्द भावें, भूले सब संसार ॥ ९ ॥
सत्संगति में संशय नासे, भासे आतम सार ॥१०॥
सत्संगत में ज्ञान प्रकाशे, होवे हरि दीदार ॥११॥
सत्संगति में पाइये मुक्ती, उपजे तत्व विचार ॥१२॥
श्रद्धा धार करो सत्संगत, हेमां कहत पुकार ॥१३॥

॥ इति श्री तृतीय सिद्धान्त समाप्तम् ॥

Scanned with CamScanner

★ सद्गुरु सिद्धान्त ★

: ४ :

प्रश्न १—

॥ चौपाई ॥

गुरु पद की टीका अब कीजे, ज्ञान यथार्थ गुरु का दीजे।
जाते गुरु को निशदिन ध्याऊँ, हेमराज परमानन्द पाऊँ॥

उत्तर—

॥ चौपाई ॥

गुरु पद के अब अर्थ सुनीजे, मन का संशय सकल मिटीजे।
गो पद अर्थ ज्ञान ही जानो, रो पद अर्थ रवी ही मानो॥ १॥
ताँते गुरु रवि ज्ञान प्रकाशे, जाँते तम अज्ञान विनाशे।
ज्ञान भानु गुरु देव अपारा, जाँते नशे तिमिर संसारा॥ २॥
एक अखण्ड अडोल विराजे, स्वयं प्रकाशी निज छवि छाजे।
जब यह ज्ञान हृदय में आवे, द्वैतरूप संसार नसावे॥ ३॥
अथवा गो पद इन्द्रिय जानो, रो के अर्थ प्रकाशक मानो।
इन्द्रिन का परकाशक जोई, निश्चय कर जानो गुरु सोई॥ ४॥
सो है आतम अचल स्वरूपा, ताँते गुरु आतम इक रूपा।
सत्चित् आनन्द उपमा जानो, नाना रहित सदा इक मानो॥ ५॥
चेतन रूप स्वयं परकाशी, सत्तामात्र सदा सुख राशी।
भेद रहित आतअविनाशी, परम ज्योति पूर्ण परकाशी॥ ६॥

प्रश्न २—सद्गुरु-धारण करने का क्या प्रयोजन? इससे क्या सहायता प्राप्त होती है?

उत्तर—यह संसार अनर्थ रूप महादुस्तर और महादुःख रूप है। सहायक के बिना इस सागर से पार होना बहुत कठिन है। सहायक केवल पूर्ण सत्गुरु है, इसलिए सत्गुरु के उपदेश और सत्संग को अपना मित्र बनाकर सुख से इस संसार से पार उतरें। कुसंग महा-बलवान है और यत्र-तत्र पूर्ण है। चलते-चलते ठोकरें देने वाले बहुत हैं। आत्म-जिज्ञासु के शत्रु सब दिशाओं में फैले हुए हैं। शरीर के अन्दर भी इस इन्द्रिय, अन्तःकरण और उनके विषय जीव को सत्यमार्ग पर चलने नहीं देते। इसलिए अन्तर और बाहर के शत्रुओं से

Scanned with CamScanner

निर्भय होने के लिए प्रीतिवान केवल सत्गुरु के उपदेश पर सावधान रहे, जिसके फल-स्वरूप आत्म-साक्षात् होकर सब दुःखों की निवृत्ति हो।

गृहस्थ के धंधे और जगत के व्यवहार कभी पूर्ण होने के नहीं। मनुष्य की आयु समाप्त हो जाती है, परन्तु माया के व्यवहार पूर्ण नहीं होते। जब जिज्ञासु सत्गुरु की शरण आता है, वह समझाते हैं कि जगत मिथ्या है, शरीर दुःखरूप है और आयु बिजली के चमकारे की नाईं क्षणभंगुर है ; तब उसके हृदय में वैराग्य उत्पन्न होता है। पुरुषार्थ कर व्यवहारों से हाथ खींचता है और समय बचाकर सत्संग और सत्-शास्त्र चिन्तन का लाभ उठाता है। इससे आत्मज्ञान रूपी फल प्राप्त होता है। मनुष्य शरीर का प्रयोजन सर्व दुःख की निवृति और परमानन्द की प्राप्ति है। वह सत् गुरु की संगति और सेवा में स्थित होने से शरीर दिशा में प्राप्त होता है। इसलिए सत्गुरु की सहायता परम सुख का निमित्त है। इसी प्रयोजन को लेकर सत्गुरु-धारणा की रीति चली आनी है।

प्रश्न ३—सत्गुरु की समीपता और सेवा से क्या लाभ होता है ? पुरुष किन गुणों से सद्गुरु-सेवा का अधिकारी होता है ?

उत्तर—श्रद्धावान जिज्ञासु को जितना आनन्द सद्गुरु की समीपता और सेवा से होता है और किसी में नहीं होता, क्योंकि जितनी समीपता होती है उतनी संशय की निवृत्ति होकर परम कर्म निश्चल पद की प्राप्ति होती है। अहोभाग्य हैं उस जिज्ञासु के जो एकाग्रता से सद्गुरु-सेवा काउठाकर अपनी जिज्ञासा को सफल करता है। सद्गुरु का अमृतरूप उपदेश श्रवण पीकर चित्त लाभको मन और निदिध्यासन में जोड़ता है। इसका फल यह होता कि चित्त निरन्तर आत्मपद में स्थित रहता है। आगे कोई संशय, भ्रम व वचन क्षोभ का हेतु न होकर शान्ति और तृप्ति बनी रहती हैं और जिज्ञासु धीरज और गम्भीरता से अपना काल व्यतीत करता है।

जैसे श्रद्धा और प्रीति अधिक होते हैं वैसे ही वैराग्य और उपरति मान की वृत्ति के सहायक होकर सद्गुरु की सेवा का निरन्तर अधिकारी बनाते हैं और केवल केवली कर सर्व-बन्धनों से मुक्त करते हैं।

सद्गुरु-सेवा धीरज, विवेक, गम्भीरता, स्थिति, कोमल स्वभाव और नम्रता के अभ्यास से पूर्ण होती है, उसका फल ज्ञान और जीवन मुक्ति प्राप्त होते हैं।

वस्तु नित्य-प्राप्त है उसके निमित्त यत्न नहीं। परन्तु सुख सहित काल व्यतीत करने के लिए स्वभावों को उत्तम बनाना अपेक्षित है। इसलिए पारदर्शी अपने बलपर्यन्त पुरुषार्थ कर अपने कर्म और स्वभाव को श्रेष्ठ व उपमा योग्य बनाते हैं। इसके कमल-पुष्प की तरह नित्य प्रफुल्लित और अलिप्त होकर के देह सम्बन्धी काल व्यतीत करते हैं। सत्य मार्ग में यत्न-साध्य-साधन केवल स्वभावों का सुधार है। इसके बिना जितने कर्म हैं, सुख से सिद्ध नहीं होते। इसलिए जिज्ञासु सत्गुरु के उपदेशानुसार बर्ताव करे। इससे अन्तर और बाहर से शुद्ध होकर ज्ञानरूपी सिंहासन पर विराजमान हो। अर्थात् ज्ञान को पाकर सुख सहित अपना काल व्यतीत करे।

इस जगत में आत्मदृष्टि सुखदाई है। इस दृष्टि के बिना मनुष्य को किसी देश काल और

Scanned with CamScanner

वस्तु में सुख नहीं। यह दृष्टि सत्गुरु-सेवा और समीपता से प्राप्त होती है। पारदर्शी जिज्ञासु आत्मदृटि की स्थिति के लिए शरीर के रहने तक धीरज, सन्तोष, वैराग्य, उपरति, समता और विनम्रता को अपना मित्र बनाकर सत्गुरुकी सेवा का लाभ उठाते हैं और मनुष्य शरीर का मुख्य फल आत्मसुख प्राप्त करते हैं।

प्रश्न ४—माता-पिता की सेवा, प्रीति, सम्बन्ध, और भय सुखरूप और मुक्तिदाता हैं अथवा सत्गुरु की सेवा आदि? इनमें से किसका सम्बन्ध सत्य और किसका सम्बन्ध मिथ्या या कल्पित है?

उत्तर—माता-पिता शरीर के हैं। शरीर पर्यन्त इनका सम्बन्ध अवश्य रहता है। शरीर के होने पर स्वार्थ के निमित्त प्यार करते हैं। निष्काम-प्रीति व सच्चा सम्बन्ध इनमें नहीं है। इसलिए आत्म-जिज्ञासु इन्हें मिथ्या और कल्पित निश्चय कर इनके मोह और भय से मुक्त रहे। मिथ्या सम्बन्धियों से भयभीत होकर सच्चे सम्बन्धी से दूर रहना न्याय के विरुद्ध है। सत्गुरु, संत, सच्चे मित्र और निष्काम सम्बन्धी हैं। उनकी मित्रता से मनुष्य लोक परलोक में सुखी होता। अपनी आत्मा को जानकर वह शरीर के बन्धनों से छूट जाता है। संशय और भ्रम से मुक्त होकर परमात्मा का सर्वत्र दर्शन करता है। इसलिए झूठे और कल्पित सम्बन्धियों को झूठा और कल्पित निश्चय कर सत्य और यथार्थ सम्बन्धियों से दृढ़ और सच्ची प्रीति करें। पिता-माता फँसाने वाले हैं और संत छुड़ाने वाले हैं। माता-पिता जगत की मर्यादा और रीति सिखलाने वाले हैं और सत्गुरु परमात्मा की विद्या और मुक्ति की रीति सिखलाने वाले हैं। पिता-माता लोभ, मोह, अहंकार, काम-क्रोध और माया ममता का मार्ग बतलाने वाले हैं, सद्गुरु सन्तोष, वैराग्य, निरमानता, जत, धीरज, संतुष्टि और असंगति की युक्ति समझाने वाले हैं। इसलिए माता-पिता से सत्गुरु उत्तम और श्रेठ है। माता-पिता बाँधने वाले हैं, मुक्ति का उपदेश कभी नहीं करते और न अपने पुत्र को सत्य मार्ग पर चलता हुआ व ब्रह्मविद्या पढ़ता हुआ देखकर प्रसन्न होते हैं। उल्टा वे क्रुद्ध होकर उसे दुर्वचन सुनाकर कल्पित मार्ग पर चलाते हैं। ब्रह्मविद्या की निन्दा कर उसकी प्रीति उसके हृदय से हटाते हैं। उसे कर्म के बन्धनों में फँसाते हैं। उत्तम दृष्टि, श्रेष्ठमति और सत्यमार्ग को नीच और निंदित करके बतलाते हैं। तत्ववेत्ता को भ्रष्ट जानकर उसकी संगति का फल न आप उठाते हैं और न अपनी सन्तान को उठाने देते हैं। ऐसे माता-पिता शत्रु हैं। इनके किसी वचन पर प्रतीत करना उचित नहीं, क्योंकि उनका वास्तविक प्रयोजन अपनी संतान को मूर्ख, अज्ञानी, अधीन गृहस्थासक्त, नीचमति, संसारी, लोभी कामी और अहंकारी रखने का है। इसलिए अपने आप ही सावधान होना चाहिए। वे निर्दयी हो अपने अर्थ के निमित्त संसार की पालना करते हैं। जब पुत्र युवा होता है तब स्त्री रूपी छुरी से उसका शरीर नष्ट कर देते हैं इसलिए उनकी प्रीति पर प्रतीत करना और इनके भय से मुक्ति-मार्ग का त्याग करना महामूर्खता है सावधान होकर अपनी भलाई का यत्न करें। जब मनुष्य सत्य असत्य का विचार कर सकता है, वह जिसे सत्य समझे उसे माने और जिसे असत्य समझे उसे न मानें। यदि महात्मा के वचनों को सत्य मानता है, उन पर अपना निश्चय दृढ़ रखें। किसी

Scanned with CamScanner

का भय चित्त में न रखे। जैसे प्रह्लाद भक्त का पिता ने अतिशय क्लेश और दुःख दिया था किन्तु वह सच्चा भक्त अपने निश्चय से विचलित नहीं हुआ और पर्वत की नाँईं अचल रहकर सब दुःख सहारता रहा, अन्त में अपनी श्रद्धा और भक्ति के अनुसार दर्शन पाकर सद्गति प्राप्त हुआ। वैसे ही सब जिज्ञासु अपनी श्रद्धा को दृढ़ और सच्चा रखकर किसी के निषेध अथवा प्रेरणा से अपनी श्रद्धा न घटावें। अपने सत्गुरु की सेवा में स्थित होकर मन का भ्रम मिटावें और उनकी पूर्ण भक्ति से आत्म-प्राप्ति का लाभ उठावें।

प्रश्न ५—सद्गुरु का उपदेश किस अन्तःकरण में प्रकाश करता है?

उत्तर—श्रद्धा नेत्र हैं और सद्गुरु सूर्य हैं। इनका सदा परस्पर सम्बन्ध रहता है। जैसे नेत्र के बिना सूर्य का स्वरूप और प्रकाश किसी दूसरे अंग में प्रकाशित और प्रति-बिम्बित नहीं होता। वैसे ही सद्गुरु का स्वरूप और ज्ञान श्रद्धा के बिना किसी और अङ्ग में प्रकाशित नहीं होता। इसलिए श्रद्धा का सद्गुरु के साथ सजातीय सम्बन्ध है। जिसके अन्तःकरण में श्रद्धा स्थित है उसके हृदय-सिंहासन पर पर सत्गुरु विराजमान हैं। जब श्रद्धा किसी कारणवश अन्तःकरण को त्याग जाय, सत्गुरु भी हृदयरूपी सिंहासन को त्यागकर चिदाकाश में विराजमान हो जाते हैं। इसलिए जिस अन्तःकरण में श्रद्धा दृढ़ है, उसी में सत्गुरु का निवास है। सत्गुरु का प्रकाश अर्थात् यथार्थ-ज्ञान उसी हृदयरूपी मन्दिर को प्रकाशित और शोभायुक्त करता है।

प्रश्न ६—सत्गुरु के उपदेश धारण में सत्गुरु की सहायता किस रीति से प्राप्त हो?

उत्तर—जब शिष्य श्रद्धा से सत्गुरु की आज्ञा मानने में तन मन लगाता है, तब सत्गुरु दयालु होकर उसके हृदय में प्रवेश करते हैं और उस उपदेश के कमाने में उसकी सहायता करते हैं। जब शिष्य रात-दिन सद्गुरु की मूर्ति का ध्यान अपने हृदय में जमाता है, तब क्षणभर सत्गुरु का प्रत्यक्ष दर्शन पाता है। इसलिए जो सच्ची प्रीति से सत्गुरु-ध्यान धारण करते हैं, सत्गुरु सदा उनके पास हैं और उनके हृदय में सत्गुरु का निवास है। जैसे, नदी जब सागर में गिरती है, तब सागररूप हो जाती है वैसे ही गुरुमुख-शिष्य भी सत्गुरु-रूप अमृत-सागर में मिलकर सत्गुरु का अंग होकर उन्हीं में समा जाता है।

प्रश्न ७—परमार्थ-प्रीति हृदय में दृढ़ता से स्थित नहीं होती। दामिनी के प्रकाशवत् क्षणभंगुर है। ऐसे कौन-सा उपाय है, कि परमार्थ-प्रीति दृढ़, शुद्ध और निर्विकार स्थित रहो?

उत्तर—जब तक मनुष्य केवल सत्संगति के निमित्त अपने सम्बन्धियों के वियोग और यात्रा के कष्ट न सहारे तब तक परमार्थ-प्रीति यथार्थ-रीति से हृदय में स्थित नहीं होती। यद्यपि गृह में स्थित होकर भी परमार्थ का अभ्यास हो सकता है तथापि सम्बन्धियों की समीपता प्रतिबन्धक होकर अभ्यास के फल से निराश रहती है। तात्पर्य यह कि सम्बन्धियों में रहकर परमार्थ अभ्यास का फल-उपरति, निश्चिन्तता, निश्चलता और परमानन्द अवस्था प्राप्त नहीं होती। सब सम्बन्धियों का एकत्र होकर रहना ऐसा दुःखरूप है कि कुछ काल के उपरान्त मोह का बीज हृदयरूपी धरती में ऐसी दृढ़ता से प्रफुल्लित होकर मूलवान

Scanned with CamScanner

वृक्ष की नॉईं कठिन और कठोर हो जाता है कि उसका उखाड़ना अथवा नाश करना पुरुष की शक्ति से असम्भव हो जाता है। इसलिए पारदर्शी जिज्ञासु वर्ष में कुछ काल अपने गृह से बाहर रहकर सद्गुरु की सेवा में व्यतीत करते हैं। उनकी समीपता, सेवा, संवाद और सत्संग से अपने तन और मन को संसार के संकल्पों से मुक्त कर यथार्थ-उपदेश का अधिकारी बनाते हैं। इस रीति से सम्बन्धियों के मोह का वृक्ष अपने हृदय रूपी धरती से उखाड़कर गृहस्थाश्रम में संन्यास का रस प्राप्त करते हैं। इसलिए जिज्ञासु इस रीति से परमार्थ-प्रीति दृढ़ करें। जैसे मायावी व्यापार के निमित्त पुरुष दूर-दूर देशों में जाता है और बहुत काल पर्यन्त अपने सम्बन्धियों से भिन्न होकर परदेश के कष्ट सहारता है, वैसे ही परमार्थ व्यापार के लिए जिज्ञासु अपने सम्बन्धियों से पृथक् होकर सब व्यवहारों का त्याग कर सत्संग-सेवन के लिए यात्रा को मित्र बनावे। सत्संगरूपी ब्रह्मपुरी में स्थित होकर बहिरंग और अन्तरंग लाभ उठावे। वे सद्गुरु की संगति के बिना संशय और विपर्यय अपरोक्ष ज्ञान के प्रतिबन्धक हैं, वे निवृत्त नहीं हो सकते। इसलिए परमार्थ प्रेमी अवश्यमेव सत्गुरु की समीपता के परमार्थ-पद प्राप्त करें। जो पुरुष केवल मन के ध्यान पर संतुष्ट होकर सद्गुरु के समीप आने का तथा उनकी संगति करने का संकल्प हृदय से निवृत्त कर देते हैं, उन्हें परमार्थ-लाभ प्राप्त नहीं होगा। जैसे पुष्प की संगति के बिना सुगन्धि प्राप्त नहीं होती वैसे ही सद्गुरु की संगति के बिना हृदय में ज्ञान प्रकाशित नहीं होता। जो महात्मा यह कहते हैं कि अपने-आपको कमल फूलवत् साक्षी और असंग मानकर गृहस्थ में विचरते रहो, उन दृष्टान्तों का यह तात्पर्य नहीं कि सद्गुरु के प्रेम को शिथिल कर गृह अथवा स्वदेश रूपी बंधनगृह में प्राणान्त बंधे रहो। उसका तात्पर्य यह है कि एकाग्रचित्त होकर असंगति और वैराग्य से सद्गुरु की संगति करे और उनके अमृतरूप वचनों के श्रवण से अपने हृदय के ताप मिटाओ। परन्तु खेद है कि अल्प-बुद्धि और स्वार्थी जिज्ञासुओं ने उन दृष्टान्तों का तात्पर्य कुछ और समझ लिया है। वे वैराग्य, प्रेम, सद्गुरु-सेवा और स्वरूप-प्राप्ति से शिथिल और विमुख होकर गृहरूपी अंधेकूप में अपनी आयु नष्ट कर रहे हैं। मिथ्या ज्ञान के अभिमान से अपने को सूरदासों की नाईं अज्ञानियों के पीछे चला रहे हैं। ज्ञान का लाभ उपरति, अनासक्ति, पदार्थाभाव, असंगति, तृप्ति, सन्तुष्टि, स्थिरता और आत्मस्थिति है। ज्ञान का लाभ यह नहीं कि हम प्राणान्त-पर्यन्त सम्बन्धियों में रहकर उनके मोह रूपी जंजीरों से बंधे रहें और नाना प्रकार के क्लेश वा दुःख सहारते हुए भी निर्लज्ज होकर अपने-आपको आप अक्रिय, असंग और कृत्य-कृत्य मानते रहें। इसलिए सावधान होकर अपने सद्गुरु प्रेम को प्रफुल्लित करें, इससे दुःखों की निवृत्ति और परमानन्द प्राप्ति रूप सब वांछित मनोरथ प्राप्त हों।

प्रश्न ८—महात्मा के सामीप्य से लाभ होता है या दूर रह कर ?

उत्तर—लाभ की प्राप्ति जिज्ञासु की उत्कट जिज्ञासा, दृढ़-श्रद्धा, मननशील-वृत्ति, उत्तम-भावना और निर्मानता से होती है। समीपता और अन्तर दोनों समान हैं। जो पुरुष समीप स्थित है और श्रद्धा से शून्य हैं वह नित्य ही दूर हैं, परन्तु जो पुरुष दूर देश में स्थित और श्रद्धा से पूर्ण हैं वह नित्य ही संत के समीप हैं। शरीर की समीपता नहीं प्रत्युत मन

Scanned with CamScanner

की समीपता है। जिसका मन महात्मा के उपदेश से तदाकार है वह पुरुष नित्य ही महात्मा के समीप और सम्मुख है। जिस पुरुष का मन महात्मा के उपदेश से तद्रूप नहीं वह पुरुष समीप स्थित भी दूर है। इसलिए श्रद्धा, जिज्ञासा और मननशील वृत्ति को उत्पन्न कर उपदेश ग्रहण करना चाहिए। संयोग और वियोग काल के आधीन हैं। शरीरधारी नित्य ही संयोग और वियोग के द्वारा परस्पर संयोग और वियोग प्राप्त हो रहे हैं। काल की यह मर्यादा ऐसे ही चली आती है।

प्रश्न ९—सद्गुरु का जो उपदेश अन्तःकरण में स्थित नहीं होता, इसका क्या कारण है ? किस उपाय से उपदेश हृदय में स्थित हो ?

उत्तर—सद्गुरु सूर्य है और शिष्य नेत्र है। पवित्र नेत्र में सूर्य का प्रकाश पड़ता है और अपवित्र नेत्र में सूर्य का प्रकाश नहीं पड़ता, उल्टा अन्धकार होता है। इसलिए जैसे पवित्र नेत्र सूर्य के प्रकाश का पात्र है, वैसे ही पवित्र अन्तःकरण वाला शिष्य सद्गुरु के उपदेश का पात्र है। अपवित्र नेत्र प्रकाशवान वस्तु को अपने में धारण नहीं कर सकता, इसलिए नेत्र को पवित्र करो अन्तःकरणरूपी नेत्र में मल केवल अविद्या है। अविद्या चार प्रकार की है। पहिली सत्य को असत्य जानना और असत्य को सत्य जानना ; दूसरी आत्मा को अनात्मा मानना और अनात्मा को आत्मा मानना, तीसरी शुद्ध को अशुद्ध जानना और अशुद्ध को शुद्ध जानना। चौथा सुख को दुःख मानना और दुःख को सुख मानना। तात्पर्य यह कि सत्य स्वरूप परमात्मा को 'नहीं' के बराबर जानना और असत्य रूप धन को 'है' के बराबर जानना। दूसरा सत्-चिदानन्द आत्मा को अपने से भिन्न जानना और असत्य, जड़, दुःख-रूप शरीर को अपना आप जानना ; तीसरा सद्गुरु की संगति को अशुद्ध जानना और स्त्री पुत्रादि की संगति को शुद्ध जानना ; चौथा सुखरूप त्याग और उपरति को दुःख जानना और दुःखरूप खेती, वणिज, नौकरी और दूसरे व्यवहारों को सुख जानना। जब तक यह चार प्रकार की अविद्या नष्ट न हो, तब तक अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता। इसकी निवृत्ति का उपाय विवेक द्वारा जिज्ञासु सत्य को सत्य, और असत्य को असत्य ; आत्मा को आत्मा और अनात्मा को अनात्मा ; अशुद्ध को अशुद्ध और शुद्ध को शुद्ध , तथा सुख को सुख और दुःख को दुःख जाने। जब यह विवेक हृदय में दृढ़ हो जावे तब वैराग्य के द्वारा असत्य, अनात्मा, अशुद्ध और दुःख का त्याग कर दे। केवल सत्यात्मा, शुद्ध और सुख में प्रीति रखे। त्याग किए हुए पदार्थों का चिंतन न करें। सावधान होकर मन को उनसे उपरत रखें। तब अन्तःकरण शुद्ध होकर नेत्र की नाँईं सत्गुरु रूपी सूर्य के ज्ञान रूपी प्रकाश को अपने में धारण करता है। इसलिए योग्य जिज्ञासु इस प्रकार अपने अन्तःकरण को शुद्ध करे, जिससे सद्गुरु का उपदेश स्थित हो।

प्रश्न १०—जगत के लोग महात्मा की पहिचान नहीं रखते। वह तो दिन रात धन्धों में 'लगे' रहते हैं अथवा गृहस्थ रूपी जाल में फँसे रहते हैं। वे पाखण्डी, भेषधारी, भ्रमी और दंभी को ही साधु मानते हैं। व्यवहारी लोगों को यथार्थदर्शी और यथार्थवेत्ता की समझ नहीं है। इसलिए इनके वचनों पर प्रतीत करने से श्रद्धा शिथिल होती है। अतः

Scanned with CamScanner

जिज्ञासु किस रीति से बरते कि उनके मध्य रहकर उसकी श्रद्धा, दृढ़ और सत्य रहे और वह मन के विकारों से मुक्त रहे ?

उत्तर—जिज्ञासु सद्गुरु के वचन को सत्य मानकर अपने हृदय में बसावे और नित्य-प्रति सत्गुरु के उपदेश को कमावे। संसारी जनों की वार्ता न सुने और न उन लोगों के साथ मिलकर बैठे। जब कोई व्यवहार सिद्ध करना हो या कोई अन्य कार्य हो, तब व्यवहारी लोगों के साथ मिलें किन्तु व्यवहार चलाकर उनसे अलग हो जावें। इस रीति से एकान्त सेवी होकर मन को केवल सद्गुरु के उपदेश में स्थित रखे। यदि कोई पुरुष गुरु को अथवा शिष्य की निन्दा करे, उसके वचन को कूकर वचन समान निश्चय कर मन से भुला दें। अपनी श्रद्धा, भावना और सत्य दृढ़ रखें। किसी प्रकार से सद्गुरु से मनमुख न होवें। सत्-गुरु को पूर्ण, अन्तर्यामी सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, निर्विकार और स्वयं प्रकाश निश्चय करें। सद्गुरु को देहमात्र अथवा मनुष्यरूप न जानें, परन्तु चिद्रूप अर्थात् चेतनरूप निश्चय करें। सद्गुरु की कहानी अथवा रहनी पर दोषदृष्टि कभी न धारें। शुद्ध-मन, निर्मल-चित्त, निश्चलमति और निरहंकार होकर सद्गुरु की आज्ञा का पालन करें। जब जिज्ञासु ऐसी उत्तम और श्रेष्ठ मर्यादा से अपना व्यवहार सिद्ध रखेगा, तब अल्पकाल में उसके मन के विकार निवृत्त हो जाएँगे।

प्रश्न ११—हे शान्ति-सुख के दाता गुरुदेव मनुष्य शरीर का परम प्रयोजन सत्य स्वरूप की प्राप्ति और समता में स्थित है। यह प्रयोजन कैसे प्राप्त होता है ?

उत्तर—यह प्रयोजन केवल सत्पुरुष के संग द्वारा प्राप्त होता है, क्योंकि स्वरूप नित्य प्राप्तरूप है और समता निज अवस्था है। अज्ञान से आच्छादित होने के कारण दोनों अन्य-रूप प्रतीत होते हैं। जब श्रुति सम्बन्धी महाकाव्य द्वारा यथार्थज्ञान उदय होता है, मनन व निदिध्यासन द्वारा वह अपरोक्ष ज्ञान दृढ़ होता है, तब नित्य प्राप्त रूप वस्तु प्राप्तरूप प्रतीत होती है अन्यथा संशय, विपर्यय की निवृत्ति अत्यन्त कठिन है। इसलिए उचित है कि श्रद्धा और विश्वास से सत्पुरुष के वचनों का मनन और निदिध्यासन करे।

प्रश्न १२—

॥ दोहा ॥

सद्गुरु के लक्षण कहें श्रुति सिमृति अनुसार।
जांकी कृपा कर लखें, सत्चित् आनन्द सार ?

उत्तर—

॥ दोहा ॥

सत्पुरुष सद्गुरु-जगत, सत्यकाम सत्रूप।
समदर्शी शीतल हृदय, विद्यमान अनूप ॥ १ ॥
पूरणदर्शी अचल मत, इस्थित आतम राम।
वाद-विवाद विषाद तज, रहित अखण्ड अकाम ॥ २ ॥

Scanned with CamScanner

पुरुषोत्तम करुणाभवन, दयासिन्धु गुणमूल।
जांके वाक्य विचार से, नाशत भव दुःख शूल ॥ ३ ॥
भक्तियोग और ज्ञान का, करत सदा उपदेश।
दया दृष्टि को धारकर, काटत सकल क्लेश ॥ ४ ॥
महापुरुष महातेज, शुद्ध अनुभव रूप भंडार।
परम पवित्र वाणी रचत, श्रुति सिमृति अनुसार ॥ ५ ॥
सम, दम, संयम, दया सत, धर्म शील संतोष।
क्षमा गरीबी, नम्रता, सत्संगत निधि मोक्ष ॥ ६ ॥
जत, वैराग्य, विचार पुन, ध्यान, ज्ञान विज्ञान।
वेद उक्त वर्णन करत, करत सकल सन्मान ॥ ७ ॥
प्रेम प्रीत शुभ रीत युत उचरत भगवत् गीत।
गाय गाय हरि भक्त जन, शुद्ध करत निज चीत ॥ ८ ॥
परम अगाध पवित्र अति, पूरण पुरुष अपार।
धर्म सेतु बांधत अचल, सर्वातम वृति धार ॥ ९ ॥
हेमराज सर्वज्ञ गुरु, पूरण देव अपार।
नमस्कार दण्डौत पुन, वंदन बारम्बार ॥ १० ॥

प्रश्न १३—साधु संत इस जगत में बहुत हैं, किसका संग श्रेष्ठ और मुक्तिदायक है?

उत्तर—जिसके वचन से सब संशय निवृत होकर अज्ञान नष्ट हो जाए ; मनस्थित होकर आत्मा में मग्न हो जाए ; विषय-सुख नीरस होकर लोक और परलोक को कल्पित प्रतीत करें; सब जगत परमात्मदृष्टिगोचर हो; भेदभावना नष्ट हो जाए; आठ पहर आनन्द बना रहे; नीच स्वभाव मन को छोड़ जावें और उत्तम स्वभाव मन के साथ एकत्र होकर मन को सुन्दर और पावन बनावें; सुनी सुनाई बातें झूठी प्रतीत हों; वही साधु श्रेष्ठ है। जिसकी वाणी द्वारा आदि, मध्य और अन्त से रहित अद्वैतवस्तु यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होकर चित्त को शान्ति, मुदता, मित्रता और समता ही भासे। सारे मत, पंथ सपाज, भेष, धर्म, मार्ग और सभा कल्पित और अज्ञान रचित प्रतीत हों। जिससे कोई वचन मन को चंचल न कर सके ऐसे पूर्ण पुरुष, सद्गुरु, महात्मा वंदनीय और यथार्थ संत है। उसका संग श्रेष्ठ और मुक्त करने वाला है। ऐसा संत निर्यत्न प्राप्त होता है। जब प्राप्त हो जावे तब उसी पर संतोष रखे ; इधर-उधर न देखे। जगत की रचना विचित्र है। जिस पदार्थ को देखें, वही अनन्त है, परन्तु ऊँच-नीच का भेद सब में चला आता है। इस जगत में साधु, भेषधारी, त्यागी, पंडित, ज्ञानी और उपासक बहुत हैं, परन्तु उत्तम कोई-कोई होता है, अन्य सब साधारण साधु हैं। साधारण से लाभ भी साधारण प्राप्त होता है और उत्तम से लाभ भी उत्तम प्राप्त होता है। यदि संयोग से उत्तम पूर्ण पुरुष मिल जावें तो दूसरे मूर्खों की ओर न देखें। इसलिए केवल सत्पुरुष का संग करे और उन्हीं के उपदेश का मनन और निदिध्यासन कर मोक्ष प्राप्त हो।

Scanned with CamScanner

प्रश्न १४—महात्मा शब्द के अर्थ क्या हैं और वे कहाँ प्राप्त होते हैं ?

उत्तर—महात्मा शब्द के अर्थ परमात्मा के हैं। परमात्मा निराकार और अव्यक्त है। आकार में निराकार और व्यक्त में अव्यक्त है अर्थात् शरीर में अशरीरी कोई विरला होता है। दूसरा, परमात्मा के अर्थ सर्व हैं। प्रच्छिन्न शरीर में सर्वज्ञता सहित कोई शरीर ही होता है। कहने में महात्मा बहुत हैं पर महात्मा किसी शरीर में ही प्रकट होते हैं। इसलिए ऐसे महात्मा दुर्लभ हैं। वे सब देशों में प्राप्त नहीं हो सकते। यदि दैवयोग से प्राप्त भी हो जाएँ, तो उसकी संगति से लाभ उठाना अत्यन्त आवश्यक है।

प्रश्न १५—ब्रह्मवित्त विराटरूप होकर सर्वव्यापी हैं। उनकी कृपा और आशीर्वाद से अज्ञान की निवृत्ति होती है या किसी दूसरे उपाय से ?

उत्तर—यद्यपि ब्रह्मवित्त विराट स्वरूप होकर सर्वव्यापी हैं तथापि अज्ञान की निवृत्ति श्रुति सम्बन्धी महावाक्य के बिना नहीं होती और महावाक्य का उच्चारण प्रच्छन्न शरीर के बिना नहीं होता। इसलिए ब्रह्मवित्त के प्रच्छन्न शरीर का संग ही वाक्य-श्रवण का हेतु है। अतः ब्रह्मज्ञानी का सङ्ग ही अज्ञान की निवृत्ति और ज्ञान की प्राप्ति का श्रेष्ठ, सरल और यथार्थ-साधन है। इसके बिना और जितने साधन हैं वे सब अयथार्थ, यत्नसाध्य और निष्फल हैं। यद्यपि बुद्धिमान शास्त्र के बल से परमार्थ के पद और अर्थ का ज्ञाता हो जाता है और अपने मन रचित विचार और अभ्यास से अपने स्वरूप को प्रतीत करता है तथापि यथार्थ-दर्शी, यथार्थवेत्ता, यथार्थ-निष्ठावान और यथार्थ उपदेशक के उपदेश के बिना यथार्थ स्वरूप का यथार्थ-ज्ञान, यथार्थ-लक्ष्यता और यथार्थ स्थिति नहीं होती। शास्त्रों के वचन बहुधा परस्पर विरोधी होने से जिज्ञासु के निश्चय को परिपक्व नहीं करते उल्टा संशय और विपर्यय रूपी वन में डालकर उसकी बुद्धि को संशयात्मक, विक्षिप्त और सशंक बना देते हैं। इसलिए सद्गुरु की सहायता के बिना केवल शास्त्र-चिन्तन भी संशयरूप संसार के पार करने को समर्थ नहीं। इसी प्रकार मनोरचित अथवा संशयात्मक गुरु द्वारा विचार और अभ्यास भी संशय रूपी संसार से पार उतारने को, अथवा आत्मा को हस्तामलकवत् अपरोक्ष कराने में समर्थ नहीं हैं। अतः दोनों उपाय निरर्थक और निष्फल हैं। केवल सत्यपुरुष का सत्यवचन सत्यरूप के अपरोक्ष दर्शन का उज्ज्वल, निर्मल और स्वच्छ दर्पण है। इसलिए आत्म-जिज्ञासु गृहस्थ के बन्धन से मुक्त होकर सत्पुरुष के संगरूपी नन्दन वन में काल व्यतीत करे और उनके सत्यवचन रूपी परम सुगन्धित और प्रफुल्लित पुष्पों की सुगंधि से अपने मन रूपी भ्रमर को मतवाला करे। इससे संसार की दुर्गन्ध मन से निवृत्त होकर केवल आत्म-सुगन्ध मन का इष्ट रहेगी। महात्मा की कृपा और आशीर्वाद भी यही है कि किसी प्रकार जिज्ञासु का चित्त गृहस्थ से उदास, व्यवहार से शिथिल और सम्बन्धियों से उपरत होकर केवल सत्संग का ग्राहक और जिज्ञासु हो। इसके बिना अन्य कृपा केवल अक्षरी शुश्रूषा है।

प्रश्न १६—जब शिष्य श्रद्धा सहित अन्तर्ध्यान होकर सूक्ष्मवृत्ति से सद्गुरु के चरणों का ध्यान करता है और उनके आगे प्रार्थना करता है तब अन्तर्यामी सद्गुरु उसकी सूक्ष्म प्रार्थना को सुनते हैं या नहीं ?

Scanned with CamScanner

उत्तर—सद्गुरु के दो स्वरूप हैं। एक सामान्य स्वरूप और दूसरा विशेष स्वरूप। सामान्य स्वरूप से सद्गुरु सर्वात्मा होकर अन्तर्यामी, व्यापक और पूर्ण ब्रह्म हैं और विशेष-रूप से सत्गुरु शरीरधारी, उपदेश-कर्त्ता, उत्तम-गुणवान, जिज्ञासु के रक्षक और ज्ञान दाता हैं! जब शिष्य सूक्ष्मवृत्ति से सत्गुरु के आगे प्रार्थना करता है, तब सत्गुरु समानरूप से उसकी प्रार्थना का फल देते हैं। अर्थात् उसकी वृत्ति से तद्रूप होकर उसकी चंचलता को निवृत्त करते हैं। उनके ध्यान को सफल कर अपनी अन्तर्यामित्व को सिद्ध करते हैं। परन्तु विशेष स्वरूप के बिना उपदेश नहीं करते, क्योंकि उपदेश का साधन अन्तःकरण और इन्द्रियाँ हैं। ये दोनों साधन शरीर में रहते हैं। इसलिए उपदेश शरीर से शरीर को होता है। अतः जब शिष्य स्थूल वृत्ति को धारण वाणी अथवा कानों से सद्गुरु के सन्मुख प्रश्न व प्रार्थना करता है तब सद्गुरु वाणी अथवा कानों द्वारा उसका उत्तर देते हैं, जिससे शिष्य का संशय निवृत्त होता है। विशेष स्वरूप के बिना संशय की निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि संशय की उत्पत्ति का निमित्त भी विशेष स्वरूप है। अर्थात् अन्तःकरण संशय का पात्र है। अन्तःकरण विशेष स्वरूप है और सदा शरीर में रहता है। जब शिष्य का अन्तःकरण गुरु के अन्तःकरण के साथ तद्रूप होता है, तब शिष्य का संशय निवृत्त होता है। अतः अन्तःकरण शरीर अथवा वाणी के मिलाप के बिना सम्बन्ध धारण नहीं करता। इसलिए जब शिष्य विशेषरूप से अपनी प्रार्थना प्रगट करता है तब सद्गुरु विशेष रूप से उसकी प्रार्थना को पूर्ण करते हैं। सामान्यरूप से सामान्य फल और विशेष स्वरूप से विशेष फल प्राप्त होता है। सामान्य फल शरीरधारी को सुख रूप नहीं होता परन्तु विशेष फल शरीरधारी को सुखरूप होता है। इसलिए शरीर दिशा में सद्गुरु के विशेष स्वरूप से जो उपदेश मिले, वह जिज्ञासु के कल्याण का हेतु है। सामान्य स्वरूप का साधन केवल वृत्ति की एकाग्रता का साधन है, संशय की निवृत्ति का साधन नहीं। इसलिए सद्गुरु उभय स्वरूप से जिज्ञासु की प्रार्थना का फल देने में समर्थ हैं अब जिज्ञासु अपनी जिज्ञासा को न्याय-वृत्ति से जाँचे। यदि केवल एकाग्रता के अर्थ हो तो सत्गुरु के सामान्य स्वरूप का ध्यान कर एकाग्रता का लाभ उठावे और यदि संशय की निवृत्ति का प्रयोजन है तो वाणी अथवा कानों से उनके आगे प्रश्न अथवा प्रार्थना करे, जिससे उनका मनोरथ सिद्ध हो।

प्रश्न १७—सद्गुरु के स्वरूप का ध्यान करने का हेतु फल और युक्ति क्या है?

उत्तर—ध्यान का फल चित्त की एकाग्रता है। चित्त निराकार वस्तु पर स्थित नहीं हो सकता। इसलिए महान् बुद्धिमान साकार वस्तु का ध्यान जिज्ञासु को बताते हैं। जब साकार पर चित्त जम जाता है तब उसी आकार को निराकार सिद्ध कर समझाते हैं। तब सुखेन जिज्ञासु का चित्त निराकार वस्तु में स्थित हो जाता है। जैसे पहले बालक को अक्षरों के स्वरूप दिखलाए जाते हैं। जब स्वरूप उसके हृदय में परिपक्व हो जाते हैं। तब उसको उन अक्षरों के अर्थ समझाए जाते हैं। तब बालक का चित्त निराकार अर्थों के साथ ऐसा तदरूप हो जाता है कि सर्वदा अर्थ को अपने हृदय में समझता और देखता है। वैसे ही परमार्थ जिज्ञास प्रथम साकार पर चित्त को स्थिर रखे, फिर निराकार से तद्रूप होकर अपने

Scanned with CamScanner

ध्यान को समाप्त करे। अतः जिज्ञासु के लिए सबसे उत्तम और पूज्य मूर्ति सद्गुरु है। उसे केवल सद्गुरु की मूर्ति का ध्यान ही उचित है।

ध्यान की युक्ति यह है कि अपने हृदय में सद्गुरु की मूर्ति ऐसी जमावें जैसे दर्पण में सद्गुरु की मूर्ति स्थित हो अर्थात् हृदय से सद्गुरु की मूर्ति विस्मृत न होवे। जब हृदय में ध्यान करे तब सद्गुरु के दर्शन ही होवे। अपना शरीर, नाम, वर्णाश्रम आदि अत्यन्त विस्मरण हो जावें। सद्गुरु के स्वरूप में ऐसे लीन हो जावें, जैसे पतंगा दीपक में लीन हो जाता है। सद्गुरु के स्वरूप में ऐसा तद्रूप हो जावे जैसे समुद्र में दरिया। तात्पर्य यह है कि द्वैत से शुद्ध होकर जिज्ञासु सद्गुरु हो रहे। अपने-आपको रंचक-मात्र भिन्न न देखें। सिर से पाँव तक सद्गुरु में लीन होकर एकता का आनन्द लेवें। अदने हृदय में सद्गुरु-मूर्ति को धारण कर उनके दर्शन और स्पर्श का आनन्द मनाता रहे। इसलिए सद्गुरु दूसरी वस्तु नहीं, मेरा आत्मा है। मानो मैं आपको आप देख रहा हूँ। जैसे दर्पण में देखने वाला अपने आपको देखता है वैसे ही मैं अपनी वृत्ति में सद्गुरु को आत्मरूप देख रहा हूँ। इस रीति से सद्गुरु को केवल आत्मरूप निश्चय कर ध्यान करे, जिससे कभी ध्यान खण्डित न हो।

सद्गुरु दो अक्षरों से रचित है। एक सत् दूसरा गुरु। सत्य के अर्थ 'होना' और गुरु के अर्थ 'ज्ञान' हैं। 'होता' सदा है का रूप है और ज्ञान सदा है का रूप है। इसलिए है और ज्ञान एक रूप हैं मानो 'होना' ज्ञान और ज्ञान होना। अर्थ यह है कि गुरु सत्य है और सत्य गुरु है। सत्य ही पूर्ण है और सबका आत्मा है। इस रीति से समझना सत्गुरु के स्वरूप का ध्यान है। सत्य के बिना न देखना, न सोचना, न समझना और न निश्चय करना सत्गुरु के स्वरूप का ध्यान है। अर्थ यह कि अन्दर, बाहर, ऊपर, नीचे. यह वह, मैं तू, जड़ चेतन, सब को सद्गुरु देखना समझना और निश्चय करना। कदाचित् असत्य को न देखना। सत्यज्ञान से सदा प्रकाशित होकर सत्य स्वरूप में स्थित रहना—यह सद्गुरु के स्वरूप के ध्यान की युक्ति है।

सद्गुरु का स्वरूप केवल सद्गुरु है। सत् के अर्थ त्रिकालाबाध हैं और गुरु के अर्थ इन्द्रिय का प्रकाशक। अतः चेतन है। सद्गुरु का स्वरूप सत्चित् है। इस रीति से विचार कर सत्चित् में स्थित होना सद्गुरु का ध्यान है। आनन्द जिसका फल है, वह सत्चित् आनन्द आत्मा है। अतः आत्मा का ध्यान ही सद्गुरु का ध्यान है।

सद्गुरु दो अर्थों से रचित है। एक सत् दूसरा गुरु। सत् के अर्थ सच व यथार्थ हैं, गुरु में दो अक्षर हैं। एक गु दूसरा रु। गु का अर्थ ज्ञान है और रु के अर्थ प्रकाश है। अभिप्राय यह है कि यथार्थ ज्ञान के प्रकाश करने वाला सत् है। इसलिए यथार्थज्ञान ही सद्गुरु का स्वरूप है। यथार्थ ज्ञान में वृत्ति को स्थित करना सद्गुरु के ध्यान की परमयुक्ति है।

प्रश्न १८—सत्शास्त्रों के अनुसार सद्गुरु और ईश्वर में कुछ भेद नहीं है। सद्गुरु और ईश्वर की उपाधि शुद्ध सतोगुणी माया है। इससे सिद्ध होता है कि सद्गुरु अन्तर्यामी हैं। तो क्या कारण है कि जिज्ञासु के मनोरथ सिद्ध होने में विलम्ब होता है?

उत्तर—यथार्थ है कि सद्गुरु और ईश्वर में कुछ भेद नहीं है। जैसे ईश्वर यद्यपि

Scanned with CamScanner

अन्तर्यामी है तथापि सब कर्मों के अनुसार फल देता है। ऐसा नहीं कि इच्छा के अनुसार फल देवे। वह न्याय से सब की इच्छा और यथा-अधिकार कर्म सिद्ध करता है, वैसे ही सद्गुरु भी यद्यपि अन्तर्यामी हैं तथापि जिज्ञासुओं, शिष्यों और भक्तों की श्रद्धा, भावना और भक्ति के अनुसार फल देते हैं। जब जिज्ञासु की श्रद्धा दृढ़ और सत्य होती है, वही श्रद्धा सद्गुरु के हृदय में प्रेरक होकर जिज्ञासु की कामना सिद्ध करने का हेतु होती है। अन्यथा सद्गुरु निर्विकल्प, निजानन्द में मग्न सब कलंकों से रहित हैं। तत्वदृष्टि से सुद्गुरु ईश्वर से अधिक हैं। ईश्वर माया से कल्पित और मायावी जगत् का कर्ता और प्रेरक है। सद्गुरु माया से ऊपर केवल निर्गुण स्वरूप हैं। ऐसे निर्गुण स्वरूप में अन्तर्यामी आदि की कल्पना भी नहीं बन सकती। केवल केवली रूप शिष्य और गुरु की मनौती से रहित, ईश्वर और जगत की कल्पना से मुक्त, कामना और पूर्णता की उपाधि से रहित, महत्ता और व्यापकता से ऊपर आप में आप स्थित हैं। ऐसे निरुपाधि, निर्गुण, निरंजन, निर्मल के निमित्त कौन-सा कारण आरोपित करें कि उससे मनोरथ की सिद्धि में विलम्ब न हो ? जहाँ भिक्षु और दाता की कल्पना भी नहीं; दाता और भोक्ता का भेद भी नहीं, वहाँ अर्थ-सिद्धि का कारण और असिद्धि का हेतु किस प्रकार स्थापित हो सकता है ? इसलिए सद्गुरु सब प्रकार से निष्कलंक, पावन और स्वस्थ हैं। जिज्ञासु अपनी श्रद्धा और भावना के अनुसार फल पाते हैं और मानते हैं कि यह फल सद्गुरु से मिला है। सद्गुरु स्वच्छ, निरुपाधि, फल और कामना के भेद से रहित नित्यतृप्त अपने आप में स्थित हैं। जैसे योगवशिष्ठ में श्री वशिष्ठ जी श्री रामचन्द्र जी से कहते हैं कि हे रामचन्द्र जी ! तेरी शुद्ध भावना ही वशिष्ठ रूप होकर तुझको उपदेश कर रही है। मेरी दृष्टि में तू भी आकाश रूप है और मैं भी अकाशरूप हूँ। इस रीति से सद्गुरु ईश्वर से अधिक हैं, सब मनो रचित कल्पनाओं से मुक्त आप में आप स्थित हैं। ऐसे सद्गुरु का सत्वचन ही माननेयोग्य है, उसी से जिज्ञासु का कल्याण होता है।

प्रश्न १९—सद्गुरु का दर्शन सर्वदा कैसे हो सकता है ?

उत्तर—शुद्ध हृदय में सत्गुरु का दर्शन सर्वदा हो सकता है, क्योंकि सब पदार्थों के दर्शन का दर्पण हृदय है। जब अहं और दोषदृष्टि रूपी मल से अन्तःकरण मुक्त होता है, तब वांछित इष्ट का दर्शन प्रत्यक्ष होता है। इसलिए अन्तःकरण को शुद्ध कर जिज्ञासु अपने हृदय रूपी दर्पण में सद्गुरु का दर्शन करता रहे और जब उत्कट जिज्ञासा हो तब यात्रा करके सद्गुरु के समीप आवे और एकांकी होकर सत्संग का लाभ उठावे।

प्रश्न २०—जीवन में सुख कैसे प्राप्त होता है ?

उत्तर—जीवन एक नदी है। जन्म और मरण दो किनारे हैं। घड़ी, पहर, दिन, मास और वर्ष लहरें हैं। प्राणों का आना-जाना इस नदी का वेग है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, मत्सर, दंभ, आदि जलजन्तु हैं। मनोराज इसमें चक्कर हैं। व्यवहार घुम्मर घेर (भँवर) हैं। स्त्री, पुत्र, धन आदि कीचड़ हैं। इस नदी में शरीर रूपी नौका अविद्या रूपी पवन द्वारा ठोकरें खा रही है। जब तक कोई चतुर मल्लाह इस नाव पर आरूढ़ होकर अपनी युक्ति के अनुसार न चलावे, तब तक सुख की प्राप्ति नहीं होती। अज्ञानरूपी मल्लाह मन, चित्त,

Scanned with CamScanner

बुद्धि, अहंकाररूपी चप्पुओं को हिलाकर वासना रूपी सुकान द्वारा इस नाव को चला रहा है। इससे नित्य ही खेद और विक्षेप्ता रहती है। जब ज्ञान रूपी मल्लाह मन चित्त, बुद्धि व अहंकार रूपी चप्पुओं को हिलाकर शान्तिरूपी सुकान द्वारा शरीर रूपी नाव चलाता है, तब सब प्रकार से सुख और आनन्द होता है। ज्ञान सद्गुरु के उपदेश के बिना प्राप्त नहीं होता इसलिए सद्गुरु का उपदेश ही सुख का निमित्त है। इसलिए मुक्ति के जिज्ञासु और सुख के ग्राहक सद्गुरु के उपदेश के अनुसार आयु रूपी नदी में शरीररूपी नाव को चलावें, जिससे विदेह-मोक्षरूप तट को पाकर परम अगाध स्वरूप में लीन हों।

प्रश्न २१—काल के भय से जिज्ञासु कैसे मुक्त होता है ?

उत्तर—जिज्ञासु का कल्याण सद्गुरु के वचनों में है। जब शिष्य अभिमान त्यागकर सद्गुरु के वचनों में सत्य प्रतीत करता है, तब सब दुःख निवृत्त होकर परमानन्द की प्राप्ति होती है। जब चित्त संसार से मुक्त होकर चेतन के साथ एक रूप हो जाता है तब काल का व्यतीत होना अथवा न होना भासता ही नहीं, क्योंकि काल की कल्पना भी चित्त में है। जब चित्त आप ही चेतनरूप हुआ तब उसकी कल्पना उससे भिन्न कैसे रहेगी ? वह भी चेतनरूप होगी। जब एक चेतन का दर्शन हुआ तब काल कहाँ है ? काल भी चेतनरूप है। ऐसे सद्गुरु के वचनों पर निश्चय करने से जिज्ञासु काल के होते ही अकाल गति को प्राप्त होता है।

प्रश्न २२—शिष्य कौन है और उसे क्या लाभ होता है ?

उत्तर—शिष्य वही है जो सदा सद्गुरु के ध्यान में स्थित रहे और सद्गुरु के उपदेश को सच्ची श्रद्धा और दृढ़ निश्चय से कमाता रहे। सद्गुरु के बिना दूसरे के वचन पर प्रतीत न करे। सद्गुरु के समान दूसरे किसी को न समझे। सब प्रकार से सद्गुरु में लीन रहे। वही शिष्य इस संशयरूपी संसार से पार उतर कर परमशान्तरूप परमात्मधाम को प्राप्त होता है।

संसार नाम संशय का है और यह संशय भिन्न-भिन्न शास्त्रों और भिन्न-भिन्न मतों के वचन सुनने से उत्पन्न होता है। इसकी निवृत्ति बहुत कठिन हो जाती है। इससे संसार का नाश नहीं होता। इसलिए आत्म-जिज्ञासु केवल सत्यवादी सद्गुरु के वचन पर सत्य प्रतीत रखे। दूसरा किसी का वचन न माने। औरों के वचनों को पशुओं और पक्षियों के शब्द की नाँईं समझकर मन से भुलाता जावे, तब उसका संशय दूर होकर संसार की निवृत्ति होगी। इसके बिना और कोई उपाय इस संशय रूपी सागर से पार उतरने का नहीं है।

प्रश्न २३—संसार में शिष्य का रक्षक कौन है।

उत्तर—सद्गुरु का उपदेश सब प्रकार से शिष्य का रक्षक है और यह उपदेश आपदा के समय शिष्य की सहायता करता है। सद्गुरु-उपदेश के बिना सब प्रपंच शिष्य को फँसाने वाला है। इसलिए शिष्य सर्वदा सद्गुरु के उपदेश में सावधान रहे। मान, लोभ, मोह, क्रोध, कुसंग, व्यवहार और विषय आधीन होकर उपदेश को कदाचित विस्मरण न करे सर्व कार्मों में उपदेश को सन्मुख रखे, जिससे सब प्रकार से सुख प्राप्त हो।

Scanned with CamScanner

देह का संयोग अनित्य है, परन्तु शब्द का संयोग नित्य है। सद्गुरु का स्वरूप केवल शब्द है, शरीर नहीं। इसलिए शिष्य सद्गुरु की वाणी अथवा कानों से निकले शब्द को सत्यरूप निश्चय कर अपना रक्षक और सहायक समझे। दूसरे शब्दों को निरर्थक प्रतीत कर विस्मरण करता रहे और नित्य ही सद्गुरु के शब्दानुसार अपनी वृत्ति को शुद्ध और निर्विकार रखे, तब शिष्य भ्रान्तिरूपसंसार में सुख से आयु व्यतीत करता है। अन्यथा नाना प्रकार के भ्रमरूप शब्दों के अधीन होकर संशय और विपर्यय रूपी वन में भटकता रहता है। कहीं ठौर नहीं पाता, क्योंकि संसार केवल शब्द मात्र है सब सम्बन्ध देश, काल, वर्णाश्रम, नाम, प्रताप, लोक, परलोक, पुण्य, पाप, वेदशास्त्र, पुराणादिक शब्दरूप हैं। शरीर के संयोग से जीव शब्द के अधीन ऐसा हो गया है कि शब्द के बिना आपको भी असत्य निश्चय करता है। केवल शब्द मात्र महिमा के श्रवण से प्रफुल्लित और मुदित होता है। इसलिए शब्द ही बन्धन रूप है और दुःख का हेतु है, क्लेश का निमित्त और रागद्वेष का कारण हैं। मनुष्य पशु, पक्षी आदि शब्द से पूर्ण हैं। शब्द के आसरे ही सब प्रकार की क्रिया सिद्ध करते है। अतः सब शब्दरूप हैं। देखने मात्र से स्थूलरूप हैं, परन्तु वास्तव में शब्दमात्र हैं। इसलिए शब्द ही को अपना यश प्रताप, नाम, वर्णाश्रम, उपासना अर्थात् ईश्वर निश्चय करते है, और सर्वदा शब्द में लीन रहते हैं। इस प्रकार सब शरीरधारी शब्दरूप सागर की तरंगे हैं। शब्द सामान्य और विशेषरूप से दो प्रकार का है। सामान्य रूप शब्द मुक्ति का हेतु है और विशेषरूप शब्द बन्धन का। सामान्य ज्ञानी से प्रकट होता है और विशेष रूप शब्द शरीरधारियों में अपनी-अपनी बोली और जाति के अनुसार सब प्रपंच में प्रवृत्त हो रहा है। जब सामान्य ज्ञानी के संग से सामान्य शब्द का ज्ञान बुद्धि में प्रकाशित होता है, तब विशेष शब्द की सत्य प्रतीति असत्य हो जाती है। केवल सामान्य ज्ञानी का संग और शब्द सारे संसार से मुक्त होने का श्रेष्ठ और सुगम उपाय है। सामान्य ज्ञानी केवल सत्गुरु हैं। उनका उपदेश ही सामान्य शब्द है। सद्गुरु के उपदेश के बिना जितने शब्द हैं, सब ही विशेषरूप हैं, इसलिए सारे ही त्याज्य हैं।

अब सामान्य शब्द और विशेष शब्द के स्वरूप का विस्तार करते हैं। शब्द चार प्रकार का है। एक **परा,** द्वितीय **पश्यन्ती,** तृतीय **मध्यमा** और चतुर्थ **वैक्षरी**। इनमें से परा सामान्य शब्द है, पश्यन्ती, मध्यमा और वैक्षरी विशेष शब्द हैं। सामान्य उसे कहते हैं, जिसका देश, काल और वस्तु से अन्त न हो और विशेष उसे कहते हैं जिसका देश, काल और वस्तु से अन्त हो जाए। परा नाम पूर्ण का है। शरीर के अन्दर और बाहर, देश, काल और वस्तु के प्रच्छेद से रहित जो पूर्ण है, वह परा है। इसलिए सामान्यरूप है। पश्यन्ती नाम संकल्प का है। मध्यमा नाम चिंतन का है और वैखरी नाम अक्षर का है। ये तीनों शब्द अन्तःकरण प्राण और इन्द्रिय से सिद्ध होते हैं। जहाँ इन तीनों का संयोग है, वहाँ इनका स्वरूप भावरूप होकर प्रतीत होता है। इसलिए तीनों प्रकार के शब्द पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी देश, काल और वस्तु के प्रच्छेद से होने वाले विशेष रूप हैं। अतः पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी परा में कल्पित हैं, और परा स्वतः सिद्ध है। उसी का नाम आचार्यों और शास्त्रकारों ने

Scanned with CamScanner

उपदेश के निमित्त पारब्रह्म, चिदाकाशी शून्य विज्ञान, अशब्द, तुरीयातीत और निर्माण पद रखा हुआ है। वास्तव में वह इन शब्दों से भी अतीत केवल अनुभवगम्य है। जब सद्गुरु कृपा से ऐसा सामान्य शब्द का ज्ञान होता है और वही सामान्यरूप शब्द अपना आत्मा निश्चय होता है। तब जिज्ञासु विशेषरूप शब्द की कल्पना से मुक्त होकर विशेष रूप शब्द और उसके कारण अन्तःकरण, प्राण और इन्द्रिय के रहते ही मुक्त रहता है। इसलिए सद्-गुरु का उपदेश सब प्रकार से शिष्य का सहायक है। अतः सामान्य रूप शब्द को अपना आत्मा निश्चय कर संसाररूप पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी से मुक्त रहे। इसके बिना मुक्ति का और कोई उपाय नहीं है।

शरीर दिशा में सब प्रकार के कर्म, धर्म, स्वभाव, गुण व अवगुण रहते हैं, और समयानुसार प्रवृत्त होकर फल देते हैं। बुद्धिमान धैर्यवान और समदर्शी रहे। ये स्वभाव यथार्थ ज्ञान से प्राप्त होते हैं। यथार्थ ज्ञान यही है कि आपको शरीर के कर्मों से भिन्न केवल चेतन मात्र निश्चय करें। शरीर के किसी कर्म, स्वभाव, प्रकृति अथवा अवस्था से अपना सम्बन्ध न माने। सब का साक्षी होकर काल को व्यतीत करे। जो दुःख अथवा सुख आवे, उस समय विचार, वैराग्य, धीरज और स्वरूप-चिन्तन को मित्र बनाकर उस अवस्था से आपको मुक्त रखे।

वैराग्य जगत के बंधन काटने वाला है। परन्तु वैराग्य को धारण करना महाबलवान और स्थितप्रज्ञ पुरुषों का काम है। वैराग्य के बिना गृहस्थ के बंधन निवृत्त नहीं हो सकते। जो मनुष्य वैराग्य से शून्य है, उसे माता-पिता आदि सम्बन्धी मोहरूपी जंजीर से बाँधते हैं। यह मूढ़ता की कृपा से उस बन्धन को सुखरूप निश्चय करता है। यदि इसका यह सम्बन्ध दुःखरूप प्रतीत हो तो पहले से ही बंधन को तोड़ देवें। अतः वैराग्य को धारन करना बल का काम है। यदि कोई अब भी धारने का प्रयत्न करे तो मुक्त हो सकता है। जिज्ञासु की बुद्धि धनादि पदार्थों में आसक्त है, इसलिए इसे स्त्री सुखरूप प्रतीत होती है और उसके मोह में यह बँध जाता है। यदि इस वँधन से छूटना चाहे तो सब त्याग करे। यदि गृहस्थ में बरतना चाहे और साथ ही सुखी रहने की इच्छा रखे तो न्याय, विचार, धर्म और समता सहित सब कार्य करता रहे। किन्तु यह विचार सद्गुरु से प्राप्त होता है अतः सद्गुरु का आदेश ही शिष्य का रक्षक और सहायक है।

प्रश्न २४—गुरु और शिष्य का क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर—शिष्य गुरु की आत्मा होता है और गुरु शिष्य की, क्योंकि शिष्य गुरु के वचन को धारण कर अपने वास्तव स्वरूप में स्थित होता है। मानो गुरु का वचन ही शिष्य का निज स्वरूप है और गुरु का वचन गुरु की आत्मा है। शिष्य भी गुरु का वचन है इसलिए शिष्य भी गुरु की आत्मा है। इस रीति से शिष्य और गुरु एक ही स्वरूप हैं। शरीर के कारण दो प्रतीत होते हैं, परन्तु बाह्य दृष्टि को त्याग कर देखे तो दो नहीं, एक ही ज्ञान उभय शरीरों में प्रकाशमान है। जैसे एक प्रज्ज्वलित दीपक के साथ दूसरा दीपक स्पर्श करे तो प्रज्ज्वलित हो जाता है। फिर देखने में यदि दो दीपक हैं, परन्तु प्रकाश दोनों में समान और अद्वैत है ?

Scanned with CamScanner

वैसे ही गुरु का ज्ञान शिष्य के हृदय में प्रवेश करके शिष्य को निज स्वरूप में मग्न कर देता है। मानो गुरु का वचन ही शिष्य का निज स्वरूप है अथवा गुरु ही शिष्य का निज स्वरूप है, रंचकमात्र भेद नहीं। जब यह अवस्था है तो शब्द से अगोचर पद को पाकर शिष्य गुरु रूप अगाध अनुभव में समा जाता है। इसीलिए शिष्य को गुरु की आत्मा और गुरु को शिष्य की आत्मा माना गया है।

प्रश्न २५—

॥ दोहा ॥

सद्गुरु गुरमुख शिष्य का, कहो सम्बन्ध विशेष !
जिस सम्बन्ध को धार कर, मिटें शिष्य के क्लेश ?

उत्तर—

॥ दोहा ॥

सद्गुरुसिख की आतमा सिख सद्गुरु की देह।
जीव देहवत् होत है, सद्गुरु सिख में नेह ॥ १ ॥
सद्गुरु कमल समान हैं, सिख है भ्रमर स्वरूप।
प्रेम सहित गुजत भ्रमर, पेख पुष्प सुखरूप ॥ २ ॥
गुरु दीपक परकाशमय, सिख पतंग सम जान।
आपा मारे गुरु लहे, सिख पतंग निरवाण ॥ ३ ॥
सद्गुरु शीतल चन्द्र सम, सिख चकोरवत् मान।
ममता तज पावे शशी, शान्त अमीरस खान ॥ ४ ॥
देह भाव को त्याग जो, सेवे गुरु उपदेश।
प्रगटे सम्यक् ज्ञान दृढ़, नाशें सकल कलेश ॥ ५ ॥
तन मन धन वाणी अरप, सद्गुरु सेव्रे नीत।
सद्गुरु मूर्ति ध्यान धर, गावे सद्गुरु गीत ॥ ६ ॥
निरमम निरहंकार हो, गुरु चरनन चित लाय।
पद् रज उत्तम अंग गह, भव जंजाल नसाय ॥ ७ ॥
सद्गुरु अविध अगाध में, लहर समान विलीन।
दोष दृष्टि पुन तर्क से, रहित प्रबुद्ध प्रवीण ॥ ८ ॥
सद्गुरु केवल ज्ञान है, निराकार सद् रूप।
शिष्य गुरुमुख श्रद्धा भवन, अमल अदोष अनूप ॥ ९ ॥
उभय मिले जब प्रेम युत, प्रगटे आतम ज्ञान।
भावाभाव संसार का, हेमां रहे न नाम ॥१०॥

प्रश्न २६—शिष्य सद्गुरु के नाम से क्यों प्रसिद्ध होता है और वह सद्गुरु के नाम को प्रसिद्ध क्यों करता है ?

उत्तर—शिष्य पत्नी है और सद्गुरु पति है। जैसे पत्नी का नाम पति के नाम से

Scanned with CamScanner

प्रसिद्ध होता है। वैसे ही शिष्य का नाम सद्गुरु की महिमा से उजागर होता है। यदि वास्तव में देखें तो सद्गुरु ही नाना प्रकार की क्रीड़ा में स्थित हैं। कहीं अंडजरूप सृष्टि के स्वाँग को धारकर आकाश मार्ग में गमनागमन से विलास करते हैं। कहीं जेरजरूप के भेष में गुप्त होकर मनुष्य पशु आदि के आकार में नाना भाँति के कलोल करते हैं। कहीं स्वेतज रूप को धारण कर क्षणिक आयु में अपनी अनंतता और विस्तीर्ण शक्ति का हुलास करते हैं। कहीं उद्भुज रूप के आकार में अपनी स्थिरता, गम्भीरता, उदारता, निश्चलता और कारणता को दीर्घकाल पर्यन्त प्रगट करके अपनी सर्वज्ञता का प्रकाश करते हैं। इसलिए सद्गुरु ही ब्रह्मांडरूप होकर स्थित हैं। अतः सचक्षु बुद्धिमान् सद्गुरु भक्त अपने सद्गुरु का पूर्ण निश्चय करके सर्व सृष्टि को सद्गुरु के अलंकार और नाम से भूषित करते हैं और सम्बन्ध भावना से रहित सद्गुरु का दर्शन करके सद्गुरु का नाम प्रसिद्ध करते हैं।

प्रश्न २७—सद्गुरु की महिमा शिष्य के हृदय में पूर्णरीति से कब प्रतीत होती है?

उत्तर—जब शिष्य दृढ़ श्रद्धा को धारकर सद्गुरु के वचन पर विश्वास करता है तब इसके हृदय का अज्ञान निवृत्त हो जाता है, क्योंकि पहले अज्ञान ही वचन द्वारा हृदय में प्रवेश कर संशय विपर्यय का घातक होगा। ज्ञान का वचन केवल सद्गुरु के मुख से श्रवण होता है। इसलिए सद्गुरु के वचन पर प्रतीत करना ही अज्ञान की वृत्ति का परम उपाय है। जब अज्ञान का अत्यन्ताभाव हो जाता है और ज्ञान का प्रकाश हृदय में होता है, तब शिष्य सद्गुरु की महिमा को भली प्रकार जानकर सद्गुरु रूपी अगाध समुद्र में लीन हो जाता है।

प्रश्न २८—सद्गुरु के उपदेश के लिए शिष्य किस प्रकार धन्यवाद करे?

उत्तर—सद्गुरु का उपदेश ही शिष्य के कल्याण का निमित्त है। जो पुरुष सत्य प्रतीत सहित उपदेश को हृदय में धारण करता है, वह पुरुष थोड़े ही काल में अविद्या के बंधनों से मुक्त होकर परमानन्द अवस्था में लीन होता है। यही सद्गुरु का धन्यवाद और कृतज्ञता है। इसके अतिरिक्त धन्यवाद करने के और जितने साधन और निमित्त हैं, सारे कल्पित और बहिरंग हैं। इसलिए सत्पुरुष उनसे प्रसन्न नहीं होते। जो पुरुष सद्गुरु की आज्ञापालन में सावधान है, उनसे सद्गुरु प्रसन्न हैं। यही सेवा शिष्य की यथार्थ और समीचीन है।

प्रश्न २९—विद्या के बल से जिज्ञासु जब अपने स्वरूप को समझ लेता है, उसे सद्गुरु की सहायता से क्या लाभ होता है?

उत्तर—यद्यपि प्रीतिवान जिज्ञासु विद्या के बल व शास्त्रों के संस्कार से अपने स्वरूप का लक्षणावृत्ति से अनुभव कर लेता है तथापि सद्गुरु की पूर्ण और निपुण युक्ति के बिना स्वरूप में स्थिति नहीं होती। इसलिए सद्गुरु की कृपा शास्त्रों के संस्कार और विचार से उत्तम और बलवान है। केवल ज्ञान से वृत्ति की विक्षेप्ता, चंचलता, आसक्ति और देह-अभ्यास निवृत्त नहीं होते। जब निरन्तर अभ्यास से वृत्ति को स्वरूपाकार किया जाता है और स्वरूप से भिन्न अन्य चिंतन का अत्यन्ताभाव किया जाता है, तब वृत्ति एकाग्रचित्त,

Scanned with CamScanner

स्थित, अनासक्त और आत्म-विश्रामी होती है। और यही स्वरूप की स्थिति है। यद्यपि स्वरूप प्राप्तरूप हैं, किन्तु स्वरूप में स्थिति प्राप्तरूप नहीं। इसलिए स्थिति के लिए यत्न करना उचित है। सद्गुरु की कृपा से वह यत्न सुख से ही सिद्ध होता है। अतः उत्तम जिज्ञासु सद्गुरु की आज्ञानुसार अभ्यास करें और तन, मन, धन और वाणी से सद्गुरु को प्रसन्न और प्रफुल्लित करें तथा उनके उपदेशों को सब वेदों और शास्त्रों से उत्कृट मानकर अपनी आत्मा जानें। जब ऐसी श्रेष्ठ और अनूप श्रद्धा सर्व जिज्ञासुओं की बुद्धि के साथ निरन्तर ही संयुक्त और सहायक रहे तो अल्पकाल में ही आत्म-स्थिति का लाभ प्राप्त होगा। यही सद्गुरु की सहायता का लाभ है।

प्रश्न ३०—सद्गुरु की मित्रता और सहायता सब जीवों को क्या फल देती है?

उत्तर—इस संसार में सद्गुरु के समान कोई मित्र नहीं है। अन्य जितने सम्बन्धी अथवा मित्र हैं वे सारे स्वार्थ के बिना कोई किसी को पूछता नहीं। सद्गुरु ऐसे दयालु व कृपालु हैं कि बिना स्वार्थ के सब जीवों पर अपनी कृपा का मेघ बरसाते हैं। कुम्हलाये हुए खेतों को हरा कर देते हैं। संसाररूपी सागर को हरा कर देते हैं। संसाररूपी सागर से बचा-कर परमात्मा रूपी तट पर लगाते हैं। अज्ञान रूपी अँधेरे को दूर कर जगत में सुख और शान्ति सहित आयु व्यतीत करने की युक्ति बताते हैं। नीच स्वभावों से छुड़ा कर उत्तम स्वभावों से सुशोभित करते हैं। आत्म-रूपी धन से धनवान कर इन्द्र, कुबेर और दूसरे देवताओं से भी अधिक पदवी पर पहुँचाते हैं। इसलिए जगत में सद्गुरु सबसे उत्तम और महिमा योग्य हैं। जिज्ञासु इनकी जितनी महिमा करे उतनी थोड़ी है, क्योंकि इनका दान सत्य है और जिज्ञासु की महिमा केवल शब्द मात्र है। अतः जिज्ञासुओं को सद्गुरु में दृढ़ प्रतीत रखना और सर्व प्रकार से अपना आपा भेंट करना उचित है। धन्य हैं वे लोग जो सद्गुरु को सच्चा और सुखदाई मित्र मानकर उनकी स्मृति, स्तुति और आज्ञापालन में सावधान और दृढ़ हैं। इसका फल-जीवनमुक्ति उन्हें प्राप्त होगी।

हे साधो! संसार की उत्पत्ति अज्ञान से है, इसलिए सारी सृष्टि अज्ञान से अन्धी है। कोई पूर्ण पुरुष ही अज्ञानरूपी तम को नाश कर ज्ञान रूपी प्रकाश से प्रकाशित होता है। और परोपकार दृष्टि को धारकर दूसरे जीवों को ज्ञान का उपदेश करता है। आपके उपदेश से सच्चे जिज्ञासु अज्ञान से रहित होकर ज्ञान का प्रकाश पाते हैं, नहीं तो सारे संसार में मनुष्य अज्ञान से अन्ध, तृष्णा, आशा, भ्रम, संशय, विरोध, खंडन-मंडन, मत, समाज, मार्ग, पंथ, वाद-विवाद और नाना प्रकार की कल्पना में भटकते दृष्टिगोचर होते हैं। कोई विरला सद्गुरु का प्यारा ही शान्ति-रस को पाकर सुख और कुशलता से अपना काल व्यतीत करता है। जिसके हृदय में सद्गुरु के वचनों का प्रवेश होता है, उसके चित्त की चंचलता, कठोरता, कपट, अशुभ भावना और कल्पना निवृत्त हो जाती है; शान्ति और प्रसन्नता प्राप्त होती है और दूसरी ओर से आँख मूंदकर वह केवल सद्गुरु के उपदेश में ही सावधान होता है। जब तक मनुष्य अपने निश्चय को पूर्ण सद्गुरु के वचनों में दृढ़ न रखे, तब तक इस संशयरूप संसार में शान्ति और सुख का कोई उपाय नहीं है। अतः जिन उत्तम जिज्ञासुओं का निश्चय सद्गुरु

Scanned with CamScanner

में दृढ़ है, उनको संसार में कोई दुःख अथवा क्लेश स्पर्श नहीं कर सकता। जिनकी बुद्धि वेश्या की नाँई व्यभिचारिणी है, तात्पर्य यह कि किसी के वचन पर प्रतीत नहीं करती, उनको इस जगत में क्लेश ही क्लेश, आपदा ही आपदा; दुःख ही दुःख, चिन्ता ही चिन्ता, विकार ही विकार और नाना प्रकार की भटकन रहती है। वास्तव में संसार कोई वस्तु नहीं। किन्तु अज्ञान से ऐसा सत्य प्रतीत होता है कि परमात्मा की सत्ता अज्ञानी के हृदय से निवृत्त हो जाती है और संसार की सत्ता दृढ़। जब पूर्ण सद्गुरु कृपा कर समझाते हैं कि संसार केवल तेरे मन का मनोराज है, तू अपने मनोराज के पीछे दौड़कर क्यों दुःखी हो रहा है, उस समय पुरुष की बुद्धि में विचार उत्पन्न होता है। प्रथम तो पूर्ण सद्गुरु का मिलना ही दुर्लभ है। जब मिलते हैं, उनके ऊपर प्रतीत करना और उस प्रतीत को दृढ़ रखना बहुत ही कठिन और यत्न साध्य है। धन्य भाग्य हैं उन पुरुषों के जिनको पूर्णसद्गुरु मिला है और साथ ही उनको सद्गुरु के वचनों पर दृढ़ निश्चय हुआ है।

प्रश्न ३१—इस जगत में सत्संगी और संतसेवी बहुत हैं, किन्तु उनमें श्रद्धावान, गुरुमुख सद्गुरु सेवी किसे निश्चय करें? इस मरुस्थल संसार में कोई शिष्य अथवा सेवक है या नहीं, जिसकी अपेक्षा से सद्गुरु का भाव सिद्ध हो?

उत्तर—इस संसार में श्रद्धावान पुरुष ऐसे दुर्लभ हैं जैसे मरुस्थल में वृक्ष दुर्लभ होते हैं। कई पुरुष अपनी श्रद्धा प्रगट भी करते हैं, किन्तु काल पाकर उनकी श्रद्धा शिथिल हो जाती है। मरणपर्यन्त समान और स्थितप्रज्ञ रहने वाले दृढ़ श्रद्धालु अत्यन्त दुर्लभ हैं। श्रोता बहुत हैं। सभा के समय बहुत पुरुष इधर-उधर से आकर एकत्र हो जाते हैं। उनमें से कई गुरुभावना धारकर उपदेश भी लेते हैं और कई सत्संग के अतिरिक्त दूसरे समय में भी समीप होकर कुछ काल व्यतीत करते हैं। किन्तु आज्ञा-पालन, धन-त्याग, मान-त्याग, सद्गुरु-टहल, सद्गुरु-प्रसिद्धि, सद्गुरु-सेवा, वैराग्य की अधिकता संतोष की परिपक्वता, विचार की दृढ़ता, ज्ञान की वृद्धि और लोकलज्जा, कुललज्जा, वेदलज्जा के त्याग में कोई-कोई समर्थ होता है। उसी को सेवक, शिष्य, जिज्ञासु, चेला और दास कहा जा सकता है। दूसरे केवल लीला, विलास, कथा कीर्तन, भोजन-छादन, संगति आदि के मित्र होते हैं। यदि उन्हें धन त्याग के निमित्त कहा जावे, वे संग-त्याग कर देंगे किन्तु धन-त्याग नहीं करेंगे। वाणी और कानों से सद्गुरु की महिमा करने वाले बहुत हैं, परन्तु शरीर अथवा धन से कोई-कोई सेवा करता है। उनमें भी दृढ़-निश्चय-वाला कोई-कोई होता है। ऐसा भी देखने में आता है कि कोई पुरुष दो वर्ष अथवा चार वर्ष अथवा कुछ अधिक काल शरीर से सेवा करता है, परन्तु फिर आयु के वृद्ध होने से अथवा ज्ञान के उत्पन्न होने से या विद्या के प्रकाश से या लोगों में मान्यता से अथवा किसी दूसरे मनोराज से अथवा किसी कुसंग में ऐसा शिथिल और आलसी हो जाता है कि अपनी पहली श्रद्धा नष्ट कर उदासीन पुरुषों की नाँई केवल सभा का शृंगार मात्र रह जाता है। ऐसा भी होता है कि सद्गुरु की सभा से ग्लानियुक्त होकर अपनी सभा जमाने लग जाता है। अपने शास्त्र रचकर अपना नाम फैलाता है। अपनी शिष्यावली बनाकर आप ही सद्गुरु हो जाता है। कभी ऐसा भी हो जाता है कि सद्गुरु के वाक्यों को खण्डन कर

Scanned with CamScanner

अपने वचन को अथवा किसी दूसरे के वचनों को सिद्ध करने का यत्न करता है। इस प्रकार शरीर से भी सेवा करने वाला दृढ़ श्रद्धावान सेवक अतिशय दुर्लभ है। धन से सेवा करने वाले कुछ काल सेवा करते हैं और प्रेम सहित अपने गुह, नगर अथवा ग्राम में ले जाकर उत्साह और मंगल सहित पूजा, प्रतिष्ठा और सेवा करते हैं। वे अपनी इच्छा से धन का त्याग कर सद्गुरु की प्रसन्नता का लाभ लेते हैं। कदाचित् धन के त्याग उपरान्त उनका बुद्धि तमोगुण स्वभाव धारकर ऐसी मूढ़ और अवगुण-ग्राहक हो जाती है कि वही सेवक सद्गुरु ग्लानि धारकर उनके निकट भी नहीं आता। उनकी चेष्टा पर नाना प्रकार के दोषारोपण करता है। दूसरे सेवा करने वाले पुरुषों को उनके समीप जाने से रोकता है तथा कहता है कि सद्गुरु लोभी हैं। बड़े खर्च करने वाले दस-पन्द्रह मनुष्य अपने साथ रखते हैं। आप भी रसीला भोजन और सुन्दर वस्त्र पहनते हैं और दूसरों को भी यही उपदेश करते हैं। यदि हम उनके निकट जावेंगे तो हमको भी देना पड़ेगा। हमसे माँगेंगे अथवा सभा का चन्दा, धर्मार्थ अथवा दूसरा खर्च देना पड़ेगा। इसलिए ऐसे पुरुष की संगति से उपरत रहना ही उचित है। इस रीति से धन से सेवा करनेवाला पुरुष भी श्रद्धा से रहित होकर मनमुखता रूपी महाघोर वन में चोटें खाता है। जब यह अवस्था है तो किसको सेवक जानें और किसको शिष्य मानें अथवा किसको जिज्ञासु पहचानें ? जब शिष्य ही कोई नहीं तो सद्गुरु बनना व्यर्थ है। इस प्रकार दीर्घदर्शी, महाबुद्धिमान, तत्त्व वेत्ता, न्यायकारी, उदारमति जगत की किसी अवस्था में बंधे नहीं रहते। सदा असंग, एकाकी, आप्तकामी, निर्विकल्प, तृप्तचित्त, अडोलमन, स्थितप्रज्ञ, निरहंकार आप में आप स्थित होकर सदा सुखी रहते हैं। केवल परोपकार दृष्टि धार सत्य उपदेश करते हैं, सद्गुरु की मनौत से मुक्त होकर निर्विकल्प रहते हैं।

प्रश्न ३२—ब्रह्मज्ञानी महात्मा के उपदेश का लाभ पूर्ण रीति से किसे प्राप्त होता है?

उत्तर—जैसे, सूर्य सब को प्रकाश करता है। नेत्रों वाला उस प्रकाश को लाभ उठाता है, किन्तु अन्धा लाभ से शून्य रह जाता है। सूर्य फिर भी अपने धर्म का त्याग नहीं करता, नगर और उजाड़ पर समान ही प्रकाश करता है। वैसे ही ब्रह्मज्ञानी महात्मा सब को यथार्थ उपदेश देता है। श्रद्धावान जिज्ञासु उपदेश को हृदय में बसाकर लाभ उठाता है और श्रद्धा से रहित अज्ञानी लाभ से शून्य रह जाता है, परन्तु महात्मा अपने धर्म का त्याग नहीं करते ज्ञानी अज्ञानी, जिज्ञासु और अर्थवान पर समान ही अपने उपदेश का प्रकाश करता है।

जब तक मनुष्य आप पुरुषार्थ न करे तब तक कोई काम पूरा नहीं होता। सद्गुरु का उपदेश प्रकाश है और जिज्ञासु का पुरुषार्थ नेत्र है। जब प्रकाश और नेत्र आपस में मिलें तो ज्ञान अथवा दर्शन यथार्थ होता है और यदि प्रकाश और नेत्र आपस में न मिलें तो ज्ञान पूरा-पूरा नहीं होता। इसलिए जिज्ञासु उपदेश के अनुसार पुरुषार्थ करे जिससे अज्ञान निवृत्त होकर ज्ञान की प्राप्ति हो।

प्रश्न ३३—जो जिज्ञासु सद्गुरु के ध्यान और उपदेश में सावधान रहता है, उसे

Scanned with CamScanner

सद्गुरु क्या फल देते हैं ?

उत्तर—जो पुरुष सद्गुरु के ध्यान में सावधान रहता है और उनके उपदेश का भी पालन करता है, उसे सद्गुरु प्रसन्न होकर आशीर्वाद देते हैं। इससे उसका चित्त सदा सद्गुरु के उपदेश में लगा रहे, जगत् के धन्धे उसे डोलायमान न करें, धन की प्रीति उसके चित्त को ऐसा मूढ़ न बनावे कि सद्गुरु उसको भूल जाएँ और धन स्मरण रहें किन्तु दिन-प्रतिदिन श्रद्धा और प्रीति परमार्थ में अधिक होती जावे। यदि विचारदृष्टि से देखें तो संसार केवल मन का मनोराज है शरीर श्वासमात्र और इसका ऐश्वर्य शब्द-मात्र है। सारे लोग इन तीनों पर मोहित होकर दिन-रात भटकते रहतें हैं। जिज्ञासु इन तीनों के मोह से रहित होकर सत्चिदानन्द परमात्मा में मन को स्थित करें।

प्रश्न ३४—सद्गुरु-उपदेश और सत्संग सेवन से क्या लाभ होता है ?

उत्तर—इस संसार में सद्गुरु का उपदेश और सत्संग ही सुखदाता और मुक्ति का हेतु है। जब तक मनुष्य वैराग्य और प्रेम से कुछ काल सद्गुरु की सेवा और संगति न करे तब तक मूर्खता और अज्ञान नष्ट नहीं होते, क्योंकि मन बड़ा चंचल है। एक दो वचन सुन-कर सीधा नहीं होता। सावन की वर्षा के समान इस पर जब वचनों की वर्षा होती है, इसकी कठोरता निवृत्त होती है, नहीं तो यह व्यर्थ ही संकल्प उठाता रहता है, परन्तु फल नहीं पाता। इसलिए सद्गुरु उपदेश में सावधान रहना ही जिज्ञासु का धर्म है।

प्रश्न ३५—

॥ दोहा ॥

सद्गुरु के उपदेश का, फल क्या है प्रत्यक्ष।
कैसे गुरु के वचन से, होवत अंध सचक्ष ?

उत्तर—

॥ दोहा ॥

सत्गुरु वचन अगाध हैं, विरला समझे ताँहि।
जो समझे सो सुख लहे, भवसागर के माँहि ॥ १ ॥
दुःखरूप संसार में, जो माने उपदेश।
सहजे ही बंधन कटें, रहे न रंच क्लेश ॥ २ ॥
धन्य-धन्य यह शिष्य हैं, धारें विश्वास।
सत्गुरु वचन अमोल भज, पावें ज्ञान प्रकाश ॥ ३ ॥
गुरु सूरज शिष्य नेत्र हैं, उभय मिलें जब आय।
ज्ञान ज्योति प्रगटे तभी, तम अज्ञान नसाय ॥ ४ ॥
गुरु महिमा से अधिक हैं, हेमां शिष्य का भाव।
मनन करे गुरु वचन को, अपना करे अभाव ॥ ५ ॥

प्रश्न ३६—सब मनुष्य क्या करें कि अंत के समय परमात्म प्राप्ति हो ?

उत्तर—सब मनुष्यों को उचित है कि सत्चित् आनन्द परमात्मा को अपने हृदय में

Scanned with CamScanner

आदर और प्रेम सहित बसाकर सद्गुरु के उपदेश को सचाई तथा श्रद्धा से कमायें, जिससे अन्त के समय परमात्मा में समा जावें।

इस जगत में अपने-आपको सुधारना ही उचित है। दूसरे पुरुषों के स्वभावों को देखकर अपने स्वभावों को बिगाड़ना मूर्खता है। जगत में सुखदाई प्रतीत होने वाले धन, स्त्री, पुत्र और दूसरी सामग्री केवल मूढ़ लोगों की दृष्टि में है। इनमें फँसना उचित नहीं और न व्यवहार को बढ़ाना उचित है। बुद्धिमान गृह निर्वाह सोचकर थोड़ा व्यवहार कर अपना समय बचाते हैं और संत जनों की संगति में बैठकर संसार के दीर्घ रोग को सुखपूर्वक मिटाते हैं। जो वैराग्य को प्रथम ही से अपना मित्र बनाता है, वह जितना काल शरीर में रहता है, सुख पाता है। जो प्रथम ही से धन के लालच में डूबकर व्यवहारी मनुष्यों की टहल सेवा में अपना समय गँवाता है, वह जितना काल रहता है, दुःख पाता है। इसलिए आगे पीछे की चिन्ता मन से दूर कर वर्तमान में सुखी रहें।

प्रश्न ३७—

॥ दोहा ॥

सद्गुरु शिष्य की एकता, कैसे होत दयाल।
कृपा करो वर्णन करें, कटे अविद्या जाल?

उत्तर—

॥ चौपाई ॥

सद्गुरु को सन्मुख ही देखो, तृण पर्वत पूरण गुरु पेखो।
सद्गुरु को आतम कर मानो, आतम ही सद्गुरु को जानो॥ १॥
गुरु सागर सिख ओहि तरंगा, मिले लहर सागर इक रंगा।
द्वैतवाद रंचक नहिं भासे, सागर आप तरंग प्रकाशे॥ २॥
ताँते गुरु सिख एको मानो, भेदभाव रंचक नहिं जानो।
लीन रहो सद्गुरु के माँही, द्वैताभाव फुरे कुछ नाहीं॥ ३॥
पर्वतवत् श्रद्धा दृढ़ राखो, गुरु अनुभव अमृत रस चाखो।
दोष दृष्टि से रहित विराजो, समदर्शी सुन्दर छवि छाजो॥ ४॥

॥ दोहा ॥

मूल अविद्या के मिटे, गुरु सिख एको आँहि।
चाँद अमावसवत् मिलत, सिख रवि सद्गुरु माँहि॥ १॥
नाम मात्र गुरु शिष्य उभय, भासें भिन-भिन रूप।
विस्फुलिंग ज्यों तेज है, त्यों गुरु शिष्य स्वरूप॥ २॥
बाध समय अधिकरण से, सिख सत्गुरु को रूप।
नाम, रूप, गुण, कर्म तज, उभय अभेद स्वरूप॥ ३॥
गुरु सिख उभय समान है, ज्यों जल द्रवता एक।
देह स्वाँग को धार कर, लीला करें अनेक॥ ४॥

Scanned with CamScanner

सद्गुरु सिख की आतमा, सिख है सद्गुरु रूप।
बीजरूप तरुवर यथा, तरुवर बीज स्वरूप॥ ५॥
निर्मम निर अभिमान जो, हेमां ब्रह्म स्वरूप।
सद्गुरु पूरण भेंटकर, चीने पूरण रूप॥ ६॥

प्रश्न ३८—

भगवन् गुरु उपकार बतावें, सद्गुरु महिमा भाख सुनावें।
गुरु सेवा से क्या फल होय, किरपा करके कहिये सोय?

उत्तर—

॥ चौपाई ॥

बिन सद्गुरु नहिं को सुखदाई, बिन सद्गुरु नहीं कोई सहाई।
बिन सद्गुरु दृढ़ मित्र न कोई, काज सवारन हारा सोई॥ १॥
बिन सद्गुरु है अन्ध गुबार, पावे मानुष दुःख अपार।
बिन सद्गुरु नर पशु से मन्द, बिन सद्गुरु है मूरख अन्ध॥ २॥
बिन सद्गुरु मन के वश पड़े, विषय गरत में गिर कर मरे।
बिन सद्गुरु नर रहे भटकता, लज्जा भय कर आतुर फिरता॥ ३॥
सद्गुरु भवजल पार उतारें, सद्गुरु सब पर दया पसारें।
सद्गुरु दैवी गुण प्रगटावें, सद्गुरु हरि प्रत्यक्ष दिखावें॥ ४॥
हृद् का तिमिर मिटावें सद्गुरु, सकल विकार हटावें सद्गुरु।
सद्गुरु पूरण ब्रह्म लखावें, भय चिन्ता अरु भरम नसावें॥ ५॥
सद्गुरु मतलब बिन सुख दाता, दुःख भंजन केवल गुरु जाता।
संकट हरता सद्गुरु मान, रक्षा करता सद्गुरु जान॥ ६॥
सद्गुरु माता पिता है साँचा, सद्गुरु इष्ट देव महाराजा।
सद्गुरु महिमा अपर अपार, अगम निगम नहीं पावें पार॥ ७॥

॥ दोहा ॥

सब देवों अरु नरों में, सद्गुरु श्रेष्ठ पछान।
भगवत्रूप उनको लखो, तब होगा कल्याण॥ ८॥

॥ चौपाई ॥

सूरज बाहर करे प्रकाश, गुरु हृद् अन्तर करे प्रकाश।
सूरज जग दुर्गंध हरे, सद्गुरु हृद पावन करे॥ ९॥
सूरज जग में नदी बहावे, ज्ञान नदी गुरु हृदे चलावे।
सूरज पशु अरु चोर नसावे, गुरु से काम क्रोध दुर जावे॥१०॥
सूरज भिन भिन अन्न पकावे, सद्गुरु शुभ गुण हृदय दृढ़ावे।
सूरज रात समय न प्रकाशे, निसवासर सद्गुरु वच भासे॥११॥

Scanned with CamScanner

सूरज केवल सचक्ष प्रकाशे, गुरु वच सचक्ष अन्ध को भासे।
ताँते सूरज से गुरु उत्तम, हेमां सद्गुरु शरण गहो तुम ॥१२॥

॥ भजन ॥ (१)

आओ, सद्गुरु दर्शन पाइये ॥
सद्गुरु परम मनोहर सुखनिधि, पेख-पेख तृप्ताइये ॥ १ ॥
दर्शन से किल्विष् सब नासें, रोम रोम विगसाइये ॥ २ ॥
चरणामृत सद्गुरु का लेकर, ताप क्लेश-मिटाइये ॥ ३ ॥
हाथ जोड़ कर नम्रभूत हो, मन तन भेंट चढ़ाइये ॥ ४ ॥
सद्गुरु दर्शन रवि से उज्ज्वल, हृद का तिमिर मिटाइये ॥ ५ ॥
मोहन पावन परम प्रेम मुख, रुच-रुच हृदे समाइये ॥ ६ ॥
दर्शन पाय कष्ट सब काटें, भय और भरम गंवाइयें ॥ ७ ॥
गुरु का दर्शन हरि का दर्शन, परम भाग्य सों पाइये ॥ ८ ॥
दर्शन से चित शीतल होवे, मन की इच्छ पुजाइये ॥ ९ ॥
पाय-पाय गुरु दर्शन हेमां, ज्योति ज्योत समाइये ॥१०॥

॥ भजन ॥ (२)

साधो सत्गुरु पूजन कीजे ॥
विषय वासना जग की प्रीति, सों हृद शुद्ध करीजे ॥ १ ॥
हृद मन्दिर श्रद्धा वरजंगी, पर सत्गुरु पधरीजे ॥ २ ॥
सद्गुरु पूरण भगवत् सुख निधि, यह आवाहन कीजे ॥ ३ ॥
शान्ति भक्ति सतता श्रद्धा के, नित-नित फूल चढ़ीजे ॥ ४ ॥
आतम चिन्तन मनन निध्यासन, यही दक्षिणा लीजे ॥ ५ ॥
घट-घट चिद्वय गुरु निश्चय कर, ऐसी आरती कीजे ॥ ६ ॥
सद्गुरु के पावन गुण धारण, यह चरणामृत पीजे ॥ ७ ॥
सद्गुरु हरि हर निश्चय करके, रुच-रुच शीश निवीजे ॥ ८ ॥
हंगता ममता दक्षिणा करके, आतम तिलक चढ़ीजे ॥ ९ ॥
हेमराज सद्गुरु पूजन कर, पूरण ब्रह्म समीजे ॥१०॥

॥ भजन ॥ (३)

जग में सद्गुरु परम उदारा ॥
सूर्य चन्द्र भूमि से अधिका, सद्गुरु का उपकारा ॥ १ ॥
शुभ स्वभाव का दियो अखुट धन, सकल दरिद्र निवारा ॥ २ ॥
ज्ञान ध्यान का राज्य अटल दे, कियो इन्द्र वशकारा ॥ ३ ॥
शुद्ध विहार कराकर गुरु ने, खोले धन भंडारा ॥ ४ ॥
शुभ नीति अरु रीति बख्शी, सकला गृहस्थ सुधारा ॥ ५ ॥
संयम की सुख जीवन बूटी, देकर रोग निकारा ॥ ६ ॥

Scanned with CamScanner

प्रेम मित्रता क्षमा मन्त्र दे, वशी कियो संसारा ॥ ७ ॥
चक्र सुदर्शन आतम दर्शन, सों सब शत्रु संहारा ॥ ८ ॥
रक्षा हित सूरमें दीने, जत धीरज वीचारा ॥ ९ ॥
ऐसो दाता सद्गुरु हेमां, सेवो नित चरनारा ॥१०॥

॥ भजन ॥ (४)

सब दुःख को निवारे, सद्गुरु की सेवा भक्ति ।
आनन्द निधि पियारे, सद्गुरु की सेवा भक्ति ॥ १ ॥
इन्द्रिय विकार खोवे, मन की मलिनता धोवे ।
शान्ति हृदय पसारे, सद्गुरु की सेवा भक्ति ॥ २ ॥
विनसावे शोक चिन्ता, मारे अहंता ममता ।
जारे क्लेश सारे, सद्गुरु की सेवा भक्ति ॥ ३ ॥
पापों की नाश कर्ता; सब संकटों की हर्ता ।
भय रोग सब निकारे, सद्गुरु की सेवा भक्ति ॥ ४ ॥
दुविधा सरव नसावे, पूरणसता दिखावे ।
तृष्णा का बीज जारे, सद्गुरु की सेवा भक्ति ॥ ५ ॥
धीरज क्षमा बढ़ावे, संतोष सत जमावे ।
आचार सब सुधारे, सद्गुरु की सेवा भक्ति ॥ ६ ॥
व्यवहार को करे शुद्ध, गिरहस्थी के हरे दुःख ।
परतीत पत पसारे, सद्गुरु की सेवा भक्ति ॥ ७ ॥
इच्छा सकल पुजावे, जग पूज्य गुरु बनावे ।
भवजल से पार उतारे, सद्गुरु की सेवा भक्ति ॥ ८ ॥
सरवात्मा दिखावे, प्रेमामृत पिलावे ।
देह भावना उखाड़े, सद्गुरु की सेवा भक्ति ॥ ९ ॥
गुरु में मिटावे आपा, गुरु जाने माई बापा ।
क्षण क्षण गुरु चितारे, सद्गुरु की यह है भक्ति ॥१०॥
ईश्वर गुरु को माने, प्राणों से प्यारा जाने ।
तन मन गुरु पे वारे, सद्गुरु की यह है भक्ति ॥११॥
सद्गुरु है हेमां पूरण, शुद्ध सत् रूप चिद्घन ।
गुरु सिन्धु में सिधारे, सद्गुरु की सेवा भक्ति ॥१२॥

॥ भजन ॥ (५)

मैं तो सद्गुरु पर बलिहारी ॥
मात पिता राजा देवन से, गुरु है बद्ध उपकारी ॥ १ ॥
काम क्रोध के दानव मारे, तृष्णा सकल निवारी ॥ २ ॥
विषयन की अग्नि विसमाई, हंगता ममता जारी ॥ ३ ॥

Scanned with CamScanner

सेवक सम संतोष विचारा, दीने गुरु बिहारी ॥ ४ ॥
तन में मन में सुख पसारयो, गुरु पर सदपद वारी ॥ ५ ॥
संशय भर्म विपर्यय मेटे, दृष्टि अनातम हारी ॥ ६ ॥
दान दियो समता मुदता का, मेटी वासन सारी ॥ ७ ॥
हेमराज पूरण सद्गुरु को, नित्य प्रणाम हमारी ॥ ८ ॥

॥ भजन ॥ (६)

गुरु भक्ति को कमा ले, तेरा जन्म सफल हो।
भक्ति से मुक्ति पा ले, तेरा जनम सफल हो ॥ १ ॥
मन को संवारे जोई, इन्द्रिय सुधारे जोई।
गुरु भेंट निज चढ़ा ले, तेरा जनम सफल हो ॥ २ ॥
मेटें सकल विकारा, भेटें धरम सुचारा।
गुरु में जमा ले श्रद्धा, तेरा जनम सफल हो ॥ ३ ॥
व्यवहार तेरा प्रफुले, गिरहस्थी तुझको सुख दे।
सद्गुर का आसरा ले, तेरा जनम सफल हो ॥ ४ ॥
मानुष जनम अनोखा, यह जग शरीर धोखा।
गुरु मिल हरी को पाले, तेरा जनम सफल हो ॥ ५ ॥
सब रीत तेरी पावन, परतीत जग में शुभ हो।
इष्ट अपना गुरु बना ले, तेरा जनम सफल हो ॥ ६ ॥
हो नाश शोक चिन्ता, भय भरम जावे मन का।
यदि आज्ञा गुरु की पालें, तेरा जनम सफल हो ॥ ७ ॥
मन शान्ति में समावे, छोभ और तृष्णा जावे।
गुरु में खुदी गंवा ले, तेरा जनम सफल हो ॥ ८ ॥
विषयों की प्रीति जावे, आतम में तृप्ति आवे।
क्षण-क्षण गुरु धिया ले, तेरा जनम सफल हो ॥ ९ ॥
आवागमन के संशय, नशें द्वन्द्व सब विपर्यय।
कर आप गुरु हवाले, तेरा जनम सफल हो ॥१०॥
देह भावना विनाशे, आतम सरव प्रकाशे।
गुरु अविध में समाले, तेरा जनम सफल हो ॥११॥
सब दुःख की निवरती, हो परम सुख की लब्धी।
हेमां गुरु रिझा ले, तेरा जनम सफल हो ॥ १२ ॥

॥ भजन ॥ (७)

साधो सत्गुरु शरण गहीजे ॥
आओ चल सद्गुरु दरबारे, सद् उपदेश सुनीजे ॥ १ ॥
पावन दरशन गुरु का पाकर, सकले पाप हरीजे ॥ २ ॥

Scanned with CamScanner

हो निरमान अनन्य श्रद्धायुत, गुरुपग सीस धरीजे ॥ ३ ॥
प्रेम सहित गुरु वाक सुनीजे; चित्त कमल विकसीजे ॥ ४ ॥
वचनामृत गुरु रस प्यारे, तृष्णा प्यास बुझीजे ॥ ५ ॥
गुरु उपदेश परम सुखदाता, श्रद्धासहित गहीजे ॥ ६ ॥
सद्गुरु वचन नाव पर चढ़कर, भवजल पार लंघीजे ॥ ७ ॥
गुरु उपदेश भानु से उज्ज्वल, तम अज्ञान मिटीजे ॥ ८ ॥
जल से निरमल गुरु उपदेशा, मन की मैल हरीजे ॥ ९ ॥
अनहद वाणी गुरु की सुनकर; बुद्धि विसमाद करीजे ॥१०॥
महानदी है गुरु उपदेशा, नहरें वेद लखीजे ॥११॥
गुरु वाणी को मनन किये से, भय दुःख भ्रांत गंवीजे ॥१२॥
गुरु उपदेश कमा कर **हेमां**, परमानन्द समीजे ॥१३॥

॥ भजन ॥ (८)

मैं गुरु दर्शन की प्यासी ॥
गुरु स्वामी-गुरु अन्तरयामी, सद्गुरु की मैं दासी ॥ १ ॥
दर्शन बिन नहिं चैन रैन दिन, दरस देऊ सुखराशी ॥ २ ॥
प्राण पियारे मुख दिखलावो, काटो जनम की फाँसी ॥ ३ ॥
चित में बसो मेरे मन मोहन, मेटो सकल उदासी ॥ ४ ॥
खोजत-खोजत देख्यो जन को, सब अपार है नासी ॥ ५ ॥
एको साचा गोविन्द सद्गुरु, पूरण स्वयं प्रकाशी ॥ ६ ॥
हेमराज सद्गुरु भेटे बिन, जनम अकारथ जासी ॥ ७ ॥

॥ भजन ॥ (९)

बलिहार-तुझपे सद्गुरु, सब दुःख मिटाने वाले।
शान्ति औ तृप्ति देकर, पावन बनाने वाले ॥ १ ॥
विषयों से तू बचावे, इन्द्रिन को वश में लावे।
चांचल्य और चिन्ता, मन की गँवाने वाले ॥ २ ॥
खोटे करम नसें सब, गुरु शरण में गये जब।
ज्ञान अंजना हरि दे, दर्शन कराने वाले ॥ ३ ॥
संतोष और धीरज, दीने हैं बज्र अद्भुत।
प्रेम औ विचार देकर, अमृत पिलाने वाले ॥ ४ ॥
सत्-वाक सत् करम दे, निर्भय करो हे सद्गुरु।
व्यवहार साचा करके, पत को बढ़ाने वाले ॥ ५ ॥
जग के सकल पदारथ, निश्चय कराए कल्पित।
लज्जा से वासना से, सद्गुरु छुड़ाने वाले ॥ ६ ॥
मर्यादा जग की सारी, समझाई बाल-क्रीड़ा।

Scanned with CamScanner

जग में असंग वृत्ति, युक्ति सिखाने वाले ॥ ७ ॥
सुख दुःख लाभ हानी, का भरम सब निवारा।
जो जो बने उसी पर; परसन बनाने वाले ॥ ८ ॥
सब वैर द्वेष मारे, ईर्षा विरोध जारे।
भक्ति से भीना करके, सब से मिलाने वाले ॥ ९ ॥
चिद्घन सरव लखाया, सब भेद को मिटाया।
सब अपना आप भाया, संशय जलाने वाले ॥१०॥
श्रद्धा से जिसने भेंटा, शीश अपना तुझको प्यारे।
ऐसे अनन्न भगत में, हेमां समाने वाले ॥११॥

॥ इति श्री चतुर्थ सिद्धान्त समाप्तम् ॥

Scanned with CamScanner

★ मन सिद्धान्त ★

: ५ :

प्रश्न १—

॥ दोहा ॥

हे भगवन् गम्भीर मति, मन का क्या है रूप।
किस उपाय से होत है, यह मन शुद्ध अनूप ?

उत्तर—

॥ दोहा ॥

आन चितवना मन है, अवर न मन को रूप।
सावधान तज आन मति, प्रगटे स्वतः स्वरूप ॥ १ ॥
भेद भाव बिसरे जभी, तब ही मन शुद्ध होय।
भेद बिना इस मन को, अवर कलंक न कोय ॥ २ ॥
उतरे भेद कलंक जब, तब मन आतम रूप।
अलख, अनाम, अखण्ड अज, स्वयं प्रकाश अरूप ॥ ३ ॥
सुख स्वरूप निश्चल अछय, सत्चित् आनन्द सार।
सो तेरो है आतमा, दृढ़ निश्चय कर धार ॥ ४ ॥
ऐसे शुद्ध स्वरूप बिन, रंच न चितवो आन।
निश दिन दृढ़ अभ्यास कर, मेटो तन अभिमान ॥ ५ ॥
वस्तु एक पूरण सदा, जामे भेद न भाव।
ऐसे पूरण ज्ञान से, प्रगटे स्वतः स्वभाव ॥ ६ ॥
ब्रह्मरूप संसार है, निश्चय धारो चीत।
बिना ब्रह्म देखो नहीं, अन्तर बाहर मीत ॥ ७ ॥
मनन रहो हेमां सदा, इसी दृष्टि को धार।
नाम रूप संसार का, रंच न फुरे विकार ॥ ८ ॥

प्रश्न २—मन क्या वस्तु है ?

उत्तर—पाँच तत्वों का मिश्रित सतोगुणी अंश मन है।

प्रश्न ३—मन चंचल क्यों रहता है ?

Scanned with CamScanner

उत्तर—पाँच तत्वों के सब स्वभाव, गुण, बल, कर्म, सूक्ष्मरूप होकर इसी मन में रहते हैं। इसी के आसरे इन्द्रियों द्वारा सिद्ध होते हैं। इसलिए मन सदा चंचल रहता है। यदि यह चंचल न हो तो इन्द्रियों का व्यवहार कदाचित् सिद्ध न हो।

प्रश्न ४—आप कहते हैं कि मन सतोगुणी अंश है, सतोगुण में केवल शान्ति, उदारता और वैराग्य आदि गुण रहते हैं, परन्तु मन में तो नाना प्रकार के उत्तम और नीच स्वभाव व गुण रहते हैं। इसका क्या हेतु है ?

उत्तर—मन केवल सतोगुणी अंश नहीं, इसमें रजोगुण और तमोगुण भी रहते हैं। सतोगुणी अंश इसमें अधिक हैं और रजोगुण व तमोगुण कम। इसलिए मन को सतोगुणी अंश माना गया है। मन में तीनों गुणों का प्रवेश है। इसलिए सब दैवी और आसुरी सम्पदा के स्वभाव इसी में रहते हैं। मानों सब धर्मों गुणों, स्वभावों, और कर्मों का बीज यही है।

प्रश्न ५—मन की एकाग्रता किस रीति से हो ?

उत्तर—इसके कारण और अधिष्ठान के विचार से।

प्रश्न ६—कारण का विचार किस रीति से होता है ?

उत्तर—मन का कारण पाँच तत्व हैं और वही पाँच तत्व पाँच विषयरूप हैं। पाँच विषयों को त्यागकर मन कदाचित् नहीं फुरता। पाँच विषय पाँच तत्वों का कार्य हैं। मन भी पाँच तत्वों का कार्य है। अतः पाँच विषय और मन एक वस्तु हैं। मानो मन पाँच विषयों की आत्मा है और पाँच विषय मन की आत्मा हैं। ये उभय पाँच तत्व स्वरूप हैं। पाँच तत्वों को त्यागकर मन कहीं नहीं जाता। जैसे जल को त्यागकर तरंग कहीं नहीं जाती, जैसे मक्खन को त्यागकर स्निग्धता कहीं नहीं जाती वैसे ही पाँच तत्वों को त्यागकर मन कहीं नहीं जाता, यही पाँच तत्व मन की आत्मा है। इसलिए मन फुरने के समय भी अपने आप में स्थित है। न कहीं आता है न कहीं जाता है। यह इसके कारण पर विचार की रीति और फल है।

प्रश्न ७—अधिष्ठान का विचार किस रीति से होता है ?

उत्तर—पाँच तत्वों का अधिष्ठान सत्ता सामान है। सत्ता समान के पाँच विशेषण तत्व, भूत अथवा वस्तुरूप होकर स्थित हैं। पूर्ण विशेषण आकाश है, चेतन विशेषण पवन है। स्वयं प्रकाश विशेषण अग्नि है। आत्म विशेषण जल है। कूटस्थ विशेषण धरती है। अतः पाँच तत्व कोई वस्तु नहीं। सत्ता सामान्य अपने आप में स्थित है। विशेषणों द्वारा अपनी सत्ता को नाना प्रकार से अपने आप में उत्पन्न और लय कर रहा है। इसलिए वास्तव में न कुछ हो रहा है, न कुछ हुआ था और न कुछ होगा। केवल अधिष्ठान सत्ता जो सामान्यरूप है, आप में आप है। जब कारण रूप पाँच तत्व सत्ता सामान्य रूप हैं तो पाँच तत्वों का कार्य, मन और मन के धर्म सत्ता-समान्य से कैसे भिन्न होंगे ? एक ही अधिष्ठान विशेषणा और कल्पित विशेषणों सहित अपनी महिमा में इस प्रकार स्थित है जैसे जल समुद्र, नदी-नाला, तरंग, बुदबुदा, चक्र-आवृत्त, बूंद सहित अपनी महिमा में स्थित हैं। बूंद से लेकर समुद्र पर्यन्त जल ही जल है, वैसे ही मन से लेकर आकाश-पर्यन्त सत्ता-सामान्य है। सत्ता-सामान्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं। जब और कुछ नहीं है मन का स्वरूप असिद्ध है तब इसकी एकाग्रता का यत्न

Scanned with CamScanner

भी निरर्थक है। यह अधिष्ठान विचार की रीति और फल है। ज्ञानवान इस रीति से कारण और अधिष्ठान का विचार कर मन की एकाग्रता के विकल्प से निर्विकल्प रहे।

प्रश्न ८—मेरा स्वरूप क्या है ?

उत्तर—सत्ता सामान्य।

प्रश्न ९—मन का सम्बन्ध मेरे साथ क्या है ?

उत्तर—ऊपर बतला दिया गया है। अर्थात् मन तुम्हारे स्वरूप में कल्पित है और पाँच तत्व भी तुम्हारे विशेषण हैं। शरीर, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और उनके धर्म सब ही तुम्हारे विशेषणों के कार्य हैं। तुम अनन्त, अपार, अगम, अद्वैत, आप में आप स्थित हो। इसलिए मन का तुम्हारे साथ विशेषणों द्वारा कल्पित सम्बन्ध है, वास्तविक नहीं। विशेषण भी तुम्हारे स्वरूप से भिन्न नहीं किन्तु तुम्हारा ही स्वरूप हैं, इसलिए मन भी तुम्हारे स्वरूप से भिन्न नहीं किन्तु तुम्हारा स्वरूप है। इस रीति से मन को अपना स्वरूप जानकर केवल सत्तामात्र में स्थित रहना यथार्थ स्थिति है।

प्रश्न १०—मन कभी विक्षिप्त और कभी एकाग्र होता है, उसका क्या कारण है ? इसकी इन व्यभिचारी अवस्थाओं में जिज्ञासु किस रीति से विचरे कि सुख बना रहे ?

उत्तर—मन कोई वस्तु नहीं। केवल भिन्न-भिन्न विषयों और पदार्थों का सम्बन्ध ही मन है। वह सम्बन्ध क्षणभंगुर है। कभी टूटता है कभी बनता है, इससे मन भी कभी विक्षिप्त और कभी एकाग्र होता है। मन का साक्षी एक और है जिसको आत्मा के नाम से पुकारते हैं। वही सत्य स्वरूप है और सबका अपना आप है। उसके अज्ञान से जीव मन के धर्मों के साथ मिलकर दुःख और सुख सहार रहा है। यदि आत्मा आपको साक्षी माने और नित्य यह वार्ता स्मरण रखे, तो मन कभी बल पाकर इसे क्षुब्ध नहीं करता। जब अपना आप भुलाता है, उस समय मन अर्थात् पदार्थों का सम्बन्ध अपना बल प्रकट करता है। इसलिए मन के उपशम करने का सबसे उत्तम उपाय यही है कि आत्मा आपको साक्षी निश्चय कर मन से न्यारा रहे और विचार द्वारा मन को जगत के व्यवहार में लावें।

प्रश्न ११—मन के होते मन की विक्षेप्ता से कैसे मुक्ति होती है ?

उत्तर—मन कोई वस्तु नहीं। जो कुछ तुम इन्द्रियों से कर्म करते हो, उसको बारम्बार स्मरण कर शोक और विक्षेप्ता का फल उठाते हो। जिस समय मन पिछली वार्ता को स्मरण करे, उसी समय सावधान होकर मन से भिन्न हो जाओ, उसके साथ तद्रूप होकर चिंतन न करो। तुम्हारी सहायता के बिना मन कुछ नहीं कर सकता, परन्तु तुम स्वयं ही अपने को भूलकर मन के साथ एकरूप हो जाते हो और पिछला या अगला चिंतन करते हो और अपने आपको निर्बल मानकर पश्चाताप करते हो। तुम मन के साथ तदाकार न होवो, इससे न्यारे रहो। यह अज्ञान से उत्पन्न हुआ है और तुम ज्ञानस्वरूप हो। अज्ञान अँधेरा है और ज्ञान प्रकाश है। जैसे अँधेरा प्रकाश के सन्मुख नहीं रह सकता, वैसे मन आत्मज्ञान के सन्मुख नहीं रह सकता। भला लहर भी कभी समुद्र को विक्षिप्त कर सकती है। लहर तो समुद्र से उठती है और समुद्र में समा जाती है। यदि समुद्र आपको भूलकर लहर के साथ मिल जावे और

Scanned with CamScanner

लहर के कर्म अपने कर्म मान लेवे तो समुद्र की महिमा स्थित नहीं रहती। वैसे ही तुम समुद्र हो और मन तुम्हारी लहर है, मन तुम्हें कभी विक्षिप्त व दुःखी नहीं कर सकता, किंतु तुम आपको भूलकर मन के साथ मिल गए हो और मन के कर्म अपने कर्म समझ लिए हैं। इसलिए अपनी महिमा को विस्मरण कर अपने को दुःखी, अवगुणी पापी और मूर्ख मानते हो। यदि तुम अपने स्वरूप को स्मरण रखो और मन के साथ न मिलो तो तुमको बड़ा आनन्द और उत्साह प्राप्त हो। इसलिए तुम अपने को मन का साक्षी निश्चय करो। मन के गुरु बन जावो। मन के राजा होकर मन को वश में करो। मन के अधिष्ठान होकर मन को अपने स्वरूप में कल्पित देखो। मन को अपनी लहर समझो। उठना-बैठना, आना-जाना, उभरना और लीन होना लहर का स्वभाव है, परन्तु समुद्र को छोड़कर लहर कहीं नहीं जाती। वैसे ही आत्मा को छोड़कर मन कहीं नहीं जाता। उसी से होता है उसी में रहता है और फिर अन्त में उसी में समा जाता है। अतः मन को केवल कल्पित और मिथ्या जानकर तुम अपने सत्य स्वरूप में स्थित रहो।

मन पत्थर की नाँई जड़ नहीं हो सकता। आदि प्रकृति से इसका धर्म स्फुरण हुआ है अतः यह अपना धर्म पूरा करेगा। इसके फुरने के बिना धर्म, अर्थ, काम, व मोक्ष का कोई काम पूरा नहीं हो सकता। इसलिए इसका फुरना प्रकृति अनुसार है। प्रकृतिरचित स्वभाव का नाश होना असम्भव है। इसलिए उसका सुधार ही उचित है। सुधार आत्मविचार के बिना और किसी उपाय से नहीं हो सकता। यदि आत्म-विचार न हो सके तो जिज्ञासु ओंकार स्मरण में सदा मन को प्रवृत्त रखे। भूतकाल की स्मृति न करे, भविष्यत् की चिन्ता न करे और वर्तमान काल में हर्ष शोक से रहित होकर निर्वाह करे। संसारी जनों की संगति न करे। भिन्न-भिन्न शास्त्रों को न देखे। देश-पत्रिका अधिक न पढ़े, वासना घटावे, मोह का त्याग करे, अहंकार को निवृत्त करे। इस रीति से मन के स्वभावों को सुधारे। जैसे गुरु अपने शिष्य के स्वभावों को सुधारता है, वैसे ही जिज्ञासु मन के स्वभावों को सुधारे। इस प्रकार मन शुद्ध होगा।

प्रश्न १२—मन का स्वभाव अतिशय चंचल है। क्षण-क्षण में इसकी अवस्था भिन्न-भिन्न होती है। मन किस उपाय से निश्चल होकर सम रहे ?

उत्तर—आत्मज्ञान से मन की चंचलता निवृत्त होती है। ज्ञान के बिना और किसी उपाय से मन स्थिर नहीं होता, क्योंकि मन का स्वरूप फुरना है, और फुरना प्राणों के संयोग से होता रहता है। जब तक प्राण आते-जाते रहेंगे तब तक फुरना भी फुरता रहेगा, इसलिए मन का फुरना किसी रीति से निवृत्त नहीं हो सकता और न इसके निवृत्त करने से कोई कार्य ही सिद्ध होता है। जब ज्ञान द्वारा यह निश्चय होता है कि परमात्मा पूर्ण है, तब मन का फुरना भजनरूप हो जाता है। जहाँ मन जाता है, वहाँ पूर्ण परमात्मा है। इस प्रकार के ज्ञान से मन शुद्ध हो जाता है। दूसरा, जब यह निश्चय किया कि आत्मा मन का प्रकाशक है और मैं आत्मा हूँ, तब भी मन का बल नहीं बढ़ता। इसलिए आत्म-परमात्म ज्ञान ही मन की शुद्धि और स्थिरता का परम श्रेष्ठ और सुगम उपाय है।

Scanned with CamScanner

प्रश्न १३—मन की चंचलता किसके संग से होती है और किस साधन से चंचलता निवृत होकर निश्चलता प्राप्त होती है ?

उत्तर—मन की चंचलता पदार्थों और सम्बन्धियों के संग से होती है। यदि इन दोनों का संग अन्तर और बाहर से त्याग दिया जाए, मन चंचलता को त्यागकर निश्चल हो जाता है। इसलिए मन के स्थिर करने का साधन वैराग्य और उपरति हैं। वास्तव में मन कोई वस्तु नहीं। भिन्न-भिन्न पदर्थों की मनौत का नाम मन हैं। जब तत्व विचार द्वारा मनौत मिथ्या प्रतीत होती है, तब मन नहीं रहता। यह विचार तब आता है जब जिज्ञासु वैराग्य और उपरति से अपनी मित्रता बनाता है। इसलिए जिज्ञासु वैराग्य, उपरति और विचार से अपनी वृत्ति को भूषित करे जिससे मन की चंचलता निवृत्त हो।

प्रश्न १४—यद्यपि वृत्ति निर्मल और गुणग्राहणी हो जाती है और शीघ्र ही संसार-दुःख से मुक्त होकर परमानन्द का अनुभव भी करती है, परन्तु वृत्ति महाचंचल है, उसकी रक्षा किस उपाय से हो ?

उत्तर—महाचंचल वृत्ति से रक्षा का उपाय यह है कि संसारी नरों की संगति से उपरत रहें, धन, स्त्री आदि की प्रीति से मन को मुक्त रखें, तन-अभिमान, धन-अभिमान, प्रभुता-अभिमान से अपनी वृत्ति को निर्मल रखें। शब्द स्पर्श, रूप, रस, गंध के सेवन, स्मरण, चिन्तन और उपभोग से उपरत रहें। अपने आयु वालों की संगति में मन को न लगाएँ। व्यर्थ-चर्चा, हँसी-मसखरी, वाद-विवाद, मायावी-कथा, लौकिक-वार्ता, परनिन्दा; अवगुण कथन और अधिक सम्भाषण से अपनी वाणी को शुद्ध रखें; व्यर्थ गगनागमन को त्यागकर अपने स्थान पर स्थिति का स्वभाव बनावें। गम्भीरता, धीरता, संतोष और मौन विचार-से अपना काल व्यतीत करें, समयानुसार भोजन करें, समयानुसार सोवे, सोने चाँदी के वस्त्र, शय्या, फूल, अतर और दूसरे पदार्थों से प्रीत न रखें। शुद्धाहार से रुचि रखें, पावन और निर्विकार रहें, मन को भूत और भविष्यत की स्मृति और चिन्ता से निर्मल और अचिंत रखें, नित्यप्रति गुरु-उपदेश कमावें, अभ्यास करने में आलस न करें, परन्तु अभ्यास प्रति दिन अधिक और दृढ़ करते चलें, श्रद्धा को अपने मन का मित्र रखें, नित्यप्रति सत्संग में जावें और प्रेम से वचन श्रवण कर मनन और निदिध्यासन का लाभ उठावें, सत्संग से संतोष और उपरति ही अंगीकार करें। दूसरे किसी स्थान पर न जावें, दूसरे शास्त्रों के देखने अथवा सुनने में मन को न लगावें, सब प्रकार का संयम रखें। जो वचन सत्गुरु के मुख से श्रवण किये हैं, उन्हें बारम्बार स्मरण कर मनन और निदिध्यासन करते रहें। अपने वास्तव स्वरूप को पुनः-पुन चिन्तन कर स्वरूप-निष्ठा को दृढ़ करें। अज्ञानी, व्यवहारी, भेदवादी, भ्रमी, बहिर्मुखी, विषयासक्त, गृहस्थासक्त और संत-दोषी के संग से उपरत रहना। केवल आत्मजिज्ञासु, निजदेशगामी, गुरु-भाई, संतसेवी, विचारवान, वैरागी, संतोषी, संशयरहित, अन्तर्मुखी, आत्मवेत्ता और त्यागी का संग करें। रात के समय अपने गुण अवगुण विचारें। सद्गुरु ग्रहण और दुर्गुण त्याग का यत्न करते रहें। प्रतिदिन अपने स्वभावों को शुभ, उत्तम, निर्मल और स्तुति योग्य बनाते रहें। व्यवहार में लम्पट होकर सत्यमार्ग से विमुख न हो जावें। हृदय

Scanned with CamScanner

में धन की प्रीति धारकर सत्गुरु की प्रीति से उपरत न हो जावें, विषयानन्द में मग्न होकर ब्रह्मानन्द की इच्छा को न घटावें, सावधान होकर काल को ऊपरलिखित रीति से व्यतीत करें।

प्रश्न १५—शास्त्रों में लिखा है, मन बड़ा चंचल है। कृपया बतलाएँ कि मन क्या वस्तु है, इसका ऐसा स्वभाव किस निमित्त से है तथा किस उपाय से यह मन वश में होता है?

उत्तर—मन का स्वरूप संकल्प-विकल्प है। इसे फुरना भी कहते हैं। संकल्प सदा अपनी चेष्टा में रहता है। जब तक प्राण शरीर में आ जा रहे हैं, तब तक मन का यह स्वभाव स्थिर रहता है। इसे वश में करने के उपाय नीचे लिखे जाते हैं—

प्रथम—विवेक अर्थात् नित्य और अनित्य का विचार। जब मन उठे, तब विचार करे कि मन नित्यात्मा की ओर फुर रहा है व अनित्य देह की ओर। यदि मन नित्यात्मा की ओर फुर रहा है, वह फुरना नहीं आत्मा का ध्यान है। उसे उत्तम जानकर उससे आत्म स्थिति का लाभ उठावें। यदि मन अनित्य देह की ओर संकल्प उठा रहा है तो इसे इस विचार से रोकें। जब देह आदि में नहीं थी और अन्त में भी नहीं रहेगी, केवल मध्य में बिजली के चमत्कार की नाँईं भास रही है। ऐसी अनित्य देह की चिन्ता करके तू क्यों क्लेश पाता है? शरीर अविद्या से रचित है और तू भी अविद्या से रचित है, इसलिए तेरी शरीर के साथ मित्रता है। मैं तो अविद्या के सम्बन्ध से रहित हूँ। अतः तुझसे और शरीर से न्यारा हूँ। तू चाहे फुरता रहो, मैं तुझे सत्ता देकर तेरे मनोरथ को सिद्ध नहीं करूँगा। मेरी सत्ता के बिना तेरा कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि तू जड़ है। जैसे सूर्य की उष्णता से आतशी शीशे में दाह शक्ति प्रतीत होती है, वैसे ही मेरी सत्ता से तेरे मनोरथ सिद्ध होते हैं। अब मैंने अपने आपको सम्भाला है और निश्चय किया है कि मैं चेतनरूप हूँ, स्वयं प्रकाश कूटस्थ हूँ। अतः तेरे संकल्प से मेरे स्वरूप में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं हो सकती। जैसे हथौड़ों की ठोकर से लोहे में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं होती, वह अपने आप में स्थिर है, वैसे ही मैं लोहे की नाँईं अपने आप में स्थित हूँ और तुम अपने संकल्प रूपी हथौड़ी की अनेक चोटें मुझ पर लगाते रहो, मेरे स्वरूप में कोई हानि नहीं। मैं कूटस्थ, नित्य-स्थिति, अपनी महिमा में पूर्ण हूँ। जब तक मुझे अपने आप का स्मरण नहीं था, तब तक तेरे दाँव-पेच में आकर मैं दीन और दुःखी रहा। अब सद्गुरु की कृपा से मुझे अपना वास्तव स्वरूप प्रतीत हुआ है, इसलिए अब तेरा भय मुझे नहीं है। इस रीति से विचार कर अपने आप में स्थित होने से मन स्वाभाविक रूप से स्थित हो जावेगा।

दूसरा—विचार जब मन संकल्प उठावे तब विचार करें कि उसका संकल्प भूतकाल का है अथवा भविष्यतकाल का। यदि भूतकाल का संकल्प हो तो मन को समझावें कि हे मन, वह समय बीत गया, वह कार्य भी हो गया, वह देश भी नहीं रहा और वह मनुष्य भी मर गया। तू मूर्खों का नाँईं उनकी चिन्ता कर मरकट की तरह क्यों भटकता है? अब वह समय हाथ नहीं आता, न वह कार्य संवरता है, न ही कुछ हो सकता है। इसलिए तेरी चिन्ता निरर्थक है। इस विचार के बल से भूतकाल के संकल्प का त्याग करें। यदि मन भविष्यत्-

Scanned with CamScanner

काल का संकल्प उठावे तो उसे समझावें, हे मन ! जिस देह के निमित्त तू आगे की चिन्ता करता है, वह देह क्षणभंगुर है। अतः तेरी चिन्ता व्यर्थ है। नश्वर-वस्तु के निमित्त चिन्ता करनी मूर्खों का काम है। इस विचार के बल से भविष्यत्-काल की चिन्ता से मन को उपरत रखे। जब भूत और भविष्य से मन मुक्त होगा, उस समय केवल आत्मा ही शेष रहेगा। मन के वश करने का परम उपाय यही है।

तीसरा, विषयदूषण-चिंतन—अर्थात् मन जिस-जिस विषय की ओर जावे, उस विषय के दूषण विचार कर मन को उस विषय के चिंतन से हटावें।

चौथा—कुसंग व्यवहारी, विषयी, गपौड़ी, भेदवादी, शराबी, जुआरी, व्यर्थवादी, मूढ़, धनी और संसारी पुरुषों का संग न करें, क्योंकि इनके संग से जो संस्कार प्रवेश कर जाते हैं, वही संस्कार मन रूप होकर बारम्बार फुरते हैं। इसलिए संग का त्याग भी मन के वश करने का परम उपाय है।

पाँचवाँ, स्मरण—अर्थात् एकान्त में बैठकर ओंकार स्मरण करना। स्मरण में मन को ऐसा लीन करें कि मन और ओंकार एकरूप हो जावें। इस रीति से मन एकाग्र हो जाता है।

छठा, शास्त्राध्ययन—अर्थात् सत्शास्त्रों का विचार और धारणा भी मन के स्थिर करने का उत्तम उपाय है।

सातवाँ, सत्संग—सत्संग में भी मन वचनों की लोरी सुनकर बालक की नाँईं एकाग्रता की नींद में आ जाता है।

आठवाँ, कर्मविचार—अर्थात् विचार द्वारा नीच स्वभाव त्यागकर उत्तम गति प्राप्त करता है। जब उत्तम गति प्राप्त हुई अथवा दैवी सम्पदा के गुण व्यवहार में लाने लगा, तब मन दुःखरूप नहीं होता किन्तु सुखरूप होकर कल्याणमय और शोभाशाली होता है।

नवाँ—प्राण-चिंतन से भी मन वश हो जाता है। अर्थ यह कि जब प्राण अन्दर से बाहर आवें, उनको उसी स्थान पर रोक रखें और शान्ति का रस लेवे। जब अपान बाहर से अन्तर जावे, उसको उसी स्थान पर रोककर शान्ति का रस लेवे अर्थात् प्राण और अपान को नासिका में समान कर स्थित करे। इस अभ्यास से भी मन वश हो जाता है। प्राणायाम की यह सरल रीति है।

दसवाँ—ब्रह्मविचार जहाँ-जहाँ मन की वृत्ति जावे, वहाँ पर ब्रह्म को देखे। जब सब देश, सब काल और सब वस्तु ब्रह्मरूप प्रतीत हो, तब मन का आना जाना कहाँ ? ऐसे विचार से मन ब्रह्मरूप हो जाता है। जिज्ञासु जिस उपाय से मन को वश में कर सके, वही उपाय कर एकग्राता रूप आनन्द को पावे।

प्रश्न १६—चित्त अतिशय चंचल है और जगत के पदार्थों के साथ इसका ऐसा तादात्य सम्बन्ध है कि निशिदिन पदार्थों की चिन्ता से विक्षिप्त और चंचल रहता है, इससे महान

Scanned with CamScanner

दुःख होता है। जब तक चित्त स्थित न हो, तब तक दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति नहीं होती। अतः जिज्ञासु को चित्त की स्थिति के लिए क्या करना उचित है ?

उत्तर—चित्त की स्थिति विचार के बिना नहीं हो सकती। इसलिए जिज्ञासु सत्य-असत्य का विचार कर सत्य को अंगीकार करे और असत्य का त्याग करे। न्यायवृत्ति धारण कर चित्त के विकारों और धर्मों का विकार करे, विकारों का त्याग करे और धर्म को स्थापित करे। इस रीति से जब विचार का अभ्यास दृढ़ होगा, जब चित्त विकारों के सम्बन्ध और असत्य पदार्थों की चिन्ता से मुक्त होकर निर्विकार और सत्यरूप होगा, विचार को अपना मित्र रखे। विचार और वैराग्य के आसरे सब मलिनकर्मों, अशुभ वासनाओं, धन प्रीति, गृहस्था-सक्ति, व्यवहार-चतुराई, लोक-लज्जा, कुल-लज्जा, संसारभय, विषय-भावना और स्त्री पुत्र मोह का त्याग कर विचार से लाभ उठावें और उपरति द्वारा अज्ञानी, व्यवहारी धनसेवी, भेद-वादी, संसारी, चतुर, विषयी, हठी, मूढ़, सत्संग-निन्दक, देहअभिमानी और स्त्री-सेवक के संग से रहित होकर वैराग्य को दृढ़ करे और तत्व-विचार के द्वारा अपने वस्तव स्वरूप का क्षण-क्षण में चिन्तन करे जिससे देह-अध्यास, नाम-प्रीति, वर्णाश्रम, अभिमान, भूत-स्मृति, भविष्य-चिन्ता और शोक की निवृत्ति हो। इन साधनों से जब चित्त शुद्ध गति को प्राप्त होता है, तब सब प्र कार से आनन्द और शान्ति रहती है, इसलिए इन साधनों को सेवन कर जीवनमुक्ति का लाभ उठावें।

प्रश्न १७—मन की अवस्था ऐसी है कि यह सदा तृष्णा के साथ मिलकर संकल्प उठाता रहता है और विक्षिप्त होकर हर्ष-शोक के चाबुक खाता रहता है। इसकी अवस्था कैसे निवृत्त हो और शान्ति किस उपाय से प्राप्त हो ?

उत्तर—मन का गुरु विचार है। विचार के बिना किसी प्रकार मन अपने स्वभाव का त्याग नहीं करता। जब इसकी रक्षा पर सत्य और असत्य का विचार लगाया जावे, तब यह तृष्णा का संग त्याग शांति का संग करता है। अतः विचार को निरन्तर मित्र बनावें।

व्यवहार में अल्पकाल व्यतीत करना और दूसरे उत्तम तथा पावन कर्मों में अधिक काल व्यतीत करना उचित है। क्योंकि जब यह मन कर्म रहित होता है तब संकल्प उठा-कर विक्षिप्त होता है। इसलिए इसे सदा किसी कर्म में प्रवृत्त रखें। जब व्यवहार हो तब उसे सिद्ध करें और जब व्यवहार न हो तब ओंकार का स्मरण, ध्यान विचार और स्थिति में लगावें। जब मन ओंकार स्मरण से थक जावे, तब इसे आत्म-विचार में जोड़ें और कहें हे मन ! तेरा और मेरा कोई संग नहीं; तू जड़ है और मैं चेतन हूँ; तू चंचल है मैं स्थिर हूँ; तू संकल्प और विकल्परूप है और मैं निर्विकल्प हूँ। तू राग द्वेष, दुःख सुख और हर्षशोक का पात्र है और मैं इनसे न्यारा हूँ। तू विषयों के सुख से सुखी और आनन्दित होता है और मैं आप ही सुखरूप और आनन्द स्वरूप हूँ। तू शरीर पर्यन्त केवल जागृत और स्वप्न अवस्था में रहता है और मैं सदा स्थित हूँ। जागृत, स्वप्न, सुषुप्त तीनों को समान ही प्रकाश करता हूँ, इसलिए तेरा और मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। तू चाहे संकल्प करता रह परन्तु मैं तेरे

Scanned with CamScanner

संकल्प से चंचल नहीं होता, क्योंकि अब अपने-आपको सत्गुरु की कृपा से पहचाना है। तू मेरी लहर है और मैं सागर हूँ, तू सदा इसी प्रकार चंचल रहेगा और मैं सदा गम्भीरता में स्थित हूँ। जब तू आप ही कल्पित है, तेरा रचा हुआ जगत भी कल्पित है और जगत के पदार्थ धन, स्त्री, पुत्र, प्रताप, विद्या-चतुराई भी कल्पित हैं। जब तेरा और मेरा सम्बन्ध ही नहीं तो तेरी रचना और कल्पना का सम्बन्ध कैसे होगा ? जब सम्बन्ध ही नहीं तो फिर तेरी तृष्णा और वासना क्या कर सकती है ? इस रीति से अपने को मन से न्यारा जान सदा आनन्दरूप रहें। मन के साथ तद्रूप कदापि न होवें। जब मन संकल्प उठावे, उसी समय मन से भिन्न हो जावें। फुरने के साथ न मिलें और न फुरने को सहायता देवें। भूत और भविष्य को कल्पित समझें। जब मन संकल्प उठाये तब मन से अलग होकर आप में आप स्थित हो जावें। जितना काल शान्ति रहे उसका आनन्द अनुभव करें। यदि फिर भी मन फुरे तब अपने-आपको विचार द्वारा मन से अलग करें। इसके किसी संकल्प के साथ अपनी प्रीति न लगावें। सबसे न्यारा होकर अपने ज्ञानमात्र स्वरूप में स्थित रहें। इस प्रकार अभ्यास करने से मन नष्ट हो जावेगा और केवल सत्चित्-आनन्द रूप आत्मा शेष रहेगा।

प्रश्न १८—मन ऐसा चंचल है कि जिस धर्म, कर्म, संग, भोग अथवा व्यवहार के सम्मुख होता है, उसी का आकार हो जाता है। चिरकाल के अभ्यास से ऐसा कठोर, मलिन, हठधर्मी, मूढ़ और विक्षिप्त हो जाता है कि फिर इसे उस व्यवहार या संग से उपरत करना बहुत ही कठिन और यत्नसाध्य हो जाता है। अतः मुमुक्षु को क्या करना चाहिए ?

उत्तर—मुमुक्षु प्रथम ही सावधान होकर मन को व्यवहार-प्रीति, कल्पित-धर्म, कुसंग सेवन, भोगवासना और मलिन कर्मों से उपरत रखे, कि परमार्थ सेवन काल में यह सहायक और साधक होकर परमार्थ को सिद्ध करे। यदि सावधान होकर मन को मिथ्या चिंतन से प्रथम ही निरोध न किया, पीछे इसे वश करना अतिशय कठिन हो जावेगा और परमार्थ भी सिद्ध नहीं होगा। सत्यधर्म-प्रीति न होकर व्यवहार-प्रीति स्थिर और इष्ट-रूप हो जावेगी। सारी आयु मिथ्या और कल्पित कर्मों में व्यतीत होगी और अन्तकाल में पश्चात्ताप और शोक का फल प्राप्त होगा। इसलिए अपने मन को व्यवहार-प्रीति, धन-अभिलाषा, भोग-वासना, कुसंग-सेवन, गृहस्थासक्ति, कल्पित-धर्म, मलिन कर्म और नीच संस्कारों से शुद्ध कर परमार्थ-प्रीति, सत्संग सेवन, मोक्ष-वासना, सत्यधर्म, उत्तम-कर्म और श्रेष्ठ संस्कारों में स्थित रखें। शरीर क्षणभंगुर है, इसका कोई भरोसा नहीं। अज्ञान से यह स्थिर और सत्य प्रतीत होता है, परन्तु यह निश्चय अयथार्थ और भ्रमरूप है। शरीर केवल एक श्वास-मात्र है। ऐसे क्षणभंगुर और नश्वर शरीर में सत्य बुद्धि विषय-वासना, व्यवहार-प्रीति, गृहस्थ-चिंता, धन-अभिलाषा और मनमुखता के जाल में फंसना महामूर्खता है। इस-लिए शीघ्र ही विवेक और वैराग्य द्वारा मन को जगत के चिंतन से शान्त कर आत्म चिंतन में सावधान करें, कि बंधन नष्ट हों और सब दुःखों की निवृत्ति और परमानन्द प्राप्ति मूलक मनुष्य शरीर का परम प्रयोजन प्राप्त हो। ऐसा न हो कि मोक्षसुख की इच्छा रहे और उपाय से शून्य होकर इसी अभिलाषा में शरीरान्त हो जावे। इसलिए आप न्यायकारी

Scanned with CamScanner

होकर अपने को जाँचे। व्यर्थ आयु व्यतीत कर अनर्थरूप संसार में आपको न बाँधे। अकेला आया है, अकेला जावेगा। स्त्री और पुत्र का सम्बन्ध मिथ्या है। किस निमित्त से व्यवहार-रूप जंजाल में आसक्त होकर फँसा हुआ है? जिज्ञासु आत्म दृष्टिवान होकर स्वच्छन्द, निराश, निर्मल, शान्त, उपरत और गम्भीरमति रहे। वासनाओं को फैलाकर अपने को कल्पित बंधनों में न बाँधे। माता-पिता और दूसरे सम्बन्धी अपने-अपने कर्मों का फल भोग रहे हैं और भोगते रहेंगे इनकी चिन्ता, लज्जा और प्रीति से बंधे रहना उचित नहीं अपने आपको सम्भालें और शीघ्र ही इस मिथ्या-चिन्तन और अयोग्य-बंधन से आपको निकालें। काल व्यतीत होता जाता है। अपना मनोरथ सिद्ध कर लो। ऐसा न हो कि इस प्रकार चिन्ता और शोक में अन्तगति को प्राप्त हो जावो और मनोरथ भी सिद्ध न हो। अपना प्रेम और वैराग्य सदा प्रफुल्लित रखें जिससे संसार के बंधन निवृत्त हों। प्रेम और वैराग्य को प्रफुल्लित और स्थिर रखने वाला केवल सत्संग है। इसके बिना प्रेम और बैराग्य कुमलाकर नष्ट हो जाते हैं। सत्संग महापावन धर्म है। इसे सब जिज्ञासु और प्रीतिमान सेवन करें। मिथ्या व्यवहार के निमित्त सत्संग का त्याग करना उचित नहीं, परन्तु सत्संग के निमित्त मिथ्या व्यवहार का त्याग करना योग्य है। जो अल्प और तुच्छ व्यवहार के लिए महान् सत्यधर्मरूप सत्संग से विमुख होगा, वह दुःखरूप संसार से कदाचित मुक्त नहीं हो सकेगा।

वृत्ति की ऐसी अवस्था देखकर पारदर्शी और महा-बुद्धिमान वृत्ति को किसी देश, वस्तु, सम्बन्ध, व्यवहार, कर्म अथवा ज्ञान के आकार नहीं रखते, किन्तु सावधान होकर वृत्ति को अधिष्ठान में लीन रखते हैं। वे वृत्ति-कल्पित पदार्थों के साथ वृत्ति को तद्रूप कर आसक्त कदापि नहीं होते। सब वृत्ति-रचित पदार्थों का अभाव कर वे केवल केवलीभाव में स्थित रहते हैं। इसलिए जिज्ञासु वृत्ति को उपरत और अनासक्त करने के लिए कल्पित पदार्थों की प्रीति से तीव्र वैराग्य अंगीकार करें, कि परम-प्रयोजन रूप जीवनमुक्ति प्राप्त हो।

प्रश्न १९—

॥ दोहा ॥

हे भगवन् इस जगत में, दुःख निवृत क्रिम् होय।
शान्ती सुख कैसे लहें, आशा तृष्णा खोय॥

उत्तर—

॥ दोहा ॥

संग त्याग बिन जगत में, दुःख को अन्त न होय।
ताँते रहो असंग नित, दुःख क्लेश सब खोय॥ १॥
जे तू चाहे जगत में, शान्ति रहे नित मोय।
तो न चित्त कहूँ दीजिए, खेद मोह से होय॥ २॥
संकल्प रूप संसार में, चित को मूल न बाँध।
स्वप्न अँगना देख के, कपि ज्यूं कूद न फाँद॥ ३॥

Scanned with CamScanner

तृष्णा क्षीण बिन शांति नहीं, शान्ति बिना नहीं मुक्त।
ताँते तृष्णा त्याग सम, अवर नहीं को युक्त ॥ ४ ॥
अज्ञानी जेता फिरे, तेता भव दृढ़ होय।
आशा तृष्णा वृद्ध होय, धीरज सकलो खोय ॥ ५ ॥
बुद्धिवान जेता फिरे, तेता भव को नाश।
मोह घटे धीरज बंधे, क्षण-क्षण ब्रह्म प्रकाश ॥ ६ ॥
ज्यों-ज्यों फुरना क्षीण हो, त्यों-त्यों निज विश्राम।
हेमराज फुरना तजो, नितप्रति रहो अकाम ॥ ७ ॥

प्रश्न २०—मन की चंचलता के कारण क्या हैं और किस उपाय से चंचलता निवृत्त हो?

उत्तर—मन संग के आधीन है, यदि संग श्रेष्ठ हो तो मन शुद्ध रहता है और यदि संग नीच हो तो मन मलीन रहता है। दूसरा, युवावस्था मन को चंचल करने वाली है। तीसरा धन मन की चंचलता का सहायक है। चौथा, निर्भयता और अपनी इच्छानुसार बरतना भी मन को निर्भय करके विकारी कर देता है। अतः जब ये चारों हों तो मन चंचल हो जाता है। इसका उपाय यह है कि हठ से अपने मन को कुसंग से उपरत रखें। मन जो मलीन चिंतन करे, उसके निमित्त यत्न न करें किन्तु विचार कर उस चिंतन को रोके। गुरु उपदेश के अनुसार बरताव रखें। ओंकार उच्चारण में प्रवृत्त होकर सत्गुरु को सन्मुख देखें। इस प्रकार यत्न करने से मन की चंचलता शनैः-शनै निवृत्त हो जाती है।

प्रश्न २१—मन के उपसम करने का क्या उपाय है?

उत्तर—हे गुरुमुख शिष्य! मन के उपसम करने के उपाय-उच्चारण और विचार हैं। जो पुरुष मन से निरन्तर ओंकार का उच्चारण करता रहता है, उसका मन सहज ही भिन्न-भिन्न संकल्पों से रहित होकर ओंकार का आकार हो जाता है। यदि केवल उच्चारण से मन वश में न हो तो विचार द्वारा मन को रोके। तात्पर्य यह है कि जब यह मन किसी विषय का चिंतन करे, तब उस विषय के दूषण स्मरण कर मन को समझावे कि हे मन! तू दूषण युक्त विषयों से निशदिन प्रीति कर आपको किस निमित्त से बांधता है। तूने विषयों में जो सुख माना हुआ है, वह तेरी भ्रांति है। विषय दुःख रूप हैं। इनके सेवन करने वाले को सदा दुःख रहता है, शान्ति पाकर कभी तृप्ति नहीं होती। इसलिए इनका चिंतन त्याग कर सत्-चित् आनन्द स्वरूप आत्मा के चिंतन में मन लगाओ, क्योंकि आत्मा सुखरूप, निर्विकार और नित्यप्राप्त है। तेरा प्रकाशक आत्मा है। हे मन! जिसकी सत्ता पाकर तू चेतन है, जिसके किंचिन्मात्र आनन्द को तू विषय में अनुभव करता है और जिसकी सुषुप्ति अवस्था में तू लीन हो जाता है, वह आत्मा सत्य स्वरूप है। ऐसे सत्य स्वरूप आत्मा को भूलकर विषयों के चिंतन में किस निमित्त से प्रवृत्त होता है? विषय असत्य है इसलिए विषयानन्द भी असत्य है। आत्मा सत्य है इसलिए आत्मानन्द भी सत्य है अतः सत्य को त्याग कर असत्य में प्रीति करना अज्ञान का लक्षण है। अतः विचार को धारकर असत्य विषयों से वैराग्य को अंगीकार कर सत्य आत्मा में प्रेम उत्पन्न कर। इस रीति से अपने मन को समझाकर उपसम

Scanned with CamScanner

करे। शनैः-शनैः मन भटकना त्यागकर निश्चल हो जावेगा।

प्रश्न २२—हे गुरुवर! जब मैं एकान्त में बैठता हूँ, मेरा मन बहुत यत्न से विश्राम करता है। जब व्यवहार में लगता हूँ, मन फिर चंचल हो जाता है। उसे एकाग्र करने के लिए यत्न करना पड़ता है। आप कृपया ऐसी युक्ति बतावें कि मन चंचल न हो किन्तु शान्त रहे?

उत्तर—मन की दो अवस्थाएँ हैं। एक स्पंद् अर्थात् चंचल रूप और दूसरी निष्पंद अर्थात् शान्त रूप। अब इन दोनों अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न कार्यों की सिद्धि होती है। जैसे पक्षी के पंख खोलने से उड़ना और पंखों के संकोच से विश्राम सिद्ध होता है वैसे मन के चंचल स्वरूप से व्यवहार सिद्ध होता है और उपसम स्वरूप से परमार्थ सिद्ध होता है। यह उभय स्वरूप प्रकृति अनुसार और युक्ति पूर्वक हैं। देहधारी को इनसे समयानुसार काम लेना उचित है। जिज्ञासु परमार्थ के समय मन के उपसम का आनन्द लेवे और व्यवहार के समय मन की स्पंदरूप महाशक्ति की महिमा को साक्षी होकर देखे और आनन्दरूप रहे। व्यवहार प्राणपर्यन्त रहेगा और मन के स्फुरण के बिना व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता। यह प्रकृति की मर्यादा है। अतः बुद्धिमान अपने-आपको मन से न्यारा निश्चय कर मन की दोनों अवस्थाओं में समान रहता है, इसलिए तुम अपने आपको मन का साक्षी प्रतीत कर इसकी दोनों अवस्थाओं से न्यारे रहो। किसी के साथ अपना सम्बन्ध न मानो। जैसे पुरुष निद्रा के समय वाह्य और अन्तरंग अंगों के संकोच का आनन्द लेता है और जागृत के समय वाह्य और अन्तर के अंगों की चंचलता से अपने जीवन काल की सिद्धि का लाभ उठाता है। यदि जागृत अवस्था में अंगों को संकोच कर बैठा रहे तो जागृत की सिद्धि नहीं होगी। अतः प्रकृति से ही सब अंगों की दो-दो अवस्थाएँ चली आती हैं। यह यथार्थ हैं, क्योंकि प्रच्छन स्वरूप में भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के बिना प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। यदि विचार से देखें तो विराट के अंग भी स्फुरण-अस्फुरण अवस्था धारण कर विराट की शोभा और महिमा को स्थापित कर रहे यह दृश्यमान जगत इन उभयावस्थाओं में ऐसे स्थित है, मानो इन उभयावस्थाओं का नाम ही जगत है और वह जगत परमात्मस्वरूप है। अतः स्पन्द-निष्पंद उभय परमात्मा की शक्तियाँ हैं। शक्ति शक्ति से भिन्न नहीं होती, किन्तु अभिन्न होती है। अतः उभय शक्तियों को परमात्मरूप निश्चय कर निर्विकल्प और निःसंशय रहो।

प्रश्न २३—मन निरन्तर विषयों के चिंतन में लगा रहता है। चाहता है कि पाँचों इन्द्रियों के विषय सदा प्राप्त रहें, कोई विषय कदाचित नष्ट न हो। जब विषय का वियोग होता है, इससे उसे शोक होता है और फिर उसे विषय की प्राप्ति के लिए यत्न करना पड़ता है। ऐसी चंचल अवस्था मन की महा दुःख रूप है। किस उपाय से मन शुद्ध और निर्मल हो कि सुख प्राप्ति हो और मोक्ष सिद्ध हो?

उत्तर—इस संसार में सब काम सुगम हैं। केवल मन का जीतना अत्यन्त कठिन है। यदि मन वश में हो जावे, सब जगत और जगत के विषय अपने वश में हो जाते हैं जैसे राजा के वश होने पर सारी सेना, प्रजा और राज्य सामग्री वश में हो जाती है, वैसे मन के वश होने पर सब इन्द्रियों और विषय वश हो जाते हैं। जब मन वश में न हो, विषय मन को चंचल

Scanned with CamScanner

कर नाना प्रकार की अवस्थाओं के अधीन रखते हैं। स्थिरता, उपरति और एकाग्रता का रसास्वादन नहीं करने देते। इससे जिज्ञासु यत्न कर अपने मन को अधीन रखे। जिस विषय में मन की रुचि अधिक हो, उस विषय में जो दोष, विकार, दुःख, क्लेश और पराधीनताएँ हैं, उन्हें ही न्यायोचित्त बुद्धि से विचारकर अपने मन को उस विषय के चिंतन से रहित रखें और बारम्बार मन को आत्म-विचार कर परायण से विषयचिंतन से रोकता रहे। यदि एक बार मन विषय के अधीन होकर विषयप्राप्ति के लिए यत्न करने लगा दूसरे विषयी संसार-सम्बन्धी अज्ञानियों की प्रेरणा और सहायता से वांछित विषय प्राप्त भी हुआ, तो मन प्राणान्त उस विषय के त्याग में समर्थ नहीं होगा। अपितु जैसे-जैसे काल व्यतीत होगा, वैसे-वैसे अधिक बंधा रहकर नाना प्रकार के क्लेश सहता रहेगा। मुक्ति का कोई उपाय प्राप्त नहीं होगा। प्रेरणा करने वाले त्यागकर अथवा नष्ट होकर भिन्न हो जावेंगे। शरीर विषय भोग से निर्बल हो जावेगा और मन चिरकाल के अभ्यास से ऐसा आसक्त और बंध जावेगा कि सद्गुरु और सत्शास्त्र का उपदेश भी मन को उस विषय से मुक्त नहीं कर सकेगा। इसलिए प्रथम मन को विषय चिंतन से रहित रखे और यदि किसी विषय के निमित्त मन बारम्बार चिंतन भी करे तो इन्द्रियों को प्रेरणा कर प्रबल और सावधान न करे। यदि मन और इन्द्रिय संयोग सम्बन्ध से इकट्ठे भी हो जावें, उस विषय की प्राप्ति निमित्त स्थूल शरीर से यत्न न करे। हठ कर स्थित रहे। जब इस रीति से विचारपूर्वक विषय-प्राप्ति के यत्न का त्याग किया और त्याग करने का उद्यम करता रहा, एक दिन उस विषय से मुक्त होकर मन शुद्ध और निर्विकार हो जावेगा। यदि इस रीति से पुरुषार्थ न किया तो मन विषयाधीन होकर चंचलता, चपलता, विक्षेप्ता, राग, द्वेष, वासना, यत्न और धन अभिलाषा आदि विकारों से दूषित हो जावेगा। इससे आत्मानन्द जिज्ञासु का दृढ़ पुरुषार्थ कर मन के निरोध का उपाय करे और निरोध के साधन—एकान्त-सेवन, आत्म-ध्यान, भूत-भविष्यत्-विस्मृति, दुर्जन-संग-त्याग, मौन, विषय-दमन, मनोराज उपरति, निज स्वरूप चिन्तन, देह-अभ्यास-खंडन, आत्म-ज्ञान-मंडन, संसार-विस्मरण, परमात्म-स्मरण, लौकिक-वचन-त्याग, सद्गुरु वचन में श्रद्धा और सत्यशास्त्र-चिन्तन-में प्रीति रखे, कि मन विषय से मुक्त होकर आत्मा में विश्राम करे। जिज्ञासु को मुक्ति के लिए यत्न करे, बन्धन के लिए नहीं। यदि मुक्ति के मार्ग में चलने से शरीर रोगी दुःखी, कृश और निर्बल हो तो भी भला है, क्योंकि शरीर नश्वर और क्षणभंगुर है। एक दिन पूर्व की भाँति अभाव गति को प्राप्त हो जावेगा। इसलिए यह श्रेष्ठ है कि मुक्ति मार्ग में ही शरीर नष्ट हो। मोक्ष-मार्ग के सहायक और रक्षक हैं विवेक, वैराग्य, उपसम, इन्द्रिय-दमन, उपरति, सन्तोष, सत्संग, तितिक्षा, श्रद्धा, दृढ़ता और सावधानता है। अतः मुमुक्षु इनसे प्रीति रखे, विधिपूर्वक इनका सेवन करे और आदर सहित इन्हें अपने अन्तःकरण में स्थित करे। नित्यप्रति इनकी आज्ञानुसार चले, कि मोक्ष के प्रतिबन्धक अविवेक, राग, विषय-वासना, विषय-सेवन, कुसंग, लौकिक-प्रीति, लोभ, इन्द्रिय-विश्राम, धनाभिलाषा, स्त्री-चिंतन, लोक-लज्जा, सम्बन्ध-अधीनता, गृहस्थासक्ति, विषय-प्राप्ति निमित्त यत्न, अज्ञानी और व्यवहारी जनों के वचनों

Scanned with CamScanner

में श्रद्धा, विषय भोग, धन-संचय व्यवहार सिद्धि और गृहस्थ पालन में सावधानता आदि निवृत्त हों, कि निर्भय होकर मोक्ष-मार्ग पर चलकर ब्रह्मानन्द में मग्न हों। इसलिए पूर्वोक्त रीति से जिस प्रकार अपने मन को वश में कर विषय चिंतन यत्न और प्राप्ति से मुक्त रहे।

प्रश्न २४—मन ऐसी चंचल शक्ति है कि कुछ काल वैराग्य और उपरति में रहकर भी मोह और काम के अधीन हो जाता है। अपने बंधन का यत्न स्वयं करता है। इसका यह स्वभाव किस उपाय से निर्बल हो कि वैराग्य और उपरति स्थित रहे और गृहस्थी बंधन न पड़ें?

उत्तर—हे मोक्ष-मार्ग के जिज्ञासु! वैराग्य कठिन और यत्न से प्राप्त होता है। किसी को कदाचित स्वाभाविक प्राप्त हो जाता, उसे उसकी महिमा निश्चित नहीं होती। इससे मनोरचित मिथ्या मनोराज के अधीन होकर अपनी उपरति, असंगति, स्वच्छन्दता, स्वतन्त्रता, विरक्ति और संन्यास-अधिकार को त्यागकर गृहस्थरूप अंधे कूप में जान-बूझकर गिरना चाहता है। माता-पिता भी उपरति से ईर्षालु होकर उसे कूप में डालने का पुरुषार्थ करते हैं और चाहते हैं कि यह जिज्ञासु भी किसी तरह हमारी नाँईं अंधा होकर अंधे कूप का कछुआ या मच्छ हो और आयु-पर्यन्त कूप में ही स्थिर रहे। उपरत होकर सद्गुरु की सेवा और संगति का लाभ न उठावे। वह स्वतन्त्र होकर अपने बल, आयु और धन को अपने काम में न लावे किन्तु स्त्री-वासना के अधीन होकर पिशाच की नाँईं संसार रूप वन में भटकता रहे। गृहस्थरूप अंधे कूप में गोते खाता रहे। जिज्ञासु भी अज्ञान के अधीन होकर बंधन में बाँधने वाली प्रेरणा को यथार्थ और सुखदायक मान उसके अनुसार बरताव की इच्छा करता है। उनके वचनों के संस्कार से इसका मन काम चिंतन में प्रवृत्त हो जाता है। उन संस्कारों द्वारा स्वप्नावस्था में भी वीर्यपात हो जाता है। इससे उसकी इच्छा दृढ़ और परिपक्व हो जाती है। फिर महात्मा की आज्ञा के अनुसार भी नहीं चल सकता, क्योंकि उसका चित्त अतिशय चंचल हो जाता है। जिज्ञासा के नियमों को त्यागकर गृहस्थ-परायण हो जाता है। इससे बुद्धि मलिन हो जाती है, और वह उपदेश का अधिकारी भी नहीं रहता। कुसंग, धन-सेवन, युवावस्था-चतुराई और मूर्खता उसके वैराग्य, उपरति और बोध का नाश कर उसे मरकटवट् स्त्री-वासना का सेवक, काम का उपासक, माता-पिता के अधीन और मिथ्या शरीर की रक्षा का सहायक बनाते हैं। अविद्या महाबलवती है। प्रेमी भक्तों और उत्तम जिज्ञासुओं को भगवत्-प्रीति से विमुख कर स्त्री-प्रीति में ऐसा तत्पर और सावधान कर देती है कि निशिवासर स्त्री-चिन्तन, स्त्री-प्राप्ति-निमित्त यत्न, स्त्री-भोग-कामना उसका इष्ट हो जाता है। इसलिए अविद्या बड़ी हत्यारिन है। नवीन जिज्ञासुओं के हृदय में काम और मोह की उत्पत्ति कर उन्हें अपने अखाड़े का बंदर बनाती है और नचा-नचा कर अपनी रांद मचाती है। चुड़ैल की नाँईं कामरूप मुख पसार कर स्त्रीरूप जिह्वा से भोगरूप दांतों के तले उसका मर्दन करना चाहती है। इस अविद्या से रक्षा का उपाय केवल यही है कि युक्ति रूपी धनुष द्वारा यथार्थ वचनरूपी वाण से इसका देहाभिमान रूपी शीश छेदन कर ब्रह्म-विद्या रूपी धरती पर डाला जावे, कि वह मुक्त हो। इसलिए जिज्ञासु अज्ञानियों का संग-त्याग करे और ज्ञानियों का संग करे, उनके वचनों को हृदय में धारण करे कि अविद्या का

Scanned with CamScanner

नष्ट हो। इस रीति से विचार कर जब जिज्ञासु अपनी रक्षा आप करता है, तब गृहस्थ से उपरत होकर मन को विचार द्वारा वश में करता है। माता-पितादि सम्बन्धियों के वचनों को कूकर वचन के समान निश्चय कर भुला देता है और सदा सावधान रहता है। युवावस्था को विचार-पूर्वक व्यतीत कर वृद्धावस्था में आनन्द लेता है, जिससे काम बल भी निवृत हो जाता है। वस्तुत: इस जगत में विचार से ही अपनी रक्षा तथा स्वच्छन्द और स्वतन्त्र अवस्था प्राप्त होती है। इसलिए पुरुषार्थ करके मन का निरोध उचित है, जिज्ञासु इस उपदेश को श्रद्धा-पूर्वक विचार कर हृदय में स्थित करे।

प्रश्न २५—चिन्ता कैसे उत्पन्न होती है और निवृत्ति कैसे ?

उत्तर—चिन्ता की उत्पत्ति के निमित्त मोह, मान, लोभ, काम, भूत-स्मृत्ति, भविष्य-चिंतन और अज्ञान हैं। जिस पुरुष को चिन्ता से मुक्त होने की इच्छा हो, वह उपर्युक्त सात निमित्तों के त्याग करने का यत्न करे। जब तक कारण की निवृत्ति न हो, तब तक कार्य की निवृत्ति नहीं होती। इसलिए मोहादि के निवृति का यत्न चिन्ता की निवृति का यत्न है। वास्तव में चिन्ता का स्वरूप कोई नहीं। केवल चिन्ता के चिंतन का नाम ही चिन्ता है। अत: चिंतन तब होता है जब किसी पदार्थ में ममता, मोह व लोभ हो। जब सब से उदासीनता निर्भयता, वैराग्य और संतोष हो, चिन्ता नष्ट हो जाती है। अत: चिन्ता से मुक्त होने के लिए पूर्वोक्त सात निमित्तों को अत्यन्त दु:खदायक, कल्पित, निरर्थक, बंधन का मूल तथा चिन्ता का कारण निश्चय कर विस्मरण करे।

प्रश्न २६—अभ्यास के समय मन स्थित नहीं रहता। पदार्थों के चिंतन से अथवा विषयों की अभिलाषा से विक्षिप्त और चंचल हो जाता है। ऐसा कौन-सा उपाय है कि मन अभ्यास के समय स्थित रहे ?

उत्तर—अभ्यास ही मन की स्थिति का उपाय है। जैसे अभ्यास दृढ़ और दीर्घ होगा वैसे मन स्थित होता जाएगा। जैसे शरीर की निर्बलता अंगों के साधन से निवृत्त होती है, अर्थात् पुरुष बारम्बार अंगों को हिलाने-चलाने से पुष्ट बनता है, वैसे मन की निर्बलता रूप चंचलता और विक्षेप्ता मन के साधन से निवृत होती है। अर्थात् बारम्बार आत्मचिन्तन, आत्म-कथन, आत्मश्रवण, आत्म-मनन और आत्म-निदिध्यासन रूप अभ्यास के बल से मन स्थित हो जाता है। मन की स्थिति मन से होती है जब मन-मन की ओर सावधान रहे, तब मन को विषयादि के चिंतन का अवसर नहीं मिलता। जब मन आपको भूलता है, तब दूसरे अर्थात् इन्द्रियों के विषयों का चिंतन करता है। इसलिए मन को मन से सावधान रखें। भाव यह कि जिस अभ्यास, विचार, कर्म, व्यवहार अथवा ज्ञान में प्रवृत हो, मन को उसी के आकार रखें। उसे त्यागकर दूसरी ओर न जावें। मन की स्थिति का यह परम उपाय है। वास्तव में मन कोई वस्तु नहीं। जो वचन कानों के हृदय में प्रवेश करते हैं, उन वचनों का मनन ही मन है। जब किसी एक विशेष अभ्यास का मनन हो तो दूसरे वचनों को मनन स्वभावत: ही विस्मृत हो जाता है। यदि उस समय दूसरे वचनों के संस्कारों का भी मनन हो तो निश्चय करना चाहिए कि जिस अभ्यास में मन लगा है, उस अभ्यास का मनन यथार्थ-

Scanned with CamScanner

रीति से नहीं करता। यदि यथार्थ रीति से एक वचन का मनन करे, सब वचन विस्मरण हो जाते हैं। पदार्थ और विषय मन का आभास अर्थात् परछाईं हैं। जब पुरुष अपने शरीर को देखता है तो परछाईं भूल जाता है। जब अपने शरीर से दृष्टि उठाता है तब परछाईं सन्मुख प्रतीत होती है। ऐसे ही मन जब आप में आप रहता है, तब विषय और पदार्थ का चिंतन नहीं होता। जब आपको छोड़ देता है तब विषय और पदार्थ रूप परछाईं सन्मुख आ जाती है। इसलिए मन को मन से सावधान करना मन की स्थिति का परम उपाय है।

प्रश्न २७—मन की किस उपाय से रक्षा होती है ?

उत्तर—मन अतिशय चंचल है। इसका कोई भरोसा नहीं। एक क्षण में पर्वत के समान अचल होता है, दूसरे ही क्षण पवन की भांति चंचल हो जाता है। पांच इन्द्रियों के विषय इसके निरन्तर संगी रहते हैं। उनका स्वभाव मन को चंचल और अनस्थिर करने का है। इसलिए जिज्ञासु दूरदृष्टि को धारण कर मन की रक्षा करता रहे। विषयों के संग से मन को उपरत रखे और मन को अपने नीच संकल्पों से भी मुक्त रखे। दूसरे पुरुषों की संगति से भी असंग रहे। केवल सत्स्वरूप आत्मा में ही मगन रहे। जब इस प्रकार का अभ्यास परिपक्व होगा तब अवश्य कल्याण होगा।

प्रश्न २८—मन के विकारों से किस प्रकार मुक्ति प्राप्त हो ?

उत्तर—मन वास्तव में कोई वस्तु नहीं। जो कुछ इन्द्रियों से किया जाता है, उसकी मनौत ही मन है। अतः जब तक शरीर रहेगा, तब तक इन्द्रियां अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त रहेंगी और उसकी मनौत भी उदय होती रहेगी। इसलिए मन शरीर पर्यन्त चंचल रहेगा और इससे मुक्त होने का उपाय यही है कि आपको मन का साक्षी निश्चय करो। न मन की चंचलता के साथ मिल कर अपने को चंचल मानो न मन के राग द्वेष, हर्ष-शोक, भय दीनता पुण्य-पाप, सुख-दुःख, क्रोध, धैर्य, लोभ सन्तोष, मोह वैराग्यादि को अपना धर्म मानकर पीड़ा सहो। इन सब को मन से त्यागकर केवल सत्चिदानन्द आत्मा निश्चय कर सदा आप में आप स्थित रहो। दूसरे के धर्मों को अपने में धारण कर व्यर्थ क्लेश क्यों सहार रहे हो ? सावधान हो। सर्वदा आपको स्मरण रखो। तुम्हें मन के साथ क्या ? तुम मन से ऊपर केवल सत्तामात्र हो। अतः अपने वास्तविकस्वरूप के चिन्तन करने का अभ्यास करते रहो। इसके बिना इसके किसी उपाय से तुम्हें शान्ति प्राप्त नहीं होगी।

मन का स्वभाव है कि ज्यों इसे रोकें त्यों यह फुरता है। जब इसे त्यागकर आप में आप स्थित हो जावें, तब यह स्वाभाविक ही स्थित हो जाता है। इसलिए तुम मन का संग त्याग दो। केवल अपने से मित्रता रखो। यदि इस प्रकार न कर सको, जहाँ मन की वृत्ति जावे, वहाँ ब्रह्म को देखो। जब मन के प्रत्येक संकल्प पर तुम्हें ब्रह्म का चिन्तन और दर्शन होगा तब यही मन स्वयमेव ब्रह्म रूप हो जावेगा। जैसे कोयला अग्नि के संग से अग्निरूप हो जाता है वैसे ही मन ब्रह्मचिन्तन से ब्रह्मरूप हो जावेगा। इसलिए अभ्यास में पुरुषार्थ करो, कायर होकर घबराओ नहीं।

यदि उपर्युक्त रीतियों का अभ्यास न कर सको तो चलते, बैठते, जागते, सोते नाम

Scanned with CamScanner

का स्मरण करते रहो। नाम के बिना मन को दूसरी ओर न लगावो। हठ कर मन को व्यवहार चिंतन गृह-चिंतन और विषय-वासना से रोकते रहो। इस रीति से जो अभ्यास तुम्हें प्रिय प्रतीत हो, उसमें वृत्ति लगावो, कि तुम्हारे दुःख निवृत्त हों।

प्रश्न २९—अभ्यास के समय व्यवहार बारम्बार स्मरण आते हैं? इसका क्या कारण है? जब विचार से मन को एकाग्र किया जाता है, फिर भी संकल्प उठते रहते हैं। कृपा कर ऐसा साधन लिखें कि आत्मानन्द की प्राप्ति हो?

उत्तर—बहुत काल से मन जगत के व्यवहारों में प्रवृत चला आता है। अत्माभ्यास अल्पकाल से करने लगा है। इससे बहुत काल के अभ्यास को बारम्बार स्मरण करता है। जब आत्माभ्यास करते-करते कुछ समय व्यतीत होगा, तब आत्म अभ्यास जगत के अभ्यास पर प्रबल होकर मन को सहज ही एकाग्र कर लेगा। मन कोई पदार्थ नहीं। केवल पाँच इन्द्रियों के मार्ग से जो ज्ञान होता है, उनकी मनौत ही मन है। जब पाँच इन्द्रियों को आत्माभ्यास की ओर लगाया जावे, तब मन भी आत्मरूप होकर परमानन्द रूप हो जाता है। इसलिए हे जिज्ञासु! कानों से जो शब्द सुनाई देवे, सबका अर्थ आत्मा निश्चय करो, क्योंकि शब्द आकाश रूप है और ज्ञानरूप होकर प्रतीत होता है। नेत्रों से जो कुछ दिखाई दे, सबको आत्मा निश्चय करो, क्योंकि बाहर जो कुछ दृष्टिगोचर होता हैं, वह तुम्हारा ही प्रतिबिम्ब है। जैसे दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है वैसे ही आँखों के दर्पण में तुमको अपना प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होगा। नासिका से गंध आवे, उसको आत्म निश्चिय करो, क्योंकि गंध भी ज्ञान स्वरूप है और आत्मा भी ज्ञान रूप है। अतः गंधरूप ज्ञान को आत्मा में लीन करो। रसना से जो रस आता है, उसको भी आत्म निश्चय करो, क्योंकि रसरूप आत्मा है। आत्मा को छोड़कर आनन्द और रस किसी पदार्थ में नहीं। रस ज्ञानरूप है और ज्ञान से भिन्न रस का रूप कोई नहीं। अतः रस को आत्मा में लीन करो। त्वचा से जो स्पर्श होता है, उसको आत्म निश्चय करो, क्योंकि स्पर्श का स्वरूप केवल ज्ञान है और आत्मा भी ज्ञानरूप है। इसलिए स्पर्शरूप ज्ञान को आत्मा में लीन करो। जब पाँच इन्द्रियों के विषयों को आत्मा में लीन किया तो शेष मन कुछ नहीं रहता। मन में जो संकल्प उठें उनको भी आत्मा में लीन करो। अर्थात् विचार करो कि मन के उठने से भी प्रथम आत्मा है और मन के उपसम होने के उपरान्त भी आत्मा है। इसलिए मध्य में अर्थात् मन के स्फुरण के समय क्या हुआ? केवल आत्मा ही हुआ। मन तरंग है और आत्मा समुद्र है। जैसे नाना तरंग समुद्र में उत्पन्न और लीन होते हैं, परन्तु समुद्र से भिन्न नहीं। इस रीति से विचार करते हुए शान्त अवस्था प्राप्त होती है। इसी प्रकार अभ्यास करते रहो, जिससे मध्यवर्ती संशय निवृत्त होकर नित्य प्राप्त रूप आत्मानन्द प्राप्तरूप प्रतीत हो।

प्रश्न ३०—हे भगवन्! जब मैं एकान्त में बैठता हूँ, तब मन अल्पकाल के लिए विश्राम करता है। इसके उपरान्त एकान्त से उदास होकर पुनः संकल्प विकल्प उठाता है। हे महाराज! आप पूर्ण सद्गुरु और सर्वज्ञ हैं, संसार रूपी समुद्र के पार उतारने का जहाज हैं। कृपा कर कोई ऐसी युक्ति समझाइए, जिससे बहुत काल एकान्त में विश्राम से व्यतीत

Scanned with CamScanner

हो और मन भी निर्विकल्प रहे ?

उत्तर—हे शिष्य ! मन का धर्म संकल्प और विकल्प है। जागृत और स्वप्नावस्था में यह अपने धर्म में प्रवृत्त रहता है केवल सुषुप्ति अवस्था में संकल्प विकल्प सहित मन अपने कारण-अज्ञान में लीन हो जाता है। इस रीति से प्रवाह रूप मन प्रवृत और निवृत अर्थात् विक्षिप्त और उपसम होकर जगत की चेष्टा चला रहा है। जाग्रत अवस्था में भी उच्चारण, विचार, सत्संग, व्यवहार, विषय, खेलादि से अल्पकाल अपनी चंचलता से रहित होकर स्थित हो जाता है, परन्तु सर्वदा स्थिर नहीं रह सकता, क्योंकि मन का सम्बन्ध पाँच इन्द्रियों के साथ है। पाँच इन्द्रियों का सम्बन्ध पाँच विषयों के साथ है। पाँच विषयों का सम्बन्ध पाँच तत्वों के साथ है और पाँच तत्वों का सम्बन्ध ब्रह्मांड और विराट स्वरूप है। इसलिए मनकासंबंध विराट् के साथ है। सम्बन्ध क्या, किन्तु विराट रूप है।जैसे बीज वृक्षरूप है मन वैसे हीविराट्रूप है। इसकी संकल्प विकल्परूप शक्ति विराट् के सब कर्मों, स्वभावों, धर्मों ज्ञानों, वासनाओं और यत्नों का प्रवर्तक और साधक है। अतः यह मन नहीं किन्तु विशेष चेतन है। सामान्य चेतन की सर्वशक्तियाँ मन द्वारा प्रकट होकर ब्रह्मांड अथवा विराट् का अखाड़ा लगा रही हैं। इसलिए यह मन महत् और पूर्ण वस्तु है। ऐसी महत् और पूर्ण वस्तु का वश करना असम्भव है। इसलिए बुद्धिमान जिज्ञासु मन के संकल्प विकल्प में ब्रह्म का दर्शन करते हैं। तात्पर्य यह कि जहाँ मन की वृत्ति जाती है, वहाँ ब्रह्म ही ब्रह्म देखते हैं। ब्रह्म से भिन्न दूसरी द्वैत वस्तु नहीं देखते। ब्रह्मज्ञानी का फुरना भी समाधि है और जगत ज्ञानी की समाधि भी फुरना रूप है। इसलिए हे शिष्य ! एकान्त देश में जब मन संकल्प उठावे तब पूर्वोक्त युक्ति अनुसार जहाँ मन का फुरना जावे, वहाँ ब्रह्म ही देखो। प्रथम, मन को ब्रह्म अर्थात् पूर्ण निश्चय करो। द्वितीय, फुरने को पूर्ण निश्चय करो। तृतीय, जगत को ब्रह्म अर्थात् पूर्ण निश्चिय करो। जब एक ही ब्रह्म त्रिपुटीरूप अर्थात् मन, फुरना और जगत हुआ तब स्फुरण और अस्फुरण का विकल्प निवृत्त हो जाता है यत्र-तत्र एक ही अद्वैत वस्तु प्रतीत और दृष्टिगोचर होती है। इस रीति से अभ्यास करने वाले पुरुष का मन सर्वदा ब्रह्माकार रहता है, जिसका फल निर्विकल्पता, शांति, मुदता, तृप्ति, कृतकृत्यता, और स्थिति होती है। इसलिए तुम इस रीति से अभ्यास करते रहो, जिससे तुम्हारी मन ब्रह्मरूप हो जावे।

प्रश्न १३—

॥ चौपाई ॥

भगवन् ! मन कैसे वश आवे, देह चितवन सकल भुलावे !
कैसे आतम राम धियावे, स्वस्थ होय ब्रह्मानन्द पावे ?

उत्तर—

॥ चौपाई ॥

निशिदिन अपने कर्म विचारो, उत्तम धारो नीच निकारो।
काम क्रोध हंकार निवारो, क्षमा गरीबी धीरज धारो ॥ १ ॥

Scanned with CamScanner

निर्मल गुरु उपदेश कमावो, ताप क्लेश विकार मिटावो।
निशिदिन सिमरो ओंकारा, सहजे लीन होय संसारा ॥ २ ॥
क्षण-क्षण सद्गुरु के गुण गावो, लोक लाज से चित्त छुड़ावो।
धार विवेक असार तियागो, सत्य वस्तु सों मन अनुरागो ॥ ३ ॥
भौतिक देह असार पछानो, भूत बिना आतम सत् मानो।
क्षण-क्षण देह हंकार भुलावो, सत्य आत्मा में मन लावो। ४ ॥
यत्न करो इस मन को रोधो, होय एकागर आतम सोधो।
सावधान आतम वीचारो, सकल अनातम भाव विसारो ॥ ५ ॥
ना कहीं आवो, ना कहीं जावो, बैठ एकांत में ध्यान लगांवो।
अपनी वाणी वश कर राखो, मौन होय आतम रस चाखो ॥ ६ ॥
दुःखदायक संकल्प पछानो, त्याग तांही केवल सुख मानो।
जब चित्त चितवे देह की वाता, उसी समय रोधो चित ताता ॥ ७ ॥
देह असत्य मलीन विनाशी, आतमसार सदा अविनाशी।
पाँच कोष से न्यारा जानो, अपना रूप आतमा मानो ॥ ८ ॥
आतम तीरथ क्षण-क्षण न्हावो, तप्त हिये की सकल मिटावो।
सत् स्वरूप हिरदय में धारो, अवर मनोरथ सकल विसारो ॥ ९ ॥
इस्थित प्रज्ञ रहो रस भीने, निज आतम में निज तृप्तीने।
इस विधि आतम राम धियावो, **हेमराज** ब्रह्मानन्द पावो ॥ १० ॥

॥ भजन ॥ (१)

साधो मन चंचल वश कीजे।
विषयन में मन भटके निशदिन, इन्द्रिय रोक रखीजे ॥ १ ॥
भूत भविष्यत चिंतन मांही, समय न विरथा गंवीजे ॥ २ ॥
सर्व काज कल्पित निश्चय कर, कभी न क्षोभ धरीजे ॥ ३ ॥
मोह अरु ममता त्यागो सिगरी, मन का मान मिटीजे ॥ ४ ॥
वर्णाश्रम अरु धन अभिमाना, त्याग शांति-रस पीजे ॥ ५ ॥
बहुता धंधा संग घनेरा, चिन्ता मूल लहीजे ॥ ६ ॥
मन हो पुष्ट वासना करके, वासन नित्त घटीजे ॥ ७ ॥
भेद दृष्टि है मूल चपलता, इक चिद्घन दर्शीजे ॥ ८ ॥
आतम चिन्तन आतम दर्शन, से मन निश्चल कीजे ॥ ९ ॥
चिद्सागर में मन तरंग है, सहज कलोल करीजे ॥१०॥
ब्रह्मभूत मन करके **हेमां**, मन का भाव मिटीजे ॥ ११ ॥

॥ भजन ॥ (२)

साधो वासना घटावो।
दुःख का मूल वासना जानो, त्याग तांहि सुख पावो ॥ १ ॥

Scanned with CamScanner

महिमा अरु यश की आशा से, वृथा न क्लेश उठावो ॥ २ ॥
देह मलिन क्षणभंगुर कारण, क्यों चित्त को भटकावो ॥ ३ ॥
व्यभिचारी बुद्धि अरु तन है, शास्त्र-वासना डारो ॥ ४ ॥
बिना वासना नहिं कोई बंधन, बलकर तांहि हटावो ॥ ५ ॥
मुख्याहार वासना जानो, मन नहीं पुष्ट बनावो ॥ ६ ॥
नभ के फूल जगत की वस्तु, मन में तांही न लावो ॥ ७ ॥
सुपने की सामग्री पीछे, मन काहे दौड़ावो ॥ ८ ॥
चित्त तपावे निशदिन वासन, यह अग्नी विसमावो ॥ ९ ॥
मिटे वासना सगरी **हेमां**, निश्चिय ब्रह्म समावो ॥१०॥

॥ भजन ॥ (३)

साधो ममता मोह मिटाय।
जिस वस्तु में ममता तेरी, सोई चित्त दुःखाय ॥ १ ॥
जां में तेरा मोह बढ़े सो, चिन्ता शोक दिखाय ॥ २ ॥
सर्व पदारथ जग के नाशी, काहे चित्त फँसाय ॥ ३ ॥
मिथ्या कल्पित वस्तु कारण, वृथा न मन कल्पाय ॥ ४ ॥
नाम रूप हैं सर्व पदारथ, इनसे चित्त हटाय ॥ ५ ॥
धाय-धाय जड़ वस्तु पीछे, काहे फिर पछताय ॥ ६ ॥
किसी वस्तु से तृप्ति न होगी, वृथा न मोह लगाय ॥ ७ ॥
हैं असंग बाहर सब वस्तु क्या तूं ममता बनाय ॥ ८ ॥
नित संगी तेरा है चिद्घन, तांकों क्षण क्षण ध्याय ॥ ९ ॥
मैं मेरी सब नाशे **हेमां**, निश्चल पद को पाय ॥ १० ॥

॥ भजन ॥ (४)

साधो भावी भूत विसारो।
भावी भूत रखें चित चंचल, इनसे वृत्ति निकारो ॥ १ ॥
जो गुजरी सो फेर न आवे, काहे ताँहि चितारो ॥ २ ॥
आगे का कुछ नांहीं भरोसा, तिंह चिन्ता क्यों धारो ॥ ३ ॥
भूत भविष्यत कल्पित मिथ्या, वर्तमान सत सारो ॥ ४ ॥
वर्तमान बिन सिद्ध न हो कुछ, भावी भूत असारो ॥ ५ ॥
वर्तमान में चित पावन कर, सहित विचार गुंजारो ॥ ६ ॥
भूत भविष्यत है संसारा, वर्तमान कर्तारो ॥ ७ ॥
वर्तमान में चित इस्थित कर, चिन्ता शोक निवारो ॥ ८ ॥
उत्तम युक्ति मन वश करने की है यही प्यारो ॥ ९ ॥
भावी भूत मिटे जब **हेमां**, तब ही राम अपारो ॥१०॥

Scanned with CamScanner

॥ भजन ॥ (५)

तज नाशक्रेत हंकारा।
बड़े-बड़े राजा अरु सूरा, कीए दीन खुआरा ॥ १ ॥
रावण दुर्योधन हरनाक्षस जरासिंध को मारा ॥ २ ॥
अपना चित्त तपावे नित ही, हंकारी मत मारा ॥ ३ ॥
जग की नाशी वस्तु पर है तेरा मान असारा ॥ ४ ॥
क्षणभंगुर देह मलीन ऊपर, वृथा गुमान तुम्हारा ॥ ५ ॥
अभिमानी का विपत काल में, कोई न होय सहारा ॥ ६ ॥
भाता नहीं किसी को मानी, भ्रष्ट गिने संसारा ॥ ७ ॥
ब्रह्मा चीटी एको रमया, बूझे नहीं गँवारा ॥ ८ ॥
सबका चित्त दुखावे मानी, पापन का बनजारा ॥ ९ ॥
संतन का दोषी अभिमानी, नहीं माने कर्तारा ॥ १० ॥
आप समान कोई नहिं जाने, मनमुख काल विसारा ॥ ११ ॥
धन को पाप मूढ़ अकड़ाना, भूलयो हरि दातारा ॥ १२ ॥
नाम जात कुल कल्पित सारे, गर्व इन पर क्यों धारा ॥ १३ ॥
बल तेरा मलरूप विनाशी, क्यों इस पर मतवारा ॥ १४ ॥
विद्या का अभिमान उचित नहिं, बुद्धि नाशी स्वीकारा ॥ १५ ॥
सकल नेत मर्याद सिखावे, रहो अमान पियारा ॥ १६ ॥
हेमराज पूरण पद पाया, मन का मान निवारा ॥ १७ ॥

॥ भजन ॥ (६)

प्राणी, मन अपने को सुधारो।
शयन समय अपने गुण अबगुण, नित प्रति बैठ विचारो ॥ १ ॥
पश्चाताप करो अवगुण पर, मन को करो धिकारो ॥ २ ॥
सद्गुरु की नित किरपा मांगो, नित रहो शुभ आचारो ॥ ३ ॥
सोचे बिन नहिं कर्म करो कोई, यही प्रतिज्ञा धारो ॥ ४ ॥
शुभ संकल्प उठावो नित ही फुरना मलिन निकारो ॥ ५ ॥
समयानुकूल उठावो फुरना व्यर्थ न चित्त पसारो ॥ ६ ॥
नाशवंत देह जड़ वस्तुन में, मूल ममत्व न धारो ॥ ७ ॥
दुर्जन संग तजो निशवासर, सत्संगत रख प्यारो ॥ ८ ॥
सत्संगति में नितप्रति जावो, उत्तम शास्त्र विचारो ॥ ९ ॥
क्षोभ उद्वेग तपनता भय को, मन से सकल निवारो ॥ १० ॥
नामरूप की कलना त्यागो, पूरण ब्रह्म निहारो ॥ ११ ॥
आतम मनन निदिध्यासन कर देह भावना जारो ॥ १२ ॥
हेमराज जब मन हुआ शुद्ध, सत्चित् आनन्द सारो ॥१३ ॥

Scanned with CamScanner

॥ भजन ॥ (७)

सब दुःख हो निवारण, मन को सुधार प्यारे।
सुख शान्ति होवें उत्पन, मन को सुधार प्यारे॥ १॥
इन्द्रिय विषय से रोको, दूषण विषय के सोचो।
कर ना विषय का चिंतन मन को सुधार प्यारे॥ २॥
अभिमान तजो हे प्राणी, यह है कलेश खानी।
हंगता ने मारा रावण, मन को सुधार प्यारे॥ ३॥
नहीं कोई वस्तू तेरी, ममता है दुःख ढेरी।
कर ईश सब कुछ अरपण, मन को सुधार प्यारे॥ ४॥
गुज़रा हुआ ज़माना, कभी हाथ नाहीं आना।
कर भूत का भुलावा, मन को सुधार प्यारे॥ ५॥
दम का दमामा होकर, आगे की चिन्ता मत कर।
दृग् भावी का है चिन्तन, मन को सुधार प्यारे॥ ६॥
नाशी समाज जग का, विरथा विरोध ईषा।
रख प्रेम नित्य सज्जन, मन को सुधार प्यारे॥ ७॥
है पाप मूल तृष्णा, फंदे न इसके फँसना।
इसको करो विदारन, मन को सुधार प्यारे॥ ८॥
कामी का चित्त चंचल, बुधि नष्ट देह निरबल।
जत रख अमर अजित बन, मन को सुधार प्यारे॥ ९॥
कभी क्रोध में न आवो, मत आपको तपावो।
सब क्रोध में हैं दूषण, मन को सुधार प्यारे॥१०॥
व्यवहार राखो साँचा, रहे पत्त और अभयता।
तप से यह है शिरोमण; मन को सुधार प्यारे॥११॥
देह भावना मिटा दे, संशय भरम जला दे।
तू आत्मा है चिद्घन, मन को सुधार प्यारे॥१२॥
सब द्वैत भेद नाशें, सब ओर ब्रह्म भासें।
हेमां यही निवेदन, मन को सुधार प्यारे॥१३॥

॥ भजन ॥ (८)

मुझे लाज नहीं मन आवे है॥
कितना मुझे दीन बनावे है॥
वृक्षों की कराई कभी पूजा, मुर्दों का कराया कभी सिजदा।
पथरों पे टिकाया कभी माथा, नदियों पर कभी रुलावे है॥ १॥
कभी तारों से हूँ भय करता, कभी मक्के रामेश्वर फिरता।
बिन देखे भूतों से डरता, मुझे बुद्धू बना भरमावे है॥ २॥
किया सोन-चाँदी पे गंदा मुझे, किया देह मलिन का बंदा मुझे।
यह सुत दारा का फंदा मुझे, विषयों से क्षीण करावे है॥ ३॥

Scanned with CamScanner

विषयों ने लहु पीती सारी, मत काम क्रोध ने मारी है।
तृष्णा दीनी दरदर खुआरी, हंमम से मुझे मरावे है॥ ४॥
मन आतम तेरा आधारा, आतम बिन तूं है नाकारा।
नित आतमरूप रहो प्यारा, यों सब प्रीतम हो सुहावे हैं॥ ५॥
मन तू तरंग आतम सागर, तू नयना आतम सूरज है।
तू सत्चित् आनन्द निश्चय कर, हेमां सब दुःख मिट जावे है॥ ६॥

॥ भजन ॥ (९)

मन को दूषित जग करता है, चिद्रूप यह कर्त्ता भरता है॥ १॥
यह अर्थी वन विवहार करे, यही गृहस्थी हो के फँसता है॥ २॥
यही धर्मी होके सुधार करे, यह ज्ञानी मुक्त अलिपता है॥ ३॥
यह हाकिम होकर न्याय करे, यह सद्गुरु का उपदेष्टा है॥ ४॥
यह वैद्य बना रोगों को हरे, यह शास्त्र भिन्न-भिन्न कर्त्ता है॥ ५॥
यह मात पिता उत्पादक है यह हुनर शिल्प का स्रष्टा है॥ ६॥
यह प्राणापान को रोके है, यह तप से सिद्धि पावे है॥ ७॥
ईश्वर चेतनता चंचलता, मन सरूप में धरता है॥ ८॥
शोभा जग की विस्तार सकल, मन का ही खेल औ परचा है॥ ९॥
मन रंक बने राजा है यही, मन से मन ध्यान को धरता है॥१०॥
मन ही पापी मन पुण्यी है, मन जन्म मरण भ्रम करता है॥११॥
मन में है जीव कल्पना मन, मन ब्रह्म भाव को धरता है॥१२॥
मन माने आपको बंधन में, मन भवसागर से तरता है॥१३॥
मन ज्ञानी मन अज्ञानी है, मन मूरख मन बुधिमत्ता है॥१४॥
मन का सरूप हेमां जाने, सो भरम से पार उतरता है॥१५॥

॥ भजन ॥ (१०)

मन राखो आतमकार॥
सर्व विकार भेद उपजावे, द्वैत का मूल उखाड़॥ १॥
सत्चित् आनन्द आतम एको, नहीं कोई संसार॥ २॥
नाम रूप शब्दारथ सब ही, अस्ति रूप है सार॥ ३॥
जहँ-जहँ मन का फुरना जावे, अनुभवमात्र निहार॥ ४॥
पंच तत्व पूरण परमेश्वर, आतमरूप अपार॥ ५॥
मन तरंग है ब्रह्म सागर का, ब्रह्म रवि मन किरणार॥ ६॥
मन है स्फुरण शक्ति ब्रह्म की, इसके भय को डार॥ ७॥
रात प्रात सत्चित् आनन्द का, मन में निश्चय धार॥ ८॥
देह भावना मूल न चितवो, आतम तत्व विचार॥ ९॥
निध्यासन से मन हो हेमां, सत्चित् आनन्द सार॥१०॥

॥ इति श्री पञ्चम सिद्धान्त समाप्तम् ॥

Scanned with CamScanner

★ उपासना सिद्धान्त ★

: ६ :

प्रश्न १—

॥ चौपाई ॥

भक्ति योग की क्या है रीति, कैसे उपजे तामें प्रीति।
कैसे चित्त विक्षेप मिटाइये, परमातम का दर्शन पाइये ?

उत्तर—

॥ चौपाई ॥

प्रेम भरे रस माते सद ही, गावो गोविन्द गुण गद्‌गद् ही।
निशिवासर हरि नाम चितारो, धन दारा सुत प्रीत विसारो ॥ १ ॥
कीर्तन गाथा में चित लावो, सुन-सुन मन का प्रेम बढ़ावो।
सुने वचन पुन-पुन वीचारो, सिमरन मनन हृदय में धारो ॥ २ ॥
देश एकान्त लगावो ध्याना, शनैः-शनै प्रगटे रवि ज्ञाना।
इस विधि **हेमां** प्रेम लगावो, परमातम का दर्शन पावो ॥ ३ ॥
मनोराज संसार स्वरूपा, महा अनर्थ महा तम कूपा।
अज्ञानी डूबे जिस माँही, मरण पर्यन्त ठौर नहिं पाई ॥ ४ ॥
ताँते मन का वेग निवारो, सम दम संयम कर मन मारो।
सहजे दूर होय संसारा, **हेमां** पावो हरि दीदारा ॥ ५ ॥
जब लग मनोराज नहिं नासे, तब लग परमातम नहिं भासे।
यत्न करो फुरने को त्यागो, आतम रस में निशिदिन पागो ॥ ६ ॥
चित विक्षेप सम दुःख नहिं जानो, मिटे विक्षेप यही सुख मानो।
ज्यों-त्यों दुःख का मूल नसावे, **हेमां** अविनाशी सुख पावे ॥ ७ ॥

प्रश्न २—उपासना क्या है ?

उत्तर—अन्तःकरण की वृत्तियों की एकाग्रता के साधन का नाम उपासना है। वृत्ति गुण-भेद से तीन प्रकार की होती है। सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी। रजोगुणी और तमोगुणी वृत्ति को त्यागकर केवल सतोगुणी वृत्ति में बरतना धर्मरूप उपासना है।

प्रश्न ३—ओम् का स्मरण और चिन्तन श्रेष्ठ है या सोहम् का ?

उत्तर—वास्तव में ओम् और सोहम् एकरूप हैं। दोनों का तात्पर्य एक है। इनके

Scanned with CamScanner

स्मरण और चिन्तन का प्रयोजन केवल मन की एकाग्रता है। जो प्रेय प्रतीत हो, अथवा जिसका सद्गुरु उपदेश करें, उसे प्रेम, सावधानता और श्रद्धा सहित स्मरण करने से वांछित फल-मन एकाग्रता प्राप्त होती है, परन्तु दोनों के स्मरण करने से चित्त स्थिर नहीं होता। इसलिए एक पर निश्चय दृढ़ कर वृत्ति को उसके साथ जोड़ना उचित है। मन की स्थिरता का यही परम उपाय है। अतः जिज्ञासु नित्य-प्रति अभ्यास में सावधान रहे, स्वरूप-चिन्तन के बिना संकल्प न उठावे और सदा आनन्दरूप रहकर सद्गुरु की जयजयकार बुलावे।

प्रश्न ४—ओंकार के उच्चारण की युक्ति क्या है ?

उत्तर—सत्य स्नेही के लिए एकान्त देश में जहाँ पृथ्वी सीधी हो, उस पर कोमल वस्त्र बिछाकर जिस आसन द्वारा सुख और शान्ति से बैठ सके, बैठे। ग्रीवा को सीधा रखे। दोनों हाथों को मिलाकर नाभि के आगे रखे अथवा दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर रखे। नेत्र मूँद लेवे, कानों को शब्द-श्रवण से रोके। तात्पर्य यह कि किसी निर्जन देश में बैठे हुए उसे यदि शब्द सुनाई दे, तो कानों में रुई दे देवे। मन को भूत-स्मृति और भविष्य चिन्ता से उपसम करे। जब इस रीति से सावधान होकर बैठे तब प्रथम कई दिवस ओंकार का उच्चारण धीरे-धीरे वैखरी रूप वाणी से करे। जब वैखरी परिपक्व हो जावे तब वैखरी से अभ्यास करता रहे। उसके उपरान्त उलटकर मध्यमा वाणी के आसरे कंठ से उच्चारण करे। कई दिवस पर्यन्त इस रीति से रूप वाणी द्वारा हृदय में उच्चारण करे। जैसे मन में फुरना उत्पन्न होता है वैसे ही निरन्तर ओंकार फुरता रहे। तात्पर्य यह कि मन और ओंकार उभय एक रूप हो जावें। इस प्रकार जब पश्यन्ती में परिपक्व हो जावे तब उच्चारण की समाप्ति है। फिर पुरुष ओंकार के अर्थ विचार करने का अधिकारी है और ओंकार के अर्थ से ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है। अतः मुमुक्षु पूर्वोक्त रीति से अभ्यास में प्रवृत्त होकर अन्तःकरण की शुद्धि और ज्ञान-अधिकार का लाभ उठावे।

प्रश्न ५—ओंकार स्मरण करने पर गायत्री मंत्र स्मरण करना आवश्यक है?

उत्तर—यदि जिज्ञासु नित्य प्रति एकाग्र होकर ओंकार का स्मरण करे, गायत्री मंत्र की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि गायत्री मंत्र में केवल ओंकार की महिमा और स्तुति निरूपित है और ओंकार ऐसा मंत्र है जिसमें चार वेद, षड्शास्त्र और अठारह पुराणों का तात्पर्य प्राप्त होता है। उसका स्मरण करना सब मंत्रों, श्रुतियों, स्मृतियों, पुण्यपाठों और शास्त्रों का स्मरण करना है। इसलिए प्रीतवान केवल ओंकार के स्मरण पर संतुष्ट होकर नित्यप्रति वृत्ति की एकाग्रता का लाभ उठाता रहे। प्रेम और श्रद्धा से अभ्यास को अधिक और दृढ़ कर अपनी जिज्ञासा को पावन और उत्कृष्ट बनाता रहे।

प्रश्न ६—ओंकार अक्षरों का ध्यान करना चाहिए या केवल स्मरण ?

उत्तर—प्रथम ओंकार का स्मरण करना चाहिए। जब स्मरण परिपक्व हो जाये ओंकार का ध्यान करे। ध्यान अर्थों के विचार से प्राप्त होता है, इसलिए जिज्ञासु अर्थ-विचार से ओंकार की मात्रा का ध्यान करे। जब मात्रा का ध्यान परिपक्व हो जावे, तब 'अ' मात्रा में स्थित होकर शांति पावे। भाव यह है कि प्रथम ओम् के 'अ' अक्षर का ध्यान

Scanned with CamScanner

अर्थात् विराट का ध्यान करे। जब विराट का ध्यान परिपक्व हो जावे, फिर 'उ' का ध्यान अर्थात् सूक्ष्म सृष्टि-अभिमानी हिरण्यगर्भ का ध्यान करे। जब यह ध्यान परिपक्व हो तब 'म' का ध्यान अर्थात् कारण अभिमानी ईश्वर का ध्यान करे। जब ध्यान परिपक्व हो जावे तीनों के समन्वय प्रकाशक साक्षी रूप का ध्यान करे। जब यह ध्यान परिपक्व हो जावे, तब शांतिवान होकर स्थित रहे और वही साक्षी अपना स्वरूप जाने। इस प्रकार सदा आपको साक्षी रूप निश्चय कर प्रसन्नचित्त और नित्य तृप्त रहे।

प्रश्न ७—प्रणव को प्राणों द्वारा जपना चाहिए अथवा केवल ध्यान करना चाहिए? जिस अभ्यास से आनन्द और अनुभव शीघ्र हो, वही अभ्यास आप कृपया बताएँ।

उत्तर—प्रणव को अपनी वृत्ति के साथ मिलाकर फुरने की नाँई स्मरण करें। अर्थात् जैसे फुरना उठता है वैसे ही ओंकार की आकार वृत्ति रहे, वृत्ति जब ओंकार के आकार हुई और सब नाम प्रपंच उसे भूला तभी स्वाभाविक आनन्द होगा। क्योंकि आनन्द एकाग्रता में है एकाग्रता तब होती है, जब वृति एक वस्तु के आकार हो जावे। जब वृत्ति ओंकार के आकार हुई, तब अवश्य ही आनन्द उदय होगा। इस रीति से जब वृति ओंकार के आकार हो जावे तब ओंकार के अर्थों का विचार करें। इस प्रकार ओंकार में साढ़े तीन मात्राएँ हैं। एक अकार, दूसरा उकार, तीसरा मकार और आधी मात्रा जिसको अर्ध-बिन्दु कहते हैं। इनके अर्थ यह हैं, अकार का अर्थ स्थूल, उकार का अर्थ सूक्ष्म, मकार का अर्थ कारण और अमात्रा का अर्थ साक्षी। अब इनका विवेचन करें कि इनमें सत्य क्या और असत्य क्या है। अकार, उकार व मकार असत्य हैं और अमात्र सत्य है। अतः जिज्ञासु को योग्य है कि अकार, उकार व मकार को मिथ्या और कल्पित जानकर अमात्र व अर्ध बिन्दु में वृत्ति को लीन करे। उस अर्ध मात्रा को जो केवल ध्यान गम्य है, अपना आप निश्चय करे। फिर ओंकार को विस्मरण कर केवल ज्ञानमात्र होकर स्थित रहें। अपने को सब कल्पना से रहित अचल और कूटस्थ करें। जब इस रीति से आकार के अर्थों का विचार कर अर्धमात्रा रूप-आत्मा में स्थिति पावेगा, तब आत्मा का अनुभव उदय होगा। इसलिए उभय युक्तियों का अर्थात् वृति को ओंकार के आकार करने का और ओंकार के अर्थ विचार करने का अभ्यास करे जिससे आनन्द और अनुभव समकाल उदय हों।

प्रश्न ८—शरीर आत्मा के रहने का मंदिर है। मंदिर में भिन्न-भिन्न स्थान होते हैं। जहाँ प्रणव के द्वारा आत्मा का ध्यान किया जाये वह देश नाभि है या हृदय है? कण्ठ है या त्रिकुटि अथवा ब्रह्मरंध्र है? कृपया इसके निज देश या निरूपण करें?

उत्तर—आत्मा सारे शरीर में व्यापक है। शिखा के अग्रभाग से पाद नख के अग्रभाग तक यह चेतन पूर्ण है। इसका प्रकाश रोम-रोम में है। वही आत्मा है, क्योंकि यह निराकार है। उससे इसका कोई निज देश स्थापित नहीं किया जा सकता। यदि आत्मा को अणु परिमाणु अत्यन्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म माने तो सारे शरीर में आत्मा का ज्ञान न होना चाहिए। आत्मा का ज्ञान सारे शरीर में होता है, इस लिए आत्मा अणु परिमाणु नहीं। यदि आत्मा को मध्यम प्रमाण मानें अर्थात् जितना शरीर हो उतनी आत्मा मानें, तो भी नहीं बन सकता, क्योंकि

Scanned with CamScanner

इससे आत्मा के स्वरूप में भेद सिद्ध होगा। पिपीलिका के शरीर में आत्मा पिपीलिका के समान होगा और हस्ती शरीरमें हस्ती के समान होगा। आत्मा निराकार है उसमें शरीरोंके समान आकार माना यथार्थ ज्ञान के विरुद्ध है। इसलिये आत्मा मध्यम प्रमाण भी नहीं। इन दोनों प्रमाणों से रहित आत्मा विभु है अर्थात् व्यापक है। ऐसे व्यापक आत्मा का कौनसा स्थान माना जाये और फिर वह आत्मा अपना आप है। आपके बिना आत्मा का स्वरूप नहीं। अपना आप ही मानो आत्मा हो। अपने-आपको भूलकर अपना देश कहाँ ढूंढना चाहते हो ? अपने आपका ज्ञान और सत्ता ही आत्मा का देश है। आपको केवल ज्ञानमात्र, निर्विकार, कूटस्थ, निश्चय करना ही आत्मा का सबसे उत्तम ध्यान है। यदि इस रीति से वृत्ति न ठहर सके तो हृदय में ध्यान कर प्रणव के आसरे चित्त की वृत्ति को एकाग्र करे। यदि आत्म-स्थिति के जिज्ञासु हों तो शरीर को पंच-भौतिक जानकर आपसे भिन्न समझे। नाभि, हृदय, कंठ, त्रिकुटी, ब्रह्मरंध्र को भी शरीर के अंग मानकर अपने से भिन्न निश्चय करे। इस प्रकार इन सबसे रहित होकर वृत्ति को प्रणव के ध्यान में लगावे। जब वृत्ति और प्रणव एक हो जावें, तब जो शान्त अवस्था अनुभव हो उसे अपना निश्चय करें। यही निज देश आत्मा के ध्यान का है।

प्रश्न ९—ओंकार की उपासना के समय जिज्ञासु को किस आसन पर बैठना चाहिए?

उत्तर—ओंकार की उपासना के समय जिज्ञासु जिस आसन पर सुख से बैठ सके, बैठे। इसके लिये कोई विशेष आसन वांछित नहीं, केवल मन की एकाग्रता और अंगों को स्थिर व एकत्र रखना वांछित है।

प्रश्न १०—स्मरण माला द्वारा करना चाहिए अथवा माला के बिना ?

उत्तर—माला फेरने का स्वभाव हो माला से अन्यथा मन से स्मरण करें।

प्रश्न ११—यदि रोग या निर्बलता से पृथ्वी पर न बैठ सकें खाट पर उपासना ठीक है?

उत्तर—यदि रोग या निर्बलता से खाट का त्याग न कर सकें और धरती पर भी न बैठ सकें तो खाट पर बैठे-बैठे वा लेटे ही उपासना करें। उपासना केवल मन का कर्म है, इसलिए उचित है कि मन उस समय खाट से नीचे हो। खाट से तात्पर्य शरीर है अर्थात् दो भुजाएँ, या दो टाँगें, चार पाये हैं। पीठ खाट का ऊपर का भाग है। अतः मन को इस शरीर के अभिमान से रहित कर उपासना करे। शरीर जहाँ सुख सहित बैठ सके, बैठें।

प्रश्न १२—यदि किसी रोग से स्नान न हो सके तो अभ्यास करना उचित है या नहीं ?

उत्तर—स्नान दो प्रकार का है। एक बहिरंग, द्वितीय अन्तरंग। बहिरंग स्नान से केवल स्थूल शरीर शुद्ध होता है और अन्तरंग स्नान से अन्तःकरण शुद्ध होता है। बहिरंग स्नान जल से होता है और अन्तरंग स्नान विचार से। भाव यह कि विचार द्वारा सब मलिन स्वभावों का त्याग कर उत्तम स्वभावों में बरतना। देहाभिमान, स्त्री, पुत्र व धन प्रीति, लोक लज्जा, कुल लज्जा, वेद लज्जा, भूत-स्मृति और, भविष्य चिन्ता को बिलकुल ही हृदय से निवृत्त करना, इस रीति से अन्तःकरण को शुद्ध करके अभ्यास करने से परमानन्द की प्राप्ति और सर्व दुःख की निवृत्ति होती है। यदि शरीर में दुःख हो तो बहिरंग स्नान न करे, केवल अन्तरंग

Scanned with CamScanner

स्नान करे। भाव यह कि आपको शरीर से भिन्न निश्चय करें और शरीर के दुःख-सुख में समान रहें। शरीर का अभिमान न करें। ऐसा विचार रूप पावन स्नान कर आत्म-अभ्यास में मग्न रहें।

प्रश्न १३—उपासना के समय मन स्थिर नहीं रहता, इसका क्या उपाय किया जावे ?

उत्तर—उपासना करते-करते मन स्थिर हो जाएगा। जब उपासना से मन थक जावे, उसे शास्त्रविचार में लगावें। जब विचार से थक जाएँ तो मौन धारण कर बैठ जावें और देखें कि मन किस ओर बहुतायत से दौड़ता है। जिस ओर बहुत जाए उस वस्तु को दूषित विचारकर मन को उस ओर से रोकें। इस रीति से अभ्यास करते-करते मन शुद्ध हो जावेगा। यह विदित रहे कि मन पत्थर की नाँई जड़ नहीं, किन्तु शुद्ध होता है, इसकी शुद्धि पूर्वोक्त अभ्यास से शनैः-शनैः बढ़ती जावेगी। जिज्ञासु पुरुषार्थ करता रहे।

प्रश्न १४—मेरा मन भटकता रहता है, यदि कुछ काल इसको विचार में लगाता हूँ तो शीघ्र ही पसर जाता है। इसलिए प्रार्थना है कृपा कर कोई ऐसी युक्ति व अभ्यास लिखें, जिससे मन स्थिर हो ?

उत्तर—ओ३म् के स्मरण से मन स्थिर हो जाता है, इसलिए इस शब्द को सर्वदा अपने हृदय में स्मरण करें। यहाँ तक कि मन और ओम् एकरूप हो जावें। ओम् को ओंकार भी कहते हैं। यदि मन ओ३म् पर लगे तो ओ३म् का स्मरण करे और यदि ओंकार पर लगे तो ओंकार का स्मरण करे। उपासना के बिना मन स्थिर नहीं होगा। विचार भी करें परन्तु उपासना मन की एकाग्रता का उत्तम उपाय है।

प्रश्न १५—

॥ दोहा ॥

भगवन् चित्त निरोध का, कहिए सुगम उपाय।
सहजे ही भव दुःख मिटें, प्रगटे शान्त स्वभाव ?

उत्तर—

॥ दोहा ॥

चित्त निरोध का कहत हूँ, परम सुखेन उपाय।
भूत भविष्य त्याग कर, वर्तमान चित लाय ॥ १ ॥
उत्तम देश एकान्त में, सिमरो एक ओंकार।
शनैः-शनैः अभ्यास से, भूले सब संसार ॥ २ ॥

प्रश्न १६—अभ्यास के समय एकाग्रता की युक्ति बताएं।

उत्तर—वृत्ति की एकाग्रता के लिए निम्न युक्तियाँ लिखी जाती हैं। जब वृत्ति चंचल होने लगे, तब इन युक्तियों में से किसी के आसरे वृत्ति को एकाग्र करें :—

प्रथम—हे जिज्ञासु ! अभ्यास करने के समय सब व्यवहारों को विस्मरण कर आसन जमाकर बैठो और आँखें मूंद कर ओंकार के स्वरूप ध्यान में मन स्थित करो।

द्वितीय—यदि उस समय मन व्यवहार की ओर फुरे तो विचार करो कि हे मन !

Scanned with CamScanner

व्यवहार इन्द्रियों के कर्म हैं और इन्द्रियाँ शान्तरूप हैं। तू क्यों दूसरे के धर्मों को अंगीकार कर विक्षिप्त होता है। अब तू अपने स्वामी की सेवा में सावधान हो। तेरा स्वामी सत्चित् आनन्द रूप परमात्मा है। वह तेरे निकट है, तेरा प्रकाशक है, तेरे कर्मों का साक्षी है, तू उसका ध्यान कर। उसका उत्तम और पावन नाम ओंकार है, उसे स्मरण कर। क्यों बाहर के पदार्थों का चिन्तन कर दुःखी और दीन होता है? तेरा और व्यवहारों का कोई सम्बन्ध नहीं। तू सूक्ष्म है और व्यवहार स्थूल है। तू अन्तर है और व्यवहार बाहर है। इस रीति से तेरा व्यवहारों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। जब सम्बन्ध ही नहीं तो तू उनको स्मरण कर क्यों क्षुब्ध होता है? ऐसे विचार द्वारा मन को उपसम कर ओंकार के ध्यान में सावधान हो जावो।

तृतीय—अभ्यास के समय मन यदि विषयों की ओर जावे तो उन विषयों के दूषण विचारो। एक-एक विषय में अनेक दोष हैं। अपनी बुद्धि के अनुसार उन दूषणों को सोचकर मन को समझावो कि हे मन! ऐसे मलिन, क्षणभंगुर, दुःखरूप और विकारी विषयों का चिन्तन कर तू क्यों दुःखी हो रहा है? विषय इन्द्रियों के हैं और तू इन्द्रियों से न्यारा है। इन्द्रियाँ विषय का चिन्तन नहीं करती और तू मूर्खों के समान उनके चिन्तन में अपना बल लगाता है। इसलिए इनसे रहित होकर ओंकार के ध्यान में मग्न रहो।

चतुर्थ—जब मन अतीत का स्मरण करे, तो इस रीति से समझाओ हे मन! वह काल अब व्यतीत हो गया और कर्म भी हो चुका है। हे मूर्ख! तू उसको स्मरण कर क्यों व्यर्थ खिन्न होता है? यदि वह काम बिगड़ गया है तो अब संवरता नहीं। यदि संवर भी गया तो तेरा क्या प्रयोजन? यदि पूरा हो गया है तो उसके स्मरण करने में क्या प्राप्त होगा? सब प्रकार से वह कर्म विस्मरण करने योग्य हैं। इस युक्ति से भूत वार्ता को विस्मरण कर मन को ओंकार के ध्यान में लीन रखो।

पंचम—यदि भविष्य के लिए चिन्ता उत्पन्न हो तो यह विचार करो कि हे मन! जिस शरीर के निमित्त तू इतनी चिन्ता करता है, वह शरीर नश्वर है। श्वासमात्र उसकी आयु है। यह निश्चय नहीं कि शरीर रहेगा या नहीं। ऐसे शरीर के लिए चिन्ता करनी उचित नहीं और यदि शरीर रहा तो इसकी प्रारब्ध इसके साथ है। जब तक रहेगा, अपनी प्रारब्ध भोगेगा। तुम क्यों इसके निमित्त चिन्ता कर दुःखी और शोकातुर होते हो? इस विचार से भविष्यतकाल की चिन्ता विस्मरण कर मन को ओंकार के ध्यान में लगावो।

छठा—यदि सम्बन्धियों की ओर मन फुरे तो यह विचार करो, हे मन! तेरा सम्बन्धी कौन है? तू अकेला आया है और अकेला जावेगा। अब भी अकेला है। मोहरूपी रस्सी के साथ बंधा हुआ घर के अंधे कूप में गोते खा रहा है। न कोई तेरा है और न तू किसी का है। यह स्वप्न का खेल है। शरीर भी तेरा नहीं और तू शरीर का नहीं। जब यह अवस्था है तो दूसरों के लिए चिन्ता कर आपको क्यों विक्षिप्त करता है? तू आप केवल फुरना है फुरने के बिना तेरा स्वरूप नहीं। जब तू आप ही कुछ नहीं तो दूसरों के निमित्त तू चिन्ता क्यों करता है? तेरा सम्बन्धी परमात्मा है जिसका नाम ओंकार है। उसके ध्यान में ही मग्न रहो।

Scanned with CamScanner

सप्तम—यदि अभ्यास के समय नींद आवे तो यत्न कर सावधान हो जावो।

अष्टम—यदि वृत्ति आलसी हो जावे अथवा अभ्यास की ओर प्रेम न करे तो हठ से वृत्ति को उस ओर लगावो।

नवम—सच्छास्त्रों का विचार नित्य प्रेम और स्थिरता से करो, कि मन एकाग्र हो।

दशम—व्यवहार असंग होकर किया करो। हानि-लाभ में अपनी वृत्ति को समान रखो। तृष्णा को बहुत न बढ़ाओ। शरीर के निर्वाहमात्र व्यवहार के साथ प्रीति रखो। व्यवहार बहुत बढ़ाकर निरर्थक चिन्ता उत्पन्न न करो। विश्राम और शांति से काल व्यतीत करों। इस रीति से अभ्यास करते-करते वृत्ति एकाग्र हो जायेगी।

प्रश्न १७—प्रातः जब मैं एकान्त में बैठता हूँ तो भी वृत्ति स्थिर नहीं होती। कृपा कर वृत्ति की स्थिरता का उपाय लिखें?

उत्तर—चिरकाल के अभ्यास से वृत्ति स्थित होती है। अभ्यास से शनैः-शनैः सिद्ध होता है। इसलिए नित्यप्रति ओंकार के स्मरण में वृत्ति को प्रवृत रखें। जब वृत्ति फुरे, तब विचार करें कि भूतकाल की स्मृति करती है अथवा भविष्यकाल की? यदि भूतकाल की स्मृति करे तो यह विचार करना उचित है कि काल व्यतीत हो गया और वह कार्य भी समाप्त हो गया। अब उसको स्मरण करके शोक करना यथार्थ ज्ञान के विरुद्ध है। भूतकाल की स्मृति से कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता, इसलिए इसकी विस्मृति ही सुख का निमित्त है। इस विचार से वृत्ति को भूतकाल की स्मृति से निरोध कर ओंकार के स्मरण में लगावें। यदि भविष्यत् काल की चिन्ता करे तो विचार करें कि यह चिन्ता शरीर के निमित्त है। शरीर प्राणों के आसरे रहता है और प्राणों का धर्म आना-जाना है। जब प्राण शरीर से बाहर जाता है, तो वह मृत्यु का लक्षण है और जब शरीर के अन्तर आता है तो जीवन का लक्षण है। अतः प्राणों की यह क्रिया निरन्तर होती रहती है। यदि एक बार प्राण शरीर से वियुक्त होगा, तो किसी भी उपाय से फिर शरीर में प्रवेश नहीं करेगा। अतः वियोग का काल भी प्रतीत नहीं होता, मानो श्वास-श्वास पर मृत्यु शरीर को ग्रस रही है। ऐसे क्षणभंगुर शरीर के निमित्त चिन्ता करनी महामूर्खता है। इस विचार से भविष्यत्काल की चिन्ता का त्याग करो और ओंकार के स्मरण में वृत्ति लगाओ। जब किसी विषय का चिंतन हो तो उस विषय के दोष विचार कर वृत्ति को उस चिंतन से उपरत रखो। जब किसी सम्बन्धी अथवा मित्र के निमित्त वृत्ति फुरना उठावे, तब विचार करो कि वह शरीर मेरे शरीर की नाँई क्षणभंगुर और नश्वर है। नश्वर वस्तु के निमित्त चिंतन करना उचित नहीं। दूसरा, सारे सम्बन्धी स्वार्थ के मित्र हैं। अर्थ के बिना कोई किसी को पूछता नहीं। जब ऐसी अवस्था है तो वृथा उनका चिंतन कर विक्षेप्ता और शोक का भाग लेना मूढ़ता है। इस रीति से सम्बन्धियों के चिंतन का त्याग कर वृत्ति को ओंकार के स्मरण में लगाओ। जब धन के निमित्त वृत्ति सोच करे, तब यह विचार करो कि धन कोई वस्तु नहीं। व्यवहार सिद्ध करने के लिए बुद्धिमानों ने एक धातु को रुपया आदि के स्वरूप में स्थापित किया है, इससे भिन्न इसकी अन्य कोई सामर्थ्य नहीं और वह धन अल्प उद्यम से प्राप्त हो जाता है। उसके निमित्त

Scanned with CamScanner

बारम्बार चिंतन व चिन्ता अनुचित है। यदि विचार कर देखें तो धन महादुःखरूप है, अनर्थ का मूल, पापों की निधि, अभिमान का भण्डार, विषयों का साधन और विकर्मों की खान है। ऐसे धन से प्रीति रखने वाले को सदा शोक, मोह, चिन्ता, भय, क्लेश और दुःख रहता है। प्रथम धन को उत्पन्न करने का दुःख है। यदि किसी प्रकार संग्रह हो जाय उसका नाश तो शरीर की मृत्यु से भी दुःखदायक हो जाता है। जब तीनों अवस्थाओं में धन दुःखरूप है तो उसके निमित्त चिन्ता करना अपने को दुःख रूप सागर में डालना है। इस विचार से धन का चिंतन त्याग ओंकार के स्मरण में मन लगाओ। जब पूर्वोक्त रीति से तुम वृत्ति के उपसम करने का यत्न करोगे तो शनैः-शनैः वृत्ति निरर्थक चिंतन को त्यागकर ओंकार के साथ तद्रूप हो जावेगी। इस अभ्यास के लिए बहुत काल चाहिए। जन्म से लेकर अज्ञानी पुरुषों का संग, गृहस्थासक्ति, विषयों का सेवन, व्यवहार-चिन्ता, धन-अभिलाषा, देहाभिमान, कुलाभिमान, भूतकाल स्मृति, भविष्यत् काल चिन्ता वृत्ति के मित्र और सम्बन्धी रहें। इसलिए इनसे वृत्ति को उपरत करने के लिए भी कुछ काल चाहिए। जिज्ञासु धीरज धरकर श्रद्धा और प्रेम से अभ्यास करता रहे और विचार द्वारा वृत्ति को रोकता रहे। न घबरावे और न शीघ्रता करे। एक दिन वांछित फलवृत्ति की स्थिति अवश्य प्राप्त होगा।

प्रश्न १८—जब नाम के उच्चारण का समय होता है, तब चित्त में अविद्या का बल होता है। अर्थात् लय, विक्षेप्ता और आलस्य घेर लेते हैं। कृपा कर कोई ऐसी युक्ति बतावें, जिससे नाम के उच्चारण के समय चित्त सावधान और एकाग्र रहे?

उत्तर—लय, विक्षेप्ता, आलस्य, मलिन-आहार, अशुद्ध-व्यवहार और निंदित आचार चित्त में प्रगट होते हैं इसलिए शुद्ध और अल्पाहार किया करो। निष्कपट और न्याय सहित व्यवहार किया करो। अन्तर बाहर के आचार को पावन और निर्मल रखो। जब इस रीति से आहार, व्यवहार और आचार शुद्ध होगा, तब चित्त सावधान और एकाग्र होकर नाम का उच्चारण करेगा। जब तक इस रीति से साधन न किया जाए तब तक लय और विक्षेप्ता से मुक्त होकर चित्त नाम के साथ तद्रूप नहीं हो सकता। इसलिए ऊपर लिखी हुई रीति से आहार-व्यवहार और आचार को शुद्ध करो कि तुम्हारे हृदय का मनोरथ सिद्ध हो।

जब नाम का उच्चारण करने बैठो तब सावधान होकर मन के साक्षी रहो। जब निद्रा आने लगे तो आँखों पर पानी लगाओ अथवा उठ खड़े हो। जब चित्त में विषय का चिंतन हो तब विचार से चित्त को उस ओर से हटाओ। जब आलस्य आवे तब हठ कर वृत्ति को सावधान करो। इस रीति से निरन्तर यत्न करते रहो। चित्त उच्चारण में सावधान हो जावेगा।

प्रश्न १९—उपासना एक परमेश्वर की की जाय अथवा दूसरे देवता-ब्रह्मा, विष्णु, महादेव और वरुण आदि की भी की जाय?

उत्तर—परमात्मा की उपासना में सब की उपासना हो जाती है। जैसे वृक्ष की जड़ को पानी देने से सब शाखाओं, पत्तों, फलों आदि को पानी मिल जाता है, वैसे ही परमात्मा की उपासना और ध्यान से सबका ध्यान हो जाता है। क्योंकि परमात्मा पूर्ण है और सब

Scanned with CamScanner

का अधिष्ठान है। देवता उसमें कल्पित है, जब सब को परमात्मा निश्चय कर ध्यान किया तो और देवता शेष कहाँ रह जाते हैं, कि उनकी उपासना करनी शेष रह जाय ? जैसे शरीर में भिन्न-भिन्न अंग और इन्द्रियाँ हैं और इन सबका आधारभूत उदर है। जब उदर में भोजन और पानी डाला जाता है तब वह पाचन होकर सब अंगों और इन्द्रियों को बल से रस देता है। तात्पर्य यह कि पेट की सेवा करने से सब अंगों और इन्द्रियों की सेवा पूरी हो जाती है। यदि एक-एक अंग व इन्द्रिय की सेवा वा उपासना करें तो नहीं हो सकती, क्योंकि अंग और इन्द्रिय आप कोई वस्तु नहीं है पेट की भिन्न-भिन्न शक्तियाँ भिन्न-भिन्न स्वरूप होकर कर्म कर रही हैं। अतः पेट ही सब अंग और इन्द्रियाँ हैं। पेट की उपासना या सेवा सब इन्द्रियों की उपासना या सेवा है। वैसे जगत् में जो भिन्न-भिन्न देवता हैं, इन सबका आधार परमात्मा है। जब परमात्मा का ध्यान किया जाता है तब सब देवताओं का ध्यान हो जाता, क्योंकि सारे देवता आधार-रूप परमात्मा के आसरे हैं। यदि एक-एक देवता की उपासना करें तो नहीं हो सकती, क्योंकि देवता आप कुछ नहीं। आधाररूप परमात्मा की भिन्न-भिन्न शक्तियाँ और भिन्न-भिन्न स्वरूप होकर जगत में प्रवृत हैं। अतः परमात्मा ही सब देवतारूप है और परमात्मा की उपासना ही सब की उपासना है।

परमात्मा नाम सर्वात्मा का है। जब परमात्मा को सर्वात्मा रूप समझकर नमस्कार किया जाता है, तब सभी सृष्टि को नमस्कार हो जाता है। न देवता का भेद रहता है न दैत्य का ; न मनुष्य का भेद रहता है और न पशु का। यही उपासना सत्य और यथार्थ है। यह सब भेदों की छेदक और द्वैत को काटने वाली है। इसलिए जिज्ञासु परमात्मा को सर्वात्मा जान उपासना करे। परमात्मा को सत् चिदानन्द, निर्विकार, कूटस्थ, अधिष्ठान और पवित्र ज्योति-स्वरूप निश्चय करे। बारम्बार इसका चिंतन करे, यह सबसे श्रेष्ठ उपासना है।

देवता नाम प्रकाश का है, प्रकाशरूप चैतन्यदेव हैं। ब्रह्मा, विष्णु महादेव, वरुणादि उस चैतन्यदेव के विशेषण हैं। तात्पर्य यह कि चैतन्य ही कर्तारूप होने से ब्रह्मा है, चैतन्य ही प्रतिपालक होने से विष्णु और चैतन्य ही महाप्रकाश, सब को अपने प्रकाश में लीन करने वाला महादेव है। चैतन्य ही परम पवित्र रूप वरुण है। इस रीति से एक ही चैतन्यदेव अपनी महिमा में स्थित हैं। दूसरा न कुछ था, न है और न कुछ होगा। इस प्रकार निश्चय कर एक चैतन्य परमात्मा को सत्य प्रतीत कर इससे भिन्न सब वचनों को विस्मरण करें।

प्रश्न २०—मूर्ति-पूजा से लाभ है हानि ? यदि लाभ है तो कैसा ?

उत्तर—मूर्ति पूजा से न लाभ है न हानि केवल स्थूलबुद्धि के मन बहलावे के लिए अर्चना स्थापित की गई है। तात्पर्य यह कि जो लोग सत्चिदानन्द आत्मा का निर्गुण स्वरूप नहीं समझ सकते या जो लोग संतों की संगति नहीं कर सकते और न उनके यथार्थ वचनों को समझने की सामर्थ्य रखते हैं या जो लोग वेद और वेदान्त विद्या से अज्ञात हैं, उनकी वृति को धर्म की ओर लगाने के लिए कई आचार्यों ने यह रीति स्थापित की है। इस रीति की अर्चना का यह प्रयोजन है कि किसी प्रकार मनुष्य लोक विक्षेप्ता से मुक्त होकर एकाग्रता और निरोध का रस लेवें। परन्तु यह प्रयोजन अत्यन्त ही अभाव गति को प्राप्त

Scanned with CamScanner

हो जाता है। आजकल यह अर्चना रीतिरूप होकर लोगों में प्रवृत्त हो गई है। यदि यथार्थ दृष्टि से देखें तो प्रतिमा-पूजन निंदित नहीं है, क्योंकि जब ब्रह्म को पूर्णदे खा तो प्रतिमा भी ब्रह्म रूप है। उस दृष्टि से यह अर्चना भी यथार्थ है। यदि न्यायदृष्टि से देखें, इस प्रकार की अर्चना से वृत्ति बहिर्मुख हो जाती है। किसी प्रकार का विशेष लाभ अर्थात् विचार, वैराग्य व संतोष प्राप्त नहीं होता। इसलिए बुद्धिमान इस बहिरंग अर्चना से वृत्ति को निरोध कर अपने हृदयरूपी मंदिर में ज्ञानस्वरूप आत्मा की उपासना करते हैं। इसलिए जिज्ञासु यदि प्रतिमा-अर्चन का इच्छुक हो तो सर्व सृष्टि में परमेश्वर को पूर्ण जानकर सब के आगे नमस्कार करे। सब से मृदु वचन बोले, सब को आपसे उत्तम जाने, सब के साथ बांट कर खावे। सब को सुख देवे। यही उत्तम प्रकार की प्रतिमा-अर्चना है। पाषाण पीतल व कागज की मूर्ति के पूजन से अर्चन का वास्तविक प्रयोजन सिद्ध नहीं होता इसलिए परमात्मा को पूर्ण जानकर विराट-रूपी ठाकुर की पूजा करे।

प्रश्न २१—अन्तर एक शब्द होता है, उसको किस प्रकार जानना चाहिए ?

उत्तर—कान आँखें मूंद कर चित्त एकाग्र करने से वह शब्द प्रतीत हो सकता है !

प्रश्न २२—शब्द क्या वस्तु है ?

उत्तर—आकाश की तनु मात्रा है अर्थात् आकाश का सूक्ष्म स्वरूप है !

प्रश्न २३—शब्द किस प्रकार उत्पन्न होता है ?

उत्तर—पवन और आकाश के संयोग से। अर्थात् जब पवन आकाश में वेग से चलता है, उस समय संयोग द्वारा शब्द उत्पन्न होता है। यद्यपि अग्नि, जल और पृथ्वी से भी शब्द उत्पन्न होता है, परन्तु अग्नि, जल और धरती में भी पवन के वेग से ही आकाश में शब्द उत्पन्न होता है। अत: पवन और आकाश के संयोग से शब्द की उत्पत्ति होती है।

प्रश्न २४—शब्द कितने प्रकार का है ?

उत्तर—शब्द दो प्रकार का है, एक प्रतिध्वनिरूप शब्द और दूसरा वर्णरूप शब्द।

प्रश्न २५—प्रनिध्वनिरूप शब्द का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—अर्थ से रहित जो शब्द हो, वह प्रतिध्वनिरूप शब्द है। जैसे मेघ का शब्द, नगारे का शब्द; जल का शब्द; पवन, पक्षियों आदि का शब्द, और भी सारे शब्द जो अर्थ से रहित हैं। तात्पर्य यह कि जहाँ आकाश है, वहाँ पवन के वेग से प्रयोजन रहित और अर्थशून्य शब्द जब उस वस्तु के आकार से उत्पन्न होता है, उसे प्रतिध्वनितरूप शब्द कहते हैं। जैसे शिवालय में कोई पुरुष हा, हा, हू, हू का शब्द करता है तो उससे लौटकर वही शब्द उत्पन्न होता है। उसी प्रकार सारे ब्रह्माण्ड में आकाश व्यापक है। जहाँ पवन का संयोग होता है, वहाँ शब्द उत्पन्न होता है, उस शब्द को प्रतिध्वनित शब्द कहते हैं।

प्रश्न २६—वर्ण रूप शब्द का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—अर्थ सहित जो शब्द है, वह वर्णरूप शब्द है। तात्पर्य यह कि आठ अंगों के मिलने से जो शब्द उत्पन्न हो, वह वर्णरूप शब्द है। कण्ठ, तालु, जिह्वा, दो बीरी दाँत, दो ओष्ठ और नासिका के मिलने से पुरुष की इच्छा के अनुसार जो शब्द उत्पन्न होता है और

Scanned with CamScanner

जिससे श्रोता को ज्ञान होता है, वह वर्णरूप शब्द है।

प्रश्न २७—इस प्रकार का जो शब्द शरीर के अन्तर होता है और जिसे योगीश्वर लोग अनहद शब्द कहते हैं, वह किस प्रकार का है ?

उत्तर—वह प्रतिध्वनिरूप शब्द है। क्योंकि यह अर्थ से रहित है। शरीर के अन्दर पूर्ण आकाश समान और व्यानरूप पवन के वेग से जो शब्द उत्पन्न होता है। उसे योगी अनहद शब्द मानते हैं। वह शब्द शरीर और प्राणों के संयोग से नित्यप्रति होता रहता है। जो पुरुष वृत्ति लगाता है, उसे प्रतीत होता है जो नहीं लगाता, उसे प्रतीत नहीं होता।

प्रश्न २८—अनहद शब्द के सुनने से क्या फल होता है ?

उत्तर—केवल मन का बहलाव !

प्रश्न २९—अनहद शब्द के सुनने से योगीश्वर मोक्षरूप परमब्रह्म को प्राप्ति मानते हैं। यह बात कहाँ तक ठीक है ?

उत्तर—अनहद शब्द के सुनने से न ब्रह्म की प्राप्ति होती है न मोक्ष की। क्योंकि ब्रह्म सबका आपना-आप है। अज्ञान से प्रतीत नहीं होता। मोक्ष नित्यप्राप्तरूप है, अज्ञान से मोक्ष का निश्चय नहीं होता। इसलिए अज्ञान की निवृत्ति से ब्रह्म और मोक्ष की प्राप्ति होती है। अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होती है और ज्ञान वर्णरूप शब्द के बिना किसी प्रकार से उत्पन्न नहीं होता। अत: योगियों का यह निश्चय हठ और मूर्खतापूर्ण है।

प्रश्न ३०—शास्त्रों में अनहद शब्द की महिमा अति विस्तार से क्यों लिखी है ?

उत्तर—शास्त्रों में तीन प्रकार के वाक्य होते हैं। एक भयानक, दूसरे रोचक, तीसरे यथार्थ। भयानक और रोचक वाक्य वे हैं, जिनसे जीव की लोक परलोक के दु:खों और सुखों से भय और रुचि उत्पन्न होकर परमार्थ की ओर प्रीति होती है। यथार्थ वाक्य वह है, जिनसे जीव को लोक-परलोक कल्पित प्रतीत होकर परमार्थ स्वरूप की प्राप्ति होती है। अनहद शब्द की महिमा रोचक वाक्य हैं। केवलमात्र बाल बुद्धियों को रुचि देकर परमार्थ की ओर लगाना ही शास्त्रों का प्रयोजन है। केवल अनहद शब्द ही मोक्षदाता नहीं है, क्योंकि शब्द विनाशी है जब तक शरीर और प्राणों का संयोग है, तब तक शब्द है। वियाग के समय शब्द लीन हो जाता है। परन्तु परमब्रह्म की उत्पत्ति विनाश से रहित है, इससे अशब्द वस्तु की प्राप्ति शब्द से नहीं हो सकती। वर्णरूप शब्द और प्रतिध्वनिरूप शब्द में भी भेद है। वर्णरूप शब्द से ब्रह्म के स्वरूप का यथार्थज्ञान होता है। उसी वर्णरूप शब्द के बल से शब्द मिथ्या और कल्पित प्रतीत होती है और अशब्द वस्तु में निष्ठा परिपक्व होती है। अनाहद शब्द केवल प्रतिध्वनिरूप अर्थात् अर्थ से रहित शब्द है। उससे ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता और न संशय का निवृत्ति होती है। इसलिए अनाहद शब्द के निमित्त यत्न करना निष्फल है, केवल अपने समय को नष्ट करना है। इसके बिना इससे और कोई फल प्राप्त नहीं होता। बुद्धि से शास्त्रों का विचार करना उचित है। जब वेदों के वाक्यों से भी परमब्रह्म उल्लंघित है तो शंख, तम्बूरे, मथानी, मेघ और अग्नि के शब्द आदि से किस प्रकार प्राप्त होगा ? यह सारे शब्द मायवी अथवा जीवकल्पित हैं। जो व्यवहार नित्य गृहस्थ में

Scanned with CamScanner

होते रहते हैं, उनका सम्बन्ध माया से रहित, जीव की कल्पना से उल्लंघित, शुद्ध चेतन ब्रह्म के साथ किस प्रकार होगा ? दिन-रात थालों और मथानी के शब्द सुनते रहना तो बालकों का खेल है। पारदर्शी और तत्ववेत्ता इनकी ओर देखते भी नहीं और न ऐसे शास्त्रों को यथार्थ मानते हैं। केवल आत्मतत्व में मग्न रहकर ब्रह्मानन्द मानते हैं।

प्रश्न ३१—आत्म-जिज्ञासु को अनहद शब्द का अभ्यास करना उचित है या नहीं ?

उत्तर—नहीं ! शब्द अनात्म है, भेद उत्पन्न करता है। इससे शब्द आत्मा की प्राप्ति में प्रतिबंधक होता है। यद्यपि सत्गुरु के शब्द से जिज्ञासु को आत्म-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान निश्चय होता है, परन्तु वह शब्द अर्थसहित है। अनाहद शब्द अर्थ-रहित होने से आत्म-ज्ञान का हेतु नहीं, इसलिए आत्म-जिज्ञासु को किसी प्रकार इसका अभ्यास करना उचित नहीं। यदि जिज्ञासु हठ से इसमें प्रवृत्त रहेगा तो अपने वास्तव स्वरूप का दर्शन कदाचित् नहीं पावेगा। किन्तु कल्पित शब्दों के सुनने से जो क्षण-मात्र आनन्द होगा, उसीको ब्रह्मानन्द मानकर भ्रान्ति में रहेगा। इसलिए जिज्ञासु इन मन रचित शब्दों को त्यागकर इनके प्रकाशक और साक्षी से अपनी वृत्ति को जोड़े। इस प्रकार शास्त्रों में निरूपित ये सारे शब्द सुख-दुःख और स्वप्न सृष्टि की नाँईं साक्षी-भास्य अर्थात् साक्षी से प्रकाश पाने वाले हैं। जो वस्तु साक्षी-भास्य होती है वह मिथ्या होती है। अनहद शब्द भी साक्षी-भास्य है, इसलिए मिथ्या है। मिथ्या वस्तु सत्य वस्तु की प्राप्ति में सहायक नहीं होती। अतः आत्म-जिज्ञासु को अनहद शब्द सब प्रकार से त्याज्य है, क्योंकि उसे सत्य वस्तु की प्राप्ति की इच्छा है और अनहद शब्द मिथ्या है। मिथ्या शब्द के अभ्यास में मन को लगाना मानो मिथ्या आनन्द अथवा मिथ्या स्वरूप प्राप्त करना है।

प्रश्न ३२—आत्म-जिज्ञासु को क्या करना चाहिए ?

उत्तर—आत्म-जिज्ञासु विवेक द्वारा आत्मा को स्थूल, सूक्ष्म व कारण शरीर से भिन्न; जागृत, स्वप्न व सुषुप्ति अवस्था से रहित; तीन गुणों से मुक्त और पाँच कोषों का साक्षी निश्चय कर आपको आत्मरूप प्रतीत करे। इसकी स्थिति के निमित्त बारम्बार विचार-रूप समाधि का अभ्यास करे अथवा सत्संग और सत्शास्त्र विचार से वृत्ति को शरीर की भावना से मुक्त कर आत्मा के आकार का करता रहे। इसका फल सब दुःख की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति है। इसके अतिरिक्त दूसरे उपाय संसार रूपी महा वन में मन को भरमाने के हैं। शान्ति का उपाय केवल तत्वविचार है वह सुखेन ही सिद्ध हो सकता है। इसमें किसी प्रकार का क्लेश नहीं। केवल वृत्ति को मोड़ना है, और निरन्तर विचार से आपको सद्चिदानन्द आत्मा निश्चय करना है। जब यह निश्चय परिपक्व हुआ, उस समय अष्टसिद्धि नट के खेल की नाँईं मिथ्या प्रतीत होती हैं और दूसरे ऐश्वर्य स्वप्न-सृष्टि की भाँति कल्पित भासते हैं। इसलिए आत्म-विचार कर जो आत्म-दृष्टि, आत्म-स्थिति और आत्मतृप्ति उत्पन्न होती है, वह सब पदों, ऐश्वर्यों, सिद्धियों, ऋद्धियों, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र से उत्तम और ऊपर है। अतः सब जिज्ञासु जिस प्रकार जगत को झूठा और नश्वर समझते हैं, उसी प्रकार सिद्धियों और दूसरे ऐश्वर्यों को मिथ्या और नश्वर समझ

Scanned with CamScanner

इनसे अपना मन हटावें और तत्वविचार से सावधान होकर सब कल्पित प्रपंच के अधिष्ठान अपने वास्तव स्वरूप को प्राप्त होकर नित्य आनन्द और नित्य-तृप्ति का रस प्राप्त करें।

प्रश्न ३३—कई शास्त्रों में लिखा है कि योग द्वारा प्राण-पवन को दसवें द्वार में ले जाने से मन और इन्द्रिय स्थित हो जाते हैं। कई शास्त्रों में केवल विचार द्वारा मन और इन्द्रियों पर जीत लिखी है। इनमें से कौन-सा उपाय ग्रहण करने योग्य है जिससे सुखेन-जिज्ञासु का मनोरथ सिद्ध हो और शान्ति प्राप्त हो ?

उत्तर—मन और इन्द्रियों को वश करने की दो युक्तियाँ हैं। एक हठयोग और दूसरा ज्ञानयोग अथवा राजयोग। हठयोग को प्राणायाम कहते हैं। भाव यह कि हठ से अपने प्राणों को दसवें द्वार में चढ़ाते रहना। ज्ञान योग को वासनायाम कहते हैं अर्थात् ज्ञान द्वारा अपनी वासना को रोकना। अब इन दोनों प्रकार के योगों में से हठयोग व प्राणायाम चींटी मार्ग है। अर्थात् यह दीर्घकाल में और अतिशय यत्न से प्राप्त होता है। बहुत लोग इसी यत्न में रोगी होकर मर जाते हैं, इसलिए यह मार्ग कठिन और हठ-मार्ग है इसके विपरीत ज्ञानयोग या वासनायाम विहंगम मार्ग है। अर्थात् थोड़े काल और थोड़े यत्न से वह पद प्राप्त होता है, जो योगीश्वरों को वर्षों पर्यन्त भी प्राप्त न हो। इसलिए शास्त्रों में इन उभय प्रकार के योग का वर्णन है। परन्तु पारदर्शी और तत्ववेत्ता जगत की मर्यादा को देखकर और मनुष्य की वृत्ति को न्याय रूप तराजू में तोलकर ज्ञानयोग को उत्तम निश्चय करते हैं। इसलिए उसी का उपदेश करते हैं। इससे जिज्ञासुजन खेद और यत्न के बिना अपनी जिज्ञासा को पूर्ण कर परमपद प्राप्त करें। इसी निमित्त से सिद्धान्त शास्त्रों में ज्ञानयोग का निर्णय है, हठयोग का नहीं। इसी प्रकार का उपदेश इस काल में फलदायक और लाभरूप है। यद्यपि फल दोनों का समान है तथापि मध्य-भावी यत्न, काल और क्लेश में भेद है, इसलिए पूर्ण-पुरुष ज्ञान-श्रेष्ठ और धारण करने योग्य समझकर ज्ञानयोग का उपदेश करते हैं। परन्तु हठयोग और प्राणायाम से मन अल्पकाल में ही एकाग्र हो जाता है। जब प्राण उतरते हैं तब फिर मन फैल कर इन्द्रियों के विषयों की ओर पसर जाता है। इसके अतिरिक्त हठयोग से अपने स्वरूप का ज्ञान भी नहीं होता। अतः यह योग पूर्ण-रीति से लाभ देने वाला नहीं है किन्तु ज्ञानयोग से मन सदा शुद्ध रहता है और अपने स्वरूप का निश्चय भी हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान-योग से पूर्ण-लाभ प्राप्त होता है। इन सब युक्तियों को विचार कर महर्षियों और पारदर्शियों ने ज्ञानयोग ही स्थापित किया है। इसलिए सब जिज्ञासु ज्ञानयोग से मन और इन्द्रिय स्थित कर आत्मानन्द पावें।

प्रश्न ३४—प्राणायाम के साधन से केवल चित्त की एकाग्रता का फल है या कोई दूसरा लाभ भी है, क्योंकि प्राणों का रोकना अत्यन्त कठिन है और हठ से सिद्ध होता है।

उत्तर—प्राणायाम के साधन से किसी प्रकार का लाभ सिद्ध नहीं होता, केवल रोग और क्लेश की प्राप्ति होती है। प्रथम इसका साधन भी अतिशय कठिन है। यदि दीर्घकाल के निरन्तर अभ्यास-उपरान्त क्षण, पल अथवा घड़ी-पर्यन्त प्राण ब्रह्मरन्ध्र में स्थित रहें और प्राणों के स्थित होने से चित्त भी स्थिर हो आए, परन्तु जब प्राण उतरते हैं तब मन स्फुरण-

Scanned with CamScanner

रूप होकर चंचल हो जाता है। इसलिए प्राणायाम से वास्तविक लाभ अथवा एकाग्रता प्राप्त नहीं होती। इससे इसका साधन केवल हठयोग माना गया है। परन्तु वासनायाम अर्थात् विचार द्वारा मन को वासना से रोकना सुखेन सिद्ध होता है और परम लाभदायक है। इसलिए मुमुक्षु वासनायाम का अभ्यास करे प्राणायाम में आयु नष्ट न करे।

प्रश्न ३५—जो योगी लोग इन्द्रियों और प्राण को एक स्थान पर रोक रखते हैं, इसका भी कोई प्रयोजन तो होगा कि अपने शरीर को इतना क्लेश देते हैं?

उत्तर—इन्द्रियों और प्राणों को एक स्थान पर रोक रखने का प्रयोजन यह है कि फुरना निवृत्त हो। इसी निमित से योगीजन अपने शरीर को दुःख देते हैं। परन्तु इससे उनका प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, क्योंकि जब प्राण उतरते हैं तब फिर फुरना फैल जाता है, इसलिए उन्होंने इतना यत्न भी किया, क्लेश भी सहारा और अखण्ड सुख भी न पाया। अतः उनका यह यत्न अपने स्वरूप के अज्ञान से है, क्योंकि यह योग खेदरूप है और हठ से सिद्ध होता है। हठ अज्ञानी का धर्म है, ज्ञानी का नहीं। जैसे अज्ञानी पुरुष धन, स्त्री, पुत्र के निमित हठ कर अपनी देह को दुःख देते हैं, उसी प्रकार ये योगीजन मन के रोकने के लिए प्राण और इन्द्रियों को दमन कर शरीर को दुःख देते हैं किन्तु ज्ञानयाम हठ से रहित होकर विचार द्वारा सुखपूर्वक ही अपने मन को वश करता है। प्राण आते-जाते रहते हैं, इन्द्रियाँ अपनी-अपनी चेष्टा में प्रवृत्त रहती हैं, अन्तःकरण अपने धर्म में स्थिर रहता है किन्तु ज्ञानी आपको इन तीनों का साक्षी मानकर तीनों पर आज्ञा करता है और अपने विचार रूपी कानून द्वारा मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार रूपी वजीरों को, पाँच ज्ञानेन्द्रिय रूपी दीवानों और पाँच कर्मेन्द्रिय रूपी कारदारों को वश कर शरीर रूपी देश का निष्कंटक राज्य करता है। अतः ज्ञानी योगी से उत्तम है, क्योंकि योगी हठ से जड़ता और मूढ़ता में आनन्द मानता है और ज्ञानी विचार से चेतनता और ज्ञान में आनन्द मानता है। योगी का प्रयोजन केवल आयु की वृद्धि, सिद्धि की प्राप्ति, लोक-वासना और ब्रह्मलोक की प्राप्ति है। इसलिए उसका यत्न और क्लेश व्यवहारी पुरुषों की नाँईं बंधन का निमित्त है।

प्रश्न ३६—ध्यान की युक्ति क्या है जिससे सरलता से योग सिद्ध हो?

उत्तर—प्रथम वाणी से ओ३म् का उच्चारण करना चाहिए। फिर कण्ठ से स्मरण करना चाहिए और फिर हृदय में संकल्प के समान चिन्तन करना उचित है। तदुपरान्त शब्द को विस्मरण कर अर्थ में वृत्ति को स्थित करना ध्यान की समाप्ति है। जब वाणी और कण्ठ का साधन पूर्ण हो जाए, तब पश्यन्ती से ओ३म् का चिन्तन उचित है और साथ ही ओ३म् के अर्थों का विचार करना। विचार द्वारा तीनमात्रा को त्यागकर अर्धमात्र रूप आत्मा में जिसका स्वरूप केवल सत्तासामान्य है, स्थित होना परम ध्यान है। जब वृत्ति फुरे, तब ओ३म् का चिन्तन करे और जब फुरने से रहित हो, तब सत्तासामान्य आत्मा में स्थित हो जावे। इस रीति से ध्यान करता रहे। इससे अतिरिक्त जो कुछ दृष्टिगोचर अथवा प्रतीत हो, सर्वत्र को कल्पित निश्चय कर आपको उनसे न्यारा माने। किसी स्वरूप, प्रकाश अथवा अन्धकार में वृत्ति को न लगावे। केवल-मात्र अर्थात् सर्व कल्पना से मुक्त स्थित रहे।

Scanned with CamScanner

जितना काल सुखपूर्वक बैठ सके, उतना काल अभ्यास करे। समर्थ से अधिक हठ को धारण कर बैठने से वृत्ति, चंचल, उदासीन और विकारी हो जाती है। इसलिए अभ्यास के समय को शनैः-शनैः बढ़ाना चाहिए, क्योंकि जो कार्य सहज और धैर्य से सिद्ध होता है, उसका फल सुख और शान्ति होती है और जो कार्य यत्न, हठ और शीघ्रता से होता है, उसका फल दुःख और कल्पना होती है। जिस योग के साधन का उपाय वर्णन हो रहा है, वह राजयोग है, हठयोग नहीं। अतः हठ का त्याग कर सहज स्वभाव वृत्ति को धर्ममात्ररूप चेतनमात्र में स्थित करे और सुखपूर्वक आसन ग्रहण कर बैठा रहे। जब शरीर थक जाए, तब उठकर विश्राम करे, हठ से बहुत काल न बैठे। जिज्ञासु वृत्ति के स्थित करने के समय भी बल, यत्न और दण्ड को न बरते। शान्ति, गम्भीरता, धैर्य और विश्राम-सहित वृत्ति को भूत-भविष्य की चिन्ता से शुद्ध कर शेष जो निर्विकल्प अवस्था रहे, उसमें स्थित रखे। जितना काल निर्विकल्पता रहे, उतना काल अचल और अडोल बैठा रहे। जब कोई संकल्प उठे, तब फिर ओ३म् के उच्चारण और विचार से वृत्ति को निर्विकल्प सिंहासन पर विराजमान करे। प्राणों को न रोके और न प्राणों के साथ स्मरण करे। प्राण स्वाभाविक आते-जाते रहें, इनके साथ कुछ प्रयोजन नहीं। केवल वृत्ति की निर्विकल्पता वांछित है। वह पूर्वोक्त युक्ति से प्राप्त होगी। यदि निर्विकल्पता के समय लयता आवे तो सावधान होकर वृत्ति को ओ३म् के उच्चारण में लगाना चाहिए। इस रीति से लयता और विक्षेप्ता को त्याग करना और सावधान होकर सत्यस्वरूप में जो केवल ज्ञानमात्र है, स्थित रहना परम ध्यान और योग है।

प्रश्न ३७—ध्यान के समय मक्खी और मच्छर के बैठने की सुधि रहती है। कोई ऐसी युक्ति बतावे जिससे मक्खी और मच्छर का ज्ञान भी न हो?

उत्तर—जब तक प्राण और शरीर का संयोग है तब तक शरीर चेतन रहता है। जब प्राणों का वियोग होता है, तब शरीर जड़ हो जाता है और नित्यप्रति सुषुप्ति अवस्था में भी यह अवस्था प्रगट होती है परन्तु इस जड़ता से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। यदि मनुष्य ने ऐसी समाधि लगाई कि उसे मच्छर और मक्खी की भी सुधि न रही तो क्या सिद्ध हुआ? जब समाधि से उतरेगा तो क्या फिर मक्खी, मच्छर और साराजगत अपनी सामग्री से दृष्टिगोचर न होगा? सब प्रकार से चित्त विक्षिप्त बनावेगा। जब तक यथार्थज्ञान से अविद्या नष्ट न हो, तब तक संसार का नाश नहीं होता। शरीर की जड़ता से जड़ता का प्रयोजन नहीं, किन्तु यथार्थ विचार से यह निश्चय हो जावे कि शरीर वास्तव में कुछ नहीं। केवल पाँच तत्वों का पंजीकृत भाग एकत्र होकर शरीराकार हो रहा है। अपने स्वभावों और तनुमात्राओं को प्रगट कर क्रिया करता हुआ प्रतीत होता है। यह क्रिया आत्मा की सत्ता के बिना नहीं, क्योंकि इस शरीर को अपना ज्ञान नहीं। इसके सब कर्मों का ज्ञान आत्मा को है। आत्मा सत्य है और चेतन है। किसी अवस्था में अपनी चेतनता को त्यागकर जड़ता को अंगीकार नहीं करता। इसलिए चेतनात्मा पर निश्चय करना जिज्ञासु का धर्म है, शरीर पर दृष्टि रखना अनुचित है। हे जिज्ञासु! इस संशय को मन से निवृत्त करो। यदि तुमको मक्खी और मच्छर के बैठने का ज्ञान होता है तो होता रहे। यह तो त्वचा इन्द्रिय का धर्म है कि

Scanned with CamScanner

जिस वस्तु का स्पर्श हो, उसका साधन होकर आत्मरूपी दर्पण से ज्ञान का प्रतिबिम्ब उत्पन्न करती है और जब तक प्राण और त्वचा का संयोग है तब तक जागृतावस्था में यह ज्ञान होता रहेगा। जिज्ञासु आपको शरीर, इन्द्रिय और विषय से न्यारा जानकर आपको इनका प्रकाशक माने। जिस समय मन शरीर इन्द्रिय वा विषय की ओर जावे, उसी समय अपने स्वरूप को सम्भालकर मन के साथ तद्रूप न होवें किन्तु विचार करें कि हे मन! तू अविद्या का कार्य है। इसलिए बारम्बार अविद्या के कार्य की ओर दौड़ता है। मैं अविद्या से रहित हूँ, अतः तेरे कर्म से मलिन नहीं होता। जब अविद्या ही असत्य है तो अविद्या का कार्य कैसे सत्य होगा? जब तू ही असत्य है तब तेरे धर्म-संकल्प-विकल्प, राग-द्वेष आदि किस प्रकार सत्य होंगे? जब संकल्प विकल्प, राग-द्वेषादिक ही सत्य नहीं तो इनका फल-संसार कैसे सत्य होगा? जब संसार सत्य नहीं तो दुःख कहाँ है? जब दुःख ही नहीं तो हे मन! व्यर्थ क्यों दुःखी होता है? तेरा दुःख तुम्हें दुःखी नहीं कर सकता, क्योंकि वास्तव में दुःख कुछ नहीं, केवल तेरी भ्रांति से दुःख प्रतीत होता है। सो मैं भ्रांति से रहित हूँ, तेरे सम्बन्ध से भी रहित हूँ, इसलिए सदा आनन्द रूप हूँ। इस रीति से यदि बारम्बार विचार किया जावे तो नेत्रों के खुलने पर भी ऐसी अवस्था उत्पन्न होगी जिसमें न दुःख और न सुख। होगा। न शरीर होगा और न संसार; न मक्खी होगी और न मच्छर। इसलिए उचित है कि जिस समय नाम की उपासना से मन उदास हो जावे, तब पूर्वोक्त विचार की उपासना करना उचित है। अपने स्वरूप विचार के लिए ब्रह्म-विद्या का अभ्यास उचित है, जिससे दृढ़ निश्चय हो जावे कि शरीर से स्वरूप का किस प्रकार से सम्बन्ध नहीं।

प्रश्न ३८—यदि ध्यान के समय कोई भ्रम उत्पन्न हो तो उसकी निवृत्ति किस प्रकार करना चाहिए?

उत्तर—अपने आपको स्मरण कर अर्थात् अपने आपको भ्रम का साक्षी और प्रकाशक मानकर भ्रम को कल्पित और मन का कार्य निश्चय कर उसके फल से रहित रहना, भ्रम से मुक्ति का उपाय है। ध्यान के समय जिस स्वरूप का ध्यान करें, उसे अपनी आत्मा निश्चय करे। ऐसा न हो कि अपने-आपको ध्यान करने वाला माने और जिसका ध्यान करता है उसको दूसरा भ्रम कदापि निवृत्त नहीं होगा। जब ध्यान करने योग्य आपको निश्चय किया तब भ्रम ध्यान में क्या स्वप्न में भी नहीं रहेगा। अतः ध्यान के समय अपने-आपको स्मरण रखना भ्रम से मुक्त होने का उत्तम और सरल उपाय है।

प्रश्न ३९—यदि अभ्यास या उपासना के समय सद्गुरु मूर्ति का दर्शन हो तो उपासना की सिद्धि है या असिद्धि?

उत्तर—सिद्धि है, क्योंकि अभ्यास और उपासना का कारण सद्गुरु हैं। यदि अभ्यास के समय अन्तःकरण में सद्गुरु की मूर्ति प्रतीत हो तो निश्चय करना चाहिए कि अन्तःकरण मल से रहित होकर निर्मल और शुद्ध हो गया है। शिष्य के निश्चय में सद्गुरु की मूर्ति ब्रह्म की मूर्ति है। इसलिए सद्गुरु का दर्शन सगुण ब्रह्म का दर्शन है। इसी दर्शन को पाकर

Scanned with CamScanner

नामदेव, धन्ना, त्रिलोचन, मीराबाई, कर्माबाई आदि प्रसिद्ध चले आते हैं। अतः सद्गुरु की मूर्ति का दर्शन अभ्यास व उपासना की सिद्धि का लक्षण है।

प्रश्न ४०—शरीर में किस श्वास से ईश्वर की स्मृति अधिक हो सकती है?

उत्तर—अपान से। अर्थात् जब बाहर से स्वास अन्दर की ओर आता है तब 'सः' का उच्चारण होता है। 'सः' शब्द का अर्थ ईश्वर है। इस प्रकार अपान वायु से निरन्तर ही ईश्वर-भजन हो रहा है। इसलिए उचित है कि अपान वायु के साथ मिलकर ईश्वर की स्मृति करता रहे और प्राण वायु के आसरे 'अहा' का उच्चारण होता है। 'अहा' का अर्थ जीव है। भाव यह है कि वही ईश्वर जब शरीर में प्रवेश करता है तब जीव नाम से कहा जाता है। इसलिए उचित है कि प्राणपवन के साथ मिलकर ईश्वर को अपनी आत्मा निश्चय करे। इस रीति से प्राण और अपान पर जो स्वतः सिद्ध शब्द हो रहा है, उस शब्द के विचार करने से ईश्वर की स्मृति पूरी-पूरी होती है। यदि शान्त पद की इच्छा हो तो प्राण और अपान के मध्य स्थित होकर स्वरूप का अनुभव करे। अथवा जब प्राण बाहर निकले और अपान अभी अन्दर न आए, तब जो सम अवस्था हो, उसका अनुभव करें। अथवा जब अपान अन्दर आए और प्राणरूप होकर बाहर निकले तब जो सम अवस्था है, उसका अनुभव करे अथवा प्राण और अपान को ब्रह्मरंध्र में रोककर स्थित करे। उसके उपरान्त जो समअवस्था रहे उसको अनुभव करें अथवा प्राण अपान को आगमापाई निश्चय कर इनका साक्षी आपको निश्चय करे। इस रीति से जिस श्वास पर आरूढ़ होने की इच्छा हो, उसी पर आरूढ़ होकर ईश्वर के देश में पहुँचें और सब संशय चित्त से निवृत्त करें।

प्रश्न ४१—जीव किस युक्ति से ईश्वर के सन्मुख हो सकता है?

उत्तर—ध्यान से। अर्थात् ईश्वर सब घटों में पूर्ण है। जब जीव दस इन्द्रियों के विषयों को त्याग कर अपने चित्त को निरोध कर ईश्वर की स्तुति में जोड़ता है और स्तुति करते-करते चित्त ईश्वर के स्वरूप में लीन हो जाता है, उस समय जीव ईश्वर के सन्मुख होता है। ध्यान की युक्ति नीचे लिखी जाती है।

प्रथम—ज्ञान योग से अभिप्राय यह कि जिज्ञासु अपने आपको तीनों शरीरों से भिन्न निश्चय करे। इस विचार से कि शरीर पाँच तत्वों से रचा हुआ है, मैं जीवात्मा तत्वों की रचना से रहित हूँ। अतः मेरा सम्बन्ध शरीर के साथ नहीं। इसी प्रकार मैं नाम, जाति वर्णाश्रम से भी रहित हूँ क्योंकि ये सब शरीर की उत्पत्ति के उपरान्त कल्पित किए गए हैं। शरीर के होते ही ये कई बार विपर्यय होते हैं। मैं अनादि, स्वयं प्रकाश और सत्तामात्र हूँ, किसी प्रकार के विपर्यय भाव को प्राप्त नहीं होता। इसलिए नाम, वर्णाश्रमादि से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। आपको मन से अलग समझें। इस विचार से कि मन सदा संकल्प विकल्प में रहता है और रागद्वेष से पीड़ित होता है। मैं उसकी सब अवस्था को जानता हूँ, इसलिए मैं मन नहीं हूँ, मन से रहित हूँ, इसी प्रकार चित्त, बुद्धि, अहंकार से भी रहित हूँ, क्योंकि ये भी अपने-अपने कर्मों में लगे रहते हैं और मैं इन सबका ज्ञाता और प्रकाशक हूँ। इसी प्रकार मैं जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था से भी न्यारा हूँ। जब रीति से जीव आपको केवल सत्ता-

Scanned with CamScanner

मात्र, चेतनरूप सब विकारों से मुक्त और सब कर्मों से रहित निश्चय करता है, उस समय ईश्वर के सन्मुख हो सकता है, क्योंकि ईश्वर भी शुद्ध, निर्विकार कर्मों की मल से रहित है।

द्वितीय—भक्तियोग से। जब जीव नवधा भक्ति में चित्त लगाता है, उस समय भी जीव ईश्वर के सन्मुख हो सकता है। जब जिज्ञासु श्रवण, कीर्तन स्मरण, प्रार्थना, अर्चन, वंदन, दासभाव, सखाभाव और आत्मनिवेदन को भली प्रकार पूर्ण करता है, तब ईश्वर के सन्मुख होने में समर्थ होता है।

तृतीय—हठयोग से। जब यम, नियम, प्रत्याहार, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान तथा सविकल्प समाधि को सेवन करता है, उस समय जीव ईश्वर के सन्मुख हो सकता है। अभिप्राय यह कि मन रचित सामग्री को त्यागकर जब जीव एकाकी होता है, तब ईश्वर के सन्मुख हो जाता है।

प्रश्न ४२—शास्त्रों में प्रार्थना का जो प्रसंग है, उससे द्वैत सिद्ध होता है। परन्तु शास्त्रकार अद्वैतज्ञानी हुए हैं। द्वैत के प्रसंग को किस निमित्त से उहोंने वर्णन किया है ?

उत्तर—यथार्थ-ज्ञानी की दृष्टि में द्वैत भी अद्वैत है। अद्वैतरूप के बिना द्वैत की सिद्धि किसीप्रकार नहीं हो सकती। जब अद्वैत ही अधिष्ठान है और द्वैत उसमें अध्यस्त अर्थात् कल्पित है तो द्वैत की सत्ता मानने में कोई प्रमाण सिद्ध नहीं होता। कल्पित वस्तु सदा अधिष्ठानरूप होती है, क्योंकि द्वैत कल्पित हैं और अद्वैत अधिष्ठान है। अतः द्वैत भी अद्वैत रूप है। इस प्रकार से जिस पुरुष को ज्ञान हुआ है, वह सब ही अद्वैत देखता है।

जैसे तरंग जल के प्रति प्रार्थना करे कि हे जल ! तू मेरा रखवारा है, क्योंकि तू ही मेरा आदि है, तू ही मेरा अन्त है और तू ही मेरा मध्य है, इसलिए मैं कुछ नहीं, सब कुछ तू ही तू है तो इससे किस प्रकार द्वैत को अंगीकार किया जावे ? तरंग जल-रूप है, वह मानो जल ही तरंग रूप होकर अपनी प्रार्थना और स्तुति को स्वरसहित गायन करता है। वैसे ही जीवरूपी तरंग जब ब्रह्म को अपना आत्मा निश्चय करता है तो कहता है कि हे प्रभु ! तू मेरा रखवारा है, तू मेरा आदि है, तू मेरा अन्त है और तू मेरा मध्य है। इसलिए मैं कुछ नहीं; क्योंकि ब्रह्म से भिन्न दूसरी वस्तु का अभाव है। जब एक ही चेतन अपनी महिमा में पूर्ण है तो वही चेतन 'मैं' रूप होकर उपासना करता है। और तू को अपना उपास्य समझता है। अतः आप ही अपनी प्रार्थना से प्रसन्न होता है। आप अपने गुणगायन से गद्‌गद् तथा आनंदित होता है और आप ही अपने भजन स्वर सहित बोलकर अपनी महिमा और शक्ति को प्रगट करता है। इससे द्वैत की सिद्धि किस प्रकार मानी जाए ?

जैसे पुरुष दर्पण में अपने को देखकर अपनी महिमाआप करता है और अपने साथ आप प्रेम करता है, अपना शृंगार आप बनाता है, आपको आप देखकर प्रसन्न होता है वैसे ही ज्ञानवान ज्ञान रूपी दर्पण में आपको आप देखकर अपनी महिमा गायन करता है और अपने विशेषणों को नाना प्रकार के शब्दों और अलंकारों से भूषित कर पढ़ता है। अपनी विस्तीर्ण शक्ति को आप ही स्मरण कर आनन्द पाता है। अपनी अविनाशी सुन्दरता का अनुभव कर अपने गीत आप गाता है। आपको मैं मानकर अपने विस्तीर्ण स्वरूप को तू करके बुलाता है,

Scanned with CamScanner

मानो मैं ही तू का रूप धारण कर अपनी शोभा को आप खोलकर दिखाता है, द्वैत वस्तु का सर्वथा अभाव है।

शरीर दिशा में न्याय सहित विचार दृष्टि से देखें तो विराट रूप प्रभु ही शरीर का रखवारा है, क्योंकि सर्व प्रकार से शरीर की पालना और रक्षा विराट द्वारा होती है। शरीर दृष्टि को लेकर विराट रूप की स्तुति और प्रार्थना करनी उचित है। शरीर विराट का कार्य है अर्थात् विराट से उत्पन्न हुआ है, इसलिए विराट का पुत्र है। पुत्र को उचित है कि पिता की महिमा गायन करके कृतघ्नता का दोष निवृत्त करे। वास्तव में पिता और पुत्र में भेद कुछ नहीं। पुत्र पिता की आत्मा है। वैसे ही शरीर और विराट में भेद कुछ नहीं। शरीर विराट का आत्मा है। यदि पुत्र पिता की प्रार्थना करे तो पुत्र की विशेषता है, न्यूनता नहीं। उसी प्रकार शरीरधारी भी यदि विराट की स्तुति करे तो उसकी विशेषता है, न्यूनता नहीं। इस रीति से भी प्रार्थना आदि विधिपूर्वक हैं।

प्रच्छन्न अहंकार को जब तक महत् अहंकार में लीन न करें, तब तक कल्याण स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती। अतः प्रच्छन्न अहंकारी जीव है और महत् अहंकारी ईश्वर है। जब जीव प्रार्थना द्वारा अपना अहंकार ईश्वर के आगे भेंट करता है तब जीव का जीवित भाव लीन होकर ईश्वरभाव शेष रहता है। अतः अहंकार की निवृत्ति के लिए महात्माजन जिज्ञासुओं को प्रार्थनारूप भक्ति में प्रवृत्त करते हैं। यद्यपि जीव और ईश्वर दोनों एकरूप हैं तथापि उपाधिभेद से अल्पज्ञता और सर्वज्ञता का भेद है। वह अल्पज्ञता सर्वज्ञता के आगे प्रार्थना करती है कि हे सर्वज्ञता। तू ही मेरी रखवारी है। क्योंकि तेरा ही ज्ञानस्वरूप मेरी आत्मा है; मानो तू ही मेरा रूप धारण करके स्थित है। मैं नाममात्र हूँ। जब इस प्रकार अल्पज्ञता सर्वज्ञता में लीन होती है तो शेष ऐसी वस्तु रहती है, जिसमें न सर्वज्ञता है और न अल्पज्ञता, केवल बोध मात्र है, सो ऐसा बोध प्रार्थना करने से प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रार्थनादि द्वैतरूप नहीं हैं किन्तु अद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादक और साधक हैं। श्रद्धा और प्रेमसहित इनका सेवन करना योग्य है।

॥ भजन ॥ (१)

हरभक्ति में चित लावो।
श्वास-श्वास कर हरी उचारो, वाणी शुद्ध बनावो ॥ १ ॥
क्षण-क्षण ध्यान प्रभु को हृद में, प्रेम हिंडोल झुलावो ॥ २ ॥
जो-जो वस्तु दिखाई देवे, गोविन्द लख विगसावो ॥ ३ ॥
जो-जो शब्द सुनाई देवे, ओंम लखे तृप्तावो ॥ ४ ॥
जो पावो हरि प्रतिपाल का, धनधन्यवाद बुलावो ॥ ५ ॥
जो-जो कपड़ा पहनो तत्क्षण, दाता का गुण गावो ॥ ६ ॥
जो-जो कर्म करो नित प्यारे, प्रभु की भेंट चढ़ावो ॥ ७ ॥
जब सोवो वा जागो जब ही, प्रभु को सीस निवावो ॥ ८ ॥
प्रात रात मध्याह्न काल में, राम सिमर सुख पावो ॥ ९ ॥
सूरज निकले हरि कीरत कर, मींह बरसे यश गावो ॥१०॥
बाजारों जंगलों में हरि की, शोभा लग विगसावो ॥११॥

Scanned with CamScanner

भाँति-भाँति पक्षी की बोली, सुन-सुन प्रेम में आवो ॥१२॥
अन्दर बाहर राम पेख कर, द्वैत भाव विसरावो ॥१३॥
हरिभक्ति में लीने इस विधि, हेमां राम समावो ॥१४॥

॥ भजन ॥ (२)

साधो प्रभु की भक्ति कमावो।
प्रभु को सत् पूरण निश्चय कर, हृद में सदा बसावो ॥ १ ॥
प्रभु है द्रष्टा श्रोता सबका, पाप न मूल कमावो ॥ २ ॥
ज्ञाता सब संकल्पों का प्रभु, फुरना नीच हटावो ॥ ३ ॥
घट-घट व्यापक ब्रह्म विराजे, हृदय न कोई दुःखावो ॥ ४ ॥
निन्दा नहीं किसी की करना, सब घट है हरि गावो ॥ ५ ॥
प्रेम भाव कर निशदिन भीनें, सबको सुख पहुँचावो ॥ ६ ॥
पशु पक्षी मानुष की सेवा, हरि पूजन ठहरावो ॥ ७ ॥
मीठा बोलो हर्ष वदन रहो कोमल रखो स्वभावो ॥ ८ ॥
भक्ति कर दुःखिये दीनों की, प्रभु प्रसन्नता पावो ॥ ९ ॥
सब में मोहन निश्चय करके, क्रोध अग्नि विसमावो ॥१०॥
दुःख सुख प्रभु आज्ञा निश्चय कर, हर्ष शोक नहीं लावो ॥११॥
दुःख देने वाले को सुख दो, प्रीतम जान रिझावो ॥१२॥
इस विधि प्रभु प्रसन्नता पाकर, जगजंगल मिटावो ॥१३॥
हेमां नदि ज्यूं भक्ती करके, हरिसागर मिल जावो ॥१४॥

॥ भजन ॥ (३)

ज़रा प्रेम भरी दिल आँखों में, दर्शन मेरा जितकित पावो ॥ १ ॥
कभी श्याम घटा में चमके हूँ, कभी गरजे हूँ कभी बरसे हूँ।
कभी रोवे हूँ कभी हँसे हूँ, लीला मेरी लख विगसावो ॥ २ ॥
कहीं बुलबुल मोर बना उड़ता, कहीं बैल चलाता हल फिरता।
कहीं सर्प कहीं मछली कीड़ा, मुझे पेख पेख हरषाओ ॥ ३ ॥
फूल में महकूँ विगसावूं, हरे खेत में मैं लहराऊँ।
फल में रस वृक्ष में छाँव करूँ, मेरी शोभा लख गुण गावो ॥ ४ ॥
कहीं पर्वत में स्थित हूँ सीधा, कहीं नदियों में बहता फिरता।
कहीं सागर में हूँ लहराता, मेरे चोज़ ही सारे पावो ॥ ५ ॥
कहीं गृहस्थी कहीं संन्यासी, कहीं ठाकुर औ कहीं दासी।
पापी भरमी में भी वासी, सब रूप न मत भरमावो ॥ ६ ॥
मैं पिता बनूं में पुत्र बनूं, स्त्री भर्ता में मैं होय रमूं।
मैं राजा हूँ मैं परजा हूँ, मेरे विविध रूप नहीं घबरावो ॥ ७ ॥
मैं पूज्या ठाकुरद्वारों में, मस्जिद में निमाज़ गुज़ारों में।
गिरजा में ईस-पुकारों में, मेरी भक्ति में मन लावो ॥ ८ ॥
सब मेरा खेल यह है प्यारे, इसे देख-देख रहो मतवारे।
भय भरम वासना को जारो, हेमां मुझ हर में समा जावो ॥ ९ ॥

॥ इति श्री षष्ठ सिद्धान्त समाप्तम् ॥

Scanned with CamScanner

★ शरीर सिद्धान्त ★

: ७ :

प्रश्न १—

॥ दोहा ॥

यह शरीर क्या वस्तु है, कैसे उपजे सोय।
वृद्ध होय किस भाँति यह, अन्त लीन कहाँ होय ?

उत्तर—

॥ दोहा ॥

जड़ असत्य दुःख रूप तन, कर्म भोग को खेत।
द्वेष ताप और रोगमय, जग सम्बन्ध को हेत ॥ १ ॥
पंचीकृत महाभूत से, उत्पत होवे सोय।
वृद्ध होय महाभूत से, लीन भूत में होय ॥ २ ॥
मानो पंजीकृत इन तत्त से देह रूप को धार।
निज स्वभाव निज धरम में, लीला करत अपार ॥ ३ ॥
महा भूत सागर विखे, देह तरंग पहचान।
करम चेषटा देह की, नहीं भूत से आन ॥ ४ ॥
भावाभाव शरीर का, दृष्टि दोष ही जोय।
आदि मध्य और अन्त में, महाभूत है सोय ॥ ५ ॥
नहिं उपजे विनसे नहीं, रंचमात्र कुछ आन।
महाभूत पूरण अचल, हेमां निश्चय मान ॥ ६ ॥

प्रश्न २—शरीर क्या वस्तु है ?

उत्तर—शरीर पंचीकृत पंचमहाभूतों का कार्य है।

प्रश्न ३—इन्द्रियाँ कितनी हैं और उनका निर्णय किस प्रकार है ?

उत्तर—इन्द्रियाँ दस हैं। पाँच कर्म इन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। ज्ञानेन्द्रियों के नाम हैं—श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, नासिका। इनके विषय भी पाँच हैं। श्रोत्र का विषय शब्द, त्वचा का स्पर्श, नेत्र का रूप, रसना का रस और नासिका का विषय गंध है। एक-एक तत्व के सतोगुण अंश से एक-एक इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई है। आकाश के सतोगुणी अंश से श्रोत्र इन्द्रिय, पवन के सतोगुणी अंश से त्वचा इन्द्रिय; अग्नि के सतोगुणी अंश से रूप इन्द्रिय, जल के सतो-

Scanned with CamScanner

गुणी अंश से रसना इन्द्रिय और धरती के सतागुणी अंश से नासिका इन्द्रिय है।

पाँच कर्मेन्द्रियों के नाम हैं—वाक, हस्त पाद उपस्थ और गुदा। इनके विषय भी पाँच हैं। वाक् का विषय वचन, हस्त का विषय ग्रहण और त्याग, पाद का गमनागमन, उपस्थ का विषय रति-भोग और मूत्र-त्याग तथा गुदा का विषय मल त्याग। एक-एक तत्व के रजोगुण अंश से इनकी उत्पत्ति है। आकाश के रजोगुणी अंश से हस्त, अग्नि के रजोगुणी अंश से पाद, जल के रजोगुणी अंश से उपस्थ और धरती के रजोगुणी अंश से गुदा।

ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान होता है और कर्मेन्द्रियों से कर्म होता है। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की आपस में मित्रता है अर्थात् दोनों मिलकर चेष्टा करते हैं, क्योंकि दोनों आकाश का कार्य हैं। त्वचा और हस्त की मित्रता है, क्योंकि दोनों पवन के कार्य हैं। नेत्र और पाद की मित्रता है क्योंकि दोनों जल के कार्य हैं। नासिका और गुदा की मित्रता है, क्योंकि दोनों धरती के कार्य हैं। इस प्रकार पाँच तत्व और ज्ञान और कर्म की सिद्धि के लिए दस इन्द्रिय रूप हैं।

प्रश्न ४—अन्तःकरण कितने हैं और इनका निर्णय किस प्रकार है ?

उत्तर—मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार से अन्तःकरण चार हैं। मन का विषय संकल्प-विकल्प, चित्त का विषय चिंतन, बुद्धि का विषय निश्चय और अहंकार का विषय मैं मेरी है। पाँच तत्वों से मिश्रित सतोगुणी अंश से इनकी उत्पत्ति है और शरीर के अन्तर इनका निवास है। ज्ञानेन्द्रिय का विषय और कर्मेन्द्रिय के कर्म का ज्ञान इसमें है। अन्तःकरण मानो ज्ञान का पात्र है। अन्तःकरण वास्तव में एक है, परन्तु कर्म भेद से चार प्रकार का माना जाता है। इस रीति से पाँच तत्वों का शुद्ध सतोगुणी अंश अन्तःकरण रूप है। दस इन्द्रियों की अन्तःकरण के साथ मित्रता है, क्योंकि दोनों पाँच तत्वों का कार्य हैं।

प्रश्न ५—अन्तःकरण की उत्पत्ति किससे है उसकी बुद्धि या निवृत्ति कैसे होती है ?

उत्तर—अन्तःकरण की उत्पत्ति पाँच तत्वों के सतोगुणी अंश से है और उसकी वृद्धि तथा निवृत्ति भी पाँच तत्वों से होती है।

प्रश्न ६—शरीर में सतोगुण क्या है ?

उत्तर—चार अन्तःकरण और पाँच ज्ञान इन्द्रिय सतोगुण हैं।

प्रश्न ७—इनको सतोगुण क्यों कहते हैं ?

उत्तर—सतोगुण के अर्थ हैं शुद्ध शुद्ध वस्तु में प्रतिबिम्ब पड़ना। अन्तःकरण और इन्द्रियों में सब जड़ और चेतन पदार्थों का प्रतिबिम्बितरूप ज्ञान होता है, इसलिए अन्तः-करण और ज्ञानेन्द्रिय सतोगुण है।

प्रश्न ८—किसका सतोगुण है ?

उत्तर—पाँच तत्वों का सतोगुण है।

प्रश्न ९—सतोगुण पूर्ण तत्वरूप है अथवा तत्वों का अंश है ?

उत्तर—तत्वों का अंश है। भाव यह है कि तत्वों में जो सूक्ष्म और शुद्ध भाग है, वह सतोगुण है। इसलिए तत्वों के शुद्ध अंश को सतोगुण अंश कहते हैं। पूर्ण तत्व त्रिगुणात्मक

Scanned with CamScanner

हैं। इससे केवल सतोगुण तत्वों का एक अंश सतोगुणी है। इस दृष्टि को लेकर शास्त्रों में अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रियों को सतोगुणी अंश लिखा है।

प्रश्न १०—शरीर में रजोगुण क्या है ?

उत्तर—प्राण और कर्म-इन्द्रिय रजोगुण हैं।

प्रश्न ११—इनको रजोगुण क्यों कहते हैं ?

उत्तर—रजोगुण का अर्थ कर्म है, क्योंकि प्राण और कर्म-इन्द्रिय द्वारा शरीर में कर्म सिद्ध होते हैं। इसलिए प्राण और कर्मेन्द्रिय शरीर में रजोगुण हैं।

प्रश्न १२—किसका रजोगुण है ?

उत्तर—पाँच तत्वों का रजोगुण है।

प्रश्न १३—रजोगुण पूर्ण तत्वरूप है अथवा तत्वों का अंश है।

उत्तर—तत्वों का अंश है।

प्रश्न १४—शरीर में तमोगुण क्या है ?

उत्तर—अस्थि, माँस, नाड़ी, चर्म, रोग, नख, विष्ठा, मूत्र, वीर्य, लहू आदि स्थूल पदार्थ तमोगुण हैं।

प्रश्न १५—इनको तमोगुण क्यों कहते हैं ?

उत्तर—तमोगुण का अर्थ है मूढ़ता और अज्ञान। जितने भी जड़ और अज्ञान पदार्थ हैं, वे सभी तमोगुणी हैं।

प्रश्न १६—किसका तमोगुण है ?

उत्तर—पाँच भूतों का तमोगुण है।

प्रश्न १७—पूर्ण तत्व रूप है अथवा तत्वों का अंश है ?

उत्तर—तत्वों का अंश है।

प्रश्न १८—माया के तीन स्वरूप क्यों कहे हैं ? अर्थात् माया को सतोगुणी किस अवस्था में कहते हैं और रजोगुणी या तमोगुणी किस अवस्था में ?

उत्तर—माया नाम सर्वज्ञ वृत्ति का है। जब वृत्ति ज्ञानस्वरूप होती है, तब सतोगुणी है जब कर्मरूप होती है तब रजोगुणी और जब मूढ़रूप होती है तब तमोगुणी है। इनमें से जागृत-अवस्था सतोगुणी, स्वप्नावस्था रजोगुणी और सुषुप्ति अवस्था तमोगुणी है। इसी प्रकार विराट की भी तीन अवस्थाएँ हैं। मनुष्य-सृष्टि सतोगुणी अवस्था वा जागृतावस्था है। पशु-पक्षी, तिर्यगादि-सृष्टि रजोगुणी व स्वप्नावस्था है। वृक्ष पर्वतादि सृष्टि तमोगुणी व सुषुप्ति अवस्था है। सृष्टि में तीन प्रकार के स्वभाव प्रवृत्त हैं। पहला उत्तम अर्थात् दया, धर्म, वैराग्य, विचार, उदारता, शान्ति ज्ञानादि इनको सतोगुणी स्वभाव कहते हैं। दूसरा मध्यम अर्थात् चतुराई, चंचलता, विषय, प्रीति, तृष्णा, अहंकार, राग द्वेष, व्यवहारादि इनको रजोगुणी स्वभाव कहते हैं। तीसरा अधम अर्थात् मूढ़ता, लयता, आलस्य, निद्रा, मत्सर, क्रोध, हिंसादि इनको तमोगुणी स्वभाव कहते हैं। जब उत्तम स्वभाव मनुष्य में होते हैं तब सतोगुणी मनुष्य कहा जाता है। जब मध्यम स्वभाव होते हैं तब रजोगुणी और जब

Scanned with CamScanner

अधम स्वभाव होते हैं तब तमोगुणी कहा जाता है। इस प्रकार माया अर्थात् वृत्ति के तीन स्वरूप हैं।

प्रश्न १९—शास्त्रों में लिखा है, इन्द्रिय, विषय और देवता मिलकर शरीर का निर्वाह करते हैं। अब इनमें से इन्द्रिय और विषयों का सम्बन्ध तो परस्पर प्रतीत होता है, परन्तु देवताओं का सम्बन्ध इन्द्रियों से प्रतीत नहीं होता। कृपा कर समझाइये कि देवताओं और इन्द्रियों का सम्बन्ध किस प्रकार है?

उत्तर—इन्द्रिय, विषय और देवता पाँच तत्वों का कार्य हैं। इसलिए इन तीनों का आपस में सम्बन्ध है। शास्त्रकारों इन्द्रिय-विषय और तत्व को देवता कहते हैं। ये मिलकर शरीर का निर्वाह करते हैं। जैसे कान इन्द्रिय हैं, शब्द विषय हैं और दिग्पाल देवता हैं। सो यह तीनों आकाश रूप हैं, क्योंकि आकाश ही कान अर्थात् श्रोत्र इन्द्रिय हैं और आकाश ही शब्द विषय है और आकाश ही दिग्पाल अर्थात् देवता है। अतः एक ही आकाश त्रिपुटीरूप होकर श्रवण करता है। इसी प्रकार त्वचा, स्पर्श और पवन मिलकर कार्य करते हैं। तीनों ही पवन स्वरूप हैं। इस प्रकार सब इन्द्रियाँ विषय और देवता परस्पर सम्बन्धित हैं।

प्रश्न २०—कारण के क्या अर्थ हैं?

उत्तर—उत्पन्न करने वाला। अर्थात् जिससे कोई वस्तु उत्पन्न हो, उसको उसका कारण कहते हैं। जैसे पिता से पुत्र उत्पन्न होता है। पिता कारण है। बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है। अतः बीज कारण है।

प्रश्न २१—कार्य से क्या अर्थ है?

उत्तर—उत्पन्न होने वाला। अर्थात् जो वस्तु जिस वस्तु से उत्पन्न हो, वही वस्तु उस वस्तु का कार्य कही जाती है। जैसे पिता से पुत्र उत्पन्न होता है, पुत्र कार्य है। जैसे बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है, वृक्ष कार्य है।

प्रश्न २२—कारण और कार्य में भेद है अथवा अभेद अर्थात् कारण और कार्य एक रूप हैं अथवा दो?

उत्तर—कारण और कार्य अभेद रूप हैं अर्थात् एक रूप हैं; क्योंकि कारण से कार्य होता है फिर वही कार्य कारण रूप हो जाता है। जैसे पिता से पुत्र होता है और फिर वही पुत्र पिता रूप हो जाता है अथवा जैसे बीज से वृक्ष होता है और फिर वही वृक्ष बीजरूप हो जाता है। अतः कारण कार्यरूप है और कार्य कारण रूप है इनमें भेद रंचकमात्र भी नहीं कहने मात्र में दो हैं, वास्तव में एक है।

प्रश्न २३—राशि क्या वस्तु है और इसका स्वरूप क्या है।

उत्तर—तत्वों का सूक्ष्म स्वभाव जो शरीरधारियों में व्यापक रूप होकर बरतता है, राशि है। उसका स्वरूप वात, पित्त, कफ, और लहू है।

प्रश्न २४—शास्त्रकारों द्वारा निर्दिष्ट बारह राशियों मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुम्भ और मीन से क्या तात्पर्य है?

Scanned with CamScanner

उत्तर—वास्तव में सृष्टि में चार तत्वों के तीन-तीन अंश पूर्ण होकर सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति और लय की प्रवृत्ति चला रहे हैं। तात्पर्य यह कि पवन सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण रूप होकर सृष्टि के प्रवर्तक हैं। इसी प्रकार अग्नि, और धरती सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण रूप होकर सृष्टि के प्रवर्तक हैं। मानो एक-एक तत्व के तीन-तीन गुण, तीन-तीन राशियाँ हैं। इस प्रकार चार तत्वों से बारह राशियाँ सृष्टि के निमित प्रगट होकर सृष्टि में प्रवृत हो रही हैं। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं और यदि विचार कर देखें तो जो-जो नाम राशियों के हैं, उनके अर्थ भी भिन्न-भिन्न जड़ और चेतन आकार जो तत्वों का कार्य है, सिद्ध होता है। अतः तत्वों के सूक्ष्म स्वभावों को शास्त्रकारों ने स्वरूप का अलंकार बाँध कर मेष और वृषादि नामरूपों से प्रतिपादित किया है। जैसे दूसरे देवताओं अथवा दैत्यों के नाम और रूप स्थापित किये हैं वैसे ही तत्वों के भी नाम स्थापित किए हैं। जैसे देवता और दैत्य का स्वरूप तत्वों से भिन्न और कुछ नहीं, वैसे ही राशि का स्वरूप भी तत्वों से भिन्न और कुछ नहीं। इस प्रकार बारह राशियाँ चार तत्वों के तीन-तीन गुण हैं। जो लोग इनके स्थान भिन्न-भिन्न मानते हैं और सूर्य को इन राशिशों में मानकर भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ करते हैं, उनका तात्पर्य भी तत्वों से बाहर का नहीं। क्योंकि जितने लोक, खण्ड, सितारे, ग्रह आदि हैं, वे सब पंच भौतिक हैं। जब ये सब ही भूतों का विकार हैं, भूतों को त्यागकर इनको दूसरी वस्तु प्रतीत करना यथार्थ ज्ञान के विरुद्ध है। अतः बारह राशियों का स्वरूप चार तत्व हैं, और चार तत्व वात, पित्त, कफ और लहू रूप होकर शरीरों में प्रवृत हैं। इस रीति से बारह राशियाँ सब शरीरों में प्रवृत हैं।

प्रश्न २५—राशियों का फल शरीरों को किस प्रकार मिलता है ?

उत्तर—कारण की एकता से। तात्पर्य यह कि शरीर भी भूतों का कार्य है और राशि भी भूतों का स्वभाव है। भूतों का स्वभाव भूतों कार्य के पर अपना बल प्रगट करना है। इनका बल भूतों को त्यागकर अभूत वस्तु पर प्रवृत नहीं हो सकता। इस प्रकार राशियों का फल शरीरों को मिलता है। अर्थ यह कि तत्वों से शरीरों को दुःख, सुख, वृद्धि, हानि, क्लेश, शोक, रोग, नैरोग्य, लाभ खर्चादि प्राप्त होते हैं। जैसे तत्व और शरीर कारण कार्यरूप है, राशि भी तत्वों का कार्य है और उसका निवास शरीरों में है। इससे उसका स्वभाव शरीरों द्वारा प्रगट होता है, इसीलिए शास्त्रकारों ने राशियों का फल शरीरों से माना है।

प्रश्न २६—किसी शरीर को किसी राशि का फल मिलता है और किसी को दूसरी राशि का फल। सब शरीरों को एक जैसा फल नहीं मिलता। इस भेद का क्या कारण है ?

उत्तर— तत्वों की विशेषता और न्यूनता। जिस शरीर में वात अधिक है, उसे पवन के त्रिगुण स्वभावों का फल अधिक मिलता है। जिस शरीर में कफ अधिक है, उसे जल के तीन गुण रूप तीन स्वभावों का फल मिलता है। जिस शरीर में पित्त अधिक है उसे अग्नि के तीन गुण रूप तीन स्वभावों का फल मिलता है और जिस शरीर में लहू अधिक है उसे धरती के तीन गुण रूप स्वभावों का फल मिलता है। इस रीति से भिन्न-भिन्न शरीरों को भिन्न-भिन्न राशियों का फल मिलता है अर्थात् भिन्न-भिन्न तत्वों के स्वभावों का फल

Scanned with CamScanner

मिलता है। इसका कारण यह है कि सृष्टि की उत्पत्ति पंचीकृत पंचमहाभूत अर्थात् मिश्रित पंच तत्वों से होती है। इसमें तत्वों की समानता नहीं रहती, किन्तु अधिकता और न्यूनता रहती है, इसका फल सृष्टि की अनेकता और विचित्रता है अर्थात् भिन्न-भिन्न स्वरूप, आकार, स्वभाव, आहार, शरीर, आयु, चेष्टा, बर्ताव, उत्पत्ति के कारण, पालन के निमित, निवास के स्थान और भिन्न-भिन्न शब्द व रंग तत्वों की न्यूनता और विशेषता का फल हैं। अतः तत्व ही तत्व में बरतते हैं। शरीर नाम मात्र है। तत्वों के ही स्वभाव आकार रूप होकर शरीरों की नाँईं प्रतीत होते हैं। शरीर कोई वस्तु नहीं, केवल स्वभाव ही है और स्वभाव तत्वरूप है। वही तत्व ही अपनी एकत्रता से न्यून और विशेष भाव को अंगीकार कर कहीं शरीर, कहीं राशि और कहीं उन दोनों का हिसाब लगाने वाले और कहीं इन दोनों का तत्वरूप निरूपण करने वाले हैं। वास्तव में कोई भेद नहीं। तत्व अद्वैत है। स्वभाव की उपाधि से पाँच प्रकार का प्रतीत होता है और फिर पाँचों का पंचीकरण अनेक प्रकार का प्रतीत होता है। इस अनेकता में नानाभाव निश्चय होकर नाना प्रकार की कल्पना हो रही हैं और उस कल्पना को सत्य मानकर अज्ञानी कष्ट पा रहे हैं। यथार्थ दृष्टि से देखें तो अद्वैत तत्व आप में आप स्थित है, न कोई राशि है, न कोई शरीर है और न कोई फल है।

प्रश्न २७—शास्त्रकार सूर्य को राशियों को मानते हैं और कहते हैं कि अब सूर्य मेष राशि में है, अब मीन राशि में है। इसका क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—सूर्य काल का उपलक्षण है। अर्थात् काल की गिनती सूर्य के द्वारा होती है। काल की चार ऋतुएँ हैं। एक वसन्त ऋतु, दूसरी ग्रीष्म ऋतु, तीसरी पतझड़, और चौथी शीत ऋतु। एक-एक ऋतु में तीन भूमिकाएँ हैं।सारे मिलकर बारह होती हैं। इन बारह भूमिकाओं में सूर्य अपना चक्र करता है। उस भूमिका का नाम मास है मास बारह हैं। तीन तीन मास की एक-एक ऋतु है इस प्रकार बारह मास बारह राशि हैं और सूर्य इन बारह मासों में रहता है। इसलिए शास्त्रकार सूर्य को बाहर राशियों में लिखते हैं। बारह मास और चार ऋतुएँ भी चार तत्वरूप हैं। ग्रीष्म ऋतु अग्निरूप, पतझड़ ऋतु पवनरूप, शीत-ऋतु जलरूप और वसन्त ऋतु धरतीरूप है और इनके तीन-तीन मास तीन-तीन गुण हैं। इन गुणों को दूसरी संज्ञा से मास कहते हैं। वास्तव में मास का स्वरूप और कोई नहीं। इस प्रकार चार ऋतु, बारह मास, और बारह राशियाँ चार तत्वरूप हैं। सूर्य भी इन चार तत्वों के पंचीकृत भाग का कार्य है अर्थात् इन चारों के मिलाप से जो तेज उत्पन्न होता है, वह सूर्य है। अतः सूर्य और राशि दोनों पंचीकृत पंचमहाभूतों का कार्य होने से एकरूप हैं दो नहीं। इसलिए सूर्य को शास्त्रकारों ने राशियों में लिखा है। वास्तव में सूर्य सूर्य में स्थित है, न किसी में आता है और न किसी में जाता है। अज्ञान से राशियों की कल्पना हो रही है। यथार्थ दृष्टि से देखें, स्वतः स्वभाव अपनी स्वाभाविक शक्ति में स्थित होकर अपने महिमा-रूप भिन्न-भिन्न कार्यों को सिद्ध कर रहा है और आप में आप स्थित हैं, जैसे स्वभाव की अनेकता स्वभाव से भिन्न नहीं होती, वैसे सृष्टि की अनेकता वस्तु से भिन्न दूसरी नहीं। स्वभावरूप वस्तु है और आप में आप स्थित है। स्वभाव दो शब्दों से रचित है शब्दों 'स्व' और 'भाव'।

Scanned with CamScanner

स्व का अर्थ 'आप' और भाव का अर्थ 'है'। अतः स्वभाव का अर्थ 'आप है'। अतः आप ही आप है—निश्चय करना बारह राशियों से पार होकर निर्वाच्यपद में स्थिति प्राप्त करना है।

प्रश्न २८—राशियों के स्थापन करने से शास्त्रों का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—केवल मात्र व्यवहार सिद्ध करने का प्रयोजन है। जैसे धरती में व्यवहार सिद्ध करने के लिए खंड, द्वीप, नगर, ग्राम आदि कल्पित हैं वैसे ही काल में बारह राशियाँ अथवा बारह मास व्यवहार करने के लिए कल्पित किए हैं। जैसे मनुष्य जाति में चार वर्ण व्यवहार सिद्ध करने के लिए हैं और एक-एक वर्ण में भिन्न-भिन्न जाति व्यवहार सिद्ध करने के लिए कल्पित हुई है वैसे ही अद्वैत वस्तु में प्रथम काल की कल्पना की है। काल में चार ऋतुओं की, ऋतुओं में मास की और मास में राशियों की कल्पना की गई है तथा राशियों में लाभ खर्च की कल्पना की है। अतः यह कल्पना केवल कल्पित व्यवहार की सिद्धि के लिए है। ज्योतिष शास्त्र भी व्यवहार को सिद्ध करता है। इसलिए ज्योतिष शास्त्रियों ने राशियों को स्थापन कर सकल व्यवहार बारह राशियों में वर्णन किए हैं। अतः यह बारह राशियाँ कल्पित हैं। वास्तव में एक ही राशि है, क्योंकि राशि के अर्थ निधि अथवा खान के हैं और सो निधि सत्तामात्र वस्तु है। ज्योतिषियों ने उस निधि को बारह प्रकार से वर्णन किया है। वास्तव में बारह की समाई नहीं। अद्वैत राशि आप में आप स्थित है। वही राशि सब की आत्मा है अतः सब राशिरूप हैं। राशि से बाहर कोई नहीं। ऐसी अवस्था में राशि को गिनती से रहित मानना उचित है। गिनती सहित मानना यथार्थज्ञान के विरुद्ध है। शास्त्रों का प्रयोजन यही था कि सारी सृष्टि सत्य रूप राशि से उत्पन्न होती है, सत्यरूप राशि में स्थित है और सत्यरूप राशि में लीन होती है, अतः राशि ही राशि है। प्रकृति रूप से एक राशि को बारह प्रकार का निरूपण किया गया है अर्थात् सत्य, शक्ति, अहंकार, महत्व, आकाश, पवन, अग्नि, जल, पृथ्वी, तम, रज सत। अतः एक ही वस्तु द्वादश रूप होकर ब्रह्मांड रूप हो रही है। राशियों के स्थापन का वास्तव प्रयोजन यही है।

प्रश्न २९—शरीर में जो भिन्न-भिन्न रोग होते हैं, उनका निमित्त क्या है ? कई लोग इन्हें पाप कर्मों का फल मानते हैं, दूसरे ग्रह चाल से दुःख और सुख मानते हैं, तीसरे वात, पित्त, कफ़ और लहू की अधिकता व न्यूनता से रोग की उत्पत्ति व नाश मानते हैं तथा चौथे तत्वों की न्यूनता व विशेषता से रोग मानतें हैं। इनमें से यथार्थ क्या है जिस पर निश्चय कर रोग में नीरोगता का आनन्द प्राप्त हो ?

उत्तर—शरीर पाँच तत्वों से रचित है और इन्हीं पाँच तत्वों से इनकी पालना होती है और पाँच तत्वों के सूक्ष्म गुण शरीर में अधिक व न्यून होकर भिन्न-भिन्न रोग उत्पन्न करते हैं और फिर इन तत्वों के कार्य औषधिरूप वनस्पति से, रोग नाश होते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि शरीर भी पंचभौतिक है, रोग भी पंचभौतिक और औषधि भी पंचभौतिक है। भूत ही मानो भूत में वर्तमान है। रोग भिन्न वस्तु नहीं, शरीर की आत्मा है और शरीर भी भिन्न वस्तु नहीं, पंचभूतों का आत्मा है। इसलिए पंचभूतों का परस्पर विरोध और मिलाप

Scanned with CamScanner

अथवा समभाव या विषमता शरीर की चेष्टा में ममता और व्यभिचार की उत्पत्ति द्वारा रोग और नीरोगता अथवा दुःख और सुख की संज्ञा पाकर अज्ञानियों के राग और द्वेष तथा संशय और विपर्यय का हेतु हो रहा है। वास्तव में न कुछ हुआ है, न है और न होगा, केवल पाँच तत्व अपनी महिमा में स्थित हैं।

रोग की उत्पत्ति का क्या निमित्त है? यदि तत्वों को उत्पत्ति अथवा नाशवाला माने तो यथार्थज्ञान के विरुद्ध है। कारण की स्थिर कार्य में कार्य की व्यभिचारिता, विषमता, रोग अथवा अभाव कारण के अज्ञान से प्रतीत होता है। वास्तव में कार्य का स्वभाव कारण के अनुसार होता है। इसलिए जैसे आकाश, पवन, अग्नि, जल, धरती रोग और नीरोगता से रहित हैं वैसे ही इनके कार्य प्राणधारी और प्राणों से रहित रोग और नीरोगता से रहित हैं। प्राण-धारी जो मनुष्य रोग के समय वस्तु विचार से अज्ञात भिन्न-भिन्न कल्पना करता है। कोई कहता है पिछले जन्म के पापकर्मों से रोग अथवा दुःख मिलता है, कोई कहता है कि आदित्य, सोम, मंगल, बुध बृहस्पति, राहु, केतु, शनि के चक्र से रोग व नीरोगता आदि विकार शरीर में होते हैं। कई मानते हैं कि बात, पित्त, कफ आदि की अधिकता व न्यूनता से रोग उत्पन्न होते हैं। अतः इन तीनों का तात्पर्य पाँच तत्वों की न्यूनता और विशेषता में है। तत्वों को त्यागकर कर्म, ग्रह, वात, पित्त, और कफ़ का स्वरूप कोई नहीं।

अब इस विषय का विस्तार सहित वर्णन सुनें। शरीर का पिछला जन्म पिता और माता का शरीर है। जो रोग अथवा रोग की उत्पत्ति के हेतु अथवा वात, पित्त, कफ़ की अधिकता व न्यूनता से पिता के शरीर में थी, वह वीर्य में प्रवेश कर वीर्य सहित माता के गर्भ में आई। फिर माता के शरीर में जो रोग अथवा रोग की उत्पत्ति के हेतु अथवा वात, पित्त, कफ़ आदि की अधिकता व न्यूनता थी वह बालक में प्रवेश करके विराट के गर्भ में आई, फिर विराट के गर्भ में जिस प्रकार बालक की पालना हुई, उसी प्रकार के रोग अथवा नीरो-गता शरीर के सम्बन्धी हुए। इसलिए पिछले कर्मों के मानने से भी तत्वों के स्वभाव सिद्ध होते हैं। इससे भिन्न शरीर की उत्पत्ति का और कोई कारण अथवा कर्म प्रतीत नहीं होता। पिता का शरीर और माता का शरीर भी पंचभौतिक है। पंचभौतिक पदार्थों से इनकी उत्पत्ति और पालना हुई है। पंचभौतिक पदार्थों के आहार का सेवन कर उनके शरीर में भिन्न-भिन्न रोग अथवा रोगों के निमित्त उत्पन्न हुए हैं। उन्हीं पाँच तत्वों का सूक्ष्म अंश वीर्य और रक्त होकर शरीराकार हुआ है? अतः पाँच तत्वों की अधिकता और न्यूनता पापरूप होकर रोग अथवा दुःख का हेतु है और वह पाप-भूत जन्म रूप पिता और माता के वीर्य और लहू से शरीर रूप होकर अपना फल भोगता है। इससे भिन्न पाप और पाप के फल का स्वरूप कोई नहीं। इसलिए पाप कर्म मानना उचित नहीं, केवल तत्वों की न्यूनता व अधिकता अंगीकार करनी योग्य है।

दूसरा, शरीरधारी भिन्न-भिन्न आहार करते हैं और उन आहारों का फल भिन्न-भिन्न होता है। किसी आहार से वात, किसी से पित्त, किसी से कफ और किसी आहार से रक्त अधिक होता है। इस प्रकार आहार के सेवन से वात पित्त, कफ आदि की अधिकता

Scanned with CamScanner

व न्यूनता होकर शरीर में समता का अभाव कर व्यभिचारिता को प्रगट करती है। इसे अज्ञानीजन रोग कहते हैं। अतः रोग बात, पित्त, कफ़ादि का कार्य है और वात, पित्त, कफ़ आदि आहार का कार्य हैं तथा आहार पाँच तत्वों का कार्य है। इसलिए रोग का कारण पाँच तत्वों से सभी वनस्पति की उत्पत्ति है। यदि मनुष्य विचार से रहित होकर आहार का सेवन करता है, तात्पर्य यह कि जो कुपथ्य आहार का सेवन करता है, वह अवश्य ही रोग के अधीन होकर क्लेश का भागी बनता है, सो वह कर्म मनुष्य का ही है। यदि इसको पाप मानें तो योग्य है, क्योंकि इसके अतिरिक्त और कोई शरीर के रोग का हेतु नहीं है। अतः पाप कर्म के संशय को निवृत करके विचार सहित अपने-अपने आहार, व्यवहार, और विचार में प्रवृत्त होना योग्य है जिससे शरीर सुखी रहे।

तीसरा, जो लोग ग्रह चाल से दुःख-सुख मानते हैं वह भी ठीक हैं, क्योंकि ग्रह भी पाँच भूतों से अतिरिक्त कुछ प्रतीत नहीं होते। इसलिए उनके स्वभाव भी वात, पित्त, कफ़ के अनुसार हैं। वात, पित्त, कफ़, पवन, अग्नि और जल के स्वभाव हैं। आकाश और धरती इन तीनों में एकत्ररूप होकर स्थित है। इसलिए नौ ग्रह तीन तत्वों में स्थित हैं अर्थात् तीन ग्रह एक-एक तत्व का स्वरूप है। राहु, केतु और शनि वातरूप हैं। आदित्य, मंगल और बुध पित्तरूप हैं, सोम वृहस्पति और शुक्र, कफ़ रूप हैं। इस प्रकार नौ ग्रह और तीन गुण इन तीनों तत्वों में स्थित हैं। इनसे अतिरिक्त ग्रह का स्वरूप और कोई नहीं। इससे वात की अधिकता ही राहू, केतु और शनि के चक्र का फल है। पित्त की अधिकता ही सूर्य, मंगल और बुध के चक्र का फल है। कफ़ की अधिकता ही सोम, वृहस्पति और शुक्र की चाल का फल है। और वात, पित्त, कफ़, पवन और अग्नि जलरूप हैं। अतः पवन, अग्नि, जल की अधिकता व न्यूनता रोग और नीरोगता का हेतु है। इस रीति से नौ ग्रह भी भौतिक स्वरूप हैं। इससे भिन्न इनका कोई स्वरूप नहीं। अज्ञानी जन वस्तु विचार से अज्ञात केवल श्रोत ज्ञान के आधीन होकर शब्दों पर प्रतीत कर संशयात्मक हो रहे हैं। वास्तव में न कोई ग्रह है न कोई ग्रह की चाल है; न उनका फल दुःख या सुख है। कारणरूप अपनी महिमा में स्थित है। इस प्रकार रोग को नौ ग्रहों की चाल का फल मानना यथार्थ ज्ञान से विरुद्ध है।

चौथा, जो लोग वात, पित्त और कफ़ से शरीर के रोग अथवा नीरोगता को मानते हैं, उनका प्रयोजन भी तत्वों से है, क्योंकि ऊपर सिद्ध हो चुका है कि वात, पित्त, कफ़ तत्व-रूप हैं। इस प्रकार शरीर के रोग का निमित्त केवल तत्वों की न्यूनता अथवा विशेषता ही है। इससे दूसरा और कोई कारण नहीं। अन्य जितनी बातें वाणी और कानों द्वारा प्रसिद्ध हैं, वे अज्ञान से हैं। इसलिए जिज्ञासु उन्हें न माने। जब जिज्ञासु तत्वों का धर्म तत्वों में देखता है और आपको तत्वों से अतीत केवल सत्तामात्र निश्चय करता है, तब रोग के होते हुए मैं रोग से रहित होकर विचरता है। इसलिए शरीर और शरीर के रोग को केवल भौतिक निश्चय करे, आप इनसे रहित होकर अपने स्वतः स्वभाव में स्थित रहे। जो इस प्रकार अपनी निष्ठा दृढ़ करेगा वह सुखी रहेगा, अन्यथा जब तक शरीर रहेगा तब तक भिन्न-भिन्न रोगों के आधीन होकर अपने-आप को दुःखी अथवा सुखी रखेगा और भिन्न-

Scanned with CamScanner

भिन्न संशयों के अधीन कर निरर्थक धर्मों में प्रवृत्त रहेगा। इसलिए शरीर को शरीर के कारण में देखना उचित है, आपको शरीर रूप निश्चय करना उचित नहीं, क्योंकि शरीर एक रस नहीं रहता। कभी बालक होता है, कभी युवा और कभी वृद्ध होता हैं। फिर इन अवस्थाओं में कभी रोग के आधीन होकर कृश और पीला होता है। कभी नीरोग होकर स्थूल और लाल होता है और कभी निर्बल होकर धरती पर गिर पड़ता है और प्राणों से रहित होकर शुष्क लकड़ी की तरह अग्नि में जल कर भस्म हो जाता है। इस प्रकार उत्पत्ति से मरण-पर्यन्त नाना प्रकार की अवस्थाओं को धारण करता है। जो पुरुष अपने-आपको शरीर मानता है वह शरीर की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में नाना प्रकार के क्लेश, ताप, शोक, दीनता और विक्षेपता का अनुभव करता रहता हैं। कदापि सुखी, शान्त, निर्विकल्प और अचिन्त होकर नहीं रहता। इसलिए शरीर और शरीर की अवस्थाओं को तत्वों में लीन करे और तत्वों को परम तत्व में लीन करे। परम तत्व को अपनी आत्मा निश्चय कर आप में आप स्थित रहे। उसके उपरान्त जो अवस्था शरीर की बने, सर्व में समान और स्थितप्रज्ञ रहे। रंचक मात्र आपको दुःखी, सुखी, अंधा, लूला आदि अंगहीन अथवा रोगी निश्चय न करे। सत्ता सामान्य होकर केवल केवलीमात्र रहे। इस प्रकार आपको निश्चय करने वाला रोग में नीरोगता का आनन्द लेता है। इसलिए सब सज्जन, ज्ञानी, जिज्ञासु और बुद्धिमान पूर्वोक्त यथार्थ सिद्धान्त को हृदय में धारण कर संशय और विपर्य से रहित होवें। शरीर, रोग, औषधि और नीरोगता को स्वतः स्वभावत निश्चय कर सर्व अवस्था में समानरूप रहे।

प्रश्न ३०—लोग कहते हैं कि पाप का फल दुःख अथवा रोग है। परन्तु कई पुरुषों को बिना प्रत्यक्ष पाप के जन्म से ही कोई दुःख अथवा रोग होता है, उसका कारण क्या है?

उत्तर—शरीर की रचना पिता के वीर्य और माता के रक्त से होती है। जब पिता माता के शरीर में कोई रोग व दुःख हो तो बालक के शरीर में भी जन्म के उपरान्त वह रोग प्रगट हो जाता है। रोग तत्वों का कार्य है, अतः तत्वों की न्यूनता या विशेषता से उदय और नाश होता है। कभी ऐसा भी होता है कि जन्म के समय बालक की रक्षा पूरी-पूरी नहीं होती, पवन के लगने से वा सूर्य की ताप से अथवा ठण्डे जल से कोई न कोई रोग शरीर में हो जाता है अथवा कभी-कभी पालना करने वाली स्त्री के खाने में संयम न करने से भी बालक को रोग हो जाता है। इस प्रकार और भी कारण हैं जिनसे पाप के बिना बालकों में जन्म से दुःख उत्पन्न होते हैं। यदि वास्तव में देखें तो पाप नाम विपर्यय वर्ताव का है। अर्थात् जब झूठा आहार, अनुचित व्यवहार और अनुचित आचार हो, उसे पाप कहते हैं। इन्हीं तीन कारणों से अर्थात् आहार, व्यवहार और आचार से सुख अथवा दुःख की प्राप्ति होती है। यदि यह अनुकूल रहें तो सुख की प्राप्ति होती है और विपरीत रहें, दुःख की प्राप्ति होती है। बड़े होने पर शरीर में अपने आहार, व्यवहार और आचार से सुख प्राप्त होते हैं। बालक शरीर में माता-पिता के आहार, व्यवहार और आचार से दुःखी और सुखी होता है। यह मर्यादा प्रवाह रूप से चली आती है।

प्रश्न ३१—कोई मनुष्य दुःख नहीं चाहता पर दुःख आ जाता है, इसका क्या हेतु?

Scanned with CamScanner

उत्तर—शरीर का कारण पंचीकृत पंचमहाभूत अर्थात् मिश्रित भूत हैं, अधिक और न्यून भाव को धारकर शरीर की उत्पत्ति, पालन, दुःख सुख, रोग नीरोगता, बल निर्बलता, जीवन और मृत्यु का हेतु हैं। इसलिए तत्वों की अधिकता और न्यूनता ही दुःख का हेतु है। यद्यपि पुरुष दुःख को नहीं चाहता तथापि शरीर रूप कार्य सदा अपने कारण के अधीन रहता है। वास्तव में देखें तो शरीर कोई वस्तु नहीं, केवल पंचीकृत पंचमहाभूत का विशेष स्वभाव इसी में प्रगट होते हैं। सारे ब्रह्मांड की औषधि, धातु, वृक्ष, पशु, पक्षी और विषधारी सर्प आदि का बल और दुःख सुख रूप फल शरीर में प्रवेश कर अर्थात् फैल कर शरीरधारी की इच्छा के बिना दुःख का अनुभव कराते हैं। विराट के अंग पवन और जल का बल और व्यभिचार भी शरीर में प्रवेश करता है, इससे नित्य ही शरीर दुःख के अधीन रहता है। विचार दृष्टि से देखें तो शरीर दुःखों की खान है। इसी से दुःख उत्पन्न होता है, इसी के आसरे रहता है और इसी को दुःख देता है, फिर इसी में समा जाता है। इसलिए यह शरीर ही दुःखरूप है। ऐसे दुःखरूप शरीर का सम्बन्ध भी दुःख का हेतु है।

दूसरा—शरीर का सम्बन्ध अज्ञान का कारण है। अज्ञान विषय-अभिलाषा, लोक-वासना, पुत्र-वासना, देह-वासना, स्त्री-वासना और नाना प्रकार के मनोराज, चिन्ता और विचार का कारण है जिससे पुरुष नित्य ही दुःखी रहता है। अतः अपने वास्तव-स्वरूप का अज्ञान भी दुःख का हेतु है।

तीसरा—वासना के अधीन होकर पुरुष अपने व्यवहार अर्थात् वणिज, खेती, सेवा आदि को ऐसा फैलाता है कि उससे मुक्त होना मरण-पर्यन्त दुःसाध्य और कठिन हो जाता है। इसलिए वासना भी पुरुष के दुःख का हेतु है।

चौथा—गृहस्थाश्रम में बहुत काल स्थित होने के उपरान्त मोह, लज्जा, भय और गृहस्थपालन में प्रीति उत्पन्न होती है। पुरुष उनके अधीन होकर नाना प्रकार के आध्यत्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक ताप सहारता है। अज्ञान के अधीन होकर गृहस्थ का त्याग नहीं कर सकता। गृहस्थ में रहकर ऐसा बल भी उत्पन्न नहीं कर सकता कि मोह, लज्जा, भय और गृहस्थपालन प्रीति से मुक्ति होकर विचरे। यद्यपि अवस्था की वृद्धि, कदापि सत्संग-सेवन, विद्या-प्रकाश, दोष दृष्टि और चातुर्य से गृहस्थ के दुःख को जानता और तोलता भी है तथापि चिरकाल के अभ्यास से ऐसा असक्त, पराधीन, निर्बल और मूढ़मती हो जाता है कि उसका त्याग नहीं कर सकता। इसलिए गृहस्थ-आसक्ति भी दुःख का हेतु है।

पाँचवाँ—पुरुष अल्पकाल के सुख निमित्त नाना प्रकार की भौतिक सामग्री एकत्र करता है। फिर मरण-पर्यन्त उसकी स्थिति के लिए रक्षा करता है। कदाचित् कोई वस्तु नष्ट हो जाती है, अथवा चोरी हो जाती है, उस समय उसका चित्त शोक और चिन्ता से पीड़ित होकर दुःख का अनुभव करता है। इसलिए गृह-सामग्री की प्रीति भी दुःख का हेतु है।

छठा—पुरुष देह-पालन के लिए भिन्न-भिन्न औषधि वनस्पति, और रसादिक पदार्थों का सेवन करता है। जब तक जठराग्नि बलवान रहती है तब तक देह की पुष्टि, बल और विषयभोग का क्षणिक सुख इसको प्राप्त रहता है और जब भिन्न-भिन्न रसों के सेवन

Scanned with CamScanner

से जठराग्नि मन्द हो जाती है, तब अजीर्ण रोग के अधीन होकर नाना प्रकार के दुःखों और क्लेशों को मरण-पर्यन्त सहारता है। इसलिए रसादिक और पुष्टिदायक पदार्थों का अनुचित रीति से सेवन भी दुःख का हेतु है।

सातवाँ—व्यवहारी, गृहस्थी, धनी और प्रतापी पुरुष की प्रीति भी दुःख का हेतु हैं। क्योंकि उनकी प्रीति में चित्त की अवस्था चंचल, विक्षिप्त, वासनासक्त, पराधीन, व्यवहारी और मूढ़ हो जाती है इससे नित्य ही दुःख रहता है। इसलिए अज्ञानी की प्रीति भी दुःख का हेतु है।

आठवाँ—जब पुरुष विद्या अध्ययन कर पंडित हो जाता है और अपनी प्रसिद्धि के लिए देशाटन कर भिन्न-भिन्न पंथों और संतों में वाद-विवाद करता है और खण्डन-मण्डन के आसरे अपनी जीत और दूसरों की सार को सन्मुख रखकर अपनी बुद्धि और बल को इस ओर लगाता है, परन्तु वांछित मनोरथ पूरा नहीं होता। किसी स्थान पर मान-भंग हो जाता है। अपने पक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती, श्रुति-स्मृति श्लोकादि समय पर स्मरण नहीं आते, दृष्टान्त और युक्तियाँ फुरतो नहीं और सभा वाले हँसी करने वाले बन जाते हैं, उस समय विद्या विषधर सर्प के समान होकर उस पंडित को ऐसा मूर्छित, निर्बल, रोगी और शोकातुर वान कर देती है कि उसको जीना दुःख रूप प्रतीत होता। अतः मान के निमित्त विद्या का प्रकाश भी दुःख का हेतु है।

नवाँ—गृहस्थ, राज्यद्वार, सभा, निमित्तक उत्साह अर्थात् विवाह अथवा मृत्यु, सामयिक प्रधानता भी दुःख का हेतु है। पुरुष मान के अधीन होकर दूसरों से आपको निश्चय करता है। चाहता है कि सारे लोग मेरा मान करें, मेरी आज्ञानुसार चलें, मेरी स्तुति करें। किन्तु यह वार्ता असम्भव है। अन्तःकरण के स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं। एक का स्वभाव दूसरे से मिलता नहीं। कोई मान करता है और कोई उस मान को भंग कर देता है। कोई स्तुति करता है कोई निन्दा करता है। इस प्रकार प्रधान पुरुष का चित्त रागद्वेष से पीड़ित रहता है। अतः प्रधानता भी दुःख का हेतु है।

दसवाँ—मन इन्द्रियों के अधीन होकर विषयों के लिए नाना प्रकार का चिंतन और वासना करता है। चिंतन और वासना इच्छानुसार पूर्ण नहीं होती, इससे नित्य ही शोक रहता है। इसलिए कदाचित् अज्ञान-से मन भी दुःखी होता है।

पूर्वोक्त दस निमित्तों से सिद्ध सोता है कि देह का सम्बन्ध ही दुःख रूप, कर्मरूप, संग-रूप, भिन्न-भिन्न स्वभावरूप, मनरूप, जीवात्मा रूप और प्रकृतिरूप है। ये सारे सम्बन्ध ही देह-दिशा में सिद्ध होते हैं, इसलिए सब द्वन्दों का हेतु शरीर है और शरीर पाँच भूतों के मिश्रित अर्थात् मिले हुए भागों से प्रगट होता है। इससे शरीर में भिन्न-भिन्न स्वभाव, रोग वासना, कर्म और संग रहते हैं। चेतन भी शरीर की उपाधि से जीव कहा जाता है। उपाधि का त्याग करने से जीव का जीव भाव सिद्ध नहीं होता। अतः केवल शरीर की उपाधि दुःख का हेतु है। इसके अतिरिक्त जितने वचन प्रसिद्ध हैं, वे सब इस वचन के अन्त-र्भूत हैं। इसलिए शरीर के संग का त्याग सब दुःखों का त्याग है। जिज्ञासु नित्य ही

Scanned with CamScanner

अपने केवल सत्तामात्र चिदाकाश-रूप वास्तव स्वरूप को चिन्तन करे। शरीर का अहंकार कर आपको कर्मों का कर्त्ता, दुःख-सुख का भोक्ता, स्वभावों को अधीन, मन का दास, प्रकृति के आसरे निश्चय न करे। सब से ऊपर और का प्रकाशक आपको मानकर सब अवस्था में समान रूप रहे। उस समय इसे प्रतीत होगा कि यथार्थ वस्तु ज्यों की त्यों आप में आप स्थित है। कारण और कार्य की गम्य उसमें नहीं है। न ही उसमें यह कल्पना है कि यह किसने कराया और वह किसने कराया, यह इस प्रकार हुआ और वह उस प्रकार हुआ; दुःख क्यों प्राप्त हुआ और सुख क्यों नष्ट हुआ। ऐसी अवस्था में सब ही मिथ्या मनोराज प्रतीत होकर विस्मरण हो जावेंगे और किसी अवस्था के आने और जाने से विकल्प उत्पन्न नहीं होगा। यथार्थ अवस्था सत्ता समान्यरूप रहेगी। जब तक इस दृष्टिकोण का अभ्यास जिज्ञासु परिपक्क नहीं करेगा, तब तक लौकिक, पौराणिक और वैदिक वचनों के भिन्न-भिन्न अर्थों और फलों के अधीन अज्ञान से रचित कर्मरूपी वन में भ्रमण करता रहेगा। शांति को कदाचित् प्राप्त नहीं होगा। इसलिए उचित है कि सब संशय से मुक्त होकर परम गम्भीर रूप आत्मा में स्थित रहे।

प्रश्न ३२—स्वप्नावस्था में दुःख-सुख व रोग प्रतीत होने का कारण क्या है ?

उत्तर—स्वप्नावस्था भी तत्वों का कार्य है। उसमें भी तत्वों की न्यूनता और विशेषता से दुःख सुख होता है।

प्रश्न ३३—कर्म क्या है ?

उत्तर—दस इन्द्रियों की प्रवृत्ति का नाम कर्म है। ये शुभ और अशुभ से दो प्रकार के हैं। अशुभ को त्याग कर शुभ में बरतना कर्म है।

प्रश्न ३४—शास्त्रों में ऋषि मुनि जो कर्म सिद्ध कर गए हैं, उसका क्या भाव है ?

उत्तर—उसका यह भाव है कि जब तक प्राणों का संयोग शरीर के साथ रहता है, तब तक नाना प्रकार के कर्म और उन कर्मों के फल शरीर में प्रतीत होते रहते हैं। जब प्राण और शरीर अपने कारणों में लीन हो जाते हैं, तब कर्म और कर्मों के फल भी लीन हो जाते हैं। केवल मध्यावस्था में शरीर कर्मरूप होकर जगत का अखाड़ा लगा रहा है और भिन्न-भिन्न कर्मों से भिन्न-भिन्न नाम और संज्ञा पा रहा है। इसलिए शरीर शरीर नहीं, कर्मरूप है। क्रियाशक्ति रूप प्राण कर्मरूप हैं, वह शरीररूप मेष को धारकर सूत्रात्मा हो रहा है। जैसे एक ही सूत्र अनन्त मणकों में स्थित होकर सब शरीर को एकत्र रखता है और सब शरीरों में एक ही कर्म करता है। तात्पर्य यह कि शरीरों में चौदह इन्द्रियाँ हैं। पाँच कर्म इन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और चार अन्तःकरण, ये चौदह ही सब शरीरों में कर्म के साधन हैं। इनके अतिरिक्त पन्द्रहवाँ साधन कोई नहीं। एक प्राण इन चौदह इन्द्रियों में अनुसूत होकर भिन्न-भिन्न कर्म करता है फिर भिन्न-भिन्न शरीरों में जिस इन्द्रिय का जो कर्म है, वह कर्म समान ही सिद्ध करता है। अर्थात् सब नेत्रों में देखने का, सब कानों से सुनने का, सब रसनाओं से रस लेने का, सब त्वचा से स्पर्श करने का और सब नासिका से गंध लेने का कर्म सिद्ध होता है। इसी प्रकार सब मनों से संकल्प-विकल्प, सब चित्तों से एक चिंतन, सब बुद्धियों से एक निश्चय

Scanned with CamScanner

और सब अहंकारों से एक अहंता सिद्ध होती है। इसी प्रकार सब वाणियों से एक वचन, सब हाथों से ग्रहण व त्याग, सब पादों से गमनागमन, सब उपस्थ इन्द्रियों से वीर्य व मूत्र त्याग और सब गुदा से मलत्याग सिद्ध होता है। इस प्रकार एक ही कर्म सब सजातीय इन्द्रियों से सब ब्रह्मांड में हो रहा है। एक ही प्राण सब इन्द्रियों में अनुसूत है। वही प्राण इन्द्रियों में कर्मरूप हैं। प्राण से बिना इन्द्रिय असिद्ध हैं। इसलिए एक ही प्राण आप में आप स्थित है, वही प्राण क्रियाशक्ति होने से कर्मरूप है। इसलिए सब शरीरों में वही प्राण कर्मरूप होकर प्रतीत हो रहा है। ऋषियों और मुनियों ने अपने-अपने शास्त्रों में कर्म को सिद्ध किया है अर्थात् यह समझाया है कि कर्म प्राणरूप है। प्राण सूत्रात्मा हैं, सूत्रात्मा ईश्वर से अभिन्न है। ईश्वर पूर्ण होने से ब्रह्मरूप है और ब्रह्म निरपेक्ष होने से समान रूप है। इसलिए समान रूप ब्रह्म कर्म रूप होकर जगत हो रहा है। इस प्रकार ऋषियों और मुनियों के शास्त्रों का तात्पर्य समझना यथार्थ है, इसके अतिरिक्त कुछ और समझना अयथार्थ है।

प्रश्न ३५—प्रवृत्ति श्रेष्ठ है अथवा निवृत्ति ?

उत्तर—न प्रवृत्ति श्रेष्ठ है और न निवृत्ति। न्याय, विचार और धर्म सहित जो काल व्यतीत हो, वही श्रेष्ठ है। शरीरधारी किसी विशेष अवस्था में अपना काल व्यतीत नहीं कर सकता। सब प्रकार की अवस्था शरीरधारी के निमित्त है। वही उपाय करना चाहिए जिससे सभी अवस्था सम और सुखरूप हो जावें। प्रवृत्ति का नाम इन्द्रियों के कर्म और अन्तःकरण की चेष्टा का है और निवृत्ति नाम इन्द्रिय और अन्तःकरण के निरोध का है। आठ पहर में उभयावस्था अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति शरीर में अपना प्रकाश करती हैं। जागृतावस्था में महारानी प्रवृत्ति शरीर रूप देश पर राज्य करती है और सुषुप्ति अवस्था में महारानी निवृत्ति राज्य करती है तथा स्वप्नावस्था में दोनों महारानियाँ शरीर रूप देश पर राज्य करती हैं। तात्पर्य यह कि स्वप्नावस्था में स्थूल शरीर निवृत्ति के अधीन होता है और सूक्ष्म शरीर प्रवृत्ति के अधीन होता है। इसलिए तीनों अवस्थाओं में प्रवृत्ति और निवृत्ति शरीर से संयुक्त रहती हैं। किन्तु यथार्थ-ज्ञान से शून्य पुरुष व्यवहार के त्याग को निवृत्ति और व्यवहार की सिद्धि को प्रवृत्ति मानते हैं। उनका यह निश्चय अयथार्थ है, क्योंकि वास्तव में देखें तो प्राण और देह का संयोग ही प्रवृत्ति का निमित्त है। जब तक यह संयोग बना रहेगा तब तक प्रवृत्ति का अत्यन्ताभाव नहीं होगा। इसलिए प्रवृत्ति ही शरीर की यथार्थ अवस्था है। इसी का नाम जीवित काल है। प्राण और देह के वियोग का नाम निवृत्ति है और उसी का नाम मृत्यु अवस्था है। ऐसी प्रवृत्ति सब शरीरधारियों को समान ही प्राप्त है, किन्तु इतना भेद है कि जो पुरुष न्याय विचार, धर्म और समता सहित प्राण और देह के संयोग काल को व्यतीत करते हैं, वह पुरुष निवृत्त, असंग, विचारवान, ज्ञानी, त्यागी, उपरामी, महात्मा अथवा मुक्त गिने जाते हैं और जो पुरुष प्राण और देह संयोग काल को अन्याय, अज्ञान, अधर्म और विषमता सहित व्यतीत करते हैं वह प्रवृत्त, गृहस्थी, अज्ञानी, रागी, आसक्त अधमात्मा अथवा बंधमान समझे जाते हैं। अतः श्रेष्ठ अवस्था वही है जो न्याय, विचार, धर्म और समता सहित व्यतीत हो। जो लोग गृहस्थ और व्यवहार त्यागकर

Scanned with CamScanner

सिर-दाढ़ी मुड़ाकर तथा काषयवस्त्र धारण कर आपको निवृत्त मानते हैं, वे पुरुष महाअज्ञानी हैं। शरीर का सम्बन्ध प्राणों के संग तक वास्तव प्रवृत्तिरूप हैं। यह किसी उपाय से नष्ट नहीं हो सकता। जहाँ जावें, शरीर साथ है, जिस भेष को धारें शरीर साथ है। जिस कर्म को करें शरीर साथ है और जिस अवस्था में रहें, शरीर साथ है। जब शरीर साथ है तो शरीर के वांछित पदार्थ जो भोजन-छादनादि हैं, वे भी साथ हैं। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था भी साथ है। दुःख और सुख भी साथ हैं। सब धर्म शरीर-पर्यन्त शरीर के साथ हैं। इसलिए शरीर के होने पर गृहस्थ और व्यवहार को त्यागकर जो आपको निवृत्त मानते हैं, वे यथार्थ न्याय सहित ज्ञान से मूढ़ हैं। सब शरीरधारी प्रवृत्त हैं। केवल विचार के बल से प्रवृत्ति को अल्प करना, समता सहित सावी अवस्था में बरतना, उत्तम स्वभावों को धार कर सुखी रहना तथा न्यायवृत्ति से सब कर्मों को करना ही श्रेष्ठ अवस्था है। इसके अतिरिक्त न प्रवृत्ति में सुख है और न निवृत्ति में सुख है।

प्रश्न ३६—प्रारब्ध और पुरुषार्थ में क्या भेद है?

उत्तर—कोई भेद नहीं। तात्पर्य यह है कि पुरुषार्थ से सब कार्यों की सिद्धि ही प्रारब्ध है। क्योंकि प्रारब्ध की सिद्धि पुरुषार्थ से होती है और पुरुषार्थ की सिद्धि प्रारब्ध से होती है। अतः प्रारब्ध और पुरुषार्थ पर्यायवाची शब्द हैं। एक अर्थ वाले दो शब्द हैं। इसलिए प्रारब्ध के अनुसार पुरुषार्थ में प्रवृत्त होना उचित है। अभिप्राय यह कि यदि नेत्र प्रारब्ध हैं और देखना भी प्रारब्ध है तो नेत्रों के साथ शास्त्रों को विचारना और मार्ग को देखकर चलना भी पुरुषार्थ है। कान और श्रवण प्रारब्ध है तो कानों के साथ संतों और सत्य-शास्त्रों के वचनों का श्रवण भी पुरुषार्थ है। इस प्रकार सब इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और उनके विषय अथवा कर्म प्रारब्ध हैं। इनको शुभ अथवा अशुभ की ओर प्रवृत्त करना पुरुषार्थ है। अतः प्रारब्ध पुरुषार्थ का कारण है और पुरुषार्थ प्रारब्ध का प्रवर्त्तक है। इसलिए प्रारब्ध और पुरुषार्थ अभेदरूप होकर जगत के प्रवर्त्तक हैं। इस प्रकार प्रारब्ध और पुरुषार्थ को एक वस्तु निश्चय करना यथार्थ-ज्ञान है। फिर प्रारब्ध के अनुसार सत्य पुरुषार्थ में प्रवृत्त रहना जीवनमुक्ति का लाभ है।

प्रश्न ३७—पुरुषार्थ बलवान है अथवा प्रारब्ध?

उत्तर—दोनों समान हैं, क्योंकि दोनों ही कर्म के नाम हैं।

प्रश्न ३८—प्रारब्ध में जो कुछ है वह अवश्य होगा। महात्माओं तथा अवतारों ने भी पूर्व का लिखा भोगा है। यदि किसी के पूर्व का कोई खोया कर्म हो, उसे अवश्य इस जन्म में भोगना पड़ेगा। अतः जिसकी प्रारब्ध में मुक्ति नहीं, वह उसे कैसे प्राप्त होगी?

उत्तर—जो कुछ प्रारब्ध में है, वह अवश्य भोगना पड़ता है। परन्तु प्रारब्ध के अर्थ लोगों में ठीक ढंग से प्रचलित नहीं हैं, इससे उसका फल भी वे अस्पष्ट मानते हैं। प्रारब्ध नाम उपादान कारण का है जिससे शरीर की रचना हुई है। कारण पाँच तत्व आकाश, पवन, अग्नि, जल, पृथ्वी हैं। इन पाँच तत्वों से सब शरीर उत्पन्न हुए हैं, इसलिए सब शरीरों का प्रारब्ध पाँच तत्व हैं और पाँच तत्वों को ही वे भोगते हैं। तत्वों को त्यागकर दूसरे पदार्थों

Scanned with CamScanner

को भोग नहीं सकते। इसका विस्तार यह है—

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच तत्वों का कार्य हैं। जैसे श्रोत व कान आकाश का कार्य हैं तथा आकाश का गुण शब्द को ग्रहण करता है, अर्थात् भोगता है। त्वचा पवन का कार्य है, पवन के स्पर्श गुण को भोगता है। नेत्र अग्नि का कार्य है और अग्नि के रूप वा गुण को भोगता है। इसी प्रकार पाँच कर्मेन्द्रिय भी इन्हीं पाँच तत्वों के कर्मों को करते हैं तथा अन्तःकरण चतुष्टय अर्थात् मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार भी भौतिक पदार्थों का संकल्प, चिंतन, निश्चय और अहंता करते हैं। प्राण भी पाँचभूतों के कार्य अन्न और जल को भोगते हैं। इस प्रकार शरीर पाँच तत्वों का कार्य होने से पाँच तत्वों का भोक्ता है और यहीं पाँच तत्व इसकी प्रारब्ध हैं। प्रारब्ध को सभी ऋषि, मुनि, महात्मा, अवतार, पैगम्बर, बादशाह, कंगाल आदि सब भोग गये हैं, भोगते हैं और भोगेंगे।

(२) यदि कर्म को प्रारब्ध मानें तो भी पाँच तत्वों के बिना और कुछ सिद्ध नहीं होता। जितने शुभ-अशुभ कर्म हैं, वे सारे ही पंचभौतिक पदार्थों के सम्बन्ध से और पंचभूतों की क्रिया-शक्ति या प्राण से सिद्ध होते हैं। शुभ-अशुभ कर्मों का फल सुख-दुःख है। वह भी पंचभूतों के पदार्थों के सम्बन्ध से प्राप्त होता है और पंचभौतिक पदार्थों के सम्बन्ध से नष्ट होता है। इसलिए कर्मवाद से भी पंचभूत ही शरीर की प्रारब्ध सिद्ध होते हैं।

(३) प्रारब्ध के शाब्दिक अर्थ हैं पूर्व प्राप्त। पाँच तत्व शरीर से पूर्व थे। उन्हीं से शरीर उत्पन्न हुआ, उन्हीं के आसरे स्थित रहता है और उन्हीं में लीन हो जाता है। अतः प्रारब्ध नाम पाँच तत्वों का है। वही पाँच तत्व शरीररूप होकर भिन्न-भिन्न कर्मों को करते हैं और उनके फल को भोगते हैं; मानो शरीर ही प्रारब्धरूप है। इससे भिन्न कोई दूसरी प्रारब्ध नहीं। जो लोग शरीर अथवा पाँच तत्वों के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु प्रारब्ध मानते हैं, वे सदा संशयरूप चक्र में घूमते रहते हैं।

(४) जब ऊपर लिखी हुई रीति से प्रारब्ध शरीररूप है, उसमें पूर्व का लिखा हुआ मानना यथार्थ ज्ञान के विरुद्ध है। जब लिखा हुआ नहीं तो किसी की प्रारब्ध में मुक्ति माननी और किसी की प्रारब्ध में न माननी अत्यन्त अयुक्त है। अतः आप इस संशय को त्यागकर इन वचनों को सत्य प्रतीत करें।

(५) मुक्ति कोई देश, वस्तु, दर्शन अथवा प्रताप का नाम नहीं है मुक्ति नाम है समाप्ति का। समाप्ति दो प्रकार की है। एक अज्ञान की समाप्ति, दूसरी देह की समाप्ति। अज्ञान की समाप्ति ज्ञान से होती है और ज्ञान पुरुषार्थ से प्राप्त होता है। सत्संग, सत्शास्त्र-चिन्तन, मनन, निदिध्यासन, उपराम, त्याग और आत्मस्थिति से जन्म-मरण, पुण्य पाप, लोक-परलोक, गमनागमन, ऊँच-नीच, बंध-मुक्त और जीव ईश्वरादि संशयों से शुद्ध होना पुरुषार्थ है। जब ऐसी निर्मल अवस्था प्राप्त होती है, वही मुक्ति है। इस प्रकार की मुक्ति प्रारब्ध से प्राप्त नहीं होती किन्तु पुरुषार्थ से प्राप्त होती हैं। देह की समाप्ति रूप मुक्त प्रारब्ध से प्राप्त होती है। जब पाँच-भूतों में विरोध होता है, उस समय शरीर प्राणों के सम्बन्ध से रहित होकर जड़-गति को प्राप्त करता है। अतः इस प्रकार की मुक्ति से जीवित

Scanned with CamScanner

काल में कोई सुख नहीं। अज्ञान की समाप्ति रूप मुक्ति से जीवन काल में नित्य सुख रहता है। इसलिए पारदर्शी पुरुषार्थ से अज्ञान का नाश करते हैं। जीवन मुक्त होकर पंचदोष, पंचक्लेश और तीन ताप से रहित हो देह की समाप्ति रूप मुक्ति प्राप्त करते हैं। आप भी सब श्रोतज संशय को निरर्थक निश्चय कर चित्त से विस्मरण करें और पुरुषार्थ की ओर चित्त को जोड़कर जीवन-मुक्ति का लाभ उठाएँ।

प्रश्न ३९—सब शास्त्रों और महात्माओं का वचन है कि इच्छा अर्थात् कर्म और भावना के अनुसार फल की सिद्धि हो रही है और सब शरीर वासना के अनुसार भोग भोग रहे हैं। यह भावना नित्य-प्रति देखने में आती है कि जिस कर्म को करता हुआ पुरुष सो जावे, प्रातःकाल उठकर उसी कर्म में प्रवृत्त हो जाता है। यहकहाँ तक ठीक है, लिखें।

उत्तर—यथार्थ है। सब काम इच्छानुसार होते हैं। इच्छा के बिना कोई काम नहीं होता। कर्मों की प्रवर्त्तक इच्छा है। जैसे इंजन में इंजन के चलाने की प्रवर्त्तक कल अर्थात् मशीन होती है। यद्यपि इंजन में बल धूम्र के आसरे उत्पन्न होता है तथापि कल के बिना उस धूम्र से कोई कार्य यथायोग्य रूप से सिद्ध नहीं होता और वह कल भी धूम्र के होते ही अपना बल प्रगट करती है। धूम्र के बिना जब इंजन ठंडा हो जाता है तब न कल का बल रहता है और न कोई कर्म होता है। वैसे ही शरीर भी इंजन रूप है। पेट उसका तन्दूर है। इसमें जठराग्नि प्रज्ज्वलित रहती है। अन्न और जल जब जठराग्नि में प्रवेश करता है तब वह अन्न और जल परिपक्व होकर धूम्र रूप प्राप्त करता है। धूम्र तीन प्रकार का होकर भिन्न-भिन्न कर्मों को करता है। धूम्र का सतोगुण भाग अन्तःकरण रूप होकर ज्ञान, विचार, वासना व इच्छादि कर्मों को करता है। धूम्र का रजोगुणी भाग प्राणरूप होकर इन्द्रियों के भिन्न-भिन्न कर्मों को कराता है और धूम्र का तमोगुण भाग मुख और गुदा द्वारा बाहर निकल आता है। इस प्रकार शरीर के कर्म धूम्र पाँच तत्वों का तत्व द्वारा सिद्धहो रहे हैं।

उस तत्व में दो शक्तियाँ रहती हैं। एक, प्रज्ञाशक्ति अर्थात् ज्ञान का बल, दूसरा, कर्म शक्ति अर्थात् कर्म का बल। यह उभय शक्ति-इच्छा और कर्म रूप होकर भिन्न-भिन्न व्यवहारों, धर्मों और कर्मों को सिद्ध कर रही हैं। प्रज्ञाशक्ति उपदेशक हैं और क्रिया शक्ति प्रवर्त्तक है। प्रज्ञाशक्ति और अन्तःकरण एक ही वस्तु के दो नाम हैं। क्रिया शक्ति और प्राण एक ही वस्तु के दो नाम हैं। प्रज्ञाशक्ति इच्छा है और क्रिया शक्ति कर्म है। जब इच्छा उत्पन्न होती है तब कर्म होता है। इच्छा भी नाना प्रकार की अतः कर्म भी नाना प्रकार के हैं। ये दोनों शक्तियाँ अन्न और जल का सार हैं। जब तक अन्न और जल जठराग्नि के साथ संयुक्त होकर धूम्र गति प्राप्त होता रहता है, तब तक इच्छा रूपी कल के आसरे नाना प्रकार के कर्म-धर्म, गुण-अवगुण आदि सिद्ध होते रहते हैं। जब जठराग्नि ठण्डी हो जाती है, अन्न जल को पाचन नहीं करती, तब धूम्र का भी अभाव हो जाता है। धूम्र के अभाव होने से इच्छा और कर्म भी नाश हो जाते हैं। इच्छा और कर्म के नाश के उपरान्त कार्य-रूपी शरीर अपने कारण में लीन हो जाता है, किसी दूसरी गति को प्राप्त नहीं होता। शरीर रूप धारने से प्रथम भी कारणरूप पंचमहाभूत था। शरीर-दिशा में भी पंच तत्व ही

Scanned with CamScanner

इच्छा, कर्म अथवा प्रज्ञा-शक्ति और क्रियाशक्ति अथवा अन्तःकरण और प्राण रूप होकर अपने स्वभावों में अपने कार्य रूप इन्द्रिय द्वारा अपने विषय रूप तनुमात्रा में प्रवृत्त हैं। मानो आप ही भोक्ता, आप ही भोग्य और आप ही भोग हैं। फिर शरीर-दिशा के अभाव समय भी पंचतत्व अपने स्वतःस्वभाव में स्थित रहते हैं।

इस प्रकार पंच-तत्व अपनी अनन्त शक्तियों, स्वभावों, गुणों, कर्मों, धर्मों, ज्ञानों आदि के प्रगट करने के लिए अल्प शरीर धारणकर नाना गति प्राप्त हो रहे हैं। नाना भावों में भी अपनी इस एकता में स्थित हैं। इसलिए भिन्न-भिन्न शरीरों के भिन्न-भिन्न कर्म भी एक रूप हैं। कारण के अनुसार कार्य होता है। जब कारण एक और अद्वैत है तो कार्य भी एक और अद्वैत मानने योग्य है। इसलिए अगिनत शरीरों में एक ही इच्छा पूर्ण है और सब शरीरों में एक ही कर्म सिद्ध हो रहा है। जैसे सब नेत्रों से एक देखना, सब कानों से एक सुनना, सब रचना से एक रस, सब नासिकाओं से एक गंध, सब त्वचा से एक ही स्पर्श, सब वाणियों से एक वचन, सब हाथों से एक ग्रहण व त्याग, सब चरणों से एक गमनागमन; सब उपस्थ इन्द्रियों से एक मूत्र अथवा वीर्य त्याग और सब गुदा से एक विष्टा वा अपान-वायु-त्याग सिद्ध हो रहा है। इसी प्रकार सब से एक ही प्रकार का कर्म अपने-अपने कारण के धर्म अथवा स्वभाव के अनुसार सिद्ध हो रहा है। किसी शरीर में विपर्ययभाव नहीं है। इसलिए सब शरीर नहीं है किन्तु एक शरीर है। उसी को विराट कहते हैं। विराट रूप महान शरीर सदा अपने-आप में स्थित है और सब अल्प शरीर उसकी इच्छा और कर्म की सिद्धि के इन्द्रिय, साधन अथवा कलें हैं। इसलिए अद्वैत रूप विराट् नित्य प्रति उसी मर्यादा में स्थित चला आता है। इस प्रकार शास्त्रों अथवा महात्माओं का वचन निश्चय करना यथार्थ है। इसके विरुद्ध अल्प शरीरों के भिन्न-भिन्न कर्मों को भिन्न-भिन्न फलों का दाता मानकर जन्म-मरण, नरक-स्वर्ग, लोक-परलोक, गमन-आगमन, ऊँच-नीच भाव, धनी-निर्धन आदि द्वन्द्वों का निश्चय करना कल्पित है। कल्पित वचन संशय, विक्षेप्ता, भय विपरीत और क्लेश का हेतु है। यथार्थ वचन, संशयरहित बुद्धि, एकाग्रता, निर्भयता, सत्य-प्रतीत और आनन्द का हेतु हैं। इसलिए जिज्ञासु को उचित है कि सूक्ष्म बुद्धि से शास्त्रों और महात्माओं के वचनों का विचार करे, जैसे सूक्ष्म बुद्धि से पूर्वोक्त विचार लिखा गया है। यदि कोई मनुष्य केवल शब्दों पर प्रतीत कर सूक्ष्म बुद्धि के साथ विचार नहीं करेगा तो नित्य ही संशय रूपी समुद्र में गोता खाता रहेगा। इसलिए तत्व-विचार के आसरे सब शरीरों और उनके कर्मों को विचारना उचित है। वास्तव में अद्वैत वस्तु आप में आप स्थित है। यही वचन यथार्थ है और निश्चय करने योग्य है। इसके अतिरिक्त जितने भी वचन हैं, सब ही कल्पित और त्याज्य हैं।

प्रश्न ४०—शास्त्रों में लिखा है कि शरीर की क्रिया चार अन्तःकरण और दसेन्द्रियाँ करते हैं और क्रिया चिदाभास के द्वारा होती है। अब इसमें यह शंका है कि जब शरीर से प्राण निकल जाते हैं, तब प्राणों से रहित उस शरीर में ऐसा ज्ञान होता है कि मेरे प्राण निकल गए हैं; अथवा शरीर पृथ्वी में दबा हुआ है, अथवा आग में जलता है या नहीं? कृपा करके इसका समाधान लिखें जिससे भ्रांति निवत्त हो?

Scanned with CamScanner

उत्तर—जब तक प्राण शरीर में रहते हैं, तब तक इन्द्रिय और अन्तःकरण अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं। जब प्राण शरीर में नहीं रहते तब अन्तःकरण और इन्द्रियाँ अपने कर्मों से रहित हो जाते हैं। ज्ञान बुद्धि का धर्म है। बुद्धि चार अन्तःकरणों में से एक अन्तःकरण है। बुद्धि प्राण-पर्यन्त अपने धर्म में प्रवृत्त रहती है। प्राण के वियोग से बुद्धि अपने कारण में लीन हो जाती है। इससे उसका धर्म जो ज्ञान है वह भी लीन हो जाता है। केवल जड़मात्र शरीर पड़ा रहता है, उसमें किसी प्रकार का ज्ञान नहीं रहता।

सुषुप्ति अवस्था में जब प्राण शरीर में आते जाते हैं, तब भी बुद्धि निद्रा में लीन होकर अपने ज्ञान से ऐसी अज्ञात हो जाती है कि न शरीर, न देश और न काल का ज्ञान रहता है तथा न कोई दूसरा कर्म, धर्म व पदार्थ स्मरण आता है। केवल जड़ता और मूढ़ता शेष रहती है। अपना ज्ञान भी नहीं होता। यदि मैं कहूँ कि सोया हुआ हूँ, चोर घर में प्रवेश करके चोरी करे तो उसका भी ज्ञान नहीं रहता। यदि कोई हत्यारा खड्ग लेकर शीश काटने आये, उसका ज्ञान भी नहीं रहता, केवल अज्ञात अवस्था होती है। जब प्राणों के होते ही बुद्धि अपने कारण में लीन होकर शरीर और शरीर की अवस्था से अज्ञात हो जाती है, प्राणों से रहित अवस्था में शरीर और शरीर का दुःख-सुख का ज्ञान उसमें कैसे होगा? अर्थात् प्राणों से रहित शरीर में किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता। पाषाण-शिला अथवा शुष्क काष्ठ की नाँई जड़ और अज्ञात हो जाता है।

चेतन पूर्ण है और नित्य ही स्थित है। सप्राण और निष्प्राण शरीर में समान रहता है। सामान्य चेतन में विशेष ज्ञान नहीं रहता। विशेष ज्ञान का निमित्त चार अन्तःकरण और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। यह नौ वस्तुएँ सप्राण शरीर में रहती हैं। इससे सप्राण शरीर में दुःख-सुख का ज्ञान होता है। निष्प्राण शरीर में अन्तःकरण और इन्द्रियों का अभाव हो जाता है। इसलिए निष्प्राण शरीर में दुःख-सुख का ज्ञान नहीं होता, परन्तु समान चेतन पूर्ण होता है। उसमें कोई कर्म, ज्ञान और फल नहीं। ये तीनों पाँच भूतों के धर्म पाँच भूतों में रहते हैं। पाँच भूत भी जब पंचीकृत अर्थात् विश्रित होते हैं, तब अपने-अपने गुणों, स्वभावों, धर्मों और कर्मों को शरीर, प्राण, अन्तःकरण और इन्द्रियरूप में प्रकट करते हैं। जब अपने मिश्रित भाव को त्याग कर व्यभिचारी होते हैं तब अपने-अपने गुण, स्वभाव, धर्म और कर्म आप में लीन कर लेते हैं। चेतन का इनके भाव और अभाव के साथ रंचकमात्र भी सम्बन्ध नहीं। वह सत्ता-समान, आप में आप, कर्त्ता, कर्म, क्रिया से रहित, ज्ञाता-ज्ञान ज्ञेय से शून्य, भोक्ता, भोग और भोग्य से मुक्त केवल केवली मात्र है। उसमें सप्राण और निष्प्राण अवस्था का भेद कोई नहीं। यह सब प्रकार का भेद भौतिक दृष्टि में हैं, अभूत चेतन में समान अवस्था रहती है। इसलिए शरीरों की उत्पत्ति और निवृत्ति उस सत्ता समान में रंचकमात्र भी नहीं। केवल सत्तामात्र भाव-अभाव से रहित है।

ज्ञान दो प्रकार का है। एक सामान्य दूसरा विशेष। सामान्यज्ञान नित्य है और विशेष ज्ञान अनित्य है। सामान्य ज्ञान स्वतः सिद्ध है और विशेष ज्ञान यत्नसिद्ध है। सामान्य ज्ञान में भेद प्रच्छेद का अत्यन्ताभाव है और विशेष ज्ञान भेद-प्रच्छेद स्वरूप है। सामान्य ज्ञान पूर्ण

Scanned with CamScanner

और विशेष ज्ञान प्रच्छिन्न है। सामान्य ज्ञान इदं, त्वं और अहं की कल्पना से ज्ञाता और ज्ञेय की उपाधि से मुक्त केवल ज्ञानमात्र है। विशेष ज्ञान इदं, त्वं और अहं की कल्पनासहित, ज्ञाता और ज्ञेय की उपाधियुक्त सोपाधिक ज्ञान है। सामान्य ज्ञान अन्तःकरण और इन्द्रियों से ऊपर और विशेष ज्ञान इन्द्रिय और अन्तःकरण के मध्य और इनके आसरे है। शरीर में उभय प्रकार का ज्ञान रहता है। इनमें से सामान्य ज्ञान आदि मध्य और अन्त में एक रस, उत्पत्ति नाश से रहित, केवल सत्तामात्र रहता है और विशेष ज्ञान इन्द्रिय और अन्तःकरण की उपाधि से व्यभिचारी और कलंकित होकर भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण करता है। यही विशेष ज्ञान दुःख-सुख, क्षुधा-प्यास, संकल्प-विकल्प आदि वृत्तियों का ज्ञाता होता है। सामान्य ज्ञान सबसे शुद्ध आप में आप रहता है। अन्तःकरण और इन्द्रियों की चेष्टा प्राणों के आसरे होती है। प्राण आगमापाई अर्थात् आने-जाने वाले और व्यभिचारी हैं। इसलिए अन्तःकरण और इन्द्रियों के सम्बन्ध से जो ज्ञान होता है, वह भी आगमापाई अर्थात् व्यभिचारी होता है। अतः विशेष ज्ञान अनित्य है, प्राण पर्यन्त इसका प्रकाश है। प्राणों से उपरान्त इसका प्रकाश सामान्य ज्ञान में लीन हो जाता है।

जैसे सूर्य का प्रकाश सामान्य है और नेत्रों का प्रकाश विशेष है। जब नेत्र सूर्य को देख नहीं सकते, तब नेत्रों का प्रकाश नेत्रों में नहीं रहता किन्तु सूर्य में लीन हो जाता है। नेत्रों में अपना प्रकाश नहीं है, सूर्य का प्रकाश ही नेत्रों द्वारा दूसरे रूपवान पदार्थों को प्रकाशित करता है। अतः नेत्रों का प्रकाश ही सूर्य का प्रकाश है। परन्तु सूर्य का प्रकाश नित्य है और नेत्रों का प्रकाश अनित्य है। नेत्रों के भाव-अभाव में सूर्य समान रहता है। नेत्र अंध हों अथवा नष्ट हों, सूर्य ज्यों का त्यों अपनी महिमा में स्थित रहता है। इसलिए सूर्य का प्रकाश सामान्य और नित्य है और नेत्र का प्रकाश व्यभिचारी होने से प्रच्छिन्न और अनित्य है। यद्यपि सूर्य के प्रकाश में भिन्न-भिन्न पदार्थों के ज्ञान की कल्पना अथवा भिन्न-भिन्न अक्षरों के ज्ञान की कल्पना नहीं है और नेत्रों के प्रकाश में भिन्न-भिन्न पदार्थों और अक्षरों के ज्ञान की कल्पना है तथापि उस कल्पना से सूर्य के प्रकाश मैं रंचक मात्र भी भेद और प्रच्छेद नहीं होता। नेत्रों की हानि के उपरान्त सूर्य के प्रकाश से पदार्थों और अक्षरों का ज्ञान भी नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि सूर्य का प्रकाश केवल प्रकाशमात्र है और नेत्र का प्रकाश कल्पित और उपाधिक होने से व्यभिचारी और अस्थिर है। इसलिए वह प्रकाश, प्रकाश नहीं है किन्तु तमरूप है। वैसे ही समान्य ज्ञान सूर्य के प्रकाशवत् है और विशेष ज्ञान नेत्रों के प्रकाश सम है। इनमें से समान ज्ञान नित्यस्थित रहता है और विशेष ज्ञान व्यभिचारी गति को प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है। विशेषज्ञान की उपाधि अन्तःकरण और इन्द्रियाँ अनित्य हैं इसलिए विशेषज्ञान भी अनित्य है। सामान्य ज्ञान अन्तःकरण और इन्द्रियों के भावा-भाव से एकरस रहता है, इसलिए नित्य है। यद्यपि विशेष ज्ञान से नाना प्रकार के पदार्थों, अक्षरों और अवस्थाओं के ज्ञान होते हैं तथापि सभी विशेष ज्ञान की नाँईं व्यभिचारी और मिथ्या हैं। यही विशेष ज्ञान शरीर के कर्मों और गुणों का प्रकाशक होता है। सामान्य ज्ञान, नित्य शुद्ध, निर्विकार आप में रहता है। जब प्राणों के वियोग और अन्तःकरण अपने-अपने कारण में

Scanned with CamScanner

लीन हो जाते हैं, तब विशेष ज्ञान सामान्य ज्ञान में लीन हो जाताहै, क्योंकि सामान्य ज्ञान भेद और प्रच्छेद से मुक्त है। इसलिए उसमें किसी प्रकार का ज्ञान नहीं रहता, केवल केवलीमात्र रहता है। इस प्रकार से प्राणरहित शरीर में केवल सामान्य ज्ञान पूर्ण होता है जिसमें किसी प्रकार की कल्पना नहीं। अतः प्राणरहित शरीर कल्पना से रहित समान रूप अपनी महिमा में आप स्थित होता है।

प्रश्न ४१—शरीर पाँच भूतों का कार्य है। शरीर नष्ट होने पर अन्तःकरण कहाँ जाता है?

उत्तर—जैसे शरीर पाँचभूतों का कार्य है वैसे ही अन्तःकरण भी पाँचभूतों का कार्य है। जब शरीर निष्प्राण होकर जड़ हो जाता है, तब अन्तःकरण भी शरीरवत् जड़ हो जाता है। जब शरीर अपने कारण पाँचभूतों में लीन होता है, तब अन्तःकरण भी अपने कारण पाँचभूतों में लीन होता है। पहले भी पाँचभूत था, फिर भी पाँचभूत रूप हो जाता है। शरीर में भी पाँचभूत ही हैं, क्योंकि शरीर की पालना पाँचभूतों से होती है। अन्न और जल से अन्तःकरण और प्राण की पालना होती है। अन्न के तीन भाग हैं, अन्न का सतोगुणी भाग अन्तःकरण होता है। अन्न का रजोगुणी भाग हाड़, माँस, नाड़ी और चर्म है। अन्न का तमोगुणी भाग विष्ठा होकर बाहर निकलता है। वैसे ही जल के तीन भाग होते हैं, जल का सतोगुणी भाग प्राण; रजोगुणी भाग लहू, वीर्य, कफादिक और तमोगुणी भाग मूत्र होकर बाहर निकलता है। इसलिए अन्न और जल का कार्य शरीर, अन्तःकरण और प्राण हैं। अन्न और जल पाँचभूत का कार्य है। कार्य सदा अपने कारण में रहता है, कारण से प्रगट होता है और कारण में ही लीन हो जाता है। आदि, मध्य और अन्त में कारण रूप रहता है, इस प्रकार अन्तःकरण पाँचभूतों में लीन हो जाता है, और कहीं नहीं जाता। जैसे गुरू-नानक साहब ने लिखा है, 'जिथों उपजा नानका, सोई फिर फिर हो' इससे सिद्ध होता है कि अन्तः-करण शरीरवत् पाँचभूतों में लीन हो जाता है।

प्रश्न ४२—मन क्या है और मरने के पश्चात् कहाँ जाता है?

उत्त र—पाँच तत्वों का सतोगुणी अंश मन है और मरने के पश्चात् अपने कारण तत्वों में समा जाता है।

प्रश्न ४३—मरने के पश्चात् बुद्धि-चातुर्य्य, बल, मूर्खता और आलस्यादि कहाँ जाते हैं।

उत्तर—भूतों में समा जाते हैं। क्योंकि वे भूतों के कार्य हैं। जो वस्तु जिस वस्तु का कार्य होती है, वह उसी में समा जाती है।

प्रश्न ४४—जगत में कई अधिक बुद्धिमान; चतुर और बलवान हैं और कई न्यून बुद्धि वाले हैं। इसका क्या कारण है?

उत्तर—तत्वों की विशेषता और न्यूनता। जिन शरीरों में अग्नि और जल की अधिकता है, उन शरीरों में बुद्धि का चातुर्य्य अधिक होता है। जिन शरीरों में धरती अथवा आकाश का अंश अधिक है, उनमें चातुर्य्य न्यून होता है। जिनमें पवन का अंश विशेष है, उनमें चंचलता और चपलता अधिक होती है। जिनमें यह न्यून है उनमें बुद्धिचातुर्य न्यून होता है।

Scanned with CamScanner

इस प्रकार जितने गुण अवगुण शरीर में प्रतीत होते हैं, वे सभी भूतों का धर्म हैं।

प्रश्न ४५—मृत्यु क्या वस्तु है ? शरीर के साथ इसका क्या सम्बन्ध है ? और इसके सम्बन्ध से शरीर की क्या गति होती है ? बुद्धिमान किस विचार द्वारा स्वशरीर अथवा पर-शरीर की मृत्यु के समय मोह से रहित है ?

उत्तर—शरीर छः विकारों से विकारी है। गर्भ में आना, उत्पन्न होना, बचपन, युवा, बुढ़ापा और क्षय। यह विकार शनैः-शनैः शरीर में प्रवेश करते हैं, मानो इन छः विकारों के प्रकट होने का स्थान और निमित्त शरीर है। जब तक अन्त का विकार मृत्यु शरीर का संगी न हो, तब तक इसकी समाप्ति नहीं होती।

शरीर पाँच तत्वों का कार्य है; पाँच तत्वों से इसकी पालना होती है और फिर पाँच तत्वों में यह समा जाता है। यदि वास्तविक दृष्टि से देखें तो शरीर भी नष्ट नहीं होता, अपने कारण में लीन हो जाता है। जैसे तरंग फूट कर जलरूप हो जाता है। अथवा घट टूटकर मृतिका रूप हो जाता है। वैसे ही शरीर जड़रूप होकर पाँच तत्वरूप हो जाता है। प्रच्छिन्नता मानो त्याग कर पूर्णगति को प्राप्त होता है। इसलिए मृत्यु अवस्था जीवित अवस्था से उत्तम है। इस अवस्था के होने से किसी प्रकार की हानि नहीं होती। केवल क्रिया और अक्रिया भाव का भेद होता है। तात्पर्य यह कि जब प्राणरूप क्रिया शक्ति विशेषकर शरीर में प्रगट होती है, तब इन्द्रिय और अन्तःकरण अपनी-अपनी चेष्टा और क्रिया में सावधान प्रतीत होते हैं। इसे अज्ञानी जन जीना कहते हैं और जब प्राणरूप क्रिया-शक्ति सामान्य गति को प्राप्त होती है, तब इन्द्रिय और अन्तःकरण की विशेषता को त्याग कर सामान्य रूप हो जाते हैं अर्थात् चेष्टा और क्रिया से रहित हो जाते हैं, इसे अल्प बुद्धिमान मरना कहते हैं। इससे दूसरा न कोई जीवन है और न कोई मरण। विशेष अवस्था का नाम जीवन है और सामान्य अवस्था का नाम मरण है। यह विशेष अवस्था अल्पदेश और अल्प-काल में रहती है, इसलिए क्षणभंगुर है। सामान अवस्था महत देश और महत काल में रहती है। इसलिए सत्य और अविनाशी है। इस प्रकार विशेष अवस्था रूप 'जीवन' क्षुणभंगुर होने से असत्य और विनाशी है। सामान्य अवस्था रूप 'मरण' स्थिर होने से सत्य और अविनाशी है। इसलिए ज्ञानवान मरण अवस्था को मोक्ष और जीवन अवस्था को बंधन कहते हैं। विशेष अवस्था को सामान्य अवस्था में कल्पित मानकर विशेष अवस्था के नष्ट होने से शोभनीय नहीं होते। एक रस, गम्भीर, स्वच्छ चित्त, निर्विकल्पमन, स्थितप्रज्ञ, अक्षोभ, अशोक और निरुच्छु रहते हैं। किसी अवस्था के आने और जाने से हर्ष और शोक नहीं करते। फिर ज्ञान के बल से मनोमय सृष्टि को कल्पित और मिथ्या निश्चय करते हैं। केवल ईश्वर रचित सृष्टि को यथार्थ और सत्य प्रतीत करते हैं।

ईश्वरचित सृष्टि में स्त्री, भर्त्ता, पुत्र, पिता आदि की कल्पना अथवा प्रतीत कोई नहीं, केवल शरीर मात्र है। उस पर मन रूप नटुवा नानाप्रकार की कल्पना करता है और आपको संकल्परूप सम्बन्ध की जंजीर से बाँधकर शोक और मोह का अनुभव करता है। एक ही स्त्री को कोई बेटी, कोई पोती, कोई बहन, कोई भार्या और कोई माता मानता है। इसी प्रकार

Scanned with CamScanner

एक मनुष्य को कोई पुत्र, कोई पौत्र, कोई भाई और कोई बाप मानता है। यह कल्पना मन में हैं, शरीर में कोई नहीं। शरीर एक है और कल्पनाएँ अनेक हैं। एक शरीर में अनेक कल्पनाएँ अज्ञान से सत्य प्रतीत होती हैं। ज्ञान से देखें, कल्पनाएँ मिथ्या हैं, क्योंकि एक स्थान पर एक वस्तु में और एक ही समय में विरोध प्रतीत नहीं रह सकती। इसलिए कल्पना कल्पना का नाश करती है। सारे सम्बन्ध कल्पित होने से मिथ्या हैं, अतः ज्ञानवान किसी को अपना सम्बन्धी नहीं मानता। सदा सजातीय, विजातीय और स्वगत सम्बन्ध से रहित असंग रहता है। इससे न हर्ष का भागी होता है, और न शोक का। सत्ता सामान्य में स्थित रहकर ईश्वर रचित सृष्टि को यथार्थ और सत्य देखकर गद्गद होता है। फिर सृष्टि की कल्पना को भी मनोमय जानकर इससे भी ऊपर उठ जाता है। जैसे जीव के मन से सम्बन्ध की कल्पना सिद्ध है, वैसे ही ईश्वर के मन से सृष्टि की कल्पना सिद्ध है। जीव और ईश्वर दोनों चेतन होने से एक रूप हैं। जब जीव के मन की कल्पित सृष्टि असत्य है तो ईश्वर के मन की कल्पित सृष्टि भी असत्य है। इसलिए सृष्टि कोई नहीं, केवल चेतन ही अपने स्वभाव में स्थित है। इस सृष्टि से तत्ववेत्ता ईश्वर-सृष्टि के दर्शन से भी ऊपर हो जाता है। केवल चेतन मात्र ही देखता है और उस चेतन को अपना आत्मा देखता है, इससे अपने को आप देखता है। ऐसी उत्तम अवस्था पाकर वह कृत-कृत्य होता है। अतः सर्व जिज्ञासुओं और ज्ञानियों को यही दृष्टि धारण करनी चाहिए, जिससे शोक और मोह का अत्यन्ताभाव हो जाए।

प्रश्न ४६—किसी सम्बन्धी अथवा मित्र की मृत्यु के समय किस विचार से मन को धैर्य देना चाहिए ?

उत्तर—जगत की मर्यादा नदी के प्रवाह की नाँई है। इस प्रवाह में शरीर तरंगवत् उत्पन्न और लीन होते हैं। इससे बुद्धिमान इसे देखकर अपनी वृत्ति को शोचनीय और विक्षिप्त नहीं करता किन्तु यह विचार करता है कि शरीर न पहले था और न पीछे रहता है, मध्य में बिजली के चमकारे की तरह भासता है। इस पर प्रतीत करना योग्य नहीं। जो शरीर उत्पन्न हुआ है, उसने एक दिन नष्ट होना है; कोई चार दिन आगे और कोई चार दिन पीछे। यदि आगे और पीछे को मध्य से दूर कर दें तो सारे शरीर मृतक हैं। ऐसे मृतक शरीरों के लिए शोक और विलाप उचित नहीं। इसलिए शोक और मोह से रहित होकर अपना काल व्यतीत करना योग्य है।

कोई किसी का नहीं है, मनौत का सम्बन्ध है। यदि मनौत को निवृत्त करके देखें, न कोई पिता है, न कोई पुत्र है, न कोई स्त्री है और न कोई बहू है। अज्ञान से सब सम्बन्ध सत्य प्रतीत होते हैं। वास्तव में एक अद्वैत परमात्मा अपनी महिमा में स्थित है। इस दृष्टि आनन्द रूप रहना उचित है।

सत्संग सुख की खान है। इसलिए बुद्धिमान प्रेम संहित नित्यप्रति इसका सेवन करें, जिससे शोक और चिन्ता निवृत्त हो जावें। सत्संग माता की तरह लोरी देकर सुलाने वाली है। सत्संग को कदाचित् नहीं त्यागना। यह जहाज़ है, इसी के आसरे मनुष्य संसार से पार उतरता है। जिज्ञासु विचार और धैर्य को अपना मित्र रखे। जब मोह उत्पन्न होवे तब अपने

Scanned with CamScanner

मन को समझावे कि जिस वस्तु का संग पहले ही नहीं था और अन्त भी नहीं रहता, केवल मध्य में अल्पकाल संग रहता है। यदि किसी प्रकार से संग निवृत्त हो जावे, तो शोक करना ठीक नहीं। एक दिन सब सम्बन्धी नष्ट हो जावेंगे। अपना शरीर भी नहीं रहेगा, क्योंकि जगत की रचना ऐसी है कि आदि भी कुछ नहीं होता और अन्त में भी कुछ नहीं रहता। केवल मध्य में नानारूप होकर मन को मोह में फँसाते हैं, नाच नचाते हैं। अज्ञानी उनको सत्य मानकर उनके भिन्न होने पर आँसू बहाते हैं, माथा खपाते हैं, छाती जलाते हैं, और दीर्घकाल पर्यन्त शोक और चिन्ता की पीड़ा सहारते हैं, परन्तु लाभ कुछ नहीं होता, उल्टा रोग और निर्बलता के आधीन होकर वे अपना सुख गँवाते हैं। ज्ञानी लोग सम्बन्ध को असत्य मान कर उसके नाश पर आनन्दित होते हैं। अपने को मुक्त मानकर परमेश्वर के अनुग्रह का गीत गाकर अपने शरीर को नश्वर जान इससे भी असंग रहते हैं। इसलिए मनुष्य किसीके निमित्त शोक न करे। शोक करना अनुचित है, धर्म और ज्ञान के विरुद्ध है। अतः सब अवस्था में समान रहना उचित है।

प्रश्न ४७—बालक के मरने पर शोकातुर माता को, किस प्रकार समझाना चाहिए ?

उत्तर—पुत्र की मृत्यु के उपरान्त माता को इस प्रकार समझाना चाहिए, 'हे माता! यह जगत स्वप्न है। जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है, सब नश्वर है। जैसे स्वप्न में कोई दादी, कोई पोती, कोई माता और कोई बेटी होती है, सब एक-दूसरे में मिलकर आनन्द मनाते हैं। दादी पोती का मुँह चूमती है, और पोती प्यार से दादी के चारों ओर घूमती है। जब निद्रा दूर होती है तब न दादी, न पोती, न माता और न बेटी रहती है। सब कुछ लय होकर केवल एक स्वप्न को देखने वाला रहता है। वैसे ही तू तेरी पोती, तेरी पुत्री, तेरा बेटा और तेरा पोता सारे ही स्वप्न के सम्बन्धी हैं। जिसका स्वप्न नष्ट हो जाता है, वह दृष्टि से अगोचर हो जाता है। अब भी जो कुछ तू देख-सुन रही है, सब स्वप्न है। एक दिन तेरी भी नींद खुलेगी। भाव यह कि तू भी मर जावेगी, तब तेरा स्वप्न समाप्त हो जाएगा। अब भी स्वप्न झूठा है। परन्तु अज्ञान से तू उसको सच्चा मान रही है, इसी कारण क्लेश पा रही है। यदि इन वचनों पर प्रतीत कर तू इस जगत को, अपने घर को, अपने सम्बन्धियों को, और आप को स्वप्न की नाँईं झूठा माने, इसी क्षण तेरे सारे दुःख नष्ट हो जावें और तू गद्गद प्रसन्न होकर मंगल गायन करे। अब कृपा करके जाग। तूने बहुत काल नींद की है। आप दया करके सन्तों के वचनों को मान, सदा उनके वचनों में सत्य प्रतीति कर प्रसन्नचित्त रहो। किसीकी मृत्यु से शोक न कर। जगत की मर्यादा ऐसी है, जो उत्पन्न होता है, वह नष्ट होता है। कोई शरीर धारी स्थिर नहीं रहता। तू भी एक दिन इसी प्रकार नष्ट हो जावेगी। मैं माता हूँ और यह मेरी बेटी थी, यह तेरा मानना ही मिथ्या है। न तू माता है, न वह तेरी बेटी थी। यह तुम्हारा सम्बन्ध ऐसा था जैसे एक नाव के ऊपर भिन्न-भिन्न दिशा से आकर दो परदेशी बैठते हैं। जैसे उनके उतरने का स्थान आता-जाता है, वैसे उतर कर एक-दूसरे से भिन्न हो जाते हैं। इसलिए उनका शोक करना ठीक नहीं, क्योंकि उनका सम्बन्ध निरन्तर नहीं। थोड़े काल से सम्बन्ध हुआ है, फिर शीघ्र नष्ट होने वाला है। ऐसे क्षणभंगुर सम्बन्ध

Scanned with CamScanner

को सत्य मानकर वियोग के समय जो शोक करते हैं, वे मूर्ख अज्ञानी हैं। इसी प्रकार सन्तान का संयोग पहले भी नहीं होता। अल्पकाल के संयोग से बंधकर यदि तू अब शोक करेगी तो मूर्ख व अज्ञानी समझी जावेगी। अतः महात्मा का यही उपदेश है कि तू किसी के मरने से शोक या क्लेश न पा किन्तु सबको ब्रह्मरूप जानकर प्रसन्नचित्त रह अथवा सबको नश्वर मानकर मन से भुला दे।"

प्रश्न ४८—माता के मरने पर पुत्र को शोक के लिए कैसे धीरज देना चाहिए ?

उत्तर—माता के विदेहमुक्त होने से निश्चय हुआ कि वह बहुत काल शरीर की उपाधि से नाना प्रकार के आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक ताप और क्लेश सहारकर अब कुशल और क्षेम सहित विश्राम और शान्त गति को प्राप्त हुई है। इसलिए धन्य है वह माता जो निर्वाच्य पद प्राप्त कर वाच्य से मुक्त हुई है। यद्यपि प्रच्छिन्न दृष्टि से माता के वियोग से पुत्र को शोक होता है तथापि यह शोक अज्ञान जन्य है, अतः निरर्थक है। शरीरों की मर्यादा ऐसी है कि एक काल में प्रकट होकर नाना प्रकार के कर्मों को सिद्ध करता है और दूसरे काल में लोप होकर अक्रिय गति को प्राप्त होता है। इसलिए बुद्धिमान शरीर की इस अवस्था को अनुभव कर हर्ष शोक से रहित रहता है और अज्ञानी निरर्थक शोक की पीड़ा सहता हैं।

प्रश्न ४९—महात्मा कहते हैं देह मिथ्या है। जब इसी मनुष्य देह में आत्मा की प्राप्ति होती है और जन्म-मरण से मोक्ष प्राप्त होता है, इसे मिथ्या कैसे जाने ?

उत्तर—जैसे मनुष्य नाव द्वारा नदी पार होता है, परन्तु किनारे पर नाव त्याग कर उससे भिन्न हो जाता है अर्थात् उसे झूठा जानकर किनारे को सच्चा मानता है। वैसे ही जीव शरीर के आसरे जन्म मरणरूप नदी से पार होकर जब आत्मारूप तट पर पहुँचता है, तब शरीर को त्यागकर आत्मा में स्थिति पाता है। भाव यह कि शरीर को मिथ्या निश्चय कर आत्मा को सत्य प्रतीत करता है। यदि नाव पर आरूढ़ मनुष्य नाव को न त्यागे, तट पर कभी विश्राम न पावे। वैसे ही ज्ञानी यदि आत्मा को पहचानकर शरीर को मिथ्या निश्चय न करे, कभी आत्मा में स्थिति प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए देह को मिथ्या समझा जाता है। जिज्ञासु इसके मोह से रहित होकर आत्मा में प्रीति करे। यह नहीं कि शरीर के सहारे आत्मा की प्राप्ति हुई जन्म और मरण से मुक्ति हुई है। अतः इसे सत्य मानकर इसकी प्रीति में फँसा रहे। नहीं, इससे यह प्रयोजन निकालना है और फिर इससे रहित होकर आत्मा में स्थित रहना है। जैसे जूते के आसरे मार्ग की धूप, कंटक, कंकर और दूसरे दुःखदायक पदार्थों से रहित होकर वांछित स्थान पर पहुँचता है, परन्तु उस स्थान पर जूते को बाहर उतारकर अन्दर जाता है। कोई जूते का बैठकर पूजन नहीं करता, किन्तु उसको अपवित्र जानकर स्पर्श भी नहीं करता। यदि हाथ भी लग जावे तो पानी से धोता है। वैसे ही शरीर जीव का जूता है, इसके आसरे सत्यमार्ग पर चलता है और सारे क्लेशों से बचकर आत्म-प्राप्ति रूप वांछित स्थान पर पहुँचता है। जब वांछित स्थान पर पहुँचा तब शरीररूप जूते को बाहर त्यागकर अन्दर जावो।

Scanned with CamScanner

भाव यह है कि शरीर को अपवित्र, नश्वर और झूठा समझकर आत्मा में मग्न रहे न कि शरीर का उपकार जानकर शरीर की पूजा में लगा रहे। इसकी पूजा से मान, मोह, दंभ, ईर्षा, क्रोध, लोभ, अहंकार, मत्सर आदि फल प्राप्त होते हैं। यही स्वभाव जीव को संसार रूप अंधे कूप में गिराने वाले हैं। जीव का परमपुरुषार्थ यह है कि संसार से मुक्त होकर परमानन्द स्वरूप में मग्न रहे। यह पुरुषार्थ शरीर को मिथ्या निश्चय करने से सिद्ध होता है। जब यह मिथ्या निश्चय हो तब इसके संग से जीव के संगी मलिन स्वभाव भी जीव को छोड़ें और जीव शुद्ध, निर्विकार और परमपावन रूप होकर अपने-आप में मग्न रहे। इसलिए देह को मिथ्या कहा गया है। जैसे बादाम की गिरी की इच्छा वाला छिलके को तोड़कर गिरी को निकालता है। यद्यपि छिलके के आसरे गिरी पाई जाती है और छिलके ही में रहती है तथापि छिलके समेत किसी काम नहीं आती। जब छिलके को उतार कर भिन्न किया जाता है, तब गिरी हाथ आती है और रस देती है। वैसे ही आत्मा की प्राप्ति के लिए शरीर को मिथ्या समझा जाता है, क्योंकि शरीर छिलका है और आत्मा गिरी है। छिलका उतारने के बिना गिरी हाथ नहीं आती। यद्यपि शरीर आसरे आत्मा की प्राप्ति होती है तथापि आत्मा को जब तक शरीर से भिन्न समझ कर न देखा जावे, तब तक आत्मा का दर्शन पूर्ण रीति से नहीं होता। इसलिए विवेक द्वारा देह को अनित्य जानकार आत्मा में स्थिति प्राप्त करें।

प्रश्न ५०—पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रतिभासक सत्ता का क्या स्वरूप है? इनमें से सत्य कौन है और असत्य कौन? जिज्ञासु कौन-सी सत्ता त्यागे और कौन-सी सत्ता धारण करे? ग्रहण-त्याग किस प्रकार से सिद्ध होता है?

उत्तर—एक ही सत्ता पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रतिभासक रूप है। वास्तव में सत्ता अद्वैत है। फुरने के संयोग से तीन भाव को प्राप्त हुई है। चेतन के अर्थ सत्ता स्फुरण हैं, मानो सत्ता ही स्फुरण रूप होकर व्यवहारिक और प्रतिभासिक भाव को प्राप्त होती है। स्फुरण भाव से रहित वह केवल पारमार्थिक रहती है। इसलिए स्फुरण भाव को त्यागकर व्यावहारिक और प्रतिभासिक सत्ता का भी त्याग सिद्ध होता है, केवल परमार्थ सत्ता जो वास्तव स्वरूप है रह जाती है। परमार्थ सत्ता, अच्युत, अद्वैत, अचल, अडोल, अखण्ड, अगम्य, अविगत, अपार और अविनाशी है, वही निज स्वरूप है, उसमें स्थित होना ही निज धर्म है। यद्यपि शरीर दिशा में तीनों सत्ता प्रवृत्त रहतीं हैं, परन्तु विवेक दिशा में केवल पारमार्थिक सत्ता सत्य निश्चय होती है। व्यावहारिक और प्रतिभासिक असत्य प्रतीत होती हैं, इससे बुद्धिमान जिज्ञासु व्यावहारिक और प्रतिभासिक को त्यागकर केवल पारमार्थिक सत्ता का अभ्यास करे। शरीर में तीन सत्ता स्वरूप दिखलाते हैं। नामरूप, वर्णाश्रम, पुण्य-पाप, लोक-परलोक, पिता-पुत्रादि सम्बन्ध, प्रताप, यश, अपयश आदि प्रतिभासक हैं। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर व्यावहारिक हैं तथा साक्षी चेतन पारमार्थिक है। जिज्ञासु प्रतिभासक और व्यावहारिक से रहित होकर केवल पारमार्थिक सत्ता में स्थित रहे जिससे सब क्लेश, ताप, रोग, चिन्ता, दोष और अनर्थ निवृत्त होकर केवल शांति, वृप्ति, समता, मुदता और गम्भीरता प्राप्त रहे।

Scanned with CamScanner

प्रश्न ५१—गमनागमन वास्तव में है या नहीं। शरीर दिशा में जो गमनागमन प्रतीत होता है, वह किस प्रकार है ? वह यथार्थ है अथवा भ्रान्ति-रूप ?

उत्तर—गमनागमन वास्तव में नहीं है। शरीर दिशा में जो गमनागमन क्रिया का भास हो रहा है, वह भी वहिर्मुख दृष्टि से है। विचार कर देखें, शरीर में भी गमनागमन क्रिया सिद्ध नहीं होती। शरीर पाँच तत्वों का कार्य है; पाँच तत्व पूर्ण हैं। जहाँ शरीर स्थित है वहाँ पाँच तत्व पूर्ण हैं। पाँच तत्वों को छोड़कर शरीर कहीं आता-जाता नहीं। सर्वदा काल पाँच तत्वों में स्थित रहता है। उत्पत्ति से पहले भी पाँच तत्वों में समान रूप करके स्थित था, उत्पत्ति से अनन्तर भी पाँच तत्वों में सामान्य रूप करके लीन हो जावेगा। इसलिए आदि, मध्य और अन्त में शरीर पाँच तत्व रूप है। पाँच तत्व पूर्ण हैं। पूर्ण वस्तु का गमनागमन सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए शरीर दिशा में गमनागमन का अभाव है। यद्यपि आता-जाता प्रतीत होता है, परन्तु यह आना-जाना ऐसा है जैसे जल में तरंग आता-जाता है। तरंग का आना और जाना जल से भिन्न नहीं है। हजार कोस तरंग जावे तो भी जल रूप है, एक स्थान पर स्थित रहे तो भी जल रूप है। तरंग लीन हो तो भी जल रूप है अर्थात् सर्व प्रकार से तरंग जल रूप है। इसी प्रकार शरीर तरंग और पाँच तत्व जलरूप हैं। सर्व प्रकार से शरीर पाँच भूतों से अभिन्न है। क्योंकि कार्य सदा कारण रूप होता है। इसी प्रकार शरीर के गमनागमन का अभाव देखकर तत्ववेत्ता भविष्यकाल के निमित्त गमनागमन की प्रतीति नहीं करते। सहज अवस्था रूप हिंडोले में स्थित होकर स्वतः सिद्ध चेष्टा करते हैं।

प्रश्न ५२—पुरातन ग्रन्थों में लिखा है कि महर्षि वशिष्ठ जी एक क्षण में सुमेरूपर्वत पर पहुँचे। वहाँ काक भुशुण्डि से सम्वाद किया। जैसे कि बाबा गुरु नानक जी उड़कर भिन्न-भिन्न स्थानों पर जाते रहे। ऐसी वार्ताओं का क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—ऐसी वार्ता केवल महिमा के लिए कवीश्वर लिखते हैं। वास्तव में जो साधन गमनागमन के अर्थात् आने-जाने के इस समय हैं। उस समय में भी यही थे। तात्पर्य यह कि कोई पाँव के आसरे जाता था। कोई घोड़े पर जाता था तो कोई दूसरी सवारी पर; इसके अतिरिक्त किसी दूसरे कारण से अर्थात् उड़कर नहीं जाते थे और जितना काल उस स्थान के निमित्त योग्य होता था, उतने काल में पहुँचते थे तथा जो उनके प्रति वार्ता प्रसिद्ध है वह सदा यात्रा में रहते थे और यात्रा के नष्ट धैर्य सहित सहारते थे, इसलिए लिखने वाले ने उसकी महिमा के लिए लिखा है कि बाबा नानक उडारी मारकर अमुक स्थान पर गए अर्थात् यात्रा करके उस स्थान पर पहुँचे अथवा वशिष्ठ जी एक क्षण में सुमेरु पर्वत पर गए अर्थात् बहुत काल की यात्रा के पश्चात् सुमेरु पर्वत पर पहुँचे। यदि वास्तव दृष्टि से देखें तो मनुष्य प्राणों के आसरे चलता है। यह प्राण पवन का अंश है, इससे मनुष्य का चलना उड़ने के समान है। जैसे पक्षी पवन में पंखों के आसरे उड़ता है और चरणों के हिलने से मार्ग काटता है। वैसे ही मनुष्य प्राण रूप पवन में टाँगों के हिलने से भुजा रूप पंखों के आसरे चलता है। इसलिए मनुष्य भी एक पक्षी है। इसका चलना उड़ना है। इस प्रकार से जितने मनुष्य हैं, सब पक्षी और सारे ही आकाश में प्राण रूप पवन के आसरे उड़ते हैं। यदि किसी कवि ने

Scanned with CamScanner

बाबा नानक जी की ऐसी वार्ता लिखी है तो उसमें क्या आश्चर्य है। वह भी प्राणधारी थे, प्राणों के आसरे टाँगों और भुजाओं को हिलाकर भूताकाश में गमनागमन करते थे जिसको कोई उड़ना कहे अथवा चलना कहे, उसकी इच्छा। परन्तु मर्यादा यही थी जो अब है।

दूसरा, काल का विचार करें तो काल का आदि क्षण है। क्षण के बिना काल का स्वरूप नहीं मानो क्षण का जोड़ ही घड़ी, पहर, दिन, मास, युग और कल्प है। क्षण के अधिक होने से नाना प्रकार की संज्ञा शास्त्रकारों ने अपने शास्त्रों में वर्णन की है। वास्तव में काल का स्वरूप एक क्षण है। इसलिए शस्त्रकारों ने उसको क्षण की उपमा दी है। अब भी सब कर्म क्षण में सिद्ध हो रहे हैं। यह कोई नवीन बात नहीं। विचार दृष्टि शास्त्रों को पढ़ना उचित है, जिससे संशय उत्पन्न न हो।

प्रश्न ५३—श्रीमद्भागवत में लिखा है कि भक्त प्रह्लाद को माता के गर्भ में ज्ञान हुआ था। यह बहुत आश्चर्यजनक बात है। आप इसका विस्तार सहित निरूपण करें?

उत्तर—वास्तव में संसार में तीन गर्भ हैं। एक पिता का गर्भ, दूसरा माता का गर्भ और तीसरा विराट् का गर्भ। मनुष्य अन्न रूप होकर पिता के गर्भ में प्रवेश करता है। जब वीर्यरूप को प्राप्त होता है, तब पिता के गर्भ से बाहर आकर माता के गर्भ में प्रवेश करता है और जब बालक रूप को प्राप्त होता है, तब माता के गर्भ से बाहर आकर विराट् के गर्भ में प्रवेश करता है। इस प्रकार तीन प्रकार से तीन गर्भों में प्रवेश करके पूर्ण गति को प्राप्त होता है।

(२) पिता के गर्भ में जब वीर्यरूप होता है, तब इसमें ज्ञान का साधन अन्तःकरण और इन्द्रिय स्पष्ट नहीं होते, इसलिए पिता के गर्भ में इसका ज्ञान समानरूप रहता है, विशेष-रूप नहीं रहता। जब माता के गर्भ में नौ मास अथवा दस मास पर्यन्त निवास करता है, तब शरीर का आकार, अन्तःकरण और इन्द्रिय सहित पूर्ण हो जाता है। इससे माता के गर्भ में इसको ज्ञान होता है। क्योंकि नौ मास अथवा दस मास की आयु माता के गर्भ में इसको ऐसा परिपक्व और पूर्ण कर देती है जैसा वृद्ध पुरुष जगत में सर्व प्रकार से परिपक्व और पूर्ण होता है। अतः माता के गर्भ में इसको ज्ञान का होना सम्भव है जब वह माता के गर्भ से बाहर आता है, तब वह ज्ञान इसका सामान्य रूप से रहता है। जिस प्रकार इन्द्रियाँ और अन्तःकरण पुष्ट और बलवान होते हैं, उसी प्रकार विशेष ज्ञान इसे प्राप्त होता है। इस प्रकार माता का गर्भ और विराट् का गर्भ ज्ञान के स्थान हैं। इन दोनों गर्भों में इसको ज्ञान होता है। माता के गर्भ में माता का गर्भ ही इसे विराट् रूप प्रतीत होता है। विराट् के गर्भ में इसको सम्पूर्ण जगत ही विराट् रूप प्रतीत होता है। अतः ज्ञान का वियोग किसी काल में भी नहीं होता।

प्रह्लाद भक्त का माता के गर्भ में ज्ञान होना मानते हैं, इसका कारण भी यही है। इसका निर्णय ऊपर हो चुका है। वास्तव में सब मनुष्यों की एक ही वार्ता है, क्योंकि सबको उत्पत्ति एक ही रीति से होती है, होती थी और होती रहेगी। कोई शरीर न्यून अथवा विशेष नहीं, सारे ही समान हैं। भेद केवल इतना है कि जिसकी माता ज्ञातज्ञेय और विचारशील होती है, वह प्रथम ही बालक को गर्भ से बाहर आने पर ज्ञान के संस्कार सुनाती रहती है।

Scanned with CamScanner

इससे वह बालक छोटी आयु में ज्ञान अथवा भक्ति के संस्कार से युक्त होकर जगत में प्रसिद्ध होता है। लोग उसे छोटी आयु में परमेश्वर-परायण देखकर आश्चर्य चकित होते हैं। उनका विचार होता है कि माता के गर्भ में इसे ज्ञान हुआ है, क्योंकि नौ-दस वर्ष की आयु तक बालक माता की गोद में खेलता रहता है। प्रह्लाद भक्त की माता हरिभक्त थी, पहले ही से उसने प्रह्लाद में श्रेष्ठ संस्करण डाले थे, इसलिए प्रह्लाद भक्त को छोटी आयु में परमेश्वर-भक्ति की भावना उत्पन्न हुई।

प्रश्न ५४—श्रीमद्भागवत् में लिखा है कि ध्रुव भक्त को पाँच वर्ष की अवस्था में ऐसा ज्ञान हुआ कि वह तपस्या के लिए वन चला गया। यह आश्चर्य की बात सुनावें।

उत्तर—इसका उत्तर भी उपर्युक्त प्रसंग में आ चुका है। इसमें यह विशेषता है कि बचपन में विषयों की प्रीति, जगत के संस्कार और लोकलज्जा का अभाव होता है, अतः थोड़ा वचन भी बहुत होता है। जैसे पाँच वर्ष के बालक को जो कुछ पढ़ाया जाये अथवा स्मरण कराया जाये, उसके हृदय में शीघ्र ही प्रवेश कर जाता है। वैसे ही ध्रुवभक्त को छोटी आयु में जो वैराग्य का उपदेश हुआ; वह उसके हृदय में प्रवेश कर गया। इसमें कोई आश्चर्य नहीं। संस्कार बलवान हैं, जो संस्कार छोटी अवस्था में पड़ जावें, वह संस्कार हृदय में ऐसे दृढ़ हो जाते हैं, जैसे पत्थर पर लकीर दृढ़ हो जाती है।

अब इन दोनों प्रश्नों का उत्तर अनुभव सिद्धान्त की रीति से दिया जाता है। प्रह्लाद नाम जीव का है, क्योंकि प्रह्लाद का अर्थ परमानन्द है। प्रह्लाद शब्द दो खण्डों से रचित है—'प्र' पूर्ण और 'आह्लाद' का अर्थ प्रसन्नता है। प्रह्लाद के अर्थ पूर्ण सुख अथवा परमानन्द हैं। प्रह्लाद जीव है और भक्त है क्योंकि अपने पूर्ण रूप की भावना करता है। माता का गर्भ शरीर है, क्योंकि माता सब की माया है और माया का प्रत्यक्ष लक्षण शरीर है। शरीर में जीव स्थित होकर अपने पूर्णरूप को जानता है किन्तु शरीर के बाहर ज्ञान की सिद्धि नहीं। इसलिए भागवत में वा भगवत् लीला में यह सम्बोधन है कि शरीर दिशा में ही जीव अपने ब्रह्मस्वरूप का अनुभव कर कृत-कृत्य होता है। अर्थात् भगवत ही दो स्वरूपों को धारण कर अपनी लीला करता है। एक में भक्त और दूसरे में भगवान्, शरीर में भक्त रूप और जगत में भगवत् रूप होकर अपनी लीला करता है। भक्त रूप में जीव कहलाता है और भगवान् रूप में ब्रह्म कहलाता है। वास्तव में एक ही सत्य स्वरूप भक्त और भगवान के भेद से रहित अपनी महिमा में स्थित है। इस प्रकार प्रह्लाद भी शरीर में अपने ब्रह्मस्वरूप को पहचानकर कृत-कृत्य होता है। तात्पर्य यह है कि भगवत् ही दो स्वरूपों को धारण कर अपनी लीला आप करता है। एक में भक्त और दूसरे में भगवान ! शरीर में भक्त और जगत में भगवान् रूप होकर अपनी लीला करता है। भक्त रूप में जीव और भगवान् रूप में ब्रह्म कहलाता है। वास्तव में एक ही सत्यस्वरूप अपनी महिमा में स्थित है। इस प्रकार प्रह्लाद रूप जीव शरीर में ब्रह्मरूप को पहचानकर कृत-कृत्य होता है।

ध्रुव नाम स्थिर का है। जो वस्तु अपने स्वरूप में स्थित है वह ध्रुव है, जीव है। पाँच वर्ष पाँच विषय हैं। अतः जीव पाँच विषयों से वैराग्य पाकर अपने निजानन्द में लीन होता

Scanned with CamScanner

है। जब ध्रुव रूप जीव पाँच वर्ष रूपी पाँच विषयों से अथवा पंच इन्द्रियों से पंचभौतिक शरीर से वैराग्य पाता है, तब अपने वास्तव स्वरूप को प्राप्त करता है। अतः श्रीमद्भागवत का यही तात्पर्य है कि ध्रुव भक्त ने पाँच विषयों को त्याग कर ब्रह्म रूपी वन में प्रवेश किया। शरीर नाम नगर का है, अतः जीव शरीर में रहता है और ब्रह्म नाम वन का है। जब जीव पाँच तत्वों के शरीर से सम्बन्ध तोड़ता है तब ब्रह्मरूपी वन में स्थित होकर तपस्या करता है। तात्पर्य यह है कि अपने को ब्रह्म से अभिन्न रूप निश्चय करता है। अतएव यह सिद्धान्त सर्व जिज्ञासुओं को स्वीकार करने योग्य है।

प्रश्न ५५—श्रीमद्भागवत पुराण में लिखा है कि इन्द्रदेवता ने विश्व रूप गुरु पुरोहित ब्राह्मण के मरने से अपने ऊपर ब्रह्म-हत्या का दोष समझकर उस हत्या के चार भाग किये। एक भाग वृक्षों को, दूसरा भाग पृथ्वी को, तीसरा भाग जल को और चौथा भाग स्त्री को दिया। उसी दिन से स्त्रियों को मास के उपरान्त रति आती है तथा जगत में यह मर्यादा चली आ आती है। जब स्त्री को रति आती है, उसके उपरान्त पुरुष स्त्री का संयोग होता है। इससे सन्तान की उत्पत्ति का संयोग बनता है। शंका यह है कि जब इन्द्र ने स्त्रियों को हत्या का भाग नहीं दिया था उससे पहले सन्तान की उत्पत्ति किस प्रकार और किस मर्यादा से होती थी ? यदि किसी स्त्री को ऋतु की बाधा हो जावे या मास के बाद ऋतु न आवे तो पुरुष को मास के उपरान्त अथवा किसी अकाल में संयोग करना चाहिए या नहीं ?

उत्तर—इन्द्र देवता का अर्थ कर्त्ता पुरुष ईश्वर है। ईश्वर का पुरोहित विश्वरूप विराट् है, क्योंकि ईश्वर का समष्टि ऐश्वर्य विराट् में स्थित है। इन्द्र-रूप कर्त्ता पुरुष ने विश्वरूप विराट् में उत्पत्ति के लिए चार साधन रचे हैं। एक अन्न, द्वितीय जल, तृतीय धरती और चतुर्थ स्त्री तथा फिर इन चारों में उत्पत्ति के संयोग, लक्षण, नियम, मर्यादा, काल निमित्त और उपाय रचे हैं। उसी मर्यादा के अनुसार यह चारों फलीभूत होकर विराट् की महिमा को प्रसिद्ध कर रहे हैं। इनमें से स्त्री की मर्यादा यह है कि मास के उपरान्त उसको रति धर्म हो और पुरुष के बीज को गर्भ कुंड में धारणकर सन्तान की उत्पत्ति करे। यह मर्यादा अनादि है और इसी प्रकार रहेगी, क्योंकि प्रकृति स्थिर और सत्य है।

जब स्त्री को ऋतु का बाधा हो जावे, तब पुरुष को संयोग करने का दंड नहीं है। यह विचार करना उचित है कि स्त्री युवा है या वृद्ध। यदि युवा स्त्री हो और किसी रोग से उसकी ऋतु मर्यादा खंडित हो गई हो तो स्त्री के मानसिक व्यभिचार दोष की निवृत्ति और चित्त की स्थिति के लिए पुरुष को कभी-कभी संयोग करना उचित है। यदि स्त्री वृद्ध हो अथवा वैराग्य व उपरति से भूषित हो, संयोग करना उचित नहीं है।

प्रश्न ५६—स्वप्न में स्त्री और पुरुष के मिलाप से पुरुष का वीर्यपात क्यों होता है ?

उत्तर—स्वप्न तत्वों का कार्य है। जब कफ और पित्त की अधिकता होती है, तब वीर्य पतला होकर निद्रा में पात हो जाता है।

प्रश्न ५७—जब कोई मनुष्य रोगी होता है। तब उससे गोदान करवाते हैं और कहते हैं कि आगे नदियाँ हैं, इसमें यह गाय साथ चलेगी। यह बात सत्य है अथवा मिथ्या ?

Scanned with CamScanner

उत्तर—जगत में और शास्त्रों में तीन प्रकार के वचन प्रसिद्ध हैं। एक भयानक, दूसरे रोचक और तीसरे यथार्थ। नदियों का वचन भयानक है और गोदान करने का वचन रोचक है। तात्पर्य यह कि भय के आसरे लोग दान करें। यथार्थ दृष्टि से देखें तो आगे कोई नदी नहीं। काया ही नदी है। और गो के अर्थ बुद्धि और इन्द्रिय हैं और वे काया में रहते हैं। जब कोई पुरुष संसार से भयभीत होकर सद्गुरु की शरण आता है। सद्गुरु के आगे तन-मन अर्थात् इन्द्रिय और बुद्धि भेंट करता है तब सद्गुरु आत्मज्ञान का उपदेश कर उसे कायारूप नदी के पार करते हैं। इससे लोक और परलोक के दुःख निवृत्त हो जाते हैं। मनुष्य सुख से आयु व्यतीत करता है। यह वचन यथार्थ है और सत्य है। इसके बिना जितने वचन लोगों में प्रसिद्ध हैं, वे सब कल्पित हैं, इसलिए मिथ्या है। जब तक यथार्थ ज्ञान उदय न हो तब तक अनेक प्रकार के भ्रम और संशय मन में रहते हैं। जब सद्गुरु की कृपा से यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है, सब वैदिक और लौकिक संशय ऐसे निवृत्त हो जाते हैं जैसे सूर्य के उदय होने पर तारागण। अतः संशय की निवृत्ति के लिए ज्ञान प्राप्त करना और दृढ़ रखना सर्वथा ठीक है।

प्रश्न ५८—शास्त्रों में चरणों की पूजा की आज्ञा है। दूसरे अंग चरणों से उत्तम है, उसकी पूजा क्यों नहीं कही गई ?

उत्तर—चरण सबसे उत्तम हैं, क्योंकि सब अंग इसके आसरे रहते हैं। यदि चरणों में किसी प्रकार का दुःख हो जावे तो अन्य अंगों की उत्तमता नष्ट हो जाती है, इसलिए चरण सबसे उत्तम और पूजा करने योग्य हैं और फिर चरण सबसे नीचे रहते हैं, निरहंकार हैं, परोपकारी हैं, इसलिए इनकी पूजा होती है। कहा भी है—

"जो जाने मैं सबसे नीचा, सोई गिनीये सबसे ऊँचा।"

शास्त्रों में चरणों का देवता विष्णु भगवान् कहा है। इसलिए चरणों पूजा ठीक है। पूजा करने का अभिप्राय है। किसी प्रकार अहंकार की निवृत्ति। जब पुजारी अपने पूज्य के चरणों पर मस्तक रखता है, तब उसका अहंकार निवृत्त हो जाता है। चरणों की पूजा के बिना अहंकार निवृत्त नहीं हो सकता। इसलिए चरणों की पूजा मानी गई है।

चरण के अर्थ विशेषण हैं, विशेषण के अर्थ स्वभाव और धर्म हैं। जैसे मनुष्य की पहचान मनुष्य के चरणों के चिह्न से होती है और घोड़े की पहचान घोड़े के चरणों की खोज से होती है, वैसे ही उत्तम और नीच की पहचान विशेषणों अर्थात् गुणों से होती है, इसलिए जिसके द्वारा पहचान हो उसे चरण कहते हैं। उत्तम पुरुषों की पहचान उत्तम गुणों से होती है। गुण उनके चरण हैं, इसलिए गुण रूप चरण-पूजा उचित है।

प्रश्न ५९—यदि कृमि, मनुष्य, देवता आदि में एक जैसा चेतन है तो देवता की क्या अधिकता है ?

उत्तर—यथार्थ दृष्टि में अधिकता कोई नहीं। अज्ञान से न्यूनता व अधिकता प्रतीत होती हैं, वह अज्ञान पर्यन्त है। जब अज्ञान नष्ट हुआ, तब कीट, पतंग, देवता, समान प्रतीत होते हैं। शरीर सबका पंचभौतिक है प्राण के आसरे ही चेष्टा करता है। इन्द्रियाँ शरीर का

Scanned with CamScanner

व्यवहार सिद्ध करने वाली हैं। आत्मा आकाशवत् पूर्ण है। केवल अन्तःकरण की न्यूनता या विशेषता होती है। उसमें ज्ञान रहता है, जिससे न्यूनता व विशेषता प्रतीत होती है। तात्पर्य यह कि मनुष्य और देवता में अन्तःकरण पूर्ण होता है, इसलिए उनको पूर्ण ज्ञान होता है अर्थात् सर्व वस्तु का ज्ञान होता है। कीट आदियों में अन्तःकरण पूर्ण नहीं होता, इसलिए उनमें सब वस्तु का ज्ञान नहीं होता और न हो सकता है। अन्तःकरण पाँच भूतों का सतोगुणी अंश है, आत्मा के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं। इसकी न्यूनता और विशेषता आत्मा में कोई भेद उत्पन्न नहीं कर सकती। इसलिए आत्मदर्शी अन्तःकरण की न्यूनता व विशेषता को विकारी जानकर केवल निर्विकारी आत्मा को देखते हैं। इससे उन्हें कदाचित् भ्रम नहीं होता। अनात्मदर्शी अन्तःकरण, इन्द्रियाँ और शरीर देखकर भ्रान्त होता है, इसलिए भ्रम की निवृत्ति का उपाय यही है कि अद्वैत वस्तु पर दृष्टि और निष्ठा रखें।

प्रश्न ६०—लोग कहते हैं, जिन-भूत सब जगह रहते हैं। यदि हैं, उनका स्वरूप क्या है?

उत्तर—जिन अथवा भूत अदृष्ट सृष्टि हैं। जो वस्तु अदृष्ट होती है, उसके लिए नाना प्रकार के अनुमान होते हैं। इसी प्रकार भूतों के लिए लोगों में नाना प्रकार की वार्ताएँ प्रसिद्ध हैं, वे केवल कहने मात्र हैं। आज तक किसी ने भूत को नेत्रों से नहीं देखा, क्योंकि यह पवन सृष्टि का कार्य है, इसलिए अदृष्ट रहती है, अदृष्ट वस्तु सूक्ष्म होने से अधिक व्यापक होती है। इसके व्यापक मानने में कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। जैसे अन्य सृष्टि पाँच-भौतिक हैं, वैसे ही ये भी पाँचभौतिक है और सदा भूतों में रहती है, कोई नवीन पदार्थ नहीं।

प्रश्न ६१—जो मनुष्य झूलते हैं, उनका यह कर्म सत्य है या मिथ्या?

उत्तर—शरीर में तत्वों के विकार से, शब्दों के स्रोत से अथवा एक-दूसरे को देखकर भिन्न-भिन्न कर्म प्रगट करते हैं। कई लोग पवन की अधिकता से सिर मारते हैं या झूलते हैं। कई पुरुष सन्तों के वचन सुनकर ऐसे प्रेम में आ जाते हैं कि झूलने-कूदने अथवा नाचने लग जाते हैं। कई मनुष्य दूसरे को झूलता हुआ देखकर स्वयं झूलने लग जाते हैं। इस प्रकार अल्प बुद्धिमान, विचार से शून्य और अज्ञानी पुरुषों में यह कर्म प्रवृत्त चला आता है और वही इसे सत्य मानते हैं। वास्तव में यह रोग है अथवा पाखंड या मूर्खता है।

प्रश्न ६२—आँखों की पुतली शरीर का अंग है। इसका इतना प्रकाश किससे आता है?

उत्तर—अग्नि से! क्योंकि नेत्र अग्नि का अंश है। नेत्रों में पुतली ही नेत्र है, इसलिए यह पुतली नहीं, किन्तु तेज का सतोगुणी प्रकाश है। इससे यह तेज रूप है अर्थात् प्रकाश रूप है और अग्नि के बिना इसका प्रकाश नहीं हो सकता। जैसे रात्रि में जब घोर अँधेरा हो, उस समय नेत्र कुछ नहीं देख सकते और दिन के समय जब सूर्य का प्रकाश होता है तब नेत्र देखते हैं। दीपक, बिजली, चाँद, तारा के प्रकाश में भी देख सकते हैं। अतः ये सारे प्रकाश अग्नि के हैं, क्योंकि अग्नि के प्रकाश के साथ पुतली का सजातीय सम्बन्ध है।

प्रश्न ६३—हृदय का धर्म, स्वरूप और स्थान क्या है?

उत्तर—शरीर के अन्दर दो स्तनों के मध्य जो आकाश है, उसे हृदयाकाश कहते हैं, शून्य इसका स्वरूप है और सदा निर्मल रहना इसका धर्म है।

Scanned with CamScanner

प्रश्न ६४—शास्त्रों में वर्णित चौबीस अवतार कौन से हैं ? वे नित्य होते हैं या कभी-कभी ? सृष्टिरूप हैं अथवा सृष्टि से न्यारे ? भूतों के भाग हैं अथवा अभूतरूप ?

उत्तर—नीचे लिखे हुए चौबीस अवतार हैं। दस इन्द्रिय, दस प्राण और चार अन्तःकरण। ये नित्य होते रहते हैं। सृष्टि रूप हैं। भूतों के यही भाग सब जगत के काम सिद्ध कर रहे हैं। मानो पाँचभूतों का सार ये चौबीस पदार्थ हैं। इसलिए इनको विष्णु अर्थात् विराट् का अवतार शास्त्रों ने निरूपण किया है। जो नाम शास्त्रों ने लिखे हैं वह सारे ही इन चौबीस अवतारों के नाम हैं, क्योंकि कोई शरीर इन चौबीस वस्तुओं से खाली नहीं है। इन चौबीस का नाम ही मानो शरीर है, इसलिए शरीर ही अवतार है। जो शरीर किसी कवीश्वर को उत्तम प्रतीत हुआ, उसने उसकी महिमा लिख दी, पीछे पढ़ने वाले पढ़ते रहे। वास्तव में यही चौबीस पदार्थ अवतार रूप है। इसके बिना सब कपोल-कल्पना है।

प्रश्न ६५—वराह, मच्छ, कच्छ आदि अवतारों से शास्त्रों का क्या तात्पर्य है।

उत्तर—शास्त्रों में अवतार शब्द के अर्थ उस शरीर या प्राणधारी के हैं जिसमें सतोगुणी स्वभाव वर्तमान हों। प्राचीन काल में वराह, मच्छ, कच्छ नाम के महापुरुष हुए हैं, उनके स्वभाव उत्तम थे। उपकार दृष्टि से सृष्टि को सुख देने वाले थे और दुःखदायक पदार्थों, स्वभावों और कर्मों से बचाकर शुभ-मार्ग, सत्यधर्म और उत्तम कर्मों में लगाने वाले थे। इसलिए उस समय के कवीश्वरों और शास्त्रकारों ने उनको अवतार की संज्ञा दी है। वास्तव में अवतार के अर्थ जन्म के हैं, जो जन्म पा रहा है, अथवा उत्पन्न हो रहा है, वह अवतार है परन्तु लोगों में अवतार शब्द के अर्थ उत्तम माने गये हैं, इसलिए उत्तम पुरुष को अवतार कहते हैं। सो वराह, मच्छ, कच्छ आदि भी अपने-अपने समय में उत्तम हुए हैं, इसलिए लिखने वालों ने उनको अवतार शब्द से लिखा है।

प्रश्न ६६—परम ब्रह्म को ऐसे शरीर से प्रेम क्यों हुआ ?

उत्तर—जैसे अगणित मन्दिरों और स्थानों के होने पर भी आकाश सामान्य और शुद्ध है। कई बार मन्दिर बनते हैं और कई बार गिरते हैं, परन्तु आकाश ज्यों का त्यों रहता है। कई स्थान नवीन हैं और कई पुरातन हैं, परन्तु आकाश दोनों में समान है, न नवीन होता है न पुरातन, न उत्पन्न होता है और न नाश। वैसे ही अगणित शरीरों से चिदाकाश में भेद और प्रच्छेद नहीं आता। कई शरीर उत्पन्न होते हैं और कई नष्ट होते हैं, परन्तु चिदाकाश दोनों में स्वस्थ, निराकार और सामान्य है। यदि शरीर से चिदाकाश में कुछ न्यूनता या अधिकता होती तो यह विकल्प यथार्थ होता कि पारब्रह्म को ऐसे शरीर से प्रेम क्यों हुआ ? पारब्रह्म ज्यों का त्यों अपनी महिमा में पूर्ण, स्वस्थ, निर्विकार और अच्युत है, इसलिए यह विकल्प अथवा प्रश्न यथार्थ नहीं है, केवल भ्रान्तिरूप है। वास्तव में शरीर तीनों नहीं, चिदाकाश ही अपने-आप में स्थित है। वह पूर्ण है। इसलिए उसे पारब्रह्म कहते हैं। जीव की अपेक्षा से ब्रह्म नहीं है। जब अद्वैत वस्तु है तो न जीव है और न ब्रह्म है। जब जीव और ब्रह्म ही असिद्ध है तो शरी कैसे सिद्ध हो सकता है। इसलिए न

Scanned with CamScanner

शरीर है और न पारब्रह्म को शरीर से प्रेम हुआ है। अद्वैत सत्ता चिदाकाश है, वह अपने-आप में स्थित है। यही निश्चय यथार्थ सुखरूप है। इसके बिना जो विकल्प फुरता है, वह संशयरूप है। वही संसार है और दुःखरूप है। इसलिए संशय को त्यागकर निःसंशय अवस्था में स्थित रहना ही आनन्द है। यही परमात्म अवस्था है। ब्रह्मा से चींटीं तक एक अद्वैत सत्ता आदि और अन्त से रहित है। न किसी का शरीर है और न शरीर का अंग न कोई उत्पन्न होता है और न कोई मरता है केवल निर्माण अवस्था है। यही दृष्टि यथार्थ और सत्य है।

॥ भजन ॥ (१)

देही की रचना क्या सुन्दर ॥
अद्भुत शोभारूप बन्यो यह, चला फिरता है मंदिर ॥ १ ॥
दाएँ बाएँ लालटेन दो, परकाशें क्या मुख पर ॥ २ ॥
टेलीफोन दो तुरत सुझावें शब्द होय जो बाहर ॥ ३ ॥
पवन झरोखे सोहें जामें, मंगलीक है यह घर ॥ ४ ॥
द्वार खुला है अद्भुत जिसका, लाल ताक जिस ऊपर ॥ ५ ॥
काँटा छुरी मेज़ खाने की, मुख कमरे के भीतर ॥ ६ ॥
परमुज्ज्वल कमरा हिरदय का, कुन्ज गली से जाकर ॥ ७ ॥
जिसमें करे नित्त दरबारा, इस मंदिर का ठाकुर ॥ ८ ॥
साहिब की कौंसिल के प्यारे, चार चतुर वर मैम्बर ॥ ९ ॥
उदर मध्य में शोभा पावे, इस मंदिर का लंगर ॥१०॥
हस्त पाद है पंख और पैये, चले यह मंदिर जिस पर ॥११॥
मल गुदाम गंदे पानी की, नाली घर के आखिर ॥१२॥
इस मंदिर की महिमा शोभा, गावें सकल मुनीश्वर ॥१३॥
हेमराज संभाल यह मंदिर, पावन ज्ञान सरोवर ॥१४॥

॥ भजन ॥ (२)

इस नश्वर देह क्षणभंगुर पर, क्या परतीत जमाई है ॥
इस मलीन दुःखरूप देह में, कैसी प्रीत लगाई है ॥ १ ॥
पानी का इक फोटा बनकर, लम्बे किये पसारे हैं ॥
आशा तृष्णा के चक्कर में, तन की दशा भुलाई हैं ॥ २ ॥
दाएँ बाएँ ऊपर नीचे, मृत्यु क्षण क्षण ताके है ॥
बिल्ली के मुँह में है चूहा, तुझको बूझ न आई है ॥ ३ ॥
मैलरूप बल पर तू मूरख, कैसा ही अकड़ाया है ॥
चमड़े की फुकनी ने तेरी, बुद्धि क्या भरमाई है ॥ ४ ॥
नाम कल्प कर बुत माटी का, उस पर फिरे दिवाना है ॥
इस गंदे से थैले पर, क्या हंगाम रचाई है ॥ ५ ॥
नाशवन्त देह अपनी तेरी, औरों को मोह में बाँधा ॥
पड़ा सिधु में सुत वनिता की, गठड़ी क्यों उठाई है ॥ ६ ॥
बाल अजान हुआ तन कबहूँ, चरखी पवन की खेले है ॥
मद माता जोवन जब आवे, अंधर तुझ पर छाई है ॥ ७ ॥
क्षीण हुआ तन वृद्धी पाकर रोगों से है आतुर ॥
ऐसा नीच शरीर है तुझमें, इससे शर्म न आई है ॥ ८ ॥

Scanned with CamScanner

ज्यों कमाद विषय बेलन ने, तेरा रस निचोड़ लिया ॥
काम क्रोध और लोभ ने तेरी, सत्यानाश कराई है ॥ ९ ॥
त्याग अभिमान प्रीत इस देह की, आतमतत्व विचारो नित ॥
सत्चित तू हेमां, यह निश्चय सुखदाई है ॥१०॥

॥ भजन ॥ (३)

जरा सोच विचार के मुझको बता, है उपजा कौन और कौन मरा ॥
पानी से उपजा बुलबुला, पानी में नाच नचाता रहा ॥
जल होकर जल में जाके मिला, कहो कौन उपजा और कौन मरा ॥ १ ॥
मिट्टी से निकला है पौदा, मिट्टी में है वह खड़ा रहा ॥
आखिर मिट्टी में समा गया, कहो कौन उपजा और कौन मरा ॥ २ ॥
देह तेरा तत्वों से निकला, तत्वों से पला तत्वों में रहा ॥
फिर तत्वों में ही समा गया, कहो कौन उपजा और कौन मरा ॥ ३ ॥
सोने ने कंगन नाम धरा, रंगरूप उसका न जरा बदला ॥
हर हाल में सोना सोना रहा, कहो कौन उपजा और कौन मरा ॥ ४ ॥
तत्त हैं तरंग चिद्सागर का, चिद् बिन रंचक नहीं है नहीं था ॥
हेमां चिद्घन पूरण सत्ता, कहो कौन उपजा और कौन मरा ॥ ५ ॥

॥ भजन ॥ (४)

मृत्यु से जग क्यों डरता है, आनन्द भरी यह अवस्था है ॥
सब यत्न परिश्रम नष्ट करे, सब शोक और चिन्ता हरता है ॥ १ ॥
सब रोग क्लेश का अन्त करे, दिनरात की भूख और प्यास मिटे ॥
न मोह रहे, न विरोध रहे, यह ब्रह्मलोक का रस्ता है ॥ २ ॥
सबसे मिल सब का रूप हुए, सत्चित आनन्द स्वरूप हुए ॥
सब अज्ञ तज्ञ सम करता है, न रहे कोई भेद न संशा है ॥३ ॥
जब परमदेव यह दे दर्शन, मन शांती में तब होय मग्न ॥
परम समाधि गही बुद्धि ने, गुरु दास न पत्नी भर्त्ता है ॥ ४ ॥
वहाँ आशा तृष्णा नहीं पहुँचे, नहीं काम क्रोध का बाण चले ॥
तहाँ चोट शब्द की नहीं लागे, न रहे कोई हंगता ममता है ॥ ५ ॥
नाभि से लेकर नाक तलक, जीवन का राज है क्षणक पलक ॥
आकाश से ले पाताल तलक, मृत्यु निज राज्य को करता है ॥ ६ ॥
जीवन है नदि मृत्यू सागर, जीवन है किरण मृत्यू भास्कर ॥
मृत्यु भू जीवन तरुवर, जीवन कृत मृत्यु कर्ता है ॥ ७ ॥
मृत्यु सागर को जीव नदी, अति प्रेम से नाचत जाती है ॥
सिंधू में लहराती मृत्यु, सिंधू में जीव बुलाबा है ॥ ८ ॥
परिच्छिन्नता में अल्पज्ञता में चिदाकाश है पूरण सत्ता है ॥
हेमां अनुभवगम आनन्दी, मृत्यु नहीं यह पूरणता है ॥ ९ ॥

॥ इति श्री सप्तम् सिद्धान्त समाप्तम् ॥

Scanned with CamScanner

★ जीवात्मा सिद्धान्त ★

: ८ :

प्रश्न १—

॥ दोहा ॥

भगवन् किरपा कर कहो, निज स्वरूप को ज्ञान,
जाँको हृदय धारकर, नसे तिमिर अज्ञान?

उत्तर—

॥ दोहा ॥

जहाँ जाग्रत स्वप्ना नहीं, सुप्ति नाहिं समाध,
सो स्वरूप है आतमा, सो अनुभव कर साध॥
सब द्वन्दों की संधि जो, केवल ज्ञान स्वरूप,
नहिं अन्तर बाहर नहीं, ताँहि लखो निज रूप॥
निराकार साकार नहिं, नहिं सूक्षम अरु स्थूल,
जड़ चेतन दोनों नहीं, नहिं तरुवर नहिं मूल॥
ध्याता ध्यान न ध्येय कछु, ज्ञाता ज्ञेय न ज्ञान,
क्रिया करम कर्त्ता नहीं, केवल पद निर्वाण॥
सब विकल्प के त्याग से, शेष रहे जो सार,
केवल अनुभव मात्र निज, सो निज रूप विचार॥
जो जो चित्त चिंतन करे, त्यागो ताहिं सुजान,
शेष रहे जो शान्ति पद, सो है निज अस्थान॥
सर्व शब्द और अर्थ सब, सर्व शास्त्र और वेद,
बुद्धि सहित त्यागो सकल, प्रगटे अलख अभेद॥
सत्ता मात्र इस्थित सदा, केवल रूप अरूप,
क्षोभ-रहित आनन्दमय, अगम अपार अनूप॥
नित्य प्राप्त निज आतमा, निज इस्थित निज माँहि,
निज स्वभाव निज तृप्ति नित, निर्विकल्प निज आँहि॥
साधन साधक सिद्ध नहीं, नहिं वियोग संयोग,
स्वतः सिद्ध प्रापत सदा, हेमां अनुभव योग॥

Scanned with CamScanner

प्रश्न २—आत्मा क्या है, इसका स्वरूप क्या है? इसका निवास कहाँ है? यह जड़ है या चेतन? यह किससे उत्पन्न हुआ है? बोलने वाली वस्तु इससे भिन्न है या नहीं?

उत्तर—आत्मा परम सत्ता है। उसी की सत्ता से मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, नासिका, वाक, हस्त, पाद, उपस्थ, गुदा और प्राण सत्ता पाकर अपने कर्म में प्रवृत्त हैं। उसका स्वरूप पाँच तत्वों से रचित नहीं, केवल सत्‌चित आनन्दरूप है। उसके निवास का कोई विशेष स्थान नहीं, सिर के अग्रभाग से पाद के नख पर्यन्त सब शरीर में व्यापक हैं। केवल अन्तर में व्यापक नहीं, शरीर के बाहर भी पूर्ण और व्यापक है इसलिए उसका निवास शरीर के किसी विशेष भाग में निश्चय नहीं किया जा सकता। केवल ज्ञान अवस्था में उसका निवास है, क्योंकि जिज्ञासु को इस प्रकार के वचन शान्तिदायक नहीं होते। इसलिए उसके अधिकार को देखकर वेद ने हृदयाकाश ही आत्मा के निवास का स्थान लिखा है। हृदय में आकाश के बिना और कुछ पूर्ण नहीं, सो आकाश केवल ज्ञान स्वरूप है। इसलिए आकाश को ही आत्मा निश्चित कर उसी का ध्यान लगाना ठीक है।

आत्मा सत्तामात्र है, न जड़ है, न चेतन और किसी वस्तु से उत्पन्न नहीं हुआ, स्वतः सिद्ध है। बोलने वाली वस्तु उससे भिन्न है, वह केवल केवलीमात्र सर्व कल्पना से रहित अपने आप में स्थित है।

प्रश्न ३—आत्मा का क्या स्वरूप है? वह कौनसी अवस्था है जिसमें आत्मा का साक्षात्कार होता है? और वह कौनसा साधन है जिसके आसरे ऐसी शुद्ध और सार अवस्था प्राप्त होती है?

उत्तर—सर्व वृत्तियों के बाँध के उपरान्त जो स्वरूप या अवस्था रहती है, वह शुद्ध है और वही आत्मा है, उसमें स्थित होना ही श्रेष्ठ है। जाग्रत समाप्त हुई और स्वप्ना अभी आयी नहीं, केवल केवलीरूप अवस्था जो शेष होती है, वही सार अवस्था है। उसी को अपना स्वरूप निश्चय कर उसी में स्थित रहना उचित है। जब न विषय का सम्बन्ध वृत्ति से हो, न नींद हो, न विचार हो; स्मरण भी न हो, न अभाव हो, न उदासीनता हो, न बाहर और अन्तर की कल्पना और चिंतन ही हो; केवल केवलीरूप अवस्था हो, वह शुद्ध और परम गंभीर अवस्था है और वही धारण करने योग्य है। ऐसी पावन और पवित्र अवस्था निरंतर और अनन्य सत्संग के बिना प्राप्त नहीं होती। वास्तव में यह अवस्था नित्यप्राप्त है, परन्तु भिन्न-भिन्न वचनों, भिन्न-भिन्न शास्त्रों, भिन्न-भिन्न पुरुषों भिन्न-भिन्न व्यवहारों, भिन्न-भिन्न देशों और भिन्न-भिन्न संतों के संस्कार अन्तःकरण में ऐसे परिपक्व और स्थित हो गए हैं कि अब वही संस्कार प्रत्यक्ष प्रतीत हो रहे हैं। अधिष्ठानरूप सत्य स्वरूप आच्छादित हो गया है। जब तक इन संस्कारों का अत्यन्त अभाव न हो तब तक शुद्ध अवस्था का भान ज्यों का त्यों नहीं होता और संस्कारों का अभाव यथार्थ ज्ञान के बिना असम्भव है। इसलिए यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना अति आवश्यक है। यथार्थ ज्ञान, यथार्थदर्शी, यथार्थवेत्ता, यथार्थ-उपदेशक, और यथार्थ निष्ठा के बिना प्राप्त नहीं हो सकता। ऐसे पुरुष इस जगत् में बहुत

Scanned with CamScanner

दुर्लभ हैं। यदि संयोग से मिल जावें तो प्रेम और पूर्ण विश्वास सहित उनके सत्संग का लाभ उठाना चाहिए। शरीरों का कोई भरोसा नहीं, देखते-देखते नष्ट हो जाते हैं। जब तक रहे, इससे केवल आत्म रस, आत्म कथन, आत्म श्रवण, आत्म मनन, आत्म निदिध्यासन, आत्म-साक्षात और आत्म-स्थिति का लाभ उठाएँ। यह आनन्द सत्पुरुषों के दरबार में यत्न के बिना स्वतः सिद्ध प्राप्त है। दूसरे उपाय सारे कल्पित और व्यर्थ हैं। केवल यथार्थ ज्ञान और यथार्थ विज्ञान ही कल्याण का उपाय है और इसकी प्राप्ति सत्संग से होती है। यदि सत्संग सब देशों, नगरों और ग्रामों में होता है तथापि सत्संग बड़ा दुर्लभ है। सब देशों में यह प्राप्त नहीं होता। इसलिए सावधान होकर सत्संग का रस लेना और अपने वास्तव स्वरूप में स्थित होकर काल व्यतीत करना चाहिए।

प्रश्न ४—आत्मा का दर्शन किस युक्ति से होता है ?

उत्तर—आत्मा सदा प्राप्तरूप है, परन्तु संशय विपर्यय से अप्राप्त प्रतीत हो रहा है। जैसे सूर्य सर्वदा अपने प्रकाश से प्रकाशमान नेत्रों के सन्मुख है, परन्तु बादल, दिवार, धरती, मोतियांबिन्द या किसी और प्रतिबन्ध के द्वारा सूर्य नेत्रों से छिपा हुआ मालूम होता है। वास्तव में सूर्य कहीं आया और गया नहीं, एक ही स्थान पर स्थित है। जब मध्यवर्ती पटल निवृत्त होता है, तब सूर्य प्रकाशसहित अपरोक्ष होकर नेत्रों में समाता है। वैसे ही आत्मा सत्चित् आनन्द रूप सदा अपने आप में स्थित है और मन, चित्त, बुद्धि अहंकार को प्रकाशित करता है और सभी इन्द्रियों को सत्ता देता है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति को प्रकाशित करता है। वह नित्य एक ही अवस्था में स्थित है, परन्तु मध्यवर्ती प्रतिबन्ध से असंभावना अर्थात् संशय और विपरीत भावना अर्थात् विपर्यय बुद्धि से छिपा हुआ अर्थात् आच्छादित भासता है। जब मध्यवर्ती प्रतिबन्ध अर्थात् अज्ञान का कार्य संशय और विपर्यय निवृत होते हैं तब सत्चित आनन्द रूप आत्मा अपरोक्ष होकर अन्तर और बाहर पूर्ण भासता है। तात्पर्य यह है कि दृढ़ अपरोक्ष निश्चय होता है और अपना आप प्रतीत होता है। जैसे पवन के वेग से बादल निवृत हो जाते हैं और सूर्य प्रकाशमान प्रतीत होता है वैसे ही सद्गुरु के उपदेश से अज्ञान नाश होकर आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इसलिए सद्गुरु वचन पर निश्चय करना ही आत्मा का दर्शन है।

यदि कोई पुरुष अपना मुख देखना चाहे तो नेत्र, दर्पण और प्रकाश की सहायता के बिना मुख का देखना असम्भव है इसलिए इन तीनों का समकाल एकत्र होना अपने मुख का आप दर्शन पाना है। यदि इन पदार्थों में से कोई पदार्थ न हों अथवा पूरा काम न दे सके तो मुख का प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होता इसलिए मुख के दर्शन के लिए इन तीनों का संयोग सम्बन्ध वांछित है, क्योंकि कारण बिना कार्य की सिद्धि नहीं होती। जब ये तीन पदार्थ एक समय और एक स्थान पर एकत्र होते हैं तब मुख का दर्शन होता है। यदि ये तीनों भिन्न-भिन्न हों तो मुख का दर्शन नहीं हो सकता। जब इनका संयोग होता है तब प्रयोजन सिद्ध होता है। वैसे भी आत्मा के दर्शन के लिए निर्मल बुद्धि, सद्गुरु और सत्-शास्त्र उपयोगी हैं। यदि इनमें से कोई न हो, होने पर यदि पूरा-पूरा लाभ न पहुँचा सके तो

Scanned with CamScanner

आत्मा का दर्शन प्राप्त नहीं होता। आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान के लिए इन तीनों का एकत्र करना आवश्यक है। जब ये तीनों अर्थात् बुद्धि रूपी नेत्र, सत्गुरु रूपी सूर्य और सत्शास्त्र रूपी दर्पण एक ही समय और एक ही स्थान पर एकत्र होते हैं, तब आत्मा का दर्शन होता है। यदि ये तीनों पदार्थ भिन्न-भिन्न हों, अर्थात् बुद्धि निर्मल हो और सत्शास्त्र भी हो परन्तु प्रकाश करने वाले सद्गुरु समीप न हों, अथवा सद्गुरु और सत्शास्त्र हो, परन्तु बुद्धि निर्मल न हो, अथवा बुद्धि भी निर्मल हो सद्गुरु भी हो, परन्तु सत्शास्त्र न हो तो आत्मा का साक्षात् ज्ञान रूप दर्शन नहीं हो सकता। जब इन तीनों की समकाल एकत्रता होती है तब परम प्रयोजन आत्मा की प्राप्ति होती है। इसलिए जिज्ञासु इन तीनों को एकत्र करके इनकी सहायता से आत्मा का दर्शन पावे।

प्रश्न ५—

॥ दोहा ॥

आतम और प्रपंच में, भगवन् क्या है भेद,
कैसे भासे आतमा, पूरण अचल अभेद?

उत्तर—

मनोराज परपंच है, कल्पित सहित विकार,
मनोराज आधार जो, सो आतम पद सार।
मनोराज को त्याग कर, सेवो आतम रूप,
प्रगटे परमानन्द नित्य, निर्भय अचल अनूप।
जो-जो कलना मन रचे, तजो सकल बल धार,
शेष रहे जो शान्त पद, सो है आतम सार।
आतम नित प्रापत लखो, कलना में है भेद,
जब नाशे कलना वृत्ति, भेदाभेद अभेद।
जो कुछ है सो सत्य है, अद्वै अचल अभेद,
कलना कर भासे सकल, नाम रूप का भेद।
नाम रूप कलना सहित, शून्याकाश पछान,
शून्य वस्तु है कछु नहीं, ताँते भेद न भान।
नित्य निरन्तर भेद बिन, ज्यों के त्यों हो रहो,
निःसंशय निर्मल अचल, नहिं त्यागो नहिं गहो।
जैसे हो वैसे रहो, राग द्वेष से रहित,
व्योम समान स्थित रहो, समता सतता सहित।
जाँ को जोगीश्वर ऋषि, खोजें दसवें द्वार,
हेमराज प्रत्यक्ष सो, अनुभव आतम सार।

प्रश्न ६— आत्मप्राप्ति और जगतनिवृत्ति कैसे प्राप्त होती है?

Scanned with CamScanner

उत्तर—आत्मा नित्य प्राप्तरूप है और जगत नित्य निवृत्तिरूप है, परन्तु देह अभ्यास से अज्ञान का कार्य आत्मा अप्राप्तरूप और जगतप्रवृत्तरूप प्रतीत हो रहा है। देह अध्यास का स्वरूप केवल मनौत मात्र है। भाव यह कि ज्ञान अपनी मनौत से अपने को देह रूप जानता है। जब ज्ञान अपने को ज्ञान स्वरूप समझता है तब वह ज्ञान अपने को ज्ञान-मात्र निश्चित करता है। वही ज्ञान ज्ञान की आत्मा है, ज्ञान के बिना जितने संकल्प हैं वह अनात्मा हैं, केवल ज्ञान ही ज्ञान की आत्मा है। इसलिए अज्ञान को ज्ञान से नाश करना आत्मा की प्राप्ति और जगत की निवृत्ति है। अज्ञान भी दूसरी वस्तु नहीं। ज्ञान का न समझना अज्ञान है और ज्ञान का समझना ज्ञान है। जैसे मनुष्य जब सूर्य को पीठ देता है तब मनुष्य के शरीर की छाया मनुष्य के सन्मुख होती है और जब मनुष्य सूर्य के सन्मुख होता है तो सूर्य का प्रकाश प्रतीत होता है और शरीर की छाया पीछे रह जाती है। इसलिए शरीर का सूर्य से विमुख होना छाया की उत्पत्ति का कारण है और शरीर का सूर्य के सन्मुख होना छाया की निवृत्ति का कारण है। वैसे ही ज्ञान का ज्ञान से विमुख होना अज्ञान की उत्पत्ति का कारण है और ज्ञान का ज्ञान के सन्मुख होना अज्ञान की निवृत्ति का कारण है। अज्ञान ज्ञान की व्यभिचारी अवस्था है। इसलिए, अज्ञान भी ज्ञान से भिन्न नहीं किन्तु एक रूप है। जैसे पीठ शरीर से भिन्न नहीं किन्तु शरीर रूप है, परन्तु पीठ से शरीर का दर्शन नहीं होता और नेत्र भी शरीर का दर्शन नहीं होता और नेत्र भी शरीर का अंग होने से शरीर रूप है और शरीर का दर्शन इनसे प्रत्यक्ष होता है। वैसे ही अज्ञान पीठ है और ज्ञान नेत्र हैं, वस्तु एक है अज्ञान से प्रतीत नहीं होती और ज्ञान से होती है, इसलिए, अज्ञान का त्याग और ज्ञान का ग्रहण उचित है। ये ग्रहण और त्याग भी ज्ञान से हैं। अर्थात् ज्ञान को ज्ञान के सन्मुख करना है। जब ज्ञान को ज्ञान का ज्ञान हुआ, यही आत्मा की प्राप्ति है और जब अज्ञान ज्ञान में लीन हुआ, यही जगत की निवृत्ति है। प्राप्ति और निवृत्ति नित्य हैं। केवल मध्यवर्ती अध्यास से प्रतीत नहीं होती। इसलिए अध्यास को निवृत्त करने का यत्न करना उचित है, जब अध्यास न रहेगा, तब आत्मा नित्य प्राप्त और जगत नित्य निवृत्त रूप प्रतीत होगा।

प्रश्न ७—आत्मचिन्तन का स्वरूप क्या है?

उत्तर—प्रथम आत्मा का स्वरूप निरूपण किया जाता है। सब द्वन्दों अर्थात् राग-द्वेष, हर्ष-शोक, पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ, धर्म अधर्म, लाभ हानि, शत्रु मित्र, मैं तू, जीव ईश्वर, सर्वज्ञता अल्पज्ञता, एक अनेक, बंधमुक्त, शुद्ध अशुद्ध, जड़ चेतन, जगत ब्रह्म, यह वह, था होगा आदि की कल्पना से रहित जो सत्तासामान्य अवस्था है वह आत्मा है। जिसमें दृष्टा, दर्शन, दृश्य, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, ध्याता-ध्यान-ध्येय आदि त्रिपुटियों की समाई नहीं, केवल-केवली भाव है, नित्य स्थित और प्राप्तरूप है; ऐसे स्वरूप को अपना-आप जानने के लिए आत्मचिन्तनरूप साधन का यत्न करें, आत्मचिन्तन का स्वरूप यह है—जब चित्त द्वन्द्वों के साथ मिलकर विक्षिप्त हो, उस समय विचार रूप बल से चित्त को अपनी वास्तविक अवस्था के चिंतन में लगाएँ। चित्त को द्वन्द्वों के चिंतन से रहित कर निर्द्वन्द्व बनाएँ। चिन्तन के साथ एकरूप कर ब्रह्मानन्द का रस पाएँ। बारम्बार, चित्त को संसार के चिंतन से निरोध कर

Scanned with CamScanner

अर्चित करें, जिससे दोष, क्लेश, ताप, चित्त की विक्षेप्ता के फल बन्धन नष्ट हो और चित्त अपने आत्मा में स्थित हो। इस रीति से निरन्तर अभ्यास विक्षेप्ता, चंचलता, चिन्ता, चिंतन, स्मृति आदि दोषों से मुक्त कर चित्त को वही स्वरूप कर देता है, जिसका निर्णय ऊपर हो चुका है। इसलिए जिज्ञासु सावधान होकर चित्त को अपनी वास्तव अवस्था के चिन्तन में लगावें।

प्रश्न ८—आत्म-कथन का स्वरूप क्या है ?

उत्तर—आत्म-चिन्तन की दृढ़ता के लिए बारम्बार अपने निज स्वरूप की चर्चा वार्ता, परस्पर सम्बोधन, आत्म-कथन है। यह साधन चिन्तन का सहायक है, क्योंकि जो कुछ वाणी से कथन किया जावे वह चित्त में प्रवेश करके चित्त को उसके आकार रखता है। इसलिए जिज्ञासु द्वन्द्व रूप संसार की चर्चा-वार्ता से वाणी को मौन कर केवल आत्म-कथन में प्रवृत्त रखे, जिससे वृत्ति आत्माकार रहे।

प्रश्न ९—आत्म-श्रवण का स्वरूप क्या है ?

उत्तर—आत्म-चिंतन की दृढ़ता के लिए किसी निष्पक्ष, निष्काम, आत्मस्थितिवान, तृप्तचित्त महात्मा के मुख से बारम्बार अपने स्वरूप की चर्चा, वार्ता, कथा, विचार, दृष्टांत, युक्ति, उक्ति सुनना आत्मश्रवण है। यह साधन कथन का सहायक है, क्योंकि जो वचन सुना जाता है वही वचन हृदय में आरूढ़ होकर वाणी से उच्चारण करने के योग्य होता है। इसलिए बारम्बार आत्मश्रवण की आत्मकथन की परिपक्वता का उपाय है। ज्ञान का कारण भी श्रोत सम्बन्धी वाक्य है जिसको श्रवण कहते हैं। जब तक वचन का और श्रोत्र इन्द्रिय का परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध न हो तब तक ज्ञान का प्रकाश अन्तःकरण में उदय नहीं होता इसलिए, आत्म-जिज्ञासु को उचित है कि श्रद्धा, नम्रता, सुशीलता, निश्चल बुद्धि, शुद्धनिष्ठा और गुणग्राहक बुद्धि सहित सत्पुरुष के सत्यवचन को सुनता रहे जिससे आत्मज्ञान उसके हृदय में प्रकाशमान हो। श्रवण के समय विक्षेप्ता और लयता से रहित होकर सावधान रहे। तात्पर्य यह कि चित्त में दूसरा चिंतन न हो और न निद्रा हो। केवल वचन के आकार बुद्धि हो। उस वचन के प्रसंग के आदि, मध्य और अन्त को भली प्रकार समझें और दृष्टान्त, युक्ति, उक्ति को प्रसंग के अनुसार जानकर उसके सार को बुद्धि में धारण करें। इस रीति से सावधान होकर श्रवण करे।

प्रश्न १०—आत्म-मनन का स्वरूप क्या है ?

उत्तर—आत्म-श्रवण की दृढ़ता के लिए एकान्त देश में निश्चल और निःसङ्कल्प स्थित होकर सुने हुए वचनों का बारम्बार मनन अर्थात् स्मरण कर आत्ममनन है। यह साधन श्रवण का सहायक है, क्योंकि श्रवण की दृढ़ता मनन के बिना ऐसे असम्भव है जैसे भोजन से प्राप्त बल पाचन के बिना असम्भव है। इसलिए आत्म-जिज्ञासु नियम और प्रेमसहित एकान्त देश में स्थित होकर श्रवण किये हुए वचनों का मनन करता रहे, जिससे वह वचन इसका मन हो जावे। जैसे मन दूसरे पदार्थों का फुरना और संकल्प क्षण-क्षण में उठाता है, वैसे ही आत्मा की स्मृति, आत्मा का फुरना, आत्मा का संकल्प, आत्म-ज्ञान की युक्तियाँ, आत्मा के दृष्टान्त बारम्बार मनन, चिन्तन अथवा स्मरण करता रहे। इस रीति से आठों याम आत्मा

Scanned with CamScanner

बिना दूसरा संकल्प न उठावे। जब इस रीति से आत्ममनन परिपक्व हो जाता है, तब आत्मा का अपने नाम के ज्ञान की तरह अपने-आप निश्चय होता है। इसलिए नियम और प्रेम सहित मनन करें।

प्रश्न ११—आत्म-निदिध्यासन का स्वरूप क्या है?

उत्तर—आत्म-मनन की दृढ़ता के लिए बारम्बार वृत्ति को निज स्वरूप के आकार करना और यत्न से द्वैत चिंतन का विरोध करना आत्मनिदिध्यासन है। यह साधन पूर्वोक्त सब साधनों का पुष्ट और दृढ़ सहायक है। इसका अभ्यास जिज्ञासु को निर्विकल्प, स्थिति-प्रज्ञ, दृढ़ निष्ठावान, तृप्त चित्त और गंभीर आत्मा बनाता है। इसलिए आत्म-जिज्ञासु एकान्त देश में स्थित होकर विषयों को इन्द्रियों में लीन करे, इन्द्रियों को अन्तःकरण में लीन करे, अन्तःकरण को अधिष्ठान कूटस्थ में लीन करे और कूटस्थ को अपना-आप जानकर स्थित हो। तात्पर्य यह कि सब द्वन्द्वों से रहित होकर केवल-केवली भाव हो रहे। इस रीति से चिरकाल पर्यन्त नियम और प्रेम सहित आत्म-निदिध्यासन करता रहे, जिससे द्वन्द्व रूप संसार का अभाव हो और निर्द्वन्द्व आत्मा का आत्मरूप होकर देह की तरह प्रत्यक्ष भान हो।

प्रश्न १२—आत्म-साक्षात् का स्वरूप क्या है?

उत्तर—जब निदिध्यासन करते-करते सब द्वन्द्व लीन होकर निर्द्वन्द्व अर्थात् केवल सत्तासामान्य शेष रहे, वह आत्म-साक्षात् है। ऐसी पावन अवस्था के उदय होने पर विषय, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण विशेष भाव के होते ही सामान्यरूप प्रतीत होते हैं। अन्दर बाहर के भेद बिना अद्वैत वस्तु आत्मरूप होकर प्रतीत होती है। केवल-केवली भाव दिशा उदय होकर परम शान्त, परम गम्भीर, परम अगाध, परम निर्विकल्प, परम आनन्द, परम तृप्त अवस्था रहती है। सब द्वन्द्व निर्द्वन्द्व रूप हो जाते हैं। द्वन्द्व और निर्द्वन्द्व की कल्पना भी लीन हो जाती है। सब भेद-अभेद हो जाते हैं और भेद-अभेद की कल्पना भी निवृत्त हो जाती है। यथार्थ और वास्तव सत्ता ज्यों की त्यों भासती है, ऐसी अवस्था का नाम आत्म-साक्षात् है।

प्रश्न १३—पुरुष का अर्थ क्या है? दृष्टान्त सहित निरूपण करें? इसे वास्तव स्वरूप क्यों विस्मरण हो गया है और किस उपाय से फिर स्मरण आवे, कि मिथ्या मनौतों से मुक्त होकर अपने वास्तव स्वरूप को पावे?

उत्तर—जो सब शरीरों में पूर्ण है वह पुरुष है। जैसे सब फूलों में सुगन्धपूर्ण है; सब मिर्चों में कटुता पूर्ण है वैसे ही सब शरीरों में पुरुष पूर्ण है और सत्चित आनन्दरूप है।

पुरुष नाम चेतन का है। भौतिक देह पुरुष नहीं है, भौतिक देह पुरुष के निवास का स्थान है। अज्ञान से पुरुष ने अपने को स्थान मान रखा है। जब विवेक से विचारता है कि मैं पुरुष हूँ, देह नहीं हूँ, उस समय उसको प्रतीत होता है कि मेरा स्वरूप सत्चित आनन्द रूप है। बहुत काल से देह के संग में रहने से देह के स्वभाव पुरुष से शीघ्र निवृत्त नहीं होते। ज्ञान को पाकर भी अज्ञानियों के समान मलिन स्वभावों में बरतता है। गृहस्थ रूपी कूप में पड़ा मेढक की तरह टें-टें करता है। अन्तःकरण के सब धर्मों को अपने में देखकर रागद्वेष

Scanned with CamScanner

सहारता है। इसलिए ज्ञान के लाभ नित्य सुख को प्राप्त नहीं होता। इस दोष की निवृत्ति के लिए जिज्ञासु निशिदिन आत्म-अभ्यास करे। अर्थ यह है कि अपने को पुरुष रूप निश्चय करे; देह, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण से अपने को न्यारा माने। नाम, वर्ण, आश्रम, धन, दारा सुत सामग्री से अपने को भिन्न निश्चय करे। केवल चिदाकाश अपने को देखे और फिर इन भौतिक पदार्थों के साथ असंग होकर विचरे। किसी में अपना ममत्व न करे; वैराग्य, धैर्य, संतोष, ज्ञान, निर्मानता, सुशीलता में अपने अन्तःकरण को दृढ़ करे। आप इन स्वभावों से भी असंग रहे। किसी प्रकार भी मान स्वीकार न करे, तब वह पुरुष जीवनमुक्त होकर परमपद को प्राप्त होता है। इसलिए उचित है कि ऐसे आत्म पद की प्राप्ति के लिए शुद्ध बुद्धि से यत्न करता रहे।

प्रश्न १४—इस जगत में पुरुष कायरता, निर्बलता, दीनता और आसक्ति के वचन उच्चारण कर अपने को दुःखी क्यों कर मानते हैं। इसके निवारण का क्या उपाय है?

उत्तर—प्रतीत होता है कि उनका अन्तःकरण संशय और विपर्यय से मलिन हो रहा है। जब तक संशय विपर्यय की निवृत्ति न हो तब तक दीनता, कायरता, निर्बलता और आसक्ति आदि दोष निवृत्त नहीं होते संशय की निवृत्ति सद्गुरु के उपदेश के बिना नहीं हो सकती। इसलिए यथार्थवेत्ता, यथार्थदर्शी और यथार्थनिष्ठी पुरुष की शरण में जाकर उनके उपदेश को धारण करें, जिससे यह सहायता होगी कि संशय और विपर्यय नष्ट हो जायँगे। यदि सत् उपदेश को हृदय से विस्मरण कर दिया तो उस समय यह संसार भय का निमित्त और शोक का हेतु होकर चित्त को विक्षिप्त और चंचल करेगा। इसलिए क्षण-क्षण में सद्गुरु के उपदेश को अपने आत्मा के समान प्रिय निश्चय कर चिन्तन, मनन और निदिध्यासन करना कल्याण, आनन्द और निर्भयता का कारण है।

जो पुरुष सद्गुरु के उपदेश के विरुद्ध जगत के पदार्थों को द्वैत दृष्टि से देखता है, उसे संसार मानता है, अपने को शिर से पैर तक शरीर पहचानता है और कल्पित सम्बन्ध को सत्य प्रतीत करता है, वह पुरुष नित्य ही शोक और विक्षेप्ता का फल पाता है। सद्गुरु का उपदेश यह है कि संसार को पूर्ण ब्रह्म देखो, अपने को सत्चित आनन्द ब्रह्म निश्चय करो और सम्बन्धियों को पूर्ण ब्रह्म प्रतीत करो। कल्पित और मिथ्या प्रतोत को अपने हृदय से अत्यन्त ही विस्मरण कर दो। जब संसार का संकल्प उठे, उस समय उस संकल्प को लीन करो और मन की ताड़ना करो कि हे मन ! तू स्वयं ही अज्ञान से कल्पित है, इससे अज्ञान रचित संसार को देखता और बारम्बार चिन्तन करता है। मेरा स्वरूप अज्ञान से रहित केवल ज्ञान रूप है इसलिए तू और तेरा कल्पित संसार मेरे स्वरूप में वास्तव नहीं है। केवल तेरे सम्बन्ध से मुझे यह मिथ्या प्रतीत हुई थी। अब सद्गुरु की कृपा से अपने को केवल निराकार, शुद्ध चेतन, आदि अंत से रहित, सत्तामात्र निश्चय किया है। इसलिए तेरी सभी कल्पना से मुक्त होकर आप में मग्न हूँ। इस विचार को बारम्बार स्मरण करो, जिससे संसार का मूल तुम्हारे हृदय रूपी पृथ्वी से निर्मूल हो जावे और फिर कभी भी प्रफुल्लित होकर तुम्हारे अन्तःकरण को न दुखावे।

Scanned with CamScanner

हे प्यारे ! तुम्हारा स्वरूप अजर और अमर है। शरीर के साथ मिलकर क्षण-भंगुर आयु के निमित्त निराश और पश्चाताप का लाभ क्यों उठा रहे हो ? तुम्हें शरीर के साथ क्या ? अभी नष्ट हो जाय अथवा कल्पपर्यन्त रहे, तुम इसके भाव से वृद्धि नहीं पाते और अभाव से न्यूनता नहीं पाते। इसकी उत्पत्ति और मृत्यु से कुछ और नहीं हो जाते। यह भूतों के पंचीकरण अर्थात् मिलने से उत्पन्न, स्थित और लय होता है और तुम पंचभूतों की रचना से मुक्त केवल सत्तामात्र व ज्ञान स्वरूप हो। जब तुम्हारा आकार ही नहीं तो तुम्हें आयु पर भरोसा करने अथवा न करने से क्या प्रयोजन ? तुम इन व्यर्थ संकल्पों को विस्मरण कर अपने को नित्यमुक्त, संसार से पार, परमेश्वरस्वरूप निश्चय करो और बारम्बार इसका निदिध्यासन कर अपनी वृत्ति को इस निश्चय के साथ ऐसा तदाकार करो कि फिर तुम्हारे हृदय में ऐसा निरर्थक संकल्प न उठे और न तुमको अभाव रूप पदार्थों से भय प्राप्त हो। इसलिए पूर्वोक्त सद्गुरु के उपदेश को ज्ञान रूप डंडा प्रतीत कर निश्चय रूप हाथ से उठाओ और नित्य ही निदिध्यासन रूप सम्बन्ध को धारकर अपने को संशय रूप श्वान, चिन्ता रूप जम्बुक, देह अभिमान रूप बाघ, विक्षेप्ता रूप बिलाव, भविष्यत चिन्ता रूप मूसा, भूत स्मृतिरूप काग से बचावो और नित्य ही मुक्त और निर्भय रहकर सद्गुरु की जै जै कार बुलावो।

प्रश्न १५—साक्षात्कार के क्या अर्थ हैं ?

उत्तर—दृढ़ अपरोक्ष निश्चय। अर्थात् संशय और विपर्यय से रहित जब पूर्वोक्त निष्ठा दृढ़ हो जाये, वह स्वरूप का साक्षात्कार है।

प्रश्न—१६

॥ दोहा ॥

हे सद्गुरु पूरण अचल, परम पुरुष शुद्ध रूप।
क्षोभ रहित आनन्द मय, अनुभव मात्र अनूप॥
किरपा कर वर्णन करो, सम्यक् आतमज्ञान।
जाके बोध प्रकाश मे, मिटे तिमिर अज्ञान॥
दृष्टि अनातम नाश होय, भासे आतम सार।
रंच मात्र दीखे नहीं, द्वैत रूप संसार॥

उत्तर—

॥ दोहा ॥

आत्मज्ञान स्वरूप है, ज्ञान आत्मा रूप।
अनुभव ज्ञान पर्याय है, अनुभव ज्ञान स्वरूप॥
सो अनुभव भवरूप है, निर्विशेष नीरंग।
जड़ चेतन के भेद बिन, निश्चल सदा असंग॥
सो अनुभव परब्रह्म है, सो अनुभव गुरु रूप।
सो अनुभव निर्वाच है, अगम, अगाध, अनूप॥

Scanned with CamScanner

अन्तर बाहर एक रस, देखो दृष्टि पसार।
केवल अनुभव मात्र है, सत्चित् आनन्द सार॥
तांते अनुभव एक है, द्वैत भाव नहिं रंच।
अधिष्ठान अनुभव विषे, कल्पित ज्ञान प्रपंच॥
सो कल्पित अनुभव लखो, अनुभव बिन कुछ नाहिं।
आदि मध्य और अन्त ही, केवल अनुभव आहि॥
ऐसे निश्चय धार कर, मग्न रहो निज माहिं।
भेदाभेद असंत सत्, रंच फुरे कुछ नाहिं॥
निशिदिन सिमरो आतमा, केवल अनुभव सार।
मगन रहो निज रूप में, भूले जगत असार॥
आतम पूरण ब्रह्म है, पूरण ब्रह्म समान।
जो दीसे सो ब्रह्म है, रंच द्वैत नहिं मान॥
इस दृष्टि को धार कर, रहो स्वस्थ सुखरूप।
भूले दृष्टि अनातमा, हेमां जड़ दुःख रूप॥

प्रश्न १७—जीव को दुःख और क्लेश क्यों होता है और किस उपाय से दुःख नष्ट होकर परमानन्द अवस्था प्राप्त होती है ?

उत्तर—शरीर का संयोग जीव को नाना प्रकार के दुःखों, क्लेशों और अनर्थों का अनुभव कराता है। वास्तव स्वरूप जीव का निर्विकार, निर्दुःख और निष्क्लेश है। शरीर के संग से व्यर्थ दुःख को सहकर हाय-हाय करता है। इसलिए सुख का जिज्ञासु विवेक के आसरे शरीर से अपने को भिन्न निश्चय करे। बारम्बार अपने वास्तव स्वरूप को स्मरण करे। कभी शरीर की सुन्दरता, बल, यश, नाम, वर्ण, आश्रम और कुल के साथ मिलकर अपने को न भूले। एक क्षण स्वरूप की विस्मृति महाअनर्थ का मूल है और निरन्तर स्वरूप चिन्तन परमसुख रूप है। स्वरूप में स्थित पुरुष को जगत सुषुप्ति के समान हो जाता है और स्वरूप में अभ्यासी पुरुष को जगत स्वप्नवत् प्रतीत होता है और स्वरूप ज्ञान के जिज्ञासु को जगत जाग्रत के समान प्रतीत होता है। इसलिए जितना स्वरूप का अभ्यास अधिक होता है उतना जगत का अभाव सिद्ध होता है और जितना जगत का अभाव होता है, उतना दुःखों और क्लेशों का अभाव होकर परमान्द स्वरूप का साक्षात् अनुभव होता है। शरीर दिशा में अपने स्वरूप ज्ञान के बिना कल्पित मनोराज, वाचिक क्लेश, भौतिक रोग, भ्रामिक दुःख से मुक्त होने का और कोई उपाय नहीं है। इसलिए पारदर्शी, महाबुद्धिमान और न्यायशील सब प्रकार से सावधान होकर अपने स्वरूप की स्थिति का निरन्तर अभ्यास कर शरीर के होते ही शरीर के संग, अभिमान, भोग, क्लेश और दुःख से मुक्त हो जाते हैं। निरन्तर अभ्यास महाबलवान है। आगे भी चेतन अपने अभ्यास द्वारा नाम, वर्ण, आश्रम आदि के अभिमान से स्थूल भाव प्राप्त हुआ है। अब भी अपने अभ्यास द्वारा स्थूलभाव से मुक्त होकर अपने वास्तव भाव को प्राप्त होगा, क्योंकि चेतन महासमर्थ, शक्तिमान सत्ता स्फुरण है, स्थूल और

Scanned with CamScanner

सूक्ष्म इसकी दो शक्तियाँ हैं। अपने फुरने द्वारा इन शक्तियों को प्रकाशित करता है। जब अपने फुरने को आप में लीन करता है तब अपनी शक्ति अर्थात् स्थूल और सूक्ष्मभाव से रहित होकर केवल सत्तामात्र होता है। इसलिए चेतन को अपने वास्तव स्वरूप का अभ्यास ही सुखरूप है।

प्रश्न १८—शरीरी कैसे काल व्यतीत करे कि व्यवहार और परमार्थ दोनों सिद्ध हों?

उत्तर—शरीरधारी को शरीर की पालना के लिए समय चाहिए और आत्मा में स्थिति के लिए भी। इसलिए काल का इस प्रकार विभाग करे जिससे दोनों कार्य पूर्ण हों। अतः प्रातःकाल सूर्य निकलने से दो मुहूर्त पहले जाग कर आत्म अभ्यास करे और शान्ति-रस पावे। जब दिन चढ़े, उस समय अपना व्यवहार पूरा करे। सायंकाल के समय भी एक दो मुहूर्त कालबचाकर किसी एकान्त स्थान में जा बैठे और आत्मविचार से मन को एकाग्र करे। इस रीति से यदि जिज्ञासु अपना बरताव करे, व्यवहार और परमार्थ दोनों पूरे हो सकते हैं। जो यह चाहें कि मैं व्यवहार को त्यागकर सारा दिन बिना किसी व्यवहार बैठा रहूँ और ध्यान करता रहूँ, तो उसको आनन्द कभी नहीं होगा, क्योंकि मन चंचल है, सब समय एक ओर नहीं लग सकता। इसलिए इसे सब ओर प्रवृत्त करना उचित है। जब व्यवहार से थक जाता है तब प्रीति सहित परमार्थ का रस लेता है। जब परमार्थ से थक जाता है तब प्रीति सहित व्यवहार को पूरा करता है। इसलिए दोनों कार्य करता रहे।

प्रश्न १९—यत्न अपने आधीन है या प्रारब्ध अथवा ईश्वर के?

उत्तर—यत्न अपने अधीन है। प्रारब्ध और ईश्वर भी आप से भिन्न नहीं हैं, क्योंकि प्रारब्ध पूर्व कर्मों का नाम है। पूर्व कर्मों का समन्वय जीवात्मा के साथ है। जीवात्मा से कर्मों का कर्ता और भोक्तापन सिद्ध होता है। प्रारब्ध जड़ होने से स्वयं कुछ नहीं कर सकती। जो कुछ सिद्ध होता है चेतन से सिद्ध होता है। चेतन अपना-आप है, इसलिए प्रारब्ध भी अपने अधीन है। ईश्वर सब की आत्मा होकर स्थित है। सब जगत की मर्यादा और यत्न अर्थात् उत्पत्ति, पालना और संहार जीवरूप होकर करता है। जीवरूप को त्यागकर कोई कर्म अथवा यत्न सिद्धगति को प्राप्त नहीं होता। इसलिए ईश्वर भी जीवरूप होकर यत्न में प्रवृत्त होता है और वह जीवात्मा अपना-आप है। इससे सिद्ध हुआ कि यत्न अपने अधीन है।

जो लोग यत्न प्रारब्ध के अधीन मानते हैं, उसका यत्न भी अपने पुरुषार्थ से सिद्ध होता है। प्रारब्ध कोई वस्तु नहीं, जीव के कर्मों का नाम प्रारब्ध है, यत्न भी कोई वस्तु नहीं, जीव के कर्मों का नाम यत्न है और पुरुषार्थ भी कोई वस्तु नहीं, जीव के कर्मों का नाम पुरुषार्थ है। इसलिए प्रारब्ध, यत्न और पुरुषार्थ कर्म के नाम हैं। कर्म जड़ है, अपने-आप सिद्ध नहीं होता, चेतन की सहायता से सिद्ध होता है। अतः चेतन जीवरूप होकर सर्व शरीरों में स्थित है और वह जीव अपना-आप है। इसलिए प्रारब्ध के अधीन यत्न मानने वालों के मत से भी सिद्ध होता है कि यत्न अपने अधीन है।

जो लोग यत्न ईश्वर के अधीन मानते हैं, उसका तात्पर्य भी यही है। यत्न अपने अधीन है। क्योंकि ईश्वर जीवरूप होकर सर्व शरीरों में स्थित है, इसलिए ईश्वर का यत्न

Scanned with CamScanner

भी जीव द्वारा जगत में सिद्ध हो रहा है। यदि जीव को ईश्वर से भिन्न मानें तो भी ईश्वर जीव के कर्मों के अनुसार जीव के यत्न में प्रवृत्त होता है। कर्मों के बिना किसी को किसी यत्न में लगाकर सुख अथवा दुःख का फल नहीं देता। कर्म जीवकृत है, इसलिए जीव के अपने किये हुए कर्म ही ईश्वर को जीव के यत्न का प्रेरक करते हैं। अतः यत्न ईश्वर के अधीन न हुआ, अपने कर्मों के अधीन हुआ। ऊपर सिद्ध हो चुका है कि चेतन की सहायता के बिना कर्म सिद्ध नहीं होते, इसलिए ईश्वर के अधीन यत्न मानने वालों के मत से सिद्ध हुआ कि यत्न अपने अधीन है। इस रीति से यत्न को अपने अधीन जानकर मोक्ष के लिए यत्न करना उचित है।

प्रश्न २०—लोक प्रसिद्ध है कि मनुष्य की प्रारब्ध आदि से घटती-बढ़ती नहीं तो फिर क्यों मनुष्य फ़कीरों के पास जाकर धन आदि पदार्थों की कामना करते हैं?

उत्तर—अज्ञान से, प्रारब्ध के वास्तव स्वरूप को न जानकर करते हैं।

प्रश्न २१—जीव और आत्मा के सम्बन्ध से व्यवहार होता है। इनमें जीव जड़ है और आत्मा चेतन है। अतः जीव आत्मा के प्रकाश से व्यवहार करता है। यदि जीव जड़ है तो उसकी चेतन आत्मा से एकता कैसे होती है? वेदान्त शास्त्रकारों ने उसकी एकता करके सुनाई है। जीव को पापी, पुण्यवान भी माना गया है। यदि जीव जड़ है और चेतन के बिना कोई कर्म नहीं कर सकता, इसे पापी व पुण्यवान कैसे कहा जाता है?

उत्तर—जीव और आत्मा के सम्बन्ध से व्यवहार नहीं होता, किन्तु जीव और शरीर के सम्बन्ध से व्यवहार होता है। उनमें जीव चेतन है और शरीर जड़ है, जीव की चेतनता से शरीर सब व्यवहार करता है। इसी से सिद्धान्त शास्त्रों में उपमान प्रमाण को लेकर लिखा है कि शरीर अंध अर्थात् जड़ है और जीव निरावयव अर्थात् निराकार है। जब यह दोनों एकत्र होते हैं तब कर्म होता है और जीव अपने को भूलकर उन कर्मों में अपना सम्बन्ध मानता है इसलिए पुण्यी व पापी माना जाता है। जब अपने को शरीर से भिन्न केवल चेतनमात्र, निराकार और अक्रिय निश्चय करता है तब वह न पापी है न पुण्यात्मा।

जीव की ब्रह्म से एकता होती है। वेदान्त शास्त्रकारों ने भी जीव ब्रह्म की एकता गाई है। वह यथार्थ है, क्योंकि जीव और ब्रह्म एक ही वस्तु के दो नाम हैं, जैसे नदी और समुद्र एक ही जल के दो नाम हैं, नाम के भेद से वस्तु में भेद नहीं आता। इसलिए जीव और ब्रह्म दोनों एकरूप हैं।

पाप और पुण्य का कोई स्वरूप नहीं, केवल बुद्धि से भिन्न-भिन्न मत वाले पुरुषों ने भिन्न-भिन्न कर्मों के दो भाग किये हैं। ये दोनों भाग केवल व्यवहार की सिद्धि और जगत की मर्यादा स्थापित करने के लिए हैं। जीव के स्वरूप व शरीर के स्वरूप के साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं। केवल इन दोनों के सम्बन्ध से जो कर्म होते हैं, उन कर्मों में पुण्य व पाप की कल्पना मानी गई है। जैसे बैंगन और शरीर के सम्बन्ध से जब पित्त की अधिकता प्रकट होती है, उससे बैंगन में पित्त मानी जाती है यदि बैंगन और शरीर का सम्बन्ध न हो तो पित्त के प्रगट होने का कोई कारण नहीं। इसलिए पित्त का भाव केवल

Scanned with CamScanner

बैंगन और शरीर का सम्बन्ध है वैसे ही जीव और शरीर के सम्बन्ध से जो कर्म होता है उसमें भिन्न-भिन्न विकल्प उत्पन्न करके पुण्य व पाप की कल्पना मानते हैं। यदि इन दोनों को भिन्न करके देखें तो पुण्य और पाप का स्वरूप कोई नहीं। जब स्वरूप ही नहीं तो इसका फल कैसे जीव को कैसे सुख या दुःख दे सकता है। एसलिए इस संशय को चित्त से निवृत्त कर पुण्य व पाप की कल्पना से जीव को रहित मानें। जब जीव पुण्य और पाप की कल्पना से रहित प्रतीत होगा, तब ब्रह्म के साथ एकरूप होने में किसी प्रकार का संशय नहीं रहेगा।

प्रश्न २२—जीव का स्वरूप निराकार, शुद्ध, अक्रिय और आनन्द-स्वरूप है। यह अपने को अशुद्ध, विकारी, कर्ता और दुःख रूप क्यों प्रतीत करता है?

उत्तर—शरीर, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण के संग से जीव अपने वास्तव स्वरूप में विपर्ययज्ञान का अनुभव करने लगा है। शरीर के संग से अपने को अशुद्ध मानता है, इन्द्रियों के संग से अपने को विकारी जानता है, प्राण के संग से अपने को कर्ता मानता है और अन्तःकरण के संग से अपने को दुःखरूप पहचानता है। वास्तव में जीव चारों देशों से रहित केवल सत्तामात्र है। जब अपने को इन चारों से असंग निश्चय करता है, तब देशों से निर्देश होकर शुद्ध, निर्विकार, अक्रिय और आनन्दरूप होता है। इसलिए तत्व विचार के आसरे अपने को शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरण से भिन्न माने और क्षण-क्षण में अपने वास्तव स्वरूप को स्मरण कर इनकी ओर से वैराग्य करे। जब इन चारों से वैराग्य होगा और अपना स्वरूप पूर्ण रीति से निश्चय होगा तब सब विकार नष्ट हो जायेंगे और शरीर, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण के होते ही इनके विकारों और धर्मों से रागद्वेष प्राप्त नहीं होगा। अपने स्वरूपज्ञान के बिना और कोई साधन शरीर के होते ही शरीर के विकारों, दुःखों, कर्मों और क्लेशों से रहित होने का नहीं है। सब महात्माओं ने आत्म-ज्ञान ही मुक्ति का साधन लिखा है। इसलिए अपने को पहचानकर सदा आनन्दरूप रहे।

प्रश्न २३—जीव का जन्म मरण होता है अथवा नहीं?

उत्तर—नहीं! किसी शास्त्र अथवा मत में जीव का जन्म व मरण नहीं माना। यदि शास्त्र जीव का मरना मानते, उसने जो-जो कर्म किए हैं, उसका नाश भी मानते। यदि उस जीव का दूसरे स्थान पर जन्म मानते, जीव को अकृतभोक्ता अर्थात् न किए हुए कर्मों का भोक्ता मानते, क्योंकि पहले कर्म तो उसके मरने से नष्ट हो गये थे, और कोई कर्म शेष नहीं ये। नवीन जीव उत्पन्न हुआ और न किए हुए कर्मों को भोगने लगा। इससे दो दोष होते हैं। एक, किये कर्मों के भोग बिना नाश; दूसरा, न किए कर्मों का भोग। यह वार्ता कोई शास्त्रकार नहीं मानता। सारे शास्त्रकार कहते हैं कि जीव अपने किये हुए कर्मों का फल भोग रहा है। इससे सिद्ध हुआ कि जीव सदा एक ही अवस्था में चला आता है, न कभी मरता है, न कभी जन्म लेता है, शरीर के सम्बन्ध से जन्म और मरण की उपाधि उस पर स्थापित हुई है। यदि शरीर को विचार दृष्टि से देखें तो उसमें भो कोई वस्तु उत्पन्न होने वाली और मरने वाली नहीं है। केवल अज्ञान से जीव अपने वास्तव स्वरूप को भूलकर अपने को शरीर के जन्म से जन्मवान, शरीर के मरण से मरणवान, शरीर के कर्मों से कर्मों

Scanned with CamScanner

का कर्ता, शरीर के दुःख और सुख से सुख और दुःख का भोक्ता मानता है। जब जीव को यह ज्ञान होता है कि मैं निराकार, चेतन, जन्म-मरण से रहित हूँ, उस समय शरीर के होते ही अपने को शरीर के विकारों, कर्मों और धर्मों से मुक्त, शुद्ध, असंग और अक्रिय निश्चय करता है।

प्रश्न २४—लोगों में प्रसिद्ध है कि जब तक जीव अज्ञान की अवस्था में रहता है, तब तक जन्म मरण व गमनागमन में बंधा रहता है। यह वार्ता यथार्थ है या कल्पित ?

उत्तर—कल्पित। क्योंकि जीव का स्वरूप सत्य और अच्युत है। सत्य का अर्थ त्रिकालाबाध है। तात्पर्य यह कि तीनों कालों में एक रस रहने वाले को सत्य कहते हैं। सत्य वस्तु, ज्ञान और अज्ञान में समान रहती है। जैसे आकाश तम और प्रकाश में समान रहता है, न तम से न्यून होता है; और न प्रकाश से अधिक होता है, ज्यों का त्यों अपने स्वरूप और स्वभाव में स्थित रहता है। वैसे ही चिदाकाशरूप जीव ज्ञान अज्ञान में समान रहता है। ज्ञान से मुक्त नहीं होता और अज्ञान से बंधा नहीं रहता। केवल केवलीरूप अपनी महिमा में स्थित रहता है। अच्युत का अर्थ आरम्भ है अर्थात् उत्पत्ति, और नाश से रहित समानरूप हो। जब जीव का वास्तव स्वरूप सत्य और अच्युत है तो अज्ञान से इसको जन्म मरण व आवागमन नहीं होता और ज्ञान से उसको मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, ज्ञान अज्ञान में समान रहता है। ज्ञान अज्ञान इसके आसरे हैं। यह ज्ञान अज्ञान के आसरे नहीं। इसलिए ज्ञान अज्ञान इसे व्यभिचारी नहीं कर सकते। यह सदा जैसा है वैसा है।

प्रश्न २५—यदि जीव का जन्म मरण नहीं, तो संचित कर्म और प्रारब्ध कर्म के क्या अर्थ हैं ? इनसे होने वाला ऊँच-नीच भाव कल्पित है या यथार्थ ?

उत्तर—संचित कर्मों का अर्थ है समूह कर्म। शरीर की उत्पत्ति के बाद जो कर्म होते हैं, उनके समुदाय को संचित कर्म कहते हैं। जो कर्म फल देते हैं, वे प्रारब्ध कहे जाते हैं। जिस कर्म के करने से भोजन आदि दुःख-सुख मिले, उसे प्रारब्ध कहते हैं। इनका सम्बन्ध शरीर के साथ है, जीव के साथ नहीं। कर्मों की सिद्धि शरीर में होती है। शरीर ही कर्मरूप हैं।

शरीर में संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध तीन प्रकार के कर्म रहते हैं। संचित कर्म वे कर्म हैं जो आदि से इसके साथ प्रकट हुए हैं। जैसे कानों का सुनना, आँखों का देखना, जिह्वा का रस लेना, नासिका का सूँघना, त्वचा का स्पर्श करना, हाथों का लेना, वाक का बोलना, पाँओं का चलना, उपस्थ इन्द्रिय से मूत्र व वीर्य का त्याग करना, गुदा से विष्टा का त्याग करना, मन का फुरना, चित्त का चिंतन बुद्धि का निश्चय, अहंकार की अहंता, प्राणों का अहंभाव और तृषा आदि कर्म जो शरीर के साथ प्रकट हुए हैं, वे संचित कर्म हैं। इन कर्मों को नित्यप्रति करना क्रियमान है। इन कर्मों से जो फल मिलता है, वह प्रारब्ध है। इस प्रकार संचित, क्रियमान और प्रारब्ध केवल शरीर की क्रिया अर्थात् इन्द्रिय और अन्तःकरण के कर्मों की मर्यादा, प्रवृत्ति और फल के नाम हैं; इसके बिना इनके अर्थ कुछ नहीं। जीव का सम्बन्ध इनके साथ कोई नहीं। जीव वह वस्तु है, जिसमें जीव का नाम भी कल्पित है। जब जीव जीवभाव को लाँघ जाता है। निरर्थक और कल्पित वचनों के आधीन होकर

Scanned with CamScanner

अपने स्वरूप का त्याग अथवा अपने स्वभाव का व्यभिचारी भाव कैसे स्वीकार करेगा ? अर्थ यह कि कर्म से जीव में किसी प्रकार की हानि अथवा लाभ प्रवेश नहीं कर सकता।

यदि विचार दृष्टि से देखें तो संचित, क्रियमान और प्रारब्ध पाँच तत्वों में निरन्तर रहते हैं। आकाश का शब्द आकाश का संचित कर्म है। जब वाणी और लेखनी से संयुक्त होकर प्रगट होता है वह क्रियमान है। उस वचन से जो हर्ष व शोक प्रतीत होता है, वह प्रारब्ध है। तात्पर्य यह कि आदि कर्म शब्द ही प्रवृत्त होकर फल देने वाला हुआ। उसका सम्बन्ध सारे शरीरों के साथ एक जैसा है, इसलिए सारे शरीरों का संचित कर्म, क्रियमान कर्म और प्रारब्ध कर्म एक है; न किसी का अधिक है न किसी का न्यून है। इसी प्रकार दूसरे तत्वों के कर्म भी निश्चय कर लेने। जब यह अवस्था है तो सबकी प्रारब्ध समान है, सबके संचित कर्म समान हैं और सबके क्रियमान कर्म समान हैं। जब सारे शरीर समान हैं तो ऊँच-नीच, ज्ञानी-अज्ञानी राव रंक किसको मानें ? वास्तव में एक शरीर है, वह अपने स्वभाव में स्थित है, यद्यपि अनेक रूप होकर प्रतीत होता है तो भी अनेक नहीं हुआ, क्योंकि सब शरीरों में पाँच तत्व, उनके कर्म और उनके फल पूर्ण हैं। मानों पाँच तत्व ही अपनी कर्म शक्ति करने के लिए शरीर रूप हैं, क्योंकि कर्मशक्ति अनेकता के बिना सिद्ध नहीं हो सकती। इसलिए एक ही शरीर अनेक रूप धारण कर प्रगट है। वास्तव में एक है, परन्तु अल्पदृष्टि से अनेक प्रतीत होता है। एक जैसी मर्यादा वाला है, अज्ञान से अनेक मर्यादा वाला प्रतीत होता है; एक ही कर्म का कर्त्ता और एक ही फल का भोक्ता है, अविवेक से नाना कर्मों का कर्त्ता और नाना फलों का भोक्ता प्रतीत होता है। इसलिए शरीर भी नाना नहीं, एक है। शरीर पाँच तत्वरूप है और पाँच तत्व चेतन की शक्ति होने से चेतन-रूप हैं। जब शरीर ही चेतन की शक्ति है, चेतन को किस प्रकार बाँध सकता है ? शक्ति शान्ति का स्वरूप है। इसलिए शरीर और नहीं, मानो चेतनरूप है। यदि शरीर को भिन्न मानें तो भी वह एक है। जब शरीर एक है तो जीव भी एक है। जब जीव एक है उसे आने वाला और जाने वाला कहाँ मानें ? इसलिए जीव अपने-आप में स्थित है, उसी का दूसरा नाम ब्रह्म है। इस रीति से सिद्ध होता है कि जीव का न कोई संचित कर्म है, न क्रिय-मान कर्म है और न प्रारब्ध कर्म है। शरीर का न कोई संचित कर्म है, न क्रियमान कर्म है और न प्रारब्ध कर्म है। यह अक्षर ऐसे ही प्रवृत्त चले आते हैं। ऊपर लिखे हुए अर्थों के विचार करने से इनको सत्ता का संशय निवृत्त होकर शान्ति की प्राप्ति होगी।

प्रश्न २६—जीवों की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं से भी प्रकट और सिद्ध है कि आवा-गमन है, क्योंकि एक जीव तो आनन्द सहित खानपान आदि भोग करता है और दूसरा जीव पशुवत् ताड़ना सहारता है, उसने कभी दुःखरहित अवस्था अनुभव नहीं की इसलिए उत्तम और नीच का भेद पूर्व जन्म के कर्मों से है। एक पुरुष की बुद्धि ऐसी उज्ज्वल है कि आनन्द के बिना और कुछ ग्रहण नहीं करती और दूसरा ऐसा मलिन बुद्धि है कि दुःख के बिना उसके हृदय में कुछ नहीं आता। ये लक्षण पूर्व जन्म और आवागमन को सिद्ध करते हैं ?

उत्तर—जीव की अवस्था सदा एकरस रहती है, क्योंकि जीव का स्वरूप सत्चित

Scanned with CamScanner

आनन्द है। सत्य वस्तु कदापि अपनी अवस्था को त्यागकर दूसरी अवस्था को ग्रहण नहीं करती। चेतन वस्तु कभी जड़ भाव को प्राप्त नहीं होती। आनन्दरूप वस्तु कभी दुःखरूप नहीं होती। यह देहअध्यास और अल्पज्ञ दृष्टि अथवा अविद्या की कृपा है कि सत्य में असत्य, चेतन में जड़ और आनन्द में दुःख का अनुभव करा रही है। यदि इन दूषणों से शुद्धि हो तो जीव की वास्तव अवस्था प्रतीत हो। जो भेद जीवों की अवस्थाओं से प्रतीत होते हैं, सब निवृत हों।

अज्ञान ने जीव को अपना स्वरूप विस्मरण कराकर शरीर रूप निश्चय कराया है। शरीर पाँच तत्वों से रचित है और पाँच तत्वों के स्वभाव एक-दूसरे के विरोधी हैं। इसलिए भिन्न-भिन्न इन्द्रियाँ अन्तःकरण और प्राणरूप होकर खानपान आदि नाना कर्म कर रहे हैं और नाना सुख-दुःख भोग रहे हैं। जीव का सम्बन्ध न कर्मों से है और न कर्मों के फल सुख-दुःख से है। जीव केवल सत्तामात्र है यह यथार्थज्ञान है।

बुद्धि भी तत्वों का अंश है। जहाँ जल का अंश बुद्धि में विशेष है वहाँ प्रसन्नता अधिक होती है। जहाँ अग्नि और पृथ्वी का अंश अधिक होता है वहाँ विक्षेप्ता और उदासी बुद्धि में अधिक होती है। जहाँ अग्नि और पवन का अंश बुद्धिमें अधिक होता है वहाँ चतुराई और चंचलता अधिक होती है। इस रीति से बुद्धि का भेद भी तत्वों की न्यूनता और अधिकता से होता है। इस वार्ता को अज्ञानियों ने जीव में आरोपित किया है, यह अयथार्थ है, क्योंकि जीव शुद्ध, निर्विकार, तत्वों की रचना से रहित केवल ज्ञान स्वरूप है। न कभी घटता है, न कभी बढ़ता है, न बड़ा होता है, न छोटा होता है, न उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है, न विक्षप्त होता है, न एकाग्र होता है, केवल चिदाकाशरूप है। इसलिए ऊँच-नीच भाव से शुद्ध है। किसी अवस्था से उसमें भेद नहीं आता। जब भेद ही नहीं तो आवागमन के अधीन जीव को मानना यथार्थ ज्ञान से अत्यन्त ही विरुद्ध है।

सृष्टि दो प्रकार की है। एक ईश्वर की सृष्टि और दूसरी मनोमय सृष्टि। ईश्वर सृष्टि की सामग्री-समान, ऊँच और नीच भेद से रहित एक रस है और मनोमय सृष्टि की सामग्री व्यभिचारी, ऊँच और नीच के भेद सहित है। जैसे जगत में राजा और रंक दो शरीर हैं। इन दोनों शरीरों में ईश्वर सृष्टि की सामग्री अर्थात् दस इन्द्रिय, चार अन्तःकरण, प्राण, जीव चेतन, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था, बाल, युवा, वृद्ध अवस्था, इन्द्रियों के विषय और कर्म अन्तःकरण और प्राणों के धर्म समान हैं। इनमें ऊँच और नीच का भेद रंचक मात्र भी नहीं और मनोमय सृष्टि की सामग्री अर्थात् राजा की मनौत, लोगों की प्रतीत, अभिमान और व्यवहार की अधिकता, रंक का नाम, लोगों की अप्रतीत, निरमानता और व्यवहार की न्यूनता एक दूसरे के विरुद्ध हैं और ऊँच-नीच का भेद उत्पन्न करते हैं। ईश्वरसृष्टि सत्य और मनोमयसृष्टि कल्पित है। अज्ञान ने सत्य वस्तु को विस्मरण कर कल्पित वस्तु को निश्चय कराया हुआ है। कल्पित वस्तु से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। केवल मन की कल्पना है, जाग्रत अवस्था में रहती है। जाग्रत अवस्था में भी नित्य वह नहीं रहती; कदाचित् होती है और कदाचित् नहीं होती। जैसे राजा कभी रंक

Scanned with CamScanner

हो जाता है और रंक कभी राजा। सत्य वस्तु अर्थात् ईश्वर सृष्टि के सब कार्य सिद्ध होते हैं। वे तीनों अवस्थाओं में समान रहती हैं और कभी विपर्यय भाव को प्राप्त नहीं होती। यद्यपि रोग व मृत्यु से अवस्था विपर्यय होती है, तथापि रोग और मृत्यु भी ईश्वर सृष्टि रूप हैं। इस रीति से ईश्वर सृष्टि यथार्थ है और मनोमय सृष्टि अयथार्थ है। यदि मनोमय सृष्टि को कल्पित और अनित्य जानकर चित्त से विस्मरण करे तो ऊँच या नीच का भेद कोई नहीं रहता और फिर उस भेद से जो पूर्वजन्म के कर्मों का संशय उत्पन्न होता है, वह भी नाश हो जाता है। अतः आत्म-जिज्ञासु ईश्वर-सृष्टि को नित्य मान मनोमय सृष्टि को कल्पित और असत्य निश्चय करें, कि सब भेद और प्रच्छेद उसकी दृष्टि से निवृत्त हों।

शरीर पाँच तत्व अर्थात् आकाश, पवन, अग्नि, जल, पृथ्वी का कार्य है। ये पाँच तत्व ही मानो शरीर रूप हैं और इन तत्वों की ही भिन्न-भिन्न शक्तियाँ, इन्द्रियाँ अन्तःकरण और प्राणरूप होकर भिन्न-भिन्न कर्म कर रही हैं। चेतन इन सब शक्तियों में पूर्ण है, किसी कर्म का कर्ता नहीं और न किसी कर्म का सम्बन्ध उसके स्वरूप से है। जब शरीर शरीर-भाव को त्यागकर पाँच तत्वों में समाता है, तब उन तत्वों के सूक्ष्म अंश इन्द्रियाँ अन्तःकरण और प्राण उनमें समा जाते हैं। उनके जो कर्म हैं, वे भी तत्वों में समा जाते हैं; शेष आकाशवत् शुद्ध चेतन और महिमा में स्थित रहता है। इस अवस्था में किसका आवागमन मानें ? जब आकाश आवागमन की कल्पना से मुक्त है तो आकाश के प्रकाशक जीव चेतन में यह कल्पना कैसे सिद्ध हो सकती है ? यह अज्ञान है, वास्तव में एक वस्तु अपने आप में स्थित है, न कहीं आती है, और न कहीं जाती है। भिन्न-भिन्न आकारों वाली दृष्टि में आने वाली वस्तु का प्रकाश है। इस दृष्टि को धारकर ब्रह्मानन्द में लीन रहना उचित है। भिन्न-भिन्न संशयों और तर्कों से विक्षेप्ता और अज्ञान के बिना कुछ प्राप्त नहीं होगा।

यदि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं से पूर्व जन्म के कर्म व आवागमन मानी जाए तो जगत् में एक वस्तु भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को धार रही है। जैसे धरती के एक टुकड़े पर वर्षों पर्यन्त मैल और दुर्गंध रहती है और फिर उसी धरती पर एक मन्दिर बन जाता है जिसमें अनेक नर-नारी प्रणाम करते हैं। अब उस धरती के कौन से जन्म के कर्म माने जाएँ क्योंकि वह धरती आवागमन से रहित है और उसके ऊँच-नीच होने का कौनसा कारण माना जाए ? केवल संयोग ही मानना पड़ेगा वैसे ही शरीरों का भी संयोग है। किसी को बैठे बिठाये रोटी मिलती है और किसी को यत्न करना पड़ता है, परन्तु इन दोनों अवस्थाओं में भी शरीर का स्वरूप समान रहता है। इसलिए इन अवस्थाओं की अपेक्षा से आवागमन का वाक्य सिद्ध नहीं हो सकता।

एक शरीर में दस इन्द्रिय हैं, दसों के भिन्न-भिन्न कर्म हैं। नेत्र सदा ऊँचे सिंहासन अर्थात् शीश पर स्थित होकर सबका दर्शन करते हैं, किसी प्रकार का यत्न उनको नहीं करना पड़ता। पैर पृथ्वी पर स्थित होकर सारा दिन यत्न कर कष्ट सहारते हैं, सारे शरीर का भार उठाते हैं, मिट्टी से मलिन होकर अपनी सुन्दरता और शुद्धता गँवाते हैं। गुदा से

Scanned with CamScanner

विष्टा और अपान वायु के बिना और कुछ नहीं निकलता। हस्त मध्यम स्थान पर विराजमान होकर सारा दिन कार्य में प्रवृत्त रहते हैं। अब इन इन्द्रियों के नीच और ऊँच होने का क्या कारण है? यदि इनके कर्म माने तो पैर कभी नेत्र हो जायें और नेत्र कभी परे हो जाएँ, परन्तु ये अपने कर्म और स्वभाव में स्थित है इसलिए इनके पूर्व जन्म के कर्मों का आवागमन का संशय उत्पन्न नहीं हो सकता। सब शरीरों में यही इन्द्रियाँ कर्म के कर्ता है और इन्हीं के कर्मों से ऊँच और नीच का भ्रम उत्पन्न हो रहा है। ये इन्द्रियाँ पूर्व जन्म और आवागमन के बन्धन से मुक्त है। इसलिए किस वार्ता को सम्मुख रखकर जीव का आवागमन मना जाता है? जीव न खाता है न शौच जाता है, न पीता है न मूत्र त्याग करता है, न ग्रहण करता है न त्याग करता है, न चलता है, न फिरता है, केवल चेतन सत्ता है, सदा एक रस अपनी सत्ता में सत्य है। खाने-पीने वाली इन्द्रियाँ अपने-अपने स्वभाव में स्थित है। इसलिए बड़ा आश्चर्य है कि आवागमन का वाक्य किस युक्ति से स्थापित चला आता है? नेत्रों का जन्म किसी ने नहीं माना। केवल जीव को इस विकार से विकारी क्यों माना गया है? कर्मों के कर्ता अपने-अपने कारण में समाये, और कर्मों का अकर्ता आवागमन में। हे अविद्या! तूने सब लोगों के विचार रूपी नेत्र अन्ध कर दिये है, यथार्थ विद्या का ऐसा लोप कर दिया है कि बालक की तरह अपने परछाईं से भयभीत होकर भागते है और शांति नहीं पाते। जहां जाते है परछाईं पीछे-पीछे चली आती है, यदि स्थित होकर देखें तो परछाईं कोई वस्तु नहीं, अज्ञान से भय हो रहा है। सब संशय जो संसार रूप होकर प्रतीत हो रहे है जीव की परछाईं है। जीव उनसे भयभीत होकर दौड़ता है, भला कहाँ तक दौड़ेगा? जहाँ दौड़ेगा परछाईं साथ है। यदि एक क्षण अपने स्वरूप में स्थित होकर देखें तो न कोई संसार है और न संसार का लक्षण आवागमन, बंधन मुक्ति, पुण्य-पाप, ज्ञान-अज्ञान, जीव शरीर आदि है। अपितु एक ऐसी अवस्था जो अनुभवगम्य है, वाणीगम्य नहीं इसलिए अविद्या के सम्बन्ध का अत्यन्त ही त्याग करें, जिससे वास्तव स्वरूप और यथार्थ अवस्था प्रत्यक्ष प्रतीत हो।

[ब्रह्म महाअग्निरूप है और जीव विस्फुलिंग अर्थात् चिनगारियों की तरह। उसी से उठते और उसी में लीन होते हैं। ब्रह्मरूप अग्नि नित्य है। उसका स्वभाव अर्थात् चिनगारियों का उठना और लीन होना भी नित्य है। चिनगारियों के उठने और लीन होने को आवागमन नहीं मानते, क्योंकि चिनगारी वास्तव में कोई वस्तु नहीं, अग्नि ही चिनगारीरूप होकर स्थित है। इसलिए चिनगारियों का उठना और लीन होना अग्नि से भिन्न नहीं। ऐसी अवस्था में उत्पत्ति और लय केवल कपोल कल्पना या मिथ्या मनोराज है। एक ही वस्तु अपने-आप में स्थित है और अपनी अनन्त शक्तियों को प्रकट करके अपनी महिमा में आप है।

जब श्रीकृष्ण ने विश्वरूप दिखलाया तो उस समय यह सिद्ध किया कि विश्व ब्रह्मरूप है। जब विश्व ही ब्रह्मरूप है और ब्रह्म पूर्ण है तो आवागमन किस प्रकार माना जाये और किसका माना जाये? अद्वैत वस्तु अपने-आप में स्थित है।

ब्रह्म अगाध समुद्र है। सारी सृष्टि तरंगों की तरह उसी से प्रकट और उसी में लीन होती है। जैसे जल और तरंग कभी भेदगति को प्राप्त नहीं होते। अर्थात् जल तरंग रूप है

Scanned with CamScanner

और तरंग जलरूप है। तरंगें सदा उदय और लीन होती रहती हैं, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि फिर वही तरंगें उत्पन्न हुई है क्योंकि जल का स्वभाव ही ऐसा है कि द्रवित होकर तरंगों के समान प्रतीत होता है वैसे ही चेतन रूप अगाध समुद्र का स्वभाव ही ऐसा है कि शरीर, इन्द्रियाँ अन्तःकरण, प्राण रूप होकर अपनी चेतनता को अपने में प्रकट कर रहा है। वही चेतन ब्रह्म है; वही चेतन ईश्वर है, वही चेतन जीव है, वही चेतन अन्तःकरण है, वही चेतन प्राण है, वही चेतन इन्द्रियाँ हैं, वही चेतन स्थूल शरीर है और वही चेतन सारा जगतरूप है। इसलिए एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न शक्तियों से भरपूर है। नाना रूप होकर प्रतीत होती है, वास्तव में अनेक नहीं, एक है। एक देखना ज्ञान है और अनेक देखना अज्ञान है। ज्ञानी को भूत और भविष्यत प्रतीत नहीं होते। इसलिए वर्तमान में मग्न रहकर परमानन्दरूप का अनुभव करता है। अज्ञानी भूत और भविष्यत को प्रतीत कर आनन्द स्वरूप के होते ही दुःख का अनुभव करता है, परन्तु वास्तव दृष्टि ज्ञानी की है। इसलिए ज्ञानी का कर्म, वचन और निश्चय, सत्य और यथार्थ है और अज्ञानी की दृष्टि भ्रान्तिरूप है। इसलिए उसका कर्म, वचन और निश्चय भी भ्रान्तिरूप है। ज्ञानी की दृष्टि में न कोई भूत है, न भविष्यत्, इसलिए भूत और भविष्यत् मानने योग्य नहीं है, जब भूत भविष्यत् ही नहीं तो पूर्व जन्म और आगामी जन्म किस प्रकार सिद्ध हो सकता है? कभी सिद्ध नहीं हो सकता।

जैसे, एक आकाश अनेक घटों में पूर्ण है। उन घटों में भिन्न-भिन्न वस्तु डाली जाती है अथवा भिन्न-भिन्न कर्मों के लिए वह घट प्रवृत्त किये जाते हैं। जैसे एक घट में दूध भरा जाता है, एक घट में पानी भरा जाता है और एक घट में मूत्र भरा जाता है। इन तीनों घटों में कितना भेद है? परन्तु इन तीनों में एक ही आकाश पूर्ण है और एक ही मिट्टी के तीनों घट हैं, उनमें भेद का कारण कौन-सा समझना चाहिए? आकाश सदा स्वच्छ, पूर्ण अखंड है, कर्म से रहित है। इसलिए उसका आवागमन, व पुण्य पाप कर्म नहीं समझे जा सकते और मिट्टी भी पूर्ण और अखंड है और कर्मों से रहित है। इसलिए उसका भी आवागमन व पूर्व जन्म के कर्म नहीं माने जा सकते। केवल संयोग ही मानना पड़ेगा। जैसा संयोग हुआ वैसी वस्तु घट में डाली गई और घट उस वस्तु के सम्बन्ध से ऊँच अथवा नीच हुआ और उसी नाम से बुलाय गया। वैसे ही सब शरीर घटों की तरह हैं और चेतन आकाश की तरह सब शरीरों में पूर्ण है। एक शरीर उत्तम स्वभावों से शोभायमान सर्व प्रकार से सुखी प्रतीत होता है। दूसरा शरीर राजसी सुखों से सम्पन्न विषय सुख भोगता है। तीसरा केवल साधारण रोटी खाता है और मोटा कपड़ा पहनता है। चौथा सारा दिन भंगी का काम करके गंद उठाता है। अथवा एक शुद्ध सतोगुणी स्वभाव वाला है, दूसरा सतोगुणी स्वभाव वाला है, तीसरा रजोगुणी स्वभाव वाला है, चौथा तमोगुणी स्वभाव वाला है, अब इनके भेद का कारण कौन-सा सोचा जाए? चेतन तत्व आकाशवत् पूर्ण और अद्वैत है और किसी कर्म के करने वाला नहीं और काल की अपेक्षा से रहित है, न कभी मरता है, न कभी जन्म लेता है। इसलिए उसे भी पूर्व जन्म के कर्मों से आवागमन के अधीन सुख-दुःख का भोक्ता नहीं माना जा सकता। शरीर पाँच तत्वों से रचित है और पाँच

Scanned with CamScanner

तत्वों से उत्पन्न होकर पाँच तत्वों के आसरे रहता है और फिर पाँच तत्वों में समा जाता है। इसलिए यह भी पूर्वजन्म के कर्मों से आवागमन के अधीन सुख-दुःख का भोक्ता नहीं माना जा सकता। अज्ञान से जो स्वभावों और कर्मों में भेद प्रतीत होता है वह वास्तव नहीं है, क्योंकि स्वभाव भी तत्वों के धर्म हैं और तत्वों में रहते हैं, तत्वों से प्रगट होते और तत्वों में समा जाते हैं। इनमें भी ऊँच और नीच भाव सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए आवागमन का वाक्य अत्यन्त ही कल्पित और मिथ्या हैं और विस्मरण करने योग्य है।

जैसे आकाश पूर्ण है। जब कोई मंदिर व घटादि प्रगट होता है तो आकाश स्वाभाविक उसमें पूर्ण होता है, वैसे ही चेतन पूर्ण है। जब शरीर प्रगट होता है तो चेतन स्वाभाविक उसमें पूर्ण होता है। जैसे घट के टूटने से आकाश कहीं आता-जाता नहीं, जैसे है वैसे ही रहता है। वैसे ही शरीर के नाश होने से चेतन कहीं आता-जाता नहीं, एक रस अपने-आप में स्थित रहता है। इसलिए पूर्वोक्त व्याख्यान को मनन और निदिध्यासन कर आवागमन का संशय अन्तःकरण से निवृत करें और समता, मुदता, शान्ति, एकाग्रता और निर्भयता सहित जीवनमुक्ति का आनन्द लें।

प्रश्न २७—किसी पुस्तक में लिखा है कि आत्मा शरीर के संग से विकारी हो जाता है। क्या वह कर्मों का फल भोगेगा ? मेरा यह संशय निवृत्त करें ?

उत्तर—आत्मा निराकार है, आकाश से सूक्ष्म है, शरीर के संग से विकारी नहीं होता और न कर्मों का कर्त्ता है, केवल सत्तामात्र है; इसलिए कर्मों का फल भी नहीं भोगता। जैसे आकाश घट के संग से विकारी नहीं होता और न घट के कर्मों से कर्त्ता माना जाता है वैसे ही आत्मा शरीर के संग से विकारी नहीं होता और न ही शरीर के कर्मों से कर्त्ता माना जाता है। अज्ञान से ऐसे निर्विकार, असंग और सत्तामात्र को विकारी, साकार, सम्बन्ध वाला और कर्मफल अधीन मानते हैं। वास्तव में आत्मा शुद्ध और अमल है, सब विकारों से मुक्त है। शास्त्रकार भयानक दृष्टि को लेकर केवल सुधार के लिए आत्मा को कर्त्ता व भोक्ता लिखते हैं। परन्तु यथार्थ दृष्टि में आत्मा सब कल्पना से मुक्त और अमल है।

प्रश्न २८—किसी ने पाप किया परन्तु उसे किसी ने न देखा और न संसार में उसे उस पाप के लिए कभी दंड मिला। क्या शरीर के बाद उसे उस पाप का दंड मिलेगा या नहीं?

उत्तर—जब कोई कर्म करता है या संकल्प करता है तब उसका द्रष्टा उसके समीप होता है, जिसे साक्षी कहते हैं। यदि कर्म मलिन हो तो उसका दंड उसी समय मिल जाता है। भाव यह कि मलिन कर्म का ज्ञान होकर जो पश्चात्ताप और भय होता है वही दंड है, इसके बिना और कोई दंड नहीं। दूसरा, दंड पाप की निवृत्ति नहीं कर सकता। जैसे राजदंड से चोर दो वर्ष जेलखाने में कैद रहता है, परन्तु चोरी का त्याग नहीं करता। जब अपने कर्म का ज्ञान होकर उसे पश्चाताप होता है तब दंड के बिना उस कर्म का त्याग कर उत्तम गति को प्राप्त होता है। वैसे ही शरीर के उपरान्त यदि धर्मराज का दंड भी माने तो भी सुधार नहीं हो सकता। जबतक पुरुष अपने कर्म का आप विचार न करे, अपने कर्म का आप द्राष्ट न हो। अपने कर्म का आप न्यायकारी न हो और अपने कर्म का दंड अपने को हा न

Scanned with CamScanner

देवे; तब तक कल्याण नहीं होता। इसलिए दूसरे के देखने से दंड देने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, यदि प्रयोजन सिद्ध नहीं होता तो दंड का मिलना या न मिलना समान है।

वास्तव में देखें तो यह संशय भी अज्ञान के कारण होता है। कर्म-इन्द्रियों से कर्म होते हैं और जीव अपने-आपको कर्त्ता मानता है और फिर उसके फल की इच्छा से भयभीत होता है। जब तक अज्ञान निवृत्त न हो तब तक यह कल्पित और मिथ्या संशय नष्ट नहीं होते। कर्म का विचार करना भी उचित है कि पाप कर्म क्या है और पुण्य कर्म क्या हैं। अज्ञान सहित देह अभिमान को धारण कर जो कर्म किया जाये वह पाप है और ज्ञान सहित देह अभिमान का त्याग कर जो कर्म किया जाये वह पुण्य है। पाप का फल हर्ष, शोक है और पुण्य का फल समता है। ये दोनों कर्म और फल शरीर के होते ही सिद्ध होते हैं। शरीर के उपरान्त जब शरीर, इन्द्रियाँ अन्तःकरण प्राण अपने कारण में लीन हो जाते हैं तब इनका फल कुछ नहीं मिलता, ये सब कल्पनाएँ शरीर दिशा में हैं, शरीर से रहित अवस्था में केवल चिदाकाश है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि कर्म का कर्त्ता भी स्वयं है, द्रष्टा भी स्वयं है, उसका अभिमान करने वाला भी आप है, उसका फल भोगने वाला भी आप है; उसका दंड देने वाला और लेने वाला भी आप है, और कर्म को भ्रम रूप जानकर इसके होते ही अपने को अक्रिय प्रतीत करने वाला भी आप है। दूसरा न था, न है और न होगा। जब अपने स्वरूप को समझता है तो न कोई कर्म रहता है, न देखने वाला रहता है, न दूसरा जन्म रहता है। सबसे मुक्त होकर केवल अपने-आप में स्थित रहता है। इसलिए यथार्थता रीति से अपने स्वरूप को पहचान, और दृढ़ प्रतीत से कर्मों के भ्रम से मुक्त हों, अज्ञान से वृथा कष्ट न पाएँ!

प्रश्न २९—जो लोग मलिन कर्म करते हैं, उनका फल उन्हें कौन देता है?

उत्तर—जो कर्म करता है, वही अपने-आपको स्वयं फल देता है, और आप ही भोगता है, क्योंकि उसकी मनौत में कर्म और फल स्थित है। मनौत से बाहर कर्म और फल का स्वरूप कोई नहीं। इसलिए अपने-अपने कर्म के अनुसार लोग सुख-दुःख भोग रहे हैं।

प्रश्न ३०—कहते हैं कि जो कोई खोटा कर्म करता है, धर्मराज उसका लेखा लेता है। सो धर्मराज के अर्थ क्या हैं?

उत्तर—धर्मराज के अर्थ साक्षी चेतन है। साक्षी के बिना और कोई धर्मराज नहीं है। शुभ-अशुभ कर्म अन्तःकरण और इन्द्रियों के आसरे होते हैं और साक्षी चेतन उन कर्मों का प्रकाशक है। अर्थात् शुभ को शुभ जानता है और अशुभ को अशुभ जानता है। साक्षी के प्रकाश से अन्तःकरण में भी अपने कर्मों का ज्ञान होता है, शुभ कर्मों से अन्तःकरण में हर्ष होता है, और अशुभ कर्मों से अन्तःकरण में शोक होता है। हर्ष का नाम पुण्य अथवा धर्म है, और शोक का नाम पाप अथवा अधर्म है। इस रीति से धर्म अधर्म अन्तःकरण में रहते हैं। अन्तःकरण के प्रकाश करने वाला साक्षी चेतन है। इसलिए साक्षी चेतन ही धर्मराज है और धर्म-अधर्म का प्रकाश करना ही उसका लेखा लेना है, इसके बिना न कोई धर्मराज है और न कोई लेखा है।

प्रश्न ३१—यदि जीवात्मा कहीं आता जाता नहीं, तो जन्म मरण कोई न हुआ,

Scanned with CamScanner

परन्तु भूतों की विपर्यय अवस्था तो शरीर के व्यभिचार से सिद्ध होती है इसलिए संशय होता होता है कि यह अवस्था क्यों प्रकट हुई ?

उत्तर—वास्तव में भूतों में व्यभिचार कोई नहीं। घट की परिवर्तनशील अवस्था से मिट्टी में परिवर्तन सिद्ध नहीं हो सकता। भूत सदा अपने स्वभाव में स्थित हैं। समष्टि स्वरूप में जो स्वभाव इनमें हैं, वही स्वभाव व्यष्टि स्वरूप अर्थात् शरीर में है, विपर्यय भाव अथवा व्यभिचारी अवस्था तब मानी जावे जब स्वभाव विपर्यय और व्यभिचारी हो। जब स्वभाव ही व्यभिचारी नहीं हुए, तो व्यभिचारी और विपर्यय शब्द अर्थ से शून्य है। भूत अथवा परम तत्व सत्ता के स्वभाव हैं। अर्थात् व्यापक स्वभाव आकाश है, चेतन स्वभाव पवन है, प्रकाश स्वभाव अग्नि है, अत्म स्वभाव जल है, स्थित स्वभाव पृथ्वी है। यह स्वभाव सत्य है, सत्य वस्तु नित्य ही एक रस रहती है। जो व्यभिचारी है वह सत्यधर्म को त्यागकर असत्य कही जायेगी, परन्तु असत्य नहीं है, क्योंकि सदा अपने स्वभाव में स्थित है, इसलिए भूत कोई वस्तु नहीं है। जब भूत ही कोई वस्तु नहीं तो भूतों से रचा हुआ शरीर क्या माना जाये। जब शरीर ही नहीं तो उसकी अवस्था की व्यभिचारिता और विपर्यय भाव का निश्चय करना अत्यन्त ही अनुचित और अज्ञान है। जब व्यभिचारिता ही नहीं तो स्थिति के लिए यत्न करना अथवा उसके भाव और अभाव की शंका करना निरर्थक है। इसलिए सिद्ध है कि एक वस्तु स्वयं स्थित है, न कोई भूत है, न भौतिक शरीर है, एक ही अभूत भूत रूप होकर अपने स्वत: स्वभाव में स्थित है।

प्रश्न ३२—कबीर भक्त का वचन है, "कहे कबीर कोऊ लखे न पार, प्रह्लाद उबारे बार बार" इसके क्या अर्थ है ? प्रच्छिन्न रूप से तो इसके अर्थ से जन्म-मरण अथवा गमनागमन सिद्ध होता है ?

उत्तर—कबीर भक्त के शब्द का अर्थ यह है कि कोई पुरुष देह अध्यास सहित यथार्थ वस्तु को सम्यक रीति से नहीं देख सकता। अर्थात् अगाध, अनन्त, अगम, अपार वस्तु का अन्त पार और गम्य नहीं पा सकता, क्योंकि वस्तु अद्वैत है। दर्शन द्वैत में होता है, वह अद्वैत देह रूप होकर स्थित है। जो देहधारी अपने को केवल प्रच्छिन्न रूप निश्चय करता है, वह अप्रच्छिन्न गति को कैसे पावे ? जब कोई देहधारी प्रह्लाद के समान प्रच्छिन्न अहंकार को त्यागकर अप्रच्छिन्न गति को प्राप्त होता है, वह अपने को अगाध, अनन्त, अगम व अपार निश्चय कर देह के होते ही परम निर्वाण पद को प्राप्त होता है। इसलिए ऐसे उत्तम जिज्ञासु, जिनके अन्त:करण देह अध्यास से मुक्त हुए हैं, अगणित थे, अगणित हैं, और अगणित होंगे। वही पुरुष अपने ज्ञानशक्ति के बल से अलख वस्तु को जो सब का आत्मा है, अपना आत्मा निश्चय कर देह में विदेह गति प्राप्त करते हैं। इसलिए कबीर भक्त जी कहते हैं कि यद्यपि वस्तु अलक्ष है, परन्तु उत्तम जिज्ञासु तत्वज्ञान के प्रसाद से द्रष्टा वृत्ति के आसरे अलख को अपना आत्मा निश्चय कर प्रच्छिन्नता, दीनता, विक्षेप्ता और भ्रांति से मुक्त हो जाते हैं, ऐसे तत्वज्ञानी अनेक बार हुए हैं, होते हैं और होते रहेंगे ; ऐसे नहीं कि वही शरीर वारम्बार उत्पन्न और लीन होते हैं, चेतन शक्ति अपने सत्तास्फुरण स्वभाव में स्थित होकर

Scanned with CamScanner

जलतरंग के समान नाना प्रकार के आकारों और रूपों में प्रकट और लुप्त होती है, सो नित्य ही अपने में आप है इसलिए जन्म और मरण, गमन और आगमन सिद्ध नहीं होता, केवल चिद् निवृत अथवा चिद्विलास सिद्ध होता है। इसलिए इस शब्द के यही अर्थ हैं कि आत्मा आत्मस्वरूप से सदा प्राप्त रूप है, जब तक भेद प्रच्छेद और द्वैत का अत्यन्त अभाव न हो तब तक अद्वैत और अलख वस्तु का साक्षात्कार नहीं हो सकता परन्तु वह साक्षात्कार असम्भव नहीं, क्योंकि सत्यवस्तु सर्व का आत्मा है।

जब कोई अपने आप में स्थित होता है, तब अपने को ऐसा गंभीर, अगाध, अगोचर और अलख देखता है कि अन्तःकरण से अपनी महिमा को समझ नहीं सकता और वाणी से अपनी संज्ञा तथा उपमा कथन नहीं कर सकता, केवल सत्तामात्र, ज्ञान रूप अपने आप में स्थित रह जाता है। ऐसी अवस्था का अनुभव ही वस्तु प्राप्ति अथवा परमात्म-दर्शन वा ब्रह्मानन्द वा अगोचर-पद वा निर्वाण-हिंडोरा अथवा विदेह मोक्ष है। इसलिए ज्ञानी शरीर सम्बन्धी काल पर्यन्त अनेक बार ऐसी अवस्था का अनुभव करता है और अभ्यास की प्रबलता और आनन्द की वृद्धि से बारम्बार अपनी अवस्था में लीन करने का यत्न करता है और होता है। फिर कभी देह के सम्बन्ध से इन्द्रियों में प्रवृत्त होता है और फिर इन्द्रयों और अन्तःकरण से अगोचर होकर अपने निर्वाण स्वरूप में स्थित होता है। इस रीति से प्रह्लाद अर्थात् परमानन्द का जिज्ञासु देहकाल पर्यन्त अनेक बार अलख सागर में डुबकियाँ लगाता है, कभी बाहर जाता है कभी अन्दर आता है तात्पर्य यह कि कदाचित अपनी स्फुरण शक्ति सहित होकर अन्तःकरण, प्राण और इन्द्रिय सहित होता है। कदाचित सत्ता सामान्य होकर इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण से अगोचर होता है, परन्तु इन दोनों अवस्थाओं में अपने स्वतः स्वभाव त्याग नहीं करता,नित्य स्थित कूटस्थ अपने आप में है, द्वैत से शून्य, भेद से मुक्त, साक्षी और साक्ष्य भाव से रहित, लक्ष्य, लक्षक और लखता के भेद से परे केवल केवलीमात्र अपने आप में स्थित है। ऐसे शुद्ध स्वरूप को कबीर भक्त ने ज्ञानी के प्रति आत्म भाव से देखने और स्थित होने का उपदेश किया है और बारम्बार उस परमानन्द का रूप हिंडोरे में भूलने की प्रेरणा की है। कबीर भक्त का तात्पर्य जन्म और मरण का नहीं- क्योंकि कबीर भक्त यथार्थदर्शी और यथार्थ ज्ञानी थे। यथार्थदर्शी को कदाचित भ्रांति उत्पन्न नहीं होती। जन्म-मरण आदि वचन केवल भ्रांतिमात्र हैं, वास्तव नहीं है। इसलिए कबीर भक्त के निश्चय में जन्म-मरण तीनों काल नहीं है। क्योंकि यथार्थदर्शी सबको यथार्थ देखता है इसलिए जो कुछ लिखता व बोलता है वह भी यथार्थ होता है, अतः यह वचन उसका यथार्थ है भयानक नहीं। इस प्रकार पूर्वोक्त वचनों के अर्थों को विचार कर जन्म-मरण के संशय को निवृत करना उचित है।

प्रश्न ३३—वेद और कुरान जीव का भेद पा सकते हैं या नहीं ?

उत्तर— नहीं पा सकते, क्योंकि जीव का स्वरूप शब्द और अर्थ की कल्पना से रहित है। वेद वा कुरान केवल शब्द रूप हैं इसलिए शब्द से अगोचर की गति को नहीं पा सकते। दूसरा वेद और कुरान किसी जीव की सहायता के बिना समझे नहीं जा सकते

Scanned with CamScanner

इसलिए सिद्ध हुआ कि वेद और पुराण जड़ है और जीव चेतन है। जड़ उसको कहते हैं जो अपने-आपको न जाने और दूसरे को भी न जाने और चेतन उस वस्तु को कहते हैं जो अपने को भी जाने और दूसरे को भी जाने इसलिए सिद्ध हुआ कि वेद और कुरान न अपने को जानते हैं और न अपने से भिन्न जीव को जानते हैं। जीव अपने को जानता है तथा वेद कुरान को भी भली प्रकार समझता है। इसलिए जीव की गति वेद वा कुरान से ऊपर है।

प्रश्न ३४—वेद और कुरान किसने रचे हैं ?

उत्तर—जीव ने। जैसे सब प्राणधारी सृष्टि एक-दूसरे से उत्पन्न हो रही है, किन्तु सारी सष्टि ईश्वरकृत कही जाती है। उत्पत्ति एक शरीर की दूसरे शरीर से होती है। तात्पर्य यह कि ईश्वर जीवरूप होकर सर्ग सृष्टि को प्रकृति के अनुसार उत्पन्न कर रहा है, वैसे ही वेद और कुरान जो ईश्वरकृत प्रसिद्ध हैं, जीव से प्रगट हुए हैं।

जो कर्म धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिए हो रहे हैं, वे सब जीव के आसरे हो रहे हैं, क्योंकि जीव प्रत्यक्ष है और देह को धारणकर सब परमार्थक और व्यवहारिक कर्मों को सिद्ध कर रहा है। जैसे व्यवहारिक विद्या अर्थात् राजनीति, वैद्यक, राग विद्या, व्याकरण, ज्योतिष, वणिज, खेती आदि जीव से प्रगट होकर जगत में प्रसिद्ध है। वैसे ही परमार्थक विद्या अर्थात् वेद और कुरान भी जीव से प्रकट होकर जगत में प्रसिद्ध हैं। ईश्वर के अर्थ परोक्ष और व्यापक वस्तु है, परोक्ष और व्यापक वस्तु प्रत्यक्ष और प्रच्छिन्न वस्तु की सहायता के बिना किसी धर्म अथवा अर्थ को प्रकट नहीं कर सकती। जीव के अर्थ प्रत्यक्ष और प्रच्छिन्न वस्तु के हैं। इसलिए सब कर्म जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के लिए है, वह जीव से प्रकट होकर जीव तक समाप्त हो जाते है।

ईश्वरकृत वस्तु में किसी को तर्क अथवा संशय नहीं होता जैसे सूर्य ईश्वरकृत है। उसको सारी सृष्टि सूर्य मानती है, किसी को सूर्य के मानने में शंका नहीं। वैसे ही यदि वेद ईश्वरकृत हो तो कुरान को मानने की क्या आवश्यकता थी ? सारी सृष्टि को वेद पर निश्चय होता, क्योंकि जैसे ईश्वर एक और सत्य है वैसे ही उसका रचा हुआ वेद भी सर्ग सृष्टि के करने से प्रमाणरूप होता। जैसे सूर्य प्रमाणरूप है। कुरान के मानने वाले वेद को दोष दृष्टि से देखते है और वेद के मानने वाले कुरान पर शंका उठाते है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि दोनों पुस्तक जीवकृत है, ईश्वर का सम्बन्ध इनसे कोई नहीं।

शब्द का उच्चारण वाणी के बिना होना असम्भव है और वाणी शरीर के बिना स्थित नहीं हो सकती, इसलिए सब शब्द शरीरधारियों से निकले है। शरीरधारी जीव को माना गया है ईश्वर को नहीं। इसलिए सिद्ध हुआ कि वेद, कुरान, अंजील जीवकृत है।

प्रश्न ३५—यदि वेद और कुरान जीव के बनाये हुए है और जीव का भेद भी नहीं पा सकते तो इतने शाब्दी झगड़े जीव के निमित्त क्यों फैल रहे है ?

उत्तर—अविद्या से। भिन्न-भिन्न शास्त्रों में भिन्न-भिन्न वायु और युक्तियाँ निरूपित हैं और एक-दूसरे का खंडन करती हैं। जिस वेद या पुस्तक का जो मानने वाला है, वह उस वेद या पुस्तक की युक्ति और वाक्य को सत्य मानकर दूसरे पर शंका उठाता है। इसी प्रकार

Scanned with CamScanner

दूसरा अपनी पुस्तक या वेद को सत्य प्रतीत कर उसके साथ वाद-विवाद करता है। इस रीति से शाब्दी झगड़ा चला आता है। जिस अन्तःकरण में यह ज्ञान होता है कि युक्ति सदा कल्पित होती है, उस अन्तःकरण से वाद-विवाद और खंडन-मंडन निवृत्त हो जाता है। यह मिथ्या वाद-विवाद भी आरम्भ से इस अज्ञान रचित संसार का भूषण चला आता है, परन्तु इस मिथ्या वाद-विवाद से वास्तव स्वरूप में किसी प्रकार का भेद व प्रच्छेद उत्पन्न नहीं होता। जैसे स्वप्न का कोई कर्म स्वप्न द्रष्टा में किसी प्रकार का भेद व प्रच्छेद उत्पन्न नहीं कर सकता। या जैसे मृगतृष्णा का जल धरती को गीला नहीं कर सकता, या जैसे क्षण, पल, घड़ी, पहर, दिन, मास, वर्ष युग और कल्प का भेद सूर्य में भेद और प्रच्छेद उत्पन्न नहीं कर सकता। या जैसे द्वीपों, नगरों, ग्रामों, गलियों का भेद और प्रच्छेद उत्पन्न नहीं कर सकता। या जैसे संस्कृत, उर्दू, फ़ारसी, अंग्रेजी, अरबी आदि बोलियों का जिह्वा में किसी प्रकार का भेद और प्रच्छेद उत्पन्न नहीं कर सकता वैसे ही कल्पित अक्षरों का वाद अथवा भेद सत्य-स्वरूप में किसी प्रकार का भेद उत्पन्न नहीं कर सकता। यह सब वाद-विवाद मन से उत्पन्न होकर वाणी पर्यन्त रहता है। जो स्वरूप मन और वाणी से ऊपर है, उससे इस वाद का रंचक मात्र भी सम्बन्ध नहीं। इसलिए इस वाद को कपोल कल्पित मान शेष सत्स्वरूप को सत्य प्रतीत करना और शाब्दी वाद-विवाद से उपरत रहना उचित और परम शान्त रूप है।

प्रश्न ३६—शब्द द्वारा आत्मवाद क्यों करते हैं?

उत्तर—यद्यपि वाक और श्रोत आत्मवाद में अज्ञात हैं, क्योंकि इनकी प्रवृत्ति केवल कल्पित शब्दों में है। आत्मा शब्द से अगोचर है, परन्तु शरीर दिशा में इन्हीं की सहायता से अर्थ परमार्थ की सिद्धि होती है। इसलिए इनको प्रवृत्त कर प्रसंग का आरम्भ किया जाता है। दूसरा आत्मा का स्वरूप ज्ञान है और ज्ञान शब्द के आसरे होता है। इसलिए शब्द के आसरे आत्मवाद करते हैं। जब ज्ञान हो जाता है तब शब्द का त्याग हो जाता है।

प्रश्न ३७—यदि आत्मा पूर्ण है तो शब्द कौन करता है और सुनता कौन है? यदि शब्द करने वाला और सुनने वाला दो माने जाएँ तो द्वैत होगा। क्योंकि इन्द्रिय शरीर सहित जड़ हैं। उनसे शब्द और श्रवण दोनों नहीं हो सकते। पुनः शब्द और श्रवण कौन करता है? इस भेद को विस्तार से खोलें जिससे संशय निवृत्त हो।

उत्तर—शब्द आकाश का अंश है, शब्द का सुनना भी आकाश का धर्म है। इसलिए आकाश ही से शब्द होता है और आकाश ही शब्द को सुनता है। आकाश एक है। इसलिए जो शब्द करने वाला है, वही शब्द सुनाने वाला है, द्वैत का अत्यन्त अभाव है। आकाश आत्म-रूप है, क्योंकि आत्मा ही आकाश, पवन, अग्नि, जल, पृथ्वी रूप होकर स्थित है। आत्मा के बिना दूसरी वस्तु न थी, न है और न होगी, इसलिए आत्मा शब्द कहने वाला और आत्मा ही शब्द सुनने वाला है और फिर आत्मा इन दोनों उपाधियों शब्द कहने और शब्द सुनने से मुक्त अपने-आप में स्थित है, अद्वैत वस्तु में वक्ता और श्रोता किस प्रकार माने जाएँ। वास्तव-दृष्टि में देखें तो आज तक न कोई शब्द हुआ है और न किसी ने सुना है। चिदाकाश अपनी महिमा में स्थित है, इस दृष्टि से सब शब्दों को अर्थों सहित अधिष्टान आत्मा में लीन करें।

Scanned with CamScanner

शरीर कोई वस्तु नहीं, इन्द्रियों के मिश्रित रूप का नाम शरीर है। इसलिए इन्द्रियाँ शरीर की आत्मा है। इसी प्रकार इन्द्रिय कोई वस्तु नहीं, ज्ञान और कर्म के साधन हैं। इस-लिए दो प्रकार की हैं। प्रथम पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ अर्थात् वे इन्द्रियाँ जिनसे भिन्न-भिन्न ज्ञान होते हैं। पाँच ज्ञान इन्द्रिय प्रज्ञा शक्ति व ज्ञान शक्ति अथवा बुद्धि के आसरे चेष्टा करती हैं। इसलिए पाँच ज्ञान इन्द्रियों की आत्मा प्रज्ञा शक्ति है, इन्द्रियाँ स्वयं कुछ नहीं हैं। द्वितीय पाँच कर्म इन्द्रियाँ अर्थात् वे इन्द्रियाँ जिनसे भिन्न-भिन्न कर्म सिद्ध होते हैं। कर्म इन्द्रियाँ क्रिया शक्ति अर्थात् प्राण के आसरे अपना-अपना कर्म सिद्ध करती हैं, इसलिए इन कर्म इन्द्रियों का आत्मा प्राण अथवा क्रिया शक्ति है। ये कर्म इन्द्रियाँ स्वयं कुछ नहीं है। इसी प्रकार प्रज्ञा शक्ति और क्रिया शक्ति दोनों आत्मा की शक्तियाँ हैं, स्वयं कुछ नहीं हैं। इसलिए प्रज्ञा शक्ति क्रिया शक्ति की आत्मा शुद्ध चैतन्य है। इससे सिद्ध हुआ कि एक ही शुद्ध चैतन्य आत्मा अपनी महिमा में स्थित है। इन्द्रियाँ अन्तःकरण और शरीर से उसमें द्वैत अथवा भेद प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि वह अनन्त, अनादि, असंग और पूर्ण हैं, इसलिए जो कुछ देख, सुन, बोल और सोच रहे हो, सब आत्मा है। तात्पर्य यह कि एक ही वस्तु अपने-आप में स्थित होकर आप ही द्रष्टा अर्थात् देखने वाली, आप ही दर्शन अर्थात् देखना और आप ही दृश्य अर्थात् देखने योग्य है आप ही श्रोता, आप ही श्रोत और आप ही शब्द है। इसी प्रकार सब त्रिपुटियाँ स्वयं हैं। इन्हीं त्रिपुटियों का नाम जगत है। जब एक ही वस्तु तीन रूप होकर स्थित है तो जगत भी दूसरी वस्तु नहीं किन्तु वस्तु स्वरूप है। शब्द भेद है, कोई उस वस्तु को आत्मा, ब्रह्म और परमात्मा कहते हैं और कोई जगत, प्रपंच और संसार कहते हैं। वास्तव में एक ही वस्तु अपने में आप है। यही दृष्टि परम पावन निर्विघ्न, सर्व कलंकों से रहित, परम रसमयी और शान्तरूप है। इसलिए इसी दृष्टि का अभ्यास कर भेद का कलंक हृदय से ऐसा धोवें कि फिर स्वप्न में भी सत्तासमान्य वस्तु से भिन्न न भासे और न प्रतीत हो।

प्रश्न ३८—यदि शरीर में केवल आत्मा ही चैतन्य है, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण आदि सब जड़ हैं तो मन, चित्त, बुद्धि आदि जो प्रत्यक्ष चैतन्य होते हैं, उनको किस प्रकार जड़ मानें ?

उत्तर—शास्त्रों में दो प्रकार के वचन होते हैं, एक निषिद्ध, दूसरे सिद्ध। निषिद्ध वचनों के आसरे चैतन्य को सबसे न्यारा और ऊपर समझा जाता है। सिद्ध वचनों के आसरे सब ही चैतन्य समझा जाता है। जहाँ शरीर में केवल आत्मा को चैतन्य और इन्द्रियाँ अन्तः-करण आदि को जड़ माना गया है, वहाँ निषिद्ध वचनों की प्रतीत है। जब यथार्थ ज्ञान से निश्चय होता है कि अद्वैत चैतन्य अपने-आप में स्थित है तब सिद्ध वचनों के आसरे निश्चय होता है कि शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और दूसरे पदार्थ भी चैतन्य हैं। प्रथम निषिद्ध वचन जिज्ञासु को सुनाये जाते हैं। इससे उसका निश्चय स्थूल पदार्थों से उपरत होकर केवल निराकार आत्मा पर परिपक्व होता है। जब यथार्थ ज्ञान द्वैत का अत्यन्ताभाव निश्चय होता है। तब स्वाभाविक ही स्थूल और सूक्ष्म भेद निवृत्त हो जाता है। जड़ और चैतन्य समान प्रतीत होते हैं। इसलिए आत्मा को चैतन्य और इन्द्रिय आदि को जड़ कहने का यह प्रयोजन नहीं है कि यह दो वस्तुएँ हैं किन्तु यह अर्थ है कि आत्मा ही इन्द्रिय और अन्तःकरण रूप

Scanned with CamScanner

होकर चैतन्य हो रहा है, इन्द्रिय और अन्तःकरण आप कोई वस्तु नहीं हैं। जैसे इंजन में धूम्र शक्ति चैतन्य है और दूसरी सब वस्तुएँ जड़ हैं, परन्तु धूम्र शक्ति की चेतनता और वस्तुओं द्वारा ऐसी अभिन्न प्रतीत होती है कि धूम्रशक्ति किसी को दृष्टि नहीं आती और मशीनें भिन्न-भिन्न कार्य करती हुई प्रतीत होती हैं, यदि वास्तव दृष्टि से देखें तो धूम्रशक्ति ही सब मशीनों में कर्म करने वाली है। इसलिए धूम्रशक्ति ही चेतन है और सब मशीनें जड़ हैं। वैसे ही शरीर रूप इंजन में धूम्रशक्ति की तरह चैतन्य शक्ति है और मशीनों की तरह इन्द्रिय और अन्तःकरण आदि हैं, चैतन्य की चेतनता इन्द्रियों आदि के साथ ऐसी अभिन्न है कि इन्द्रिय और अन्तःकरण चैतन्य प्रतीत होते हैं और आत्मा की चेतनता किसी आत्म-ज्ञानी को प्रतीत होती है। यदि वास्तव में देखें तो इन्द्रिय आदि में आत्मा की चेतनता प्रवर्तक है, इन्द्रिय आदि आप कुछ भी नहीं हैं। स्थूल दृष्टि वाले को इन्द्रियाँ और अन्तःकरण चेतन प्रतीत होता है; सूक्ष्म दृष्टि वाले को केवल आत्मा ही चेतन प्रतीत होता है और इन्द्रिय आदि जड़ प्रतीत होते हैं। इस दृष्टि को लेकर आत्मा को चेतन और इन्द्रिय आदि को जड़ मानते हैं। यदि यथार्थ दृष्टि से देखें तो अद्वैत वस्तु ही अपने-आप में स्थित है। कारण और कार्यरूप होकर अपनी महिमा को आप प्रकट कर रही है। जड़ स्वरूप होकर कारण है और चेतन स्वरूप होकर कार्य है। तात्पर्य यह कि जड़ता से चेतनता प्रकट होती है, जड़ता से चेतनता स्थित रहती है और जड़ता में चेतनता लीन हो जाती है। आदि और अन्त जड़ता है, मध्य में बिजली के चमकारे की तरह चेतनता अपनी प्रकाश दिखलाती है, इसलिए चैतनता निरन्तर जड़ता में रहती है। जड़ता को त्याग कर नहीं जाती, मानों जड़ता का कर्म स्वरूप चेतन है और अक्रिय स्वरूप जड़ है। परमार्थ दृष्टि में सत्य वस्तु का अक्रिय स्वरूप जड़ है और कर्त्ता स्वरूप चेतन है। इसलिए जड़ और चेतन एक रूप हैं दो रूप नहीं हैं। इस प्रकार आत्मा को चेतन और इन्द्रियाँ अन्तःकरण आदि को जड़ माना गया है। भाव यह कि आत्मा के अर्थ अपने-आपके हैं, इन्द्रिय का आत्मा इन्द्रिय का कर्म है। जैसे नेत्र का आत्मा देखना है, कान का आत्मा सुनना है, इसी प्रकार एक-एक इन्द्रिय का कर्म और एक-एक अन्तःकरण का धर्म उसका आत्मा अर्थात् अपना-आप है।

प्रत्येक इन्द्रिय और अन्तःकरण में दो स्वभाव रहते हैं। एक, कर्म में प्रवृत्त होकर कर्त्तारूप होना और दूसरा, कर्म को त्यागकर अक्रिय होना। इन्द्रिय और अन्तःकरण का अपने-अपने कर्म में प्रवृत्त होना इन्द्रिय और अन्तःकरण का चेतन स्वरूप है, इन्द्रिय और अन्तःकरण का जड़ स्वरूप है। इसलिए चेतनता और जड़ता प्रत्येक इन्द्रिय और अन्तःकरण में प्रवाहरूप से चले आते हैं। इन्द्रिय और अन्तःकरण में ग्रहण से भिन्न दूसरी कोई चेतनता नहीं है। इसलिए विषयों में प्रवृत्ति ही इन्द्रिय और अन्तःकरण का आत्मा है अर्थात् अपना-आप है और वही चेतन है। इस दृष्टि को लेकर शास्त्रों में आत्मा को चेतन कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि इन्द्रिय और अन्तःकरण तथा उनके विषय सब ही चेतन हैं, क्योंकि आत्मा कोई भिन्न वस्तु नहीं। जो सबका अपना-आप है, वह आत्मा है। इससे भिन्न कोई विशेष पदार्थ नहीं। जब सबका अपना-आप चेतन है, सब ही चेतन है। इससे सिद्ध हुआ

Scanned with CamScanner

कि जड़ और चेतन वस्तु के निज स्वभाव हैं। प्रवृत्ति का नाम चेतनता है और निवृत्ति का नाम जड़ता है। सो प्रवृत्ति और निवृत्ति ही जगत रूप होकर स्थित हैं। ये एक-दूसरे से ऐसी अभिन्न हैं कि प्रवृत्ति को त्यागकर निवृत्ति नहीं रहती और निवृत्ति को त्यागकर प्रवृत्ति नहीं रहती। प्रवृत्ति की सहायक मानो निवृत्ति है और निवृत्ति की सहायक प्रवृत्ति है। इसलिए प्रवृत्ति और निवृत्ति समरूप हैं; वही जड़ और चेतन रूप हैं। वही कर्त्ता और अक्रिय रूप हैं और वही शान्तिरूप हैं। इसलिए जितने पदार्थ वाणी और लेखनी द्वारा प्रसिद्ध चले आते हैं, सारे ही इन दो स्वभावों के अन्तर्भूत हैं। जब यह दोनों समानरूप हैं तो सब पदार्थ अर्थात् शब्द और अर्थ समानरूप हैं। न कोई जड़ है न चेतन, न कोई इन्द्रिय है न अन्तःकरण, न कोई आत्मा है न अनात्मा; सत्ता सामान्य अपने-आप में स्थित है। यही दृष्टि यथार्थ है।

प्रश्न ३९—देह सम्बन्धी काल बिजली के प्रकाश के समान अति चंचल और क्षण-भंगुर है। देहधारी का मुख्य प्रयोजन केवल आत्मज्ञान है। वह आत्मा दस इन्द्रिय और चतुष्टय अन्तःकरण के विषय से अगोचर है और शरीर दिशा में चौदह इन्द्रियों द्वारा चौदह प्रकार का ज्ञान प्रवृत है। इससे भिन्न सत्ता सामान्य का ज्ञान अति दुर्विज्ञेय और दुर्लभ है। बहुत से शास्त्रकार और आचार्य इन चौदह इन्द्रियों में से किसी न किसी को आत्मा निश्चय कर मुख्य आत्मा के ज्ञान से विमुख रहे हैं। कई शास्त्रकार प्राणों को आत्मा मान गये हैं। इससे सिद्ध होता है कि आत्म-विद्या अति गुह्य, सूक्ष्म, गम्भीर, दुर्विज्ञेय, दुःसाध्य और दुर्लभ हैं। कृपया बताएं कि किस उपाय से यथार्थ आत्म-ज्ञान की प्राप्ति होती है ?

उत्तर—जब तक यथार्थ आत्मज्ञानी के समीप एकाग्रचित्त, मननशील, श्रद्धायुक्त और दोष दृष्टि से रहित होकर कुछ काल उनके वचनों को श्रवण, मनन और निदिध्यासन न करें, तब तक चौदह इन्द्रियों से अगोचर यथार्थ आत्मा का अपरोक्ष अनुभव नहीं होता, क्योंकि आत्मा केवल अनुभव स्वरूप है। अनुभव से अनुभव अपरोक्ष होता है और वह अनुभव केवल यथार्थदर्शी का है। इसलिए यथार्थदर्शी के अनुभव से शिष्य को आत्मा का अनुभव होता है। जैसे दर्पण के सन्मुख दर्पण परस्पर स्वच्छता को प्रतिविम्बित करते हैं वैसे ही अनुभव के सन्मुख अनुभव को अनुभव करता है। इससे भिन्न और कोई उपाय नहीं।

प्रश्न ४०—सब ग्रन्थकार और महात्मा कहते हैं और कह रहे हैं कि आत्मा निराकार है, सब विकारों से रहित है तथा मन, चित्त बुद्धि अहंकार का विषय नहीं है और फिर कहते हैं कि आत्मा ऐसा है वैसा है। इसमें यह संशय उत्पन्न होता है कि जब आत्मा कहने सुनने से परे है तो उसे जो कहता है कि आत्मा ऐसा है वह कौन है ? देखे बिना कोई बात कही नहीं जाती, इसका भेद भी सविस्तार खोलें ?

उत्तर—आत्मा केवल आत्मत्व-मात्र है इसलिए अपने से आप जाना जाता है। जैसे सूर्य के प्रकाश से नेत्र प्रकाशवान होते हैं और फिर वही नेत्र सूर्य को देखकर कहते हैं कि सूर्य ऐसा है वैसा है, वैसे ही वृत्ति चेतन के प्रकाश से प्रकाशवान होकर चेतन-आत्मा को देखती है अर्थात् उसके विशेषण निरूपण करती है। जैसे सूर्य अपने प्रकाश मे अपने को

Scanned with CamScanner

देखता है वैसे चेतन आत्मा अपने ज्ञान से अपने को देखता है, क्योंकि चेतन स्वयं प्रकाशरूप है। यदि विचार से देखा जाए तो सब वस्तु अपने आप में स्थित हैं और अपने को आप जानती है। जैसे नेत्रों को दूसरी कोई इन्द्रिय जान नहीं सकती किन्तु नेत्र ही अपने को आप प्रकाशित करते हैं और जब नेत्रों को अपने को देखने की इच्छा होती है तब दर्पण में व दूसरे नेत्र में अपना आप देखकर अपनी महिमा करते हैं। अब सोचना चाहिए कि दर्पण में व दूसरे नेत्र में किसने किसको देखा, यही कहना होगा कि नेत्र ने नेत्र को देखा। कैसे देखा ? इसका उत्तर यह है कि नेत्रों के सन्मुख जो दूसरा नेत्र व दर्पण व नेत्र है वह स्वच्छ है और नेत्र स्वयं भी स्वच्छ हैं, स्वच्छ वस्तु का सम्बन्ध एक दूसरे के प्रतिविम्ब को उत्पन्न करता है इसलिए नेत्रों का प्रतिविम्ब दर्पण में प्रतीत होता है। एक ही नेत्र मानो स्वच्छ पदार्थ के सम्बन्ध से दो रूप में प्रतीत होता है, वास्तव में दो रूप हुआ नहीं। इसी प्रकार मस्तक के नीचे और नासिका के दाएँ-बाएँ नेत्र स्थित है, दर्प के सम्बन्ध से विम्ब और प्रतिविम्ब रूप होकर प्रतीत होते हैं, वास्तव में जो विम्ब है वही प्रतिविम्ब है। वैसे ही आत्मा निर्मल और स्वच्छ है और अन्तःकरण की वृत्ति भी निर्मल और स्वच्छ हैं। जब इनका सम्बन्ध होता है तब ज्ञान स्वरूप आत्मा वृत्ति में प्रतिविम्बित होता है। भाव यह कि एक ही आत्मा विम्ब और प्रतिविम्ब रूप होकर प्रतीत होता है। वास्तव में आत्मा अद्वितीय है। विम्ब प्रतिविम्ब भाव से रहित परन्तु स्वच्छ पदार्थ वृत्ति के सम्बन्ध से अपना ज्ञान आप ही अनुभव करता है, अपने विशेषण आप ही कथन करता है इसलिए आत्मा को आत्मज्ञान होता है।

जो कुछ मन, चित्त, बुद्धि और इन्द्रिय से प्रतीत हो रहा है वह भी सब आत्मा से प्रकाश पा रहा है। भाव यह कि ज्ञान स्वरूप आत्मा की मुख्य शक्ति बुद्धि है, बुद्धि की शक्ति ज्ञानेन्द्रिय हैं, ज्ञानेन्द्रिय की शक्ति विषय रूप सब पदार्थ हैं इसलिए आत्मा ही बुद्धि है, आत्मा ही इन्द्रिय है, आत्मा ही पाँच विषयरूप सब पदार्थ हैं। जब आत्मा से भिन्न दूसरी वस्तु का अत्यन्ताभाव है तो कौन जाने और किसको जाने और क्या होकर जाने ! जानना द्वैत में होता है, जहाँ एक की भी समाई नहीं वहाँ तीन अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय की समाई कैसे हो ? जो प्रत्यक्ष त्रिपुटी काम करती हुई प्रतीत होती है वह क्या है ? इसका उत्तर यह है कि यह त्रिपुटी भी ज्ञान स्वरूप है, क्योंकि ज्ञाता रूप आत्मा भी ज्ञानस्वरूप है और इन्द्रिय भी ज्ञानरूप है और विषय भी ज्ञानस्वरूप हैं इसलिए तीनों ज्ञानरूप हैं, ज्ञान अद्वैत है, उसमें तीन रूप मानना अज्ञान है इससे त्रिपुटी ज्ञानस्वरूप है। सो ज्ञानस्वरूप आत्मा है इसलिए ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय तीनों ही आत्मा हैं।

आत्मा का विशेषण सत्चित् आनन्द है। अब सोचना है कि सत्य को सत्य प्रकाश करता या असत्य। यदि असत्य प्रकाश करता है तो असत्य उस वस्तु को कहते हैं जो तीनों काल में न हो और सत्य उस वस्तु को कहते हैं जो तीनों काल में हो। जब असत्य आप ही कुछ नहीं तो सत्य को प्रकाश करने में कैसे समर्थ होगा ? इसलिए असत्य से सत्य का प्रकाश नहीं होता। यदि कहें कि सत्य ही सत्य को प्रकाश करता है तो वही सत्य अपने को आप

Scanned with CamScanner

प्रकाश करता है या उससे भिन्न को प्रकाश करता है ? यदि दूसरा किसी दूसरे सत्य को सत्य मानें सत्य की सत्यता न रहेगी, क्योंकि सत्य अद्वैत है और स्वयं प्रकाश है। इससे सिद्ध होता है कि सत्य अपने को आप प्रकाश करता है। इसी प्रकार सोचना है कि चित्त को चित्त प्रकाश करता है व जड़ ? यदि कहें जड़ प्रकाश करता है तो जड़ के अर्थ हैं जो अपने को भी न जानें और अपने से भिन्न दूसरे को भी न जाने चेतन के अर्थ हैं जो अपने को भी जाने और अपने से भिन्न दूसरे को भी जाने ; जब जड़ अपने को भी नहीं जान सकता तो चेतन के प्रकाश करने में कैसे समर्थ होगा ? इसलिए जड़ से चेतन का प्रकाश नहीं होता। यदि कहें कि चेतन को चेतन प्रकाश करता है तो वही चेतन चेतन को प्रकाश करता है व उससे भिन्न दूसरे चेतन को प्रकाश करता है। चेतन से दूसरा जड़ है। इसमें प्रकाश करने की सामर्थ्य नहीं और चेतन अद्वितीय और स्वयं कर्ता है इसलिए चित्त को चित्त प्रकाश करता है। इसी प्रकार सोचना है कि आनन्द को आनन्द प्रकाश करता है अथवा दुखी यदि कहें कि आनन्द को दुःख प्रकाश करता है तो दुःख उस वस्तु को कहते हैं जिसमें अज्ञान और अज्ञान का कार्य विक्षेप्ता और शोक हो। आनन्द से कहते हैं जो स्वयं प्रकाश रूप ज्ञान हो। जब दुःख आप ही अज्ञान रूप है, तो स्वयं प्रकाश के प्रकाश करने में कैसे समर्थ होगा ? इसलिए दुःख से आनन्द का प्रकाश नहीं होता। यदि कहें कि आनन्द को आनन्द प्रकाश करता है तो सोचना है कि वही आनन्द अपने आपको प्रकाश करता है, या उससे भिन्न दूसरा आनन्द प्रकाश करता है ? आनन्द से भिन्न जो दुःख है वह आप हीं जड़ रूप है, उसमें प्रकाश की सामर्थ नहीं किन्तु आनन्द अद्वितीय और स्वयं प्रकाश है। इसलिए आपको आप प्रकाश करता है। इससे सिद्ध हुआ कि सत्चित्, आनन्द जो आत्मा के विशेषण ग्रन्थकारों ने निरूपण किए हैं स्वयंप्रकाश हैं इसलिए आत्मस्वरूप हैं। यह नहीं कि आत्मा और वस्तु है और सत्य और वस्तु है। चित्त और वस्तु है और आत्मा और वस्तु है। फिर आनन्द और वस्तु है और आत्मा और वस्तु है ; किन्तु आत्मा एक है जिसके शब्द अर्थ सत् चित्त आनन्द हैं। सत् चित्त आनन्द तीन वस्तु नहीं हैं, किन्तु एक वस्तु है। जो वस्तु सत्य है वही चेतन है, वही आनन्द रूप है जैसे एक ही अग्नि दाह, प्रकाश और उष्णरूप होती है वैसे ही एक ही वस्तु सत्चित आनन्द रूप है इसलिए आत्मा स्वयं प्रकाश है।

आत्मज्ञान सम्बन्ध में ग्रन्थकारों ने दो पक्ष निरूपित किए हैं। एक निषेध पक्ष दूसरा विधि पक्ष। निषेध पक्ष में वेद ने आत्मा को 'नेति,नेति' करके गायन किया है अर्थात् 'यह भी नहीं, यह भी नहीं'। अभिप्राय यह कि आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि से परे हैं और विधि पक्ष में सर्वरूप आत्मा है अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार, जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति आदि सब आत्मा हैं। इस रीति से निषिद्ध पक्ष साधन है और विधि पक्ष सिद्ध है, निषेधी पक्ष विधि पक्ष का सहायक है। जैसे फूल के सब पत्ते सुगंधि को सिद्ध करने वाले होते हैं और सुगंधि निराकार होने से फूल के सब अंगों से अभिन्न प्रतीत होती है। साथ ही सब अंगों में व्यापक होने से सब अंगरूप है। सुगन्ध पुष्प से किसी प्रकार भिन्न

Scanned with CamScanner

प्रतीत नहीं हो सकती इसलिए सुगन्ध फूल है और फूल सुगन्ध है। वैसे ही आत्मा शरीर रूप है और निराकार होने से शरीर से भिन्न प्रतीत नहीं होता जब आत्मा ही शरीर रूप है तो कहता भी आत्मा है और सुनता भी आत्मा है, देता भी आत्मा है और लेता भी आत्मा है, खाता भी आत्मा है, पीता भी आत्मा है, समझता भी आत्मा है, चिन्तन भी आत्मा करता है और आत्मा ही अपना ध्यान आप करता है और अपने में आप मग्न होकर आनन्द मनाता है। इस रीति से निषेध पक्ष और विधि पक्ष से जानने योग्य आत्मा स्वयं प्रकाश है और अद्वितीय है। इसलिए आत्मा आत्मस्वरूप है और नित्य प्राप्त है। तात्पर्य यह है कि अपने में आप प्राप्तरूप हैं और अपने से आप जाना जाता है।

आत्मा निर्विशेष वस्तु है, जितने विशेषण ग्रन्थकारों ने लिखे हैं, वह केवल जिज्ञासु को समझाने के लिए हैं। जब समझ आ जाती है तब विशेषण विशिष्ट में कल्पित प्रतीत होकर लीन हो जाते हैं, केवल निर्विशेष वस्तु स्थित रहती है। जब इस पद पर बुद्धि पहुँचती है तब कहने और सुनने की गम्य नहीं रहती इसलिए वस्तु मात्र पर निश्चय धारकर विशेषण और विशिष्ट, वक्ता और श्रोता, ज्ञाता और ज्ञेय से अपनी दृष्टि को मूंदें और निर्वाण नींद में स्थित होकर परम शान्त गति को पावें।

प्रश्न ४१—सिद्धान्त शास्त्रों में बहुत स्थानों पर ऐसे लिखा है कि स्वरूप में स्थित रहो। स्वरूप नाम आकार वाली वस्तु का होता है, जब आत्मा का आकार ही नहीं तो उसका स्वरूप कैसे हुआ और किस में स्थित रहे ?

उत्तर—स्वरूप का अर्थ आत्मा है। आत्मा का अर्थ अपना आप है इसलिए शास्त्रों का प्रयोजन स्वरूप में स्थित होने से यही है कि अपने आप में स्थित रहे। जो तुमने पूछा है कि स्वरूप आकार वाली वस्तु का ही होता है और निराकार का स्वरूप नहीं होता यह ठीक नहीं दोनों स्वरूप का होता है।

पहला दृष्टान्त :—जैसे आकाश निराकार है और धरती आकार वाली होती है; आकाश का स्वरूप शून्य है, केवल शब्द से उसका ज्ञान होता है और शब्द पर प्रतीत करने से आकाश के होने का निश्चय होता है और धरती का स्वरूप कठोर और मोटा है, शब्द और नेत्रों से उसका ज्ञान होता है किन्तु पाँचों इन्द्रियाँ इसको ग्रहण कर सकते हैं वैसे ही धरती की तरह शरीर है और आकार वाला है तथा आकाश की तरह आत्मा है और निराकार है। जैसे आकाश का ज्ञान शब्द से होता है और शब्द पर प्रतीत करने से आकाश में स्थिति होती है, वैसे ही चिदाकाशरूप आत्मा का ज्ञान भी सद्गुरु के उपदेश से होता है और उपदेश पर प्रतीत करने से आत्मा में स्थिति होती है।

दूसरा दृष्टान्त—जैसे सद्गुरु से शिष्य विद्या पढ़ता है। वह विद्या शिष्य के हृदय में प्रवेश कर स्थित हो जाती है। यद्यपि विद्या का स्वरूप केवल ज्ञान है, तथापि शब्द द्वारा यह ज्ञान शिष्य के हृदय में ऐसा स्थित हो जाता है कि वही शिष्य ही विद्वान और गुरु कहलाता है। यदि कहें कि अक्षर विद्या का आकार है तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि अन्धपुरुष को भी विद्या पढ़ाई जाती है, परन्तु वह अक्षर नहीं देख सकता और विद्या उसको

Scanned with CamScanner

आ जाती है। सिद्ध हुआ कि विद्या का स्वरूप केवल ज्ञान है। ज्ञान आकार वाली वस्तु नहीं किन्तु निराकार है। जैसे निराकार विद्या में स्थिति होती है वैसे ही निराकार स्वरूप में स्थिति होती है। आकार वाली वस्तु भी हमारे मन में निराकाररूप होकर प्रवेश करती है। यदि आकार ही मन में प्रवेश करें तो शरीर दबकर मर जाये। जब आकार वाली वस्तु भी निराकाररूप होकर हमारे साथ संग करती है, अर्थात् ज्ञानरूप होकर हमारे में स्थित रहती है या हम उनमें स्थित रहते हैं तो निराकार वस्तु में स्थित होने का क्या संशय है? आत्मा कोई भिन्न वस्तु नहीं किन्तु अपना स्वरूप है। केवल यही निश्चय दृढ़ करना है कि मैं सत्चित आनन्दरूप आत्मा हूँ, चिदाकाशरूप हूँ, निराकार हूँ, शून्यविज्ञान हूँ, कूटस्थ हूँ, साक्षी हूँ। ऐसे बारम्बार अपने को स्मरण करना सोचना, निश्चय करना स्वरूप में स्थिति कहलाती है। स्वरूप नित्य स्थित है, केवल ज्ञान प्राप्त करना है कि हमारा स्वरूप नित्य स्थित है।

तीसरा दृष्टान्त—जैसे नाम, जाति और वर्ण-आश्रम निराकार हैं। सब की इनमें ऐसी स्थिति है कि सब कोई अपने को नाममात्र व वर्णमात्र व आश्रममात्र निश्चय करता है, वास्तव में यह सारे कल्पित हैं। जब कल्पित निराकार वस्तु में ऐसी स्थिति हो रही है तो सत्य निराकार वस्तु में जो अपना-आप है स्थिति होने में क्या कठिनता है? तुम आत्मा हो और स्वरूप भी तुम हो, ज्ञान तुम्हारा आकार है, ज्ञान स्वरूप अपने को निश्चय कर स्थित रहो।

प्रश्न ४२—स्वरूप का अनुभव हो गया है, इसके तात्पर्य क्या हैं?

उत्तर—स्वरूप का ज्ञान हो गया है का यह अर्थ है कि अनुभव प्राप्ति के लिए ज्ञान के बिना और कुछ नहीं। जब गुरुमुख द्वारा इसको ज्ञान होता है और उस ज्ञान को मनन और निदिध्यासन का साक्षात् करता है, तब केवल सत्तामात्र, चिद्घन, निराकार स्वरूप अनुभव होता है। भाव यह कि अपना-आप प्रतीत होता है। जैसे विद्वान या गुणवान अपनी विद्या या गुण को यत्न और आवरण के बिना अपना-आप ज्ञानरूप देखता है वैसे ही आत्म-अनुभवयुक्त अपने स्वरूप को यत्न और आवरण के बिना अपना-आप देखता है और दूसरे जिज्ञासुओं के प्रति निरावरण प्रगट करता है, ऐसी अवस्था का नाम स्वरूप का अनुभव है। ऐसे पुरुष के हृदय में किसी प्रकार का संशय और विपर्यय उत्पन्न नहीं होता। भ्रान्ति, विक्षेप्ता और विपरीत बुद्धि से रहित केवल अनुभव रूप होकर देहसंयोग काल को परम विश्राम और शान्ति सहित व्यतीत करता है। ऐसी अवस्था निरन्तर और दृढ़ अभ्यास का फल है।

जब श्रवणज्ञान, मनन और निदिध्यासन द्वारा अपरोक्ष होता है तब अपना स्वरूप ऐसा अपरोक्ष प्रतीत होता है, जैसे अपना नाम प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। नाम ज्ञान के समान मानों स्वरूप ज्ञान निश्चय होता है। शरीर उसी प्रकार रहता है, इन्द्रिय उसी प्रकार चेष्टा में रहते हैं, केवल मिथ्या प्रतीत नाम की निवृत्त होकर सत्य प्रतीत वास्तव स्परूप की स्थिति होती है। और कोई वस्तु अन्तदृष्टि नहीं आती है और न किसी वस्तु को देखने की उपयुक्तता है, क्योंकि जो कुछ अब हम अन्दर-बाहर देख रहे हैं, वह सब ही शब्द और प्रतीत से सिद्ध है। यदि उसी प्रकार हमने स्वरूप को भी कुछ कल्पित कर देखा तो वह भी केवल मनोतमात्र अथवा भ्रांत मात्र होगा। इसलिए इस संशय को त्याग कर ऐसी

Scanned with CamScanner

अवस्था का अनुभव करता है जहाँ न शब्द है, न प्रतीत है, न द्रष्टा है न दर्शन है, न दृश्य है, न मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार है, न भूत, भविष्य और वर्तमान, है, न भय, न शोक न संशय है। न भ्रांति, चिन्ता, इच्छा है, न मैं, तू वह है, न यह है, न प्राप्ति अप्राप्ति है न अन्दर है न बाहर है, न सूक्ष्म है न स्थूल है। न ज्ञाता है न ज्ञान है न ज्ञेय है, न स्व है न पर है, न एकता है, न अनेकता है, न भेद है न अभेद है, केवल-केवली मात्र है, उस अवस्था का नाम स्वरूप है, उसको इस रीति से समझना, देखना और होना स्वरूप का अनुभव है।

आकाश जगत के सब पदार्थों से सूक्ष्म और निराकार है। स्वरूप के सन्मुख स्थूल है, क्योंकि स्वरूप में शब्द की समाई नहीं। शब्द आकाशरूप है, इसलिए सिद्ध हुआ कि स्वरूप में आकाश की भी समाई नहीं। जब आकाश की समाई नहीं तो पवन, अग्नि, जल, धरती और उनके कार्य इन्द्रियाँ और अन्तःकरण की समाई कैसे होगी? जब इन्द्रिय और अन्तःकरण का प्रवेश ही नहीं तो देखना और दिखलाना किस प्रकार सिद्ध होगा? जितना देखना और दिखाना है वह सारा पंचभूत पर्यन्त है, पंचभूत से परे जो सत्ता है, उसमें देखना और दिखलाना भ्रांतिमात्र है। यही सत्ता हमारा स्वरूप है। स्वरूप का ऐसा निश्चय करना अनुभव है।

प्रश्न ४३—मेरा वास्वत स्वरूप क्या है?

उत्तर—अनुभव स्वरूप है। जिसमें आदि मध्य, अन्दर-बाहर, अधः ऊर्ध्व; पूर्व पश्चिम, मैं, वह, तू की कल्पना कोई नहीं। अपने-आप मैं स्थित है, न सत्य है न असत्य; न चेतन है न जड़; न आनन्द है न दुःख; केवल-केवली रूप है, सत्चित आनन्द आदि की कल्पना बालकों के परचावे के लिए महात्माओं ने रखी है, वास्तव स्वरूप अनुभवमात्र है। ऐसे स्वरूप को अपना आत्मा निश्चय कर अचल और गम्भीर रहो।

प्रश्न ४४—ऐसे स्वरूप की प्राप्ति के लिए कौन-सा अभ्यास करना उचित है?

उत्तर—स्वरूप चिन्तन का अभ्यास करना उचित है। यदि सविकल्प समाधि का अभ्यास ओंकार के आसरे होता रहे तो भी शनैः-शनैः चित्त निर्विकल्प होकर आत्म-अनुभव करता है। वास्तव स्वरूप नित्यप्राप्त है, परन्तु जब तक अपरोक्ष अनुभव न हो तब तक मनुष्य को शान्ति और तृप्ति नहीं होती। इसलिए अभ्यास करना उचित होता है। जब निज स्वरूप अपरोक्ष होकर अपना-आप प्रतीत होता है, तब अभ्यास को त्यागकर सहज अवस्था रूपी शय्या पर पाँव पसार कर विश्राम करता है। इसलिए शान्ति प्राप्ति पर्यन्त अपने स्वरूप का चिन्तन, मनन, निदिध्यासन और स्थिति रूप अभ्यास करते रहो।

प्रश्न ४५—मेरा स्वरूप अनुभव तो अत्यन्त सूक्ष्म है, अर्थात् परमाणु से भी सूक्ष्म प्रतीत होता है तो सर्व व्यापक किस प्रकार हूँ?

उत्तर—सूक्ष्म वस्तु व्यापक होती है, स्थूल वस्तु व्यापक नहीं होती। जैसे पृथ्वी से जल सूक्ष्म है और पृथ्वी से अधिक व्यापक है; जल से अग्नि सूक्ष्म है। इसलिए अग्नि अधिक व्यापक है और अग्नि से पवन सूक्ष्म है। इसलिए अग्नि से पवन अधिक व्यापक है। पवन से आकाश सूक्ष्म है। इसलिए आकाश अधिक व्यापक है। आकाश से अनुभव सूक्ष्म है। इसलिए आकाश से अनुभव अधिक व्यापक है। अनुभव ही आत्मा का स्वरूप है। इससे आत्मा को सर्व-

Scanned with CamScanner

व्यापक मानते हैं। आत्मा नाम अपने-आपका है। जो सब का अपना-आप है, वह सर्वव्यापक है। अर्थात् सर्वरूप है। व्यापक मानने से द्वैत सिद्ध होता है, क्योंकि व्यापक वह वस्तु होती है जो किसी दूसरी वस्तु में पूर्ण हो। जब दूसरी वस्तु हुई तो अद्वैत न हुआ, इसलिए अद्वैतवादी अद्वैत निष्ठा वाले अनुभव को व्यापक नहीं मानते, किन्तु अनुभव को अद्वैत मानते हैं। अनुभव सर्वरूप जानते हैं। व्यापक व्याप्य भाव से रहित अनुभव अपने-आप में स्थित है; न सूक्ष्म है और न स्थूल; फिर सूक्ष्म भी है और स्थूल भी है; ऐसे अनुभव रूप को अपना-आप स्वरूप निश्चय कर मग्न रहें।

प्रश्न ४६—अपने स्वरूप का आदि और अन्त दृष्टि नहीं आता, महाकाश अपना स्वरूप दृष्टि आता है। मैं ध्यान किसका करूँ और स्मरण किसका करूँ ?

उत्तर—जब यह ज्ञान हुआ कि मेरा स्वरूप महाकाश है, आदि-मध्य और अन्त से रहित होने पर भी पूर्ण है, तब ध्यान और स्मरण करना रंचक मात्र भी ठीक नहीं। यही दृष्टि परम ध्यान है और यही ज्ञान ही परम स्मरण हैं। इस दृष्टि को जिज्ञासु दृढ़ करे और बारम्बार संशय न उठावे। जब दूसरी वस्तु ही नहीं तो संशय क्यों ? निर्विकल्प होकर अपने आप में स्थित रहो।

प्रश्न ४७—अपना स्वरूप आनन्द घन, ज्ञानमात्र, केवल अस्ति, भाँति, प्रेयरूप है तो दुःख और सुख किसको होता है ?

उत्तर—दुःख और सुख अन्तःकरण के धर्म हैं। अन्तःकरण में इनका ज्ञान और भोग होता है। आत्मा दुःख-सुख से रहित केवल आनन्दरूप है। अज्ञान से दुःख और सुख अपने स्वरूप में प्रतीत होते हैं। वास्तव में ये दोनों स्वभाव पंचभूतों के हैं, पाँच भूतों में रहते हैं और पाँच भूतों पर अपना बल प्रकट करते हैं और पाँच भूतों से प्रतीत होते हैं, क्योंकि पाँच भूतों की रचना त्रिगुणी है। पाँच भूतों के सतोगुण से अन्तःकरण और ज्ञान इन्द्रिय है, पाँच-भूतों के रजोगुण से प्राण और कर्म इन्द्रिय हैं और पाँच भूतों के तमोगुण से स्थूल शरीर है। है। सतोगुण शुद्ध होने से ज्ञान का पात्र है, इसलिए बाहर और अन्दर का सारा ज्ञान अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रियों में होता है, दुःख और सुख का स्वरूप भी अज्ञान है। इसलिए दुःख और सुख अन्तःकरण के धर्म रजोगुण चंचल होने से क्रिया का पात्र है, इसलिए बाहर और अन्तःकरण की सारी क्रिया प्राण और कर्म इन्द्रियों से होती है। तमोगुण मलिन और जड़ होने से मूढ़ता और स्थूलता का पात्र है। इसलिए स्थूल शरीर जड़ और मूढ़ है। इस रीति से पाँच तत्व ही ज्ञान, क्रिया और स्थूलता को धारण कर शरीर और जगतरूप हैं। जब सारे ज्ञान, सारी क्रिया और सब आकार पंचभूतरूप हैं; पाँच भूत अस्तिरूप समान चेतन में कल्पित हैं, कल्पित वस्तु अधिष्ठान से भिन्न नहीं होती बल्कि अधिष्ठान रूप होती है। इसलिए पंचभूत भी केवल अस्तिमात्र हैं और इनकी रचना भी अस्तिरूप है। जब केवल अस्ति ही अस्ति है तो न कोई दुःख है और न सुख है; न अन्तःकरण है न इन्द्रिय है; केवल केवलीरूप अपने-आप में स्थित हैं। इस दृष्टि को सदा स्वस्थ चित्त, निर्विकल्प मन, स्थित प्रज्ञ और निरहंकार रहना ठीक है।

प्रश्न ४८—काम-क्रोध आदि महाशत्रु हैं, इनसे मुक्ति किस प्रकार हो ?

Scanned with CamScanner

उत्तर—आपका शत्रु कोई नहीं, काम, क्रोध, लोभ, मोह अहंकार आदि आपके अनुचर हैं। ये कभी निवृत्त नहीं होंगे, इन्हें अपना आत्मा जान अपने में लीन रहो। इन्हें भिन्न जानकर इनसे क्यों डरते हो ? यह तो तुम्हारी महिमा का लक्षण है और तुम्हारी महाशक्ति का चिह्न हैं। जब इनको अपना आत्मा जानोगे, तब यह परममित्र होकर सुख देंगे।

प्रश्न ४९—स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था किस प्रकार नष्ट हों, क्योंकि ये दुःखदायक प्रतीत होते हैं ? यह संशय उत्पन्न होता है कि जब आत्मा सदा एक रस है तो अवस्था का आना-जाना किसमें है ? यद्यपि महात्मा लोग वृत्ति की अवस्था लिखते हैं, परन्तु यह शंका होती है कि वृत्ति जड़ है या चेतन ? यदि जड़ मानें तो अवस्था किसको मिली और यदि चेतन समझें तो आनन्द रूप अवस्था को त्यागकर स्वप्न व सुषुप्ति को धारने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था शरीर पर्यन्त नष्ट नहीं हो सकती, क्योंकि शरीर इन तीन अवस्थाओं में अपनी यात्रा पूर्ण करता है। जब जीवात्मा को अपने वास्तव स्वरूप का ज्ञान होता है तब देखता है कि मेरे स्वरूप में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों नहीं हैं। इन तीनों के प्रकाश करने वाला और तीनों के बिना और तीनों का अधिष्ठान केवल ज्ञानस्वरूप है। मेरे स्वरूप में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इस प्रकार प्रतीत होती है जैसे सिप्पी में रूपा अथवा रज्जु में सर्प। इसलिए जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति के आने से मेरे स्वरूप में विशेषता नहीं, मैं सदा एकरस हूँ। जब इस रीति से अपने स्वरूप का अपरोक्ष ज्ञान होता है, तब जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति का अत्यन्ताभाव हो जाता है। इस ज्ञान के बिना प्राण सम्बन्धी काल में इनका दूर होना किसी और उपाय से असम्भव है। यह तीनों अवस्थाएँ वृत्ति की हैं और आत्मा के प्रकाश से प्रकाश पाती हैं। यद्यपि वृत्ति जड़ है, परन्तु आत्मा की चेतनता से भिन्न-भिन्न अवस्था में भिन्न कार्यों को करती हुई प्रतीत होती हैं। जैसे इंजन यद्यपि जड़ है, परन्तु धूम्र की सत्ता पाकर चलाने वाले की प्रेरणा द्वारा भिन्न-भिन्न स्टेशनों पर आता-जाता है। या एक मशीन भिन्न-भिन्न कर्मों—आटा पीसना, लकड़ी चीरना, रुई कातना कपड़ा बनाना आदि कर्मों को करती है, वैसे ही वृत्ति आत्मा की सत्ता पाकर और आत्मा की प्रेरणा से जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति रूपी स्टेशनों पर आती-जाती है और दस इन्द्रिय और चार अन्तःकरण के भिन्न-भिन्न कार्यों को पूरा करती है। इसलिए ये तीनों अवस्थाएँ वृत्ति की हैं और आत्मा में कल्पित हैं। अज्ञान से जीवात्मा इन अवस्थाओं को अपनी अवस्था मानता है और सुख-दुःख का भागी होता है। जैसे रेलगाड़ी के चलने में जड़ और चेतन दोनों का मिलाप होता है वैसे ही अवस्था के आने और जाने में जड़ चेतन का मिलाप है; इनमें जड़ता से जड़ एक अवस्था में स्थित है और चेतनता से चेतन निर्विकार है। अवस्था का आना और जाना भ्रांतिमात्र है। इसलिए इस संशय को निवृत्त कर अपने को जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति से रहित केवल ज्ञानमात्र निश्चय करें और अनुचित विकल्प उत्पन्न कर अपनी वृत्ति को विक्षिप्त न करें। केवल अनुभवमात्र आत्मा में वृत्ति को लीन रखें। उससे भिन्न जो कुछ प्रतीत हो, उसे कल्पित और अभावरूप जानकर विस्मरण करें, तब शांति होगी अन्यथा संशय और विकल्पों का प्रवाह समाप्त नहीं होगा। संशय की समाप्ति संशय के त्याग में है। इसलिए

Scanned with CamScanner

संशय से रहित होकर अपने अनुभव स्वरूप में मग्न रहना ही परम आनन्द है।

प्रश्न ५०—अपना स्वरूप परमाणु से भी सूक्ष्म केवल चिन्मात्र है। चेतन का कोई स्वरूप नहीं; न प्रकाशरूप है और न अप्रकाशरूप। प्रकाश और अप्रकाश दूसरी वस्तु हैं। ये सूर्य, चन्द्र, तारा, अग्नि आदि कहाँ से उत्पन्न हुए हैं, मेरे स्वरूप में तो कोई दृष्टि नहीं आता?

उत्तर—अपना स्वरूप सूक्ष्म से सूक्ष्म है और स्थूल से स्थूल है। सूक्ष्म ऐसा है जिसमें मन, चित्त, बुद्धि और शब्द की समाई नहीं और स्थूल ऐसा है जिसमें ब्रह्मांड मकड़ी के तंतुवत् है अर्थात् अतिशय तुच्छ है।

जैसे बीज में कोई वस्तु अर्थात् मूल, स्कन्ध, फूल, फल पत्र दृष्टि नहीं आते, परन्तु सारे उसी में होते हैं वैसे ही चेतन रूप बीज में यद्यपि कोई वस्तु दृष्टि नहीं आती, परन्तु सारी वस्तु उसी में हैं, भाव यह कि सर्वरूप होकर वह स्थित है।

चेतन का स्वरूप सत्ता स्फुरण है, प्रकाश और अप्रकाश दोनों का प्रकाशक है, क्योंकि सबकी आत्मा है। यदि चेतन को प्रकाशरूप मानें तो अप्रकाश का विरोधी होगा और यदि अप्रकाशरूप मानें तो प्रकाश का विरोधी होगा। इसलिए दोनों से रहित केवल सत्तामात्र हैं। सत्तामात्र में सब कुछ बन सकता है, जहाँ कुछ नहीं होता वहाँ सब कुछ होता है।

प्रश्न ५१—

॥ दोहा ॥

क्यों भासे संसार का; नामरूप दुःख मूल,
क्यों उपजे कारण बिना, राग द्वेष का शूल?
कैसे नासे चित्त से, नामरूप संसार,
कैसे प्रकटे आतमा, सत्चित आनन्द सार?

उत्तर—

॥ दोहा ॥

तेरा ही संकल्प है, नामरूप संसार।
जब तू मेरे कल्पना, शेष रहे पद सार॥
तेरा रूप अगाध है, जाँका पार न वार।
जब भूलें तूं आपको, तब भासे संसार॥
तेरा रूप अनन्त है, जाँका आदि न अन्त।
जब भूले तूं आपको, तब होवे जग जन्त॥
तेरा रूप असंग है, जामें संग न रंच।
जब भूले तू आपको, भासें सकल प्रपंच॥
तेरा रूप अनाम है, वर्ण भेद से रहित।
विसरे आतमरूप जब, रहे नाम दुःख सहित॥
तेरा रूप अरूप है; निराकार निहरंग।
निज स्वरूप अज्ञान से, भासे रूप और रंग॥

Scanned with CamScanner

तेरा रूप अडोल है, निर्भय अचल अखंड।
भूल आपको सहित हो, क्षोभ मोह और दंड॥
ताते निशिदिन सावधान, सेवो अपना आप।
सहजे ही बंधन मिटें, नासे सकले ताप॥
चिदाकाश चिद्रूप तब, चिदानन्द चिद्सार।
चिद्घन परम पवित्र नित, परम रूप निर्धार॥
परम ज्योत परमात्मा, परम प्रेम निजरूप।
परम प्रकाश अदोष पद, केवल रूप अनूप॥
अन्तर बाहर भेद बिन, इस्थिति सत्य समान।
ऊँच-नीच निर्गुण सगुण, जड़ चेतन न आन॥
ऐसे पद को सावधान, सेवो मन चित लाय।
हेमराज संकट मिटे, आतम राम समाय॥

प्रश्न ५२—मैं कौन हूँ ?

उत्तर—तुम सत्चित आनन्द रूप हो।

प्रश्न ५३—सत्चित आनन्द के क्या अर्थ हैं ?

उत्तर—सत् का अर्थ त्रिकालाबाध अर्थात् तीनों कालों से मुक्त, चित् का अर्थ प्रकाश-रूप, आनन्द का अर्थ दुःख से रहित है।

प्रश्न ५४—मैं तीन कालों से मुक्त किस प्रकार हूँ, क्योंकि मैंने जन्म लिया है, मैं जी रहा हूँ, फिर मरूँगा, इससे मैं तीन काल के अधीन सिद्ध होता हूँ। आप किस प्रकार कहते हैं कि तू तीन काल से रहित सत्यरूप है ?

उत्तर—जन्म और मरण शरीर के धर्म हैं। अज्ञान से तू अपने धर्म मानता है, इसलिए कल्पित बन्धन में बंधा है। तेरा स्वरूप शरीर नहीं है, शरीर से न्यारा केवल सत्ता-मात्र है। भ्रांति से तू अपने को शरीर मानकर जन्म और मरण के अधीन हो रहा है, तू निराकार अविनाशी है, न कभी जन्म लेता है, न कभी मरता है, सदा एक जैसा रहता है।

प्रश्न ५५—मैं प्रकाश रूप चित् किस प्रकार हूँ ?

उत्तर—तू शरीर के सब इन्द्रियों, अन्तःकरण और उनके कर्मों को प्रकाश करता अर्थात् जानता है। शरीर के अन्तर, बाहर के अंगों दुःखों, रोगों, वृतियों और सम्बन्धों को जानता है तू शरीर के नाम, वर्ण, आश्रम, जन्म और मरण को जानता है और तू जगत के पदार्थों को और अपने आपको भी जानता है इसलिए तू प्रकाशरूप चित है। अर्थ यह कि सबको जानने वाला और प्रकाश करने वाला तू है। तेरे जानने वाला और प्रकाश करने वाला दूसरा कोई नहीं।

प्रश्न ५६—मैं आनन्दरूप किस प्रकार हूँ ?

उत्तर—दुःख रूप शरीर में जो सुख और आनन्द प्रतीत होता है, वह तेरा अपना है, शरीर में कोई पदार्थ आनन्द देने वाला अथवा सुखदायक नहीं है। केवल तू आनन्द स्वरूप

Scanned with CamScanner

और सुखनिधान है, अपने को भूलकर विषयों से सुख मानता है। विषयों में सुख नहीं है, क्योंकि विषय तेरा प्रकाश है, तू ही इन्द्रियों के मार्ग से जगत के पदार्थों को अपने ज्ञानरूप प्रकाश से प्रकाशित करता और जानता है और स्वयं ही अपने स्वरूप आनन्द से आनन्दित होता है। अज्ञान से तू विषयों में आनन्द निश्चय कर अपने को विषयों के अधीन रखता है। वास्तव में सुखरूप तू आप है, तेरे बिना शरीर में और जगत में सुख और आनन्द कहीं नहीं। तेरा स्वरूप दुःख, रोग, क्लेश, ताप, जन्म-मरण, अहंभाव, तृष्णा, का, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, मत्सर आदि विकारों से शुद्ध निर्विकार मंगलरूप अविनाशी और पावन है, इसलिए तू सदा आनन्द रूप है। यह सब विकार शरीर के शरीर में शरीर पर्यंत रहते हैं, तू शरीर के आदि, मध्य और अन्त में एक रस समान सत्ता रहता है। शरीर के साथ तेरा सम्बन्ध नहीं है इसलिए शरीर के विकारों, धर्मों, गुणों, कर्मों और व्यवहार के साथ भी तेरा सम्बन्ध नहीं है, तू अपने आप में स्थित है इसलिए तू आनन्दरूप है।

प्रश्न ५७—मैं कहाँ से आया हूँ और कहाँ जाऊँगा ?

उत्तर—तू न कहीं से आया है और न कहीं जायेगा, सदा अपने आप में स्थित है। जैसे आकाश न कहीं आता है और न कहीं जाता है, सदा अपने आप में स्थित रहता है। यद्यपि घट की उपाधि से उसमें आना और जाना प्रतीत होता है तथापि वह आना-जाना घट के संयोग से महाकाश के अज्ञानी को भ्रांति दृष्टि में प्रतीत होता है ; वास्तव में आकाश पूर्ण है। वैसे ही तू चिदाकाश रूप होने से पूर्ण है। यद्यपि शरीर की उपाधि से जन्म-मरण तू अपने में देखता है तथापि यह तेरा देखना अथवा ज्ञान यथार्थ नहीं है, भ्रांति से तू अपने को आने और जाने वाला मान रहा है, वास्तव में तू आने-जाने से रहित है, अपने आप में पूर्ण है। शरीर तुम में तरंग की तरह उत्पन्न होता है और लीन हो जाता है, परन्तु तू सदा एक रस रहता है। जैसे तरंग के उत्पन्न और लीन होने से जल समान रहता है वैसे ही शरीर के आने-जाने से तू कहीं आता जाता नहीं। सदा अपने आप में स्थित है।

प्रश्न ५८—मैं किस प्रयोजन के लिए आया हूँ ?

उत्तर—जब तेरा आना सिद्ध नहीं होता तो प्रयोजन किस प्रकार सिद्ध हो ? तू निष्प्रयोजन, निष्काम, अपनी लीला और कलोल आप देख रहा है और आप ही अपनी शक्ति का भोक्ता होकर आनन्द पा रहा है। दूसरा कोई प्रयोजन नहीं, तू सदा इच्छा से रहित, कामना से शून्य, गमनागमन से मुक्त केवल केवलीरूप है इसलिए न तेरा आना सिद्ध होता है और न आने का प्रयोजन सिद्ध होता है।

प्रश्न ५९—मैं परमात्मा से भिन्न हूं अथवा अभिन्न ?

उत्तर—तू परमात्मा से अभिन्न है, केवल शब्द का भेद है, वस्तु अद्वैत है। जैसे मन्दिर का आकाश महाकाश से अभिन्न है, केवल मन्दिराकाश और महाकाश के शब्द से भेद प्रतीत होता है। वास्तव में आकाश एक है, न मन्दिर के साथ मिलकर मन्दिर हुआ है और न महा के साथ मिलकर महा हुआ है ; केवल आकाश ही आकाश है। वैसे ही जीवात्मा और परमात्मा केवल शब्द का भेद है। शरीर के अन्दर जीवात्मा कहा जाता है और शरीर

Scanned with CamScanner

के बाहर परमात्मा कहा जाता है। वस्तु में अन्दर और बाहर का भेद कोई नहीं, शरीर के मिलन से वह वस्तु जीवरूप नहीं हुई और शरीर के बाहर होने से वह वस्तु परमात्म रूप नहीं हुई, केवल आत्मा ही आत्मा है। अर्थात् आप ही आप है। इसलिए तू परमात्मा से अभिन्न है। भाव यह कि परमात्मा तेरी आत्मा है। तेरे से कदाचित् भिन्न नहीं हुआ, सदा अभिन्न और आत्मस्वरूप है, क्योंकि अद्वैत और अच्युत है। द्वैत में भेद और अभेद होता है। जहाँ द्वैत ही नहीं वहाँ भेद और अभेद कैसे हो, यह दोनों पद अज्ञान में सिद्ध हैं, वास्तव में न भेद है न अभेद। अद्वैत वस्तु जो सत्चित् आनन्दस्वरूप है, अपने आप में स्थित है।

प्रश्न ६०—परमात्मा सृष्टि को उत्पन्न, पालन और संहार करने वाला है। मैं एक तिनका भी नहीं उत्पन्न कर सकता हूँ और न किसी का पालन अथवा नाश कर सकता हूँ तो मैं किस प्रकार परमात्मा से अभिन्न हूँ ?

उत्तर—यदि परमात्मा सृष्टि का उत्पन्न पालन और संहार करने वाला है, परन्तु सृष्टि की सहायता के बिना सृष्टि की उत्पत्ति पालना और संहारन हीं होता। सृष्टि से सृष्टि उत्पत्न होती है, सृष्टि से सृष्टि का पालना और संहार होता है।

सृष्टि को त्याग कर सृष्टि की उत्पत्ति, पालना और संहार का निमित्त और कोई नहीं, जब सृष्टि में उत्पत्ति, पालना और संहार की समर्थ प्रसिद्ध है तो सृष्टि ही परमात्म स्वरूप है और तू भी सृष्टि रूप होने से परमात्म रूप है। जैसे बीज वृक्ष रूप है और वृक्ष बीज रूप है, क्योंकि बीज के बिना वृक्ष नहीं होता और वृक्ष के बिना बीज नहीं होता इसलिए वृक्ष और बीज एक रूप हैं। वैसे ही परमात्मा, सृष्टि व जगत एक रूप है। जब सब जगत ही परमात्मा रूप है तो तू और मैं कहाँ हैं, एक अद्वैत वस्तु अपनी महिमा में स्थित है।

प्रश्न ६१—महात्माओं का वचन है कि आत्मा अर्थात् अपना आप सब अवस्था का ज्ञाता होने से सत्य और चेतन है। इसलिए ब्रह्म से भिन्न नहीं परन्तु यह शंका है कि सुषुप्ति या मूर्छित अवस्था में यह अत्यन्त ही अज्ञात अथवा मूढ़ हो जाता है, किसी वस्तु को नहीं जानता अपने आपको भी नहीं जानता। इससे सिद्ध होता है कि जानने वाली वस्तु ब्रह्म से भिन्न है जिसे अन्तःकरण नाम से पुकारते हैं और उसके जानने की सत्ता किसी रोग, औषधि, मूर्छा व परिश्रम में लीन हो जाती है इस प्रकार हमारी आत्मा या अपना आप अन्तःकरण हुआ और जानने वाली वस्तु अन्तःकरण नश्वर है इसलिए हम भी नश्वर और असत्य हैं। इससे उनका वचन सिद्ध नहीं और हम नश्वर होने से कुछ न हुए अतः आत्मज्ञान से कुछ लाभ न हुआ, क्योंकि वह असत्य है। यदि सत्य होता तो जाग्रत की तरह दूसरी अवस्था, रोग, मूर्छा आदि में अपने आपको जानने का ज्ञान क्यों न रखता ?

उत्तर—आत्मा को सब अवस्था के जानने वाला कहा गया है, यह केवल शरीर की उपाधि से कहा गया है अन्यथा आत्मा अद्वैत रूप, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय के भेद से रहित है। जब तक उपाधि से मुक्त अपने को न समझा जाए तब तक आत्मा अर्थात् अपने आप की पूरी-पूरी समझ नहीं आती। शरीर की तीन अवस्थाएँ हैं, एक जाग्रत, दूसरी स्वप्न, तीसरी सुषुप्ति। जाग्रत में स्थूल स्वरूप से दस इन्द्रियाँ, चार अन्तःकरण और प्राण कर्ता होते हैं, स्वप्न

Scanned with CamScanner

में सूक्ष्म स्वरूप से दस इन्द्रियाँ, चार अन्तःकरण और प्राण कर्ता होते हैं। सुषुप्ति में अज्ञान और प्राण कर्ता होते हैं। आत्मा इन तीनों अवस्थाओं का प्रकाशक और सिद्ध करने वाला है, जाग्रत में जाग्रत की सामग्री को सिद्ध करता है और स्वप्न में तथा सुषुप्ति में स्वप्न और सुषुप्ति की सामग्री सिद्ध करता है। भाव यह कि जाग्रत में इन्द्रिय, अन्तःकरण और प्राण के साथ एक रूप होकर अन्तर और बाहर के विषयों और विषयों के ज्ञानों और विषयों के साधनों को प्रकाश कर सिद्ध करता है और स्वप्न अवस्था में सूक्ष्म इन्द्रिय और अन्तःकरण से एक होकर केवल अंतर के मनोराज, सूक्ष्म विषय, उनके ज्ञान और उनके साधनों को प्रकाश कर सिद्ध करता है और सुषुप्ति अवस्था में अज्ञान और प्राण के साथ एक होकर अज्ञान के विषय और अज्ञान के ज्ञान को प्रकाश करता और सिद्ध करता है। इस प्रकार आत्मा एक एक अवस्था का आत्मा होकर उस अवस्था को सिद्ध करता है। जाग्रत में जाग्रत का आत्मा होकर जाग्रत को, स्वप्न में स्वप्न का आत्मा होकर स्वप्न को, और सुषुप्तिमें सुषुप्ति का आत्मा होकर सुषुप्ति को सिद्ध करता है। इसी प्रकार मूर्छा में मूर्छा का आत्मा होकर मूर्छा को, रोग में रोग का आत्मा होकर रोग को, मूढ़ता में मूढ़ता का आत्मा होकर मूढ़ता को, अज्ञान में अज्ञान का आत्मा होकर अज्ञान को, ज्ञान में ज्ञान का आत्मा होकर ज्ञान को सिद्ध करता है। सत्य वस्तु का किसी के साथ विरोध नहीं होता और न ही वह किसी का बाधक होता है किन्तु सबका साधक और सबका आत्मा होता है। यदि आत्मा को केवल जानने वाला माने तो न जानने वाला कौन होगा? जानने वाला और न जानने वाला दोनों आत्मा हैं। सत्य वस्तु वह होती है जो ज्ञान और अज्ञान में समान रहे। भाव यह कि ज्ञान और अज्ञान में जिसकी महिमा अधिक और न्यून न हो किन्तु दोंनों में समान रहे, उसे सत्य कहते हैं। यदि केवल जानने वाली वस्तु को सत्य और चेतन कहें और न जानने वस्तु को असत्य और जड़ कहें तो अद्वैत वस्तु और अद्वैत ज्ञान की हानि होगी। इसलिए ज्ञान और अज्ञान से ऊपर ज्ञान और अज्ञान के मध्य ज्ञान और अज्ञान का प्रकाशक, ज्ञान और अज्ञान का आत्मा, ज्ञान और अज्ञान में समान है। आत्मा अर्थात् अपना आप है।

ज्ञाता अर्थात् जानने वाला भी दो प्रकार का है, एक प्रच्छिन्न दूसरा पूर्ण। अन्तःकरण प्रच्छिन्न ज्ञान वाला है। भाव यह कि जो कुछ इन्द्रियों का विषय होता है उसे जानता है, इन्द्रिय से जो अगोचर है उसे नहीं जानता इसलिए अन्तःकरण मिथ्या ज्ञान वाला माना गया है। आत्मा पूर्ण है, इन्द्रियाँ जिसे विषय कर सकते हैं उसे भी आत्मा जानता है, अन्तःकरण जिसे जानता है उसे भी आत्मा जानता है, अन्तःकरण जिसे नहीं जानता है उसे भी आत्मा जानता है। अभिप्राय यह कि अन्तःकरण के ज्ञान और अज्ञान का ज्ञाता आत्मा है। वा अन्तःकरण का ज्ञान या अज्ञान जिससे सिद्ध होता है। वा अन्तःकरण की सावधानता और असावधानता जिससे सिद्ध होती है वह आत्मा है। इसलिए आत्मा सब जानने वाला है। अन्तःकरण और इन्द्रियों की सहायता के बिना कुछ नहीं जान सकता, इन्द्रियों का सूक्ष्म भाग मानो अन्तःकरण है और स्वयं भी आत्मा की सत्ता पाकर ज्ञान में प्रवृत रहता है। इसलिए अन्तःकरण आप कोई वस्तु नहीं। इससे अन्तःकरण का

Scanned with CamScanner

आत्मा अर्थात् अपना आप मानना यथार्थ ज्ञान के विरुद्ध होने से अयुक्त हैं। अपना आप वह है जिसमें जानना और न जानना दोनों नहीं हैं अर्थात् ज्ञान और अज्ञान के भेद से रहित है, क्योंकि द्वैत का अत्यन्ताभाव है, यद्यपि अन्तःकरण और इन्द्रिय के संयोग से अपना आप जानने वाला व न जानने वाला प्रतीत होता है तथापि वास्तव दृष्टि से देखें तो दोनों विशेषण आत्मा के स्वरूप लक्षण नहीं हैं किन्तु आदि से उसके साथ तद्रूप होकर उसके विशेषण प्रतीन होते हैं। यदि सम्यक् दृष्टि से देखें तो एक ऐसी अवस्था है जिसमें ज्ञान अज्ञान रूप होकर ऐसा अभेद है कि ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय की कल्पना, बंधन और मुक्ति का भेद व आत्मा और अनात्मा अर्थात् अपना और अन्य का विवेक सिद्ध नहीं होता, केवल सत्तासामान्य अपने आप में स्थित है, ऐसी सत्ता को अपना आप जानना ययार्थ ज्ञान है।

चेतन दो प्रकार का है एक विशेष चेतन, दूसरा सामान्य चेतन। विशेष चेतन के अर्थ थोड़े देश और थोड़े काल के हैं और सामान्य के अर्थ बहुत देश और बहुत काल के हैं। अन्तःकरण हृदय देश में जाग्रत और स्वप्न काल में रहता है। इसलिए चेतन अन्तःकरण के साथ तद्रूप होकर जाग्रत स्वप्न के पदार्थों का ज्ञाता होता है, विशेष चेतन कहलाता है और जो अन्दर बाहर इधर-उधर पूर्ण है वह सामान्य चेतन है। अज्ञानी विशेष चेतन को चेतन मानते हैं और सामान्य चेतन को जानते भी नहीं, उल्टा उसको जड़ कहते हैं। विचार से देखें तो विशेष चेतन प्रच्छिन्न देश और प्रच्छिन्न काल की उपाधि से असत्य है और सामान्य चेतन अप्रच्छिन्न और पूर्ण होने से सत्य है, इसलिए ज्ञानवान यथार्थदर्शी सामान्य चेतन को अपना आप मानते हैं और विशेष चेतन से बाधिक जानकर अपना आत्मा नहीं मानते। इसी विशेष चेतन पर सब आरोपित धर्म अर्थात् ज्ञानी, अज्ञानी, बंध मुक्त, आरोपित होते हैं, क्योंकि विशेष चेतन आप असत्य है। इसलिए सर्व दूषण जो उस पर आरोपित हुए हैं, होते हैं व होते रहेंगे, सब असत्य हैं। सामान्य चेतन सर्व विकारों से रहित शुद्ध स्वरूप है, विशेष चेतन भी सामान्य चेतन है, विशेषता केवल उपाधि से कल्पित है, वास्तव में चेतन अद्वैत है, न विशेष है न सामान्य है। चेतन भी जड़ की अपेक्षा से माना गया है, जब एक वस्तु ही स्थित है तो जड़ और चेतन की कल्पना किस प्रकार मानी जाये? इसलिए जड़ और चेतन के भेद से रहित एक वस्तु अपने-आप में स्थित आत्मा है। इस रीति से पहचानना यथार्थ ज्ञान है। केवल विशेष चेतन को अपना आत्मा जानकर सामान्य चेतन के ज्ञान से मूढ़ रहना यथार्थ ज्ञान नहीं है। जब तक अद्वैत वस्तु का ज्ञान न हो, तब तक संशय की निवृत्ति होकर निर्विघ्न और कल्याणरूप अवस्था प्राप्त नहीं होती। इसलिए ऐसी सामान्य और सुखरूप अवस्था की प्राप्ति के लिए अपने को केवल सामान्यरूप निश्चित करना उचित है।

नश्वर मिथ्या व असत्य कोई वस्तु नहीं किन्तु सत्य का अज्ञान ही असत्य है। यथार्थ दृष्टि से देखें तो अद्वैत वस्तु अपने-आप में स्थित है, उसे सत्य व असत्य किस प्रकार कहें? जब तक दूसरी वस्तु न हो तब तब तक कोई विशेषण सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि दूसरी वस्तु का अत्यन्त अभाव है। इसलिए सत्य किसको मानें और असत्य किस को मानें? सत्य और असत्य से ऊपर, सत्य और असत्य के मध्य, सत्य और असत्य का अधिष्ठान, सत्य और

Scanned with CamScanner

असत्य का प्रकाशक सत्य और असत्य का आत्मा ही अपना-आप है। इस रीति से अपने-आपको पहचानना यथार्थ ज्ञान है।

ब्रह्म और आत्मा शब्द दो है, अर्थ एक है। जिस प्रकार दिन और सूर्य दो शब्द है, अर्थ एक है। यद्यपि दिन प्रच्छिन्न और नश्वर प्रतीत होता है और सूर्य पूर्ण और सत्य प्रतीत होता है तथापि सूर्य के बिना दिन का रूप कहीं मिलता नहीं। सूर्य ही मानो दिन स्वरूप है। उसी प्रकार ब्रह्म सूर्य है और आत्मा दिन है, ब्रह्म से भिन्न आत्मा कोई वस्तु नहीं किन्तु ब्रह्म ही आत्मस्वरूप है। तात्पर्य यह कि पूर्ण वस्तु ही अपना-आप है। जब ब्रह्म और आत्मा दोनों एक वस्तु हैं तो इनके भेद और अभेद के लिए शास्त्रों में जो वाद-विवाद व खण्डन-मण्डन हो रहा है; वह अत्यन्त ही अनुचित और निरर्थक है, वास्तव में न भेद है न अभेद, एक वस्तु अपने-आप में स्थित हैं, इस रीति मे पहचानना सम्यक् ज्ञान है। महात्माओं व शास्त्रों का वचन जो आत्मा के लिए है, वह पूर्वोक्त रीति से है। इसलिए आत्म-जिज्ञासु अपने-आपको यथार्थ रीति से पहचान कर सब संशयों मुक्त रहे और जीवन-मुक्त होकर नित्य एकाग्रता, नित्य शांति, नित्य स्थिरता, नित्य तृप्ति, नित्य मुदता और नित्य स्थिति का आनन्द पावे।

प्रश्न ६२—जब जीव को अपने स्वरूप का साक्षात्कार होकर सर्व आत्मा निश्चय होता है, तब उपासना अथवा ध्यान किसका करे ?

उत्तर—अपने-आपका, क्योंकि सब संतों व शास्त्रों का यही प्रयोजन है कि अपने-आप में स्थित हो और अपने-आपकी स्थिति अपने-आपके ध्यान बिना प्राप्त नहीं होती। इसलिए ज्ञानवान सदा अपने-आपका ध्यान, अपने-आपकी पूजा, अपने-आपका चिन्तन, अपने-आपका मनन, अपने-आपका निदिध्यासन और अपने-आपका दर्शन करते हैं।

प्रश्न ६३—चिदाकाशी के अर्थ क्या हैं ?

उत्तर—चेतन-आकाश। चेतन उसे कहते हैं जो अपने को जाने और अपने से भिन्न दूसरे को भी। जीवात्मा चेतन और निराकार होने से आकाश रूप है, इसलिए चिदाकाशी है।

प्रश्न ६४—चिदाकाश और सर्वज्ञ विशेषण परमेश्वर के हैं, जीव के कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर—परमेश्व चेतन और निराकार है। इसलिए चिदाकाश है और परमेश्वर सर्व व्यापक है। इसलिए सर्वज्ञ है, परन्तु सर्वव्यापी को सर्वव्यापी जानने वाला कौन है ? सर्वज्ञ है व अल्पज्ञ ? जड़ है या चेतन ? अल्पज्ञ से कभी भी सर्वज्ञ का ज्ञान नहीं हो सकता। जब सब में उसका प्रवेश ही नहीं हो तो वह किस प्रकार जानेगा कि ईश्वर सर्वज्ञ है या अल्पज्ञ ? प्रवेश के बिना ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि जीवात्मा को सर्वज्ञता का ज्ञान है। इससे निश्चय होता है कि जीवात्मा सर्वज्ञ है। यह भी विचारना उचित है कि सब किसे कहते हैं। सब के अर्थ पंचभूत, भौतिक सृष्टि हैं। यह इंद्रियों का विषय हो सकती है या इंद्रियों से अगोचर है, मन में आ सकती है या मन से परे है या समग्र जड़ चेतन पदार्थ मिलाकर सर्व कहलाते हैं। सब का ज्ञान जीव को है क्योंकि जीव ही ने सर्व विद्या, गुण, कानून, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष स्थापित किये हैं और लिखे हैं और जीव ही उनको मनन और निश्चय करता है, जीव ही बाहर की सृष्टि को जानता है, जीव ही अन्दर की सृष्टि को जानता है,

Scanned with CamScanner

जीव ही निराकार को जानता है, जीव ही ईश्वर को जानता है, ईश्वर की उपासना करता, ईश्वर का ध्यान करता है और ईश्वर को साक्षात् करता है, जीव ही चौदह भुवन की सृष्टि को जानता है। अर्थ यह कि सर्व विद्या का ज्ञाता जीव है। जीव के आसरे ईश्वर सब कार्यों को सिद्ध करता है। उत्पत्ति जीव के आसरे होती है; पालना जीव के आसरे होती है; संहार जीव के आसरे होता है; राज्य जीव के आसरे होता है; धर्म का प्रचार जीव के आसरे होता है; मुक्ति का मार्ग जीव दिखलाता है; ऋषीश्वर, मुनिवर, पंडित, प्रचारक, पैगम्बर, अवतार, ज्ञानी सब जीव हुए हैं; वेद भी जीव के आसरे प्रकट हुए हैं; वेदों की टीका भी जीव ने रची है; फाँसी का और फिर मुक्ति की आज्ञा भी जीव देता है; कानून, मज़हब, मत, मार्ग, समाज, धर्म, सभा, संगति, पथ जीव ने स्थापित किये हैं। ज्योतिष, वैद्यक, तंत्र, मंत्र, शास्त्र, वेदांत न्याय, कर्म, पुराण इतिहास, योग, कर्म, उपासना, ज्ञान आदि सब ही जीव ने प्रकट और स्थापित किये हैं। शहर, कौम, वर्णाश्रम, रीति, वस्त्र, भूषण, रुपया, मंदिर, व्यापार खेती जीव ने रचे हैं, सबका ज्ञान जीव को है और भिन्न-भिन्न मत और गुण भी जीव ने प्रकट और स्थापित किये हैं और सब को जीव ही मानता और जानता है। इस लिए जीव ही सर्वज्ञ है।

ईश्वर सर्वव्यापी है, सब जीवों में पूर्ण है। वह जीवरूप होकर सृष्टि को चलाता है। जीव चिदाकाश रूप है अर्थात् चेतन रूप है। पाँच भूतों से इसकी रचना नहीं, केवल निराकार रूप है। इस युक्ति से भी सर्वज्ञ और चिदाकाशी जीव के विशेषण हो सकते हैं। यदि न्याय विचार कर दीर्घ और यथार्थ दृष्टि से देखे तो जीव ही पूर्ण चेतन है। सब कार्य इसी के आसरे सिद्ध हो रहे हैं जीव ही मानों कर्तारूप होकर स्थित है। जीव का अर्थ सत्य है इसलिए सत्चित् आनन्द रूप जीव है, क्योंकि अनादि और अनन्त है, न इसका आदि है न अन्त है, न उत्पत्ति है न नाश है, सदा और पूर्ण है इसलिए जीवात्मा चिदाकाशी और सर्वज्ञ है। यदि यथार्थ दृष्टि से देखें तो इन विशेषणों से भी ऊपर है क्योंकि यह विशेषण जीव ने कल्पना से स्थापित किए हैं इसलिए जीव का स्वरूप इनसे भी परे है। जीव मानों वह वस्तु है जिसका ज्ञान वेद, शास्त्र, पुराण को भी नहीं हुआ। इसे सबका ज्ञान है, इसलिए जीव ही सर्वत्र और चिदाकाशरूप है और जीव ही इनसे मुक्त है किन्तु जीव की संज्ञा से भी शुद्ध है।

॥ भजन ॥ (१)

आत्म विचार नित धारो साधो।
आतम चिद्घन साक्षी पूरण, सत्चित् आनन्द सारो ॥१॥
इन्द्रियगण परकाशक अक्रिय, अपना आप निहारो ॥२॥
ज्ञान मात्र तू सब में इक रस, पावन रहित विकारो ॥३॥
देह उपाधि से जीव कहावे, सत्ता मात्र अपारो ॥४॥
भेद प्रच्छेद अतीता अव्यय, जन्म मरण से न्यारो ॥५॥
एक अखण्ड अचल पुरुषोत्तम, अनुभवगम्य अधारो ॥६॥
सकल द्वन्द्व से न्यारी सत्ता, सुखमय परम पियारो ॥७॥

Scanned with CamScanner

नाम रूप वर्णाश्रम कल्पित, मिथ्या जान विसारो ॥८॥
इन्द्रिय मन बुद्धि कर्म धर्म से, तू अलेप चिद्सारो ॥९॥
बंध मुक्त से न्यारा सूक्षम, चिदाकाश उजियारो ॥१०॥
रहित उपाध कल्पना सूना, देश न काल अकारो ॥११॥
स्वयं प्रकाशी आनन्द राशि, सत्ता सब संसारो ॥१२॥
देह मलीन नाशी और दुःखमय, इसकी प्रीति निवारो ॥१३॥
सुख निधि नित शुद्ध आतम **हेमां,** अपना आप चितारो ॥१४॥

॥ भजन ॥ (२)

तू आतम अखण्ड स्वरूप है, मत देह आपको मानना।
तू सत् चित् आनन्द रूप है, मत देह आपको मानना ॥१॥
तू मन चित्त बुद्धि प्रेरक है, तू इन्द्रिन का परकाशक है ॥
तू पाक्न परम अनूप है, तू मत देह आपको मानना ॥२॥
नहीं जन्म मरण में आवे तू, नहीं दुःख क्लेश को पावे तू ॥
तू परम प्रेम शिव रूप हैं, मत देह आपको मानना ॥३॥
तू भय और भरम से न्यारा है, तेरा ही सकल पसारा है ॥
तू निर्गुण ब्रह्म अनूपम है, मत देह आपको मानना ॥४॥
देह नाशवन्त मलीन है, परनामी परिच्छन दीन है ॥
तू शिवपूरण शुद्ध रूप है, मत देह आपको मानना ॥५॥
देह दुःखमय तू सुखनिधि आतम, देह विषम तू इक रस अरु सम ॥
देह जड़ तू चिद्घन भूप है, मत देह आपको मानना ॥६॥
देह के नाम अर वर्णाश्रम, नहीं शब्द की तुझ में रंचक गम ॥
तू निरउपाध सद्रूप है, मत देह आपको मानना ॥७॥
हेमां तू अचल अदीन है, तू निर्विकल्प स्वाधीन है ॥
तू चिदाकाश शुद्ध भूप हैं, मत देह आपको मानना ॥८॥

॥ भजन ॥ (३)

मरता नहीं तू हे प्यारे, तू सत्चित् आनन्द पूरण है ॥
तुझे दुःख स्पर्श नहीं करता है, तू आनन्द अविगत पावन है ॥१॥
तुझे क्लेश नहीं किसी वस्तु का, तू निर्बन्ध और स्वच्छन्दी है ॥
तू अधीन नहीं किसी वस्तु के, मत दीन वनो तू चिद्घन है ॥२॥
सदा इक रस स्थित निज माहीं परिणाम कभी नहीं पावे तू ॥
तू अद्वै एक अखण्ड आतम, सबमें सबसा शुद्ध चेतन है ॥३॥
तू विघ्न क्लेशों से न्यारा, अति इन्द्रिय रहित विकारा है ॥
तेरी छाया माया अविद्या है, तू निर्मल और निरंजन है ॥४॥

Scanned with CamScanner

वर्णाश्रम नाम परे केवल, वाणी की गम्य तुझमें नहीं ॥
त्रिपुटी और द्वन्द्वों से न्यारा तू, अलख अगोचर निर्गुण है ॥७॥
सुख दुःख भूख प्यास जन्म मृत्यु, के विकारों से तीत तूं ॥
है चिद्सागर का तरंग तूं, अनुभव सूर्य की किरण है ॥६॥
अपने चिन्ह मात्र स्वरूप का, हेमां निश दिन निध्यासन कर ॥
तू स्वतः सिद्ध अनुभवगम्य है, तुझमें नहीं कलना बुद्धि मन है ॥७॥

॥ भजन ॥ (४)

भूल अपने सत्स्वरूप को तू, कल्पित से नर क्यों डरता है ॥
निर्गुण नित मुक्त अलेपा तूं, माया में नर क्यों फ़ँसता है ॥१॥
तू स्वामी सबका परकाशक, तुझमें देह जग की उपाधि नहीं ॥
नहीं आदि अन्त तेरा कोई तू अजर अखण्ड अमर आतम ॥
अज्ञान तुझे भरमाता है, कभी जीता है कभी मरता है ॥३॥
अद्वैत सनातन नित तृप्ता, निज इस्थित परम अनूपा तूं ॥
सब दृश्य बना प्रतिबिम्ब तेरा, क्यों इसके पीछे फिरता है ॥४॥
न भूत भविष्य तुझमें कोई, कलना नहीं देश अरु वस्तु की ॥
तू इक रस पूरण निर्द्वन्दा, फिर किस की चिन्ता करता है ॥५॥
तू मंगल रूपा चिद्वपु है, पावन प्यारा सर्वातम है ॥
काया मलीन जड़ दुःखमय का, क्यों इतना मोह पकड़ता है ॥६॥
हेमां नारायण गोविन्द तूं, तेरा पासारा भ्यंतर है ॥
तू निरउपाध अक्रिय केवल, तुझ में नहीं कर्म का कर्त्ता है ॥७॥

॥ भजन ॥ (५)

तू सत्चित् आनन्द सार सखी, तू देह न निश्चय धार सखी ॥
देह मलीन जड़ दुख नाशी, तू आतम चिद्घन अविनाशी ॥
आनन्द रूप सुत परकाशी, तू देह की प्रीत निवार सखी ॥१॥
इन्द्रिय मलीन अरु चंचल हैं, दीन विषय कर उनको निरबल ॥
तू साक्षी निश्चल आनन्दघन, विषयों की तृष्णा जार सखी ॥२॥
संकल्प मात्र है तेरा मन, सुख दुख में भरमावे निसदिन ॥
तू साक्षी है अचलानन्द घन, फुरने सारे तू विसार सखी ॥३॥
बुध मिथ्या जग जितलावे सत, उलझावे राग द्वेष में नित ॥
सत आतम से तू रहें विगत, हो छलनी से हुशियार सखी ॥४।
जड़ देह के कर्मों की हंगता, भ्रमरूप पदार्थ की ममता ॥
रखते हैं क्लेशों में तुझको, तू हेमां ब्रह्म अपार सखी ॥५॥

॥ भजन ॥ (६)

मेरे मना सत चित आनन्द ध्याय ॥१।
देह असत्य अनातम दुखमय, निश्चय जान भुलाय ॥२॥

Scanned with CamScanner

विषयन सहित सब इन्द्रिन ते, चित को वेग छुड़ाय ॥३॥
चिंतन, मनन, अहंता निश्चय, आतम भेंट चढ़ाय ॥४॥
अहंग्रह ध्यान धरो निशि-वासर, द्वैत भाव बिसराय ॥५॥
त्याग विक्षेप नींद आलस भय, अचल समाधि लगाय ॥६॥
रंचक मात्र द्वैत नहिं भासे, निरवाणी पद पाय ॥७॥
सत् चित् आनन्द पूरण हेमां, परमानन्द समाय ॥८॥

॥ भजन ॥ (७)

साधो आतम पूजन कीजे ॥१॥
हृदय गुहा में आतम पूरण, आतम होय लखीजे ॥२॥
देह प्राण इन्द्रिय मन चित बुद्धि, मिथ्या जान भुलीजे ॥३॥
सुन मंडल में इस्थित होकर, निशि-दिन ध्यान धरीजे ॥४॥
जाग्रत अन्त आदि सुपन को, आतम जान भजीजे ॥५॥
सत् चित् आनन्द पूर्ण अक्रिय, निर्भय फूल चढ़ीजे ॥६॥
समता मुदता सत्यता विद्या, आतम भेंट चढ़ीजे ॥७॥
प्रेम सनेह बुद्धि बाती कर, दीपक ज्ञान जलीजे ॥८॥
चौदह भुवन सर्व सामग्री, धूप अस्थानी कीजे ॥९॥
चिंतन कथन परस्पर बोधन, ताल मृदंग बजीजे ॥१०॥
नख-शिख पूरण एको आतम, ऐसी आरती कीजे ॥११॥
जो-जो वस्तु दृष्टि आवे, झुक झुक शीश नवीजे ॥१२॥
जहाँ जहाँ मनका फुरना जावे, आतम राम लखीजे ॥१३॥
अनुभव जोत अखण्ड अनामय, हेमां निज फल लीजे ॥१४॥

॥ इति श्री अष्टम सिद्धान्त समाप्तम् ॥

Scanned with CamScanner

★ संसार सिद्धान्त ★

: ९ :

प्रश्न १—

॥ दोहा ॥

हे भगवन् भवरूप क्या, कैसे निवृत होय।
निवृत से फल होत क्या, हेमां भाखो सोय ?

उत्तर—

॥ दोहा ॥

चितवनमात्र संसार है, नितवन विना अगाध।
ताँते चितवन त्याग कर, निशिदिन साधनसाध ॥
जो जो चितवन चित करे, त्यागो सहित विचार।
शनैः शनैः एकाग्र हो, भव का रोग निकार ॥
भूताकाश अरु चिदाकाश, दोनों शून्य अक्षोभ।
मध्यवर्ती जो चिदाकाश, ताँमे व्यापे क्षोभ ॥
ताँते जिज्ञासु तजे, चिताकाश को क्षोभ।
शेष रहे जो शान्त पद, सो निजरूप अक्षोभ ॥
तुम हो अचल अनाम अज, चिदाकाश चिद्रूप।
निराकार निर्भय अमल, परम अगाध अनूप ॥
तेरे निज अज्ञान से, उपजे भव जंजाल।
ताँते निशिदिन सावधान, अपना आप संभाल ॥
मनन मात्र संसार को, मन से वेग भुलाय।
मनन रहित निज रूप में, हेमां सहज समाय ॥

प्रश्न २—जगत क्या वस्तु है और किस विचार से निवृत्त होता है ?

उत्तर—जगत केवल मन का स्पन्द है, इससे भिन्न जगत का स्वरूप कोई नहीं। सुषुप्ति अवस्था में जब मन स्पन्द भाव को त्यागकर अपने कारण अज्ञान में लीन हो जाता है तब जगत लेशमात्र भी दृष्टि नहीं आता है। इससे सिद्ध होता है कि मन की कल्पना का नाम ही जगत है। मन की कल्पना सूक्ष्म और स्थूलरूप होकर जाग्रत और स्वप्न अवस्था में जगतरूप अखाड़ा लगा कर नाना नाम, रूप के स्वाँग और भेष रचकर जीवात्मा को रिझाती है। जब

Scanned with CamScanner

तत्व विचार द्वारा मन का स्पन्द, निस्पन्द हो जाता है तब जगत का अत्यन्त अभाव हो जाता है। इसलिए मन के स्पन्द का त्याग ही जगत का त्याग है। स्पन्द केवल विचार से निवृत्त होता है। तात्पर्य यह जब विचार से देखा कि स्पन्द आप ही शून्यरूप है तो बिम्बरूप जगत कैसे सत्य होगा? जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है। मन आकाशरूप है। अर्थात् शून्यरूप है। इसलिए इसका कार्य जगत भी आकाशरूप अर्थात् शून्यरूप है। यद्यपि अपनी कल्पना-शक्ति से नाना प्रकार के स्वभावों को रचता है तथापि अपने शून्य भाव को त्यागकर कदाचित् भिन्न भाव को प्राप्त नहीं होता। इसलिए सिद्ध हुआ कि नाना प्रकार की कल्पना के होते हुए भी कुछ हुआ नहीं, केवल शून्य ही शून्य है। आत्मा इस मन की स्पन्द शक्ति का भी प्रकाशक है। जब मन में भी जगत का अभाव सिद्ध हुआ तो आत्मा में जगत किस प्रकार सिद्ध होगा? मन का साक्षी होने से, आत्मा मन से भी सूक्ष्म है। इसलिए हमारा स्वरूप आत्मा है। इसमें मन और मन का स्पन्दरूप जगत दोनों का अत्यन्ताभाव है। केवल-केवलीरूप अपने-आप में स्थित है। ऐसे निज स्वरूप में स्थित पुरुष को निज स्वरूप की प्रतीति नहीं होती, केवल चिदाकाश ही अन्दर और बाहर प्रतीत होता है। इसलिए सब बुद्धिमान और श्रद्धालु जिज्ञासु इस रीति से अपने स्वरूप को निश्चय कर मन और मनरचित जगत से मुक्त रहें।

प्रश्न ३—संसार को शास्त्रानुसार केवल मन की कल्पनामात्र वर्णन किया है। उसका कारण क्या है और वह कल्पना किस विचार से निवृत्त होती है?

उत्तर—यह संसार निसंशय केवल मन की कल्पनामात्र है। मन से बाहर कुछ नहीं। पदार्थों में जो ममता है और शरीर में जो सम्बन्ध की मनौत है, उसीका नाम संसार है। ममता और मनौत दोनों मन में रहती हैं। इसलिए संसार को केवल मन की कल्पना-मात्र कहा गया है। जब तक ममता और मनौत निवृत्त न हों, तब तक संसार का अभाव नहीं होता। इसलिए उचित है ममता और मनौत का नाश करें। उसके नाश का यह उपाय है कि बारम्बार अपने को शरीर, इंद्रिय और अन्तःकरण से न्यारा चिन्तन करें, शरीर के साथ अपना सम्बन्ध न मानें। यदि केवल आत्म-चिन्तन से ममता और मनौत का नाश हो तो इस रीति से विचार करे कि जगत के सब पदार्थ पंचभौतिक हैं और सारे शरीर पंचभौतिक हैं। पंचभूतों से भिन्न और कोई वस्तु नहीं; पाँचभूतों में किसी प्रकार की कल्पना अथवा मनौत प्रतीत नहीं होती और आत्मा पंचभूतों से न्यारा केवल सत्चित् आनन्दरूप हैं। उसमें भी कल्पना और मनौत प्रतीत नहीं होती, बाह्य शरीर और अन्तरात्मा दोनों कल्पना और मनौत से रहित हैं, मध्य में इन दोनों के अज्ञान से जो मन उत्पन्न हुआ है, उसमें मनौत और कल्पना रहती है। यही मनौत और कल्पना संसार का स्वरूप है। मन की निवृति अज्ञान की निवृत्ति से होती है। अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होती है। इसलिए जिज्ञासु शरीर और आत्मा दोनों को मनौत और कल्पना से रहित निश्चय करे। जब इन दोनों को इस रीति से निश्चय किया, तब मनौत की सिद्धि का कोई स्थान नहीं रहता। इसलिए बारम्बार मनौत, ममता और मिथ्या कल्पना के त्याग के लिए स्वरूप का चिन्तन करता रहे। जैसे-जैसे स्वरूप स्थिति होगी

Scanned with CamScanner

वैसे-वैसे मनौत और ममता की निवृत्ति होगी। मनौत और ममता की निवृत्ति का लक्षण यह है कि मन में निन्दा स्तुति समान भासती है। मान-अपमान एक जैसा हो जाता है। अपना पराया तुल्य प्रतीत होता है। जब इस प्रकार वृत्ति 'समता' में स्थित हो जाती है, तब शेष कुछ नहीं रहता, कृत-कृत्य होकर जिज्ञासु पर कल्याण स्वरूप होता है। इसलिए उपर्युक्त रीति से ममता और मनौत के त्यागने का यत्न करता रहे कि संसार-रोग निवृत्त हो।

प्रश्न ४—जगत के बन्धनों से मुक्ति कैसे होती हे ?

उत्तर—जगत मनौतमात्र है और मनौत केवल मन का फुरना है। फुरना निराकार रूप आकाश की तरह शून्य स्वरूप है। इसलिए जगत भी शून्य स्वरूप है। शून्य के अर्थ खाली हैं। खाली कुछ नहीं को कहते हैं। इसलिए जगत कुछ नहीं। ऐसे मिथ्यारूप जगत का क्या भय है ? बड़ा आश्चर्य है कि जीवात्मा अपने को भूलकर अपनी मनौत में बंध रहा है। जब तक अपने को नहीं समझेगा, तब तक जगत के फुरने से मुक्त नहीं होगा। इसलिए उचित है कि जगत को मिथ्या निश्चय कर मन से भुलावे और अपने वास्तव स्वरूप को बारम्बार स्मरण कर हृदय में बसावें। जब तक पुरुषार्थ कर जिज्ञासु जगत की मनौत को नष्ट नहीं करेगा, तब तक किसी उपाय से यह मनौत निवृत्त नहीं होगी। इसलिए पुरुषार्थ से अपने-आपको मुक्त करना है। दूसरे किसी ने नहीं बाँधा। अपने स्वरूप के अज्ञान से ही जिज्ञासु असत्य को सत्य मानकर अपने-आपको बाँध रहा है। शीघ्र ही पुरुषार्थ करना उचित है। भाव यह कि आत्मा से भिन्न जो फुरना उठे सबको भुलावें। दिन-रात यही अभ्यास करता रहे। परमात्मा के बिना दूसरा कोई चिंतन न करे। क्षण-क्षण पल-पल में सत्चित आनन्द परमात्मा का ध्यान करे। न स्त्री की चिन्ता करे, न संतान की, न व्यवहार की, न शरीर की, न धन की, न मान की, न भूत, भविष्य और वर्तमान की चिन्ता करे। सब चिन्ताओं को त्यागकर अचिन्त रहे। ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता है। वह सबकी पालना करेगा। यह किसी की पालना करने वाला नहीं है, इस मिथ्या अहंकार को हृदय से निकाले। क्यों अपने को घर वाला, पिता, भर्ता व धनी मानता है ? अपने को केवल चेतनरूप समझे अथवा यह निश्चय करें कि न मैं हूँ, न जग है, केवल सत्स्वरूप परमात्मा है। इस रीति से अहंकार त्याग करे। जब अहंकार हृदय से निवृत्त हो जाएगा तब सारे, बंधन, सारे क्लेश, सारे दुःख, सारे ताप मिट जाएँगे। इसलिए यत्न से मिथ्या अहंकार का त्याग करें। दूसरा कोई बंधन नहीं, अपनी मनौत ही बंधन है। जब अपनी मनौत को आप छोड़ेंगे, तब न जगत रहेगा, न गृहस्थ रहेगा, न परलोक रहेगा, न बंधन रहेगा और न कोई क्लेश ही रहेगा। सबसे मुक्त होकर केवल परमानन्द में लीन रहेंगे।

प्रश्न ५—जगत को असत्य क्यों कहते हैं ? यह प्रत्यक्ष दृष्टि में आता है और इसका व्यवहार सिद्ध होता है तो इसे असत्य कैसे कहें ? यदि सत्य कहें तो भी नहीं बनता, क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में जगत का भाव नहीं रहता है। इसलिए जगत क्या है ? सत्य या असत्य ?

उत्तर—जगत न सत्य है न असत्य, किन्तु सत्य असत्य से विलक्षण अनिर्वचनीय है। तात्पर्य यह कि जगत कोई दूसरी वस्तु नहीं। यथार्थज्ञान से शून्य अपने मन के मनोराज का

Scanned with CamScanner

समूह ही जगत है। बाहर कोई जगत नहीं, जो कुछ दृष्टि आ रहा है, वह सब ही अस्ति, भाँति, प्रेयरूप है। इनके नामरूप की कल्पना ही जगतरूप है। नामरूप मनरचित है, मन से भिन्न नामरूप का स्वरूप लक्षण भासता नहीं। इस रीति से जगत के दर्शन में दो वस्तुओं का ज्ञान होता है। एक अस्ति, भाँति, प्रेय और दूसरा नामरूप। इसमें से अस्ति, भाँति, प्रेय, समरूप होने से अचल अर्थात् सत्य है और नामरूप असत्य और मनोमय होने से चंचल, अनिर्वचनीय अर्थात् सत्य असत्य से विलक्षण है। सुषुप्ति अवस्था में नामरूप का अभाव होता है और अस्ति का अभाव नहीं होता। जाग्रत अवस्था में अज्ञान की प्रबलता से नामरूप प्रत्यक्ष प्रतीत होता है, इसलिए नामरूप एक रस नहीं, व्यभिचारी है। जो वस्तु व्यभिचारी हो, उसे मिथ्या अर्थात् कुछ नहीं कहते हैं, इसलिए जगत कुछ नहीं। जो है, सो है, वही भासता है और वही व्यवहार देता है, उसका नाम कोई नहीं, क्योंकि मन से अगोचर है। अज्ञानी जन उसे न जानकर भिन्न-भिन्न विशेषणों और नामों की संज्ञा देते हैं, इसलिए अद्वैत वस्तु में द्वैत की कल्पना का भ्रम होकर जिज्ञासुओं को संशयरूप महाघोर वन में भ्रान्त कर रहा है। जब जिज्ञासु यथार्थ वेत्ता के वचन को सत्य प्रतीत कर द्वैत की कल्पना हृदय से दूर करता है, तब जगत की दृष्टि से अंध होकर सत्ता सामान्य का दर्शन जहाँ कहाँ करता है।

प्रश्न ६—जगत की उत्पत्ति और नाश का कारण क्या है? यह क्यों उत्पन्न और नष्ट होता है?

उत्तर—जगत की उत्पत्ति और नाश का कारण अज्ञान है। तात्पर्य यह कि अज्ञान से जगत उत्पन्न होता है और ज्ञान से जगत नष्ट हो जाता है। इसलिए अज्ञान जगत की उत्पत्ति का कारण और ज्ञान जगत के नाश का कारण है। वास्तव में न कुछ उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। जैसे स्वप्न सृष्टि न कभी उत्पन्न होती है और न कभी नष्ट होती है; केवल निद्रा दोष से प्रतीत होती है। निद्रा का आना स्वप्न की उत्पत्ति का कारण है और निद्रा का निवृत्त होना स्वप्न की निवृत्ति का कारण है। वैसे ही अज्ञान जगत की उत्पत्ति का कारण और ज्ञान जगत के नाश का कारण है। वास्तव में अद्वैत वस्तु अपने-आपमें स्थित है। यह उत्पत्ति और नाश जो ज्ञान और अज्ञान का कार्य हैं, प्रवाहरूप है। दोनों अन्तःकरण का धर्म हैं और अन्तःकरण शरीर पर्यन्त रहता है। इसलिए शरीर पर्यन्त जगत उत्पन्न और नष्ट होता रहता है, जब ज्ञान अन्तःकरण में प्रबल होता है तब जगत नहीं भासता, इसलिए जगत की उत्पत्ति और नाश भी अन्तःकरण का कर्म है। जैसे, जब तक शरीर रहता है, तब तक स्वप्न आता रहता है क्योंकि निद्रा का स्वरूप हैं। जब तक निद्रा है तब तक स्वप्न है। यद्यपि सुषुप्ति में स्वप्न का अभाव होता है, परन्तु वह अभाव केवल क्षणिक है और निद्रा दोष से है इसलिए अत्यन्ताभाव नहीं। अत्यन्त अभाव शरीरपात के उपरान्त होगा, क्योंकि स्वप्न भी अन्तःकरण का कर्म है। सो जब तक अन्तःकरण रहेगा तब तक स्वप्न भी रहेगा। ऊपर सिद्ध हो चुका है कि जगत की उत्पत्ति और नाश भी अन्तःकरण के कर्म हैं। सिद्ध हुआ कि स्वप्न की उत्पत्ति और नाश भी अन्तःकरण के कर्म हैं इसलिए जगत और स्वप्न एक रूप हुए। जैसे स्वप्न अकारण है, प्रयोजन के बिना उत्पन्न और नष्ट होता है। जो वस्तु प्रयोजन

Scanned with CamScanner

के बिना उत्पन्न और नष्ट हो, वह कारण मात्र अथवा प्रतीत मात्र होती है इसलिए जगत की उत्पत्ति और नाश कहने मात्र हैं, वास्तव में जगत न उत्पन्न हुआ है औ न नष्ट होता है।

प्रश्न ७—संसार को किस प्रकार हृदय से निकालें ?

उत्तर—संसार कोई वस्तु नहीं, केवल मन की मनौत ही संसाररूप है। जैसे-जैसे मनौत निवृत होती जाएगी, वैसे-वैसे संसार निवृत होता जाएगा। मनौत की निवृति आत्म-ज्ञान के बिना ऐसी असम्भव है जैसे तम की निवृति प्रकाश के बिना असम्भव है। इसलिए जिज्ञासु ज्ञान की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करे। नित्यप्रति एकान्त देश में स्थित होकर सद्शास्त्र का विचार करे और उसके तात्पर्य को अपने बुद्धि के साथ तदाकार करके निश्चल करे। शेष समय में मन को शास्त्र के बिना आत्म-ध्यान में मग्न करे। जो-जो उप-देश सद्गुरु से श्रवण किया है उससे स्मरण करें। जो-जो संकल्प देह अध्यास सहित हृदय में उत्पन्न हों, उनका त्याग करें। अपने नाम से लेकर ईश्वर के नाम पर्यन्त सब नामों और शब्दों को मन रचित जानकर विस्मरण करें, शेष निर्विकल्प और अशब्द पद में स्थिति का का अभ्यास करें। शरीर के निर्वाह के लिए वैराग्य, विचार, धर्म, सन्तोष, मित्रता और धैर्य को सेवन करता रहे अर्थात् इन्ही स्वभावों को धारकर व्यवहार और गृहस्थ में बरतता रहे। अपने को गृहस्थी कदाचित् न माने, व्यवहारी न जाने, धनी प्रतीत न करे, किसी प्रकार की मनौत हृदय में न रखे। जब इस रीति से कल्पित और मिथ्या मनौत का बांध अर्थात् प्रत्यक्ष अभाव प्रतीत हुआ, उस समय संसार अत्यन्त निवृत हो जावेगा और जो कुछ भासेगा वह निर्विकल्प और अशब्द प्रतीत होगा इसलिए उचित है कि इस रीति से अभ्यास कर संसार अपने हृदय से निकालें।

प्रश्न ८—शास्त्रों में जगत को मिथ्या क्यों निरूपित किया है, इसका तात्पर्य क्या है किस प्रयोजन से इसे मिथ्या सिद्ध किया है ? कृपा कर जगत का यथार्थ स्वरूप वर्णन करें कि जगत मिथ्या है या सत्य ?

उत्तर—जगत न मिथ्या था, न मिथ्या है और न मिथ्या होगा। इसे मिथ्या निरूपण करने से कुछ लाभ प्राप्त नहीं होता क्योंकि जगत कोई वस्तु नहीं केवल तीन अक्षर ज, ग और त मिलकर जगत का शब्द उत्पन्न करते हैं, इस शब्द से भिन्न जगत का कोई स्वरूप नहीं। यदि इन तीनों अक्षरों को मिथ्या निश्चय करें तो यह भी मिथ्या सिद्ध नहीं होते क्योंकि जब से वचन के उच्चारण, लेखन और विचार का प्रचार हुआ है तब से अनन्त मनुष्यों ने इन तीन अक्षरों को भिन्न-भिन्न युक्तियों और दृष्टान्तों से खण्डित किया है तो भी यह अक्षर अब तक प्रसिद्ध और स्थिर चले आते हैं। इसलिए यह तीन अक्षर भी सत्य और स्थित हैं और इनका शब्द भी सत्य और स्थिर है। यदि मिथ्या अक्षर को विचारें, वह भी नदी के प्रवाह के समान आदि से वाणी और लेखनी में प्रसिद्ध चला आता है। आज तक मिथ्या का शब्द भी मिथ्या नहीं हुआ बल्कि उसी प्रकार अपनी सत्ता में सत्य चला आता है। दूसरा पदार्थ इसकी उपमा से कैसे मिथ्या होगा ? इसलिए मिथ्या भी सत्य है। ऐसी दशा में निरर्थक मनरचित युक्तियों और कल्पित दृष्टान्तों के श्रवण से क्या लाभ ? उन वचनों

Scanned with CamScanner

को सुनने से श्रोता की दृष्टि से जगतनष्ट नहीं हो जाता, किन्तु जो कुछ है वैसा रहता है।

जिसे लोग जगत कहते हैं, वह ब्रह्म है, अज्ञान से इसे जगत निश्चय करते हैं। यदि वास्तव दृष्टि से देखें तो यह वह वस्तु है, जिसका ज्ञान आज तक किसी को नहीं हुआ। विद्वान लोग अपने बुद्धि से कपोल कल्पित शब्दों को अक्षरों में मूर्तिमान कर केवल कागजों के ढेर लगा कर चले गए हैं। वह कागज़ भी जगत की सामग्री में एकत्र हो गए हैं, अब उन कागज़ों के शास्त्रों को किस प्रकार जगत के नाश करने वाला प्रतीत करें? उनका स्वरूप भी पंचभौतिक हैं। भौतिक पदार्थ भौतिक पदार्थ के नाश करने में समर्थ नहीं होता किन्तु दोनों एकरूप होकर परस्पर एक दूसरे के बाधक रहते हैं। इसलिए इन अक्षरों से जगत की निवृति नहीं हो सकती। यदि जगत कोई वस्तु होती तो किसी कर्म या उपाय से इसकी निवृति होती। जगत केवल मनौत, संशय विपर्ययज्ञान, भ्रम, मिथ्या प्रतीत, शब्द व अक्षर है। इसकी निवृति यथार्थ ज्ञान से हो सकती है। ज्ञान का विरोधी भी ज्ञान है। विपर्यय ज्ञान को यथार्थ ज्ञान द्वारा विचारा जाए, विपर्यय भाव मध्य से निवृत होकर केवल यथार्थ ज्ञान शेष रहता है। ज्ञान समान है, उस ज्ञान को जगत मानना विपर्यय है और ब्रह्म मानना यथार्थ है।

जगत के अर्थ अनेक हैं और ब्रह्म के अर्थ पूर्ण हैं। यद्यपि अनेक और पूर्ण एक अर्थ वाले प्रतीत होते हैं परन्तु अनेकता के कहने से एक वस्तु अनेक रूप होकर प्रतीत होती है और पूर्ण कहने से एक वस्तु एक रूप होकर प्रतीत होती है। अर्थ यह कि ज्ञान को जगत रूप कहने से अनेकता प्रतीत होती है और ज्ञान को ब्रह्म रूप कहने से एकता प्रतीत हीती है इसलिए ज्ञान को ज्ञान द्वारा विचारकर यथार्थ ज्ञान को स्वीकार करना है। इससे भिन्न न कुछ ग्रहण करना है न त्याग, न कुछ मिथ्या है, न कुछ सत्य। जो है सो है और वह सत्यरूप और ज्ञान रूप अपने आप में स्थित है। यह तत्वविचार सार है, इस विचार के बिना शास्त्रों का ज्ञान केवल बालकों का खेल है। यद्यपि ज्ञान का साधन श्रोत सम्बन्धी बाक्य हैं, तथापि केवल श्रोत ही ज्ञान को दृढ़ नहीं कर सकता। श्रोत के अनन्तर वचन का विवेक और विवेक के अनन्तर वचन के अयथार्थ भाग का त्याग और त्याग के अनन्तर वचन के यथार्थ का मनन और दृढ़ निदिध्यासन श्रवण के परमार्थ को साक्षात्कार अर्थात् अपरोक्ष अनुभव करा कर मध्य भावी संशय और विपर्ययसे मुक्त करते हैं।

वास्तव में कोई वस्तु अपने स्वरूप का त्याग नहीं कर सकती। न कोई वस्तु नष्ट होती है और न कोई प्राप्त होती है, केवल विपर्यय ज्ञान निवृत्त होकर शान्ति और स्थिति प्राप्त होती है। विपर्यय ज्ञान भी कहीं आता-जाता नहीं किन्तु जैसे तम प्रकाशरूप हो जाता है और तम संज्ञा को त्यागकर प्रकाश कहा जाता है, वैसे ही विपर्यय ज्ञान यथार्थज्ञान से मिलकर यथार्थरूप हो जाता है। यथार्थज्ञान की संज्ञा प्राप्त कर यथार्थज्ञान कहलाता है। यथार्थ वस्तु अद्वैत और स्वस्थित है। केवल प्रच्छिन्नता में उस वस्तु की सत्ता दो प्रकार से निश्चित होती चली आती है। उस वस्तु के मनोमय स्वरूप को ब्रह्म, परमात्मा आदि नामों से बुलाते हैं। उस वस्तु के भौतिक स्वरूप को जगत आदि नामों से बुलाते हैं, क्योंकि जगत

Scanned with CamScanner

में मन के साथ प्रीति और मन रचित पदार्थों पर प्रतीति अतिशय बलवान हो रही है, इसलिए मनोमय स्वरूप पर सबजनों को प्रीति और प्रतीति है। जब यथार्थवेत्ता मनोमय स्वरूप को केवल भौतिक स्वरूप समझते हैं और यह बताते हैं कि मन शरीर के बिना स्थिर नहीं रह सकता। इसलिए मन का शरीर ही हमारे सन्मुख है। हम जगत के नाम से प्रसिद्ध कर मिथ्या और असत्य मानकर उससे भयभीत होकर उसका त्याग कर रहे हैं। उससे भाग रहे हैं। उससे भागना अथवा उसे त्याग करना उचित नहीं। वह मनोमय स्वरूप जिसके प्रेम में हम निशिदिन मतवारे और दीवाने हो रहे हैं, इस भौतिक स्वरूप के बिना अपना दर्शन नहीं देगा। जैसे एक शरीर का नाम यद्यपि संकल्प रूप होकर हमारे हृदय में स्थित है तथापि शरीर के दर्शन बिना उसका दर्शन नहीं हो सकता। इसलिए नाम मनोमय स्वरूप है और शरीर भौतिक स्वरूप है। वैसे ही ब्रह्म नाम है और जगत शरीर है। ब्रह्म का नाम जगत के दर्शन बिना देखा नहीं जा सकता। इसलिए ब्रह्म और जगत एक वस्तु के नाम हैं। ये दोनों भी एक अर्थ देते हैं। इन नामों के भेद से भी वस्तु में भेद प्रवेश नहीं कर सकता। इसलिए वस्तु पर निश्चय करना उचित है, नामों पर निश्चय करना उचित नहीं।

जगत में जितने वेद शास्त्र, पुराण, अंजील, इतिहास, कहानियाँ, किस्से आदि प्रसिद्ध हैं, वह सारे उन दो अक्षरों के खंडन और मंडन में है, कई ब्रह्म अक्षर का मंडन करते हैं तो कई जगत अक्षर का खंडन करते हैं। कई जगत अक्षर का मंडन करते हैं तो कई ब्रह्म अक्षर का खंडन करते हैं। परन्तु इन सब के खंडन मंडन के होते हुए भी वस्तु अपने-आप में स्थित है। न इसका खंडन हुआ है, न होता है और न होगा; जब खंडन ही नहीं तो मंडन किस प्रकार सिद्ध होगा? इन दोनों कल्पनाओं से शुद्ध स्वरूप नित्य स्थित अपने में आप है। इस रीति से वस्तु विचार कर यथार्थ ज्ञान का दृढ़ निश्चय करना सुख व विश्राम का हेतु है। इसके बिना सब कपोल कपोल कल्पना है। इसलिए त्यागने योग्य है। जब ऐसा यथार्थ ज्ञान बुद्धि में निश्चय हो जाता है, तब ब्रह्म और जगत का भेद निवृत्त होकर ऐसी अवस्था प्राप्त होती है। इसमें मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार और वाणी की गम्य नहीं, वही सत्य है और वही सत्य है और वही सबका स्वरूप है और सब कुछ है।

प्रश्न ६—संसार का स्वरूप और निवास कहाँ है और उससे तरने का उपाय क्या है?

उत्तर—हे मुक्ति के जिज्ञासु! परारूप धरती में पश्यन्ती रूप बीज से मध्यमारूप डार उत्पन्न होकर वैक्षरी रूप मूल प्रकट होता है। इससे अक्षररूप शाखा उदय होकर पुष्ट होती है और नाना नाम अनन्त पत्तों के समान उन शाखाओं से उत्पन्न होकर प्रफुल्लित होते हैं और नाम रूप पत्तों से अर्थरूप फूल विकसित होकर राग द्वेषरूप सुगन्धि फैलाते हैं और अर्थरूप फूल ज्ञानरूप फल में समाप्ति पाते हैं। ऐसा एक तरुवर केवल शब्दरूप है, इसी का नाम संसार है, इससे भिन्न संसार कोई नहीं। संसार शब्दरूप है और वह शब्द आकाश की तनुमात्रा होने से आकाशरूप है, आकाश शून्यरूप है। इसलिए संसार भी शून्यरूप है। शब्द से भिन्न संसार का लक्षण और कोई नहीं और वह शब्द शून्यरूप है, शून्य के अर्थ कुछ नहीं हैं। इसलिए शब्दरूप संसार कुछ नहीं। इस रीति से शब्द का विचार कर शब्द को शून्यरूप निश्चय

Scanned with CamScanner

कर संसार से पार उतरना पररूप परमात्म तट पर स्थित होना है।

जगत का स्वरूप अज्ञानियों का शब्द है। जगत का विकास अज्ञानियोंके हृदय में है। इसलिए अज्ञानियों के शब्द और संग से उपरत रहना मानो जगत से पार रहना है। केवल सद्गुरु के शब्द को सत्य प्रतीत करे। उस पर निश्चय करे। सब शब्दों को श्वान व गीदड़ के शब्दों की तरह जानकर चित्त से भुलावे। किसी की निन्दा और स्तुति की ओर अपनी वृत्ति को न लगाए। सारे प्रपंच के लोगों को मृतक समझ सद्गुरु को अमर निश्चय करे। जैसे मृतक भूत होकर पीछे से शब्द करते हैं, वैसे ही संसारी लोग भूत की तरह चिपटते हैं। भूत को उत्तर कोई नहीं देता, यदि उत्तर दे तो भूत दुःख देता है। संसारी के शब्द पर प्रतीत करना मानो दुःख सहारना है और उनके शब्दों को भूतों के शब्दों की तरह जान उनसे अज्ञात रहना संसार से पार उतरना है। इसलिए जिज्ञासु अपनी रक्षा के लिए पूर्वोक्त मंत्र हृदय में धारकर शब्द-मात्र जगत से मुक्त रहे।

प्रश्न १०—संसार का सम्बन्ध किससे है? इसकी निवृत्ति और एकाग्रता कैसे होती है?

उत्तर—संसार स्थूल पदार्थ नहीं है वरन् अतिशय सूक्ष्म है। इसका सम्बन्ध चित्त के साथ सदा बना रहता है, चित्त और संसार मानो एक ही वस्तु के नाम हैं। इतना भेद है कि जब चित्त देह के अन्दर चिंतन करता है, तब चित्त कहा जाता है और जब इन्द्रियों द्वारा बाहर निकलकर अपने रचे हुए पदार्थों को अपने चिंतन के अनुसार देखता है तब संसार कहलाता है। इसलिए सिद्ध हुआ कि चित्त ही संसाररूप है और चित्त ही चेतनरूप है। चित्त का अर्थ चेतन है, जब चित्त अनेकता का त्यागकर एकता की चिंतन करता है, उस समय चित्त अन्दर ही स्थित रहकर एकाग्र हो जाता है और निजानन्द का अनुभव करता है। वह इन्द्रिय द्वारा अनेकता स्थित बाहर निकलकर एकता का दर्शन करता है। जितना पसारा है, सारा चित्त का है। चित्त में अनेकता स्थित होती है, तब अनेकता को देखता है। जब एकता स्थित होती है तब एकता को देखताहै। इसलिए सदा अपने चित्त को एकता में स्थित रखें जिससे एकाग्र अवस्था सब महात्माओं से पूज्य और चित्त की पंचम अवस्था प्राप्त हो। उस एकाग्रता का सुखेन उपाय सत्संग और सत्शास्त्र विचार है। जो पुरुष श्रद्धापूर्वक निरन्तर इन दो महापूज्य साधनों का अभ्यास करता है और मनन निदिध्यासन से उनके तात्पर्य को अपना रूप बना लेता है, वह पुरुष परमानन्दरूप अवस्था को प्राप्त होता है। इसलिए परमानन्द की प्राप्ति के लिए भेदरहित सत्संग, सत्विचार सत्शास्त्र चिन्तन और सत्यधर्म सेवन का प्रचार दृढ़ रखें, इससे दीर्घकाल से चित्त को रोगी करने वाले संसार रूपी रोग शनैः-शनैः निवृत्त हो जावे।

प्रश्न ११—

॥ दोहा ॥

जगत जगत जो होत है, ताँको क्या है रूप।
किस प्रकार नाशे जगत, भासे स्वतः स्वरूप?

उत्तर—

॥ दोहा ॥

संसकार से जग भयो, अवर जगत नहीं रंच।
संसकार ज्यों क्षीण हुए, त्यों नाशे परपंच॥

Scanned with CamScanner

श्रोत सवन्धी वाक्य से, संसकार होय सिद्ध।
वाक्य बिना संसार को, संसृत जान असिद्ध॥
जो चाहें तू जगत का, होय अत्यन्ताभाव।
त्याग संग विचरो अमल, भीने स्वतः स्वभाव॥
जग है मन की कल्पना, त्यागो सहित विचार।
निज पद में इस्थित रहो, भूले सब संसार॥
नामरूप का अन्त नहिं, अस्ति, भाँति, प्रेय एक।
ताँते नाना भाव तज, गहो एक की टेक॥
अस्ति भाँति प्रेय आत्मा, सो है तेरो रूप।
आप खोज इस्थित रहो, त्यागो भ्रम तम कूप॥
जो कुछ बाहर देखिये, सो तेरो आभास।
तू विस्तीर्ण शक्ति इक, इस्थित स्वयं प्रकाश॥
भूल आपको देखते, बाहर नाना भाव।
बालक ज्यों धावत फिरो, त्याग अडोल स्वभाव॥
कब तक भव को देखके, विकसोगे तुम मीत।
कब तक अपने स्वप्न से, बाँधोगे तुम चीत॥
जहाँ तू तहाँ ही सृष्टि है, तुम बिन सृष्टि न होय।
सृष्टि सकल अपने विखे, रवि प्रकाश ज्यों जोय॥
तू सागर जग लहर है, तू सूरज जग धूप।
तू चन्दा जग चाँदनी, तू दीपक जग रूप॥
ताँते निज इस्थित रहो, अचल अडोल अखंड।
लखो आपको एक रस, पूरण खंड ब्रह्म ड॥
द्वैतभाव नहिं देखिये, अन्दर बाहर मीत।
हेमराज समता गहो, स्वस्थ रखो निज चीत॥

प्रश्न १२—जगत क्या है? इससे प्रीति का फल और निवृत्ति का उपाय क्या है?

उत्तर—जगत केवल संकल्पमात्र और शब्द रूप है। संकल्प और शब्द से मनुष्य हर्ष, शोक, दुःख-सुख, पुण्य-पाप, वैर मित्रता आदि क्लेश भोग रहे हैं। यदि विचार से देखे तो संकल्प और शब्द दोनों आकाश के अंग हैं। आकाश शून्य रूप है, इसलिए संकल्प और शब्द भी शून्य रूप है। जगत और संकल्प शब्द का संघात है। इसलिए जगत भी शून्य रूप है, ऐसे शून्यरूप जगत पर चित्त बाँधना अविद्या है। इस विचार को हृदय में धारकर सदा जगत की स्मृति से शुद्ध रहना उचित है। भाव यह कि जगत के संकल्प और शब्द से मुक्त रहे कि किसी पर प्रतीत कर अपने को न बाँधे। निरन्तर इस विचार को हृदय में धार कर जगत से उपरत रहे। यही जगत की निवृत्ति है। इसके बिना और किसी प्रकार से इसकी निवृत्ति नहीं हो सकती।

संकल्प और शब्द से प्रथम वह सत्य है, उसी में स्थित रहना उचित है। सत्य वस्तु

Scanned with CamScanner

जल है, संकल्प और शब्द उसके तरंग हैं और प्राण पवन है। जब तक प्राण रूप पवन रहती है, तब तक संकल्प और शब्द के तरंग उठते रहते हैं। यथार्थज्ञानी उन तरंगों की ओर दृष्टि न लगा कर उनके अधिष्ठान रूप सत्य वस्तु की ओर दृष्टि लगाते हैं। संकल्प और शब्द के होते ही उनके दुःख-सुख से मुक्त रहते हैं। सब मुमुक्षु जन संकल्प और शब्द को त्यागकर निस्संकल्प और अशब्द अवस्था में स्थित हों, कि सब दुःख निवृत्त होकर परमानन्द प्राप्ति हो।

प्रश्न १३—जगत केवल शब्द मात्र है प्रतिदिन नये-नये शब्दों को सुनने का अभ्यास रहता है। इससे हृदय में निरन्तर नवीन जगत उत्पन्न होता है। ऐसे शब्द रूप जगत की निवृत्ति किस उपाय से होती है ?

उत्तर—जब सद्गुरु के शब्द पर दृढ़ निश्चय होता है, सब दूसरे शब्द मिथ्या और निरर्थक प्रतीत होते हैं। सद्गुरु के शब्द पर निश्चय करने से दूसरे शब्दों के भ्रम से मुक्ति होती है। इसके बिना शब्द रूप जगत की निवृत्ति किसी प्रकार नहीं हो सकती। शब्द की प्रवृत्ति भी शब्द से होती है और निवृत्ति भी शब्द से होती है। जब शब्द को शब्द के आसरे सत्य प्रतीत करता है, यह शब्द की प्रवृत्ति है और जब शब्द को शब्द के आसरे मिथ्या और निरर्थक निश्चय करता है, यह शब्द की निवृत्ति है। शब्द ही शब्द को पार करने वाला है और सद्गुरु शब्द दूसरे शब्दों को मिथ्या प्रतीत करता है, इसलिए केवल सद्गुरु का शब्द ही शब्द रूप जगत की निवृत्ति का उपाय माना गया है।

प्रश्न १४—संसार हृदय से विस्मरण नहीं होता और अज्ञान निर्बल होकर नष्ट नहीं होता। इसका क्या कारण है ? किस उपाय से अज्ञान नष्ट होकर संसार की निवृति हो ?

उत्तर—यह संसार तुम्हारा संकल्प व मनोराज है। जब तुम अपने स्वरूप को भूल कर कल्पित शब्दों को सत्य प्रतीत करते हो तब संसार तुम्हारे हृदय में उत्पन्न होता है। जब तुम अपने स्वरूप को स्मरण कर कल्पित शब्दों को मिथ्या प्रतीत करोगे, तब संसार नष्ट हो जाएगा। इसलिए कि अपने मनौत को आप ही मिथ्या जानकर अपने मन से भुलाते रहो। सम्बन्ध अर्थात् पिता, पुत्र, स्त्री, माता आदि भी मनौत मात्र हैं। इसलिए सारे सम्बन्ध कल्पित हैं। कल्पित शब्द के मोह से बंधकर दुःख सहारना अज्ञान है। सावधान होकर अपने आपको सम्भालो और इस कल्पित मनौत रूप अंधे कूप से अपने को निकालो। जैसे आत्मज्ञान का अभ्यास करोगे वैसे संसार की प्रतीत अल्प होती जाएगी। जैसे संसार की प्रतीत अल्प होगी वैसे आत्मानन्द अधिक होगा। इसलिए बाहर से गृहस्थ में बरतो और व्यवहार करो परन्तु अन्तर किसी के साथ मोह न लगाओ। न अपने चित को किसी वस्तु के साथ फँसाओ, न किसी सम्बन्धी के उत्पन्न होने से आनन्द मनाओ ; न किसी के मरने से आँसू बहाओ और न धन के लाभ हानि से हर्ष शोक के जाल में फँसो। इन सब को असत्य और कल्पित मानकर समता और धैर्य से काल निभाओ। किसी वस्तु या किसी प्राणधारी का तुम्हारे साथ सम्बन्ध नहीं है। अज्ञान से तुमने अनेक प्राणियों और भिन्न-भिन्न पदार्थों को अपना माना हुआ है, इसलिए उनके संयोग से हर्षित और वियोग से शोकवान होते हो। यदि तुम किसी को अपना न मानो तो हर्ष और

Scanned with CamScanner

शोक से मुक्त होकर अपने काल को व्यतीत कर सकोगे। सारे लोग अज्ञानी है, अहंता ममता के बिना और कुछ नहीं जानते। रात दिन मैं मेरी करते रहते हैं और इसी के लिए लड़ते रहते हैं, तुम्हारी संगत भी इन्हीं लोगों के साथ रहती है। उनका रंग तुम्हारे हृदय पर चढ़ता है। यही कारण है कि ज्ञान अपना बल नहीं पा सकता। यदि अज्ञानियों की संगति न हो, केवल ज्ञानियों की संगति हो सद्गुरु के उपदेश की संगत हो और एकान्त देश में निवास हो तो ज्ञान अपना बल पाकर अज्ञान और अज्ञान रचित मैं मेरी रूप संसार का नाश कर देता है। यदि अज्ञानियों की संगत बनी रहे और साथ ही आत्मज्ञान का संकल्प रहे तो दीर्घ काल के उपरान्त ज्ञान बल से अज्ञान का बल घटता है। यह भी नियम है कि यदि अभ्यास दृढ़ रहे तो अज्ञान नष्ट हो जाता है। यदि अभ्यास छूट जावे और माया के व्यवहार में मन लग जावे तो अज्ञान आगे से भी अधिक बलवान होकर प्राप्त ज्ञान को भी नष्ट कर देता है। इसलिए जीवनमुक्त जिज्ञासु बाहर से अज्ञानियों की संगति का त्याग करे और अन्दर से अज्ञानियों के शब्दों की प्रतीत, सम्बन्धियों के मोह, पदार्थों के लोभ और दूसरी चिंता का त्याग करे। केवल बाहर से सब के साथ व्यवहार रखे, परन्तु अन्तर से केवल कमल फूल की तरह निर्लेप रहे, शरीर का परम प्रयोजन जीवनमुक्ति होगी।

प्रश्न १५—संसार समुद्र के पार उतरने का जहाज़ कौन-सा है ?

उत्तर—संसार संशय का समुद्र है। जीव अपने स्वरूप के अज्ञान से इस संशय रूप सागर में गोते खा रहा है। जब जीव निज स्वरूप का ज्ञाता होकर संसार को देखता है तब संसार नहीं भासता। इसलिए केवल निज स्वरूप का ज्ञान ही संसार के पार उतरने का जहाज़ है। इससे भिन्न और जितने उपाय हैं, वे सारे संशय रूप सागर में डूबने के हैं। इसलिए जीव निज स्वरूप के ज्ञान से भूषित होकर परमानन्द में स्थित रहे।

प्रश्न १६—जगत में सुख है या नहीं, यदि है तो किसमें है ?

उत्तर—जगत में सुख कहीं नहीं, सुख केवल आत्म विचार में है। वह विचार केवल महापुरुषों के उपदेश से प्राप्त होता है। यह जगत दुःखों का खेत है, चिन्ता का भण्डार है, संकल्पों का गवाह है, पराधीनता का अखाड़ा है, भय का स्थान है, अज्ञान का समुद्र है और संशयों की खान है। ऐसे जगत में सुख कहाँ ? अज्ञान से मनुष्य उसमें बंधा है। दूसरा, यह जगत बाहर नहीं केवल मन की मनौत है। जिस पदार्थ व शरीर में मनौत होती है उसमें दुःख व सुख हर्ष अथवा शोक प्राप्त होता है। जब आत्मविचार द्वारा मन की मनौत निवृत हो जाती है, तब सदा प्रसन्नता और समता रहती है इसलिए निरन्तर विचार से इस मनौत को अपने हृदय से निकालते रहो।

प्रश्न १७—शास्त्रों में लिखा है कि सब दृश्य पदार्थ स्वप्नवत् वा मृगतृष्णा के जलवत् अथवा रज्जु में सर्पवत् हैं। इसमें शंका यह है कि स्वप्न जाग्रत से निवृत हो जाता है, मृगतृष्णा का जल सूर्य के ज्ञान से निवृत हो जाता है, रज्जु में सर्प रज्जु के ज्ञान से निवृत हो जाता है परन्तु यह दृश्य पदार्थ तो वर्षों पर्यन्त ज्यों के त्यों भासते चले आते हैं। पिता के स्थान पुत्र और पुत्र का स्थान पौत्र प्रवाह रूप से चला आता है इसलिए दृश्य पदार्थ स्वप्न-

Scanned with CamScanner

वत्, मरुस्थलवत् या रज्जु सर्पवत् कैसे हुए ?

उत्तर—दृश्य के अर्थ हैं जो देखने में आवे। दो शब्दों से बना हैं। एक पद द्वितीय अर्थ। पद का अर्थ शब्द और अर्थ का अर्थ वस्तु हैं। इसलिए दृश्य पदार्थ के अर्थ यह हैं कि देखने में जितने शब्द और उनसे सिद्ध वस्तुएँ भासती हैं। नामरूप भासता है, उसे दृश्य पदार्थ कहते हैं। इस प्रकार के दृश्य पदार्थ स्वप्नवत् हैं। जैसे स्वप्न द्रष्टा पुरुष का दृश्य स्वप्न है। उस दृश्य में भिन्न-भिन्न पद और भिन्न-भिन्न अर्थ स्वप्नद्रष्टा की कल्पना हैं। एक ही स्वप्नद्रष्टा मानों स्वप्नदृश्य पदार्थ रूप होकर अपने को आप देखता है। एक ही चेतन द्रष्टा दर्शन और दृश्य रूप होकर स्थित है, अद्वैत वस्तु मानो अपने में आप है। जैसे स्वप्नद्रष्टा पुरुष के अन्तर ही स्वप्न उत्पन्न होता, स्थित रहता और नाश हो जाता है, बाहर कोई लक्षण स्वप्न का प्रतीत नहीं होता। केवल अद्वैत रूप शरीरमात्र प्रतीत होता है। इसलिए उसके सब दृश्य को स्वप्न कहते हैं; स्वप्न दो अक्षरों से बना है। एक स्व, दूसरा पन, स्व के अर्थ अपना-आप और पन के अर्थ अवस्था है, इसलिए स्वप्न के अर्थ अपनी अवस्था है। वैसे ही प्रपंच भी चेतन की चेतनता है। इसलिए महान ज्ञानियों ने इसे स्वप्न की उपमा दी है। यह समझाया है कि यह जगत नहीं किन्तु चेतन की चेतन अवस्था है। इसलिए चेतनरूप है। चेतन के अर्थ सत्ता स्फुरण है। सत्ता स्फुरण अपने स्वभाव में स्थित है। इसलिए उसके स्वभाव को स्वप्न कहा गया है। भाव यह कि अपनी अवस्था कही गई है। इस प्रकार सर्व ही दृश्य पदार्थ स्वप्न है। ये अपने-आप में स्थित हैं और नित्य ही अपनी मर्यादा में प्रवाहरूप से चले आते हैं। यह चेतनरूप है। इसलिए सब ही सत्य है और अपने-आप में स्थित है। जगत को स्वप्नवत् कहने से ऐसा न समझना कि जगत मिथ्या है वरन् सत्य है और चेतन की निज अवस्था है।

जो लोग सब दृश्य पदार्थों को मृगतृष्णा के जलवत् कहते हैं, उनका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सूर्य की किरणें और बालू के कण मिलकर जल प्रतीत होता है, वास्तव में वह जल नहीं होता। सूर्य और बालु के अज्ञानी को जल भासता है, इसलिए उस जल को मिथ्या मानते हैं। यदि यथार्थ रीति से देखें तो वह जल भी मिथ्या नहीं, क्योंकि जल का अधिष्ठान सूर्य सत्य है। जब अज्ञानी को सूर्य का ज्ञान होता है और वह निश्चय करता है कि सूर्य का प्रकाश बालु और मरुस्थल के साथ मिलकर जल प्रतीत होता था। उस समय जल का अभाव कहीं नहीं होता, किन्तु वह जल सूर्यरूप प्रतीत होता है। सूर्य नित्य ही प्रवाहरूप से प्रकाशित है। इसलिए सूर्य का प्रकाश जो जलाभास है, वह भी प्रवाह रूप से नित्य ही भासता है। वैसे ही सब दृश्य पदार्थ अर्थात् नामरूप चेतन रूप सूर्य का प्रकाश है। सब पदार्थ अविद्या से चेतन से भिन्न दृश्य रूप होकर प्रतीत होते हैं। अविद्या के नष्ट होने से निश्चय होता है कि चेतन ही अपनी सत्ता-स्फुरण से नामरूप है। तब दृश्य पदार्थों का कहीं अभाव नहीं होता, किन्तु सब दृश्य पदार्थ चेतन प्रतीत होते हैं। जब चेतन सत्य है, सब दृश्य पदार्थ भी प्रवाह रूप से सत्य हैं। मृगतृष्णा जल के दृष्टान्त से ऐसा नहीं समझना कि प्रपंच या दृश्य मिथ्या है किन्तु ऐसा समझना कि प्रपंच द्रष्टारूप होकर चेतन है, इसलिए सत्य है।

Scanned with CamScanner

जो लोग जगत को ब्रह्म में ऐसे मानते हैं जैसे रज्जु में सर्प है, उसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार एक ही रज्जु ज्ञान और अज्ञान के बल से दो स्वरूप प्रतीत होती है, ज्ञान से रज्जु और अज्ञान से सर्प। रज्जु दृष्टि में निर्भयता और निश्चलता होती है और सर्प दृष्टि में भय और विक्षेप्ता होते हैं। वास्तव में वस्तु एक है, ज्ञान-अज्ञान अथवा तम प्रकाश के भेद से भिन्न-भिन्न प्रतीत होने से सुख अथवा दुःख, भय अथवा निर्भयरूप हो रही है। ज्ञान अज्ञान दोनों बुद्धि के धर्म है, नित्य ही बुद्धि में रहते हैं, अपने-अपने स्वभाव के अनुसार दृश्य पदार्थों को प्रतीत कराते हैं। यह वार्ता भी प्रवाह रूप है। जब सम्यक् दृष्टि से रज्जु का यथार्थ ज्ञान होता है तब दोनों स्वरूप तुल्य प्रतीत होते हैं। एक ही वस्तु रज्जु ज्ञानी को रज्जु और सर्पज्ञानी को सर्प प्रतीत होती है और अपने-अपने स्वभाव के अनुसार दोनों पुरुष निश्चलता, चंचलता, भय व निर्भयता का अनुभव कर रहे हैं। जब सर्पज्ञानी प्रकाश द्वारा उसे देखता है, उसे भी रज्जु प्रतीत होता है परन्तु सर्प का कहीं अभाव नहीं होता रज्जुरूप हो जाता है। जब रज्जुज्ञानी यथार्थ दृष्टि से देखता है, तब रज्जु नहीं भासती, केवल मुंज ही मिश्रित रूप होकर प्रतीत होती है।

जब मुंज को सम्यक् दृष्टि से देखता है तो वन के तृण प्रतीत होते हैं। जब तृणों की ओर विचार दृष्टि से देखता है तो धरती का कार्य भासते हैं। धरती को विचार से देखता है तो जलरूप प्रतीत होता है। जल को सम्यक् दृष्टि से देखता है तो अग्नि का कार्य होने से अग्निरूप भासता है। जब अग्नि को यथार्थ रीति से जाँचता है तो पवन से भिन्न अग्नि कुछ नहीं निकलती। जब पवन को तत्व दृष्टि से विचार करता है तो आकाशरूप सिद्ध होता है। जब आकाश को यथार्थ दृष्टि से देखता है तो शून्यरूप प्रतीत होता है। जब शून्य को तत्व दृष्टि से विचारता है तो अनुभवरूप सिद्ध होता है। इसलिए एक ही अनुभव यथार्थ है, वही अनुभव अपनी नामरूप शक्ति से रज्जु और सर्पभाव को प्राप्त होता है। जैसे एक ही अनुभव आकाश, पवन, अग्नि जल और धरतीरूप है वैसे एक ही अनुभव सर्वनामरूप प्रपंच है। रज्जु भी नाम है और सर्प भी नाम है और जिसके आसरे ये दोनों नाम सिद्ध होते हैं। वह वस्तु अद्वैत है। उसमें रज्जु और सर्प दोनों कल्पित हैं। कल्पित वस्तु अधिष्ठान से भिन्न नहीं होती। इसलिए दोनों अधिष्ठान रूप हैं। फिर कल्पित भी दो प्रकार के हैं, एक यथार्थ और द्वितीय अयथार्थ व भ्रमरूप। रज्जु यथार्थ कल्पित है और सर्प अयथार्थ कल्पित है। यथार्थ कल्पित का ज्ञानी सुख और निश्चलता का अनुभव करता है। अयथार्थ कल्पित का ज्ञानी दुःख और चंचलता का अनुभव करता है। इसलिए अल्प बुद्धिमान यथार्थकल्पित को ही अधिष्ठान मानते हैं और अयथार्थ-कल्पित को अध्यास व भ्रम मानते हैं। महान बुद्धिमान यथार्थ और अयथार्थ कल्पित से ऊपर केवल अनुभव को अधिष्ठान मानते हैं, इससे सब द्वन्द्व समानरूप होकर अपने आत्मा प्रतीत होते हैं। वैसे जगत और ब्रह्म भी दोनों अनुभवरूप हैं। ब्रह्म यथार्थ कल्पित है और जगत अयथार्थ कल्पित है। अल्प बुद्धिमान ब्रह्म को अधिष्ठान और जगत को अध्यास मानते हैं और महान बुद्धिमान ब्रह्म और जगत से ऊपर केवल अनुभव को अधिष्ठान मानते हैं। जगत भी नाम है और ब्रह्म भी नाम है। जिसके आसरे ये

Scanned with CamScanner

दोनों नाम सिद्ध हो रहे हैं, वह वस्तु अद्वैत है और वही सत्तासामान्य रूप अनुभव मात्र है। इसलिए महात्मा रज्जु और सर्प का दृष्टान्त देकर जिज्ञासुओं और नवीन ज्ञानियों को समझाते हैं कि वस्तु अद्वैत है। कई उसे ब्रह्म कहते हैं और कई जगत। जगतज्ञानी भेद प्रच्छेद, भय विपर्यय, भिन्न-भिन्न गुण अवगुण और नामरूप का अनुभव करते हैं और ब्रह्म-ज्ञानी सब द्वन्दों से रहित होकर केवल अद्वैत ब्रह्म का दर्शन करते है और यथार्थ ज्ञानी जगत और ब्रह्म से ऊपर होकर अपने-आप में स्थित रहते हैं। इसलिए जगत को रज्जु में सर्प की तरह कहने से ऐसा नहीं समझना कि जगत मिथ्या है, किन्तु ऐसा समझना कि जगत अनुभव रूप है, इसलिए सत्य है। इस रीति से महात्माओं के सब दृष्टान्तों द्वारा जगत को मिथ्या सिद्ध करने में, तात्पर्य यह है कि जगत द्वितीय वस्तु नहीं है। केवल द्वैत दृष्टि को निवृत्त करने के लिए जगत्-नाम को मिथ्या बतलाया है। यही अद्वैत वस्तु की सिद्धि का प्रयोजन है। इसलिए जिज्ञासु पूर्वोक्त प्रसंग को सावधान और एकाग्र होकर बारम्बार विचार करें, जिससे जगत् और ब्रह्म का भेद निवृत्त होकर अद्वैत वस्तु का दर्शन हो।

प्रश्न १८—जगत में बखेड़ा किसका और क्यों है ? इस से मुक्ति कैसे होती है ?

उत्तर—इस जगत में जहाँ-कहाँ शब्द का बखेड़ा है। शब्द ही हार है, शब्द ही जीव है; शब्द ही शत्रु है, शब्द ही मीत है; शब्द ही गुरु है, शब्द ही चेला है; शब्द ही वियोग है शब्द ही मेल है; शब्द ही खण्डन है, शब्द ही मण्डन है; शब्द ही धर्म है, शब्द ही मत है; शब्द ही वाद है, शब्द ही वेद-पुराण, अंजील और कुरान है। शब्द ही बंधन है, शब्द ही मुक्ति है। शब्द ही व्यवहार है, शब्द ही व्यापार है; शब्द ही शहर है, शब्द ही बाजार है। जो कुछ है वह शब्द है, शब्द के बिना कुछ नहीं। तात्पर्य यह कि झगड़ा और बखेड़ा शब्द में हैं। शब्द से रहित मौन और शान्ति है। जैसे पहाड़, वृक्ष, धरती आदि शब्द से रहित हैं, उनमें किसी प्रकार का वाद-विवाद व खण्डन-मण्डन नहीं है। पशुओं में अपने-अपने शब्द से कभी-कभी खाने, पीने भोगने और मैथुन के पदार्थों पर अल्पकाल झगड़ा होता है, परन्तु मनुष्यों में शब्द ऐसा पूर्ण है कि निरन्तर इनमें वाद-विवाद, खण्डन-मण्डन, निन्दा स्तुति रहती है। इसलिए मनुष्य सृष्टि में अनेक धर्म, अनेक मत, अनेक समाज, अनेक पंथ; भिन्न-भिन्न मार्ग; भिन्न-भिन्न वर्णाश्रम, अनेक नगर, भिन्न-भिन्न बोलियाँ, उपासना, कर्म और अनेक शास्त्र प्रवृत्त हैं। इससे निरन्तर मनुष्यों में वैर विरोध, झगड़ा-लड़ाई या खण्डन-मण्डन रहता है। यह शब्द आकाश का अंश है और आकाश शून्यरूप है। इसलिए जितना वाद-विवाद पशुओं या मनुष्यों में हो रहा है, वह भी शून्यरूप है। यह ज्ञान किसी-किसी को है, क्योंकि सारे लोग शब्द के अधीन होकर बकते फिरते हैं। कोई विज्ञानी पुरुष ही शब्द को शून्यरूप निश्चय कर शब्द के होते ही शब्द से मुक्त होता है। अन्यथा पंडित, साधु, महंत, मौलवी, राजा, वकील, चतुर और मूर्ख शब्द के अधीन होकर मरकट की तरह शब्द पर नाच रहे हैं, बादलों की तरह अज्ञानरूप पवन के आसरे परस्पर सम्मुख होकर गर्ज रहे हैं। उनका यह कर्म निरर्थक है। कोई फल उनको प्राप्त नहीं होता केवल परिश्रम, चिन्ता, विकल्प, संशय उनके हृदय से तदरूप होकर उनके जीवनकाल को दुःखी रखता है। अज्ञान ऐसा बल-

Scanned with CamScanner

बान है कि पंडित और विद्वान भी शब्द के पीछे दीवाने हो रहे हैं और शब्द में अपनी महिमा निश्चय कर दिन-रात वाद-विवाद में अपनी आयु व्यतीत करते हैं। वह पंडित नहीं, मूर्ख बालक हैं। अतः पारदर्शी शब्द से अगोचर होकर शांति से अपने काल को व्यतीत करते हैं।

अब जिज्ञासु भिन्न-भिन्न शब्दों को श्रवण कर अपनी वृत्ति को चंचल न करे किन्तु पर्वत के समान अपने वास्तव स्वरूप में शब्द से अगोचर शब्द का प्रकाशक और शब्द को अधिष्ठान में स्थित रहे। अथवा स्थित रहने का पुरुषार्थ करता रहे। मूर्खों के समान शब्दों के पीछे अपनी वृत्ति को भ्रान्त, चंचल, संशयात्मक, डोलायमान, विक्षिप्त, दीन और दुःखी न करे। जगत में शब्द प्रवाहरूप है और अन्तपर्यन्त ऐसे ही रहेगा। तत्वविचार द्वारा जिज्ञासु को शब्द के पार होकर अशब्द रूप तट पर स्थित होना है और फिर उसे शब्द की लीला देख और सुनकर उदासीन पुरुष के समान सदा हर्षित रहना है।

प्रश्न १९—जगत मिथ्या है या सत्य ?

उत्तर—जगत न मिथ्या है न सत्य; अनिर्वचनीय है। अर्थात् वचन से अगोचर है। यदि मिथ्या कहें, भासता और कार्य देता है, इसलिए मिथ्या नही। यदि सत्य कहें, देखते-देखते नष्ट हो जाता है, इसलिए सत्य नहीं। इस प्रकार सत्य असत्य से विलक्षण अनिर्वचनीय रूप है।

प्रश्न २०—स्वप्न क्या है ?

उत्तर—सूक्ष्म तत्वों का संघांत स्वप्न है।

प्रश्न २१—कई स्वप्न को सच्चा और कई झूठा कहते हैं। इनमें से सत्यता किसमें है ?

उत्तर—स्वप्न न झूठा है न सच्चा, अनिर्वचनीय है क्योंकि जब भासता है तब सच्चा प्रतीत होता है, इसलिए झूठा नहीं। जब नष्ट हो जाता है, तब झूठा प्रतीत होता है। इसलिए सच्चा नहीं। इस प्रकार सत्य-असत्य से विलक्षण अनिर्वचनीय है।

प्रश्न २२—जो जगत को स्वप्नवत् कहते हैं; उनका तात्पर्य क्या है ?

उत्तर—उनका तात्पर्य यह है कि जैसे स्वप्न केवल मन की कल्पना हैं वैसे ही जाग्रत जगत भी मन की कल्पना है। अर्थात् जितने नाम, वर्णाश्रम, गुण, अवगुण, पुण्य पाप, कर्म धर्म, पंथ समाज, विद्या और कलाएँ हैं, सारे मन कल्पित हैं और इन्हीं का नाम जगत है। इसलिए जगत मन कल्पित है; स्वप्न अवस्था भी मन का मनोराज है, इसलिए स्वप्न और जाग्रत तुल्य है। इन्हीं दो अवस्थाओं का नाम जगत है, इसलिए जगत केवल कल्पनामात्र है।

प्रश्न २३—जगत किसका विषय है ?

उत्तर—जो दस इन्द्रियों और चार अन्तःकरण का विषय है, वह जगत है।

प्रश्न २४—वह कौन-सा वृक्ष है जिसे मूल से काटने से अनन्त फलों की प्राप्ति होती है ?

उत्तर—संसार रूप वृक्ष है जिसका मूल अज्ञान है। जब अज्ञान सहित संसार को तत्वविचार द्वारा विस्मृत किया जाय तब सब दुःख की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति होती है। संसार रूप वृक्ष स्थूल नहीं किन्तु सूक्ष्म है, नामरूप आदि विकल्प जो अज्ञान से सत्य प्रतीत हो रहे हैं, संसार है, ऐसे सूक्ष्म वृक्ष के काटने के लिए विवेकरूप तीक्ष्ण आरी चाहिए।

प्रश्न २५—जगत की मर्यादा कैसी है और प्राणधारी शरीरों को किस प्रकार चला

Scanned with CamScanner

रही है? इससे मुक्त होने का उपाय क्या है और मुक्त पुरुष किस प्रकार और किस अवस्था में अपना काल व्यतीत करते हैं ?

उत्तर—जगत की मर्यादा चक्र की तरह है। कोटि-कोटि पर्यन्त यदि कोई पुरुष जीता रहे तो भी इसकी मर्यादा एक जैसी रहेगी इसलिए ऐसे जगत पर मोहित होकर मरण पर्यन्त एक ही कर्म में लगा रहना मूर्खता है। इससे वैराग्य स्वीकार कर इसके अधिष्ठान को खोजे और विचार करे कि काल रूप चक्र किस धुरी द्वारा निरन्तर घूम रहा है और हम सब लोग चक्कर पर आरूढ़ होकर उसके चक्कर में आ रहे हैं। जब तक धुरी का ज्ञान न हो तब तक चक्र के चक्कर से मुक्त होना कठिन है। उस चक्कर का धुरा सत्यस्वरूप है। जिसे भिन्न-भिन्न मतों और शास्त्रों वाले भिन्न-भिन्न नामों से निरूपण करते हैं। उसी का ज्ञान प्रपंचरूप चक्कर से उदासीन कर चित्त को स्थित करता है। जैसे-जैसे चित्त आगमापायी अवस्था वाले संसार से निवृत्त होकर सत्य अवस्था रूप परमात्मा में स्थिति पाता है वैसे-वैसे ही चित्त की चंचलता निवृत्त होकर एकाग्रता प्राप्त होती है। इस एकाग्रता का फल शांति, तृप्ति मुदता और समता प्राप्त कर चित्त को ब्रह्मानन्द रूप सिंहासन पर विराजमान रखती हैं। चित्त मानो ब्रह्म रूप होकर चित्त भाव से रहित हो जाता है और तुर्यातीत सिंहासन पर स्थित होकर ज्ञान रूप राज्य करता है। शान्ति, तृप्ति, समता, मुदता बंदियों के समान चारों ओर रहती हैं। ऐसी अवस्था का नाम ब्रह्मभूत अवस्था है। इसकी प्राप्ति सब जिज्ञासुओं और ज्ञानियों को उचित है। यह केवल तत्वविचार से होती है। तत्वविचार सत्संग और सत्-शास्त्र चिन्तन का फल है। इसलिए जिज्ञासु निरन्तर उन साधनों को अपना सुहृद और रक्षक निश्चय कर सेवन करता रहे।

प्रश्न २६—कल्पना मात्र जगत का फल सुख-दुःख रोग-निरोग सत्य क्यों प्रतीत होता है ?

उत्तर—अज्ञान से।

प्रश्न २७—सब लोग कहते हैं कि जगत में ऊँच-नीच का भेद केवल पूर्व कर्मों से है। इसमें यह संशय उत्पन्न होता है कि आदि में सृष्टि की उत्पत्ति के समय पूर्व कर्म का बीज नहीं था तो ऊँच-नीच का भेद क्यों रखा गया ?

उत्तर—प्रथम यह विचारना उचित है कि ऊँच और नीच किसे कहते हैं और किस दृष्टि को लेकर यह दो सापेक्षिक शब्द प्रसिद्ध हैं। ईश्वर रचित सामग्री सारी सृष्टि की अपनी-अपनी जाति अनुसार समान है। भाव यह कि शरीर, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति सुख, दुःख, मृत्यु, उत्पत्ति, बालक, युवा, वृद्धावस्था और जीवात्मा समान हैं। इन पदार्थों पर ऊँच-नीच का भेद सिद्ध नहीं हो सकता। लोगों ने लौकिक प्रताप धन- वर्णाश्रम, धर्म विद्या और गुण की दृष्टि से ऊँच-नीच का जो भेद ज्ञान स्थापित किया है वह ईश्वर रचित नहीं। केवल संसार दिशा में व्यवहार की सिद्धि के लिए बुद्धिमानों ने कल्पित कर स्थापित किया है। इन कल्पित पदार्थों की दृष्टि से ऊँच-नीच को सत्य प्रतीत करना सिद्धान्त के विरुद्ध है। जब ऊँच-नीच भाव ही सिद्ध नहीं होता तो उनका भेद

Scanned with CamScanner

और भेद का निमित्त विचारना निरर्थक है। अज्ञानी इस संसार में मन रचित पदार्थों को देखकर चित्त को विक्षिप्त कर रहे हैं, यदि अल्पकाल मन रचित पदार्थों से उपरत होकर ईश्वर रचित पदार्थों पर विचार सहित दृष्टि लगायें तो विकल्प और विक्षेप्ता निवृत्त होकर एकाग्रता और शान्ति प्राप्त हो। इसलिए ईश्वर रचित जगत को सत्य प्रतीत करने से पूर्वोक्त विकल्प की निवृत्ति सिद्ध है। परन्तु अज्ञानी ईश्वर रचित जगत को त्याग कर केवल मन रचित जगत को सत्य प्रतीत करते है और भिन्न-भिन्न संशय और विकल्प उत्पन्न कर निर्विकल्पता और शान्ति को प्राप्त नहीं होते।

यदि वादी के वचनानुसार ऊँच-नीच भाव को कर्मों के अनुसार मानें तो भी विकल्प निवृत्त हो जाता है। कृत कर्मों का फल भोगने में मान या अपमान नहीं है। यदि विचार दृष्टि से देखें तो जीव जिस रूप में कर्म करता है उसी स्वरूप में फल भोगता है क्योंकि कर्मों ने जीव के स्वरूप को कुछ और का और नहीं किया। कर्मों ने शरीर के उपादान कारण को नहीं बदला। कर्मों ने इन्द्रियों के धर्मों का विपर्यय नहीं किया। कर्मो ने प्राणों की क्रिया को कुछ और का और नहीं बनाया। न ही अन्तःकरण के स्वरूप को किसी प्रकार से बदला। कर्मों ने जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तथा उनकी सामग्री को कुछ और का और नहीं किया। इसलिए लोक-कल्पित ऊँच-नीच का भेद कर्मों का फल किस कारण से मानते हो ? विचार दृष्टि से तो समान भाव ही प्रतीत होता है। ऊँच-नीच भाव किसी प्रकार से सिद्ध नहीं होता। यदि वादी हठ करके कर्मों का फल माने तो भी उसका हठ यथार्थ सिद्ध नहीं होता, क्योंकि मनुष्य कर्म भी आप करते हैं और उनका फल भी आप भोगते हैं। फल भोगने के समय भेद दृष्टि से किसी को ऊँच और किसी को नीच प्रतीत कर अपने कृतकर्मों के विरोध, विवाद और विकल्प का कारण बनाते हैं। यथार्थ ज्ञान से अज्ञात आप ही ऊँच-नीच भाव स्थापित कर आप ही उसके निमित्त और कारण की सिद्धि के लिए यत्न करते हैं परन्तु उस समय को यथार्थ ज्ञान के बिना किसी रीति से छेदन नहीं कर सकते। उल्टा संशय और विकल्पों के प्रवाह में बहकर गोते खाते रहते हैं। इसलिए प्राणान्त-पर्यन्त अपने भ्रम व हठ से निरर्थक और अयथार्थ दुःख सहारते रहते हैं। विचार दृष्टि से देखें तो कर्मों पर प्रतीत करने से भी ऊँच-नीच का भेद मन रचित सिद्ध होता है, ईश्वर रचित नहीं। इसलिए मन रचित दुःख को मिथ्या और निर्मूल निश्चय करना उचित है।

हे शंका वादी ! तुमने पूछा है कि आदि में सृष्टि को उत्पत्ति के समय पूर्व कर्म का बीज नहीं था तो ऊँच-नीच भेद भाव क्यों रखा गया ? हे प्रीतम ! यह वचन तुमने किस दृष्टि को लेकर पूछा है ? इस जगत का न कोई आदि है न कोई अन्त, चक्कर की की तरह आदि और अन्त के भेद से रहित अपनी प्रवृत्ति में स्थित है, किसकी अपेक्षा से तुम आदि अन्त मानते हो ? जब आदि शब्द भी मन रचित जगत में विशेष शब्द है तो किस की अपेक्षा से एक वस्तु को आदि और दूसरी को अन्त माना जाए ? जगत की उत्पत्ति सिद्ध नहीं हो सकती, इसलिए आदि और अन्त भी सिद्ध नहीं हो सकते। इस संशय को हृदय से निवृत्त कर जगत को केवल ब्रह्मरूप निश्चय करो।

Scanned with CamScanner

दो प्रकार की सृष्टि है। एक ईश्वर सृष्टि द्वितीय मनोमय सृष्टि। ईश्वर सब देश, सब काल, और सब अवस्था में, पूर्ण और समान स्थित है। ऊँच और नीच के भेद से रहित अपने स्वभाव में स्थित है। मनोमय सृष्टि में ऊँच और नीच शुभ और अशुभ का भेद सब अवस्था में रहता है। जैसे मनुष्य शरीर, दस इन्द्रिय, चार अन्तःकरण और प्राण सहित ईश्वर सृष्टि है। सब शरीर समान हैं, और शरीर का नाम, जाति, वर्णाश्रम, धर्म, प्रताप, अलंकार, विद्या, गुण और सम्बन्ध मनोमय सृष्टि है,क्योंकि एक का नाम, वर्ण आदि दूसरे के साथ नहीं मिलता। सब प्रकार से भेद और प्रच्छेद प्रतीत होता है। यदि मनोमय सृष्टि के दृष्टि को लेकर ऊँच और नीच के भेद का विकल्प आप उठाते हैं तो मनोमय सृष्टि को मिथ्या और कल्पित प्रतीत करने से यह संशय निवृत्त हो जाएगा, अन्यथा निवृत्त नहीं होगा और यदि ईश्वर सृष्टि की दृष्टि से यह प्रश्न पूछते हैं, तो प्रश्न बन नहीं सकता। इसलिए उचित है कि मनोमय सृष्टि को केवल कल्पित-प्रतीत कर चित्त से विस्मरण करें। इसके बाद देखें कि कोई भेद शेष रहता है या समानता भासती है? यदि किसी प्रकार का भेद प्रतीत हो, उसकी निवृत्ति के लिए विकल्प उत्पन्न करना उचित है, परन्तु यह निश्चित है कि मनोमय सृष्टि को मिथ्या प्रतीत करने के पश्चात् संशय व विकल्प नहीं रहेगा, शान्ति अवस्था शेष रहेगी। इसलिए ऊँच-नीच का भेद न कर्मों का फल है, न ईश्वर रचित है, केवल मन रचित है। इसलिए संशय और विपर्यय से रहित होकर निर्विकल्प स्थित होना चाहिए।

प्रश्न २८—हे सद्गुरु! जगत का सुख-दुःख, ऊँच-नीच, मान-अपमान, निन्दा और स्तुति सब मन की कल्पना से सिद्ध होते हैं परन्तु जन्म-मरण और जगत के दूसरे पदार्थ जो नेत्रों का विषय हैं, इन्हें मन की कल्पना कैसे कहें? यह तो सब देखने में आते हैं और फिर इस जगत के पदार्थों का अभाव केसे होता है? श्री वसिष्ठ जी ने राम जी से कहा कि सब जगत मन के फुरने हैं। हे भगवन्! मन के फुरने को क्या सामर्थ्य है कि इस जगत को रच ले? कृपया बताएँ वसिष्ठ जी ने मन से जगत की रचना कही इसका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—हे शिष्य! जगत दो प्रकार का है। एक ईश्वर रचित जगत और दूसरा मन रचित जगत। ईश्वर रचित जगत वह है जो इन्द्रियों का विषय है और देखने में आता है। मन रचित जगत वह है जो केवल मन का विषय है और देखने में नहीं आता। इन दोनों प्रकार के जगत में से ईश्वर रचित जगत दुःख और सुख का हेतु नहीं है किन्तु मन रचित जगत दुःख और सुख का हेतु है। इसलिए मन रचित जगत त्यागने योग्य है और त्यागा जा जा सकता है क्योंकि केवल स्फुरण मात्र है। ईश्वर रचित जगत त्यागने योग्य नहीं है और न त्यागा जा सकता है क्योंकि स्थित रूप है और भौतिक है। वसिष्ठ जी का तात्पर्य केवल मनोमय जगत का है, ईश्वरमय जगत का नहीं, क्योकि बंध का कारण केवल मनोमय जगत है, भौतिक जगत नहीं। इसलिए वसिष्ठ जी ने कहा है, जगत मन के फुरने से रचा हुआ है। भाव यह कि जितनी नामरूप की कल्पना है वह सारी मन से रचित है और यह कल्पना ही जगत रूप है। जब नाम रूप की कल्पना केवल मन की फुरना है उसे त्याग दें। शेष अस्ति, भाति, प्रेय रहता है। इसलिए वसिष्ठ जी ने केवल नाम रूप को त्याग करने को आज्ञा की

Scanned with CamScanner

है। जब नामरूप का त्याग हो जाए तब न कोई जगत है और न जगत पदार्थ है। केवल अस्ति मात्र सदा अपने अपने आप में स्थित रहता है। इसका कदाचित् अभाव नहीं होता। इसी दृष्टि से वसिष्ट जी ने बारम्बार जगत की रचना अर्थात् नामरूप की रचना से कही है।

मन दो प्रकार है। एक महत् मन है जिसे ईश्वर कहते हैं, दूसरा अल्प मन है जिसको जीव कहते हैं। महत् मन वह है जिसे प्रेरणा से धरती नाना प्रकार की वनस्पति उत्पन्न करती है। नाना प्रकार की वनस्पति समय अनुसार फूल फल उत्पन्न करती है। इसकी प्रेरणा से जल दिन रात बहता है, सूर्य दिन रात और भिन्न-भिन्न ऋतुओं को उत्पन्न करता है; पवन चलती है, मेघ बरसता है, मर्यादा अनुसार सब सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति और लय होता है। यह मन सब पदार्थ के साथ अभिन्न रूप होकर रहता है। इसलिए वह मन ईश्वर है। अल्प मन वह है जिसकी प्रेरणा से इन्द्रियाँ चेष्टा करती हैं। मन इन्द्रियों के विषय में राग-द्वेष, सुख-दुख, ऊँच-नीच, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, नाम-रूप, वर्णाश्रम, कर्म, धर्म, शुभ और अशुभ आदि की कल्पना, करता है। वह जीव कहा गया है क्योंकि इस मन का सब पदार्थों के साथ अभिन्न रूप समान सम्बन्ध नहीं किन्तु विशेष सम्बन्ध है। भाव यह कि एक-एक पदार्थ में भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ रचता है और आप ही बंध जाता है और इसलिए अल्प कहा गया है। वसिष्ठ जी का तात्पर्य यही है कि विशेष रचना रूप जगत अल्प मन से रचित है। बंधन रूप होने से त्यागने योग्य है। अर्थात् इसकी कल्पना सामान्य मनमें लीन करना उचित है, क्योंकि अल्प मन महत् मन से अभिन्न है, इसलिए अल्प मन की रचना भी महत् मन की रचना से अभिन्न है। जब यह ज्ञान हुआ कि केवल मन ही है और वह मन पूर्ण है। तब जगत नहीं रहता, केवल ब्रह्म ही रहता है, यह यथार्थ ज्ञान है।

प्रश्न २९—ईश्वर सृष्टि और जीव सृष्टि का क्या स्वरूप है? इसका भेद कैसे मिटे?

उत्तर—पंचभूत, पंचभौतिक आकार और पंचभूतों की तन्मात्रा ईश्वर सृष्टि है। उन आकारों के नाम, वर्णाश्रम, पुण्य व पाप, शत्रु-मित्र, ऊँच-नीच, स्व-पर, सम्बन्ध, प्रताप, अहंकार, नरक, स्वर्ग, बंधमुक्त जीव सृष्टि है। भाव यह कि भौतिक सृष्टि ईश्वर सृष्टि है और मनोमय सृष्टि जीव सृष्टि है। ये दोनों सृष्टियाँ अधिष्ठान सृष्टि के आसरे हैं। अधिष्ठान के बिना इनका स्वरूप कुछ नहीं, इसलिए ईश्वर सृष्टि और जीव सृष्टि वास्तव में कुछ नहीं। एक ही सत्ता अपने आप में स्थित है और वही सत्ता अपनी स्फुरण शक्ति से दोनों प्रकार की सृष्टि रूप होकर प्रतीत होती है इसलिए ये दो सृष्टियाँ नहीं। सत्ता में स्फुरण रूप है इसलिए आप से इनका स्वरूप कुछ नहीं और अधिष्ठान से सत्य रूप है। इस विचार द्वारा ईश्वर सृष्टि और जीव सृष्टि कल्पित निश्चय करने से इसका भेद निवृत्त हो जाता है। यह एक ही वस्तु के दो नाम हैं और अज्ञान से भेद सहित प्रतीत होते हैं। जब यथार्थ ज्ञान से देखा स्थूल रूप से ईश्वर सृष्टि है और सूक्ष्म रूप से जीव सृष्टि है। वास्तव में जो स्थूल है वही सूक्ष्म है, रंचक मात्र भेद नहीं, क्योंकि अधिष्ठान के कारण अद्वैत है इस लिए ईश्वर और जीव सृष्टि अभेद रूप हैं।

प्रश्न ३०—जब ईश्वर रचित सृष्टि सुख-दुख का कारण नहीं तो जीव रचित सृष्टि

किस प्रकार दुःख सुख का कारण है ?

उत्तर—जीव रचित सृष्टि में जीव की अहंता और ममता होती है, इसलिए सुख या दुःख का कारण होती है। यदि अहंता और ममता निवृत्त हो जाए तो सुख और दुःख कोई नहीं।

प्रश्न ३१—जगत की उत्पत्ति केवल बीज से है। सब जीव चर और अचर बीज से उत्पन्न होते हैं, संकल्प से नहीं। संकल्प भी उस बीज का सूक्ष्म भाग है। इसी प्रकार बीज के प्रवाह से जगत की उत्पत्ति है, इससे भिन्न और कुछ नहीं, परन्तु योग वसिष्ठ आदि ग्रन्थों में पाया जाता है कि शरीर के नाश होने से मन का नाश नहीं होता, वही मन संकल्प से जन्म-जन्मान्तर स्वीकार करता रहता है, इसका क्या भाव है और कौन-सी वार्ता ठीक है?

उत्तर—वास्तव में उत्पत्ति बीज से हो रही है, संकल्प से नहीं, क्योंकि भौतिक अण्ड में भिन्न-भिन्न बीज, भिन्न-भिन्न सृष्टि का कारण चले आते हैं और सदा जगत रूप फुलवारी को प्रफुल्लित रखते हैं। सब बीज पंचभूतों का कार्य है, भूत ही मानों भिन्न-भिन्न बीज रूप होकर सृष्टि का कारण हैं। इसके बिना और कोई कारण नहीं। जितनी इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, प्राण, और दूसरे अंग शरीर में हैं, वे सभी भूतों का कार्य हैं। भूत बीज होकर उत्पत्ति के प्रवाह को स्थित रख रहे हैं, इसलिए सब अंग बीज में लुप्त होते हैं, बीज में प्रकट होते हैं और फिर बीज में लीन हो जाते हैं। बीज ज्यों का त्यों अपनी अवस्था में स्थित रहता है। इस रीति से सृष्टि का उत्पत्ति समान है, अपनी मर्यादा में प्रवाह रूप से चली आती है। संकल्प क्षणभंगुर है, बिजली के समान जाग्रत और स्वरूप रूप मेघ में चमककर फिर नष्ट हो जाता है, इसमें उत्पत्ति की सामर्थ्य कहाँ? यह तो आप ही क्षणभंगुर है, इसमें स्थिर और अचल पदार्थ कैसे प्रकट हो सकते हैं ? वसिष्ठ आदि ग्रन्थकारों ने जो मन को उत्पत्ति का कारण लिखा है वह केवल इस प्रयोजन से है कि मन के संकल्पों को निवृत करके जीवित काल को शांति सहित व्यतीत किया जावे। संकल्प की अधिकता से सुख नष्ट हो जाता है। वास्तव में मन भी अन्न और जल का सूक्ष्म अंश है। जब शरीर नष्ट हो जाता है तब मन भी नष्ट हो जाता है।

प्रश्न ३२—शास्त्रकार कहते हैं कि जगत की रचना और उत्पत्ति भूतों से है। जब भूत जड़ हैं, चेतन नहीं और न भूतों में ज्ञान है कि सब एकत्र होकर ऐसे सुन्दर और रमणीक पदार्थ बना सकें। इसलिए निश्चय होता है कि इनसे भिन्न कोई ऐसी सर्वज्ञ सत्ता है, जिससे ऐसी आश्चर्य और अद्भुत रचना हुई कि जिसे समझने में मनुष्य असमर्थ है। मनुष्य अल्पज्ञ है और वह सर्वज्ञ है। जैसे घड़ी अथवा रेल आदि का चालक मनुष्य है वैसे ही बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज और अनेक प्रकार की सृष्टियों का कर्ता भूतों से भिन्न है। यदि जगत को भूतों से रचित माना जाए, केवल मनरचित स्वप्नवत् निश्चय किया जावे, सिद्ध होता है कि भूत कोई वस्तु नहीं, सब जगत संकल्प में है। क्या संकल्प ही जगत का कारण है, भूत नहीं।

उत्तर—जगत की उत्पत्ति के दो कारण हैं, एक उपादान कारण और दूसरा निमित्त कारण। ये दोनों कारण अभिन्न अर्थात् एक रूप हैं। इनमें से उपादान कारण तत्व व भूत

Scanned with CamScanner

हैं और निमित्त कारण चेतन है। चेतन और तत्व अभिन्न हैं अर्थात् एकरूप हैं। इसलिए अभिन्न निमित्त उपादान कारण से जगत की उत्पत्ति है। तत्व चेतन की चेतनता से भिन्न वस्तु नहीं, क्योंकि चेतन के अर्थ सत्ता स्फुरण हैं। इनमें सत्ता तत्व है, और चेतन स्फुरण है, इसलिए तत्व और चेतन एक ही वस्तु हैं, इस रीति से चेतन तत्व ही जगत का कारण है, कारण ही नहीं जगतरूप है।

चेतन दो प्रकार का है, एक समान चेतन और दूसरा विशेष चेतन। समान चेतन पूर्ण है और विशेष चेतन प्रच्छिन्न है। समान चेतन कारण है और विशेष चेतन कार्य है। अज्ञानी समान चेतन को जड़ मानते हैं और विशेष चेतन को चेतन मानते हैं। वास्तव में समान चेतन सत्य है और विशेष चेतन व्यभिचारी है, सो सामान्य चेतन तत्व अर्थात् भूत हैं इसलिए भूत जड़ नहीं किन्तु विशेष चेतन का कारण है। अज्ञानी बुद्धि और मन को चेतन मानते हैं। वास्तव में ये तत्वों का सतोगुणी अंश हैं और ये निरन्तर तत्वों में रहते हैं। इसलिए बुद्धि और मन स्वयं कोई वस्तु नहीं। विशेष चेतन बुद्धि और मन का नाम है इसलिए विशेष चेतन सामान्य चेतन का कार्य है।

यदि जगत का कारण संकल्प माला जाय तो भी तत्व जगत का कारण सिद्ध होंगे, क्योंकि तत्वों का सूक्ष्म अंश संकल्प है, वह सदा तत्वों में रहता है इसलिए तत्व जगत का कारण है और तत्व चेतन से अभिन्न है अर्थात् एकरूप हैं। इसलिए तत्व ही जगतरूप हैं।

प्रश्न ३३—ईश्वर ने माया को किसलिए उत्पन्न किया है ?

उत्तर—यदि माया की उत्पत्ति सिद्ध हो तो उसका निमित्त भी वर्णन किया जावे। माया उत्पन्न नहीं होती किन्तु ईश्वर की शक्ति है और ईश्वर से अभिन्न है इसलिए उसके निमित्त का निर्णय निरर्थक है। शक्ति सदा शक्त से अभिन्न होती है। जैसे धूप सूर्य से कभी भिन्न नहीं होती किन्तु सूर्य का स्वरूप है। जैसे उष्णता तेज से कभी भिन्न नहीं किन्तु तेज का स्वरूप है, वैसे ही माया ईश्वर से कभी भिन्न नहीं होती किन्तु ईश्वर का स्वरूप है। जो वस्तु जिसका स्वरूप है, उसकी उत्पत्ति उसीसे मानना उचित नहीं, इसलिए माया उत्पन्न नहीं हुई, अनादि सिद्ध है। यही शक्ति है जिसमें सृष्टि के प्रकट करने की सामर्थ्य है। समग्र सृष्टि मानों माया में है और माया-स्वरूप है। माया ईश्वर की शक्ति होने से ईश्वर स्वरूप है इसलिए सब सृष्टि ईश्वर स्वरूप है। सृष्टि का दूसरा नाम मानों ईश्वर है। इस रीति से सृष्टि और ईश्वर को एक समझना माया के मोह से रहित होकर शुद्ध गति को प्राप्त होना है। इसलिए माया कोई वस्तु नहीं, चेतन ही सारभूत है। शास्त्रों में लिखा है, ब्रह्म के एक देश में माया है और इस माया से जगत की उत्पत्ति है। इसका तात्पर्य यह है, जैसे मनुष्य शरीर के एक देश में वीर्य होता है और उसी वीर्य में शरीर के उत्पन्न करने की सामर्थ्य होती है, वैसे ही ब्रह्म में जो शक्ति सृष्टि को उत्पन्न करने की है, उसे शास्त्रकारों ने माया के नाम से लिखा है। माया ब्रह्म से कहीं भिन्न नहीं हुई, ब्रह्म में स्थित होकर नाना स्वरूप को धारण कर रही है। जैसे जल की द्रवित शक्ति जल में स्थित होकर नाना प्रकार के तरंग और बुदबुदे उत्पन्न कर रही है, वैसे ही ब्रह्म की माया शक्ति ब्रह्म में नाना प्रकार के

Scanned with CamScanner

आकारों, रूपों नामों धर्मों, कर्मों, और व्यवहारों को प्रकट कर रही है और सदा ब्रह्म में स्थित है। कदाहित् ब्रह्म को त्यागकर दूसरे देश में गमन नहीं करती। इसलिए माया कोई वस्तु नहीं, जब दूसरी वस्तु नहीं तो उसकी उत्पत्ति का कारण क्या लिखा जाए ?

प्रश्न ३४—कई लोग जगतको माया कहते है और दूसरे शक्ति। यदि माया कहें तो माया के अर्थ माता हैं और यदि शक्ति कहें तो शक्ति के अर्थ स्त्री हैं। अब एक ही वस्तु माता और स्त्री किस प्रकार हो सकती है? कृपा करके समझाइएगा।

उत्तर—माया और शक्ति पर्याय शब्द हैं अर्थात् इन दोनों शब्दों के अर्थ एक हैं इसलिए जो माया है वह शक्ति है और जो शक्ति है वह माया है। इनमें रंचक मात्र भेद नहीं क्योंकि वस्तु अद्वैत है। इसमें द्वैत की समाई नहीं किन्तु द्वैत ही अद्वैत रूप है। जब द्वैत ही अद्वैत रूप है, माया और शक्ति में भेद किस प्रकार सिद्ध हो? जगत भी द्वितीय वस्तु नहीं किन्तु ये तीनो शब्द अर्थात् जगत, माया ओर शक्ति एक ही अर्थ वाले हैं। इस रीति से निश्चय करना यथार्थ ज्ञान है।

जो लोग माया को माता और शक्ति को स्त्री कहते हैं उनका प्रयोजन भी यही है कि माया और शक्ति अद्वैत हैं क्योंकि माया ही स्त्री है, पुरुष नहीं। पति की भार्या स्त्री होकर पुत्र की माता कही जाती है। तात्पर्य यह कि जिस पुरुष की स्त्री होती है उसी पुरुष की माता होती है क्योंकि वीर्य पुरुष का पुरुषत्व भाग है ओर वह वीर्य ही पुरुष रूप होकर उत्पन्न होता है, भर्ता ही मानों पुत्र रूप होता है। जब पुरुषत्व पिता और पुत्र भाव में एक है, स्त्रीत्व भी माता और भार्याभाव में एक है। ऐसे माया और शक्ति दोनों एक रूप हैं।

शब्द और कल्पना में भेद है, वस्तु में भेद नहीं। यहाँ तक कि पुरुष और स्त्री का भेद भी नहीं क्योंकि पुरुष और स्त्री के अभेद होने से उत्पत्ति होती है। जब तक पुरुष और स्त्री अभिन्न न हों, तब तक किसी प्रकार से सृष्टि की उत्पत्ति नहीं होती। जब पुरुष के वीर्य से स्त्री भी उत्पन्न होती है और स्त्री के गर्भ से पुरुष उत्पन्न होता है, इससे सिद्ध है कि पुरुष में स्त्री और स्त्री में पुरुष है। इसलिए पुरुष और स्त्री दोनों एक रूप हैं। जब विजातीय पुरुष और स्त्री एक रूप हैं तो सजातीय रूप माता और वनिता में भेद किस युक्ति से सिद्ध होगा ? वस्तु मात्र में वस्तु मात्र है, भेद असिद्ध है। इस रीति से सब को अद्वैतरूप निश्चय करना और सब में सब को देखना और सब को सब रूप देखना और फिर सब से उपर होकर अपने आप में स्थित रहना यथार्थ ज्ञान है। शब्दों के भेद से भेद नहीं होता। माया-शक्ति, माता-स्त्री, जगत पुरुष आदि केवल शब्द हैं। इनके अर्थ एक हैं। शब्द आकाश रूप है, आकाश शून्यरूप है, शून्य कुछ नहीं को कहते हैं, कुछ नहीं से 'है' का नाश नहीं होता। इसलिए शब्द का भेद वस्तु में भेद सिद्ध नहीं कर सकता। इस रीति से वस्तु मात्र अभेद और अखंड अपने आप में स्थित है।

प्रश्न ३५—कहते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु, महादेव से भिन्न दूसरा और कोई नहीं, इन्हीं से सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय होती है। कृपया लिखें कौन सी बात ठीक है?

उत्तर—ब्रह्मा, विष्णु, महादेव त्रिगुण अभिमानी देवता हैं। रजोगुण अभिमानी

Scanned with CamScanner

ब्रह्मा है, सतोगुण अभिमानी विष्णु और तमोगुण अभिमानी महादेव है। ये तीनों गुण माया के हैं इसलिए माया में है। सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भी माया से होती है अर्थात् माया के रजोगुण से सृष्टि की उत्पत्ति होती है, माया के सतोगुण से सृष्टि की स्थिति है और माया के तमोगुण से सृष्टि की प्रलय होती है। ब्रह्मा, विष्णु रुद्र व महादेव माया के तीन गुणों के अभिमानी हैं। इसलिए पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कारण लिखे गये हैं, वास्तव में ये तीनों देवता माया का कार्य होने से माया रूप हैं। माया अनिर्वचनीय अर्थात् सत्य असत्य से विलक्षण है इसलिए मिथ्या है। जब माया आप ही मिथ्या है, उसका कार्य कैसे सत्य होगा?

माया का अधिष्ठान निर्गुण परमात्मा भी सत्य है। उसमें माया और माया के कार्य ऐसे कल्पित हैं जैसे आकाश में नीलिमा। इसलिए कल्पित को त्यागकर केवल सत्यस्वरूप में निष्ठा दृढ़ रखना यथार्थ और उचित है। इससे भिन्न मायावी पदार्थों में प्रतीत करना अयथार्थ और अयोग्य है।

प्रश्न ३६—कई शास्त्रकार कहते हैं कि यह जगत स्वप्न है, कई कहते हैं कि यह पाँच तत्वों का खेल है, कई कहते हैं कि तीन गुणों का पसारा है, कई कहते हैं कि चिद्विलास है, इन भिन्न-भिन्न वचनों को सुनकर संशय होता है कि कौन-सा वचन सत्य है?

उत्तर—सारे वचन सत्य हैं, क्योंकि सब का प्रयोजन यही है कि जगत हुआ नहीं। यदि कुछ होता तो वचनों का भेद न होता और श्रुतियों की अनेकता भी न होती। इससे सिद्ध होता है कि शास्त्रकारों का प्रयोजन जगत को सिद्ध करने में नहीं है किन्तु जगत को असिद्ध करने में है, इसलिए जिस प्रकार उनकी समझ में आया, उसी प्रकार द्वैत रूप जगत को खंडन कर उन्होंने अद्वैत वस्तु का मंडन किया है।

जो लोग जगत को स्वप्न कहते हैं, उनका तात्पर्य यह है कि स्वप्न स्वप्नद्रष्टा का संकल्प है और स्वप्नद्रष्टा के आसरे सिद्ध होता है। इसलिए स्वप्नद्रष्टा का स्वरूप है। स्वप्नद्रष्टा चेतन है इसलिए जगत चेतन रूप है। चेतन से भिन्न और कुछ नहीं इस रीति से जगत स्वप्नवादी जगत को केवल चेतनमात्र सिद्ध करते हैं।

जो लोग जगत को पाँच तत्वों का खेल मानते हैं, उनका अभिप्राय यह है कि जगत पाँचतत्व रूप है और पाँच तत्व चेतन का विशेषण अर्थात् स्वभाव है। चेतन का पूर्ण स्वभाव है, चेतन का स्फुरण स्वभाव पवन है, चेतन का प्रकाश स्वभाव अग्नि है, आकाश चेतन का आत्म स्वभाव जल है और चेतन का स्थित स्वभाव पृथ्वी है। इसलिए ये पाँच तत्व नहीं किन्तु एक ही चेतन, पूर्ण, स्फुरण, स्वयं प्रकाश व आत्मस्थित रूप है। ऐसे चेतन का खेल भी चेतन रूप है, इसलिए पंचभौतिकवादी का प्रयोजन भी यही है कि जगत चेतन रूप है।

जो लोग जगत को तीन गुणों का पसारा कहते हैं, उनका अभिप्राय यह है कि तीन गुण चेतन की तीन शक्तियाँ हैं। प्रथम प्रज्ञा शक्ति सतोगुण के नाम से प्रसिद्ध है, द्वितीय क्रिया शक्ति रजोगुण के नाम से प्रसिद्ध है और तृतीय जड़ शक्ति तमोगुण के नाम से प्रसिद्ध है। ये तीन शक्तियाँ नित्य ही शक्ति के साथ अभिन्न रहती हैं इसलिए शक्ति का स्वरूप हैं,

Scanned with CamScanner

अतः जगत-त्रिगुणवादी का भी यही प्रयोजन है कि जगत केवल चेतन रूप है।

जो लोग जगत को चिद्विलास कहते हैं, उनका तात्पर्य यह है कि चेतन अपनी स्फुरण शक्ति से अनेक रूप हो रहा है। इसलिए सभी चेतन है, चेतन से भिन्न चेतन का फुरना नहीं होता। फुरना और चेतन पर्याय शब्द हैं। अर्थात् चेतन और फुरने का एक अर्थ है। इसलिए जगत की स्फुरण शक्ति चेतन चेतन रूप है; चेतन से भिन्न जगत का स्वरूप कोई नहीं। इसलिए जगत चिद्विलास वादी का भी यही प्रयोजन है कि जगत केवल चेतन रूप है, द्वैत का अत्यन्ताभाव है। इस रीति से सारे वचनों का एक ही तात्पर्य है।

प्रश्न ३७—यदि जगत केवल चेतन रूप है तो विकारी क्यों होता है ?

उत्तर—विकारी नहीं होता, अपने आप में स्थित रहता है। आज तक कोई वस्तु अपने को त्यागकर दूसरे भाव को प्राप्त नहीं हुई। विकार तब मानें यदि चेतन अचेतन गति को प्राप्त हो गया हो। जब चेतन अपने आप में स्थित है और कदाचित् अपने स्वभाव का त्याग नहीं करता, उसे विकारी किस प्रकार मानें ? यदि यथार्थ दृष्टि से देखें तो विकार वस्तु का शृंगार है। जैसे बीज का विकार—वृक्ष बीज का शृंगार है, वैसे ही वीर्य का विकार शरीर वीर्य का शृंगार है। जैसे जल का विकार तरंग जल का शृंगार है, जैसे पवन का विकार स्पन्द पवन का शृंगार है। इस रीति से सब पदार्थों की महिमा पदार्थों में नित्यप्रति रहती है। महिमा के प्रगट होने से या लोप होने से वस्तु की न्यूनता और विशेषता नहीं होती, वैसे ही जगत में भिन्न-भिन्न अवस्था को देखकर जगत को जो विकारी मानते हैं, उन्हें जगत का यथार्थ ज्ञान नहीं है। जगत चेतन रूप है और इसकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ भी चेतन रूप हैं। उन अवस्थाओं के उदय और अस्त में वस्तुरूप चेतन समान रहती है। विकार तब मानें जब वस्तु का अभाव हो। जब वस्तु नित्य स्थित है इसलिए विकार ही उस वस्तु में वस्तु का शृंगार है। द्वितीय वस्तु का सर्वथा अभाव है। जो है सो एक वस्तु है, उसे जगत कहो या चेतन कहो परन्तु इन दोनों शब्दों से उसमें भेद नहीं आता अद्वैत सत्ता अपने आप में स्थित है।

प्रश्न ३८—नैयायिक तीन पदार्थ—ईश्वर, जीव और परमाणु-अनादि मानते हैं और उनका परस्पर भेद भी निश्चय करते हैं। इससे शंका होती है कि जगत की उत्पत्ति किससे हुई और जगत का स्वरूप क्या है ?

उत्तर—न्याय दर्शन के अनुसार जगत की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती क्योंकि जब तीनों पदार्थ अनादि हैं, उत्पन्न होने वाला किसे मानें, उत्पन्न होने वाली वस्तु अनादि नहीं कही जा सकती, अनादि उसे कहते हैं जो उत्पन्न न हो। जब ईश्वर अनादि है, वह उत्पत्ति रहित भी है। जीव अनादि है इसलिए वह भी उत्पत्ति से रहित है। इसी प्रकार परमाणु भी अनादि है और उत्पत्ति से रहित है। जब तीनों पदार्थ उत्पत्ति से रहित अर्थात् अनादि हैं तो जगत की उत्पत्ति सिद्ध नहीं हो सकती। जब जगत उत्पन्न ही नहीं हुआ, इसका प्रलय भी सिद्ध नहीं हो सकता। केवल तीन पदार्थ ज्यों के त्यों स्थित चले आते हैं। न उत्पन्न होते हैं न नष्ट होते हैं, न घटते हैं न बढ़ते हैं सदा एकरस अपने आप में स्थित रहते हैं। न्याय

Scanned with CamScanner

सिद्धांत से यह अर्थ होता है।

प्रश्न ३९—वेदान्ती, ईश्वर, जीव और परमाणु की एकता मानते हैं, और जगत का भी वही स्वरूप निश्चय करते हैं, उनका निश्चय यथार्थ है या नहीं ?

उत्तर—वेदान्ती एक वस्तु ही मानते है, तीन नहीं। उस एक वस्तु को उत्पति और नाश से रहित ईश्वर, जीव, परमाणु की संज्ञा से मुक्त निश्चय करते हैं। इसलिए उनके सिद्धान्त के अनुसार भी जगत की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती; यदि उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती तो प्रलय किस प्रकार सिद्ध हो? इसलिए वेदान्त मत के अनुसार भी एक वस्तु अपने आप में स्थित सिद्ध होती है, न कभी उत्पन्न होती है और न कभी नष्ट होती है, न घटती है, न बढ़ती है, सदा एक रस रहती है।

प्रश्न ४०—न्याय और वेदान्त में क्या भेद ?

उत्तर—शब्द भेद है और गिनती का प्रच्छेद है। न्यायवादी तीन मानते हैं और वेदान्ती एक मानते हैं। न्यायवादी ईश्वर, जीव, परमाणु के नाम मानते हैं और वेदान्ती केवल एक चेतन मानते हैं। सिद्धान्त दोनों का समान है न्यायवादी भी तीनों पदार्थों को अनादि, सत्य, स्वयं प्रकाश, अविनाशी और नित्य मानते हैं। इसलिए न्याय और वेदान्त में केवल शब्द का और गिनती का भेद है, सिद्धान्त और फल दोनों का तुल्य है।

प्रश्न ४१—यदि न्याय और वेदान्त का सिद्धान्त समान है तो इनका परस्पर वाद-विवाद व खण्डन-मण्डन क्यों होता है ?

उत्तर—अज्ञान से। जो न्यायवादी अपने यथार्थ सिद्धान्त से अज्ञात है, वह वेदान्ती के सम्मुख शब्दों के भेद को लेकर वाद-विवाद करता है। जो वेदान्ती अपने यथार्थ सिद्धान्त से अज्ञात है, वह न्यायवादी के सम्मुख शब्द भेद को लेकर वादविवाद करता है। जब दोनों अपने-अपने सिद्धान्त को यथार्थ रीति से मनन और निदिध्यासन करते हैं, तब दोनों ही शान्त गति को प्राप्त होते हैं। जब तक यथार्थ सिद्धान्त का ज्ञान हृदय में उदय नहीं होता तब तक शब्द भेद प्रच्छेद से नाना प्रकार के वाद-विवाद रहते हैं। इसलिए उचित है कि न्याय वचन के मानने वाला अपने सिद्धान्त को भली प्रकार निश्चय करे, उसे ज्ञात होगा कि वस्तु अनादि और सत्य है। यद्यपि वह उसे भिन्न-भिन्न कर तीन रूप मानने वाला है तथापि एक-एक का स्वभाव समान है। अर्थात् एक-एक अनादि है, यह नहीं कि ईश्वर अनादि है और जीव आदि सहित है अथवा परमाणु आदि सहित है। जब तीनों ही अनादि है तो तीनों के अनादि स्वभाव की एकता सिद्ध होती है। यह भी नहीं कि जीव ईश्वर व परमाणु की सहायता पाकर अनादि है व परमाणु ईश्वर की सहायता पाकर अनादि है व ईश्वर जीव परमाणु की सहायता से अनादि हैं। नहीं, तीनों अपने से आप सिद्ध हैं। न ईश्वर का सम्बन्ध जीव के साथ है, न जीव का सम्बन्ध ईश्वर के साथ है न ईश्वर का सम्बन्ध परमाणु के साथ है और न परमाणु का सम्बन्ध ईश्वर के साथ है। न जीव का सम्बन्ध परमाणु के साथ है और न परमाणु का सम्बन्ध जीव के साथ है। तीनों अपने से आप सिद्ध हैं, कोई किसी का सिद्ध कर्त्ता नहीं और न कोई किसी का नाशक है। इसलिए तीनों स्वतः सिद्ध हैं। यह न्याय का

Scanned with CamScanner

परम सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार भी सभी भ्रान्तियों की निवृत्ति होती है।

वेदान्ती का सिद्धान्त अद्वैत है, उसके निश्चय में द्वितीय वस्तु का अत्यन्ताभाव है, अद्वैत सिद्धान्त सर्व कल्पना से ऊपर केवल सत्तामात्र को वर्णन करता है। इसमें किसी प्रकार की संज्ञा व कल्पना नहीं है, केवल केवलीमात्र अपने आप से सिद्ध, अपने में आप स्थित है। इसलिए वह सत्ता भी स्वतः सिद्ध है, यह वेदान्त का परम सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार सभी भ्रांति की निवृत्ति होती है। जब न्यायवादी और वेदान्ती उपर्युक्त रीति से अपने-अपने सिद्धांत का विचार करे तो उनका परस्पर वाद-विवाद शान्त हो जाएगा और दोनों ही द्वेष और विरोध को त्यागकर मित्रता सहित आनन्द पाएँगे। जितने वचन जगत में प्रसिद्ध हैं, जिनको लोग मत, धर्म, पंथ, मार्ग, समाज आदि कहते हैं सबका सिद्धान्त जो अन्त में सिद्ध होता है। शान्त और मानता देने वाला है परन्तु लोग सिद्धान्त तक नहीं पहुँचते। वाद-विवाद करते हैं, इसलिए उनका वाद-विवाद अज्ञान से है।

प्रश्न ४२—शास्त्रों में लिखा है कि शुद्ध चेतन ब्रह्म में जीवों के कर्मों के परिपक्व होने पर इच्छा हुई कि एक से अनेक हों तब जगत का विस्तार हुआ। इसमें शंका है कि शुद्ध स्वरूप में जीवों और कर्मों का भेद प्रतीत नहीं होता और न कोई द्वितीय वस्तु ऐसे केवली स्वरूप में समाती है। इसलिए शास्त्रों के इस वचन से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—चेतन के अर्थ सत्ता स्फुरण हैं, सत्ता के अर्थ शक्ति और स्फुरण के अर्थ फुरना है। फुरना दो शक्तियों से पूर्ण होता है, एक प्रज्ञा शक्ति अर्थात् ज्ञान शक्ति, दूसरी क्रिया शक्ति अर्थात् कर्म शक्ति। प्रज्ञा शक्ति को जीव कहते हैं और क्रिया शक्ति को कर्म कहते हैं। कर्म ज्ञान के आसरे प्रवृत्त होता है और ये दोनों मिलकर सब काम सिद्ध करते हैं। इसलिए शास्त्रकार लिखते हैं कि चेतन में जीवों के कर्मों के परिपक्व होने पर जगत होता है। अर्थ यह कि चेतन को स्फुरण शक्ति के दोनों भाग अर्थात् ज्ञान और कर्म प्रवृत होते हैं, इसी का नाम जगत है। जगत ओर कोई वस्तु नहीं। न जीव और कर्म चेतन से भिन्न हैं और न कोई द्वितीय वस्तु चेतन में समाती है, केवल चेतन ही अपने आप में स्थिर है। जीव और कर्म उसका स्वभाव हैं, स्वभाव के अर्थ अपना आप हैं। इसलिए जीव कर्म चेतन का अपना आप हैं। दो अक्षरों से द्वैत न समझना, दोनों ही एक चेतन के अर्थ देते हैं, चेतन नाम सत्ता-स्फुरण का है और स्फुरण नाम जीव और कर्म; ज्ञान या क्रिया; अन्तःकरण या प्राण का है। इसलिए एक ही वस्तु अपने स्वतः स्वभाव में स्थित है। जिज्ञासुओं को समझाने के लिए एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न नाम कल्पित कर महात्माओं ने रखे है, वास्तव में न कुछ हुआ हुआ था, न कुछ होता है, और न कुछ होगा ; केवल अनुभव मात्र सत्ता अपने आप में स्थित है, यह यथार्थ सिद्धान्त है।

प्रश्न ४३—जगत का आरोप और लय षट्शास्त्रों वाले किस रीति से मानते हैं ?

उत्तर—कर्मवादी मीमांसक जीवों के कर्मों से जगत का आरोप और कर्मों के फल के अनन्तर जगत का लय मानते है।

(२) कालवादी वैशेषिक जगत का आरोप और लय काल से मानते हैं।

Scanned with CamScanner

(३) नैयायिक अन्य प्रमाणों से जगत का आरोप और लय मानते हैं। तात्पर्य यह कि ईश्वर जगत को परमाणु के आसरे रचता है और प्रलयकाल में फिर भूत परमाणु रूप होकर स्थित रहते हैं।

(४) योगशास्त्र के मानने वाले कहते हैं कि ईश्वर की आज्ञा के अनुसार जगत की रचना होती है और फिर उसकी इच्छा से लय होने पर जगत का लय होता है।

(५) सांख्य शास्त्री प्रकृति से जगत का आरोप और लय मानते हैं और पुरुष को असंग और अकर्ता मानते हैं।

(६) वेदान्ती जगत का आरोप और लय अज्ञान से मानते हैं, तात्पर्य यह कि अज्ञान से जगत प्रतीत होता है और ज्ञान से जगत लय हो जाता है। इस रीति से षट्मत वालों का एक वस्तु में परस्पर वाद है। कर्मवादी को कालवादी खंडन करता है ; कालवादी को नैयायिक खंडन करता है और सांख्यवादी को वेदान्त खंडन करता है, वेदान्त के खंडन करनेवाला आज तक कोई नहीं हुआ। इसलिए वेदान्त यथार्थ है अतः इसका सिद्धान्त कि जगत अज्ञान-रचित है सत्य है। इसे निश्चय कर अज्ञान से रहित होकर शुद्ध ज्ञान में स्थित होना उचित है। वास्तव में जगत न उत्पन्न और न लय होता है, एक अद्वैत वस्तु अपने आप में स्थित है।

प्रश्न ४४—जगत को पाँच तत्वों वाला पुस्तक क्यों कहते हैं ?

उत्तर—जिज्ञासु के उपदेश निमित्त। भिन्न-भिन्न शास्त्रों के पढ़ने से जिज्ञासु का निश्चय स्थिर हो जाता है। किसी बचन पर प्रतीत नहीं आती, आयु पर्यन्त उन शास्त्रों के पढ़ने और विचारने में समय व्यतीत हो जाता है परन्तु संशय और विपर्यय से मुक्त होकर जिज्ञासु कृत-कृत्य नहीं होता। इसका कारण यह है कि शास्त्र भिन्न-भिन्न पुरुषो की कृतियाँ हैं और सब ने भिन्न-भिन्न मत, संस्कार, दृष्टान्त, इतिहास और सिद्धान्त वर्णन किए हैं इसलिए उनके पढ़ने वाला एक मत पर अपनी वृत्ति को स्थित नहीं रख सकता, मरण पर्यन्त शास्त्रों की अनेकता और श्रुतियों के नाना रूप वन में भटकता रहता है। इस दशा को देख कर महान बुद्धिमान, सुमित्र-जग, गम्भीर-मति, पारदर्शी और तत्ववेत्ता महात्माओ ने जगत को पुस्तक वर्णन किया है। पांच तत्त्वों को पाँच पत्र वर्णन किया है और सारी सृष्टिको अक्षर रूप निरुपित किया है। जो पुरुषज्ञानरूपी नेत्रोंको खोलकर इस पुस्तकका विचार करता है, उसके सब संशय नाश हो जाते हैं। अनेकता की वृत्ति लीन हो जाती है, केवल सत्तासामान्य शेष रहती है। इसलिए जगत को पाँच तत्वों वाला पुस्तक कहने का यही भाव है कि सब एकरूप है, द्वैत न था, न है और न होगा। जैसे पुस्तक के सब अक्षर, पन्नें, मात्रा, लकीरें आदि एक पुस्तक कहलाते हैं वैसे ही सब अंडज, जेरज, स्वेतज और उद्भुज सृष्टि जगतरूप है। जगत ब्रह्मरूप है, इसलिए सब ब्रह्मरूप है। जगतरूपी पुस्तक को पढ़ने का यही प्रयोजन है कि अद्वैत वस्तु ज्यो की त्यों प्रतीत हो।

प्रश्न ४५—विराट का क्या अर्थ है ?

उत्तर—सब जगत विराट कहलाता है। तात्पर्य यह कि जो कुछ दृश्य होता है, सुना जाता है, कहा जाता है, सूंघा जाता है, स्पर्श किया जाता है, पकड़ा जाता है, नाम रखा

Scanned with CamScanner

जाता है, समझा जाता हैं या सोचा जाता है, सब विराट है। आकाश इसका शीश है, पाताल इसके चरण हैं, दशों दिशाएँ जिसकी भुजाएँ हैं, सूर्य-चाँद इसके नेत्र हैं, अग्नि इसका मुख है, सब देवता इसकी इन्द्रियाँ हैं, तारागण इसके मुख पर तिल हैं, पहाड़ इसकी अस्थियाँ हैं, नदियाँ इसकी नाड़ियाँ हैं, समुद्र इसका बस्तिस्थान है, वनस्पति इसके रोम हैं, अन्तरिक्ष लोक इसका उदर है। अंडज, जेरज, स्वेतज, उद्भुज ये चार प्रकार की खानी उदर में कृमि-वत् हैं। ऐसा पुरुष विराट रूप है।

प्रश्न ४६—शास्त्र कहते हैं कि मारकंडा सदा जीता है। इसका क्या भाव है?

उत्तर—मारकंडा का अर्थ विराट है। विराट पुरुष नित्य स्थित रहता है, इसलिए लोगों में प्रसिद्ध है कि मारकंडा सदा जीता है।

प्रश्न ४७—सारा ब्रह्माण्ड किस प्रकार शुद्ध स्वरूप है?

उत्तर—सब ब्रह्माण्ड की आत्मा स्थूल शरीर है, स्थूल शरीर का आत्मा इन्द्रिय हैं; इन्द्रियों की आत्मा प्राण हैं, प्राणों का आत्मा मन है, मन का आत्मा जीव है, जीव का आत्मा ईश्वर है, ईश्वर का आत्मा ब्रह्म है और ब्रह्म का आत्मा शुद्ध चेतन है। सभी वस्तुएँ आत्मा से सिद्ध होती हैं और सब का आत्मा शुद्ध चेतन है। इसलिए सब वस्तु शुद्ध चेतनरूप है। जिसमें कोई वस्तु सिद्ध होती है, वही उसका स्वरूप होता है। सारा जगत शुद्ध चेतन से सिद्ध होता है और शुद्ध चेतन सब का आत्मा है, इसलिए सारा जगत शुद्ध चेतन रूप है। इससे सिद्ध होता है कि सम्बन्ध और सम्बन्धी, आधार और आधेय, आत्मा और अनात्मा; जगत और शुद्ध चेतन से रहित वस्तु मात्र अपने आप में स्थित है। इस दृष्टि को परम पद, निर्वाण पद, तुरीयातीत, परम मौन, परम गम्भीर, परम शान्ति और अवाच्य पद कहते हैं। यही दृष्टि सब सज्जनों को धारण करनी चाहिए।

प्रश्न ४८—कई शास्त्रों और महात्माओं के वाक्यों में लिखा है कि परमात्मा के अनुभव में अनेक ब्रह्मांड हैं। यह उनकी महिमा के लिए लिखे हैं या यथार्थ है। इस सम्मुख ह्माण्ड का अन्त नहीं है, कहाँ से कहाँ तक है, इसी प्रकार के अनेक ब्रह्माण्ड कहाँ होंगे? क्या यह कपोल कल्पित प्रतीत नहीं होत?

उत्तर—कपोल कल्पित नहीं, यथार्थ है। अनुभव अगाध, अपार और अनन्त है, ब्रह्मांड क्या वस्तु है, जैसे आकाश में धूलि के कण उड़ते फिरते हैं वैसे ही अनुभवाकाश में ब्रह्माण्ड उड़ते फिरते हैं। जैसे प्रचण्ड अग्नि से अगणित चिनगारियाँ उठती हैं वैसे ही अनुभव से अगणित ब्रह्माण्ड प्रकट होते हैं।

जैसे स्वप्न अवस्था के ब्रह्माण्ड की तरह जागृत अवस्था का ब्रह्माण्ड भी अनुभव में है। एक एक शरीर में दो अवस्थाएँ होती हैं, उन दोनों अवस्थाओं में ब्रह्म ण्ड होते हैं। जीव शरीर अगणित हैं इसलिए ब्रह्माण्ड भी अगणित हैं। यह अगणित ब्रह्माण्ड अनुभव में है और अनुभव अद्वैत है, वही अद्वैत अनुभव परमात्मा, ब्रह्म, चेतन आदि नामों से शास्त्रों ने और महात्माओं ने कथन किया है; उसी में अगणित ब्रह्माण्ड हैं। जैसे एक ही आकाश अनेक घटों में पूर्ण होता है वैसे एक ही अनुभव अनेक शरीरों में पूर्ण है। जैसे एक-एक घट में

Scanned with CamScanner

भिन्न-भिन्न वस्तु होती है, वह सारी वस्तु आकाश में है वैसे ही एक-एक शरीर में भिन्न-भिन्न जगत है, सो सारे जगत अनुभव में हैं, इस रीति से अनेक ब्रह्माण्ड अनुभव में स्थित हैं।

चिदाकाश, चिताकाश और भूताकाश से आकाश तीन हैं, चिदाकाश नाम अनुभव का है, चिताकाश नाम फुरने का है और भूताकाश नाम ब्रह्माण्ड का है। चिदाकाश में चिताकाश है और चिताकाश में भूताकाश है, भाव यह कि अनुभव में फुरना है और फुरने में ब्रह्माण्ड है अर्थात् अनुभव के प्रत्येक फुरने में ब्रह्माण्ड है, इस रीति से अनेक ब्रह्मांड अनुभव में है।

अनुभव चेतन है। चेतन का अर्थ सत्तास्फुरण है। सत्तास्फुरण सदा अपने स्वभाव में स्थित रहता है। फुरना भी उसका स्वभाव है और फुरना तरंगों की तरह अनुभव रूप समुद्र में उदय और अस्त होता है। वही फ़ुरना ब्रह्माण्ड रूप है, इसलिमें ब्रह्माण्ड भी तरंगों की तरह अनुभव रूप समुद्र में उदय और अस्त होते हैं। इस रीति से अनेक ब्रह्माण्ड अनुभव में है। जो वस्तु जिसमें होती है वह उसका स्वरूप होती है, जैसे अनेक तरंगें एक जल रूप हैं, वैसे अनेक ब्रह्माण्ड एक अनुभव रूप है।

परमात्मा के अनुभव में अनेक ब्रह्माण्ड हैं। इसका अर्थ यह है कि परमात्मा के ज्ञान में अनेक ब्रह्माण्ड है, जैसे पंडित के ज्ञान में अनेक प्रकार की विद्या होती है वैसे परमात्मा के ज्ञान में अनेक ब्रह्माण्ड हैं। जैसे ज्ञान के बिना विद्या का स्वरूप नहीं वैसे ही ज्ञान के बिना ब्रह्मांड का स्वरूप नहीं। ज्ञान ही ब्रह्मांड रूप है, ज्ञान परमात्मा का स्वरूप है, इसलिए ब्रह्मांड परमात्मा का स्वरूप है। परमात्मा आदि और अन्त से रहित, गिनती और प्रमाण से परे है। भाव यह कि ब्रह्मांड भिन्न वस्तु नहीं, परमात्मा ही है। जैसे बलवान पुरुष का बल बलवान से भिन्न नहीं है किन्तु बलवान रूप है वैसे ही परमात्मा का अनुभव परमात्मा से भिन्न नहीं किन्तु परमात्मा रूप है। इसलिए जैसे परमात्मा की महिमा अपार है वैसे ही ब्रह्मांड की महिमा भी अपार है।

जगत ब्रह्म का हृदय है। जैसे पुरुष के हृदय में अनेक संकल्प उदय और लीन होते हैं पर पुरुष समान रहता है, वैसे ही ब्रह्म में अनेक ब्रह्मांड उदय और लीन होते हैं पर ब्रह्म समान है क्योंकि ब्रह्मांड ब्रह्म का संकल्प है। जैसे पुरुष की अपेक्षा संकल्प बहुत तुच्छ हैं, वैसे ही ब्रह्म की अपेक्षा ब्रह्मांड बहुत तुच्छ हैं। तुच्छ वस्तु महत की महत्ता को रंचक मात्र भी बिगाड़ नहीं सकती। इस रीति से अनेक ब्रह्मांड अनुभव रूप ब्रह्म में स्थित हैं परन्तु शुद्ध, शून्य विज्ञान और निर्विकार है। ऐसे शुद्ध स्वरूप में स्थिति ही परम श्रेष्ठ है।

जैसे एक बीज से अनेक वृक्ष होते हैं, यह कपोल कल्पना नहीं है, बल्कि यथार्थ है, क्योंकि एक बीज से एक वृक्ष होता है और वृक्ष वर्षों पर्यन्त चला आता है। प्रत्येक वर्ष में अगणित बीज उस वृक्ष से निकलते है। प्रत्येक बीज में एक-एक वृक्ष है। अब सोचना चाहिए कि एक बीज में कितने वृक्ष हुए ? सिद्ध है कि सब वृक्ष एक बीज में हैं। वैसे ही अनुभव बीज रूप है और ब्रह्मांड वृक्ष रूप है; अनेक ब्रह्मांड एक अनुभव में है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं, विशाल और गम्भीर बुद्धि से गम्भीर और विशाल वस्तु का विचार करना उचित है।

Scanned with CamScanner

तुच्छ और प्रच्छिन्न बुद्धि अज्ञान और भ्रांति में डालती है।

चेतन पूर्ण तत्व है। जब अणु-अणु सृष्टि चेतन रूप है तो कौन गिनती करे और क्या गिने; गिनती की समाई नहीं। अनन्त तत्व अपनी महिमा में पूर्ण हैं, धरती के परमाणु के समान अंड उड़ते हैं। तात्पर्य यह है कि अणु-अणु ब्रह्मांड है, ऐसे पूर्ण तत्व की महिमा पूर्ण है; दृष्टान्त, प्रमाण और संज्ञा से रहित अपने आप में स्थित है।

एक-एक मन जगत है अर्थात् जितने मन हैं उतने जगत हैं क्योंकि जगत मनौत मात्र है। एक-एक मन की अपनी-अपनी मनौत है इसलिए जगत भी अनेक हैं। यदि वास्तव दृष्टि से देखें तो जगत ब्रह्म रूप है और ब्रह्म अद्वैत है। वही ब्रह्म ही ब्रह्मांड रूप होकर स्थित है, इसलिए ब्रह्मांड भी अद्वैत है अर्थात् एक है। उस एक ब्रह्मांड में मन की कल्पना से अनेक जगत प्रतीत हो रहे हैं। जैसे एक मनुष्य को अनेक स्वप्न उत्पन्न और विलीन होते हैं वे सब मनुष्य का स्वरूप हैं, वैसे ही एक ब्रह्मांड में मनकी कल्पना से अनेक जगत उत्पन्न और लीन होते हैं परन्तु वे सब ब्रह्मांड रूप हैं और वह ब्रह्मांड ब्रह्म है। ब्रह्म अद्वैत है, इसलिए ब्रह्मांड भी अद्वैत है, यह दृष्टि यथार्थ है।

प्रश्न ४९—सब शास्त्रों में लिखा है ब्रह्मांड अंड की तरह है, सब चराचर सृष्टि अंड के अन्तरव अंड के ऊपर रहती है। इससे क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—निःसंशय यह ब्रह्मांड अंड की तरह है, क्योंकि ब्रह्मांड के अर्थ ब्रह्म अंड अर्थात् पूर्ण अंड हैं, तात्पर्य यह कि ब्रह्म अपनी महिमा में पूर्ण है, न उसमें कोई अन्तर है न बाहर। ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, दूर-निकट की कल्पना न हो; ऐसा जो अंड है, वह ब्रह्म है। वह ब्रह्म अंड चराचर सृष्टि से पूर्ण है किन्तु ब्रह्मांड सृष्टि स्वरूप और सृष्टि ब्रह्मांड स्वरूप है, रंचक मात्र भेद नहीं। जैसे ढेर दाना है और दाना ढेर है वैसे ही पूर्ण चिद्घन स्वरूप है, क्योंकि चेतन नाम सत्ता स्फुरण का है। जब सब ब्रह्म ही चेतन है और अणु-अणु में सृष्टि रूप है तो सभी सत्ता स्फ़ुरण है। सत्ता स्फुरण चराचर सृष्टि रूप है, इसलिए एक अद्वैत पूर्ण है, ऐसे निश्चय करना, देखना और होना ब्रह्मस्थिति है।

प्रश्न ५०—ब्रह्म को स्वयं प्रकाश और आदित्यवत् लिखा है। यदि यह जगत ब्रह्म है तो अंधेरा क्यों हो जाता है ? इससे यह सिद्ध होता है कि हम अंड के अन्तर हैं और ब्रह्म स्वयं प्रकाश स्वरूप बाहर है ?

उत्तर—ब्रह्म स्वयं प्रकाश है परन्तु उसका प्रकाश आदित्यवत् नहीं क्योंकि आदित्य उदय अस्त सहित है और ब्रह्म उदय अस्त से रहित एक रस है। इसलिए ब्रह्म चेतन प्रकाश अर्थात् ज्ञान प्रकाश है। यही ज्ञान अंधेरे और प्रकाश दोनी को प्रकाश करता है। तात्पर्य यह कि वह समान और पूर्ण है। सूर्य का प्रकाश केवल नेत्रों को प्रकाशित करता है, किसी दूसरे अंग को नहीं प्रकाशित करता, इसलिए बदलनेवाला और प्रच्छिन्न है, परन्तु ज्ञान का प्रकाश सर्वेन्द्रिय, अन्तःकरण और शरीर के रोम-रोम में प्रकाश करता है इसलिए समान और पूर्ण है तथा स्वयं प्रकाश ज्ञान ब्रह्म स्वरूप है। उसमें अन्तर बाहर की कल्पना नहीं है, अपने आपमें स्थित है। जगत भी ज्ञान स्वरूप है, अंधेरा भी ज्ञान स्वरूप है और

Scanned with CamScanner

प्रकाश भी ज्ञान स्वरूप है, मानों सारा ब्रह्मांड ज्ञान का अण्ड है। ऐसे महान प्रकाश स्वरूप में आदित्य आदि दीपकवत् भी नहीं शोभते। यदि अन्धेरे के होने से ब्रह्म को बाहर मानेंगे तो ब्रह्म पूर्ण न रहेगा, क्योंकि पूर्ण वस्तु वह होती है जो अन्तर और बाहर पूर्ण हो अर्थात् जिसमें अन्तर और बाहर न हो। सूर्य का प्रकाश शरीर के बाहर वाले पदार्थों को प्रकाशित करता है, शरीर के अन्दर, अन्तःकरण, यकृत, हृदय, गुरदा, तिली, रग, मेदा आदि को नहीं प्रकाश करता। वह कौन है जो सूर्य के प्रकाश के बिना प्रकाश करता है और उसका प्रकाश किस प्रकार का है ? वह ब्रह्म है और उसका प्रकाश ज्ञान स्वरूप है। ऐसे प्रकाश रूप ब्रह्म को बाहर कैसे कहते हो, वह ब्रह्म पूर्ण है और जगतरूप है। सूर्य में प्रकाश रूप अन्धेरे में अन्धकार रूप, देश में देश, वस्तु में वस्तु और काल में काल रूप ब्रह्म है। अर्थ ये सब रूप ब्रह्म है और हम भी ब्रह्म रूप हैं, न अन्तर है न बाहर अपनी महिमा में पूर्ण है। किसकी अपेक्षा से अन्तर और बाहर मानते हो ? जब अद्वैत वस्तु अपने आप में स्थित है, दूसरा न था, न है और न होगा तो अन्तर कहाँ और बाहर कहाँ। अन्तर भी ब्रह्म है और बाहर भी ब्रह्म किन्तु अन्तर और बाहर से रहित अपने आप में स्थित है। यह दृष्टि परम पावन और सब संशयों का नाशकर्ता है। इस दृष्टि द्वारा आप नित्य तृप्त और निश्चल रहें।

प्रश्न ५१—चिदाकाश में चिताकाश और भूताकाश स्थित है। इसका क्या अर्थ है?

उत्तर—चिदाकाश निर्विकार, अगम, अपार, शुद्ध अपनी महिमा में स्थित है, उसमें चित्त संवेदन अर्थात् संकल्प से सूक्ष्म व अपंचीकृत सृष्टि या स्थूल पंचीकृत सृष्टि प्रकट हुई। जैसे आकाश में पवन के वेग से आंधी और बादल प्रकट होते हैं वैसे ही चिदाकाश में चित्त के फुरने से पंचभूत और भौतिक सृष्टि प्रकट हुई। चित्त भी निराकार होने से आकाश रूप है और भूत भी निराकार चित्त में कल्पित होने से आकाश रूप है। इसलिए फुरने को चिदाकाश और जगत को भूताकाश माना गया है। ये दोनों ही चिदाकाश के आसरे स्थित हैं। अर्थ यह कि सूक्ष्म और स्थूल रूप भूताकाश चिदाकाश में कल्पित है और चिताकाश चिदाकाश में कल्पित है और चिदाकाश स्वतः सिद्ध है इसलिए चिदाकाश सत्य है और भूताकाश कल्पित है। कल्पित वस्तु के ऊपर प्रतीत करना अविद्या है और सत्य वस्तु के ऊपर प्रतीत करना विद्या है। इसलिए अविद्या की प्रतीत त्यागकर विद्या की प्रतीत स्वीकार करना उचित है। भाव यह कि चिदाकाश और भूताकाश को त्यागकर केवल चिदाकाश में वृत्ति स्थिर रखना परम ज्ञान और आनन्द है।

प्रश्न ५२—प्रकृति किसकी मर्यादा है ? किसी की इच्छा से प्रकट हुई या स्वतः सिद्ध है ?

उत्तर—प्रकृति नाम मर्यादा का है। जो मर्यादा प्रवृत हो रही है उसे शास्त्रकार प्रकृति कहते हैं। वह स्वतः सिद्ध है, किसी की इच्छा से उत्पन्न नहीं होती।

प्रश्न ५३—यदि स्वतः सिद्ध है तो भेद दृष्टि क्यों प्रतीत होती है ?

उत्तर—भेद दृष्टि कोई नहीं। प्रकृति ही अपनी मर्यादा में स्थित होकर अपनी शक्ति को प्रकट कर रही है और समानरूप में स्थित है। भेद तब माने जब प्रकृति की मर्यादा परिवर्तनशील हो जावे। ऐसी मर्यादा समान स्थित, एकरस और सत्य है, कदाचित् व्यभिचार

Scanned with CamScanner

को प्राप्त नहीं होती और न किसी पदार्थ के साथ उसका न्यून वा विशेष सम्बन्ध है। सब के साथ तादात्म्य सम्बन्ध धार समता में स्थित है। यदि विचार दृष्टि से देखें तो जड़ चेतन पदार्थ केवल प्रकृति हीं है, मानो एक ही प्रकृति अनेक रूप होकर अपनी मर्यादा को यथार्थ रीति से अपने आप में प्रकट कर रही है; दूसरा न था, न है और न होगा। जिसे भेद कहते हैं, और जिसे अभेद कहते हैं, दोनों प्रकृति है। प्रकृति को त्यागकर भेद अभेद का स्वरूप असिद्ध है, इसलिए प्रकृति में केवल प्रकृति ही स्थित है, भेद और अभेद असिद्ध हैं।

प्रश्न ५४— ॥ दोहा ॥

परम ब्रह्म संसार में, केतक हैं परच्छेद,
मेटो यह संदेह मम, लीन होय भव खेद ?

उत्तर— ॥ दोहा ॥

चित्त निरोध परब्रह्म है, चित्त विक्षेप संसार।
ताँते एको चित्त को, उभय स्वरूप विचार॥
जो चाहें संसार को, चितवो नाना भाव।
जो चाहें परब्रह्म को, गहो निरोध स्वभाव॥
तत दर्शन में होत है, राग द्वेष का क्षोभ।
ब्रह्म दर्शन निश्चल महा, शीतल सत् अक्षोभ॥
ताँते चित्त निरोध कर, निश्चल पद को पाय।
चित्त विक्षेप संसार को, हेमां वेग भुलाय॥
आदि अन्त शिवरूप है, मध्यवर्ती संसार।
आदि अन्त वत् मध्य में, शिव स्वरूप संभार॥
एक अखंड अक्षोभ अज, आतम तत्व अपार।
नहिं आवे जावे कहीं, हेमां अचल विचार॥

प्रश्न ५५—संसार और परमात्मा में कितना भेद है और वह भेद किस साधन से निवृत्त होता है और किस उपाय से संसार से मुक्त होकर परमात्मा की प्राप्ति होती है ?

उत्तर—चित्त की विक्षेप्ता का नाम संसार है और चित्त की एकाग्रता का नाम परमात्मा है। विक्षेप्ता का त्याग और एकाग्रता का ग्रहण सब जिज्ञासुजन करें। विक्षेप्ता के त्याग का उपाय निरन्तर आत्म-श्रवण, आत्म-मनन और आत्म-निदिध्यासन से भिन्न और और कोई नहीं, इसलिए पुरुषार्थ से अपने चित्त को विक्षेप्ता से रहित कर एकाग्रता के सिंहासन पर विराजमान रखें जिससे सब दुःखों की निवृति होकर परमानन्द की प्राप्ति हो।

संसार और परमात्मा में इतना भेद है कि देह अभिमान के साथ मिलकर जो मन का फुरना है वह संसार है और देह अभिमान से रहित जो मन का फुरना है वह परमात्मा है। यदि परमात्मा की प्राप्ति की जिज्ञासा हो, देह अभिमान का त्याग करें। देह अभिमान का त्याग विवेक से होता है और विवेक विवेकी पुरुषों के संग से होता है। विवेकी पुरुष अनिच्छुक और बेपरवाह होते हैं। केवल श्रद्धा, निरमानता और सचाई से प्रसन्न होते हैं।

Scanned with CamScanner

जब ये तीनों पदार्थ इनकी भेंट करता है तो वह प्रसन्न होकर उसे समझाते हैं कि देह असत्य है और आत्मा सत्य है। जब देह असत्य है तो देह का नाम, वर्ण, सम्बन्ध, आश्रम, मान प्रताप और दुःख सुख भी असत्य हैं। जब ये सारे असत्य हैं तो धन, गृह, स्त्री, पुत्र की प्रीति भी असत्य है, जब सब को असत्य जानकर हृदय से भुलाता है, तब शेष ज्ञानमात्र रहता है,वह परमात्मा है। इस प्रकार विवेकी शिष्य सद्गुरु की कृपा से परमात्मा को पाकर संसार से मुक्त होता है। इसलिए अपनी श्रद्धा, निरमानता और सचाई को दृढ़ रखें, दूसरों की ओर दृष्टि न लगावे। यह संसार महाअनर्थ रूप है, शब्द का झगड़ा है। संसारी पुरुषों का संग महादुःख रूप है, यह लोग बाहर से साफ़ और अन्दर से मैले होते हैं, इनका पुरुषार्थ केवल व्यवहार और गृहस्थ सेवन के लिए होता है। परमार्थ के शत्रु होते हैं। यदि कोई परमार्थ का पुरुषार्थ भी करे तो मध्य से रोक लेते हैं, इसलिए इनका संग आत्म जिज्ञासुन करे। यदि संग बने तो इनके वचन पर प्रतीत न करे। इनको स्वप्न के सम्बन्धियों की तरह जानकर चित्त से भुला दे। इस प्रकार शरीर नश्वर है, इसके मोह में अपनी आयु को नष्ट न करे, सावधान होकर स्वरूपानन्द में मग्न रहे।

संसार और परमात्मा में इता भेद है जितना शब्द और अर्थ में। तात्पर्य यह कि संसार शब्द है और परमात्मा अर्थ है। शब्द प्रत्यक्ष प्रतीत होता है और अर्थ प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होता। इसलिए अज्ञानी शब्द पर मोहित हैं और ज्ञानी शब्द को त्यागकर अर्थ में स्थित है। वास्तव में शब्द और अर्थ एक रूप है, शब्द से अर्थ प्राप्त होता है तथा शब्द के साथ अभिन्न रहता है। विचारवान शब्द को विचार कर अर्थ को ग्रहण करता है और शब्द को कपोल कल्पित जानकर विस्मरण करता है। उसकी सतता निश्चित नहीं करता, इसलिए शब्द के होते ही शब्द से मुक्त रहता है। यदि यथार्थ दृष्टि से देखें तो अर्थ भी शब्द रूप है मानों शब्द का रूप धारकर अपनी महिमा को आप प्रकट कर रहा है, इसलिए संसार और परमात्मा एक वस्तु है।

प्रश्न ५६—संसार का यथार्थ स्वरूप क्या है और इसका अभाव कैसे होता है?

उत्तर—संसार केवल संसरना है। संसरना अन्तःकरण के स्फुरण भाग में रहता है और स्फुरण भाग में लीन हो जाता है। तात्पर्य यह कि जाग्रत और स्वप्न अवस्था में संसरना भाव रूप होता है और सुषुप्ति अवस्था में अभाव रूप हो जाता है। अतः संसरना भी तीनों अवस्थाओं में सत्य और समान नहीं रहता इसलिए व्यभिचारी और विशेष है। कार्य कारण के अनुसार होता है इसलिए संसार भी संसरने का कार्य होने से व्यभिचारी और विशेष है। इस की प्रतीति सत्य और समान वस्तु के आसरे होती है। सत्य और समान वस्तु ही चेतन है क्योंकि चेतन का अर्थ सत्ता स्फुरण है। इसमें सत्ता का अर्थ सत्य है और स्फुरण का अर्थ संसारना है। अतः स्फुरण रूप संसरना संसार रूप है और सत्ता के आसरे रहता है, सत्ता को त्यागकर स्फुरण सिद्ध नहीं होता, इसलिए स्फुरण को सत्ता का विशेषण स्थापित कर आचार्यों ने चेतनपद के अर्थ निरूपण किए हैं। तात्पर्य यह कि स्फुरण सत्ता से भिन्न नहीं है। संसार स्फुरण रूप सिद्ध हुआ है इसलिए संसार भी सत्ता से भिन्न नहीं है

Scanned with CamScanner

किन्तु सत्ता स्वरूप है। संसार और सत्ता मिलकर चेतनपद के अर्थ हैं। इसमें सत्ता सामान्य रूप है और स्फुरण रूप संसार विशेष रूप है। विशेष रूप सामान्य की शोभा होती है, जैसे प्रकाश सूर्य की शोभा है, इसलिए विशेष भी सामान्य से भिन्न नहीं किन्तु सामान्य रूप है। इस रीति से सँसार को समझना संसार का यथार्थ ज्ञान है और इसी ज्ञान को दृढ़ करना संसार को पार होना है। भाव यह कि संसार फिर संसार प्रतीत नहीं होता, किन्तु चेतन प्रतीत होता है। जब अद्वैत चेतन ही सिद्ध हुआ तब संसार और अज्ञान से प्रतीत होने वाले संसार के दुःखों के अत्यन्ताभाव हो जाते हैं और परमानन्द अवस्था नित्य ही बनी रहती है। इस-लिए उत्तम जिज्ञासु और नवीन ज्ञानी जीवन मुक्ति के विलक्षण आनन्द के लिए पूर्वोक्त तत्वज्ञान का मनन और निदिध्यासन कर अपनी वृत्ति बनावे।

प्रश्न ५७—यह जो कुछ दृष्टिगोचर होता है, क्या है ?

उत्तर—यह जो कुछ दृष्टि में आ रहा है वह केवल आकाश रूप है। यद्यपि शरीर भिन्न-भिन्न आकार वाले, भिन्न-भिन्न देश में स्थित, भिन्न-भिन्न काल पर्यन्त रहने वाले प्रतीत हो रहे हैं तथापि वास्तव में आकाश रूप है। दृष्टि दोष से आकार वाले प्रतीत होते हैं अन्यथा आकार कोई नहीं; केवल निर्गुण निराकार अपनी महिमा में स्थित है, इस दृष्टि को धारकर तत्ववेत्ता मग्न रहते हैं।

॥ भजन ॥ (१)

अवस्था जग की परिणामी, तुझे धरती दिखावे हैं॥
घिसी हालत में धरना मत, भरोसा यह सिखावे हैं॥१॥
जो भारी थे किले जग में, वह अब मिसमार खंडर हैं॥
जो बसते थे नगर भारी, वहाँ गीदड़ चिलावे हैं॥२॥
कई सूबे कई राजा, लड़ाये तृष्णा कर अन्धे॥
मरा कर लाखों योधा को, लहू नदिया बहावे है॥३॥
बुला कर दूर देशों से, अनिक सेना सहित राजा॥
सजा तृष्णा की देकर, अन्त मिट्टी में रुलावे है॥४॥
जहाँ नदियां रहीं बहतीं, वह निर्जल थल है अब भारी॥
जो था बहु काल थल निर्जल, वहाँ नदियाँ बहावे है॥५॥
जहाँ थे बाग फल फूलों से, अति सुन्दर लदे महके॥
दिनों में उनको सूना करके, जंगल वत् बनावे है॥६॥
जहाँ मन्दिर शिवालय थे, वहाँ खंडर अरूरी हैं॥
अरूरी सूने स्थानों को, मन्दिरों से सजावे है॥७॥
हरी धरती कभी खेतों से, वीराना पड़ी अब है॥
हर इक हाल में समता और धीरज को दिखावे है॥८॥
गहो उपदेश धरती का, रहो समता में निज हेमां॥
जगत के नाशी दुःख सुखमें- तू चित को क्यों तपावे है॥९॥

Scanned with CamScanner

॥ भजन ॥ (२)

उल्टी है रीत जग की, मत भूल इस पे भाई ॥
सुपने का है तमाशा, परतीत क्या जमाई ॥१॥
पापी हैं न्याय करते, निष्पाप कैद पावें ॥
साधु को सूखे टुकड़े, दुष्टों को है मलाई ॥२॥
आस्तिक हैं भूखे फिरते, नास्तिक हैं राज्य करते ॥
जालिम हुक्म चलावें, कारुणिक कष्ट पाई ॥३॥
भूले हैं भूलनों में भूषण लदी कुरूपा ॥
दासी बनी है रूपा, दुःख से उमर बिहाई ॥४॥
मूरख मजे हैं करते, स्याने भटकते फिरते ॥
पंडितों ने अनपढ़ों की, है नौकरी कमाई ॥५॥
मित्रों से अन्त धोखा, है द्वेष बान्धवों में ॥
सुत दारा स्वार्थी सब ये, गैरो से हो भलाई ॥६॥
आज्ञा पे बालकों की, चलते बड़े सुधी नर ॥
सन्तों से दोष दृष्टि, दुष्टों से सज्जनाई ॥७॥
मिलता है आलसी को, धन-माल बैठे-बैठे ॥
उदमी कई यतन कर, निर्धन रहे सदा ही ॥८॥
विपरीत ऐसी रीति, जग को सुझावे मिथ्या ॥
इससे हटा के हेमा, वृत्ति आत्मा में लाई ॥९॥

॥ भजन ॥ (३)

अजब यह जाल मजहब का, भरम ने आ बिछाया है ॥
विरोध और द्वेष की अग्नि, में लोगों को जलाया हैं ॥१॥
गले में कोई तागे बाँध, यह हिन्दू कहलवाता है ॥
किसी ने बन के मुस्लिम, अपनी इन्द्रिय को छिदाया है ॥२॥
कोई बप्तसमा ले गिरजा में, ईसाई कहलाया है ॥
किसी ने आग की पूजा को, अपना मत बनाया है ॥३॥
यहूदी कोई फिरता है, कोई मत बौद्ध माने है ॥
कोई मुँह बाँधे पाँव नंगे, चले जैनी कहाया है ॥४॥
किसी ने पहन कर भगवे, मुँडाया दाढ़ी सिर अपना ॥
धरा लिट्टा किसी ने, तन भभूती से रमाया है ॥५॥
किसी ने कान फड़वा नाम, जोगी है रखा अपना ॥
किसी ने त्याग वस्तर को, दिगम्बर नाम पाया है ॥६॥
कई पत्थर की पीतल की, परिशतिश पर हैं दीवाने ॥
कई लोगों ने पानी को प्रभु सूक्षम बनाया है ॥७॥

Scanned with CamScanner

कई कबरों मज़ारों पर, हैं सुत धन माँगते फिरते ॥
कई पूजें पशु, केतों ने वृक्षों सिर झुकाया है ॥८॥
सबों ने श्रेष्ठ हर इक, अपने मजहब को जितावे है ॥
इतर सब मजहबों को, झूठा औ कल्पित बताया है ॥९॥
बुरा इक दूसरे को कह कर, झगड़े को बढ़ाते हैं ॥
लड़ा कर शब्दों पर, केतों का बिरथा सिर कटाया है ॥१०॥
प्रभु अद्वैत को भुल कर, सदा यह भेद में भरमें ॥
कोई विरला हरि सेवक, भरम की सब रिआया है ॥११॥
प्रभु निर्गुण है ला मजहब, समाया हेमां घट घट में ॥
सरब को आतमा देखा, भरम भगड़ा मिटाया है ॥१२॥

॥ इति श्री नवम सिद्धान्त समाप्तम् ॥

●

★ परमात्मा सिद्धान्त ★

: १० :

प्रश्न १—

॥ दोहा ॥

हे भगवन् वर्णन करो, परमातम को रूप,
जाँको सुनकर प्रकट हो, चित में ज्ञान अनूप ॥
सत् वस्तु भासे अमल, अद्वै रहित विकार,
हेमराज भासे नहीं, द्वैत रूप संसार ॥

उत्तर—

॥ दोहा ॥

स्वयं प्रकाशी स्वस्थ निज अचल अगाध अनूप,
ईश जीव के भेद बिन, अमल अभेद स्वरूप ॥
परमदेव परमातमा, परमानन्द स्वरूप ॥
परम पुरुष पूरण महा, परम तत्व भव रूप ॥
अचल अभेद अखंड इक, अद्वै अगम अपार,
अविनाशी इक रस सदा, निर्मल रहित विकार ॥
जगत ब्रह्म के भेद बिन, अचल अडोल अनूप,
निज में निज इस्थित सदा, सत्चित आनन्द रूप ॥
एक वस्तु अद्वैत नित, उदय अस्त से शून्य,
आदि अन्त मध से अमल, नहिं विशेष नहिं न्यून ॥
सर्वा-सर्व न संभवे, नहिं सामान्य विशेष,
नहिं पूरण परच्छिन्न नहिं, नहि नाशी नहिं शेष ॥
निरउपाधि निष्कल्प नित, स्वतः सिद्ध कूटस्थ,
एक अनेक विवेक से, रहित अभेद सुवस्थ ॥
सत्ता मात्र अच्युत अज, केवल निर्गुण रूप,
क्षोभरहित आनन्दमय, अगम अपार अनूप ॥
ऐसे सम्यक जानकर, संशय तिमिर नसाय,
निर्विकल्प इस्थित गहो, **हेमराज** सुख पाय ॥

Scanned with CamScanner

प्रश्न २--परमात्मा क्या वस्तु है, उसका स्वरूप क्या है और उसका निवास कहाँ है?

उत्तर--सब वस्तु में पूर्ण और परम सत्ता रंगरूप से रहित है, वह परमात्मा कहलाती है। उसका निवास किसी विशेष स्थान में नहीं; सब में पूर्ण है, परन्तु वेद ने उसका विशेष स्थान हृदय बताया है। परमात्मा का स्वरूप सत्चित आनन्द है।

प्रश्न ३—परमात्मा के भी चरणों की पूजा की आज्ञा है, परन्तु परमात्मा निराकार है, निराकार के बाह्य चरण तो होते नहीं, इसलिए परमात्मा के चरणों का क्या अर्थ है?

उत्तर—परमात्मा के विशेषण जो सत्चित् आनन्द, निर्विकार और कूटस्थ है, वह परमात्मा के चरण हैं, और वह पूजा करने योग्य हैं, इन्हीं चरणों की पूजा करने से परमात्मा की प्राप्ति होती है। इस रीति से चरणों की पूजा शास्त्रों और लोगों में प्रसिद्ध है।

प्रश्न ४—सत्य क्या है और कहाँ है ?

उत्तर—सत्य ही सत्य है, अनेकता सत्यरूप सूर्य का प्रकाश है। असत्य सत्यरूप सूर्य की छाया है। शब्द सत्यरूप सूर्य का प्रताप है; ज्ञान सत्यरूप सूर्य का स्वरूप हैं, आनन्द सत्य रूप सूर्य की स्थिति हैं, ऐसा सत्यरूप सर्वात्मरूप होकर अपनी महिमा में आप स्थित है।

प्रश्न ५—परम तत्व का अर्थ क्या है ?

उत्तर—परमात्मा का अर्थ है, जिसमें सब है और जो सब में है। जिससे सब हैं और जो सब से अतीत है, ऐसा तत्व परम तत्व है।

प्रश्न ६—अनुभव और परम तत्व में भेद है या नहीं ?

उत्तर--नहीं एक रूप है।

प्रश्न ७—अनुभव किस अवस्था में और परमतत्व किस अवस्था में है ?

उत्तर—ज्ञान अवस्था में अनुभव रूप है और स्थिति अवस्था में परम तत्व रूप है।

प्रश्न ८—परमात्मा का दर्शन कैसे होता है ?

उत्तर—ज्ञान से।

प्रश्न ९—किस ज्ञान से ?

उत्तर—जितने नाम रूप प्रतीत होते हैं, सब को भुलाकर शेष वह परमात्मा है। तात्पर्य यह कि अस्ति परमात्मा स्वरूप है और नाम रूप परदे में लोप होकर प्रतीत नहीं होती। जब नाम रूप को उठाकर देखा जावे तो केवल अस्तिरूप परमात्मा का दर्शन होता है। जो कुछ देख रहे हो वह परमात्मा है, भिन्न-भिन्न नामों और रूपों से प्रतीत होता है। परमात्मा नहीं है या परमात्मा कोई भिन्न वस्तु है—यह अज्ञान है। परमात्मा ही आकाश परमात्मा ही पवन परमात्मा ही अग्नि परमात्मा ही जल है। वही धरती है, सूर्य है, वही चन्द्रमा है, अंडज है, जेरज है, स्वेदज और उद्भुज है, सर्व रूप परमात्मा है। अतः जो कुछ देखा जाता है वह परमात्मा का दर्शन है। इस ज्ञान से परमात्मा का दर्शन होता है।

प्रश्न १०—परमात्मा को कहाँ देखें ?

उत्तर—जहाँ चाहें वहाँ ही परमात्मा को देखें। परमात्मा पूर्ण है, सब देश, सब काल, सब वस्तु में एक समान है। सब जगत परमात्मा का स्वरूप है और परमात्मा सब जगत रूप

Scanned with CamScanner

है। जैसे देखें वही यथार्थ है और जिस प्रकार महिमा करें वही उचित है।

प्रश्न ११—परमेश्वर का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—परमेश्वर सत्चित् आनन्द स्वरूप है अर्थात् तीनों कालों में स्थित चेतन स्वरूप अपने में आप है। केवल केवली मात्र सत्ता सामान्य और ज्ञान स्वरूप हैं।

प्रश्न १२—परमेश्वर को किसने प्रकट किया है ?

उत्तर—परमेश्वर को किसी ने प्रकट नहीं किया, वह स्वयं प्रकाश है। अपने प्रकाश से स्वयं प्रकाशमान है, आदि, मध्य, अन्त से रहित चिदाकाश रूप है। इसलिए उसका उत्पन्न होना या प्रकट होना सिद्ध नहीं होता। यदि परमेश्वर को प्रकट करने वाला मानें तो उसे प्रकट करने वाला भी ढूंढ़ना पड़ेगा। इस रीति से परमेश्वर के कुल का अन्त कभी नहीं आयेगा, व्यर्थ कल्पना में आयु व्यतीत हो जाएगी इसलिए परमेश्वर को स्वत: सिद्ध कारण और कार्य से रहित, स्वयं प्रकाश, स्वयं स्थित निश्चय कर संशय को निवृत्त करना चाहिए। वास्तव में कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हुई, सारे अनादि हैं परमेश्वर का अर्थ पूर्ण हैं, पूर्ण की उत्पत्ति किस प्रकार मानें ? जब सब पूर्ण में पूर्ण है, उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं उसे प्रकट करने वाला दूसरा किसे निश्चय करें ? वह स्वयं-प्रकट, स्वयं-स्थित, स्वयं प्रकाशमान, स्वयं-पूर्ण आप ही आप है, दूसरा न था, न है और न होगा।

प्रश्न १३—सारे जगत ने परमेश्वर को क्या जाना है ?

उत्तर—सब जगत ने परमेश्वर को परमेश्वर ही जाना है क्योंकि परमेश्वर सब की आत्मा है। आत्मा का अर्थ अपना आप है, वह अपना आप स्वयं जाना जाता है दूसरे से नहीं जाना जाता क्योंकि दूसरी वस्तु नहीं है। परमेश्वर स्वयं जगत रूप है इसलिए स्वयं जानने योग्य है और आप से आप जाना जाता है और आप से आप जाना गया है और आप से आप जाना जाएगा। वह सदा ज्ञान स्वरूप है इसलिए उसे जानने में किसी की सहायता उपयुक्त नहीं, वह स्वयंसिद्ध है। जैसे सूर्य का प्रकाश अपने प्रकाश से प्रकाशित होकर नेत्रों को भासता है। सूर्य के प्रकाश के बिना नेत्रों में दूसरा प्रकाश कोई नहीं। सूर्य का प्रकाश ही मानों नेत्रो में प्रवेश कर सूर्य को देखता और जानता है इसलिए नेत्र सूर्य से भिन्न नहीं हैं किन्तु सूर्य रूप हैं। सब नेत्रों का आत्मा एक सूर्य है, इसलिए सूर्य अपने को स्वयं देखता और जानता है, सूर्य के बिना दूसरी वस्तु सूर्य को नहीं जान सकती, स्वयं प्रकाशमान है। वैसे ही परमेश्वर को परमेश्वर के बिना दूसरा कोई नहीं जान सकता, वह स्वयं सिद्ध है क्योंकि अद्वैतरूप है, अद्वैत वस्तु नित्य ही स्वत: सिद्ध और स्वयं प्रकाश होती है इसलिए परमेश्वर नित्य ही स्वयं प्रकाश है और आप से आप जानने योग्य है।

प्रश्न १४—परमेश्वर नेत्रों से दृष्टिगोचर होता है या नहीं ?

उत्तर—परमेश्वर नेत्रों का भी द्रष्टा है। नेत्र उसे कैसे देखेंगे ? जब नेत्र अपने को आप नहीं देख सकते तो प्रकाश करने वाले को कैसे देखेंगे ? दूसरा, परमेश्वर अद्वैत है, परमेश्वर को देखनेवाला किसे मानें ? जब आप ही आप है तो न कोई नेत्र हैं, न नेत्रों से दृष्टि आने वाला है और न नेत्रों से अगोचर है। जो कुछ है वह परमेश्वर है।

Scanned with CamScanner

प्रश्न १५—परमेश्वर न्यायकारी है या दयालु ?

उत्तर—परमेश्वर न न्यायकारी है न दयालु है, निर्विकार अपनी महिमा में आप स्थित है। यह सब कल्पना अज्ञान में है और भेद दृष्टि में सत्य प्रतीत होती है। पर- मेश्वर अद्वैत है, उसके बिना न था, न है और न होगा, वह किस पर न्याय करे और किस पर दया करे।

प्रश्न १६—चेतन में इच्छा कैसे हुई ?

उत्तर—इच्छा चेतन का स्वरूप है क्योंकि चेतन सत्ता स्फुरण है और इच्छा स्फुरण रूप है इसलिए इच्छा भी दूसरी वस्तु नहीं, चेतन का स्वत: स्वभाव है।

प्रश्न १७—परमेश्वर ने विराट स्वरूप किस लिए बनाया ? उसे क्या इच्छा थी ? इसका निर्णय लिखें।

उत्तर—विराट परमेश्वर का स्वरूप है, इसे परमेश्वर ने बनाया नहीं। अनादि काल से ऐसे चला आता है। परमेश्वर ने अपनी अद्भुत, अपार और विस्तीर्ण शक्ति को मानो प्रकट करने के लिए विराट स्वरूप धारण किया है। पाँच तत्व विराट के अंग हैं, शक्तियाँ हैं या स्वरूप है और सारी सृष्टि विराट में स्थित है। ऐसी विराट उत्पत्ति और नाश से रहित सदा अपनी महिमा में स्थित है। शास्त्रकारों ने परमेश्वर के तीन स्वरूप वर्णन किये हैं, कारण, सूक्ष्म और स्थूल। कारण स्वरूप ईश्वर है, सूक्ष्म स्वरूप हिरण्यगर्भ हैं और स्थूल स्वरूप विराट है। ये तीनों स्वरूप अभिन्न हैं इसलिए तीनों ही परमेश्वर रूप हैं। कारण, सूक्ष्म, स्थूल नाम मात्र हैं, जिज्ञासु को समझाने के लिए आचार्यों ने कल्पित किए हैं। वास्तव में न कोई कारण है न सूक्ष्म है और न स्थूल है। एक ही अद्वैत सत्ता अपनी महिमा में स्थित है। आकाश उसकी पूर्ण सत्ता है, पवन उसकी चेतन सत्ता है, अग्नि उसकी प्रकाश सत्ता है, जल उसकी आत्म सत्ता है और धरती उसकी स्थित सत्ता है, इस रीति से एक ही सत्ता अपने आप में स्थित है। पाँच विशेषणों से विराट की संज्ञा से संज्ञक है, वास्तव में अद्वैत है, कार्य और कारण भाव से रहित है। भाव यह कि न इसका कोई बनाने वाला है और न इसने किसी को बनाया है, आप में आप है, यह यथार्थ ज्ञान है।

प्रश्न १८—शास्त्रकारों ने विष्णु भगवान् को चतुर्भुज स्वरूप क्यों लिखा है ?

उत्तर—विष्णु का अर्थ विराट है। वह विराट पूर्ण होकर स्वयं स्थित है, चार दिशायें उत्तर, पक्षिण, पूर्व, पश्चिम उसकी चार भुजायें हैं। ऐसा चतुर्भुज रूप विष्णु उपासना करने योग्य और जानने योग्य है।

विष्णु का अर्थ व्यापक है, वह व्यापकरूप विष्णु सब घटों में आत्मरूप होकर विराजमान है। चार अन्त:करण अर्थात् मन, चित्त, बुद्धि अहंकार उसकी चार भुजायें हैं, ऐसा विष्णुरूप आत्मा सब का अपना आप है।

विष्णु का अर्थ विश्व है, यह विश्वरूप विष्णु अपनी मर्यादा में स्थित है, चार ऋतुयें वसन्त, ग्रीष्म, शीत और पतझड़ उसकी चार भुजायें हैं। इन्हीं भुजाओं के द्वारा वह सारी चेष्टायें करता है। ऐसा विश्वरूप विष्णु दर्शन करने योग्य है।

Scanned with CamScanner

विष्णु का अर्थ सतोगुण अभिमानी है। भाव यह कि सत्य धर्म स्वरूप या सतोगुणरूप विष्णु है, कर्म, उपासना, ज्ञान और विज्ञान उसकी चतुर्भुजायें हैं, ऐसा सत्य स्वरूप विष्णु सेवनीय है।

विष्णु का अर्थ पावन है, सब को पावन करने वाला विष्णु है। हरि के नाम से प्रसिद्ध है। यम, दम, सम, ज्ञान यह चार भुजायें हैं, यम से तन पवित्र होता है, दम से इन्द्रिया पवित्र होती हैं, सम से मन पवित्र होता है और ज्ञान से जीव पवित्र होता है, ऐसा पावन स्वरूप विष्णु सदा ध्यान करने योग्य है।

विष्णु का अर्थ प्रतिपालक है, प्रतिपालक रूप विष्णु सब सृष्टि को पवन, अग्नि, जल और धरती द्वारा पालन करता है। इससे यह चारों उसकी भुजायें हैं। ऐसा प्रतिपालक रूप विष्णु स्तुति करने योग्य है।

विष्णु का अर्थ प्रेरक है, प्रेरकरूप विष्णु सारी सृष्टि को अपनी शक्ति से प्रेरणा देता है, प्राण, इन्द्रिय, अन्त:करण और जीव, यह चार शक्तियाँ उसकी भुजायें हैं, इनके द्वारा वह सब कर्मों और धर्मों को सिद्ध करा रहा है। ऐसा प्रेरकरूप विष्णु सदा महिमाकरने योग्य है।

विष्णु का अर्थ स्थितिकर्ता है। यह सारी सृष्टि को अपनी मर्यादा में स्थित रख रहा है। वह विष्णु है, चार प्रकार की खानी से सृष्टि प्रवाह रूप में स्थित चली आती है। वह चार खानी उसकी चार भुजायें हैं, अण्डज, जेरज, स्वदेज और उद्भुज यह चार खानी हैं, इनके आसरे सृष्टि स्थित है। ऐसा कर्तारूप विष्णु सदा वन्दनीय है।

विष्णु का अर्थ ज्ञान है। ज्ञान वाणी के द्वारा उत्पन्न होता है ज्ञान की सहायक वाणी है और वह वाणी चार प्रकार की है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैक्षरी। यह चार प्रकार की वाणी ज्ञान रूप विष्णु की चार भुजायें हैं,ऐसा ज्ञान रूप विष्णु सदा ही अपना आत्मा जानने योग्य है

विष्णु का अर्थ दाता है। वह दाता रूप विष्णु अपने दान से सर्व सृष्टि को फल देता है, वह दान रूप पदार्थ चार हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। ये चार पदार्थ दाता विष्णु की चार भुजायें हैं। इन्हीं से वह सब की कामनाओं को पूर्ण करता है, ऐसा दाता रूप विष्णु सदा ही विश्वास से सेवन करने योग्य है।

प्रश्न १९—परमेश्वर अजन्मा है तो उसने जन्म कैसे लिये हैं ? वह जगत में दशरथ के पुत्र श्रीरामचन्द्र जी और वसुदेव के पुत्र श्री कृष्ण जी के अवतारों में प्रसिद्ध क्यों हुए हैं ?

उत्तर—परमेश्वर ने जन्म नहीं लिया वह सदा अजन्मा है। सारा जगत परमेश्वर का विलास है अथवा परमेश्वर की लीला है, वा परमेश्वर का कलोल है, परमेश्वर का संकल्प है, परमेश्वर का हृदय है या परमेश्वर का स्वरूप है। यदि परमेश्वर अपने परमेश्वर भाव को त्याग कर अपरमेश्वर हो जावे तो परमेश्वर का जन्म मानें। जब परमेश्वर ज्यों का त्यों सत्तासामान्य स्वयं स्थित है, उसका जन्म किस प्रकार निश्चय करें ? वास्तव दृष्टि से देखें तो जन्म कोई शब्द नहीं, क्योंकि इसके अर्थ किसी युक्ति से, रीति व प्रमाण से सिद्ध नहीं होते। जैसे और अनेक शब्द अर्थ से रहित जगत में प्रसिध्द हैं, वैसे ही जन्म शब्द भी अर्थ से रहित

Scanned with CamScanner

प्रसिध्द चला आता है। वास्तव में जन्म शब्द निरर्थक है, किसी वस्तु जड़ अथवा चेतन के साथ इसका सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता और न किसी वस्तु को अपने स्वरूप से विरुध्द कर सकता है। सारे पदार्थ जड़ अथवा चेतन समानरूप, एकरस अपनी मर्यादा में स्थित चले आते हैं। यद्यपि जन्म का शब्द प्रसिद्ध है तथापि इसका फल अथवा बल रंचकमात्र भी प्रतीत नहीं होता। इसलिये जन्म का मानना अत्यन्त ही अनुचित और निरर्थक है। जब और पदार्थों का जन्म ही सिद्ध नहीं होता तो परमेश्वर का जन्म कैसे सिद्ध होगा।

जैसे जल में अनेक तरंगें उत्पन्न होती हैं और तरंगें जलरूप हैं। जल के बिना तरंग का कोई स्वरूप सिद्ध नहीं होता, परन्तु बड़ा आश्चर्य है कि तरंग की उत्पत्ति मानते हैं और जल की उत्पत्ति नहीं मानते। वास्तव में तरंग जलरूप है यदि जल जन्म से रहित है तो तरंग भी जन्म रहित है। इसलिए तरंग का उदय होना, उत्पन्न होना, प्रकट होना या उठना या दूसरा प्रतीत होना निरर्थक है। वैसे ही परमेश्वर रूप जल से सृष्टि रूप तरंगों की उत्पत्ति मानना निरर्थक है, क्योंकि जब वस्तु स्वयं स्थित है और किसी प्रकार से विरुद्ध गति को अथवा व्यभिचारी स्वभाव को प्राप्त नहीं हुई तो किससे किसका जन्म और किसको किसका कारण माने ? कारण और कार्य से रहित, अद्वैत वस्तु स्वयं स्थित है। जैसे बीज से वृक्ष की उत्पत्ति प्रलिद्ध है और फिर वृक्ष की समाप्ति बीज में प्रसिद्ध है। भाव यह कि आदि भी बीज है और अन्त भी बीज है, मध्य में जो वृक्ष रूप प्रतीत होता है, वह भी बीज के बिना नहीं किन्तु बीज का बिस्तार है। जब तीनों अवस्था आदि मध्य और अन्त में बीज ही बीज है तो फिर बीज से वृक्ष का जन्म मानना किस युक्तिपूर्वक सिद्ध होगा ? इसलिए बीज अजन्मा है, स्वयंस्थित है, वृक्ष भी उसका स्वरूप है क्योंकि वृक्ष दिशा में भी बीज का अभाव नहीं हुआ किन्तु एक-एक फल में बीज स्थित है इसलिए, बीजरूप है।

अब जो पुरुष वृक्ष को बीज का अवतार माने, उसका निश्चय मिथ्या नहीं है किन्तु सत्य है। जिस प्रकार तरंग को जल का अवतार मानना मिथ्या नहीं हैं किन्तु सत्य है। वैसे ही सृष्टि को परमेश्वर का अवतार मानना मिथ्या नहीं किन्तु सत्य है क्योंकि सर्व सृष्टि परमेश्वर रूप है। परमेश्वर के बिना कोई जड़ अथवा चेतन पदार्थ नहीं है। परमेश्वर बीज-रूप है और जगत वृक्षरूप है, शरीर उस वृक्ष के साथ फल हैं। एक-एक शरीर में बीजरूप परमेश्वर जीवरूप होकर स्थित है इसलिए बीज रूप परमेश्वर आदि मध्य और अन्त में एक रस स्थित है। जगत का स्वरूप भी अपरिवर्तनशील है, ज्यों का त्यों, चिद्घन, स्वयं स्थित, अद्वैत स्वरूप है उसका जन्म अथवा उससे जन्म किस प्रकार माने ? न उसने जन्म पाया है न उससे किसी ने जन्म लिया है वह एक अखंड, अच्युत स्वयं-स्थित है। ऐसी यथार्थ दृष्टि के ज्ञाता श्री रामचन्द्र जी और श्री कृष्ण जी थे। इसलिए सब लोग उन्हें परमेश्वर का अवतार या परमेश्र मानते है, और भी जो जीव इस दृष्टि के ज्ञाता हैं वे श्री रामचन्द्र जी और श्री कृष्ण जी की तरह वंदनीय है। वास्तव में सारे ही परमेश्वर का अवतार अथवा परमेश्वर का स्वरूप हैं। परन्तु ज्ञान से शून्य, अपने को परमेश्वर से भिन्न, जन्म-मरण वाला, अल्पज्ञ और बंधा निश्चय करते हैं इसलिए यथार्थज्ञानी पुरुष की महिमा को

Scanned with CamScanner

सुनकर आश्चर्य हैं। जब यथार्थज्ञान से उनका अज्ञान निवृत होता है, तब वे भी स्वयं को और सबको परमेश्वर रूप निश्चय करते हैं। इसलिए यथार्थज्ञान ही सब संशयों का घातक है। वही यथार्थ ज्ञान है। इसका निश्चय कर विचार करना उचित है। इससे द्वैत भ्रम की अत्यन्त निवृति होकर अद्वैत वस्तु ज्यों की त्यों स्वयं स्थिति प्रतीत हो।

प्रश्न २०—शास्त्रकार और कवीश्वर दूसरे पुरुषों की लीला को यश और कीर्ति सहित निरूपण करते हैं। उनका क्या प्रयोजन है? केवल परमात्मा का यश और कीर्तन ही निरूपण करना उचित था। उसे त्यागकर पुरुषों की कीर्ति किस लिए लिखते हैं?

उत्तर—सत्य स्वरूप अपनी महिमा में स्थित है, उसकी चेतन शक्ति नाना प्रकार के आकारों, स्वरूपों, शरीरों और पदार्थों को धारकर अपूर्व, लौकिक और अद्भुत क्रीड़ा व लीला से आनन्द के अखाड़ा का जगत जमा रही है। जिसमें एक-एक आकार, स्वरूप, शरीर पदार्थ भिन्न-भिन्न कर्म, धर्म; क्रीड़ा, स्वभाव, लीला शक्ति, चेष्टा और महिमा को प्रकट कर अपने-अपने नाम, यश, प्रताप, मंगल और महिमा को प्रवृत कर रहा है। भिन्न-भिन्न काल में भिन्न-भिन्न शरीर उदय होकर भिन्न-भिन्न गुणों से अपने को प्रसिद्ध कर गये हैं और करते हैं और करते रहेंगे क्योंकि सर्व शक्तिमान चेतन-देव शरीरों द्वारा अपने ज्ञान, वैराग्य बल, धर्म, शक्तियों आदि शक्तियों को प्रकट कर अपनी अपार, और विस्तीर्ण महिमा फैलाता है। इसलिए सर्व शरीरों में एक ही चेतन पूर्ण होकर क्रीड़ा कर रहा है। वह भिन्न-भिन्न नामरूप को धारकर अपनी पूर्णता, महत्ता, अनन्तता, अलखता को उदय कर स्वयंभूत आनन्द का अनुभव कर रहा है, और अपने को आप पहचान कर देह रूप मंदिर में अपनी पूर्ण महिमा को देखकर परमानन्द का लाभ उठा रहा है। इस प्रकार प्रवाहरूप से चेतनसागर अपनी चेतन शक्ति में प्रवृत है। नाना प्रकार के तरंग क्षण-क्षण में उदय अस्त होकर सागर की महिमा को नित्य प्रफुल्लित, नित्य उदित, मंगलीक, रमणीक और शोभनीक रखते हैं और एक-एक तरंग अपनी लीला से सागर की महिमा को प्रकाशित करता है इस-लिए तरंगों की लीला ही स्मरणीय है और वह तरंग भिन्न-भिन्न संज्ञा को पाकर अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार सागर की भिन्न-भिन्न शक्तियों को प्रकट कर सागर के प्रसाद अपने को दूसरे तरंगों में प्रसिद्ध कर गये हैं, करते हैं और करते रहेंगे; यह मर्यादा अनादि है। इस प्रकार मर्यादा को प्रवाह रूप देखकर एक तरंग की लीला को दूसरे तरँगों के प्रति यश और कीर्तिपूर्वक सुनाते हैं। इससे उसकी शक्ति, पुरुषार्थ, ज्ञान और धर्म का प्रकाश होकर सागर में दूसरे तरंगों के प्रति आह्लाद, उत्साह और आनन्द उत्पन्न हो।

प्रश्न २१—यदि परमात्मा अपने संकल्प का भावी फल स्वयं जानता था तो उसने अविनाशी आनन्द को त्यागकर सृष्टि को क्यों उत्पन्न किया और जीव बनकर दुःख पाने लगा, सर्वज्ञ होकर कौन शोक चाहता है?

उत्तर—परमात्मा अखंड और अच्युत है। न किसी को उत्पन्न करने वाला है और न किसी से उत्पन्न होने वाला है और न कभी अपने वास्तव स्वरूप को त्यागकर दूसरे स्वरूप को धारन करने वाला है। यदि उसमें भेद और प्रच्छेद होता तो इस प्रश्न का उत्तर विचारा

Scanned with CamScanner

जाता क्योंकि न उससे सृष्टि उत्पन्न हुई है और न वह जीव है। इसलिये इस प्रश्न का उत्तर केवल यही है कि वास्तव में न कुछ था, न है और न होगा। एक वस्तु नाम और रूप से रहित स्वयं स्थित है।

जैसे आकाश अगनित घट, मठ और मन्दिरों के होते हुए भी खंड-खंड नहीं हुआ। यद्यपि घट और मन्दिरों की दृष्टि से खंडित प्रतीत होता है तथापि अपनी सूक्ष्मता और निराकर रूप से अखंड और पूर्ण है। जब आकाश में किसी प्रकार का भेद व प्रच्छेद उत्पन्न नहीं कर सकता, आकाश से भी अति सूक्ष्म परमात्म तत्व में भेद या प्रच्छेद किस प्रकार प्रवेश करेगा ? परमात्मा सदा एक रस, सत्ता सामान्य सब कल्पना से रहित केवल केवलीमात्र है।

शरीरों की दृष्टि से सुख या दुःख का भेद स्थापन हुआ है। जैसे घट की दृष्टि से आकाश में मलिनता और पवित्रता का भेद स्थापित हुआ है। वास्तव में आकाश न पवित्र है, न मलिन, न शुद्ध है न अशुद्ध केवल शून्य रूप स्वयं स्थित है। वैसे ही चेतन तत्व में दुःख सुख की कल्पना शरीर की उपाधि से प्रतीत होती है। चेतन में न दुःख है, न सुख है, न हर्ष है न शोक है, केवल केवलीमात्र है। ऐसी अवस्था है उसमें मन और वाणी की गम्य नहीं।

जैसे आंधी आकाश को मलीन नहींकर सकतीं, वर्षा, ओस व बर्फ आकाश को गीला नहीं कर सकतीं; जैसे सूर्य अपने प्रचण्ड तेज से आकाश को तप्त नहीं कर सकता; नाना प्रकार के शस्त्र आकाश को छेदन नहीं कर सकते वैसे ही शरीर के विकार जो अस्ति, जायते, वर्धते, क्षीयते और नष्ट होते हैं चेतन तत्व को किसी प्रकार से विकारी नहीं कर सकते। जब शरीर की कोई अवस्था चेतन तत्व को रंचकमात्र भी विकारी नहीं कर सकती तो उसकी अवस्था को सन्मुख रख कर विकल्प उठाना कि परमात्मा क्यों दुःख सहार रहा है, यथार्थ स्वरूप के अज्ञान से है। जैसे आकाश में आकाश के बिना सब कल्पना हैं, वैसे ही परमात्मा के बिना सब कल्पना कल्पित हैं। यदि किसी वस्तु की सत्ता परमात्मा की सत्ता के बिना सत्य होती तो परमात्मा का विशेषण जो सत्य अद्वैत है, स्थित न रहता। जब सब शास्त्रकारों, आचार्यो महात्माओं और भिन्न-भिन्न मतों वालों की युक्तियों से परमात्मा की अद्वैतता, सत्य और स्थिर चली आती है, इसलिए सिद्ध है कि उसकी सत्ता के बिना दूसरी वस्तु की सत्ता सिद्ध नहीं। जब अद्वैत वस्तु स्वयं स्थित है, परमात्मा अविनाशी आनन्द को त्याग और जीव बनकर क्यों दुख पाने लगा है यह सोचना ही व्यर्थ है। वस्तु कभी अपने स्वरूप को त्याग कर दूसरे स्वरूप को धारण नहीं करतीं! यदि करे तो वह असत्य है। यदि यह माना जाय कि परमात्मा अपने परमात्म भाव को त्याग कर जीव बना है तो उसकी सत्ता मेंप्रच्छेद आयेगा और अद्वैत भाव नष्ट हो जायेगा। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि परमात्मा को न कोई संकल्प हुआ है, न उसने सृष्टि की उत्पत्ति की है, न वह जीव बना है, न उसने अविनाशी पद को त्याग कर अपने शोक का कारण बनाया है। सब भ्रांतिजन्य विकल्प हैं, सत्ता सामान्य अपनी सत्ता में सत्य है।

जैसे महाकाश घट के संग से प्रच्छिन्न प्रतीत होता है और घटाकाश के विशेषणों में विशिष्ट होकर अल्प वस्तुको अपने में धारण करता है। अज्ञानी इससे आकाश की प्र च्छिन्नता

Scanned with CamScanner

निश्चय करते हैं। उनका यह निश्चय अयथार्थ है, वास्तव में आकाश न प्रच्छिन्न हुआ है और न होगा। सदा अखंड और समान है। वैसे ही शरीर के संग से पूर्ण परमात्मा प्रच्छिन्न प्रतीत होता है और जीव के विशेषणों से विशिष्ट होकर भिन्न-भिन्न कर्मों से हर्षित और शोकातुर नज़र आता है। अज्ञानी इस अवस्था को देखकर निश्चय करते हैं कि परमात्मा ने अपने स्वरूप का त्याग कर दिया है। उनका यह निश्चय यथार्थ ज्ञान के विरुद्ध है। वास्तव में परमात्मा न प्रच्छिन्न हुआ है और न होगा, सदा अखंड, समानस्थित, सत्य और पूर्ण है।

ईश्वर की उत्पत्ति तब सिद्ध हो सकती है जब एक वस्तु से दूसरी वस्तु भिन्न स्वभाव और भिन्न धर्म वाली प्रकट हो। सृष्टि में पाँच तत्त्व सब से प्रथम हैं। पाँच तत्त्वों में परमात्मा के स्वरूप से किसी प्रकार का भेद नहीं पाया जाता।

प्रथम, **आकाश** व्यापक विशेषण परमात्मा का प्रत्यक्ष है अर्थात् जिस पुरुष को यह इच्छा हो कि मैं ईश्वर को व्यापक देखूं, आकाश के बिना दूसरी वस्तु इस विशेषण को अपरोक्ष सिद्ध नहीं कर सकतीं, इसलिए आकाश सृष्टि नहीं किन्तु परमात्मा का विशेषण है।

द्वितीय, **पवन** चेतन विशेषण परमात्मा का चेतन तत्व है। यदि कोई पुरुष चाहे कि मैं परमात्मा की चेतनता देखूं, वह प्राण के बिना चेतनता किसी दूसरे पदार्थ में प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं हो सकती, इसलिए पवन सृष्टि नहीं किन्तु सृष्टि का विशेषण है।

तृतीय, **तेज** परमात्मा का प्रकाश विशेषण है। अभिप्राय यह कि यदि कोई पुरुष परमात्मा के ज्योति स्वरूप को देखना चाहे तो अग्नि के बिना यह विशेषण किसी दूसरे पदार्थ में अपरोक्ष सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए अग्नि सृष्टि नहीं, किन्तु परमात्मा का विशेषण है।

चतुर्थ, **जल** परमात्मा का सर्वात्म विशेषण है। अर्थात् यदि कोई जिज्ञासु परमात्मा को सर्वात्म देखना चाहें तो जल को त्याग कर दूसरे किसी पदार्थ में यह विशेषण प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए यह जल सृष्टि नहीं किन्तु परमात्मा का विशेषण है।

पंचम, **धरती** परमात्मा का आधार विशेषण है। प्रयोजन यह कि यदि कोई पुरुष परमात्मा को आधार रूप देखना चाहे तो धरती के बिना यह विशेषण दूसरे किसी पदार्थ में प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए धरती सृष्टि नहीं है किन्तु परमात्मा का विशेषण है।

अब इन पाँचों विशेषणों को किस प्रकार सृष्टिरूप माना जाए जब विशेषण विशेष्य से रंचक मात्र भी भिन्न नहीं होता। विशिष्ट का विशेषण है और विशेषण विशेष्य है। जैसे प्रकाश तेज है और तेज प्रकाश है वैसे यह पाँच विशेषण परमात्मा है और परमात्मा पाँच विशेषण है। यदि सूक्ष्म विचार की दृष्टि से देखा जाय तो पाँच की भी समाई नहीं, एक ही वस्तु व्यापक, चेतन, स्वयं प्रकाश, सर्वात्म और सर्वाधार रूप है। उसको आचार्यों ने उपासना व ज्ञान के लिए परमात्मा आदि शब्दों से निरूपित किया है। इसलिए पाँच विशेषण नहीं किन्तु एक ही वस्तु अपनी सत्ता में स्वयं स्थित है। जब यह पाँच तत्व ही सृष्टि रूप नहीं हो सकते तो दूसरे पदार्थ किस प्रकार सृष्टि रूप सिद्ध होंगे? इसलिए अब तक न उत्पत्ति हुई है, न होती है और न होगी। केवल एक वस्तु स्वयं स्थित है। ऐसे स्वरूप में सुख दुःख का संशय उठाना अज्ञान से सिद्ध होता है। इसलिए निस्संशय

Scanned with CamScanner

एक वस्तु पर अपनी सत्य प्रतीत स्थित करें और उसी स्वरूप से अपना आप निश्चय कर सर्व कल्पित संशयों से अपने को मुक्त करें। दुःख और सुख का कोई स्वरूप नहीं, उसके खंडन व मंडन में वाद-विवाद बुद्धिमानों को उचित नहीं। इस प्रकार वास्तव वस्तु के स्वरूप को यथार्थ रीति से सिद्ध कर दिखाया गया है जिससे शांति और निर्विकल्पता की प्राप्ति हो।

प्रश्न २२—संसार की उत्पत्ति, स्थिति, और प्रलय निरंकार ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश से किस कारण करवाई ? वर्षा इन्द्र के अधीन क्यों रखा ? क्या वह स्वयं समर्थ नहीं ?

उत्तर—ब्रह्मा, विष्णु, महेश यह तीनों विशेषण निरंकार के हैं, मानों निरंकार ही उत्पत्ति कर्म से ब्रह्मा, पालन कर्ता से विष्णु के और संहार विशेषण से महेश है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश कोई और शरीर नहीं हैं। इसी प्रकार इन्द्र के अर्थ भी परम सत्ता है। तात्पर्य यह कि वही निरंकार इन्द्र रूप होकर वर्षा करता है।

प्रश्न २३—पाँच तत्व क्या हैं ?

उत्तर—पाँच तत्त्व केवल चेतन मात्र हैं स्फुरण ही मानों पंच रूप होकर ज्ञान और कर्म को प्रवृत्त करता है; वास्तव में पंच नहीं एक हैं। यद्यपि वह अपनी महत शक्ति की महिमा से भिन्न-भिन्न स्वभाव वाला प्रकट होकर पाँच प्रकार का प्रतीत हो रहा है तथापि पाँच नहीं केवल अद्वैत ही अद्वैत है। जैसे बीज अपनी द्रवित और उद्भव शक्ति से जड़, मूल, शाखा, पत्र, फूल प्रतीत होता है, वास्तव में वह एक बीज है। वैसे ही एक चेतन अपनी स्फुरण शक्ति से आकाश, पवन, अग्नि, जल और पृथ्वी प्रतीत होता है, वास्तव में एक ही चेतन तत्त्व हैं।

प्रश्न २४—यदि ईश्वर एक है, सर्वव्यापी है अन्तर्यामी है तो जब हम कोई आशा मन में धारण कर किसी संत व महात्मा के समीप जाते हैं, वह क्यों नहीं बतला देता ? यद्यपि अज्ञान व भय से हम पूछ नहीं सकते तथापि वे क्यों नहीं कहते ?

उत्तर—एकत्व में कौन पूछे और कौन कहे ? जब वह हमारी दूसरा ही नहीं तो आशा करने वाला कौन है और उसके बतलाने वाला कौन है ? यह सब विकल्प ईश्वर के अज्ञान से हैं। जब ईश्वर का ज्ञान हो जाए कि एक है, सर्वव्यापी है और अन्तरयामी है। वह सब कुछ जानता है, क्योंकि उससे भिन्न कोई दूसरा हो तो जाने। जब एक ही ईश्वर पूर्ण है तो भिक्षुक कौन और दाता कौन ? इससे यह प्रश्न नहीं बन सकता। अन्तर्यामी स्वयं जानता है और वही स्वयंपूर्ण है। शरीरों के भेद से उसमें भेद न देखें किन्तु शरीरों के उपाधि को उठाकर उसे देखें, जिससे यह संशय निवृत हो जाए। न हम हैं और न कोई महात्मा है, एक में अनेक देखना यही अज्ञान है। इस अज्ञान को निवृत कर ईश्वर को पूर्ण देखें। उसमें न कोई आशा है और न कोई वासना है, सब कल्पना से रहित है। आस अन्तःकरण का धर्म हैं; और अन्तःकरण अनेक हैं; अनेक अन्तःकरण में अनेक मनोराज रहते हैं। अन्तःकरण स्वयं परिणामी और व्यभिचारी है, इसलिए उसका धर्म भी परिणामी और व्यभिचारी हैं। परिणामी और व्यभिचारी के अर्थ विचारना उचित नहीं किन्तु परिणामी प्रतीत कर हृदय से विस्मित करना उचित है।

उपाधि से भी एक कल्पना होती है और उस अनेकता से एकता का लक्षण नहीं

Scanned with CamScanner

प्रतीत होता। जैसे आकाश है, मिट्टी की उपाधि से अनेक रूप प्रतीत होता है कहीं घटाकाश कहीं मठाकाश। इन उपाधियों से आकाश की एकता प्रतीत नहीं होती। जैसे एक मंदिर में यदि दीपक प्रज्ज्वलित करें, उसका प्रकाश दूसरे मंदिर में नहीं होता। यद्यपि आकाश एक है, उचित था कि एक मन्दिर में दीपक जलाने से सब मन्दिरों में प्रकाश हो जाता तथापि दीवारों की उपाधि ने एक आकाश को अनेक और पूर्ण आकाश को प्रच्छिन्न रूप कर दिया है, इससे एक मन्दिर का प्रकाश दूसरे मन्दिर में नहीं पड़ता। वैसे ही शरीरों की उपाधि से से एक का ज्ञान दूसरे को नहीं होता। जब उपाधि परिणामी और क्षणभंगुर है, इससे जो विकार उत्पन्न हुआ, वह भी परिणामी और क्षणभंगुर है। जब ईश्वर शुद्ध और निर्विकार है, अपनी महिमा में स्थित है; दूसरा न था, न है और न होगा, तब कौन आस करे और कौन बतलावे ? यह भेदवादियों के संशय है। इनसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

महात्मा या संत निरास होते हैं, निरास में आस कैसे उत्पन्न हो। जैसे जाग्रत पुरुषों को निद्रा में स्थित पुरुष के स्वप्न का ज्ञान नहीं होता। जब वह स्वप्न से सावधान होकर अपना वृत्तांत सुनाता है, तब जाग्रत पुरुष भी जानता है। वैसे ही महात्मा संसार और संसार की वासनाओं से मुक्त अपने वास्तव स्वरूप में जाग्रत हैं और अज्ञानी अज्ञानरूप निद्रा से संसार और संसार की वासनाओं सहित भिन्न-भिन्न मनोराजरूप स्वप्न देख रहें हैं। वे अपने स्वरूप से अज्ञात हैं; महात्मा अज्ञानी के स्वप्न को कैसे जानें। उनके निश्चय में न कोई संसार है, न दुःख है और न कोई वासना है। वह शुद्ध, निर्विकार, अपने आप में मग्न हैं, इसलिए भी महात्मा दूसरे की आस को नहीं बतलाता। जब महात्मा अपने संकल्प से रहित है और आस को त्यागकर निरास स्थित है तो दूसरे के संकल्पों को जानकर विक्षिप्तचित्त क्यों होवें ? इसमें कोई सिद्धि व गुण नहीं किन्तु न्यूनता और अवगुण है। सब से अज्ञात रहना यह उत्तम सिद्धि है और सब के चित की वार्ता को जानना व बतलाना महादुःख है। इसलिए भी महात्मा अपने आप में मग्न रहते हैं। किसी की आस से प्रयोजन नहीं रखता। जब कोई पूछता है तो उत्तर दे देते।

प्रश्न २५—जब चींटी से हाथी पर्यन्त सब ब्रह्म हैं और ब्रह्म अन्तर्यामी है। अर्थात् सब हृदयों की जानने वाला है, फिर मनुष्य दूसरे के हृदय की बात क्यों नहीं जान सकता ?

उत्तर—यदि सब ही ब्रह्म है, दूसरे का अभाव है तो कौन किसके हृदय की जाने ? जानना द्वैत में होता है। जब द्वैत ही नहीं तो जानना और न जानना निरर्थक शब्द है। जो लोग ब्रह्म को अन्तर्यामी कहते हैं उनका यह तात्पर्य है कि ब्रह्म सब की आत्मा है, आत्मा का अर्थ अपना आप है और ब्रह्म का अर्थ पूर्ण है इसलिए अपना आप ही पूर्ण है। जब अपना आप ही पूर्ण है और दूसरे का अत्यन्त अभाव है तो दूसरे के हृदय की वार्ता को जान सकना समान है। वास्तव में दूसरा है नहीं और यदि अज्ञान से दूसरा प्रतीत होता है वह भी अपना आप है। अपने आपका ज्ञाता सब कोई है क्योंकि ज्ञान ही सबका स्वरूप है। जब सब ब्रह्म रूप है, इसलिए ब्रह्म ही ज्ञान स्वरूप है। जब ज्ञान ही ज्ञान है, उसमें अज्ञान की कथा भी नहीं बनती क्योंकि ज्ञान अद्वैतरूप है और आत्मा है। ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा में ज्ञाता और ज्ञेय

Scanned with CamScanner

की कल्पना संभव नहीं होती। इसलिए ज्ञाता और ज्ञेय की उपाधि से शुद्ध केवल ज्ञानमात्र अपने आप में स्थित है। उसी ज्ञान का विशेषण ब्रह्म है, ज्ञान के बिना ब्रह्म का स्वरूप कोई नहीं और ज्ञान के बिना जगत का स्वरूप कोई नहीं, केवल ज्ञान ही ज्ञान है। न कोई अन्तर्यामी है, न मूढ़ है, न कोई मनुष्य है और न मनुष्य के बिना कोई दूसरी सृष्टि है, अद्वैत सत्ता जो केवल ज्ञानमात्र है, स्वयं स्थित है। ऐसी सत्ता में अन्तर्यामित्व, सर्वज्ञता, व्यापकता, पूर्णता, महत्ता आदि विशेषण भी अयथार्थ और कल्पित हैं। ऐसी अवस्था में इस प्रकार की शंका केवल सत्य वस्तु के अज्ञान से है। द्वैत न था, न है और न होगा। इसलिए आजतक न किसी ने किसी को जाना है, न जानेगा और न जानता है, केवल आप ही आप है।

॥ भजन ॥ (१)

सत्ता अनुभव सर्व समावे, सोई है परमातमा ॥
शक्ति जो घट-घट रम जावे, सोई है परमातमा ॥१॥
नभ से जल परवाह बहावे, बूंद एक से सृष्टि रचावे ॥
पवन पे सब को जो चलावे, सोई है परमातमा ॥२॥
चन्दा सूरज वही चढ़ावे, तारागण नभ में जमावे ॥
इन्द्रिन में शक्ति ले आवे, सोई है परमातमा ॥३॥
बीज से वृच्छ को जो पसारे, बूंद से नर को जो निकारे ॥
नर में आपन को लखावे, सोई है परमात्मा ॥४॥
इक अनेका को दिखावे, अनिक से फिर इक को लखावे ॥
आप अपने में जो समावे, सोई है परमात्मा ॥५॥
वह चिद्सागर है अनूपा, भाँति-भाँति अद्भुत सरूपा ॥
प्रेम रास अचरज रचावे, सोई है परमात्मा ॥६॥
ज्ञानवपु जेता समाना, शान्तरूपा सुख निधाना ॥
सदविलासी हेमां भावे, सोई है परमात्मा ॥७॥

॥ भजन ॥ (२)

साधो परमात्मा है पूरण ॥
रोम रोम और अणु अणु में, व्याप रहा है चिद्घन ॥१॥
डार डार और पात पात में, फूल और फल में दर्शन ॥२॥
भूत भविष्यत वर्तमान में, इक रस सत्ता सज्जन ॥३॥
देश काल वस्तु सब ही में, परमातम के लक्षण ॥४॥
परम अगाध अनूप अनामय, तेजस्वी अति पावन ॥५॥
सकल नाम और रूप उसी के, अद्भुत शक्ति निरंजन ॥६॥
सर्वाधार आसरा सबका, रक्षक सबका भगवन् ॥७॥
इन्द्रिय विषय मनोराजादिक, सब ही सत्ता चेतन ॥८॥

Scanned with CamScanner

जगत ब्रह्म देह आतम आदिक, अस्तिमात्र अखंडन ॥९॥
पाँचो तत्व रूप परमातम, स्वयं स्थित है हेमन ॥१०॥

॥ भजन ॥ (३)

माई री मैं दर्शन हरि का पायो ।
परम विलासी प्रीतम प्यारा, जित कित दृष्टि आयो ॥१॥
प्रेम भरा मोहन मेरा है, अनिक रूप में भायो ॥२॥
कहीं गरजे कहीं बरसे मोहन, सुन्दर रूप सुहायो ॥३॥
नारी नर हो चोज करे कहुँ, कहीं परजा कहीं रायो ॥४॥
नभ से धरती तक से जो हैं, किरण समुद्र बहायो ॥५॥
चेतनरूप अनूपानन्दमय, पेख पेख विगसायो ॥६॥
नहीं मैं तू अपना न पराया, आपी आप समायो ॥७॥
चिद्घन सागर की सब लहरें, क्या आपो क्या जायो ॥८॥
नामरूप शब्दारथ हेमां, अस्तिमात्र सबायो ॥९॥

॥ भजन ॥ (४)

साधो परमातम चिद्सारा ।
सतसरूपा अतुभवरूपा, पूरण पुरुष अपारा ॥१॥
आनन्द वपु सब माहिं विराजे, इक रस रहित विकारा ॥२॥
प्रेम विलासी प्रेम सरूपा, सर्व रूप विस्तारा ॥३॥
महाप्रकाशी घट घट वासी, निर्गुण सत करतारा ॥४॥
एक अखंड अनाम निरंजन, गोविन्द जग आधारा ॥५॥
सब प्रतिपाला-सद रखवाला, अतुट भरे भंडारा ॥६॥
साक्षी सबका प्रेरक सबका, सगुणरूप संसारा ॥७॥
हेमराज गोपाल निरंजन, हरि हर ओंमकारा ॥८॥

॥ भजन ॥ (५)

साधो सब में पूर रह्यो है राम ।
जहाँ जहाँ देखा तहाँ तहाँ सोई, सकल रूप अरु नाम ॥१॥
आपे गुरु आपे है सेवक, गोपी आपे श्याम ॥२॥
आपे माली आपे बूटी, आद पुष्प अभिराम ॥३॥
आपे ठाकुर आप पुजारी, आप करे परनाम ॥४॥
मात पिता आपे है बालक, आप पुरुष अरु वाम ॥५॥
धर जल अग्नि पवन अकाशा, धरे सरूप अभिराम ॥६॥
परम विलासी प्रेम सरूपा, अनुभवगम्य सुखधाम ॥७॥
हेमराज चिद्घन परिपूरण आतम रूप नमाम ॥८॥

॥ इति श्री दशम सिद्धान्त समाप्तम् ॥

Scanned with CamScanner

★ यथार्थ ज्ञान सिद्धान्त ★

: ११ :

प्रश्न १—ज्ञान क्या है ?

उत्तर—अपने आपको, परमात्मा को और जगत को यथार्थ रूप में जानना ज्ञान है।

प्रश्न २—ज्ञान के साधन, स्वरूप, अवधि और फल क्या हैं ?

उत्तर—(क) ज्ञान के मुख्य साधन अर्थात् सतगुरु उपदेश और सत्शास्त्र चिन्तन है।

(ख) ज्ञान का स्वरूप विवेक अर्थात् नित्य अनित्य का विचार है।

(ग) ज्ञान की अवधि अर्थात् समाप्ति यह है जो शरीर के निश्चय के समान आत्मा का निश्चय हो।

(घ) ज्ञान का फल सब दुःख की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति है।

प्रश्न ३—

॥ चौपाई ॥

हे भगवन् ! किरपा अब कीजे, ज्ञान यथार्थ मोहे सुनीजे।
जाते परमारथ पद पाऊँ, द्वैत कल्पना सकल मिटाऊँ ॥

उत्तर—

॥ चौपाई ॥

हे सद्गुरु के प्यारे मीता, सदा रहो तुम इस्थिर चीता।
सद्गुरु में सरधा दृढ़ राखो, गुरु उपदेश अमीरस चाखो ॥
देख पदारथ मन नहीं डोलो, व्यर्थ वाक्य कबहूँ नहिं बोलो।
आतम तत्व विचारो निशदिन, अवर चिंतना त्यागो क्षण क्षण ॥
देह अनित्य असत्य विसारो, सत्य रूप आतम को जानो।
भूत भविष्यत चिन्ता त्यागो, वर्तमान सुख मन अनुरागो ॥
अज्ञानी से प्रीति न राखो, मन मुख से वाणी नहिं भाखो।
विषय चिंतना से चित रोधो, निज विचार कर निज को सोधो ॥
निश दिन मन में रहो पुनीता, पुण्य पाप से रहो अतीता।
धीरज सहित सुभाव सम्भारो, न्याय वृत्ति कर कर्म विचारो ॥
मान, ईरषा, दंभ निवारो, सत्य सन्तोष मित्रता धारो।
देश एकान्त, धरो दृढ़ आसन, बल कर त्यागो दूसर वासन ॥
अन्तर बाहर एको देखो, जहाँ मन जावे ऐको पेखो।
द्वैत भावना सकल निवारो, जित कित अद्वै तत्व निहारो ॥

Scanned with CamScanner

एक वस्तु पूरण चिद सारा, ताहि विचारो बारम्बारा।
नाम रूप का निश्चय त्यागो, अस्ति, भाँति, प्रिय तिन अनुरागो॥

॥ दोहा ॥

इन्द्रिय अन्तःकरण कर, विषय होइ जो वस्तु।
केवल अस्तिमात्र है, तजो ज्ञान अध्यस्त॥
कार्य सहित अज्ञान को, लीन करो निज माँहि।
निज को निज कर निज लखो, द्वन्द्व भाव जहाँ नाहिं।
अन्तर बाहिर एक रस, चिदाकाश चिद् रूप।
सोइ है सर्वत्र को, आतम अचल अनूप॥
ऐसे आतम रूप में, नित नित रहो विलीन।
परमारथ और अर्थ में, होइ न कबहुँ दीन॥
आतम चेतन तत्व को, चीनो ब्रह्म स्वरूप।
जहँ जहँ वृति अर दृग परे, चेतन लखो अनूप॥
इस विधि निशिदिन प्रेमयुत, मग्न रहो निज माँहि।
पूरण ही निज को लखो, निज ही पूरण आहि॥
सत्य वस्तु पूरण सदा, चिदाकाश चित् सार।
जड़ चेतन ऐको सकल, पशु, पक्षी, नर, नार॥
भेद दृष्टि संसार है, राग द्वेश को मूल।
मिटे भेद जब दृष्टि से, क्षीण होय भव शूल॥
ताते नित्य अभेद बुधि, अमल अक्षोभ असंग।
हेमराज नभ ज्यों रमो, चढ़े न दूसर रंग॥

॥ चौपाई ॥

सर्व रूप परमेश्वर देखो, सर्व अंग परमेश्वर पेखो।
जड़ चेतन न मानो दोय, सत्त असत्त ब्रह्म ही जोय॥
नहिं कोई बाहर, नहिं कोई अन्तर, चिदाकाश इक रूप निरंतर।
देश काल नहिं कोई भाई, नगर ग्राम मंदिर नहिं खाई॥
पशु पक्षी मनुआ नहिं देवा, ऊँच नीच स्वामी नहिं सेवा।
भू, जल, तेज, पवन, आकाशा, सत वस्तु का है परकाशा॥
रंचकमात्र द्वैत नहिं होआ, नहिं कोई जीआ नहिं कोई मोआ।
नहिं कारण नहिं कारज भासे, केवल सत्ता मात्र परकाशे॥
एको एक आप ही आपा, नहिं कोई भाई नहिं कोई बापा।
स्वतः सिद्ध वस्तु सत मानो, तांको अपना आप पछानो॥
इस विधि करो विचार निरन्तर, द्वैत कल्पना रहे न अन्तर।
हेमराज यह ज्ञान यथारथ, जो धारे दावे परमारथ॥

Scanned with CamScanner

प्रश्न ४—अज्ञान क्या वस्तु है ?

उत्तर—अज्ञान भी कोई दूसरी वस्तु नहीं किन्तु एक विशेषण है। जैसे जिस समय नेत्रों से देखा जाता है, उस समय दूसरी वस्तु दृष्टि और स्मरण में आती है परन्तु नेत्र न दृष्टि में आते हैं न स्मरण में आते हैं। वास्तव में नेत्र साक्षी हैं, इन्ही के आश्रय सारा ब्रह्माण्ड प्रतीत होता है, और स्मरण आता है। साक्षी न द्रष्टा है और स्मरण होता है, यही अज्ञान है। अज्ञान अद्वैत वस्तु में सदा रहता है इसलिए अज्ञान नाम गम्भीरता का है। जब एक ही वस्तु अपने आप में स्थित, अद्वैत और परम गम्भीर रूप हो, उसमें कौन किसे जाने? उसकी स्थिति अज्ञान रूप सिद्ध है। जब अज्ञान का इस प्रकार ज्ञान होता है, उस समय वही अज्ञान अनुभव रूप होकर परम गम्भीर अपनी महिमा में आप प्रतीत होता है इसलिए वह अज्ञान नहीं, अद्वैत रूप अवस्था है, जहां मन, चित, बुद्धि और वाणी की कोई गम नहीं और जो अज्ञान का शब्द इस जगत में फैला हुआ है, वह इस अज्ञान का अज्ञान है। जब अज्ञान का ज्ञान होता है तब अज्ञान और ज्ञान की समाप्ति होकर शेष वह अवस्था रहती है जहां मन, चित्त और बुद्धि की सत्ता नहीं। इसलिए अज्ञान की निवृत्ति सब अज्ञान रचित भेद की निवृति और अद्वैत, अखण्ड, अनुभवमात्र परमानन्द की प्राप्ति है।

प्रश्न ५—अज्ञान का क्या कारण है ?

उत्तर—अज्ञान। तात्पर्य यह है कि अज्ञान से अज्ञान की उत्पत्ति होती है। जैसे मनुष्य से मनुष्य; पशु से पशु; खजूर से खजूर और पत्थर से पत्थर उत्पन्न होता है उसी प्रकार से अज्ञान से अज्ञान उत्पन्न होता है। अज्ञान के अर्थ न जानना है। न जानना न जानने ही में रहता है। न जानने को त्याग कर दूसरे पदार्थ में नहीं रहता, इसलिए अज्ञान का कारण अज्ञान है। यह प्रकृति की मर्यादा है कि कारण और कार्य सजातीय सम्बन्ध वाले होते हैं। अर्थात् जो कारण का स्वभाव या स्वरूप होता है वही कार्य का स्वरूप स्वभाव होता है। कारण को त्याग कर कार्य कहीं नहीं रहता। कारण ही मानो कार्य रूप होकर स्थित होता है। इसलिये जितने कारण और कार्य हैं सारे एक रूप हैं। जब एक रूप हैं तो कारण और कार्य का भेद कपोल कल्पित अर्थात् निरर्थक है। वास्तव में न कोई कारण है न कार्य है, अद्वैत वस्तु आप में आप स्थित है। जब स्वयं स्थित है तो किसको किसका कार्य कहा जावे ? इस प्रकार कारण और कार्य दोनों असिद्ध हैं।

जो जिज्ञासु हठ करके किसी वस्तु का कारण पूछना चाहे तो (वह) वस्तु ही अपना कारण आप है। उससे पृथक दूसरा कारण कोई नहीं। इस सिद्धांत से अज्ञान का कारण अज्ञान कहा गया है। अज्ञान से पृथक कोई दूसरा जीव अथवा ईश्वर अज्ञान का कारण नहीं। अज्ञान स्वतः सिद्ध है, अनादि है इसलिये अद्वैत, अगम, अलख और अपार है। इस इस प्रकार निश्चय करना अज्ञान का यथार्थ ज्ञान है।

प्रश्न ६—ज्ञान और अज्ञान किसके धर्म हैं, इनमें से किसे धारण करना चाहिए कि जिससे संसार का पार प्राप्त हो ?

उत्तर—ज्ञान और अज्ञान बुद्धि धर्म हैं। ज्ञान सहित बुद्धि कल्पित को कल्पित जानती

Scanned with CamScanner

है और अज्ञान सहित बुद्धि कल्पित को सत्य मानती है। इसलिये ज्ञान सहित बुद्धि मोक्ष को प्राप्त होती है और अज्ञान सहित बुद्धि संशय रूपी संसार बन में ठोकरें खाती हैं। भाव यह है कि ज्ञान सहित बुद्धि संसार रूपी समुद्र से पार उतरने की उत्तम नाव है और अज्ञान सहित बुद्धि संसार रूपी समुद्र में डूबने के लिये पत्थर की शिला है। सचक्षुता और अंधपना नेत्रों का धर्म है सचक्षु नेत्र मार्ग में पंथी की सहायता कर उसे इच्छित स्थान पर पहुँचाते हैं और अंधे नेत्र किसी प्रकार की सहायता नहीं कर सकते। इस प्रकार नेत्रों का धर्म देखना, नेत्रों का सहायक है। इन्हीं नेत्रों का धर्म अंधापन है, जो नेत्रों का विरोधी है। इसलिये जिज्ञासु ज्ञान गुण उत्पन्न कर बुद्धि के आश्रय कल्पित संसार के पार प्राप्त होता है। वास्तव में विचार से देखो तो स्वरूप में ज्ञान अज्ञान है ही नहीं। केवल शरीर होने के कारण इन द्वन्द्वों की प्रतीत होती है। जिस प्रकार वृक्ष को देखकर द्वन्द्वों की प्रतीत होती है और बीज में निर्द्वन्द्व अवस्था है उसी प्रकार शरीर के कारण नाना प्रकार के द्वन्द्व प्रतीत होते है और स्वरूप में निर्द्वन्द्व अवस्था होती है। इसलिए शरीर में ही शरीर के गुण को अंगीकार कर शरीर के विकारों से मुक्त होना उचित है।

प्रश्न ७—हे भगवान ! आत्मज्ञान की प्राप्ति के साधन क्या हैं ? कृपया बताएं।

उत्तर—हे आत्मविद्या के जिज्ञासु ! इस संसार में आत्मज्ञान के बिना रंचकमात्र भी सुख नहीं। यह आत्मज्ञान साधन के बिना प्राप्त नहीं होता। इसलिए जिज्ञासु को साधनों में प्रवृत्त होकर आत्मज्ञान का अधिकारी होवे। यह साधन निम्नलिखित हैं—

विद्या अथवा सत्संग के द्वारा जिज्ञासु सत्य और असत्य का विवेक करे। हृदय में न्याय वृत्ति को धारण कर अपने कर्मों और स्वभावों का विचार करे। नश्वर वस्तु को असत्य निश्चय करे और जो वस्तु अविनाशी प्रतीत हो ओ सत्य निश्चय करें। जिन कर्मों और स्वभावों में दुःख, क्लेश, विक्षेप्ता, पश्चात्ताप, भय और पाप प्रतीत होवे, उन कर्मों व स्वभावों को मलिन निषिद्ध निश्चय करे और जिन कर्मों में सुख विश्राम, शान्ति, निर्भयता और पुण्य प्रतीत हो, उन कर्मों व स्वभावों को उत्तम और ग्रहणीय निश्चय करे। उपरति और वैराग्य के सहारे असत्य वस्तु की प्रीति और मलिन कर्मों का सेवन त्याग दे। मन को असत्य पदार्थों के चिंतन और मलिन कर्मों के संकल्प से उपरत रखे। तात्पर्य यह कि जब मन असत्य चिन्तन अथवा मलिन संकल्प करे, उस समय उसका निरोध करे। उसे फैलने की आज्ञा न देवे। मन की रक्षा के निमित्त इन्द्रियों को निन्दित और अयोग्य विषयों से दमन करे अर्थात् मान, अपमान, सुख, दुःख, शीत, उष्ण, अहंकार और तृष्णा को हठात् सहारे। सद्गुरु और सत्शास्त्र के वचनों में सत्य विश्वास रखे, जिससे सब साधनों के सिद्ध करने की सामर्थ्य प्राप्त हो। सद्गुरु के उपदेश के बिना सत्य-असत्य के प्रकाश का कोई और कारण जगत में नहीं है। इसलिए सर्वसाधनों को पालन करने वाली यही श्रद्धा रूपी माता है। इस श्रद्धा को जिज्ञासु प्राणान्त पर्यन्त दृढ़ और सत्य रखे। तत्पश्चात् सावधान होकर सद्गुरु के उपदेश श्रवण करे। भाव यह कि निद्रा, विक्षेप्ता और चित्त की चंचलता से रहित होकर सद्गुरु के उपदेश सुनें और मानें। हृदय में यह इच्छा रखें कि कब मेरे संशय और विपर्यय नाश होंगें ?

Scanned with CamScanner

कब मुझे परमानन्द स्वरूप आत्मा का दर्शन होगा ? कब मेरे सब दुःख नष्ट होंगे ? कब सर्व प्रकार से सुख की प्राप्ति होगी ; कब मेरा मन विक्षेप्ता त्याग कर एकाग्रता के सिंहासन पर विराजमान होगा ? कब मेरी बुद्धि विषमता के निश्चय से मुक्त होकर समता के निश्चय से मंगलकारी होगी ? कब मेरी आत्मा मुझे सत्‌चित् प्रतीत होकर पारब्रह्म से अभिन्न निश्चय होगी ? ऐसी पावन और मोक्ष इच्छा धारकर जिज्ञासु ऊपर लिखित साधनों की साधना करता रहे। नित्यप्रति सत्पुरुषों के वचन श्रवण कर अज्ञानरचित संशयों को नष्ट करता रहे ; एकांत देश में स्थित होकर वचनों का मनन करता रहे और फिर मनन किए हुए वचनों का निदिध्यासन करता रहे। भाव यह कि वृत्ति की असत्य चिंतन से निरोध कर केवल सत्य वस्तु के आकार करता रहे। जब वृत्ति सत्याकार हो जाएगी, सब पुरुषार्थ और साधन की समाप्ति होकर कृत-कृत्य अवस्था प्राप्त होगी। इसलिए जिज्ञासु पूर्वोक्त रीति से साधन कर आत्मा को यथार्थ रूप से निश्चय करे, कि संसार के चिंतन का अभाव होवे।

प्रश्न ८—अनुभव रूपी आत्मा की प्राप्ति किस क्रम से होती है ?

उत्तर—जब प्रेम की परिपक्वता होती है, तब वैराग्य उदय होता है। जब वैराग्य दृढ़ होता है, तब उपरति होती है। जब उपरति स्वभावभूत होती है, तब सद्‌गुरु का संग प्रिय प्रतीत होता है। जब सतगुरु के संग में प्रेयबुद्धि उदय होती है तब सबके संग को त्याग कर केवल सद्‌गुरु के संग में आनन्द सहित काल व्यतीत करता है। जैसे-जैसे सद्‌गुरु का संग अधिक और दृढ़ होता है, तैसे २ अज्ञान निवृत्त होकर ज्ञान की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार ज्ञान दृढ़ होता जाता है उसी प्रकार संशय की निवृत्ति होती जाती है। जब संशय और विपर्यय का अत्यन्त अभाव हो जाता है तब केवल अनुभव रूप आत्मा शेष रहता है। इसलिए यह अवस्था कृत-कृत्य रूप है। जिज्ञासु इस क्रम से ऐसी अनुपम अवस्था को प्राप्त करे।

प्रश्न ९—

॥ सोरठा ॥

निज स्वरूप को ज्ञान, भाखो भगवन् दयाकर।
रहे न रंचक आन, एक वस्तु भासे अमल ॥

उत्तर—

॥ सोरठा ॥

चिदाकाश चिद् रूप, निज में निज पूरण सदा।
अक्रिय, अचल स्वरूप, नहिं उपजे बिनशे कभी ॥ १ ॥
निरमल चेतन सार, भेद भाव नहीं जास में।
ताँको आप विचार, नाश भेद प्रच्छेद सब ॥ २ ॥
शब्द मात्र संसार, जामे नाना भाव है।
शब्दरहित चिद सार, जा में नाना एक नहिं ॥ ३ ॥
जो है सो सब सत्य, रंच न मिथ्या देखिए।
भासे नहीं असत, जो भासे सो सत्य है ॥ ४ ॥
भासन है सब चित्त, बिना चित्त भासे नहीं।
चित रूप है नित्य, तातें सत चित एक हैं ॥ ५ ॥

Scanned with CamScanner

सत चित पूर्ण जान, नाशें शोक विषाद सब।
प्रगटे आनन्द भान, सत्चित आनन्द रूप जो ॥ ६ ॥
सत्चित् आनन्द एक, अद्वै, अचल अनूप अज।
निश्चय सोइ अनेक, दूसर हुआ न होवई ॥ ७ ॥
ऐका ऐकी एक, बारम्बार अनेक हैं।
तांते एक अनेक उभय समान पछानिये ॥ ८ ॥
सार ज्ञान को ज्ञान, हेमराज निज रूप को।
पावे पद निर्वाण, जो शरधा युत उर धरे ॥ ९ ॥

प्रश्न १०—वास्तव वस्तु क्या है, उसके ज्ञान से क्या लाभ होता है?

उत्तर—वस्तु केवल अस्ति मात्र है, चेतनता उसकी निज शक्ति है और आनन्द उसका प्रकाश है। इस प्रकार की वस्तु वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास, कथा प्रसंग, उपदेश और दृष्टांत में सत्, चित्, आनन्द, ब्रह्म, आत्मा, कूटस्थ, ज्योतिस्वरूप, पूर्ण आदि विशेषणों से प्रसिद्ध है। इसलिये यह सब विशेषण उसकी चेतन शक्ति का विलास है। इसी प्रकार सब नाम जो व्यावहारिक संज्ञा से शास्त्रों और लोगों में प्रसिद्ध हैं, चेतन शक्ति का विलास हैं और सदा चेतन में रहते हैं। इसलिये यह सब चेतन रूप हैं। सैद्धांतिक और व्यावहारिक शब्दों और अर्थों का अधिष्ठान केवल चेतन है और चेतन अस्तिमात्र है, इसलिये सभी अस्तिमात्र है और अस्ति केवल केवली रूप है। ऐसा यथार्थ ज्ञान जिस बुद्धि से उदय होता है, वह बुद्धि ज्ञान रूप होकर विषमता से रहित हो जाती है। केवल अस्तिमात्र होकर चेतनता और आनन्द का लाभ उठाती है और नित्य सत्तारूप, अगाध, गम्भीर, निश्चल, अडोल, अक्षोभ और अमल रूप होकर स्थित रहती है।

प्रश्न ११—सत्य और असत्य का परस्पर क्या सम्बन्ध है और यथार्थ क्या है?

उत्तर—सत्य सदा सत्य है, असत्य सत्य का अज्ञान है। वास्तव में असत्य सत्य का विशेषण है, सत्य की अद्वैतता का साधक है, बाधक नहीं, इसलिये असत्य असत्य नहीं, किन्तु सत्यरूप है। सत्य निजस्थित है, दृष्टान्त से रहित, प्रमाण से शून्य, हेतु से भिन्न, कारण से हीन निमित्त से असंग, सजातीय, विजातीय स्वगत भेद से रहित, कल्पित और अधिष्ठान द्वन्द से उल्लंघित, प्राप्त और अप्राप्त भेद से मुक्त, जड़ और चेतन भाव से शुद्ध, ब्रह्म, ईश्वर और जीव संज्ञा से रहित, गमनागमन से मुक्त, ज्ञान अज्ञान से परे, शब्द और अर्थ से विलक्षण, पूर्ण और प्रच्छिन्न से न्यारा केवल एक रूप है। यह ज्ञान सम्यक और यथार्थ है।

प्रश्न १२—कल्पित वस्तु क्या है? यथार्थ के साथ इसका क्या सम्बन्ध है? यह वास्तव में क्या है?

उत्तर—कल्पित कोई वस्तु नहीं है, यथार्थ वस्तु अपने आप में स्थित है और सदा अद्वैत रूप है। जिस प्रकार प्रकाश प्रभाकर का साधक होने से प्रभाकर से भिन्न नहीं, परन्तु प्रभाकररूप है, उसी प्रकार कल्पित यथार्थ का साधक होने से यथार्थ से भिन्न नहीं किन्तु यथार्थ रूप है। कल्पित और यथार्थ पर्याय शब्द हैं, निषेध पक्ष में इसे कल्पित संज्ञा कहते हैं

Scanned with CamScanner

और विधि पक्ष में यथार्थ संज्ञा। यह विधि निषेध पक्ष अद्वैत वस्तु के हैं। इसलिये विधि और वस्तु भिन्न नहीं परन्तु अभिन्न हैं। दोनों की समाप्ति अद्वैत वस्तु में है और इन दोनों से अद्वैत वस्तु सिद्ध होती है। इसलिये दोनो अद्वैत रूप हैं। ऐसे प्रचंड ज्ञान का जब प्रकाश होता है, तब कल्पित और यथार्थ अद्वैत रूप प्रतीत होकर सत्ता सामान्य अवस्था शेष रहती है।

प्रश्न १३—अस्ति क्या है? उसके ज्ञान से किस प्रकार भ्रम की निवृत्ति होती है?

उत्तर—जो वस्तु है वह अस्ति है। भूत और भविष्य उसके विशेषण हैं, इसलिए 'था' 'है' और 'होगा' उसके रूप हैं। जिस प्रकार भूतकाल और भविष्यकाल वर्तमान के रूप हैं उसी प्रकार 'था' और 'होगा' 'है' अस्ति के रूप हैं। 'हैं' सदा स्वयं स्थित है, क्योंकि अस्ति मात्र है; इस लिए अस्तिमात्र में भ्रम और भ्रम की निवृत्ति का प्रश्न उचित नहीं। भ्रम भी अस्ति से सिद्ध है क्योंकि लोग कहते हैं कि यह भ्रम है इसलिए 'है' ही भ्रम रूप है जिसके बिना भ्रम स्वरूप असिद्ध है। इसलिये 'है' 'सत्य' अर्थात् 'अस्ति' त्रिकालाबाध है। तात्पर्य यह कि निरन्तर स्थित है इसलिये भ्रम भी 'है' अर्थात् सत्य रूप होने से त्रिकालाबाध है। क्योंकि भ्रम भी सत्य रूप है तो उसकी निवृत्ति का प्रयत्न अथवा निवृत्ति के उपरान्त 'है' का निश्चय तथा निवृत्ति की सिद्धि युक्ति से विरुद्ध है। यथार्थ ज्ञान से यथार्थ वस्तु प्रतीत होती है इसलिये यथार्थवस्तु केवल अस्ति 'है' इसमें न भ्रम है न संशय, आप में आप स्थित है। ऐसा ज्ञान ही शान्तिदायक और आनन्द का हेतु है।

प्रश्न १४—चेतन क्या वस्तु है? अस्ति के साथ उसका क्या सम्बन्ध है? जगत में चेतन की प्रवृति किस प्रकार है?

उत्तर—चेतन शब्द का अर्थ 'सत्ता स्फुरण' है। सत्ता का अर्थ 'अस्ति' है और स्फुरण का अर्थ 'फुरना' है। यह फुरना अपनी अगाध और अनन्त शक्ति से अस्ति में कलोल और क्रीड़ा करता है। भिन्न २ स्वभावों, कर्मों और निश्चयों से अस्ति रूप निज स्वरूप को नाना संज्ञाओं से संज्ञक, नाना धर्मों से धार्मिक और अनेक स्वभावों से स्वभावाभूत अपना विलास स्वयं देखता है। ग्रहण और त्याग की युक्ति के द्वारा अपने ही स्वभावों, धर्मों, कर्मों और निश्चयों को अपने आप ग्रहण और त्याग करता है। अपने आपको देखकर हर्षित अथवा शोकातुर होता है। मानों अपनी क्रीड़ाको आप ही प्रगट करआप ही देखता है। तत्पश्चात न्यायवृत्ति को धारण कर अपने धर्मों, कर्मों, स्वभावों और निश्चयों को ज्ञान रूपी तराजू में तोलता है। फिर अपने ही स्वभावों की आप जाँच कर न्याय करता है। जो स्वभाव ज्ञान रूपी तराजू में त्याज्य होते हैं उन्हें अपने आप में लीन करता है और जो अपने ही स्वभाव ग्रहण करने योग्य होते हैं, आप ही ग्रहण करता है। आपसे भिन्न न किसी को ग्रहण करता है और न किसी को त्याग, मानों आप ही ग्रहण और त्याग रूप होकर अपनी स्फुरण शक्ति की महिमा सिद्ध करता है। इसलिए एक ही स्फुरण स्वयं स्थित होकर अस्ति रूप है। रंचक-मात्र फुरना फुरने से भिन्न नहीं, फुरने का ग्रहण फुरने में और त्याग भी फुरने में है, फुरने से बाहर कुछ नहीं। यह फुरना तथा, अस्ति चेतन रूप है। इसलिए सदा स्फुरण रूप चेतन स्वयं स्थित है। सब कर्म, सब धर्म, सब स्वभाव और सब निश्चय स्फुरण हैं। फुरना चेतन

Scanned with CamScanner

सबका आत्मा है इसलिए सारे ही एक रूप हैं। अतः उचित है कि न्यायवृत्ति धार कर त्यागने योग्य स्वभावों, कर्मों और निश्चयों को आप में लीन करें और ग्रहण योग्य स्वभावों को अपने आप में धारण करें। इस ग्रहण और त्याग के स्वरूप में रंचकमात्र भी हानि नहीं किन्तु स्वरूप की सिद्धि है क्योंकि वास्तव स्वरूप चेतन है। चेतन का अर्थ ज्ञान है। ज्ञान स्वयं प्रकाश को कहते हैं। ऐसा स्वयं प्रकाश रूप आत्मा है। इस प्रकार स्वरूप को अपना आप समझकर अपनी न्याय रूप शक्ति के अनुसार व्यवहार करना मानो चेतन की चेतनता को पूर्ण रीति से उपयोग में लाना है।

प्रश्न १५—कई लोग कहते हैं सब है और कई कहते हैं एक है, इनमें क्या भेद है और वास्तव में क्या है?

उत्तर—सब, एक है और एक, सब है, शब्द का भेद है, अर्थ का भेद नहीं। जैसे सूर्य एक है और काल संज्ञा अनेक हैं, परन्तु काल की अनेकता सूर्य की एकता से भिन्न नहीं। मानों एक ही सूर्य सर्व संज्ञा को धारकर स्वयं स्थित है। उसी प्रकार एक ही सर्व संज्ञा को धारकर अपने आप में स्थित है। जिस प्रकार वृक्ष है परन्तु बीजरूप संज्ञा से अनेक प्रतीत होता है परन्तु बीज की अनेकता वृक्ष की एकता से भिन्न नहीं है। जब वृक्ष की सारी अवस्थाएँ बीज में सामान्यरूप होकर स्थित हैं, इसलिये वृक्ष की अनेक संज्ञाएँ, नाना स्वभाव और विलक्षण अवस्थायें एक बीज रूप हैं। उसी प्रकार सब संज्ञा, सब स्वभाव और सर्व अवस्थायें एक से भिन्न नहीं हैं, क्योंकि बीज एक है और सर्व वृक्ष हैं। सर्व में एक ही पूर्ण हैं; एक ही मानो अनेकता से सर्व के नाम से प्रसिद्ध है। एक के बिना सर्व का स्वरूप सिद्ध नहीं होता। जब एक ही महिमा सर्व है इसलिये सर्व कोई वस्तु नहीं, एक ही एक है और वह एक सदा स्वयं स्थित है। द्वैत कल्पना से रहित केवल ज्ञेय पद है।

प्रश्न १६—आत्मा और परमात्मा का क्या सम्बन्ध है?

उत्तर—आत्मा और परमात्मा दोनों एक है, क्योंकि सत्ता एक है, केवल उपाधिभेद से दो नाम हैं। तात्पर्य यह कि एक ही सत्ता शरीर के सम्बन्ध से आत्मा कहलाती है और जगत के सम्बन्ध से परमात्मा कहलाती है; सत्ता अद्वैत है उसमें द्वैत का प्रवेश नहीं। शरीर और जगत उस सत्ता को रंचकमात्र भी व्यभिचारी नहीं कर सकते, इसलिए आत्मा और परमात्मा कहने मात्र में दो शब्द हैं। भाव यह कि इन दोनों का सत्चित् आनन्द रूप है।

दृष्टान्त—जैसे आकाश अद्वैत वस्तु है परन्तु घट की उपाधि से वह घटाकाश कहलाता है और जगत की उपाधि से वह आकाश महाकाश कहलाता है। वास्तव में आकाश एक है। उसमें घट और जगत के सम्बन्ध से द्वैत प्रवेश नहीं कर सकता और न आकाश को खण्ड-खण्ड कर खण्डित कर सकता है। इसलिए घटाकाश और महाकाश नाम मात्र हैं, वास्तव स्वरूप घट और महा से रहित एक आकाश है। इसी प्रकार आत्मा और परमात्मा शाब्दिक सम्बन्ध से एक वस्तु है।

प्रश्न १७—आत्मा और परमात्मा में कुछ भेद है या नहीं?

उत्तर—नहीं, केवल नाम का भेद है। वस्तु एक है जैसे आकाश और महाकाश। महा

Scanned with CamScanner

के कहने से आकाश अपने स्वरूप में रंचक मात्र नहीं बदला, आकाश ही आकाश है। महा केवल आकाश का विशेषण है। उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा परम के कहने से आत्मा अपने स्वरूप से रंचकमात्र नहीं बदलता, आत्मा ही आत्मा है। परम आत्मा का विशेषण है। नाम के भेद से स्वरूप में भेद नहीं आता, इसलिए आत्मा और परमात्मा एक ही वस्तु के नाम हैं। जिस प्रकार कृष्ण और श्रीकृष्ण एक ही शरीर के नाम हैं। इसलिए भेद को विस्मरण कर आत्मा और परमात्मा को एक ही निश्चय करो।

प्रश्न १८—विषय का इन्द्रिय से, इन्द्रिय का अन्तःकरण और अन्तःकरण का जीव से क्या सम्बन्ध है? जीव का ईश्वर से क्या सम्बन्ध है? कौन-सी उपाधि जीव और ईश्वर के मध्य भेद प्रतीत कराती है और किसके निवृत्त होने से जीव और ईश्वर का भेद स्वप्न में भी प्रतीत नहीं होता?

उत्तर—विषयों का इन्द्रिय के साथ विषय-विषयी भाव सम्बन्ध हैं। इन्द्रिय का अन्तःकरण के साथ प्रकाश प्रकाशक भाव सम्बन्ध है, अन्तःकरण का जीव के साथ विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्ध है और जीव का ईश्वर के साथ बिम्बप्रतिबिम्ब भाव सम्बन्ध हैं और वह उपाधि अज्ञान है जिससे जीव और ईश्वर का भेद प्रतीत होता है, अज्ञान के निवृत्त होने से जीव और ईश्वर का भेद स्वप्न में भी प्रतीत नहीं होता।

ईश्वर का प्रकाश जीव है। जीव का प्रकाश अन्तःकरण है, अन्तःकरण का प्रकाश इन्द्रियाँ हैं और इन्द्रियों का प्रकाश विषय रूप जगत है। भाव यह कि ईश्वर ही जीव रूप है। जीव ही अन्तःकरण रूप है। अन्तःकरण ही इन्द्रिय रूप है और इन्द्रियाँ ही विषय रूप है। विषय जगत रूप है और लय चिन्तन की रीति से विषय इन्द्रिय रूप है। इन्द्रिय अन्तःकरण रूप हैं, अन्तःकरण जीव रूप है, जीव ईश्वर रूप है, इस प्रकार एक अद्वैत वस्तु अपनी महिमा में स्थित है। अज्ञान से भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है। जब यथार्थ ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है, उस समय सब का तादात्मय सम्बन्ध या भेद अभेद रहित सम्बन्ध प्रतीत होता है।

सब रूपवान पदार्थ नेत्रों द्वारा प्रतीत होते हैं। इसलिए सब रूपवान जगत का नेत्रों के साथ सम्बन्ध है। भाव यह कि सब रूपवान जगत नेत्रों में स्थित है। नेत्रों में तिल के समान सूक्ष्म केवल पुतली सब जगत को विषय करती हैं इसलिए सारा ब्रह्मांड तिल में स्थित है। तिल अन्तःकरण की ज्ञानवृत्ति से प्रकाश पाता है। इसलिए तिल बुद्धि में स्थित है। बुद्धि अन्तःकरण विशिष्ट चेतन से, जिसे जीव कहते हैं प्रकाश पाती है इसलिए बुद्धि जीव में स्थित है और जीव विशेषण से रहित शुद्ध चेतन आत्मा है। जिसे कूटस्थ और साक्षी भी कहते हैं, इसलिए जीव साक्षी में स्थित है और साक्षी स्वयं प्रकाशरूप है। इसलिए सब रूपवान जगत साक्षी में स्थित होने से साक्षी स्वरूप है। तात्पर्य यह कि साक्षी ही अन्तःकरण के सम्बन्ध से जीवरूप है। जीव अपनी स्फुरण शक्ति से अन्तःकरण रूप हैं, अन्तःकरण ज्ञान शक्ति से इन्द्रिय रूप है और इन्द्रियाँ प्रकाश शक्ति से विषय रूप है। इसलिए एक ही स्वप्रकाश चेतन अपने आप में स्थित है। इसी प्रकार सब शब्द रूप जगत श्रोत इन्द्रिय का विषय होता है। श्रोत इन्द्रिय बुद्धि का विषय होती है, बुद्धि जीव से प्रकाश पाती है। जीव

Scanned with CamScanner

साक्षी से प्रकाश पाता है और साक्षी स्वयंप्रकाश रूप है इसलिए सब शब्द रूप जगत साक्षी में स्थित होने से साक्षी रूप है, इसी प्रकार स्पर्श रूप जगत त्वचा इन्द्रिय से प्रतीत होता है। त्वचा इन्द्रिय बुद्धि से प्रतीत होती हैं, बुद्धि जीव से प्रकाश पाती है, जीव साक्षी से प्रकाश पाता है और साक्षी स्वयं प्रकाश रूप है। इसलिए सब स्पर्श रूप जगत साक्षी में स्थिर होने से साक्षी स्वरूप है। इसी प्रकार रस रूप जगत रसना इन्द्रिय में स्थित है, रसना इन्द्रिय बुद्धि में स्थित है, बुद्धि जीव से प्रकाश पाती है, जीव साक्षी करके प्रकाश पाता है और साक्षी स्वयं प्रकाश रूप है। इसी प्रकार गंधरूप जगत नासिका इन्द्रिय में स्थित है। नासिका इन्द्रिय बुद्धि में स्थित है, बुद्धि जीव में स्थित है, जीव साक्षी में स्थित है और साक्षी स्वयं प्रकाश रूप है। इसलिए गंधरूप जगत साक्षी में स्थित होने से साक्षीरूप है। इसी प्रकार एक ही साक्षी अपने आप में स्थित है और साक्षी साक्ष्य की अपेक्षा से कहा जाता है। जब साक्ष्य देने योग्य दूसरा पदार्थ ही कोई नहीं तब किसकी अपेक्षा से साक्षी कहा जाए? इसलिए सभी कल्पना और शब्द से रहित अनुभवमात्र अपने आप में स्थित है।

इस प्रसंग में दृष्टान्त की आवश्यकता नहीं, क्योंकि दृष्टान्त ही दार्ष्टान्त रूप सिद्ध हो चुका है और इसका फल सब संशयों की निवृत्ति और आत्मस्थिति की प्राप्ति है।

प्रश्न १६—जीवात्मा क्या है और उसका स्वरूप क्या है?

उत्तर—जीवात्मा चेतन तत्व है उसका स्वरूप सत्चित्आनन्द है।

प्रश्न २०—किस युक्ति से जीव और ईश्वर की एकता हो सकती है।

प्रथम युक्ति—वेदान्त अर्थात् ज्ञान योग से। जब जीव अपने आपको केवल सत्चित् आनन्दरूप निश्चय करता है, उस समय भेद बुद्धि त्यागकर ईश्वर के साथ एकरूप होता है; क्योंकि भेद अज्ञान में होता है और भेद के अभाव में अज्ञान नहीं रहता। जिस प्रकार एक ही मुख दर्पण में देखने से दो प्रतीत होता है और जब दर्पण को उठा लें तो मुख एक ही रहता है उसी प्रकार चेतन अद्वैत है। अज्ञान से ईश्वर और जीव दो रूप होकर प्रतीत होता है। जब अज्ञान निवृत्त हो जाता है तब अद्वैत रूप रहता है। जीव की अनेकता केवल शरीर की उपाधियों से प्रतीत होती है, वास्तव में एक ही चेतन पूर्ण है। जिस प्रकार एक ही मनुष्य फूटे हुए दर्पण के सम्मुख अपने आपके अनेक रूप देखता है परन्तु अनेक रूप होता नहीं क्योंकि वह तो एक रूप है। उसी प्रकार एक ही चेतन तत्व नाना शरीरों के संग से नाना रूप प्रतीत होता है। परन्तु नाना रूप नहीं है, अद्वैत रूप है क्योंकि सब शरीरों में जो चेतन है, जिसे जीव कहते हैं, उसका स्वरूप समान है अर्थात् सारे जीव सत्चित् आनन्द रूप हैं, कोई जीव, असत्य, जड़ और दुःखरूप नहीं है क्योंकि सत्य वस्तु सदा अद्वैत होती है। इसलिए एक ही चेतन सत्चित् आनन्दरूप अपनी महिमा में स्थित है। जब जीव को यह निश्चित ज्ञान होता है तब अपने आपको ईश्वर से अभिन्न देखता है।

दूसरी युक्ति—जो सब जगत में व्यापक है उसे ईश्वर कहते हैं और जो शरीर में व्यापक है उसे जीव कहते है। इन दोनों का स्वरूप आकाश के बिना कुछ नहीं। जब वस्तु अद्वैत है तो शरीर के अन्दर जो चेतन आकाश है, उसे ईश्वर मानना यथार्थ ज्ञान के विरुद्ध

Scanned with CamScanner

है। जिस प्रकार जगत में पूर्ण एक ही आकाश को महाकाश कहते हैं और घट में पूर्ण को घटाकाश कहते हैं किन्तु ये दोनों महाकाश और घटाकाश एक वस्तु हैं। अब घट के अंतर आकाश को घटाकाश और बाहिर आकाश को महाकाश मानना यथार्थ ज्ञान के विरुद्ध है। आकाश अद्वैत है, महा और घट की उपाधि से दो संज्ञाओ से संज्ञित हो रहा है। इन्हीं उपाधियों से उनमें भेद प्रतीत होता है, वास्तव में भेद कोई नहीं, एक ही वस्तु है। उसी प्रकार जीव चेतन और ईश्वर चेतन भी उपाधि से दो हैं, तात्पर्य यह कि चेतन अद्वैत है। शरीर और जगत की उपाधि से जीव और ईश्वर की संज्ञा से संबोधित हो रहा है। इन्हीं उपाधियों से उसमें भेद माना गया है। यह भेद अज्ञान से है। जब यथार्थ ज्ञान से यह निश्चय होता है कि चेतन अद्वैत हैं, जीव और ईश्वर दो शब्द अज्ञान से उसमें कल्पित हैं तब भेद बुद्धि निवृत्त होकर अद्वैतनिष्ठा प्राप्त होती है।

तीसरी युक्ति—भक्ति योग से। जब जीव अष्ट प्रकार की भक्ति करके आत्म-निवेदन रूप नवम अंग भक्ति का साधन करता है, तब जीव और ईश्वर एक हो जाते हैं। क्योंकि आत्म निवेदन के अर्थ अपना आप भेंट करने के हैं, जब अपना आपके ईश्वर के अर्पण किया तो शेष ईश्वर ही रहा। इस प्रकार जब भक्ति योग पूर्ण रीति से समाप्त हो जाता है उस समय भी जीव और ईश्वर में भेद नहीं रहता। इसलिए प्रेम और सत्यता से युक्त नवधा भक्ति को साधकर ईश्वर मिलाप का लाभ उठावे। जब जीव ईश्वर से प्रेम जोड़ता है तब ईश्वर के गुण उसमें प्रवेश करते हैं। ज्यों-ज्यों गुण प्रवेश करते जाते हैं त्यों-त्यों जीव का जीवत्व भाव नष्ट होकर ईश्वरत्व भाव उदय होता है।

दृष्टान्त :—जिस प्रकार फल के साथ ज्यों-ज्यों पक्कापन तदरूप होता जाता है त्यों-खटास और हरापन का अभाव होकर मिठास और पीतवर्ण उसमें प्रवेश करता जाता है। वही फल पक्का और मीठा हो जाता है और सब को प्रिय लगता है। उसी प्रकार जीव का देह अभिमान कच्चा सा फूल है, उसमें आसुरी स्वभाव खटास की तरह हैं, अल्पज्ञता और भेद भावना हरेपन की तरह हैं! जब भक्ति से ईश्वर रूप पक्केपन के साथ तदरूप होता है, तब दैवीसम्पदा रूप मिठास, सर्वज्ञता और अभेदता रूप पीतवर्ण उसमें प्रवेश कर जाते हैं और वह जीव स्वयं ईश्वर रूप होकर अपने आपको प्रिय लगता है। जैसे फल स्वयं कच्चा और खट्टा था और आप ही पक्का और मीठा होता है, केवल सूर्य का तेज सहायक होता है। उसी प्रकार जीव आप ही प्रच्छिन्न और विकारी है और आप ही अप्रच्छिन्न और अविकारी होता है। केवल गुरु रूप सूर्य की सहायता वांछित है। जब कच्चा फल सूर्य के सम्मुख होता है और उसकी धूप को सहारता है, तब उसकी कच्चाई, खटास और हरापन, पकाई, मिठास और पीतवर्ण में परिणत हो जाते हैं। उसी प्रकार जब जीव सत्गुरु रूप सूर्य के सम्मुख होता है और उनके उपदेश रूप धूप को सहारता है, और उनकी आज्ञा के अनुसार अपने स्वभावों को सुधारता है तब उसकी प्रच्छिन्नता, भेद दृष्टि, मलिन स्वभाव, तृष्णा आदि अप्रच्छिन्नता अभेद दृष्टि, उत्तम स्वभाव, तृप्ति आदि में बदल जाते हैं और यही अवस्था ईश्वर रूप अवस्था है। इसी की प्राप्ति ईश्वर की प्राप्ति है। ऐसी अवस्था उस

Scanned with CamScanner

समय प्राप्त होती है, जब जिज्ञासु नव प्रकार से सद्गुरु की भक्ति करता है।

चतुर्थ युक्ति—सांख्य योग है। एक ही चेतन समष्टि और व्यष्टि उपाधियों से जीव और ईश्वर प्रसिद्ध है। जब विवेक द्वारा दोनों प्रकार के उपाधियों को चेतन से भिन्न किया तो चेतन एक ही है। उस समय ईश्वर और जीव का भेद प्रतीत नहीं होता अब इसका विस्तार सहित निर्णय किया जाता है। ईश्वर की उपाधि समष्टि स्थूल शरीर-समष्टि, सूक्ष्म शरीर और समष्टि कारण शरीर है। समष्टि स्थूल शरीर का अर्थ विराट, समष्टि-सूक्ष्म शरीर का अर्थ हिरण्यगर्भ या सूत्र आत्मा है, समष्टि कारण शरीर का अर्थ ईश्वर है, चेतन एक है, स्थूल, सूक्ष्म और कारण की उपाधियों से विराट, हिरण्यगर्भ और ईश्वरीय भेद से शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं, मानों एक ही ईश्वर में उपाधियों के भेद से तीन प्रकार की संज्ञा हुई हैं। जब स्थूल, सूक्ष्म, और कारण उपाधियों को कल्पित निश्चय करके चेतन से भिन्न किया, तो एक ही चेतन संज्ञा से रहित, नाम से अतीत, उपाधि से शुद्ध और कल्पना से न्यारा सिद्ध हुआ। इसी प्रकार जीव की उपाधि व्यष्टि स्थूल शरीर, व्यष्टि सूक्ष्म और व्यष्टि कारण शरीर है। व्यष्टि स्थूल शरीर का अर्थ विश्व है और व्यष्टि सूक्ष्म शरीर का अर्थ तेजस है। व्यष्टि कारण शरीर का अर्थ प्राग है। चेतन एक है, स्थूल सूक्ष्म, कारण की उपाधियों से विश्व, तेजस, प्राग के भेदों से शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। एक ही जीव में उपाधियों के भेद से तोन प्रकार की संज्ञा हुई है। जब स्थूल, सूक्ष्म, कारण उपाधियों को कल्पित निश्चय कर चेतन से भिन्न किया तो एक ही चेतन संज्ञा से रहित, नाम से अतीत उपाधि से शुद्ध और कल्पना से न्यारा सिद्ध होता है! इस प्रकार चेतन में जीव और ईश्वर की कल्पना केवल समष्टि और व्यष्टि उपाधियों से है। वास्तव में जीव और ईश्वर की कल्पना भी चेतन में नहीं बन सकती। जब जीव ईश्वर की कल्पना ही नहीं, तो इनका भेद अथवा अभेद किस प्रकार सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार विवेक से जीव और ईश्वर का स्वरूप सिद्ध नहीं होता। केवल अद्वैत वस्तु सिद्ध होती है। वही सर्वरूप है। समष्टि और व्यष्टि भी एक दूसरे की अपेक्षा से सिद्ध हैं, वास्तव में समष्टि और व्यष्टि कोई वस्तु नहीं हैं, व्यष्टि का दूसरा नाम समष्टि है, जैसे दाने का दूसरा नाम ढेर है। जब व्यष्टि और समष्टि समान प्रतीत हुए तो उनके अनुसार जीव और ईश्वर में भी भेद प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार सांख्य योग के विचार से भी जीव और ईश्वर एक ही वस्तु के नाम हैं। यह युक्ति भी विवेकी गुरु की समीपता से निश्चय होती है, इसलिए उचित है कि श्रद्धा सहित विवेकी महापुरुषों के मुख से युक्ति सुनकर प्रेम और प्रतीत से निश्चय करे जिससे जीव और ईश्वर का भेद निवृत्त हो जाए।

प्रश्न २१—अनेक जीवों की एक चेतन के साथ एकता का क्या दृष्टान्त है?

उत्तर—जिस प्रकार सूर्य सब नेत्र रूप है। यद्यपि सूर्य एक है और नेत्र अनेक हैं, तथापि इनका वास्तव स्वरूप समान है। इसलिए चेतन जीव हैं और जीव चेतन है। इनमें रंचक मात्र भी भेद नहीं। अनेकता एकता की महिमा है, जिस प्रकार नेत्रों की अनेकता सूर्य की महिमा है, उसी प्रकार जीवों की अनेकता चेतन की महिमा है। इसलिए अनेकता एकता

Scanned with CamScanner

का स्वरूप है। जब अनेकता और एकता तुल्य हैं तो इनका भेद और कल्पना मिथ्या है। इस रीति से अनेकता और एकता को त्यागकर केवल वस्तु मात्र में स्थिति यथार्थ ज्ञान है।

प्रश्न २२—जीव, ईश्वर, ब्रह्म, ये तीन भिन्न-भिन्न नाम शास्त्रों में क्यों कहे हैं?

उत्तर—ये तीन नाम भी सत्ता स्फुरण रूप चिदाकाश के विशेषण हैं। जीव का अर्थ चेतन है, ईश्वर का अर्थ शक्तिवान है और ब्रह्म का अर्थ पूर्ण है। इसलिए जीव, ईश्वर और ब्रह्म के अर्थ चेतन शक्तिवान और पूर्ण है। तात्पर्य यह कि चिदाकाश ही चेतन, शक्तिवान और पूर्ण है। चिदाकाश के बिना जीव, ईश्वर ब्रह्म का स्वरूप कोई नहीं, केवल चिदाकाश अर्थात् सत्तामात्र अपने आप में स्थित है। सब नाम, सब रूप, सब गुण, सब कर्म, सब शब्द, सब अर्थ उसका विलास हैं। अर्थात् उसकी सत्ता है, इसलिए द्वैत का अत्यन्त अभाव है केवल सत्ता सामान्य अपने आप में स्थित है। जिज्ञासु को समझाने के लिए भिन्न-भिन्न विशेषण, दृष्टान्त, युक्तियाँ, कार्य कारण भाव, जीव, ईश्वर, ब्रह्म आदि संज्ञायें स्थापित हुई हैं। इसलिए सारे ही सत्ता स्वरूप हैं। सत्ता से भिन्न रंचक मात्र नहीं, इसलिए केवल सत्तासामान्य पर निष्ठा दृढ़ करने से सब नामों, विशेषणों, गुणों, धर्मों, अलंकारों के होते ही सत्तासामान्य का दर्शन होता है। यह यथार्थ दृष्टि है।

प्रश्न २३—जब ब्रह्म सब जगह पूर्ण है, ब्रह्म के बिना और कुछ नहीं तो जीव ईश्वर का भेद क्योंकर हुआ? यदि ब्रह्म में समझा जाय तो ब्रह्म के विशेषणों में भेद आयेगा, क्योंकि ब्रह्म सर्वशक्तिमान निराकार हैं, उसमें भेद कैसे हुआ? यदि यह कहा जाय कि जीव कोई वस्तु नहीं ब्रह्म ही ब्रह्म है तो वेद और वेदांत शास्त्र निरर्थक होंगे, जब ध्याता ही नहीं तो ध्येय कौन होगा?

उत्तर—वस्तु एक है। ब्रह्म, ईश्वर जीव उसके विशेषण हैं। ब्रह्म का अर्थ पूर्ण है, ईश्वर का अर्थ सर्वशक्तिमान है और जीव का अर्थ चेतन है। इसलिए वह वस्तु, पूर्ण, शक्तिशाली और चेतन है। वास्तव में अद्वैत रूप है, रंचकमात्र भेद नहीं, क्योंकि अद्वैत वस्तु के विशेषण भी अद्वैत और और अभेद होते हैं, केवल शब्द में भेद है, अर्थ में नहीं, जैसे आकाश अद्वैत है,चिदाकाश, चिताकाश और भूताकाश उसके तीन विशेषण हैं। इन तीनों विशेषणों से आकाश में भेद नहीं आता और न ही इन विशेषणों में परस्पर भेद बन सकता है, क्योंकि अद्वैत विशेष्य के विशेषण भी अद्वैत होते हैं। वास्तव में देखें तो विशेषण विशेष्य से भिन्न नहीं होते किन्तु विशेष्य का स्वरूप होते हैं। इसलिए चिद, चित्, और भूत आकाश का स्वरूप है। चिद् का अर्थ समान है, चित् का अर्थ चेतन है और भूत का अर्थ वस्तु है इसलिए समान, चेतन और वस्तु आकाश है, इससे पृथक आकाश का स्वरूप कोई नहीं। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न विशेषणों से आकाश में भेद नहीं होता उसी प्रकार विशेषणों का परस्पर भेद भी सम्भव नहीं। यह सजातीय दृष्टान्त है। अब दृष्टान्त और दृष्टान्त के अंगों और विशेषणों को एकरूप करके दिखाया जाता है। ब्रह्म और चिदाकाश एक रूप हैं, ईश्वर और चिदाकाश एक रूप हैं, जीव और भूताकाश एक रूप हैं, इस प्रकार एक वस्तु अपने आप में स्थित है। यह विशेषण उसका स्वरूप है, जब विशेषण ही भिन्न नहीं है तो विशेषणों में भेद

Scanned with CamScanner

किस प्रकार सिद्ध हो ? जब भेद ही सिद्ध नहीं होता तो इसका निमित्त या हेतु क्या सोचा जाए ? शंका और समाधान से रहित, अध्यारोप और अपवाद से शून्य, भेद और अभेद से निर्मल सत्तासामान्य है। यह यथार्थ दृष्टि है।

भेद, भेद में है और किसी में नहीं है। जब भेद भेद में स्थित है तो अपने आप में अभेद रूप है। जब भेद अपने आप में अभेद रूप है तो दूसरी वस्तु में भेद किस प्रकार सिद्ध करेगा इसलिए भेद अत्यन्त अभाव रूप है तो इसके खंडन व मंडन के लिए कथा, प्रसंग और पुरुषार्थ भी अभाव रूप हैं। केवल केवली मात्र है।

अस्तिमात्र है। सर्व नाम, रूप, गुण, कर्म अस्ति के आसरे हैं इसलिए अस्ति के साथ अभेदरूप हैं। तात्पर्य यह कि अस्तिरूप है और अस्ति सत्यरूप है। इसलिए सत्य ही सत्य है, असत्य न था; न है और न होगा। जब असत्य ही असिद्ध है तो इसका बल दूसरी किस वस्तु पर प्रकट होगा ? अतः असत्य को असत्य जानकर केवल सत्य वस्तु ही निश्चय करें।

किसी में कोई वस्तु नहीं, केवल आत्म मात्र है, जब ऐसी अवस्था है तो भेद किसमें कहा जाए और अभेद किसमें कहा जाए, यह सब कल्पनाएँ अज्ञान में हैं, और किसी में नहीं, भेद भी अज्ञान में हैं और अभेद भी अज्ञान में हैं। तात्पर्य यह कि भेद का अज्ञान अभेद है और अभेद का अज्ञान भेद है। इसलिए भेद और अभेद दोनों अज्ञात हैं। अज्ञात वस्तु असत्य होती है इसलिए भेद और अभेद असत्य हैं। असत्य वस्तु सत्य वस्तु को दूषित नहीं कर सकती किन्तु सत्य के सन्मुख असत्य अभाव रूप हो जाती है। ऐसे अत्यन्त अभाव रूप भेद का का कारण किसे माना जाए ? हेतु सहित भेद अत्यन्त अभाव रूप है। जब भेद ही अत्यन्त अभाव रूप है तो उसकी अपेक्षा से जो अभेद है वह कैसे सिद्ध होगा इसलिए भेद और अभेद रहित वस्तु आत्मस्थित है।

सत्य स्वतः सिद्ध है। उसमें साधन की सहायता उपयोगी नहीं। असत्य वस्तु साधन से सिद्ध होती है और जो साधन वेद और वेदान्त शास्त्रों में निरूपित हैं वे सब असत्य की निवृत्ति के लिए हैं। सत्य की सिद्धि के लिए नहीं। सत्य ज्यों का त्यों सामान्य रूप नित्य-स्थित है। वेद और वेदान्त से प्रथम सिद्ध है। वेद और वेदान्त का आधार हैं, इसलिए वेद और वेदान्त से ऊपर स्वयं स्थित है।

ध्याता, ध्यान, ध्येय एक रूप है, तीन नहीं। ध्याता जब अपने को भूलकर केवल अपने विशेषणों का चिन्तन करता है तो अपने आपको उन विशेषणों से भिन्न प्रतीत करता है। जब उन विशेषणों को कल्पित निश्चय कर अपने को सत्यरूप देखता है तब त्रिपुटी के भेद से रहित होकर अद्वैत रूप होता है। ध्याता के बिना ध्येय का स्वरूप और कोई नहीं, जैसे बिम्ब के बिना प्रतिविम्ब का स्वरूप कोई नहीं, विम्ब ही प्रतिविम्ब रूप है वैसे ही ध्याता ही ध्येय रूप है। तात्पर्य यह कि ध्यान में एक ही वस्तु दो रूप प्रतीत होती है जैसे दर्पण से एक ही वस्तु दो रूप होकर प्रतीत होती है। वास्तव में देखें तो द्वैत नहीं है, ध्यान वृत्ति है, ध्याता वृत्ति को धारण करने वाला है और ध्येय वृत्ति का विषय है इसलिए एक ही वृत्ति त्रिपुटी रूप होकर स्थित है। यह वृत्ति अन्तःकरण का परिणाम है। जब सुषुप्ति अवस्था

Scanned with CamScanner

में अन्तःकरण लीन हो जाता है, तब वृत्ति सब त्रिपुटियों सहित लीन हो जाती है। सब त्रिपुटियाँ मानों अभेद रूप हो जाती हैं, रंचकमात्र ध्याता और ध्येय का भेद नहीं रहता। इससे सिद्ध हुआ कि ध्याता और ध्येय दोनों एक रूप हैं और ध्यान इन दोनों का साधक है। भाव यह कि ध्यान के आसरे ध्याता और ध्येय सिद्ध होते हैं, ध्यान से भिन्न ध्याता और ध्येय का स्वरूप असत्य है इसलिए ध्याता और ध्येय केवल ध्यान रूप हैं और ध्यान वृत्ति रूप है और वृत्ति अन्तःकरण का परिणाम है और अन्तःकरण पाँच तत्वों का सतोगुणी अंश है। सतोगुण का स्वरूप केवल ज्ञान है इसलिए ध्यान केवल ज्ञान रूप है, सो ज्ञान ही ध्याता और ध्येय रूप होकर स्थित है। ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है इसलिए ब्रह्म ही ध्याता और ध्येय स्वरूप है, ब्रह्म से भिन्न ध्याता और ध्येय का स्वरूप असिद्ध है। इस प्रकार अद्वैत ब्रह्म अपने आप में स्थित है।

प्रश्न २४—आत्मा और परमात्मा एक हैं या दो ?

उत्तर—एक हैं, दूसरी वस्तु न थी, न है और न होगी।

प्रश्न २५—जब यह सत्य है कि परमात्मा पूर्ण है, जीव ही परमात्मा रूप है तो क्या कारण है कि जीव सब कुछ नहीं जानता और दूसरे के अन्तर की बात नहीं समझ सकता ?

उत्तर—एक ही परमात्मा पूर्ण है और वह सब कुछ है—इस बात को जीव जानता है इसलिए जीव सब कुछ जानता है। दूसरा कोई नहीं, एक ही वस्तु अपने आप में स्थित है। जब दूसरा ही कोई नहीं तो कौन किसके अन्दर की जाने ? न कोई अन्दर है न कोई बाहर एक वस्तु अपने आप में स्थित है। जैसे आकाश पूर्ण है, महा-आकाश भी आकाश है, घटाकाश भी आकाश है, घट की उपाधि से आकाश में दस सेर आटा समाता है और घट के बिना आकाश में सारा जगत समाया हुआ है परन्तु आकाश दोनों स्वरूपों में समान है। न घट के होने से अल्प हुआ है और न घट के न होने से महत् हुआ है, आकाश ही आकाश है। जैसे चेतन आकाश ज्यों का त्यों है, शरीर की उपाधि से अल्पज्ञ प्रतीत होता है और शरीर की उपाधि के बिना सर्वज्ञ प्रतीत होता है परन्तु चिदाकाश समान है। न शरीर के होने से अल्पज्ञ हुआ है और न शरीर के न होने से सर्वज्ञ होता है। चिदाकाश ही चिदाकाश है। चिदाकाश के अज्ञान से सर्वज्ञता और अल्पज्ञता निश्चित हो रही है। वास्तव में वस्तु अपने आप में स्थित है। जीव और ईश्वर के नाम भी कल्पित हैं। जब नाम ही कल्पित हैं तो इनके विशेषण भी कल्पित हैं, नाम और रूप से शुद्ध केवल अस्ति, भाँति, प्रेय अपने आप में स्थित है। इस निश्चय को दृढ़ कर सब संशयों का त्याग उचित और शांतिदायक है।

प्रश्न २६—जब जीव स्वयं ही ब्रह्म रूप है तो ज्ञान हो जाने पर तुच्छ पदार्थों के लिए दूसरों के आगे दीन क्यों होता है ? अपनी परमात्म शक्ति से मनवांछित पदार्थ क्यों नहीं उत्पन्न कर लेता ?

उत्तर—जीव को जब अपने वास्तव स्वरूप का ज्ञान होता है तब माया रचित सब पदार्थों को अत्यन्त अभाव रूप निश्चय करता है। यदि कोई पदार्थ जीव की दृष्टि में सत्य प्रतीत हो तो उसे अपने शुद्ध स्वरूपका ज्ञान सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञान के

Scanned with CamScanner

उपरान्त जीव को ब्रह्म रूप निश्चय कर सब कामनाओं और अभिलाषाओं से मुक्त हो जाता है। जब कामना ही न रही तो अपनी शक्ति से पदार्थों का उत्पन्न करना व दूसरों से उसके लिए प्रार्थना करना, यह दोनों ही नहीं हो सकते।

सर्वप्रथम यह विचारना है कि यह सब प्रपंच ब्रह्म में अध्यस्त हैं या वास्तव है? पुरातन ऋषियों मुनियों, आचार्यों और वर्तमान काल के महात्माओं ने भली प्रकार विचार से सिद्ध कर दिया है कि शुद्ध चेतन ब्रह्म में माया और माया के पदार्थ इस प्रकार कल्पित हैं जिस प्रकार आकाश में नीलापन या साक्षी में स्वप्न। एकता के समय जीव की उपाधि अविद्या और ईश्वर की उपाधि माया को कल्पित मानकर दोनों में जो चेतन समान है उसे एकरूप निश्चय किया जाता है। यदि इन दोनों उपाधियों से एकता करें तो किसी प्रकार भी एकता नहीं हो सकती। जब जीव को परम ब्रह्म पद अविद्या और माया को त्याग करने से प्राप्त होता है तो फिर जीव किस लिए उस पद को त्यागकर माया से तद्रूप हो जाए और अपने अत्यन्त कल्पित मनोरथ को उस शक्ति से पूर्ण करे? ब्रह्म निर्विकार, अक्रिय, निष्काम, सब कल्पना से रहित केवल अपनी महिमा में स्थित है, उसमें किसी प्रकार की अभिलाषा नहीं है और न अभिलाषा पूर्ण करने की इच्छा है। जब जीव यथार्थ ज्ञान से अपने को निर्विकार, अक्रिय निष्काम, सब कल्पनाओं से रहित निश्चय करता है, तब उसकी अभिलाषा निवृत्त हो जाती है, केवल शान्तस्वरूप और नित्य तृप्त रहता है। यदि ज्ञान के उपरान्त इच्छा उत्पन्न हो तो उसे पूर्ण करने के लिए शक्ति को भी प्रवृत्त किया जाय परन्तु ज्ञान का यह फल है कि जब हृदय में प्रवेश करता है तब सब कल्पनाओं को दग्ध कर जीव को कृतकृत्य बनाता है। जब तक इच्छा है तब तक ज्ञान नहीं होता। इस रीति से जीव को मायावी पदार्थों को संग्रह करने के लिए कोई यत्न नहीं करना पड़ता।

ब्रह्म शब्द का अर्थ पूर्ण है। पूर्ण उसे कहते हैं जो अन्दर, बाहर, आगे-पीछे, इधर-उधर, अपने-पराये, ऊँच-नीच, दूर और निकट के भेद के बिना पूर्ण हो, जब एक ही वस्तु पूर्ण है तो दूसरा आप किसको प्रतीत करते हैं और तुच्छ वस्तु किसको मानते हैं? द्वैत और तुच्छ के निश्चय करने से ब्रह्म के अर्थ सिद्ध नहीं होंगे क्योंकि द्वैत के अभाव का नाम ब्रह्म है, जब यह ज्ञान जीव को होता है तो उसकी दृष्टि में कोई वस्तु तुच्छ नहीं भासती और न कोई दूसरा रहता है, सर्वत्र एक ही ब्रह्म दृष्टि में आता है। यही ज्ञान ज्ञानी की शक्ति है, इस शक्ति के आसरे वह द्वैत भाव से रहित, राग द्वेष से मुक्त अपने शरीर का निर्वाह करता है। इस प्रकार ज्ञानी की चेष्टा पर किसी प्रकार का विकल्प नहीं हो सकता।

ब्रह्म नाम सत्ता का है और जीव नाम विशेष सत्ता का है। सत्ता अद्वैत है, समान और विशेष भाव उपाधि से सिद्ध है। अर्थात् जगत की उपाधि से सत्ता को समानरूप अथवा ब्रह्म रूप मानते हैं और शरीर की उपाधि से सत्ता को विशेषरूप अथवा जीवरूप मानते हैं। उपाधि के भेद से जैसे सत्ता दो प्रकार की प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार उपाधि के भेद से सत्ता के प्रवृति में भी भेद है। महाकाश और घटाकाश में महत्ता और प्रच्छिन्नता के भेद से भेद प्रतीत होता है, वास्तव में आकाश अद्वैत है उसमें भेद और प्रच्छेद नहीं हो

Scanned with CamScanner

सकते परन्तु घट की उपाधि से पूर्ण आकाश प्रच्छिन्न रूप घटाकाश कहा जाता है। घटाकाश में दस या बारह सेर से अधिक कोई वस्तु नहीं समा सकती। यदि उसके वास्तविक रूप महाकाश को देखें तो सब प्रपंच अणुवत् उसमें समाया हुआ है। यदि घटाकाश को देखें तो वह इस जगत में अणु के समान प्रतीत होता है। उपाधि से एक वस्तु में कितना भेद प्रतीत होता है। वैसे ही ब्रह्म महाकाश की तरह है और जीव घटाकाश की तरह है, जीव की उपाधि से सत्ता सामान्य और पूर्ण है, जीव कही जाती है। इसलिए उपाधि के भेद से इसकी शक्ति भी प्रच्छिन्न प्रतीत होती है, वास्तव में प्रच्छिन्नता नहीं है। केवल शरीर की की उपाधि से बहिर्मुखी अज्ञानी उस उपाधि को सत्य निश्चय कर निरर्थक विकल्प और संशय उठा रहे हैं और इसी उपाधि से नाना प्रकार की वासना, भय, चिंता, आश आदि उत्पन्न हो रही हैं और उनको पूर्ण करने में नाना प्रकार के यत्न करने पड़ते हैं। जब जीव अपने ब्रह्मरूप को समझता है तब प्रथम शरीर की उपाधि को विवेक के आसरे अपने स्वरूप से भिन्न मानता है। जब इस उपाधि से शुद्ध होकर देखता है तब आपको पूर्ण ब्रह्म रूप निश्चय करता है। जब तक शरीर बना रहता है उसकी व्यावहारिक सत्ता उपाधि के अनुसार रहती है और परमार्थ सत्ता पूर्ण होती है। तात्पर्य यह कि अपने निश्चय में ज्ञानी अपने आप को ब्रह्मरूप प्रतीत करता है और व्यवहार में नीति के अनुसार बरतता है। इस प्रकार किसी प्रकार का विकल्प व तर्क नहीं माना जा सकता क्योंकि जीव दूसरे से माँगता है, दूसरा कोई नहीं। एक परमात्मा अपनी सर्वज्ञ शक्ति से नाना प्रकार हो रहा है। अज्ञान में भेद है और अज्ञान में अभेद है। जब अभेद निश्चय होता है तो अन्य और अपना समान प्रतीत होते हैं। इसलिए इस संशय को निवृत्त कर अपनी स्वरूप निष्ठा में स्थित होना उचित है। शरीर का व्यवहार जिस प्रकार होता है, होता रहे, ज्ञानवान विकल्प और दोष दृष्टि से रहित रहे। यथार्थ ज्ञान से शान्ति होती है, बाहर की क्रिया देखने से शान्ति नहीं होती, यह प्रश्न केवल वाह्य दृष्टि को लेकर था। परमार्थ दृष्टि में विकल्प और संशय संभव नहीं हो सकता। इसलिए उचित है कि जीव और ब्रह्म के वास्तव स्वरूप को प्रतीत कर जीव और ब्रह्म की उपाधि शक्ति को विस्मरण करें जिससे सब प्रकार से शान्ति और निर्विकल्पता प्राप्त हो।

प्रश्न २७—सामान्य ज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त विशेष ज्ञान पदार्थों का भी हो जाता है या नहीं। यदि नहीं होता, इसमें सामान्य ज्ञान की हानि है या श्रेष्ठता ? जिज्ञासु को आत्म-स्थिति के लिए किस ज्ञान को धारण करना उचित है?

उत्तर—सामान्य ज्ञान सत्य है और विशेष ज्ञान कल्पित हैं। सामान्य ज्ञान से चित्त स्थित हो जाता है और विशेष ज्ञान से चंचल। विशेष ज्ञान सामान्य ज्ञान में इस प्रकार कल्पित है जिस प्रकार जल में बुदबुदा, चक्कर और फेन का ज्ञान व समुद्र, नाले व दरया का ज्ञान कल्पित है। जब जल का ज्ञान हो जाता है तब सब विशेष पदार्थों का विशेष ज्ञान स्वाभाविक हो जाता है। यदि न हो तो किसी प्रकार की हानि नहीं होती किन्तु स्थिति और गम्भीरता प्राप्त होती है। इसलिए पारदर्शी, महान बुद्धिमान, विज्ञानी केवल सामान्य ज्ञान पर संतुष्ट होकर विशेष ज्ञान से उपरत रहते हैं और आत्म-स्थिति का आनन्द प्राप्त

Scanned with CamScanner

करते हैं। विशेषता सामान्य में ऐसे है जैसे स्वर्ण में भूषण। यदि एक भूषण का विशेष ज्ञान न हो और सामान्य ज्ञान स्वर्ण का हो तो उस ज्ञानी के ज्ञान में न्यूनता नहीं है किन्तु उसका ज्ञान यथार्थ और पूर्ण है, क्योंकि भूषण और भूषण का विशेष ज्ञान स्वर्ण में कल्पित है, वास्तव नहीं। वास्तव स्वर्ण है और वह स्वर्ण भूषण के भाव और अभाव में समान है। इसलिए स्वर्ण का ज्ञान सत्य है और भूषण का ज्ञान असत्य। इसी प्रकार अभिन्न के लिए उपादान कारण रूप जो सामान्य सत्ता है वह सदा एक रस अपने आप में स्थित है। नाना प्रकार के लोग और सृष्टिगण उस विशेष रूप में कल्पित हैं। इसलिए सामान्य सत्ता का ज्ञान सत्य है और दूसरे पदार्थों का विशेष ज्ञान असत्य है क्योंकि उनका स्वरूप सामान्य सत्ता से पृथक नहीं किन्तु सामान्य सत्ता ही सब रूप होकर स्थित है। इसलिए सामान्य सत्ता का ज्ञान संतुष्टि स्थिति और गम्भीरता का दायक है और विशेष ज्ञान यत्न, पुरषार्थ, विक्षेप्ता, विकल्प और चंचलता का कारण है, अतः आत्म-स्थिति का जिज्ञासु केवल सामान्य ज्ञान पर सन्तुष्ट रहे।

प्रश्न २८—यथार्थ स्वरूप क्या है ?

उत्तर—केवल अस्ति रूप है ?

प्रश्न २९—शास्त्रों में यथार्थ स्वरूप अस्ति, भाँति, प्रेय रूप कहा है। आप केवल अस्ति, रूप कहते हैं, इसमें क्या भेद है ?

उत्तर—भाँति और प्रेय अस्ति के आसरे सिद्ध होते हैं इसलिए भाँति और प्रेय भी अस्ति रूप हैं। अस्ति आधार है, भाँति और प्रेय उसके विशेषण हैं। विशेषण ज्ञानकाल में प्रतीत होता है, अज्ञानकाल में नहीं। आधार-ज्ञान और अज्ञानकाल में समान प्रतीत होता है इसलिए अस्ति सामान्य है, भाँति और प्रेय विशेष है, विशेष वस्तु सदा सामान्य में कल्पित होती है। कल्पित वस्तु अधिष्ठान से भिन्न किसी व्यवस्था में नहीं रहती किन्तु अधिष्ठान रूप होती है, इसलिए भाँति और प्रेय अस्ति रूप हैं।

अस्ति का अर्थ सत् है, भाँति का अर्थ चित् है और प्रेय का अर्थ आनन्द है अब इनमें से सत् रूप अस्ति सत्य असत्य, जड़ चेतन, सुख दुःख के भेद से रहित पूर्ण है इसलिए सामान्य है। चित्रूप भाँति केवल चेतन वस्तु के अर्थ देती है इसलिए विशेष है। विशेष वस्तु थोड़े देश और थोड़े काल में होती है और सामान्य वस्तु बहुत देश और बहुत काल में होती है। विशेष वस्तु सदा सामान्य में कल्पित होती है इसलिए भाँति और प्रेय अस्ति में कल्पित हैं। यद्यपि इनके ज्ञान से अज्ञान निवृत्त होता है, तथापि ज्ञान के उपरांत फिर अपने अधिष्ठान रूप अस्ति में लीन हो जाते हैं, इससे सिद्ध हुआ कि केवल अस्ति यथार्थ और सामान्य है।

अस्ति 'है' को कहते हैं और 'है' वर्तमान काल के अर्थ देता है। जिसमें भूत और भविष्य न हो, वह वर्तमान काल है और 'है शब्द से कहा जाता है। इसलिए अस्ति है। दूसरे जितने पद, शब्द और काव्य हैं, उस अस्ति के विशेषण हैं, क्योंकि विशेषण सदा कल्पित होते हैं और भेद को सिद्ध करते हैं। उन सबको त्यागकर अस्ति पर निश्चय करना उचित है। 'है' पद की कल्पना से रहित है क्योंकि नित्य और सत्य है और इसी अस्ति के आसरे सर्व पदार्थ जो वेद पुराण और शास्त्रों में निरुपित हैं; सिद्ध होते हैं। अतः 'है' अर्थात् 'अस्ति' यथार्थ है।

Scanned with CamScanner

प्रश्न ३०—नामरूप क्या वस्तु है ?

उत्तर—नामरूप अस्तिरूप है, क्योंकि नामरूप अस्ति के आसरे सिद्ध होते हैं; अस्ति में रहते हैं और अस्ति में लीन होते हैं। इसलिए नामरूप अस्ति में कल्पित है। कल्पित वस्तु अधिष्ठान से रचंक मात्र भी भिन्न नहीं होती किन्तु अधिष्ठानरूप होती है इसलिए नामरूप केवल अस्तिमात्र है।

प्रश्न ३१—नामरूप अनेक और भिन्न-भिन्न हैं; अस्ति एक और सामान्य रूप है। अनेक और परिवर्तनशील की एक और सामान्य के साथ एकता किस प्रकार होती है ?

उत्तर—नामरूप की अनेकता और नानाभाव अस्ति के आसरे सिद्ध होता है, जैसे तरंगों की अनेकता और नानाभाव जल के आसरे सिद्ध होते हैं, इसलिए अनेक और भिन्न-भिन्न तरंगों और जलरूप हैं वैसे ही नामरूप की अनेकता अस्ति से सिद्ध है। इसलिए अनेक नामरूप, एक सामान्य अस्ति है, अस्ति को त्यागकर नामरूप को सिद्धि नहीं हो सकती। प्रथम अस्ति होता है, उस पर नामरूप की कल्पना होती है यदि अस्ति ही न हो तो नामरूप किस प्रकार कल्पित किए जाएँ ? इसलिए अस्ति सत्य है, नामरूप कल्पित होने से कुछ नहीं है, केवल अस्ति ही अस्ति है।

प्रश्न ३२—भाँति, प्रेय भी अस्तिरूप अधिष्ठान में कल्पित है और नामरूप भी अस्ति अधिष्ठान में कल्पित है तो नामरूप और भाँति प्रेय में कुछ अन्तर न हुआ, शास्त्रों में भाँति, प्रेय की नामरूप से विशेषता क्यों वर्णन की गई ?

उत्तर—कल्पित भाव से भाँति-प्रेय और नामरूप में कुछ भेद नहीं, परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से तीन अंश, प्रसिद्ध हैं। एक सामान्य अंश, दूसरा विशेष अंश और तीसरा कल्पित विशेष अंश। अस्ति सामान्य अंश है, भाँति-प्रेय विशेष अंश है और नामरूप कल्पित विशेष अंश हैं। सामान्य अंश ज्ञान और अज्ञान काल में सम रहता है, किसी अवस्था और पदार्थ के साथ इसका विरोध नहीं, विशेष अंश ज्ञानकाल से प्रतीत होता है। तात्पर्य यह कि उसके ज्ञान से अज्ञान निवृत्त होता है और कल्पित विशेष अंश अज्ञानकाल में रहता है, उसके होते ज्ञान नहीं होता और ज्ञानकाल में उसका बाध हो जाता है। विशेष अंश के ज्ञान से कल्पित विशेष अंश का अज्ञान निवृत हो जाता है, इसलिए विशेष अंश भाँति-प्रेय की कल्पित विशेष अंश नामरूप से विशेषता हैं। इसी दृष्टि को लेकर शास्त्रों से भाँति-प्रेय की नामरूप से विशेषता वर्णन की गई है। वह केवल जिज्ञासु की रुचि के लिए है, यथार्थ नहीं, क्योंकि जब ज्ञान हो जाता है तब दोनों कल्पित प्रतीत होकर अधिष्ठानरूप अस्ति में लीन हो जाते हैं, शेष अस्ति ही रहती है और वही आत्मारूप है। 'मैं हूँ' यह अस्ति स्वरूप आत्मा का वाच्य-रूप है; जीव, ईश्वर ब्रह्म आदि पद अस्ति में कल्पित हैं इसलिए त्याज्य हैं। इस प्रकार की यथार्थ दृष्टि को धारकर तत्ववेत्ता सर्वकाल कल्पना से रहित अस्तिमात्र अपने को निश्चय करता है; ज्ञान से सिद्ध भाँति-प्रेय और अज्ञान से सिद्ध नामरूप को अधिष्ठानरूप अस्ति में लीन करके केवल अस्ति को देखता है, सूँघता है, रस लेता है, स्पर्श करता है, मनन करता है चिंतन करता है, निश्चय करता है और अपना आप जानता है।

Scanned with CamScanner

प्रश्न ३३—द्रष्टा, दर्शन, दृश्यरूप त्रिपुटी किस प्रकार अस्तिरूप है ?

उत्तर—द्रष्टा अस्तिरूप है, दर्शन भाँतिरूप है और दृश्य प्रेयरूप है। इसलिए भाँति-रूप दर्शन और प्रेयरूप दृश्य अस्तिरूप द्रष्टा में कल्पित होने से अस्तिरूप है; तात्पर्य यह कि कि अस्ति ही द्रष्टा, दर्शन और दृश्य रूप है। अस्ति से भिन्न रंचमात्र भी नहीं है, तीनों अस्ति हैं।

प्रश्न ३४—यह पाँच तत्व तो प्रत्यक्ष प्रतीत होते हैं एक अस्तिरूप कैसे है ?

उत्तर—पाँच तत्व पाँच विशेषण अस्ति के हैं व्यापक अथवा पूर्ण विशेषण आकाश है। सत्ता सफुरण व चेतन विशेषण पवन है तेजमय अथवा प्रकाश विशेषण अग्नि है, सर्वात्म विशेषण जल है; आधार विशेषण धरती है तात्पर्य यह है कि एक अस्ति ही पूर्ण, चेतन, तेजोमय; सर्वात्मा और आधार रूप है। दूसरी वस्तु न थी, न है न होगी। इसलिए केवल अस्ति ही स्वतः सिद्ध है और यथार्थ है तथा यथार्थ स्वरूप है शेष सब पद कल्पित हैं। कल्पित भी अधिष्ठान से भिन्न नहीं होते, इसलिए सर्वरूप अस्ति हैं, सर्व है ही नहीं; केवल अस्ति मात्र है यह यथार्थ ज्ञान है।

प्रश्न ३५—महात्माओं का कथन है कि नाम रूप का त्याग कर केवल अस्ति, भाँति, प्रेय को ग्रहण करो इसमें यह शंका है कि ॐकार भी नाम है और महात्माजन चित्त की एकाग्रता के लिए उससे उच्चार करने का उपदेश करते हैं। क्या उसे भी त्यागना उचित है या नहीं; उनका कोई और प्रयोजन है ? जैसे हो कृपा कर उपदेश करें।

उत्तर—महात्माओं का वचन यथार्थ है। नाम रूप को त्याग कर अस्ति, भाँति, प्रेय को ग्रहण करना उत्तम जिज्ञासुओं को उचित है। इसी प्रकार ॐकार के नामरूप का त्याग कर केवल अस्ति, भाँति, प्रेय का धारण करना चित्त की एकाग्रता का परम साधन है। ओंकार भी नाम है और उसका अर्थ उसका रूप है और अंकार के अर्थ स्थूल समाज का त्याग करने पर केवल अस्तिमात्र रहा। इसी प्रकार उकार और उकार के अर्थ सूक्ष्म समाज का त्याग किया तो कवल अस्ति रहा, इसी प्रकार जब मकार और उसके अर्थ कारण का त्याग किया तो शेष अस्तिमात्र रहा। इसी भाँति अर्धमात्रा और उसके अर्थ साक्षी का त्याग किया तो विशुद्ध अस्तिमात्र रहा। इस रीति से ओङ्कार का नाम और रूप त्याग करने से जो अस्ति-शेष रहता है, वह भाँति और प्रेय रूप है, अर्थात् निश्चय करने योग्य और अपनी आत्मा स्वीकार करने योग्य है। इसलिए ॐकार दूसरे नाम रूप की तरह तत्व विचार के आसरे केवल अस्ति मात्र जानकर उपासना करने योग्य है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार सारे जगत के नाम रूप का अभाव कर केवल अस्ति रूप निश्चय किया जाता है, परन्तु व्यवहार दशा में जिस जिस पदार्थ का जैसा जैसा व्यवहार है, उससे वैसा लिया जाता है। उसी प्रकार ओङ्कार रूप पदार्थ का व्यवहार यह है कि उसका उच्चार और विचार चित्त को एकाग्र करता है, इससे यही व्यवहार लेना उचित है।

परमार्थ दृष्टि से उसे केवल अस्तिमात्र निश्चय करना उचित है। भाँति और प्रेय भी नाम रूप की तरह अस्ति में कल्पित है; नाम रूप अज्ञान काल में प्रतीत होते हैं और

Scanned with CamScanner

अस्ति ज्ञान और अज्ञान दोनों कालों में समान रहता है। इसलिए अस्ति सत्य है नाम रूप और भाँति प्रेय कल्पित हैं। इसी अभिप्राय से सारा जगत और ओङ्कार को केवल अस्ति-मात्र सिद्ध किया गया है। इसलिए केवल अस्ति मात्र को सत्य प्रतीत कर सर्व नाम रूप और उनकी प्रतीत और प्रेय का त्याग कर निष्काम और सत्ता सामान्य होकर व्यवहार करें।

प्रश्न ३६—ओम् शब्द क्या है ?

उत्तर—ओम् शब्द ब्रह्म है। ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों स्वरूप ओम् से निश्चय होते हैं और इसी ओम् का व्याख्यान चार वेद, षट्शास्त्र और अठारह पुराण हैं। इसलिए ओम् शब्द ब्रह्म है। इसके अर्थ विचारने से परम ब्रह्म की प्राप्ति होती है। वह अर्थ यह है ओम् में साढ़े तीन मात्रायें हैं अर्थात् अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रा, जिनके अर्थ यह हैं, अकार के अर्थ स्थूल जगत्, स्थूल शरीर, रजोगुण जाग्रत अवस्था और ब्रह्मा देवता है, उकार के अर्थ सूक्ष्म जगत्, सूक्ष्म शरीर, सतोगुण, स्वप्न अवस्था और विष्णु देवता है, मकार के अर्थ समष्टि अविद्या, व्यष्टि अविद्या, तमोगुण, सुषुप्ति अवस्था और रुद्र देवता है, अर्ध-मात्र के अर्थ साक्षी, प्रकाश रूप, कूटस्थ और निर्विकार हैं, इनमें अकार, उकार, मकार, सगुण ब्रह्म के अर्थ देते हैं और अर्धमात्र निर्गुण ब्रह्म के अर्थ देता है इसलिए एक ही ओम् शब्द के अर्थ से परम ब्रह्म का ज्ञान होता है। शब्द के बिना ज्ञान का होना अत्यन्त ही असम्भव है इसलिए आदिकाल से यह शब्द परमब्रह्म का वाचक अर्थात् प्रसिद्ध करने वाला चला आता है। इसके विचार करने से चार वेद, षट शास्त्र और अठारह पुराणों का विचार होता है और सो इसका विचार इस प्रकार है: प्रथम अकार को उकार में लीन करो, फिर उकार को मकार में लीन करो, फिर मकार को उस अर्धमात्रा में लीन करो और उस अर्धमात्रा में चित्त की वृत्ति को लीन कर स्थित रहो। तात्पर्य यह कि स्थूल, सूक्ष्म, कारण, गुण, देवता, अवस्था आदि को विस्मरण करके शेष जो केवल ज्ञान स्वरूप, स्वयं प्रकाश रहे उसमें स्थिति पावो, जिसका फल ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति है, तत्पश्चात् अपने आप को स्वयं प्रकाश में लीन करके ऐसे निमग्न रहो कि ओम् और ओम् के अर्थ विस्मरण हो जाएँ। यह परम लाभ ओ३म् शब्द के उच्चार और विचार का है।

प्रश्न ३७—सीता-राम, लक्ष्मी-नारायण, राधा-कृष्ण के नाम जगत में प्रसिद्ध है सब छोटे-बड़े इन्हीं नामों का उच्चार करते हैं। क्या कारण है कि पहले सीता, लक्ष्मी और राधा का नाम आता है और बाद में राम, नारायण और कृष्ण का, ऐसी प्रवृत्ति क्यों है ?

उत्तर—सीताराम का अर्थ यह है। सीता नाम सत्ता का है और राम नाम सामान्य का है इसलिए सीताराम का अर्थ सत्ता सामान्य है अर्थात् सत्य वस्तु भेद प्रच्छेद से रहित अपने आप में स्थित है, दूसरा न था, न है और न होगा यह महावाक्य है। इसके विचार से अद्वैत ज्ञान होकर द्वैत रूप भ्राँति की निवृत्ति होती है।

लक्ष्मी नारायण का अर्थ यह है। लक्ष्मी नाम विद्या का है और नारायण नाम पूर्ण का है, सो विद्या और ज्ञान पर्याय शब्द है इसलिए लक्ष्मी नारायण का अर्थ पूर्ण ज्ञान है। भाव यह कि ज्ञान ही सब चर, अचर, जड़ चेतन, स्थूल, सूक्ष्म, दृष्ट-अदृष्ट, गोचर अगो-

Scanned with CamScanner

चर रूप है। लक्ष्मी नारायण केवल ज्ञान मात्र वस्तु स्वयं स्थित है, इसलिए यह भी महावाक्य है इसके विचार से अज्ञान की निवृत्ति द्वारा ज्ञान स्वरूप वस्तु का अपरोक्ष अनुभव होता है।

राधाकृष्ण का अर्थ यह है, राधा नाम सत्ता का है और कृष्ण नाम स्फुरण का है; सत्ता-स्फुरण ही राधा-कृष्ण है और सत्तास्फुरण चेतन है, अतः यह भी महावाक्य है। इसके विचारने से परमानन्द की प्राप्ति और सब दुःख की निवृति रूप मोक्ष प्राप्त होता है।

इसलिए ये तीनों शब्द यथार्थ हैं। इनमें सीता विशेष्य है और राम विशेषण है, तात्पर्य यह कि सीता अर्थात् सत्ता, राम अर्थात् सामान्य है क्योंकि सीता अर्थात् सत्ता यथार्थ है इसलिए प्रथम सिद्ध है। इसी प्रकार लक्ष्मी विशेष्य है और नारायण विशेषण है, तात्पर्य यह कि लक्ष्मी अर्थात् लक्ष्य विद्या, और नारायण पूर्ण है। क्योंकि लक्ष्मी अर्थात् लक्ष्य विद्या सत्यरूप होने से यथार्थ है, इसलिए प्रथम सिद्ध है। इसी प्रकार राधा विशेष्य और कृष्ण विशेषण है। राधा सत्ता और कृष्ण स्फुरण है अर्थात् सत्ता स्फुरण है सत्ता सत्य होने से यथार्थ है और प्रथम सिद्ध है। राम, नारायण और कृष्ण, सीता, लक्ष्मी और राधा के विशेषण हैं इसलिए पीछे हैं, क्योंकि विशेष्य अधिष्ठान होने से सदा प्रथम सिद्ध होता है और विशेषण उसमें आरोपित होते हैं। इस प्रकार ये तीनों वाक्य यथार्थ हैं और विचार द्वारा ज्ञान के कारण हैं।

प्रश्न ३८—महात्मा कहते हैं कि चेतन बुद्धि से परे है और बुद्धि को उसके जानने की सामर्थ्य नहीं। यदि यह सत्य है, जब ज्ञान होता है तब चेतन ब्रह्म को अन्तःकरण से पहले कौन जानता है, मन जानता है, अहंकार जानता है, चित्त जानता है या बुद्धि ?

उत्तर—जैसे दर्पण में जब मनुष्य अपना दर्शन करता है तो स्वयं अपना दर्शन करता है, दूसरे की समाई नहीं होती। इसी प्रकार चेतन ही चेतन को जानता है, भाव यह कि अन्तःकरण दर्शन है, देखने वाला और दृश्य विम्ब और प्रतिविम्ब चेतन है। जैसे दर्शन का कारण दर्पण है क्योंकि स्वच्छ है तथापि नेत्र के बिना दर्शन नहीं होता। इसलिए नेत्र ही नेत्र को देखते हैं। उसी प्रकार यद्यपि अन्तःकरण पंच भूतों का सतोगुणी अंश होने से स्वच्छ है तथापि ज्ञान के बिना ज्ञान नहीं हो सकता, ज्ञान ही ज्ञान को जानता है। ज्ञान चेतन का स्वरूप है और पूर्ण है इसलिए ब्रह्म है। चेतन-चेतन को जानता है अर्थात् चेतन ज्ञान स्वरूप और स्वयं प्रकाश है।

यद्यपि बुद्धि का धर्म निश्चय है तथापि यह निश्चय विषमरूप है अर्थात् भेद सहित है, और चेतन समरूप है अर्थात् अभेद रूप है, इसलिए भेद रूप निश्चय को धारण करने वाली बुद्धि अभेद रूप चेतन को धारण नहीं कर सकती, इसलिए कहा है कि चेतन बुद्धि से परे है। सत्ता सामान्य रूप स्वयं स्थित है।

जिस प्रकार सूर्य नेत्रों को प्रकाश करता है और वही नेत्र सूर्य को देखते हैं। इसलिए सूर्य का प्रकाश ही सूर्य को देखता है, क्योंकि प्रकाश से भिन्न देखने की सामर्थ्य किसी में नहीं, केवल प्रकाश ही प्रकाश को प्रकाश करता है। यद्यपि सूर्य का प्रकाश सामान्य है परन्तु नेत्रों में विशेष रूप से प्रकाशयुक्त होता है, क्योंकि नेत्र स्वच्छ हैं इसलिए केवल नेत्र में सूर्य

Scanned with CamScanner

का भान, ज्ञान व दर्शन होता है। इसी प्रकार सत्चित् आनन्द रूप ब्रह्म अन्तःकरण को प्रकाश करता है और अन्तःकरण की वृत्ति चेतन को जानती है इसलिए चेतन ही चेतन को जानता है। यद्यपि ब्रह्मरूप चेतन का प्रकाश सामान्य है तथापि अन्तःकरण में विशेष है क्योंकि अन्तःकरण सतोगुणी होने से स्वच्छ है इसलिए ब्रह्मरूप चेतन का ज्ञान अन्तःकरण की वृत्ति का विषय होता है। वास्तव में ज्ञान ही ज्ञान का विषय है, तात्पर्य यह कि ज्ञान अद्वैत रूप स्वयं प्रकाशमान है।

चेतन सर्व का अपना आप है, न किसी के निकट है और न किसी के परे है, ब्रह्म इसका विशेषण है, तात्पर्य यह कि चेतन निकट और दूर के भेद से रहित अपनी महिमा में आप पूर्ण है, ऐसे पूर्ण चेतन में जानने वाला और जानने योग्य किसे कहें? जब जानने वाला ही असिद्ध है तो जानने योग्य किस प्रकार सिद्ध होगा? प्रथम और द्वितीय की कल्पना भेद युक्त और अल्प वस्तु में होती हैं, अभेद और पूर्ण वस्तु में यह संज्ञा सम्भव नहीं हो सकती इसलिए चेतन चेतन में स्थित होकर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप त्रिपुटी के भेद से शुद्ध है अर्थात् किसी प्रकार जानने योग्य नहीं क्योंकि अद्वैत है।

द्वैत भी अद्वैत में अद्वैतरूप होकर स्थित है। जैसे तरंग और बुलबुला यद्यपि संज्ञा भेद से द्वैत रूप है परन्तु जल में अभेदरूप है। तरंगों का भेद जल की एकता के आश्रय है; इसलिए जल के तरंगों का भेद अभेदरूप है। वैसे ही मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार का भेद ब्रह्म रूप चेतन में भेदरूप है। यद्यपि उनका परस्पर भेद प्रतीत होता है तथापि अधिष्ठान में चारों की एकता है अधिष्ठान के सन्मुख मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार का भेद सिद्ध नहीं हो सकता किन्तु अभेदरूप हो जाता है। जब अभेद रूप हुआ तो मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार न रहे। अन्तःकरण इन्हीं चारों का नाम है, जब अन्तःकरण ही न रहा तो अन्तःकरण के चार भागों में से किसको चेतन के प्रथम जानने वाला मानें? जब जानने वाला आप ही जानने योग्य वस्तु के साथ अभेदरूप है तो जानने वाला और जानने योग्य भेदरूप संज्ञा किस प्रकार सम्भव हो सकती है। इसलिए चारों अन्तःकरण से अगोचर सत्य वस्तु जो चेतनसत्ता से वेदान्त शास्त्रों में निरुपित है, स्वयं स्थित है।

प्रश्न ३९—शास्त्रों में लिखी ज्ञान की सात भूमिका आत्मा की हैं या अन्तःकरण की?

उत्तर——अन्तःकरण की हैं, आत्मा की नहीं, क्योंकि आत्मा अद्वैत और अच्युत है। यह किसी अवस्था में विशेष अथवा न्यून नहीं होता, सत्ता सामान्य अपने आप में स्थित हैं। भूमिका का क्रम ही विशेषता व न्यूनता को प्रकट करता है इसलिए भूमिका का सम्बन्ध सत्यस्वरूप आत्मा से नहीं है। अन्तःकरण भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में, भिन्न-भिन्न धर्मों और भिन्न-भिन्न स्वभावों में विशेष व न्यून, ऊँच व नीच, गम्भीर व चंचल भाव को प्राप्त होता है। इसलिए आचार्यों ने अन्तःकरण की स्थिति के लिए सात भूमिकाएँ ज्ञान की स्थापित की हैं इनके अभ्यास से अन्तःकरण की अवस्था गम्भीर और निश्चल हो जाती है। अन्तःकरण की गम्भीरता और निश्चलता से इन्द्रियों की चेष्टा भी गम्भीर और निश्चल हो जाती है इससे पुरुष सुख से देह सम्बन्धी काल व्यतीत करता है। भूमिका की न्यूनता

Scanned with CamScanner

और विशेषता से अन्तःकरण और इन्द्रियों की दृष्टा में भी न्यूनता और विशेषता प्रतीत होती है। इस न्यूनता और विशेषता को देखकर अनात्मदर्शी आत्मज्ञान की न्यूनता व विशेषता आरोपित करते हैं और भेद दृष्टि धारण कर किसी को उत्तम किसी को मध्यम और किसी को मन्द निश्चय करते हैं। इन्द्रिय और अन्तःकरण की अवस्था को आत्मा में आरोपित कर भेद प्रच्छेद और कल्पना का दर्शन करते हैं इसलिए यह दृष्टि यथार्थ नहीं कल्पित है। इसलिए महान बुद्धिमान, यथार्थदर्शी, सम्यक ज्ञाता, तत्ववेत्ता, आत्मा को भूमिका के कलंक से शुद्ध निश्चय कर सब को अद्वैत दृष्टि से देखते हैं कल्पित अवस्थाओं से यथार्थ स्वरूप में रंचकमात्र भेद नहीं देखते। इससे सदा पावन, निर्दोष दृष्टि, मुदित, समदर्शी, सन्तुष्ट, तृप्त, मंगलरूप और कृत-कृत्य रहते हैं।

सत्यवस्तु सदा सत्यरूप है और असत्य सदा असत्यरूप है असत्य वस्तु सत्य की वृद्धि व हानि नहीं कर सकती किन्तु स्वयं ही सत्य में लीन हो जाती है क्योंकि सत्य त्रिकालाबाध है। तात्पर्य यह कि असत्य है ही नहीं, केवल सत्य है। वह सत्य ही निज स्वरूप है, उससे भिन्न असत्य है। ऐसे सत्यरूप में भेद की कल्पना कर असत्य भूमिकाओं की आरोप करना यथार्थ ज्ञान के विरुद्ध है। सत्य वस्तु सदा चेतनरूप, आनन्दस्वरूप और स्वयं स्थित है शरीर का संयोग और वियोग, अवस्थाओं का भेद, ज्ञान अज्ञान भूमिकाओं की न्यूनता रंचकमात्र भी उसमें विलक्षणता अथवा व्यभिचार उत्पन्न नहीं करते। अवस्थाओं में जितना भेद प्रतीत होता है, वह सब असत्य है, क्योंकि सदा स्थिर नहीं रहता, घटता बढ़ता रहता है इसलिए भूमिकाओं का सम्बन्ध अन्तःकरण के साथ है, सत्य आत्मा के साथ नहीं। सत्य आत्मा कल्पनातीत है—ऐसा निश्चय करना यथार्थ ज्ञान है।

प्रश्न ४०—ज्ञानवान को आनन्द बुद्धि द्वारा प्राप्त होता है, अज्ञानी को विक्षेप्ता भी बुद्धि के कारण होती है। उसमें ज्ञानी कौन सी वस्तु देखता है कि उसकी विक्षेप्ता निवृत्त होती है और अज्ञानी उस वस्तु को नहीं देख सकता, से उसे विक्षेप्ता क्यों रहती है ?

उत्तर—ज्ञानवान को बुद्धि की एकाग्रता से आनन्द प्राप्त होता है और अज्ञानी को एकाग्रता नहीं होती इसलिए उसको विक्षेप्ता रहती है। ज्ञानवान आत्मा का सत्चित् आनन्द रूप है सर्वदा अपना आप निश्चय कर चिन्तन करता रहता है और निदिध्यासन के आसरे अपनी बुद्धि को सत्चित् आनन्द के आकार करता है इसलिए उसकी बुद्धि स्वयं ही आनन्द रूप हो जाती है जैसे कोयला अग्नि से तद्रूप होकर अग्नि रूप हो जाता है, वैसे बुद्धि आनन्द रूप आत्मा का अभ्यास करते-करते आनन्द रूप हो जाती है। अज्ञानी असत्य, जड़-दुःखरूप अनात्म पदार्थों को सर्वदा सत्य प्रतीत कर चिन्तन करता रहता है और निदिध्यासन के आसरे अपनी बुद्धि को असत्य, जड़, दुःखरूप पदार्थों के आकार करता रहता है। इसलिए उसकी बुद्धि स्वयं ही दुःखरूप हो जाती है। जिस प्रकार अग्नि के अभाव से कोयला काला और त्याज्य होता है, उसी प्रकार अज्ञान से बुद्धि दुःख रूप हो जाती है। इसलिए एक ही बुद्धि एकाग्रता से सुखरूप और विक्षेप्ता से दुःखरूप है। जैसे टाँगें अपनी क्रिया से परिश्रम का हेतु और स्थिति से विश्राम का हेतु होती हैं, वैसे ही बुद्धि अपने अज्ञान, संशय,

Scanned with CamScanner

विपर्यय, तृष्णा आदि स्फुरणों से विक्षेप्ता का हेतु होती है। ज्ञान, एकाग्रता तथा तृप्ति से शाँति और आनन्द का निमित्त होती है। इसलिए सारे मुमुक्ष जन बुद्धि को एकाग्र कर आनन्द प्राप्त करें वास्तव में ज्ञानी अज्ञानी भी बुद्धि है। बुद्धि के बिना ज्ञानी अज्ञान कोई नहीं, क्योंकि ज्ञान तथा अज्ञान बुद्धि का धर्म है। इसलिए ज्ञान सहित बुद्धि आनन्द का लाभ लेती है और अज्ञान सहित बुद्धि दुःख का क्लेश सहती है।

प्रश्न ४१—सुख कहाँ है ?

उत्तर—अपने स्वरूप में सुख है। स्वरूप के बिना और कहीं सुख नहीं है। शब्द के आदि और अन्त में शून्य ज्ञान ही स्वरूप है। नामरूप की विस्मृति के अनन्तर जो अवस्था शेष रहती है, वह स्वरूप है। सब संशय, मनौत व रीतियों से रहित जो ज्ञान है, वह स्वरूप है। ऐसे स्वरूप में मग्न रहना ही सुख है। जगत स्वरूप का प्रतिविम्ब है, क्योंकि शब्दरूप है। इसलिए इसमें सुख नहीं। सुख स्वरूप में है। वह केवल सत्तामात्र और बोधरूप है।

प्रश्न ४२—आनन्द कितने प्रकार का है ?

उत्तर—आनन्द अद्वैत है परन्तु उपाधि भेद से आनन्द पाँच प्रकार का है:—वासनानन्द, विषयानन्द, भजनानन्द, विद्यानन्द और ब्रह्मानन्द।

(१) **वासनानन्द** केवल वासना से प्राप्त होता है। अन्तःकरण में विषयों की वासना करने से आनन्द होता है। उसी वासना में अपना काल व्यतीत करता है। वासना व्यभिचारी और क्षणभंगुर हो तो वासनानन्द भी व्यभिचारी और क्षणभंगुर होता है।

(२) **विषयानन्द** विषयों के मिलने से होता है। भाव यह कि विषयों के मिलने से अल्पकाल तक मन एकाग्र रहता है, उसी को आनन्द मानते हैं और बार बार विषयों के चिंतन और अभिलाषा से वह आनन्द स्थिर नहीं रहता। इसलिए क्षणभंगुर है।

(३) **भजनानन्द** वह है, जो परमेश्वर का नाम स्मरण, कीर्तन व चिंतन करने से प्राप्त होता है। जब भजन करते-करते क्षण मात्र वृत्ति एकाग्र हो जाती है वह भजनानन्द है परन्तु भजन के उपरान्त व भजन के समय भी वृति सदा एकाग्र नहीं होती, इसलिए यह आनन्द भी क्षणभंगुर है।

(४) **विद्यानन्द** विद्या के कथन, पठन और स्मरण से प्राप्त होता है। जब मनुष्य विद्या का कथन करता है तो वृत्ति क्षणमात्र एकाग्र हो जाती है। पाठ के समय स्मरण और उच्चार के समय वृत्ति एकाग्र होने से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह विद्या आनन्द है। यह आनन्द भी सदा नहीं रहता, इसलिए क्षणभंगुर है।

(५) **ब्रह्मानन्द** वासना, विषय, भजन, विद्या की सहायता के विना स्वतः सिद्ध प्राप्त होता है। उस समय यह निश्चय होता है कि मैं आनन्द स्वरूप ब्रह्म हूँ और सदा स्वयंस्थित हूँ, कभी अपने आप से भिन्न नहीं होता हूँ। जब इस तत्त्व विचार से वृत्ति एकाग्र होती है, वह ब्रह्मानन्द है। ब्रह्मानन्द नित्य प्राप्त रूप से और सत्य स्वरूप होने से अविनाशी है। ब्रह्म सर्व स्थान पूर्ण है। उसके बिना कोई वस्तु, काल व देश नहीं है; इसलिए सब ठौर में ब्रह्म का दर्शन है। जहाँ दर्शन है वहाँ आनन्द है। इस रीति से ब्रह्मानन्द पूर्ण और प्राप्तरूप है।

Scanned with CamScanner

आनन्द चार प्रकार से क्षणभंगुर और यत्नसाध्य हैं, इसलिए सदा स्थिर नहीं रहते। जिज्ञासु उन चारों को त्यागकर केवल ब्रह्मानन्द की इच्छा करे और उस इच्छा को पूर्ण करने के लिए सत्संग और सत्शास्त्र चिंतन के सहारे अपने स्वरूप को सम्यक् और यथार्थ रीति से निश्चय करे। मनन तथा निदिध्यासन कर स्वरूप में स्थिति पावे इसका फल ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होगी।

प्रश्न ४३—

॥ दोहा ॥

विषय आनन्द में होत है, ब्रह्मानन्द किम भान,
किरपा कर वर्णन करो, ऐसो सम्यक् ज्ञान ॥

उत्तर—

॥ दोहा ॥

विषय किरण आतम रवि, सुख तांको परकाश,
रवि बिन किरण न होत कछु, किरणाभास विलास ॥१॥
आनन्द पद अद्वैत है, भेद दृष्टि में द्वैत,
भेद कल्पना त्यागकर, सेवो पद अद्वैत ॥२॥
विषय बूंद आतम अवधि, समझो हृदय विवेक,
बूंद मिले जब अबधि में, तब दोनों हैं एक ॥३॥
कहाँ विषय कहाँ भोक्ता, कहाँ राग कहाँ दोष,
कहाँ चित्त एकाग्र कहाँ, कहाँ बंध कहाँ मोक्ष ॥४॥
दृष्टि यथारथ के बिना, भासे नाना भाव,
सम्यक् कर देखो जभी, सबका होय अभाव ॥५॥
निष्कलंक निर्मल अचल, हेमां शुद्ध स्वरूप,
केवल परमान्द नित, मंगल रूप अनूप ॥६॥

प्रश्न ४४—शास्त्रों और महात्माओं के वाक्यों में मुक्तिपद और ब्रह्मानन्द बारंबार लिखा है, उसका क्या स्वरूप है ?

उत्तर—वास्तव स्वरूप का यथार्थ ज्ञान ही मुक्ति पद और ब्रह्मानन्द है। तात्पर्य यह कि जब सब संशय नष्ट हो जावें और निश्चय परिपक्व हो जावे कि एक अद्वैत सत्य स्वरूप अपने आप में स्थित है। रंचक मात्र भी द्वैतदृष्टि न रहे, तब मुक्तिपद और ब्रह्मानन्द प्राप्त है।

प्रश्न ४५—सदा परमानन्द अवस्था किस दृष्टि से रहती है ?

उत्तर—अद्वैत वस्तु सिद्ध है; केवल केवली रूप है। देश, काल, वस्तु के प्रच्छेद से रहित अखण्ड है। सजातीय, विजातीय, स्वगत सम्बन्ध से शून्य असंग है। आदि, मध्य और अन्त से रहित सत्य है। स्वयंप्रकाश होने से चेतन स्वरूप है। दुःख सम्बन्ध से रहित आनन्द रूप है। सदा स्वयं स्थित है; दूसरा कुछ न था, न है और न होगा, इस दृष्टि को धारण करने से सदा परमानन्द अवस्था रहती है।

Scanned with CamScanner

प्रश्न ४६—भेद की निवृत्ति और अभेद की सिद्धि किस प्रकार से होती है ?

उत्तर—शब्द के भेद से भेद प्रसिद्ध है, अन्यथा भेद असिद्ध है शब्द आकाश रूप होने से शून्य रूप है। शून्य वस्तु भेद को सिद्ध नहीं कर सकती। जब भेद ही असिद्ध है तो अभेद-वाद भी संभव नहीं होता। जब भेद और अभेद असिद्ध है तो सर्व शब्द भेद की निवृत्ति और अभेद की सिद्धि के लिये हैं, निरर्थक हैं। ऐसे निरर्थक शब्दों को विस्मरण कर केवल केवली भाव रहना ही उचित है।

प्रश्न ४७—निर्विकल्प का दर्शन कैसे हो ?

उत्तर—सर्व पदार्थ निर्विकल्प हैं। केवल मनुष्य शरीर के अन्तःकरण में सब की कल्पना होती है। वास्तव में देखें तो अन्तःकरण भी निर्विकल्प है। कल्पना में कल्पना है, क्योंकि कल्पना के बिना कल्पना का और कोई स्वरूप प्रतीत नहीं होता, इसलिये कल्पना कल्पित है। ऐसी कल्पना को त्यागकर सब जगह निर्विकल्प का दर्शन करें और स्वयं भी निर्विकल्प होकर स्थित रहें।

प्रश्न ४८—यह जो कुछ सन्मुख है, वह क्या है ?

उत्तर—यह वह वस्तु है, जिसमें क्या और कौन की समाई नहीं; क्या और कौन से रहित केवल अस्तिमात्र है। आदि, मध्य और अन्त से रहित यह सदा स्वयं स्थित है। परम प्रकाश, परम विलास, वरम उदित रूप अपनी महिमा में आप पूर्ण है। इसलिए जो कुछ है वह है, उसमें नाम और संज्ञा की समाई नहीं।

प्रश्न ४९—परमात्मा का दर्शन कैसे होता है ?

उत्तर—ऊपर लिखित प्रसंग को जब सत्य प्रतीत कर निश्चय किया जावे, तब सब जगह परमात्मा ही परमात्मा भासता है। दर्शन द्वैत में होता है, जब स्वयं ही स्वयं है तो किसका दर्शन करें ? यथार्थ ज्ञान ही यथार्थ दर्शन है। वास्तव में जो कुछ है वह परमात्मा है, इसलिए सब ही परमात्मा का दर्शन है।

प्रश्न ५०—द्वैत कैसे निवृत्त होता है ?

उत्तर—अद्वैत वस्तु सदा सामान्य और अच्युत है। केवल शब्द से द्वैत सिद्ध हो रहा है। शब्द भी स्वरूप से अद्वैत है, क्योंकि शब्द आकाश से पृथक् कुछ नहीं किन्तु आकाश रूप है। आकाश भी अद्वैत रूप है, क्योंकि आकाश के समान दूसरा पदार्थ कोई नहीं, आकाश अपने समान केवल आप ही है, इसलिए आकाश द्वैत से रहित अद्वैत रूप है। अच्युत है, किसी प्रकार से अपने स्वरूप का त्याग नहीं करता, सदा अपने शून्य भाव में स्थित है। शब्द उसका स्वरूप है, इसलिए शब्द भी अद्वैत और अच्युत है, अज्ञान से शब्द का वास्तविक स्वरूप प्रतीत न होकर द्वैत प्रतीत हो रहा है। यह मिथ्या प्रतीत भी वास्तव में अद्वैत की हानि नहीं कर सकती, इसलिए द्वैत भी अद्वैत रूप है, अद्वैत के बिना द्वैत कोई वस्तु नहीं। इस दृष्टि को धरना ही द्वैत से मुक्त होना है।

प्रश्न ५१—भ्रम की निवृत्ति किस प्रकार होती है ?

उत्तर—आत्मज्ञान से जब अपने स्वरूप को स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से न्यारा

Scanned with CamScanner

केवल ज्ञानमात्र जानता है। अथवा जब अपने आपको जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं का साक्षी देखता है। अथवा जब अपने आपको नाम, वर्ण, आश्रम आदि का ज्ञाता और प्रकाशक निश्चय करता है। अथबा जब अपने आपको ध्याता ध्यान, ध्येय, कर्ता, कर्म, क्रिया, ज्ञाता, ज्ञान ज्ञेय आदि त्रिपुटियों रहित केवल शुद्ध और अक्रिय रूप जानता है, तब भ्रम की निवृत्ति होती है। इसके सिवाय और किसी उपाय से भ्रम निवृत्त नहीं होता। ध्यान उपासना, मंत्र-स्मरण, तीर्थ-स्नान, यज्ञ होम पाठ एकान्त-सेवन, गुफा-साधन, त्याग, भेष-धारण, शास्त्र-अध्ययन और किसी दूसरे कर्म से नहीं किन्तु केवल यथार्थ ज्ञान से भ्रम की निवृत्ति होती है। यथार्थ ज्ञान भी अपने स्वरूप का उचित है, दूसरे पदार्थों का ज्ञान विक्षेप्ता और भ्रम उत्पन्न करता है। इसलिए भ्रम की निवृत्ति का उपाय केवल आत्मज्ञान है।

प्रश्न ५२—इस जगत में सबसे उत्तम पदार्थ क्या है और किस उपाय से प्राप्त होता है? मनुष्य शरीर का परम प्रयोजन क्या है, और किस साधन से उसकी प्राप्ति होती है?

उत्तर—इस जगत में सबसे उत्तम पदार्थ यथार्थ ज्ञान है। यह ज्ञान केवल मनुष्य शरीर में प्रकाशित होता है। इसलिए मनुष्य शरीर धारण करने का मुख्य प्रयोजन यथार्थ ज्ञानप्राप्त करना है। उसकी प्राप्ति के लिए विषयों से वैराग्य और सत्य वस्तु से प्रेम रखना चाहिए। जिस प्रकार विषयों से वैराग्य दृढ़ होगा, उसी प्रकार सत्य वस्तु में प्रेम दृढ़ होगा। अन्तः-करण ऐसा चंचल और व्यभिचारी है कि जिस वस्तु का त्याग करता है और दोष दृष्टि धारण कर उसका निषेध करता है, फिर उसी वस्तु को उत्तम और रमणीक जानकर ग्रहण करता है। उसकी स्तुति कर अपने चित्त को उसके मोह में ऐसा आसक्त करता है कि फिर उससे निकलना कठिन हो जाता है। इसलिए दृढ़ होकर दोष दृष्टि द्वारा विषयों की प्रीति, सम्बन्धियों से मोह, व्यवहार में आसक्ति, कुल लज्जा, लोक लज्जा, वेद लज्जा, लौकिक शब्द, धन अभिलाषा, पुत्र तृष्णा, स्त्री-सेवन, संसार-सतता और देहाभिमान का त्याग करे और बलवान होकर इस त्याग को अपना स्वभाव बनाकर मरणपर्यन्त इसका त्याग न करे। सब क्लेशों और दुःखों को सहार वैराग्य को अपना मित्र रखे, क्योंकि वैराग्य के बिना इस संकल्प रूप संसार में रंचकमात्र भी सुख नहीं। जब इस रीति से वैराग्य परिपक्व हो जाएगा, तब सत्य वस्तु प्रेम हृदय में स्वाभाविक उत्पन्न होकर यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रवृत करेगा। प्रतिदिन वृत्ति को कोमल और निर्मल कर सत्य वस्तु का आकार बनावेगा। इसलिए वैराग्य और प्रेम द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य शरीर का परम प्रयोजन है। यही परम लाभ है। इसके सिवाय जितने लाभ हैं, सारे कल्पित है। ज्ञान रूपी लाभ यथार्थ है, क्योंकि ज्ञान सत्य वस्तु का स्वरूप है। इसे परमात्मा, ब्रह्म, निरं-कार, पूरण आत्मा कहते है। उसका स्वरूप ज्ञान के बिना दूसरा नही। इसलिए ज्ञान की प्राप्ति परमात्मा की प्राप्ति है। ज्ञान के बिना किसी और उपाय से परमात्मा प्राप्त नहीं हो सकता। परमात्म सर्वरूप है, सबका आत्मा है। अज्ञान से भिन्न प्रतीत होता है और भय का हेतु होकर नाना प्रकार के यत्नों और साधनों का निमित्त होता है। जब ज्ञान द्वारा अज्ञान नाश होता है तब वही परमात्मा जो पहले दूसरा प्रतीत होता था, अपना आप प्रतीत होता है।

Scanned with CamScanner

तात्पर्य यह कि वही ज्ञान ही परमात्मा प्रतीत होता है, ज्ञान के बिना और कुछ प्राप्त नहीं होता। इसलिए सिद्ध हुआ कि केवल ज्ञान ही सत्य और यथार्थ है तथा परमानन्द स्वरूप है, इसका प्राप्त करना मनुष्य का परम प्रयोजन है।

प्रश्न ५३—आत्मा की प्राप्ति और संसार की निवृत्ति किस प्रकार होती है?

उत्तर—आत्मा नित्य प्राप्त रूप है और संसार नित्य निवृत्त रूप है। अज्ञान से आत्मा अप्राप्त और संसार सत्य प्रतीत होता है, इसलिए मनुष्य नाना प्रकार के दुःख क्लेश, चिन्ता, शोक, भय, संशय, विकल्प आदि के आधीन होकर निरर्थक यत्न करता है, किन्तु दुःख निवृत नहीं होता। उल्टा दिन प्रतिदिन दुःख अधिक होता जाता है। सब दुःखों का मूल अज्ञान है, जब तक यह हृदय में रहता है, तब तक दुःख का नाश नहीं होता। जब अज्ञान निवृत हो जाता है, तब सब दुःख नाश हो जाते हैं। इसलिए उचित है कि अज्ञान की निवृत्ति का उपाय करें। अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान के बिना और किसी दूसरे उपाय से नहीं होती और वह ज्ञान ज्ञानवान के वचनों द्वारा होता है। वचन दो प्रकार के है एक मुखाग्र वचन और दूसरे शास्त्र वचन। दोनों प्रकार के वचन महात्माओं के अनुभव हैं। दोनों प्रकार के वचनों के श्रवण, मनन और निदिध्यासन से अज्ञान की निवृत्ति होती है। जब श्रोत्रिय ब्रह्म निष्ठ सत्गुरु सन्मुख और समीप होवें तब उनके मुख से यथार्थ ज्ञान श्रवण करें और जब सत्गुरु दूर और परोक्ष हों तब उनके शास्त्र को श्रवण कर मनन और निदिध्यासन में वृत्ति को जोड़ें। इसका फल अज्ञान की निवृत्ति और ज्ञान की प्राप्ति होगी। इससे नित्य-प्राप्त आत्मा प्राप्त रूप प्रतीत होगा और नित्य-निवृत-रूप संसार निवृत्ति रूप प्रतीत होगा।

प्रश्न ५४— **॥ दोहा ॥**

दयासिंधु, करुणाभवन, शांतवान सुखधाभ।
अनुभवरूप अगाधमति, नित संतुष्ट अकाम॥
तत्वज्ञान उपदेश कर, मेटो सकल कलेश।
नाम रूप संसार का, रहे न रंचक लेश॥

उत्तर— **॥ दोहा ॥**

श्रद्धालु निष्काम चित, सद्गुरु भक्त सुजान।
शुभ इच्छायुत शुद्ध मत, धीरजवन्त अमान॥ १॥
सावधान शरवण करो, तत्व ज्ञान सुख मूल।
जाके दृढ़ अभ्यास से, मिटे सकल भवशूल॥ २॥
कर्म करो विचार कर, जाते खेद न होय।
खेद होय जिस कर्म से, तत्क्षण त्यागो सोय॥ ३॥
तुम हो पूरण अचल इक, निर्भय आपत काम।
मत मानो तुम आपको, कल्पित रूप और नाम॥ ४॥
नाम रूप सगरे लखो, जड़ असत्य दुःख रूप।
ताको साक्षी सत्य है, चेतन स्वतः स्वरूप॥ ५॥

Scanned with CamScanner

ताँते निशिदिन सावधान, निज पद में सुख पाय।
नामरूप और जात पात, मन से सकल भुलाय ॥ ६ ॥
जब सकले कल्पित वरण, भूलेंगे अत्यन्त।
तब प्रगटेगा आत्मा, अचल अनाद अनन्त ॥ ७ ॥
जो जो चिंतन चित करे, तजो सकल बल धार।
शेष रहे जो अचल पद, सो है आतम सार ॥ ८ ॥
ताँसों मन को जोड़ कर, भव जंजाल भुलाय।
निज में निज निर्मग्न हो, आतम इस्थिति पाय ॥ ९ ॥
निमख न भूलो आपको, जो चाहो कल्याण।
मगन रहो नित आप में, भूलो पद निर्वाण ॥ १० ॥
जीव ब्रह्म की एकता, निशिदिन चितवो मीत।
परिच्छिन्न हङ्कार से, शुद्ध करो निज चीत ॥ ११ ॥
रंच न मानो द्वैत कुछ, निश्चय अद्वै सार।
जो जो भासे दृष्टि कर, सकल ब्रह्म निर्धार ॥ १२ ॥
आदि अन्त गम्भीरता, मध में चंचल भाव।
निज स्वरूप में मग्न हो, मध का करो अभाव ॥ १३ ॥
संशय रूप संसार है, निःसंशय शुध रूप।
तांते संशय त्याग कर, पावो अमल स्वरूप ॥ १४ ॥
सदा रहो निश्चलमति, देह संग ते रहित।
विचरो स्वच्छ अकाशवत्, समता मुदता सहित ॥ १५ ॥
भूत भविष्यत चिन्त तज, वर्तमान सुख मान।
समवर्ती समदृष्टि हो, भुंचो अमृत ज्ञान ॥ १६ ॥
यह समाधि निशिदिन करो, जांते मिटे उपाधि।
ब्रह्मानन्द प्रगटे सदा, रहे न आधि व्याधि ॥ १७ ॥
केवल हो केवल भजो, केवल प्रापत होय।
केवल पाय केवल लखो, जामे भेद न कोय ॥ १८ ॥
शब्द भेद प्रच्छेद है, अशब्द अभेद समान।
ताँते शब्द त्याग कर, अशब्द रूप निज मान ॥ १९ ॥
जब अशब्द स्थिति भई, तब कर्तव्य नहिं रंच।
ब्रह्मा विष्णु न रुद्र कछु, नहिं कुछ लेश प्रपंच ॥ २० ॥
ऐसे अति गम्भीर हो, भूलो निज हिंडोर।
शेष न रहे क्लेश कछु, नहिं कुछ जोड़ न तोड़ ॥ २१ ॥
सार ज्ञान को सार यह, वर्णन किओ बनाय।
हेमराज निश्चय गहो, निरबानी पद पाय ॥ २२ ॥

Scanned with CamScanner

प्रश्न ५५—हे भगवान् ! इस शब्द रूप जगत से मोक्ष किस प्रकार प्राप्त होता है ?

उत्तर—हे जिज्ञासुओं में श्रेष्ठ ! शब्द का विचार करने से शब्द रूप जगत् शून्य निश्चय होता है। जब जगत शून्य रूप प्रतीत होता है तब सहज ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार जल में तैरे बिना जल के पार होना असम्भव है उसी प्रकार शब्द के विचार बिना शब्द के पार होना असम्भव है। शब्दाकाश की तीन मात्रा हैं और पवन के वेग से इसका उच्चार होता है। आकाश शून्य रूप है और पवन भी निराकार रूप है, इसलिए शब्द भी निराकार और शून्य रूप है। अन्तर यह है कि आकाश किसी के सुख और दुःख का हेतु नहीं किन्तु शब्द अपनी प्रवृत्ति से सुख और दुःख का हेतु है, हो रहा है। इसका कारण केवल शब्द का अज्ञान है। विचार से जब दृढ़ निश्चय होता है कि शब्द आकाश रूप होने से शून्य रूप है तब जगत की सत्ता निवृत्त हो जाती है शेष केवल अशब्द पद रहता है। इसमें किसी प्रकार की कल्पना नहीं। जब ऐसे अशब्द पद में स्थिति होती है तब शब्द रूप संसार से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

शब्द विचार की युक्ति यह है। शब्द चार प्रकार का है; परा, पष्यन्ती, मध्यमा और वैक्षरी। परा शब्द की वह अवस्था है जिसमें शब्द अपने शब्दित भाव को प्राप्त नहीं हुआ, केवल चिदाकाश मात्र अपनी महिमा में आप स्थित है। इसलिए परा रूप शब्द शब्द नहीं है किन्तु अशब्द है और यही मोक्ष धाम अर्थात शब्द रूप जगत के पार का किनारा है। द्वितीय, पश्यन्ती शब्द का कारण है जिसमें शब्द सूक्ष्म स्वरूप को धारकर स्थित रहता है। तृतीयी, मध्यमा शब्द की सूक्ष्म अवस्था है। चतुर्थ, बैंक्षरी शब्द की स्थूल अवस्था है। इससे शब्द प्रगट होकर जगत रूप होता है। इनमें से तीन प्रकार का शब्द अर्थात् पश्यन्ती, मध्यमा और वैक्षरी जगतरूप है। इसमें से पश्यन्ती और मध्यमा सूक्ष्म रूप होने से शरीर के अन्तर रहते हैं और वैक्षरी स्थूल रूप होकर मुख द्वारा बाहर निकलती है और नाना प्रकार की कल्पना उदय कर दुःख सुख, पुण्य पाप, धर्म, अधर्म, मैं, तू, जन्म-मरण आदि रूप संसार स्थापन करती है। इसलिए जगत केवल वैक्षरी रूप है और वैक्षरी शब्द रूप होने से शून्य रूप है। क्योंकि वैक्षरी का कारण मध्यमा भी शून्य रूप है। मध्यमा का कारण पश्यन्ती भी शून्य रूप है और पश्यन्ती का कारण परा शून्य से भी अगोचर है। इसलिए वैक्षरी, और पश्यन्ती वास्तव में कुछ नहीं है केवल परा ही है; और परा शब्द से अगोचर है और सर्व का आत्मा है। जब इस रीति से शब्द का विवेक कर पश्यन्ती, मध्यमा और वैक्षरी को त्यागकर केवल परा में स्थिति होती है; तब शब्द रूप जगत से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सब प्रकार के शब्दों को अर्थ से रहित निश्चय करने से भी मोक्ष की प्राप्ति होती है। मनुष्य सुख दुःख, ताप और क्लेश से मुक्त रहता है, क्योंकि शब्द में क्लेश या सुख नहीं। उसका अर्थ समझने में क्लेश या सुख है। जिस शब्द का अर्थ प्रतीत नहीं होता, उससे न दुःख होता है और न सुख। इसलिए अर्थ सहित शब्द सुख और दुःख का हेतु है। यदि विचार से देखें तो शब्द और अर्थ समान सत्ता वाले नहीं हैं, किन्तु विषम सत्ता वाले हैं। शब्द निराकार है और शरीर के अन्तर रहता है और अर्थ साकार है तथा जगत में रहता

Scanned with CamScanner

है। जैसे जल शब्द है, वह निराकार है और शरीर के अन्दर रहता है और उसका जो अर्थ है, वह साकार रूप होकर धरती पर रहता है। जल शब्द से तृष्णा निवृत्त नहीं होती परन्तु उसके अर्थ से तृष्णा निवृत्त होती है। इसलिए जल का शब्द और उसका अर्थ परस्पर चल और विषम सत्ता वाले हैं, अतः जल का शब्द निरर्थक है, इसी प्रकार समूह शब्द निरर्थक है, केवल कल्पित प्रतीत से शब्द अर्थ सहित निश्चय हो रहा है। जब यथार्थ विचार से देखा जाता है तो शब्द केवल शब्दमात्र है, अर्थ के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं। जब सम्बन्ध ही नहीं तो शब्द के अर्थ को सत्य प्रतीत कर हर्षवान या शोकवान होना मूर्खता और अज्ञानता है। इसलिए दूरदर्शी यथार्थ ज्ञानी शब्द को निरर्थक निश्चय कर शब्द के होते ही शब्द रूप जगत से मुक्त रहते हैं। इसलिए मोक्षेच्छु जिज्ञासु सर्व शब्दों को अर्थ से रहित निश्चय करने का अभ्यास करे; जिससे शब्द रूप जगत से मोक्ष प्राप्त हो।

सब शुभ अशुभ, लौकिक और वैदिक शब्दों की विस्मृति ही मुक्ति है, क्योंकि जब शब्द स्मरण आता है तब जगत उत्पन्न होता है जब शब्द विस्मरण हो जाता है तब जगत भी नाश हो जाता है। तात्पर्य यह कि शब्द की स्मृति जगत की उत्पत्ति और शब्द की विस्मृति जगत की समाप्ति है। सृष्टि में जितने मनुष्य शरीर हैं, सब शब्द का भंडार है और परस्पर शब्दों से बंधे हैं शब्द से पृथक उन्हें दूसरी कोई जंजीर, रज्जु या बेड़ी बाँधने वाली नहीं है केवल शब्द से बँधे हुवे हैं, इसलिए शब्द की विस्मृति बंधन की निवृत्ति है। जब तक शब्द विस्मरण नहीं होता तब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। इसलिए विचार द्वारा शब्द को निरर्थक निश्चय कर विस्मरण करे कि शब्द रूप जगत से मोक्ष की प्राप्ति हो।

जगत में शब्द का बखेड़ा है, सब पुरुष शब्द के पीछे दीवाने हैं। कोई बुद्धिमान तत्व विचार द्वारा इस बखेड़े से उपरामी होता है अन्यथा सब मनुष्य गीदड़ों की नाँई एक दूसरे के शब्द पर लड़ते और मरते हैं। अतः जिज्ञासु सावधान रहे, किसी शब्द को सुनकर अपनी वृत्ति को चंचल न करे। केवल सद्गुरु के शब्द को सत्य प्रतीत कर दूसरे शब्दों को भुलाता रहे और शब्द के विकारों से रहित होकर निर्विकल्प रहे। जब अन्दर और बाहर निर्विकल्पता का आनन्द पावेगा तब कृत-कृत्य होकर सच्चिदानन्द ब्रह्म में समावेगा।

प्रश्न ५६—हे भगवन्! जगत में मिथ्याविरोध, वाद-विवाद, मतों का भेद, धर्मों का परिच्छेद आदि क्यों फैले हुए हैं?

उत्तर—हे प्यारे! इस जगत में दो प्रकार की सृष्टि है। एक भौतिक सृष्टि जिसे ईश्वर की सृष्टि कहते हैं और दूसरी संकल्पमय सृष्टि जिसे मनोमय सृष्टि कहते हैं। इनमें से भौतिक सृष्टि सामान्य, यथार्थ और सत्य है उसमें वाद-विवाद, खंडन मंडन कोई नहीं और संकल्प रूप सृष्टि विशेष कल्पित और मिथ्या है उसमें वाद-विवाद खंडन और मंडन हैं। तात्पर्य यह है कि शास्त्रों का विरोध, मतों का भेद, धर्मों का परिच्छेद, उपासनाओं का अन्तर केवल संकल्प रूप सृष्टि में है। भौतिक सृष्टि में किसी प्रकार का भेद व परिच्छेद नहीं है। इसलिए महान् तत्व-वेत्ता और पारदर्शी सर्वभेद कल्पना को संकल्प मात्र निश्चय कर भौतिक सृष्टि पर दृष्टि रखते हैं। नाना प्रकार के मतों और भेदों के होने पर भी निश्चल-

Scanned with CamScanner

मति, शांत-आत्मा और गम्भीर रहते हैं। यह मर्यादा ही सब की शोभा का भूषण है। संकल्प के भेद से वस्तु का भेद सिद्ध नहीं होता। संकल्प का भेद केवल मिथ्या और निरर्थक है। ऐसे निरर्थक भेद को चित्त से भुलाकर सामान्य और सत्य वस्तु पर अपने निश्चय को स्थिर करना शान्ति और कल्याण का हेतु है।

प्रश्न ५७—भेद का कारण क्या है? इसकी निवृति कैसे होती है और सम दृष्टि कैसे प्राप्त होती है?

उत्तर—नाम रूप का ज्ञान भेद का कारण है और नामरूप का अज्ञान अभेद का दर्शन है। नामरूप केवल मन की कल्पना से सिद्ध है, मन की कल्पना से रहित अस्तिमात्र वस्तु सिद्ध है इसलिए नामरूप की कल्पना को निवृत्त करके केवल अस्तिमात्र का दर्शन परमात्मा का दर्शन है और इसीको सम दर्शन कहते हैं। अब समता के जिज्ञासु नामरूप से दृष्टि उठाकर केवल अस्तिमात्र में अपनी निष्ठा को दृढ़ करे जिससे संसार का अभाव होकर सब जगह सत्य स्वरूप का दर्शन हो।

(२) विचारवेत्ता सब पदार्थों को बुद्धि से विचारे तो कोई पदार्थ सिद्ध नहीं होता क्योंकि पदार्थ में पदार्थ की भावना के बिना कोई पदार्थ सिद्ध नहीं होता। वह पदार्थ भावना केवल रजोगुण वृत्ति की कल्पना है अर्थात् सविकल्प वृत्ति की कल्पना है, विकल्प के त्याग के उपरान्त पदार्थ का लेश भी नहीं रहता क्योंकि विकल्प त्याग भी भेद की निवृति और समदृष्टि की प्राप्ति है।

प्रश्न ५८—किस दृष्टि से भेद निवृत होता है और अभेद निश्चय होता है?

उत्तर—घट दृष्टि से भेद प्रतीत होता है और आकाश दृष्टि से सब भेद का अभाव होकर केवल अभेद वस्तु प्रतीत होती है। आकाश दृष्टि उत्तम है और सभी कल्पना से मुक्ति का कारण है। उसी प्रकार घट दृष्टि भेद का मूल है और चिदाकाश दृष्टि भेद की नाशक है इसलिए चिदाकाश दृष्टि को धारकर भेद और प्रच्छेद से मुक्त रहे।

प्रश्न ५९—इस प्रकार का भय सदा रहता है कि क़दाचित् कोई समीपवर्ती सम्बन्धी मृत हो जाये तो मन डुलायमान होकर शोकवान न हो। इसलिए यही उचित प्रतीत होता है कि सर्व सम्बन्धियों को त्यागकर किसी एकांत देश में काल व्यतीत किया जावे परन्तु जब शरीर वृद्ध हो और यात्रा की सामर्थ भी न हो तो किस उपाय से इस भय को निवृत करना उचित है?

उत्तर—प्रथम यह विचार करें कि समीपवर्ती सम्बन्धी कौन है? यदि बर्हिमुख दृष्टि से देखें तो शरीर जीव का समीपवर्ती सम्बन्धी है। इसलिए इसने अवश्य आदि की तरह नष्ट हो जाना है और क्षण-क्षण परिणाम पाकर नष्ट हुआ जाता है, शरीर के सम्बन्ध से दूसरे शरीर सम्बन्धी है। जब अपना शरीर नश्वर और क्षणभंगुर है और यह भी निश्चय नहीं कि कब नष्ट हो जावे तो दूसरे शरीरों के लिए भय करना मूर्खता है। अपने शरीर के बिना और कोई समीपवर्ती सम्बन्धी नहीं है और इसने अवश्य मृत्यु को प्राप्त होना है और इसकी मृत्यु परम सुख रूप है क्योंकि इसकी समाप्ति से सब संशयों और कर्मों की समाप्ति

Scanned with CamScanner

है, इसलिए इसकी मृत्यु होने का भय नहीं किन्तु आनन्द है।

यदि अर्न्तमुख दृष्टि से देखें, परमात्मा जीव-आत्मा का समीपवर्ती सम्बन्धी है और वह जन्म मरण से रहित नित्य स्थित हैं, और फिर इसके अभाव का भी भय नहीं। अब यदि असत्य शरीर को सम्बन्धी माने तो इसने अवश्य असत्य होना है और यदि सत्य परमात्मा को सम्बन्धी माने तो इसने सदा स्थित रहना है। दोनों प्रकार से निर्भयता और मुक्ति है, किसी प्रकार से भय करना उचित नहीं।

यदि वास्तव दृष्टि से पूछें तो सत्य परमात्मा को अपना सम्बन्धी निश्चय करें। उसके साथ ऐसा दृढ़ और सत्य सम्बन्ध बनावें कि किसी समय भंग न हो। इस प्रकार के सत्य सम्बन्धी, नित्य प्राप्त रूप मित्र, अभिन्न प्रीतम, यथार्थ सुहृदय और निज आत्मा को विस्मरण कर असत्य सम्बन्धी, मिथ्या मित्र, कल्पित सुहृदय, नश्वर प्रीतम, और अनात्मा से प्रीति जोड़ना और उसके नाश होने के भय को चित स्थित कर अपने काल को शोक और चिन्ता सहित व्यतीत करना यथार्थ ज्ञान के विरुद्ध है।

अपने स्वरूप के बिना कोई सम्बन्धी नहीं है, मन भी नहीं है। इसलिए अपने स्वरूप को सम्यक् रीति से जानकर निरर्थक संकल्पों और विकल्पों को विस्मरण करें। यदि मन डोलायमान हो तो भी इसका भय नहीं, क्योंकि आत्मा का मन के साथ सम्बन्ध नहीं। मन पाँच तत्वों का कार्य है, इसका धर्म, हर्ष, शोक, भय आदि है, आत्मा पाँच तत्वों से न्यारा है; इसलिए मन के धर्मों से भी न्यारा है मन अचल रहे अथवा चंचल, आत्मा सदा एक रस है। जैसे लहरों के डोलने से जल नहीं डोलता, क्योंकि लहरों का स्वभाव ही डोलना है, जल सदा अपनी गम्भीरता में स्थित है। वैसे ही मन आत्मा की लहर है, डोलता रहे, परन्तु आत्मा गम्भीर है, अगाध है, अगम है, एक लहर के डोलने से उसकी महिमा नष्ट नहीं होती। वह सदा अडोल, अचल, स्थित अक्षोभ स्वत: सिद्ध है। वही तुम्हारा स्वरूप है, ऐसे स्वरूप में सदा मग्न रहो। क्यों अपने आपको भूलकर दूसरे के धर्मों को अपने स्वरूप में आरोपित कर भयभीत हो रहे हो ? क्यों अपनी शक्ति से आप भयभीत हो रहे हो ? क्यों अपने प्रतिबिम्ब से आप भाग रहे हो ? क्यों अपने संशय में आप बँध रहे हो, कौन छुड़ायेगा ? सावधान हो, आपको न भूलो और न शरीर की क्रिया और मन के फुरने से अपने स्वरूप में संशय उत्पन्न करो। सदा अपने आपको अचल, कूटस्थ, अडोल और निर्विकार निश्चय करो। लौकिक कथा और कपोल कल्पित इतिहास विस्मरण कर यथार्थ सिद्धान्त पर प्रतीति रखो। हे मोक्षेच्छु ! किसका त्याग करना चाहते हो, कोई तुम्हारे साथ चिपटा हुआ है ? गोंद की तरह कोई तुम हारे शरीर के साथ लगा हुआ है ? अथवा रंग के समान कोई तुम्हारे तन के साथ इकट्ठा हुआ है, जिससे तुम भिन्न होकर एकांत देश में रहना चाहते हो ? केवल अज्ञान तुम्हारे साथ तद्रूप हो रहा है, जिससे तुम्हें अपना वास्तव स्वरूप भूल रहा है और कल्पित स्वरूप निश्चय हो रहा है। तुम्हारा वास्तव स्वरूप नाम, वर्ण, आश्रम, सम्बन्ध गुण कर्म, रूप, रंग, और विशेषण से रहित केवल चिदाकाश है और तुम्हारा कल्पित स्वरूप नाम; वर्ण, आश्रम, सम्बन्ध, गुण, रूप, रंग और विशेषण है। यदि वास्तव स्वरूप में निष्ठा

Scanned with CamScanner

रखोगे तो भय और शोक का कारण कोई नहीं रहेगा, सदा आनन्द, निर्भयता और शान्ति रहेगी। यदि कल्पित स्वरूप पर निष्ठा रखोगे तो जिस स्थान पर जाकर बैठोगे, उसी स्थान पर अज्ञान साथ होगा। जब तक अज्ञान साथ रहेगा, तब तक अज्ञान का रचा हुआ प्रपंच और गृहस्थ भी साथ रहेगा। इसलिए अज्ञान का त्याग करो और इस अज्ञान से ऐसे भिन्न होकर रहो, कि अज्ञान में संकल्प कदाचित् उत्पन्न हो। अहंकार, मोह, लोभ, शोक, क्रोध, काम और भय आदि अज्ञान के चेले हैं। जब गुरु से सम्बन्ध छूट जावेगा तब चेलों से भी सम्बन्ध नहीं रहेगा। इसलिए सावधान होकर निशिवासर आत्मविचार में मग्न रहो, न कहीं आओ न कहीं जाओ, स्थिर होकर देह सम्बन्धी काल को निर्भयता, शान्ति, अचिंतता, कुशल और आनन्द सहित व्यतीत करो।

प्रश्न ६०—सुखमनी की दूसरी अष्टपदी की पहली पौड़ी के कृपया अर्थ निरूपण करें।

उत्तर—अब सुखमनी की दूसरी अष्टपदी की पहली पौड़ी के अर्थ लिखे जाते हैं।

पाद १—जहाँ मात पिता सुत मीत न भाई।
मन उहाँ नाम तेरे संग सहाई ॥

टीका—जहाँ पर माता, पिता, पुत्र, मित्र और भाई सहायता नहीं कर सकते हैं वहाँ पर हे मन! नाम अर्थात् तत्व विचार तेरा संगी होकर सहायता करता है। तात्पर्य यह कि मन के निरोध के समय माता पिता आदि सहायक नहीं होते, उल्टा मन के निरोध में बाधक अथवा प्रतिबन्धक होते हैं। तत्व विचार अथवा तत्व कथन अथवा तत्व श्रवण, तत्व मनन, तत्व ज्ञान, अथवा तत्व निदिध्यासन ही नाम पद के अर्थ हैं ये मन की एकाग्रता के सहायक होते हैं। इसलिए मनरचित सब सम्बन्धियों का त्याग कर केवल सत्य सम्बन्धी आत्मा का ज्ञान और ध्यान ही मन की शांति, तृप्ति और मुक्ति का कारण है। इसलिए सब कल्पित सम्बन्धियों को त्याग कर अपने निज स्वरूप में स्थित होना ही उचित और श्रेष्ठ है।

पाद २—जहाँ महा भयान दूत यम दलै।
तहाँ केवल नाम संग तेरे चलै ॥

टीका—जब महा भयानक यमदूत अर्थात् महा असाध्यरोग, जिनमें मृत्यु का भय है और जो शरीर को दलते अर्थात् मर्दन करते हैं, तब केवल नाम अर्थात् तत्व विचार ही तेरे भय और शोक की निवृति का साधन होता है। अथवा जब महा भयानक और दुष्ट आसुरी सम्पदा के स्वभाव मन को क्षुब्ध और विक्षिप्त करते हैं, तब केवल तत्व विचार ही मन को नीच स्वभावों के क्लेश से छुड़ाता है। जब यमदूत और परलोक के सिद्धिकर्ता लौकिक और पौराणिक वचन मन को भयभीत करके मर्दन करते हैं, तब केवल निज स्वरूप विचार ही मन को भय से मुक्त करता है तथा परमानन्द गति को प्राप्त करता है। अथवा जब वात, पित्त, कफ अपनी सामान अवस्था को त्यागकर विशेष गति को धारण करते हैं और परस्पर विरोध से शरीर को निर्बल और पीड़ित कर मन को चंचल, शोचनीय, दुखी और भयभीत करते हैं, तब केवल तत्व स्वरूप का चिन्तन ही शांति और सुख का दाता होता है। अथवा जब प्राण और अपान महा भयानक जमदूत अपनी मर्यादा को त्याग शरीर को आदि

Scanned with CamScanner

की तरह जड़ और अक्रिय कर देते हैं, तब केवल केवली रूप आत्मा अपने आप में स्थित रहता है। तात्पर्य यह कि सब प्रकार के भय की निवृति केवल आत्म ज्ञान से होती है। आत्म ज्ञान ही आत्मा का निज स्वरूप है। इसलिये आत्मा को ज्ञान कभी त्याग नहीं कर सकता। सब संघात के अभाव होने पर भी ज्ञान आत्मा का संगी रहता है। जैसे सुषुप्ति अवस्था में सब इन्द्रिय और अन्तःकरण के लीन होने पर भी ज्ञान आत्मा के साथ तद्रूप रहता है, वैसे मृत्यु अवस्था में भी सर्व स्थूल और सूक्ष्म संघात के अभाव पर भी ज्ञान आत्मा के साथ तद्रूप रहता है। इसलिए ज्ञान सब कर्मों, धर्मों और उपासनाओं से श्रेष्ठ है। पारदर्शी बुद्धिमान केवल ज्ञान को ही दृढ़ कर सब वैदिक, पौराणिक, लौकिक, व्यवहारिक, कायिक, वाचक और मानस भय तथा क्षोभ से मुक्त होते हैं। इसलिये केवल निज स्वरूप के ज्ञान में मग्न रहें, जिससे जीवित काल में सब भय की निवृति हो।

पाद ३—जहाँ मुश्किल होवे अति भारी,
हरि को नाम क्षण माँहि उधारी॥

टीका—जब किसी गृहस्थ चिंता, धन अभिलाषा, व्यवहार सिद्धि, देह पीड़ा, लोक वासना और परलोक भय से वृत्ति अति क्षुब्ध और क्लेश युक्त हो तब हरि का नाम अर्थात् तत्व-ज्ञान एक क्षण में वृत्ति को विक्षेप्ता की पीड़ा से मुक्त कर शांत गति प्राप्त करता है। तात्पर्य यह कि राग द्वेष, हर्ष शोक आदि मुश्किल अर्थात् क्लेश स्वरूप-विचार के बिना निवृत्त नहीं होते। जब तत्व स्वरूप का ज्ञान होता है, तब सब साधन सिद्ध हो जाते हैं, शरीर आसक्ति से प्रतीत होने वाले सब क्लेश निवृति हो जाते हैं; यत्न, खेद और परिश्रम का हेतु सब वासनाएँ शान्त हो जाती हैं सर्व संशय विपर्यय और मिथ्या ज्ञान अभावगति को प्राप्त हो जाते हैं। स्वर्ग सिद्धि के लिए किये गए अश्वमेघ आदि यज्ञ, बैकुण्ठ प्राप्ति के लिए निष्काम कर्म तथा उपासना और अष्ट सिद्धि प्राप्ति के लिए योग आदि साधन सब पूरे हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि आत्मा को पूर्ण प्रतीत करने से सब की प्राप्ति होती है, किसी प्रकार का यत्न शेष नहीं रहता। इसलिए केवल ब्रह्म आत्म की एकता के ज्ञान को दृढ़ कर परम विश्राम रूप सहज अवस्था का आनन्द ले।

पाद ४—अनिक पुनः चरण करत नहीं तरै।
हरि को नाम कोटि पाप पर हरै॥

टीका—अनेक प्रायश्चित्त कर्म, तीर्थ स्नान, गायत्री आदि जाप, संध्या आदि उपासना, चन्द्रायण आदि व्रत, नेवली आदि योग साधने से मनुष्य संशय रूप संसार से पार नहीं होता। केवल हरि का नाम अर्थात् तत्वज्ञान ही सब पापों को नष्ट करता है। तात्पर्य यह कि कर्मों के करने से संसार की निवृत्ति नहीं होती, अपितु वृद्धि और दृढ़ होते हैं, क्योंकि कर्म अज्ञान जन्य है और संसार भी अज्ञान का कार्य है, इसलिए कर्म में संसार के बाध्य की सामर्थ्य नहीं है। तत्वज्ञान अज्ञान का बाधक है इसलिए तत्वज्ञान में संसार के बाध करने की सामर्थ्य है। जैसे प्रकाश तम का विरोधी है, वैसे ज्ञान अज्ञान का विरोधी है, विरोधी पदार्थ परस्पर बाधक होते हैं इसलिए अज्ञान का नाशक केवल ज्ञान ही है। जैसे ज्ञान के बिना

Scanned with CamScanner

दूसरे किसी कर्म और उपासना से अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती, प्रकाश के बिना तम की निवृति भी किसी और उपाय से नहीं हो सकती। जब तत्वज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है, तब सब पापों का मूल जो देह-अभिमान है, निवृत हो जाता है। जब देह अभिमान का अभाव होता है, तब कर्मों में कर्त्ता और भोक्ता बुद्धि नहीं रहती। जब कर्मों में कर्त्ता बुद्धि नहीं रहती, तब धर्म अधर्म का संशय नष्ट हो जाता है। जब धर्म अधर्म का संशय निवृत्त हो जाता है, तब जन्म-मरण, लोक परलोक, गमन आगमन आदि का अत्यन्त अभाव हो जाता हैं। जब जन्म मरण का अभाव होता है तब संसार लेशमात्र भी नहीं रहता, केवल चिदाकाश प्रतीत होता है। इस प्रकार तत्वज्ञान से सब पापों की निवृत्ति द्वारा संसार के पार अर्थात् पारब्रह्म गति को प्राप्ति होता है।

पाद ५—गुरुमुख नाम जपहु मन मेरे।
नानक पावहु सुख घनेरे॥

टीका—हे मेरे मन! गुरुमुख द्वारा नाम को जपो, जिससे परम सुख की प्राप्ति हो। तात्पर्य यह कि श्रद्धा, नम्रता, जिज्ञासा, सावधानता और प्रेम आदि साधन सम्पन्न होकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठी; सत्गुरु की शरणगति को प्राप्त होकर उनके मुख से महावाक्य के अर्थ श्रवण करो। एकांत देश में स्थित होकर श्रवण किए हुए अर्थ का मनन करो। मनन किए हुए वचनों का निदिध्यासन करो। अर्थात् वृति को अद्वैत अर्थ के आकार करो। सब मन रचित कल्पना से रहित होकर केवल अद्वैत वस्तु में स्थित रहो। इससे नानक पावो, अर्थात् अनेकता से रहित पद को पावो; कैसा पद है? इसमें सुख घनेरे अर्थात् परम सुख, परम शान्ति, परम तृप्ति, परम गंभीरता है। ऐसा पद केवल यथार्थ ज्ञान से प्राप्त होता है और वह ज्ञान सत्-गुरु की कृपा से ही मिलता है। इसलिए ऐसे उत्तम और परम पावन पद की प्राप्ति के लिए केवल सत्गुरु का संग ही उचित है। इससे यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति, कार्य सहित अज्ञान की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति होती है।

प्रश्न ६१—अविद्या रूपी संकल्पों के दृढ़ होते संसार सदा द्वैत रूप फुरता रहता है; वास्तव स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। हे कृपा निधान, सुख सागर! आप मेरी रक्षा करो, द्वैत रूप संसार निवृत हो?

उत्तर—संकल्प और विकल्प के आरम्भ में जो सत्ता है, वह वास्तव स्वरूप है। अथवा संकल्प और विकल्प के उपरांत जो सत्ता शेष रहती है, वह वास्तव स्वरूप है। संकल्प और विकल्प उसी सत्ता के आसरे फुरते हैं और उसी में लीन होते हैं, इसलिए अद्वैत सत्ता आप में आप स्थित है। द्वैत कोई वस्तु नहीं, अद्वैत ही द्वैत रूप होकर भासता है, यह ज्ञान यथार्थ और अद्वैत है; इसी को बार-बार मनन और निदिध्यासन करने से संशय रूप संसार नाश हो जाता है। अविद्या भी कोई वस्तु नहीं; ज्ञान का न जानना अज्ञान अथवा अविद्या है। ज्ञान नित्य है, इसलिए अविद्या अर्थात् न जानने से नाश नहीं होता, केवल आच्छादित होती है अविद्या में वास्तव स्वरूप को व्यभिचारी करने की सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि अविद्या आप ही ज्ञान के आसरे रहती है और ज्ञान में लीन हो जाती है। इसलिये ज्ञान अद्वैत और सत्ता स्वरूप

Scanned with CamScanner

ज्यों का त्यों स्थित है। इस रीति से निश्चय करना मानो अपनी रक्षा आप करना है।

प्रश्न ६२—शास्त्रों में लिखा है कि संतों ने एक अक्षर से राम नाम को पा लिया। वह अक्षर क्या है और कहाँ है ?

उत्तर—वह अक्षर "मैं" है और सब में पूर्ण है। इसी "मैं" को विचार कर महात्माओं ने राम नाम प्रगट किया है। राम का अर्थ पूर्ण है अर्थात् जो सब में रम रहा है सो सब में 'मैं' का अक्षर सामान और एक है। इसलिए सबमें मैं कहने वाला एक है—वही राम है। जब मैं को मैं समझती है तब 'मैं' 'मैं' से उल्लंघित होकर अवाच्य पद में स्थित होती है। कई संतों ने इस 'मैं' का नाम सोऽहं रखा है, कई महात्माओं ने 'मैं' का नाम 'ॐ' रखा है। कई महापुरुषों ने मैं का नाम 'अहं' रखा है। इन सबका अर्थ एक है और वह अर्थ ही परमात्मा है। अब समझने के लिए मैं का विवेक करते हैं, मैं अक्षर में तीन वस्तु मिली हुई हैं; एक शरीर, दूसरा नाम, जाति, वर्ण आदि, तीसरा अनुभव व ज्ञान।

अब इन तीनों में शरीर क्षणभंगुर है और नाम, जाति आदि कल्पित है। इसलिए दोनों मिथ्या और असत्य हैं, शेष जो अनुभव है वह सत्य है। जब 'मैं' से शरीर, वर्ण आदि को भिन्न किया तो शेष अनुभव मात्र रहता है, वही सत्य वस्तु है। इस प्रकार विवेक से संतों ने अहं, ॐ, सोहं अथवा मैं से राम को अर्थात् ब्रह्म को प्रकट किया है। अब भी इसी प्रकार विचार करने से परमात्मा की प्राप्ति होती है, क्योंकि परमात्मा सबका अपना आप है, किसी से भिन्न नहीं। अपने विचारने से परमात्मा मिलता है, इसलिए तुम स्वयं ही अक्षर हो, तुम्हारा स्वरूप ही अक्षर का स्वरूप है, तुम्हारा निशान ही अक्षर का निशान है। अपने को खोजो और राम को परखो।

प्रश्न ६३—मैं कौन हूँ ?

उत्तर—कौन का अक्षर मध्य से निवृत करो फिर जो शेष रहें, वह तुम हो।

प्रश्न ६४—क्या कर रहा हूँ ?

उत्तर—क्या का अक्षर विस्मरण करो, जो कर रहे हो, वही कर रहे हो।

प्रश्न ६५—क्या करना है ?

उत्तर—क्या का अक्षर विस्मरण करो शेष जो करना है सो करना है।

प्रश्न ६६—भूला कौन है और समझाने वाला कौन है ?

उत्तर—भूला भी आप है और समझाने वाला भी आप है। जैसे पुरुष सोता भी आप है और जागता भी आप है। वास्तव में न कोई भूला है और न कोई समझाने वाला है, केवल देह की उपाधि से यह दो भेद प्रतीत होते हैं। इसलिए जितने शरीर हैं, पंच भौतिक हैं और सारे शरीरों में दस इन्द्रिय और चार अन्तःकरण हैं, अन्तःकरण का धर्म ज्ञान और अज्ञान है। अन्तःकरण मानो अन्तःकरण को समझता है और अन्तःकरण अन्तःकरण को भुलाता है। चेतन सदा एक रस आप में आप स्थित है, न भूलता है और न समझता है। अन्तःकरण भूलता है और अन्तःकरण समझता है इसलिए कहा गया है कि भूला भी आप है और समझाने वाला भी आप है।

Scanned with CamScanner

प्रश्न ६७—संशय की उत्पत्ति कैसे होती है और निवृति किस प्रकार होती है ?

उत्तर—अन्तःकरण का जगत के साथ सम्बन्ध ही संशय की उत्पत्ति का कारण है। जगत् में अनेक धर्म, नाना कर्म, भिन्न-भिन्न शब्द, अगणित पुस्तक, विचित्र रचना और अनेक विषय हैं; जिनके सन्मुख होकर अन्तःकरण रूपी दर्पण नाना प्रकार के पदार्थों से प्रतिबिम्बित होता है। एक अन्तःकरण के सम्मुख अनेक पदार्थ होते हैं इसलिए अनेक संशय उत्पन्न होकर अन्तःकरण को विक्षिप्त और विपर्यय रखते हैं। जब सत्गुरु उपदेश द्वारा अन्तःकरण का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध होता है, तब संशय से शुद्ध होकर शांतवान होता है। क्योंकि ब्रह्म अद्वैत, एक और अपने समान आप है, इसलिये उसका प्रतिबिम्ब रूप ज्ञान भी अद्वैत है। अद्वैत वस्तु के सम्बन्ध से अन्तःकरण की वृति अद्वैत रूप रहती है। जिसका फल संशय की निवृति और शान्ति की प्राप्ति है। इसलिए अन्तःकरण को शुद्ध ब्रह्म के निरन्तर सम्मुख रखें।

प्रश्न ६८—मन किसके आधीन रहता है ?

उत्तर—यथार्थ दृष्टि से मन स्वतन्त्र है। अर्थात् अपने आधीन आप है और भेद दृष्टि से साक्षी के आधीन है।

प्रश्न ६९—मन को स्फुरण रूप सत्ता देने वाला कौन है ? यदि दूसरा है तो पाप और पुन्य का फल कौन भोगेगा ?

उत्तर—यथार्थ दृष्टि से मन पंचभूतों का अंश है और पाँचभूतों में समा जाता है, सत्ता स्फुरण रूप चेतन पंचभूत रूप होकर अपनी चेतनता को पसार रहा है। सत्ता स्फुरण ही सर्वरूप है। मन भी वही रूप है और कोई नहीं इसलिए मन स्वतन्त्र कहा गया है। पुण्य और पाप वास्तविक नहीं कल्पित हैं। कल्पित धर्म फलदायक नहीं होते। इसलिए पुण्य पाप का फल कोई नहीं भोगेगा। सत्ता सामान्य ज्यों की त्यों अपने आप में स्थित है। यदि लौकिक दृष्टि से देखें तो पुण्य पाप का स्वरूप केवल संकल्प है। संकल्प तब तक रहता है, जब तक प्राण का संयोग शरीर से रहता है। जब प्राण लीन हो जाते हैं तब संकल्प के भिन्न-भिन्न कर्म और धर्म अर्थात् पुण्य और पाप आदि भी लीन हो जाते हैं, केवल चिदाकाश निर्मल और स्वच्छ जैसा है वैसा रहता है। जिस प्रकार अग्नि के शान्त होने पर प्रकाश, ऊष्णता, दाह और धूम भी शान्त हो जाते हैं, केवल आकाश निर्मल और स्वच्छ रहता है।

प्रश्न ७०—संचित कर्म किसको कहते हैं ?

उत्तर—जो कर्म जन्म से होते रहते हैं उनके एकत्रित होने का नाम संचित कर्म है। अर्थ यह कि जिस दिन से मनुष्य उत्पन्न होता है, और जो-जो कर्म करता है, बहुत काल के उपरान्त वे कर्म संचित समझे जाते हैं। सब कर्म आदि अवस्था के किये हुए हैं, इसलिए लोगों में प्रसिद्ध हैं कि संचित कर्मों का फल भोग रहे हो। अर्थात् पहली आयु के कर्म, विद्या, गुण, वा चतुराई का फल पा रहे हो। यह यथार्थ सिद्धान्त है, इसके अतिरिद्ध कपोल कल्पना है।

प्रश्न ७१—जाग्रत अवस्था में जैसा-जैसा अज्ञानरूप व्यवहार होता है, निद्रा के समय वह स्वप्न में फुर आता है, वही वासना है। जब जाग्रत में कोई व्यवहार अथवा वासना नहीं

Scanned with CamScanner

और स्वप्न में दीर्घभूत काल का व्यवहार फुर आता है, यह वासना का बल है वा कुछ और है ? यद्यापि स्वरूप के साथ उसका सम्बन्ध नहीं तथापि ज्ञान की दृढ़ता के लिए पूछता हूँ।

उत्तर—स्वप्न जाग्रत का संस्कार नहीं, अपितु शरीर की अवस्था है। जब तक शरीर रहेगा, तब तक जाग्रत की न्याँई स्वप्न अवस्था भी रहेगी। इन अवस्थाओं के आने अथवा जाने में किसी प्रकार की हानि अथवा लाभ नहीं। यह तत्वों की अवस्था तत्वों में रहती है और रहेगी। यह प्रकृति का मर्यादा है। स्वरूप केवल सत्ता मात्र है। इसमें जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तरंगों के समान है। जैसे तरंगों का स्वभाव उत्पत्ति और लय है और अधिष्ठान जल का स्वभाव गम्भीरता और आप में आप स्थिति का है। ये दोनों स्वभाव स्थिर चले आते हैं वैसे ही स्वरूप में शरीर और शरीर भी अवस्था तरंगों के समान प्रवाह रूप होकर चले आते हैं। इनका भाव अथवा स्वरूप को व्यभिचारी नहीं करता किन्तु स्वरूप के रहकर स्वरूप में लीन हो जाता है। इसलिए जाग्रत और स्वप्न आदि अवस्था वास्तविक नहीं है। जो वस्तु वास्तव नहीं है। उसका बल अथवा कारण सोचना यथार्थ ज्ञान के विरुद्ध है। दूसरा, शरीर में वात, पित्त, कफ़ पूर्ण है। उनके बल से भी भिन्न-भिन्न संकल्प स्वप्न अवस्था में उठते रहते हैं। इस प्रकार भी स्वप्न अवस्था आप में कुछ सिद्ध नहीं हो सकती। केवल वात, पित्त, कफ़ का विलास है। जाग्रत आदि क्या जीना और मरना भी वात, पित्त, कफ़ का विलास है। एक शरीर का जीना और मरना तो क्या, विराट का समान और व्यभिचारी भाव भी वात, पित्त, कफ़ का विलास है। वात, पित्त, कफ़, पवन, अग्नि और जल के नाम हैं। और यह तीन तत्व, तीन शक्तियाँ चेतन की हैं। पवन क्रिया शक्ति है, अग्नि प्रज्ञा शक्ति है और जल विकास शक्ति है। इसलिए सब प्रपंच चिद्विलास अर्थात् चेतन का विलास है। इस दृष्टि से ज्ञानवान सर्वदा निःसंशय और गम्भीरमति रहते हैं।

प्रश्न ७२—सत्शास्त्रों में लिखा है कि जो सामग्री जाग्रत व स्वप्न में दृष्टि आती है, वह सुषुप्ति में नष्ट हो जाती है, किसी वस्तु के नाम रूप का सम्बन्ध, फुरना अथवा चिन्ता नहीं रहती। केवल आनन्द रूप अवस्था रहती है, परन्तु अज्ञानी उस आनन्द को मूढ़ता में भोगते हैं। इसमें यह शंका उत्पन्न होती है कि यदि सुषुप्ति अवस्था में स्मृति रही, तो वह सुषुप्ति अवस्था कही नहीं जा सकती। जाग्रत की जाग्रत ही रही, फिर उस अवस्था को मूढ़ अवस्था कहने का क्या प्रयोजन है ? विस्तार सहित कहने की कृपा करें।

उत्तर—इसका यह अर्थ नहीं कि सुषुप्ति अवस्था में ज्ञान होता है। इससे यह अर्थ है कि चौबीस घंटों में तीन अवस्थाएँ आती हैं। ये एक-दूसरे के विरोधी होती हैं। जाग्रत अवस्था में अन्तर और बाहर का संघात काम देता है, स्वप्न अवस्था में केवल अन्तर का संघात काम देता है और सुषुप्ति अवस्था में दोनों संघात अर्थात् अन्तर और बाहर का अभाव होता है। जब कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और अन्तःकरण मिलकर बाहर का कार्य करते हैं, इसका नाम जाग्रत है, जब अन्तर करते हैं तो स्वप्न है और जब कर्ता न हो केवल प्राण आता जाता रहे इसका नाम सुषुप्ति है क्योंकि ज्ञान-अज्ञान अन्तःकरण के धर्म है और अन्तःकारण सुषुप्ति अवस्था में अपने कारण में लीन हो जाता है, इसलिए शेष केवल सत्चित् आनन्द ही रहता है। अज्ञानी जाग्रत अवस्था

Scanned with CamScanner

में इस ज्ञान को प्राप्त नहीं कर चुके कि सुषुप्ति में हम कहाँ थे और कौन थे और किसके साथ एकत्रित थे ? इसलिए कहा गया है कि अज्ञानी इसको मूढ़ता में व्यतीत करते हैं। अन्यथा सुषुप्ति वह अवस्था है जिसमें शरीर, इन्द्रिय, प्राण अन्तःकरण की उपाधि से रहित होकर जीव केवल आनन्दघन होता है। इसलिए इस अवस्था में सावधानता अथवा ज्ञान का काम नहीं। जिस पुरुष ने जाग्रत अवस्था में सत्संग और सत्शास्त्रों की सहायता से यह निश्चय किया है कि जाग्रत अवस्था की तरह स्वप्न अवस्था में भी जब मैं सत्चित् आनन्द रूप हूँ, तो सुषुप्ति अवस्था में अवश्य ही सत्चित् आनन्द रूप हूँ, क्योंकि जाग्रत और स्वप्न अवस्था में जहाँ शरीर, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण की उपाधि सहित हूँ। अर्थात् मेरा स्वरूप केवल सत्चित् आनन्द है, तो सुषुप्ति अवस्था में जब सर्व उपाधियों का अभाव हो जाता है, मेरे सत्चित् आनन्द होने में क्या संशय है ? जाग्रत अवस्था में जब मैं उपाधि सहित प्रतीत होता हूँ मुझे विचार और सत्संग की पराधीनता रहती है और सुषुप्ति अवस्था में उपाधि से रहित होने से किसी साधन अर्थात् विचार से सत्संग की पराधीनता नहीं रहती। इसलिए जाग्रत और स्वप्न से सुषुप्ति अवस्था उत्तम है, क्योंकि जिस आनन्द को जाग्रत अवस्था में बहुत काल के अभ्यास और समाधि के उपरान्त प्राप्त किया जाता है, सुषुप्ति अवस्था में वह आनन्द निरायाम प्राप्त हो जाता है इसलिए सुषुप्ति अवस्था में मैं अपने आप में स्थित होता हूँ। इसी सुषुप्ति अवस्था को अभ्यास के बल से ज्ञानवान जाग्रत अवस्था में उत्पन्न करता है, क्योंकि इस अवस्था के बिना स्वरूप स्थिति का अनुभव नहीं होता। ऐसे निश्चय स्थिति और अपने ज्ञान के बल से वह जानता है कि मैं सुषुप्ति अवस्था में केवल आनन्दघन रूप हूँ। अज्ञानी यद्यपि नित्यप्रति आनन्द रूप ब्रह्म के एक साथ एकरूप होता है तथापि जानता नहीं कि मैं सुषुप्ति अवस्था में किस रूप को प्राप्त हुआ था, इसलिए उठकर फिर इसी कल्पित नाम, रूप, वर्ण, आश्रम और व्यवहार में लग जाता है, और अपने अज्ञान का दुःख आप पाता है। ज्ञानी सुषुप्ति के आने से पहले भी आनन्द रूप होता है और सुषुप्ति के उपरान्त भी आनन्द रूप होता है इसलिए त्रिधा अवस्था के बंधन से मुक्त होकर तुरिया रूप सिंहासन पर बिराजता है। इसलिए उचित है कि उक्त प्रसंग को निश्चय कर अपने संशय को निवृत करें।

प्रश्न ७३—यह क्या कारण है कि सुषुप्ति अवस्था में अविद्या बलवान हो जाती है और बहुत समय व्यर्थ हो जाता है। कृपा करके कोई ऐसी युक्ति वर्णन करें जिससे सुषुप्ति अवस्था में आनन्द बना रहे?

उत्तर—सुषुप्ति केवल आनन्द रूप अवस्था है। आनन्द के बिना इस अवस्था में और कुछ नहीं होता, परन्तु आनन्द को अनुभव करने वाली बुद्धि अपने कारण में लीन हो जाती है। इसलिये सामान्य जीव इस अवस्था को अविद्या रूप मानते हैं। वास्तव में यह अवस्था जाग्रत और स्वप्न से उत्तम है, क्योंकि सर्व उपाधियों से रहित केवल आत्मरूप अवस्था होती है। ज्ञानवान जाग्रत अवस्था में भी सुषुप्ति अवस्था का अभ्यास करते हैं कि जो आनन्द सुषुप्ति अवस्था में निर्यत्न प्राप्त होता है वही आनन्द जाग्रत अवस्था में भी प्राप्त रहे। जाग्रत अवस्था में जो आनन्द अधिक प्रतीत होता है, वह वृत्ति के सम्बन्ध से प्रतीत होता है परन्तु

Scanned with CamScanner

वह क्षणभंगुर है। सुषुप्ति अवस्था में जो आनन्द प्राप्त होता है वह वृत्ति के सम्बन्ध से रहित होता है और स्थिर है। इसलिए सुषुप्ति अवस्था का आनन्द जाग्रत अवस्था के आनन्द से उत्तम है। जाग्रत अवस्था में संतों के संग, शास्त्रों के विचार, स्वरूप के मनन और निदिध्यासन, मन के उपसम, ध्यान, समाधि, एकांत सेवन और मौन की सहायता वाँछित होती है और सुषुप्ति अवस्था में इन सब की सहायता के बिना स्वत:सिद्ध आनन्द रूप अवस्था होती है। आनन्दघन स्वरूप के बिना कोई वस्तु इस अवस्था में नहीं होती। इसलिए समग्र दिवस और रात्रि में यही अवस्था वास्तव और परमानन्द रूप है। अन्य दो अवस्थाएँ जाग्रत और स्वप्न कल्पित और विक्षेप्तारूप हैं। दिन भर का क्लेश और परिश्रम दो मुहूर्त की सुषुप्ति से निवृत हो जाता है। अब विचार करना चाहिए कि यह क्या आश्चर्य रूप अवस्था है जिसमें स्थित होकर अन्त:करण और इन्द्रियाँ तृप्त हो जाते हैं और जीव सब से अज्ञात होकर अपने आप में मग्न हो जाता है। मानों उस समय उस गति को प्राप्त होता है जो मन, चित्त, बुद्धि अहंकार से अगोचर है। भाव यह कि जीव परब्रह्म रूप होता है, परन्तु अज्ञानी इस अवस्था की महिमा को न जानकर सोचते हैं कि इसमें हमारा समय नष्ट हुआ है। नहीं' इसमें समय नष्ट नहीं हुआ किन्तु परमात्मा से मिलाप हुआ है और केवल परमात्म स्वरूप हुए हैं। जिस अवस्था को योगीश्वर योग अभ्यास से प्राप्त करना चाहते हैं और प्राप्त नहीं होती। वही सुषुप्ति अवस्था में योग आदि साधनों के बिना ऐसी परम गंभीर, परम तृप्त, परम शांत, परम मौन, परम निर्वाण और परम पवित्र रूप अवस्था सहज प्राप्त होती है। इसलिए सर्व संशयों को निवृत करके सुषुप्ति अवस्था का आराधन करना और इसी अवस्था को जाग्रत अवस्था में प्रकट कर केवल स्वरूप मात्र रहना उचित है। सब का रूप सत्य है और सत्य वस्तु देश काल वस्तु के भेद से परिवर्तित नहीं होती, सदा स्थित रहती है। इस रीति से जो स्वरूप जाग्रत में है वही स्वप्न में है और जो स्वप्न में है वही सुषुप्ति में है वही जाग्रत में है इसलिए तीनों अवस्थाओं में स्वरूप सत्य है। इतना भेद है कि जाग्रत में स्थूल शरीर, स्थूल इन्द्रिय, सूक्ष्म शरीर और अंत:करण सहित होकर अपनी चेतनता को अनुभव करता है और स्वप्न में केवल सूक्ष्म शरीर, सूक्ष्म इन्द्रिय और अन्त:करण सहित होकर अपनी चेतनता को अनुभव करता है। सुषुप्ति में स्थूल और सूक्ष्म शरीर, इन्द्रिय और अन्त:करण से रहित होकर अपने आप में मग्न होता है। तात्पर्य यह कि जाग्रत और स्वप्न में अनेकता से तदरूप होता है और सुषुप्ति में अद्वैत होता है। जीव का अनेकता के साथ बहुत काल से सम्बन्ध है, इसलिए एकता को प्रेय नहीं समझता। वास्तव में जाग्रत और स्वप्न सुषुप्ति के कार्य हैं और सुषुप्ति कारण है। अर्थात् वह अवस्था है जब सूक्ष्म सृष्टि, स्थूल सृष्टि, जीव ईश्वर, पुन्य, पाप, मैं, तू, बंधन, मोक्ष और दूसरे द्वन्द्व नहीं होते, केवल आत्मरूप अवस्था होती है। उसी अवस्था से स्वप्न और जाग्रत अर्थात् सूक्ष्म और स्थूल प्रपंच प्रकट होते हैं। इसलिए जाग्रत और स्वप्न कल्पित हैं और सुषुप्ति यथार्थ है। ऐसी यथार्थ अवस्था में इस कारण से विकल्प अथवा संशय उत्पन्न होता है कि अपने स्वरूप का सम्यक्ज्ञान नहीं है, केवल संकल्पसिद्ध आनन्द को आनन्द मानकर निर्विकल्प अवस्था को निरर्थक समझते हैं। पूर्वोक्त व्याख्या का निश्चय करना ही

Scanned with CamScanner

सुषुप्ति अवस्था में आनन्दरूप रहने की युक्ति है, और कुछ नहीं करना, केवल अपने-आपको तीनों कालों में एक रस समझना है।

दृष्टान्त—जैसे मनुष्य नदी में स्नान के लिए पानी में उतरता है तो डुबकी लगाने से पूर्व भी मनुष्य ही होता है और डुबकी लगाने के उपरान्त भी मनुष्य ही रहता है। अब सोचना चाहिए कि डुबकी के समय भी वह मनुष्य रहा अथवा कुछ और हो गया ? नहीं, वह मनुष्य ही रहा। वैसे ही सुषुप्ति के आने से पूर्व भी सत्‌चित् आनन्द रूप है और सुषुप्ति के उपरान्त भी सत्‌चित् आनन्द रूप है तो सुषुप्ति में क्या हुआ ? सुषुप्ति में भी सत्‌चित् आनन्द है। इस वार्ता को समझकर यह निश्चय दृढ़ रखना है कि सुषुप्ति अवस्था में केवल सत्‌चित् आनन्द रूप है। बुद्धि, जिसका धर्म-ज्ञान है, अपने कारण में लीन हो जाती है और वही बुद्धि जाग्रत अवस्था में वाणी के सहारे रहती है। मुझे खबर न रही, यह कहना बुद्धि का धर्म है। इस बेखबरी में आत्मा का अभाव सिद्ध नहीं होता किन्तु, यह सिद्ध होता है कि कोई सत्ता ऐसी शेष है जो इस बेखबरी को भी प्रकाश करने वाली थी और फिर ऐसी वस्तु थी जहाँ बुद्धि जाकर जड़ हो गई। इसलिए सिद्ध हुआ कि उस अवस्था में केवल स्वरूप ही होता है। ऐसी स्वरूप मात्र अवस्था में यह संशय करना कि समय व्यर्थ नष्ट होता है, उचित नहीं। इस संशय को निवृत्त कर सहज स्वभाव सुषुप्ति अवस्था में आनन्द का अनुभव करना उचित है। सुषुप्ति अवस्था वह शय्या है जिसपर विश्राम कर अपने-आप में मग्न होता है। स्वप्न अवस्था अन्तःपुर अर्थात् गृह है जिसमें अपनी शक्ति को पसार कर अन्तर ही अन्तर अपनी विभूति को देखता है। जाग्रत अवस्था बाजार है जहाँ शरीर रूप हट है, इन्द्रिय रूपी पात्र है, भिन्न-भिन्न विषय वस्तु है और जीव बनिया है, भिन्न-भिन्न व्यवहार और क्रत से इस बाजार की महिमा को उदित रखता है। जैसे बाजार के धंधों और गृह के व्यवहारों से थककर मनुष्य शय्या के ऊपर विश्राम करता है, वैसे ही जीव जाग्रत और स्वप्न के व्यवहारों से विक्षिप्त होकर सुषुप्ति रूपी खाट पर विश्रामी होता है। इसलिए सुषुप्ति अवस्था परम विश्रामरूप और परम शान्तरूप है। इस विचार को यह निश्चय करना है कि सुषुप्ति में स्वरूप भूलता नहीं किन्तु स्वरूपमात्र होता है। भूलना उस समय होता है जिस समय स्मृति भी होती है। जाग्रत में स्मृति अथवा स्मृति की इच्छा होती है। इसलिए स्वरूप के भूल जाने का भी भय होता है और सुषुप्ति में क्योंकि स्मृति नहीं होती इसलिए भूलना भी नहीं होता। इसलिए जाग्रत अवस्था का आनन्द सोपाधिक होने से नित्य नहीं और सुषुप्ति अवस्था का आनन्द निरूपाधक होने से नित्य है, ऐसे निरूपाध आनन्द को धार कर आनन्द रूप रहना ही परम रसमयी अवस्था है।

प्रश्न ७४—सुषुप्ति अवस्था में स्वरूप-अज्ञानता का कारण क्या है ?

उत्तर—इसका विस्तार सहित उत्तर ऊपर आ चुका है परन्तु संक्षेप में इतना और समझाया जाता है। सुषुप्ति अवस्था में ज्ञानवान अपने स्वरूप से अज्ञात नहीं होता। केवल अन्तःकरण और इन्द्रिय के अज्ञात होने से स्वरूप में अज्ञान का भ्रम होता है, अन्यथा स्वरूप सदा स्वयं प्रकाश, स्वतःसिद्ध और स्वस्थ है। जिस प्रकार दीपक सभा में जलता है तो भी

Scanned with CamScanner

प्रकाश करता है; निर्जन गृह में जलता है तो भी प्रकाश करता है। दीपक प्रकाश को त्याग-कर और किसी अवस्था में नहीं रहता, उसी प्रकार जाग्रत और स्वप्न में इन्द्रियों और अन्तः-करण की सभा में आत्मा प्रकाश करता है। सुषुप्ति में जब इन्द्रियाँ और अन्तःकरण लीन हो जाते हैं और हृदय-आकाश फुरने से रहित होता है, उस समय भी आत्मा प्रकाशमान होता है। आत्मा प्रकाश को त्यागकर किसी अवस्था में नहीं रहता। प्रकाश का अर्थ ज्ञान है अर्थात् त्रिधा अवस्था में आत्मा ज्ञान स्वरूप है; किसी भी अवस्था में आत्मा अज्ञान रूप नहीं होता। जब अत्मा में अज्ञान का अत्यन्ताभाव है, स्वरूप से अज्ञात हो जाने का क्या तात्पर्य है? स्वरूप तो हमारा आत्मा है और आत्मा ज्ञान स्वरूप है इसलिए हम सदा ज्ञान स्वरूप हैं, कभी अज्ञान स्वरूप नहीं होते। वह शंका आत्मा के अज्ञान से उत्पन्न हुई है। तुम अपने-आपको पहचानो। तुम स्वयं ही स्वरूप हो और फिर पूछते हो कि हम स्वरूप से क्यों अज्ञात हो जाते है? इसलिए निश्चय होता है कि तुम अपने-आपको कुछ और मानते हो और स्वरूप को अपने से भिन्न कुछ और मानते हो, यही अज्ञान है। तुम स्वयं ही स्वरूप हो और सदा आप में आप स्थित हो, अपने को आप कोई नहीं देखता, दूसरा होकर अपने को देखता है। जिस प्रकार मुख अपने को नहीं देख सकता, दर्पण के सम्मुख दूसरा होकर अपने आपको देखता है; उसी प्रकार सुषुप्ति में स्वरूप ही स्वरूप होता है। इसलिए यह ज्ञान भी नहीं होता कि मैं आत्मा हूँ या ब्रह्म हूँ, सत् हूँ या चित्त हूँ या आनन्द हूँ किन्तु आप ही आप होता है। जाग्रत या स्वप्न में शास्त्र या गुरुरूप दर्पण के सन्मुख अपने को दूसरा रूप होकर देखता अर्थात् जानता है। या अपनी वृत्ति में अपने विशेषण स्मरण कर अपने को देखता जानता और उसमें आनन्द मानता है। इसलिए यह देखना या जानना कल्पित, अनित्य और सोपाधक है। सुषुप्ति में हमारा जो स्वरूप है वह सत्य और निरूपाधक है, उसमें ज्ञान और अज्ञान दोनों नहीं बनते। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि सुषुप्ति अवस्था में हम अपने स्वरूप से अज्ञात नहीं होते किन्तु ऐसे पद में स्थित होते हैं कि आनन्द कहने योग्य नहीं बनता। इसलिए तुम इस संशय को निवृत्त कर सुषुप्ति अवस्था को निज अवस्था निश्चय करो। शरीर की रचना ऐसी है कि इसमें एक ही कारण से तीन अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं। अर्थात् पंचभूतों के सूक्ष्म अंश अन्न, जल, जठराग्नि, प्राण और हृदय में तीन अवस्थाएँ आती जाती हैं परन्तु इन तीनों अवस्थाओं या उन पंचभूतों के सूक्ष्म अंशों का जो अधिष्ठान है, उसमें व्यभिचार नहीं होता, वह सदा समान रहता है। जैसे आकाश में प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल होते हैं, परन्तु आकाश उन तीनों कालों में समान रहता है वैसे ही आत्मा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति में एक रस रहता है। क्योंकि आत्मा की रचना किसी कारण से नहीं केवल सत्तामात्र है जो सदा सत्य और स्थित है। ऐसी सत्ता को अपना-आप समझकर सर्व अवस्था के आने और जाने में समान रहना उचित है।

प्रश्न ७५—वेद-शास्त्र का वचन है और अपनी बुद्धि में भी यही निश्चय होता है कि परमात्मा में कोई संकल्प नहीं। सब अवस्था में सत्चित् आनन्द रूप होकर अपने स्वरूप में स्थित है। सुषुप्ति अवस्था में हमारी यही अवस्था होती है अर्थात् उस समय कोई संकल्प

Scanned with CamScanner

या फुरना नहीं होता। सत्चित आनन्द वहाँ भी स्थित है, इसलिए सुषुप्ति और तुरिया में क्या भेद हुआ ? यदि आप कहें कि सुषुप्ति उपाधि से उत्पन्न होती है तो जैसे उत्पत्ति होती है वैसे हो, परन्तु संकल्प तो नहीं होता ? जहाँ संकल्प का अभाव है वह तुरिया है या ब्रह्म स्वरूप है ?

उत्तर—निःसंशय सुषुप्ति अवस्था में कोईसंकल्प नहीं होता केवल आनन्द रूप अवस्था होती है, इसलिए यह अवस्था परमात्मरूप है। इसी अवस्था के ज्ञान का नाम तुरिया है। अर्थात् जाग्रत अवस्था में तत्वविचार या समाधि के आश्रय सुषुप्ति अवस्था को उत्पन्न करना तुरिया कहलाती है। तात्पर्य यह है कि सब संकल्पों से रहित होकर अपने-आप में स्थित होता है। इसलिए तुरिया और सुषुप्ति में केवल ज्ञान का ही भेद है अर्थात् सुषुप्ति अवस्था है और तुरिया उसका ज्ञान है।

यद्यपि शास्त्रों में सुषुप्ति अवस्था अज्ञान रूप कही है परन्तु यह वचन इन्द्रिय और अन्तःकरण को लेकर कहा गया है, स्वरूप के सम्मुख होकर नहीं कहा। अब स्वरूप को सम्मुख रखकर सुषुप्ति को तुरिया रूप सिद्ध किया जाता है। ज्ञानवान जाग्रत अवस्था से सुषुप्ति का अनुभव किया करते हैं और सुषुप्ति में जाग्रत रूप होकर बर्तते हैं। भाव यह जाग्रत अवस्था में इन्द्रियों और अन्तःकरण के होते हुए भी उनके सम्बन्ध से तत्व विचार के आश्रय मुक्त होकर अपने सत्चित् आनन्द स्वरूप में स्थिर रहते हैं और सुषुप्ति अवस्था में सब इन्द्रियाँ और अन्तःकरण से रहित होकर केवल सत्चित् आनन्द रूप हैं। इसलिए इन्द्रियाँ और अन्तःकरण की दृष्टि से जाग्रत में सुषुप्ति कही गई और स्वरूप की दृष्टि से सुषुप्ति में जाग्रत कही गई। वास्तव में दोनों अवस्थाओं सत्चित् आनन्द रूप है परन्तु इतना भेद है कि जाग्रत अवस्था में इन्द्रिय और अन्तःकरण के सम्बन्ध से अपना स्वरूप पूरा-पूरा भान नहीं होता। इसलिए उनको किसी-न-किसी साधन से दमन करना पड़ता है, और सुषुप्ति अवस्था में इन्द्रियाँ और अंतःकरण का सम्बन्ध नहीं रहता। अतः निर्यत्न ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है। जाग्रत से सुषुप्ति उत्तम है। जब सत्संग तथा सत्शास्त्र के आश्रय जाग्रत अवस्था में जानता है कि अब भी मेरा वही स्वरूप है जो सुषुप्ति अवस्था में था अर्थात् मैं इन्द्रिय और अन्तःकरण के सम्बन्ध से रहित केवल सत्चित् आनन्द रूप हूँ। इसी का नाम तुरिया है। अभिप्राय यह कि ज्ञान सहित जाग्रत अवस्था तुरिया है। ज्ञान उसी स्वरूप में है, जो सुषुप्ति में शेष रहता है। इसलिए सुषुप्ति और तुरिया एक ही हैं।

यदि विचार से देखें तो सुषुप्ति अवस्था स्वतः सिद्ध समाधि है। सामान्य जीवों को स्वतः सिद्ध वस्तु पर शान्ति नहीं होती और यत्नसिद्ध वस्तु को उत्तम मानते हैं। तत्वदर्शी स्वतः सिद्ध वस्तु को उत्तम जानकर शान्ति प्राप्त करते हैं और यत्न सिद्ध वस्तु को क्षण-भंगुर और निरर्थक मानकर उसके लिए फुरना भी नहीं उठाते हैं। इसलिए तत्वदर्शियों की दृष्टि को धारकर स्वतः सिद्ध समाधि पर संतुष्ट रहे।

दिन-भर में तीन अवस्थाएँ व्यतीत होती हैं सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत। सुषुप्ति अवस्था में स्थूल और सूक्ष्म सामग्री अपने कारण में लीन होती है केकल आनन्द धन, मन,

Scanned with CamScanner

चित्त, बुद्धि से अगोचर, वाणी से परे केवल आत्मरूप होता है। स्वप्न अवस्था में सूक्ष्म सामग्री कारण से प्रकट होकर प्रतीत होती हैं और सूक्ष्मरूप से चेतन के साथ तादात्म्य सम्बन्ध धारण कर स्थित रहती है। जाग्रत अवस्था में सूक्ष्म सामग्री स्थूल भाव को प्राप्त होती है और चेतन भी स्थूलता के सम्बन्ध से अपने को स्थूल मानता है। जब निज स्वरूप को खोज कर देखता है कि मैं केवल सत्ता मात्र चिदाकाश रूप हूँ मुझसे सूक्ष्म और स्थूल सामग्री का भाव और सम्बन्ध नहीं है तब सूक्ष्म और स्थूल सामग्री के होते हुए भी आपको केवल केवली रूप निश्चय करता है। फिर देखता है कि मुझमें स्वप्न, जाग्रत और सुषुप्ति तीनों नहीं हैं, क्योंकि स्थूल और सूक्ष्म सामग्री के भाव का नाम जाग्रत और स्वप्न है और स्थूल और सूक्ष्म सामग्री के अभाव का नाम सुषुप्ति है। मेरा स्वरूप भाव और अभाव से रहित है, इसलिए मैं इनतीनों अवस्थाओं के सम्बन्ध से न्यारा हूँ। इस ज्ञान का नाम तुरिया है। सुषुप्ति अवस्था में स्वरूप मात्र होता है, इसलिए जिज्ञासु की वृत्ति को स्थित करने के लिए सुषुप्ति को जाग्रत और स्वप्न से उत्तम कहा गया है, अन्यथा तीनों ही कल्पित हैं। जब ये तीनों ही कल्पित हैं तो इनकी अपेक्षा से जो तुरिया सिद्ध होती है वह भी कल्पित है। इस प्रकार जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरिया से उल्लंघित सत्य वस्तु अपने आप में स्थित है, यह दृष्टि यथार्थ है।

प्रश्न ७६—यदि चिद् आत्मा में यह जगत् अज्ञान कल्पित प्रतीत होता है तो यह जगत जीव-आत्मा में कल्पित है अथवा परमात्मा में ? यदि अंगीकार करें कि जीव-आत्मा में यह जगत् कल्पित है तो यह भी कहिए कि जगत् अनेक हैं वा एक हैं ? एक जगत् अनेक जीवों में कल्पित है ? वा एक-एक जीव में भिन्न-भिन्न जीव जगत् है ? एक जगत् सब जीवों में है ? अथवा जगत् कोई नहीं ? ये दोनों प्रकार नहीं बन सकते, क्योंकि इनमें अनेक दोष आते हैं ! यदि जगत् अज्ञान कल्पित आत्मा में कहें तो अज्ञान किसमें कल्पित है ? यदि कहें अज्ञान अपने में आप कल्पित है तो आत्माश्रय दोष आता है। यदि दूसरे अज्ञान में कल्पित कहें तो अन्यान्य दोष आता है। यदि तीसरा अज्ञान अंगीकार करें तो चक्र का दोष आता है। यदि चौथा माने तो अन्यान्यदोष आते हैं। यदि अज्ञान कल्पित न मानें तो अद्वैत की हानि होती है, यह जीव पक्ष में महादोष है। फिर जीव अन्तःकरण विशिष्ट को कहते हैं वा अंतः-करण उपहित को अथवा शुद्ध को ? यदि प्रथम पक्ष आप माने, तो जीव का स्वरूप कार्य होगा जगत् का अधिष्ठान न बनेगा। यदि उपहित को जीव मानें, तो अपना अधिष्ठान आप नहीं होता। जैसे अपने कन्धे पर आप कोई नहीं चढ़ सकता। यदि तीसरा पक्ष माने तो शुद्ध की हानि होगी। एक आत्म पक्ष आश्रय हो जाएगा। इस प्रकार आदि पक्ष को असिद्ध कर अब दूसरे पक्ष को असिद्ध करते हैं। यदि परम आत्मा में जगत् को अज्ञान कल्पित मानें तो कैसे बनता है ? शुद्ध परमात्मा में यह तम रूप जगत् कारण अज्ञान सहित नहीं बन सकता। इसमें श्रुति-प्रमाण हैं। ईश्वर माया विशिष्ट में अज्ञान सहित जगत् कल्पित होते हैं, वह भी महान् दोषों को प्राप्त होते हैं। इस शंका को निवृत करें।

उत्तर—यह जगत् ब्रह्म स्वरूप है। 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' ऐसा श्रुति कहती है। शास्त्रों

Scanned with CamScanner

में जो जगत् को अज्ञान कल्पित निरूपण किया है, उसका तात्पर्य यह है कि वास्तव में एक वस्तु है, उसमें जगत् कल्पना वस्तु के अज्ञान से है, अन्यथा जगत् कोई द्वितीय वस्तु नहीं। अद्वैत का अज्ञान ही द्वैत की प्रतीति है और द्वैत का अज्ञान ही अद्वैत की प्रतीति है। वास्तव में एक ही वस्तु अपनी महिमा में आप स्थित है। अज्ञान उसकी महत्ता, गम्भीरता और अद्वैत भाव का लक्षण है, द्वितीय वस्तु नहीं है। जैसे प्रचण्ड प्रकाश सूर्य की महिमा का लक्षण है और वही प्रकाश नेत्रों को सूर्य की ओर देखने से रोकता है। उसी प्रकाश को दिन नाम से बुलाते हैं। उस एक ही दिन में क्षण, पल, घड़ी, पहर, दिन, मास और वर्ष आदि हैं, सूर्य में सूर्य के बिना कोई वस्तु नहीं, क्षण से लेकर वर्ष तक सूर्य ही है। केवल प्रचण्ड प्रकाश जो उसकी महिमा का स्वरूप लक्षण है उसको नाना भाव से प्रतीत कराता है; उसी प्रकार सत्य वस्तु अद्वितीय, अच्युत अपने आप में स्थित है, यही उसकी स्फुरण रूप सत्ता-जगत्रूप होकर प्रतीत होती है। इस जगत् में ईश्वर, सूत्रात्मा, विराट; प्राज्ञ, तेजस, विश्व, माया, अविद्या, भूत भौतिक पदार्थ हैं। यह सब सत्ता स्फुरण रूप हैं। जब सत्ता स्फुरण रूप है सब जगत वस्तुरूप है। वह वस्तु नाम, संज्ञा, गुण, प्रमाण से रहित स्वयं स्थित है। ऐसी निष्कलंक वस्तु की महिमा अज्ञान है, वही जगत रूप होकर प्रतीत होता है। भाव यह कि जगत वस्तु रूप है। इस प्रकार अज्ञान और जगत को न जानना अज्ञान है। उस अज्ञान से जगत् द्वैतरूप होकर प्रतीत होता है, परन्तु द्वैत हुआ नहीं, क्योंकि शास्त्रों में अज्ञान स्वआसरे और स्व में कहा है। जैसे जल से सिवाल उत्पन्न होकर जल को ढकता है, या आकाश में नीलापन उत्पन्न होकर आकाश को ढँकता है। वास्तव में देखें तो सिवाल जल से भिन्न नहीं हैं किन्तु जल की गम्भीरता और स्थिति का लक्षण है और नीलिना भी आकाश से भिन्न नहीं है किन्तु आकाश की गम्भीरता और स्थिति का लक्षण है। उसी प्रकार अज्ञान शुद्ध वस्तु से भिन्न नहीं है किंतु उसकी गम्भीरता, अच्युतता, अद्वैतता और सतता का लक्षण है। इसलिए सिद्ध हुआ कि अज्ञान और जगत कोई वस्तु नहीं है, केवल सत्ता मात्र है। ऐसी सत्ता मात्र में कल्पित, कल्पित के कारण और कारण के आसरे का प्रसंग ऐसे हैं जैसे कोई कहे कि बांझ का पुत्र हिरन के सींग का शस्त्र लेकर आकाश को छेदन कर रहा है। इस प्रकार सर्व आध्यारोप त्याग कर यथार्थ और सम्यक् वचन लिखे गए हैं। यही वचन बुद्धि की स्थिरता का साधन है। इस-लिए स्थितप्रज्ञ और स्थिति के जिज्ञासु को प्रेय और इष्ट रूप हैं।

जीवात्मा में जगत की कल्पना और परमात्मा में जगत की कल्पना के दूषण यथार्थ हैं, क्योंकि जगत कल्पित नहीं है, जीवात्मा और परमात्मा दो नहीं हैं। जगत, जीवात्मा और परमात्मा एक ही वस्तु है; जैसे सागर, नदी और तरंग एक जलरूप ही हैं। जैसे घटा-काश, मठाकाश और महाकाश एक आकाशरूप हैं वैसे ही परमात्मा, जीवात्मा और जगत एक वस्तुरूप हैं।

अन्तःकरण विशिष्टि चेतन व अन्तःकरण उपहित चेतन में चेतन समान है, केवल अन्तःकरण ही विशेषण और उपाधिभेद से चेतन में भेद कल्पना करता है। वास्तव में चेतन न विशिष्ट है और न उपहित है; अन्तःकरण ही विशिष्ट और उपहित हैं, क्योंकि अन्तःकरण

Scanned with CamScanner

से वितरेक करने के अनन्तर चेतन निरुपाध और शुद्ध रहता है, यही जीव का वास्तव स्वरूप है। इसी प्रकार माया विशिष्ट चेतन और माया उपहित चेतन में चेतन समान है, विशेषण और उपाधि भेद से चेतन में दो संज्ञाएँ कल्पित हैं। ये दोनों संज्ञाएँ माया की हैं, क्योंकि माया ही विशेषण और उपाधिभेद से विशिष्ट और उपहित भाव को प्राप्त होती है। चेतन न विशिष्ट है, न उपहित है, केवल माया की उपाधि से विशिष्ट और उपहित के आरोप में आता है। माया से वितरेक करने के अनन्तर निरुपाध शुद्ध चेतन रहता है वही ईश्वर का वास्तव स्वरूप है। ऊपर सिद्ध हुआ है कि जीव शुद्ध चेतन रूप है और अब सिद्ध हुआ है कि ईश्वर शुद्ध चेतन रूप है। चेतन अद्वैत है उसमें जीव ईश्वर की कल्पना कोई नहीं। इसलिए जीव ईश्वर दोनों शुद्ध चेतन रूप होने से एक वस्तु हैं। यही वस्तु जगतरूप है, द्वैत का अत्यन्त अभाव हैं, यह परम गंभीर, परम पावन सिद्धान्त है और ब्रह्मानन्द के सब जिज्ञासुओं के लिए धारणीय है।

कल्पित वस्तु अधिष्ठान रूप होती है। वेदान्त का परम सिद्धान्त है कि जगत को कल्पित मानो तो भी अधिष्ठान बिना सिद्ध नहीं होता। यदि वास्तव में देखें तो शुद्ध में कल्पना का अत्यन्त अभाव है; शुद्ध के अज्ञान से कल्पना और कल्पित का ज्ञान होता है। अतएव कल्पना व कल्पित अज्ञान में हुए; इसलिये प्राचीन आचार्य जगत को अज्ञान का कार्य व अज्ञान में कल्पित कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जो वस्तु अज्ञान में कल्पित प्रतीत हो और अज्ञान की निवृत्ति के अनन्तर यथार्थ प्रतीत हो, वह वस्तु कल्पित नहीं कही जाती किन्तु यथार्थ कही जाती है। यथार्थ वस्तु सदा अद्वैत होती है। उसमें कल्पित कारण, अज्ञान और अधिष्ठान ये तीन पद नहीं बन सकते, इसलिये त्रिपुटी से रहित अद्वैत वस्तु स्वयं स्थित है, इस प्रकार विचार से निष्ठा दृढ़ करनी परम निर्वाण पद की प्राप्ति है।

दृष्टांत से रहित, संज्ञा से अतीत, उपमा से शून्य, दोष से शुद्ध, कल्पना से मुक्त, भेद से हीन एक वस्तु स्थित है यह तत्वदर्शियों का परम सिद्धांत है। यही सार रूप है, इसे धार-कर कपोल कल्पित वाद-विवादों से मौन रहना परम शांति और परम तृप्ति को प्राप्त करना है।

प्रश्न ७७—गीता के अनुसार यदि ईश्वर अनादि है, जीव भी अनादि है और तत्व भी अनादि है, तो जगत की उत्पत्ति किससे होती है और जगत का स्वरूप क्या है? ईश्वर रूप है वा जीवरूप है वा तत्वरूप है, कृपया वर्णन करें?

उत्तर—जब ईश्वर, जीव और तत्व तीनों अनादि हैं तो उत्पत्ति नहीं बन सकती, क्योंकि अनादि पद का अर्थ यह है कि जो वस्तु उत्पत्ति अथवा आदि से रहित हो, वह अनादि है। जब तीनों ही उत्पत्ति से रहित हैं तो किससे किसकी उत्पत्ति माने? इसलिए जगत् उत्पन्न नहीं हुआ। जब उत्पन्न नहीं हुआ तो उसका स्वरूप क्या कहें? इस रीति से जगत् न ईश्वर रूप है, न जीव रूप है और न तत्वरूप है। ये तीनों ही अनादि होने से एक स्वरूप हैं, इसलिए न कुछ उत्पन्न होता है और न कुछ नष्ट होता है; अद्वैत वस्तु अपने-आप में स्थित है। उस वस्तु के तीन विशेषण अर्थात् नाम हैं और वे तीनों एक रूप हैं। जिस प्रकार

Scanned with CamScanner

सत्चित् आनन्द अद्वैत वस्तु के विशेषण हैं उसी प्रकार जीव, ईश्वर और तत्व भी अद्वैत वस्तु के विशेषण हैं। ईश्वर सतरूप है, जीव चिद्रूप है और तत्व आनन्दरूप है। इसलिए जीव, ईश्वर और तत्व सत्चित् आनन्द रूप हैं और ये तीनों परस्पर अभिन्न हैं। जैसे अग्नि के विशेषण अर्थात् दाह, उष्ण और प्रकाश अभेद रूप हैं और ये अद्वैत अग्नि के विशेषण हैं। यद्यपि उनके नामों में भेद है, परन्तु उनकी सत्ता एक है, वैसे ही सत्रूप ईश्वर, चेतन रूप जीव और आनन्द रूप तत्व अद्वैत वस्तु के विशेषण हैं। यद्यपि उनके नामों में भेद है तथापि इनकी सत्ता एक है। क्योंकि अद्वैत वस्तु के विशेषण भी अद्वैत होते हैं। इस प्रकार से न कुछ उत्पन्न हुआ है, न किसी ने अपना स्वरूप बदला है और न कोई नष्ट होता है; अद्वैत सत्ता सदा अपने-आप में स्थित है।

प्रश्न ७८—शास्त्रों में आकाश को महत्तत्त का कार्य मानते हैं और वह महत्तत्त पंचभूतों का एकत्रित भाव है। जब आकाश महत्तत्त में भी है, फिर आकाश को महत्तत्त का कार्य मानना अयुक्त प्रतीत होता है। इस शंका का निवारण करें।

उत्तर—यद्यपि महत्तत्त में आकाश पूर्ण है तथापि आकाश के साथ दूसरे चार तत्त भी मिश्रित हैं। आकाश में चार तत्त स्थित हैं। क्रम से वे आकाश से प्रकट होते हैं। इसलिए आकाश का कार्य माने गये हैं। आकाश महत्त रूप होकर पाँचभूतों के एकत्र भाव का नाम है। इसमें चार तत्त क्रम से एक-दूसरे के कारण कार्य है। और आकाश इन पाँचों के एकत्र का कार्य है तात्पर्य यह कि महत्तत्त में आकाश अधिक है। इसमें शेष चार तत्त इस प्रकार गुप्त रहते हैं जैसे बीज में वृक्ष गुप्त रहता है और फिर उस बीज से वृक्ष प्रकट होता है बीज मानो वृक्ष का कार्य है और वृक्ष बीज का कार्य है। उसी प्रकार महत्तत्त बीज रूप हैं और आकाशवृक्ष रूप है। महत्तत्त का कार्य आकाश है और आकाश का कार्य महत्तत्त है, परन्तु जगत् में बीज को कारण कहते हैं और वृक्ष को कार्य कहते हैं। इसलिए महत्तत्त को कारण कहा गया है और आकाश को कार्य कहा गया है वास्तव में महत्तत्त ही महत्तत्त है, आकाश, पवन, अग्नि, जल, धरती उसके विशेषण हैं। पाँच विशेषणों सहित जो महत्तत्त हैं, वह अद्वैत है, स्वयं स्थित है, आप ही कारण है और आप ही कार्य है। जिज्ञासु को समझाने के लिए शास्त्रकारों ने अध्यारोप में कारण कार्य भाव निरूपण किया है, वास्तव में न कोई कारण है और न कोई कार्य है, अद्वैत सत्ता अपने-आप में स्थित है।

प्रश्न ७९—महत्तत्त को माया का कार्य मानते हैं किन्तु माया का जब कोई स्वरूप ही दृष्टि में नहीं आता तो वह पाँच तत्तों के एकत्र भाव अर्थात् महत्तत्त का कारण कैसे होगी, कृपा कर इस संशय का भी निवारण करें।

उत्तर—माया नाम शुद्ध सतोगुण अर्थात् ज्ञान का है, वह ज्ञान नित्य ही महत्तत्त से अभिन्न होकर रहता है। उसी ज्ञान के आसरे पाँचों तत्त अपनी-अपनी मर्यादा में प्रवृत्त रहते हैं। इसलिए महत्तत्त का कारण माया अर्थात् ज्ञान माना गया है। जिस प्रकार शरीर का कारण वीर्य है, यद्यपि वह वीर्य शरीर में रहता है, तथापि शरीर की उत्पत्ति वीर्य से होती है इसलिए शरीर वीर्य का कार्य है। उसी प्रकार माया अर्थात् ज्ञान महत्तत्त में रहता है

Scanned with CamScanner

और महत्तत्त की मर्यादा उसी के आसरे स्थित चली आती है, इसलिए माया का महत्तत्त को कार्य माना गया है। वह माया महत्तत्त से कहीं बाहर नहीं किन्तु महत्तत्त का स्वरूप है। जैसे वीर्य यद्यपि शरीर का कारण है, परन्तु शरीर से कहीं बाहर नहीं, शरीर का स्वरूप है और नित्य ही शरीर में रहता है, वैसे ही माया अर्थात् ज्ञान महत्तत्त का स्वरूप है और नित्य ही महत्तत्त में रहता है, इसलिए भिन्न होकर दृष्ट नहीं आता है।

प्रश्न ८०—माया को प्रकृति का कार्य मानते हैं। प्रकृति क्या वस्तु है और उसका स्वरूप क्या है? नेत्रों से प्रकृति का स्वरूप प्रतीत नहीं होता, इस सन्देह को भी निवृत्त करें।

उत्तर—प्रकृति नाम तीन गुणों की सम अवस्था का है जिसमें ज्ञान प्रकट होकर पाँच-भूतों को अपनी-अपनी मर्यादा में प्रवृत्त करता है। वे तीन गुण हैं—सतोगुण अर्थात् ज्ञान, रजोगुण अर्थात् कर्म, तमोगुण अर्थात् जड़ता। ये तीन गुण पाँच तत्तों के मध्य अभिन्न होकर रहते हैं। इन तीन गुणों की समता पाँच तत्तों को परस्पर एकत्र करके सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लयता में प्रवृत्त रखती है, इसलिए प्रकृति सबका कारण मानी गई है। यद्यपि माया का कारण प्रकृति को मानते हैं। क्योंकि वह माया महत्तत्त का कारण है इसलिए प्रकृति ही महत्तत्त का कारण है। माया प्रकृति का ज्ञान गुण है; यह ज्ञान ही कर्म और जड़ता का प्रवर्तक है, इसलिए ज्ञान को अधिक मानकर प्रकृति का कार्य कहा गया है। वास्तव में प्रकृति प्रवृत्ति रूप है, जितनी प्रवृत्ति पाँच भूतों में है वह प्रकृति रूप है अर्थ यह कि तीन गुणों की सम अवस्था है और वही सम अवस्था ही संसार की स्थापन कर्त्ता और वृद्धिकर्त्ता है; क्योंकि जब समता विषमता को प्राप्त होती है तब विलक्षण अवस्था उदय होती है। इसलिए प्रकृति कारण मानी गई है। भाव यह कि पाँच तत्तों में जो समता और एकत्रित है, वह प्रकृति है और नित्य ही तत्तों में रहती है और तत्तों का स्वरूप है। जैसे वात, पित्त, कफ़ की सम अवस्था शरीर की नीरोगता, स्थिरता और वृद्धि का कारण है और नित्य ही शरीर में शरीर से अभिन्न होकर रहती है। यदि कदाचित् वह समता विषम गति को प्राप्त हो जाती है तो शरीर की भी असम अवस्था हो जाती है। इसलिए वात, पित्त, कफ़ की सम अवस्था ही शरीर का कारण हैं और शरीर में बलरूप वीर्य की उत्पत्ति का कारण है। वैसे ही महत्तत्त रूप शरीर में सत, रज, तम अर्थात् ज्ञान, कर्म और जड़ता की सम अवस्था महत्तत्त की स्थिति और वृद्धि का कारण है और महत्तत्त में मायारूप वीर्य का कारण है इसलिए प्रकृति कोई भिन्न वस्तु नहीं; जो कुछ नेत्रों से भासता है वह प्रकृति है।

प्रश्न ८१—प्रकृति को ईश्वर की शक्ति मानते हैं। इसका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—ईश्वर नाम चेतन का है। चेतन के अर्थ सत्ता स्फुरण हैं। उसमें सत्ता स्वयं स्थित है और स्फुरण शक्ति ज्ञान, कर्म और जड़ता रूप होकर सत्ता को नानाभाव में प्रकट कर रही है। स्फुरण रूप शक्ति प्रकृति रूप है और सत्ता में स्थित है। सत्ता ही मानो स्फुरण रूप होकर अपने-आप में स्थित है। क्योंकि आचार्यों ने सत्ता को ईश्वर और स्फुरण को प्रकृति माना है। इसलिए प्रकृति को ईश्वर की शक्ति लिखा है, परन्तु शक्ति शक्तिमान से भिन्न नहीं किन्तु अभिन्न होती है। इसलिए प्रकृति ईश्वर से भिन्न नहीं किन्तु ईश्वर स्वरूप

Scanned with CamScanner

है। जब प्रकृति महत्तत्त स्वरूप है, तब महत्तत्त ईश्वर स्वरूप है अर्थात् सत्ता मात्र अपने में आप स्थित है। ईश्वर से धरती पर्यन्त सारे सत्ता के विशेषण हैं और सत्ता केवल चिदाकाश रूप है, इसलिए सारे चिदाकाश के नाम हैं, नाम क्या, चिदाकाशरूप हैं।

प्रश्न ८२—शास्त्रों में लिखा है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश एक-दूसरे के कारण कार्य हैं—यह वचन समझ में नहीं आता। कृपा करके निर्णय करें कि किस प्रकार यह तत्व एक-दूसरे के कारण कार्य है ?

उत्तर—आकाश स्वतः सिद्ध है न उत्पन्न होता है, न नाश होता है, केवल शून्य रूप अपने-आप में स्थित है। उसमें जो स्पन्द शक्ति अर्थात् फुरना है, वह पवन है इससे पवन आकाश का कार्य है और आकाश पवन का कारण है। पवन की स्पन्द शक्ति से जो उष्णता व प्रकाश प्रकट होता है वह अग्नि है इसलिए अग्नि पवन का कार्य है, और पवन अग्नि का कारण है। अग्नि की उष्णता से जो द्रवित रस मिलता है वह जल है, इसलिए जल अग्नि का कार्य है और अग्नि जल का कारण है। जल की द्रवता से जो गंध व कठोरता उत्पन्न होती है, वह पृथ्वी है। इसलिए पृथ्वी जल का कार्य है और जल पृथ्वी का कारण है। इस प्रकार यह तत्व एक-दूसरे के कारण कार्य है। आकाश में स्पन्द, स्पन्द में उष्णता, उष्णता में द्रवता और द्रवता में कठोरता स्थित है; इसलिए कठोरता द्रवता का रूप है, द्रवता उष्णता-रूप है, उष्णता स्पन्दरूप है और स्पन्द आकाश रूप है, इस प्रकार एक आकाश अपने आप में स्थित है।

द्वैत वस्तु का अत्यन्ताभाव है, इसलिए आकाश का नाम भी कल्पित है। अपेक्षा के बिना नाम सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए संज्ञा से रहित, नाम से अतीत अपेक्षा से शून्य सत्ता-मात्र स्थित है। जिज्ञासु को समझाने के लिए उसको चिदाकाश, पारब्रह्म और परमात्मा आदि कहते हैं। वास्तव में अशब्द और अगोचर पद हैं, ऐसे अगोचर पद में कारण और कार्य नहीं बन सकते। केवल बोध के लिए कारण और कार्य की युक्ति लिखी गई है। वास्तव में न कोई कारण है और न कोई कार्य है, सत्ता सामान स्वयं स्थित है, यह ज्ञान यथार्थ है। इसी ज्ञान को दृढ़ कर सब प्रपंच को सत्ता सामान निश्चय करना उचित है।

प्रश्न ८३— **॥ दोहा ॥**

अनुभव का और वेद का, भगवन कौन सम्बन्ध,
श्रुति, स्मृति और शास्त्र का, कहो विषय अनुबंध ?

उत्तर— **॥ दोहा ॥**

अनुभव अविद्ध अगाध के, वेद तरंग अनूप।
स्मृति, शास्त्र, पुराण, वच, केवल बूंद स्वरूप ॥ १ ॥
अनुभव एक अखंड अज, वेद शास्त्र बहुँ भांत।
वेद शास्त्र के ज्ञान से, होय न कबहुं शांत ॥ २ ॥
जब अनुभव में लीन हो, पावे अनुभव रूप।
तब प्रकटे निर्मल दशा, सत्ता मात्र अनूप ॥ ३ ॥

Scanned with CamScanner

अनुभव अस्तिमात्र है, नाम रूप है वेद।
नाम रूप के ज्ञान से, नाशे भेद प्रच्छेद ॥ ४ ॥
नाम रूप की कल्पना, भव जंजाल पछान।
नाम रूप से रहित जो, केवल पद निर्वाण ॥ ५ ॥
ताते पूरण पुरुष नित, विचरे होय असंग।
नाम रूप भव वेद का, गहे न रंचक रंग ॥ ६ ॥
केवल अनुभव मात्र नित, चिदाकाश चिद रूप।
द्वन्द भेद प्रच्छेद ते, रहित अवाच अनूप ॥ ७ ॥
निज स्वरूप सर्वातमा, नित्य प्राप्त निर्वाण।
निरावरण अपरोक्ष अति, हेमां अनुभव ज्ञान ॥ ८ ॥

प्रश्न ८४—वेद का अर्थ क्या है ?

उत्तर—जानने योग्य को वेद कहते हैं। तात्पर्य यह कि जिसको जाना जाए वह वेद है।

प्रश्न ८५—जानने योग्य वस्तु क्या है ?

उत्तर—जो ज्ञान का विषय है वह जानने योग्य है अर्थात् जिसको ज्ञान विषय कर सकता है वह ही ज्ञेय, अथवा वेद जानने योग्य है।

प्रश्न ८६—ज्ञान का विषय कौन वस्तु है ?

उत्तर—भूत विषय होकर इन्द्रिय द्वारा ज्ञात होते हैं, अतः वह ज्ञान का विषय हैं।

प्रश्न ८७—जगत में जो वेद प्रसिद्ध हैं, वे कौन हैं ?

उत्तर—धरती, जल, अग्नि, पवन, वेद अर्थात् ज्ञान का विषय अथवा जानने योग्य हैं।

प्रश्न ८८—लोगों में तो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद प्रसिद्ध हैं और उनमें भी भिन्न-भिन्न प्रसंग हैं; ऋग्वेद में उत्पत्ति, यजुर्वेद में हवन आदि कर्म, सामवेद में प्रेमाभक्ति और अथर्ववेद में ज्ञान निरूपित हैं। आप धरती, जल अग्नि और पवन को वेद कहते हैं इसमें विरोध प्रतीत होता है, कृपा कर इस विरोध को भी निवृत्त करें ?

उत्तर—ऋग्वेद में जो सृष्टि की उत्पत्ति का प्रसंग है वह उत्पत्ति धरती में हो रही है इसलिए ऋग्वेद धरती का प्रतिपादक है और धरती रूप है। यजुर्वेद से जो हवन और यज्ञ आदि का निरूपण है, उनका फल मेघ आदि की वर्षा है इसलिए यजूर्वेद जल का प्रतिपादक है और यजुर्वेद जल रूप है। सामवेद में जो प्रेम का प्रसंग है, वह अग्नि रूप है क्योंकि सारे जगत में रूपवान वस्तु अग्नि है और प्रेय रूप है इसलिए सामवेद अग्नि का प्रतिपादक होने से अग्निरूप है। अथर्ववेद में ज्ञान का प्रसंग है, वह ज्ञान शब्द से प्रकट होता है। और शब्द पवन से प्रकट होता है, तात्पर्य यह कि जब पवन का आकाश के साथ सम्बन्ध होता है, तब ज्ञान उदय होता है इसलिए अथर्ववेद पवन का प्रतिपादक होने से पवन रूप है। इस रीति से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद धरती, जल, अग्नि और पवन के प्रतिपादक होने से धरती, जल, अग्नि और पवन रूप हैं। तात्पर्य यह कि वेद जो कागज़ों पर लिखे हुए हैं वह केवल व्याख्यान हैं और जिन वस्तुओं का व्याख्यान है वह वस्तु यही हैं जिनको शास्त्रों वाले

Scanned with CamScanner

भूत अथवा तत्व कहते हैं इसलिए यह वेद केवल तत्वों के प्रतिपादक हैं वास्तव वेद तत्त्वैव

प्रश्न ८९—आकाश भी तत्व है, उसका वेदों में वर्णन नहीं आया, इसका क्या कारण है?

उत्तर—आकाश पूर्ण है और चार तत्वों का पितामह है। अर्थ यह कि चार तत्व अर्थात् पवन, अग्नि, जल, धरती इसी में रहते हैं और इसी का स्वरूप है इनकी सारी चेष्टाएँ आकाश में होती है। इसलिए आकाश भिन्न वस्तु नहीं किन्तु सब के साथ अभिन्न है इसलिए धरती, जल, अग्नि और पवन के निर्णय में आकाश का निर्णय है। आकाश ही पवनरूप है, पवन ही अग्निरूप है, अग्नि ही जलरूप है और जल ही धरतीरूप है इसलिए सर्व ही आकाश-रूप है, आकाश अद्वैत रूप अपनी महिमा में आप पूर्ण है। इसलिए परम ब्रह्मरूप है और चार वेद रूप चार तत्वों का अधिष्ठान हैं।

प्रश्न ९०—आकाश क्या है ?

उत्तर—नित्य, सत्य, पूर्ण और शून्य विज्ञान है; क्योंकि आकाश का शाब्दिक अर्थ शून्य है। अभिप्राय यह कि जिसमें किसी भी प्रकार की कल्पना रूप मल न हो और जिसका आदि और अन्त न हो, केवल अनादि, अनन्त; पूर्ण और विस्तीर्ण रूप हो, वह आकाश है। सब के अन्दर बाहर पूर्ण है, सदा असंग और निर्विकार है, इसलिए उपासना के निमित्त उसका नाम चिदाकाश, पूर्ण ब्रह्म स्थापित किया गया है। वास्तव में जो कुछ है वह यही आकाश है। पवन, अग्नि, जल, पृथ्वी सब इसी के आसरे हैं। उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय इसी में होती हैं, यह सदा एक रस अपनी अवस्था में स्थित है। ऐसी असंग और अनाम वस्तु को ज्ञान के लिए आकाश के नाम से कहते हैं। इसमें अक्षर और संज्ञा की समाई नहीं, केवल केवलीरूप अपने-आप में स्थित है। आकाश का नाम भी इसका अंश है। क्योंकि शब्द आकाश की तनुमात्रा है। आकाश के बिना शब्द सिद्ध नहीं होता। इसलिए आकाश का नाम भी आकाशरूप है। जगत् में जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के प्रतिपादक वेद, शास्त्र और पुराण प्रसिद्ध हैं, वह केवल शब्दरूप हैं। शब्द आकाशरूप है, इसलिए सब आकाशरूप हैं। इसलिए अद्वैत आकाश अपने-आप में स्थित है और आकाश की कल्पना से भी मुक्त केवल केवलीरूप है।

प्रश्न ९१—वेदों के समझने से क्या सिद्ध होता है ?

उत्तर—अद्वैत सिद्धान्त। अर्थात् यह सिद्ध होता है कि एक वस्तु अपने-आप में स्थित है और वह चिदाकाश रूप है, चार उसके विशेषण हैं : एक चेतन जिसे पवन कहते हैं; दूसरा प्रकाश जिसे अग्नि कहते हैं; तीसरा सर्वात्मरूप जिसे जल कहते हैं, चौथा स्थिति जिसे धरती कहते हैं। ये चार विशेषण एक ही वस्तु के हैं, इसलिए चारों अभेद रूप हैं और यही चारों वेदरूप अर्थात् जानने योग्य हैं और इनके जानने से केवल अद्वैत सिद्धान्त सिद्ध होता है। इसलिए अद्वैत सिद्धान्त ही वेद का तात्पर्य है।

प्रश्न ९२—अद्वैत सिद्धान्त से क्या फल प्राप्त होता है ?

उत्तर—कृतकृत्यता। अर्थात् निश्चलता, शान्ति, समता और मुदता प्राप्त होती है, करने योग्य, देखने योग्य और प्राप्त करने योग्य कुछ नहीं रहता। वस्तु ज्यों की त्यों प्रतीत

Scanned with CamScanner

हो जाती है।

प्रश्न ९३—आगे कोई जन्म है वा नहीं ?

उत्तर—तत्ववेत्ताओं का यही निश्चय है कि अद्वैतनिष्ठा के पश्चात् आगे कोई जन्म नहीं।

प्रश्न ९४—यदि जन्म नहीं तो ज्ञानी और अज्ञानी में क्या भेद है ?

उत्तर—ज्ञानी और अज्ञानी में इतना भेद है कि ज्ञानी जानता है कि आगे कोई जन्म नहीं, इसलिए निर्भय होकर आनन्दवान रहता है। अज्ञानी जानता है कि आगे जन्म है, इस-लिए भयभीत होकर शोकायन रहता है और उसकी निवृत्ति के लिए नाना प्रकार के कष्ट सहारता है परन्तु उसका संशय नष्ट नहीं होता। जब ज्ञानवान के संग से उसे ज्ञान होता है कि आगे जन्म कोई नहीं। यह संशय केवल अज्ञान में था। तब उसका भ्रम निवृत्त हो जाता है। जब तक ज्ञान नहीं होता तब तक अपने संशय से आप खेद पाता है। वास्तव में उसका भी जन्म कोई नहीं क्योंकि स्वरूप सबका समान है। ज्ञान अज्ञान कल्पित हैं। ज्ञान अज्ञान का सम्बन्ध न शरीर के साथ और न आत्मा के साथ है। केवल सुने हुए वचनों का फल ज्ञान अथवा अज्ञान है; इसलिए ज्ञान और अज्ञान भेद को उत्पन्न नहीं कर सकते। शरीर दिशा में मध्यभावी संशयों की निवृत्ति केवल ज्ञान से होती है। इससे ज्ञानवान निःसंशय होकर सुखी रहता है और अज्ञानी से उत्तम गिना जाता है। वास्तव में दोनों समान हैं, आदि और अन्त में इनकी गति एक है और मध्य में शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण, प्राण और चेतन दोनों में समान है। केवल वचनों का भेद है, वह वचन आकाशरूप होने से शून्यरूप हैं; इसलिए उनका फल जो भेद है वह भी शून्यरूप हैं; शून्य के अर्थ कुछ नहीं हैं, इसलिए भेद कुछ नहीं।

प्रश्न ९५—शास्त्रो में पूर्व जन्मों का निर्णय अज्ञानी के लिए वर्तमान शरीर के उप-रान्त बन्धन सिद्ध होता है—उसका क्या तात्पर्य है ? कृपया इस संशय को निवृत्त करें ?

उत्तर—शास्त्रों में प्रारब्ध और पुरुषार्थ का भेद निरूपण करने के लिए पूर्व जन्मों का निर्णय है। ये दोनों अक्षर अज्ञानी के निश्चय में हैं, इसलिए उसके निश्चय को लेकर इन दोनों का अभेद सिद्ध किया गया है। भाव यह कि पूर्व और वर्तमान को समान किया गया है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि पूर्व जन्म है परन्तु यह सिद्ध होता है कि पूर्व जन्म कोई नहीं। जब उद्यम के बिना कुछ प्राप्त नहीं होता तो पूर्व जन्म केवल नाममात्र है। अज्ञानी को दुःख के समय किसी प्रकार से धैर्य नहीं आता। जब उससे कहा जाता है कि तुम्हारी प्रारब्ध अर्थात् पूर्व कर्म ऐसे थे, उस समय वह मौन हो जाता है और धैर्य धारण करता है। इसलिए पूर्व कर्म अथवा प्रारब्ध आचार्यों ने केवल धैर्य के लिए स्थापित किए हैं वास्तव में कुछ नहीं।

पूर्व जन्म से प्रयोजन पूर्व आयु का है। भाव यह कि पूर्व आयु का पुरुषार्थ वर्तमान में फल देता है। बाल अवस्था का पढ़ा हुआ युवा और वृद्ध अवस्था में फल देता है। युवा का कमाया हुआ वृद्धावस्था में सुख देता है। पूर्व मास का कृत कर्म भविष्य मास में लाभ का अधिकारी बनाता है। पूर्व वर्ष का बोया बीज वर्तमान में काटने के योग्य होता है। जैसे सब पूर्व कर्म वर्तमान में लाभ दे रहे हैं और वर्तमान के कर्म भविष्य में लाभ देंगे, जैसे रात्रि के

Scanned with CamScanner

समय सुषुप्ति अवस्था में शरीर की अवस्था अत्यन्त ही जड़रूप होकर मृतक के समान हो जाती है किन्तु दिन में जन्म नवीन प्रतीत होता है और पूर्व दिन के कर्म काम आते हैं। इस प्रकार पूर्व दिन को पूर्व जन्म, आज के दिन को वर्तमान जन्म और भविष्य के दिन को भविष्य जन्म माना गया है; इसके बिना जन्म और कोई नहीं। इस वार्ता को इस प्रकार समझकर चित्त से इस संशय को निवृत करें।

शास्त्रों में जो संचित, प्रारब्ध और आगामी व क्रियमान कर्मों का निर्णय है, वह केवल उनको मिथ्या सिद्ध करने के लिये है। सत्य सिद्ध करने के लिये नहीं! यदि कर्म सत्य होते तो केवल ज्ञान से कभी भी नष्ट न होते। जो वस्तु ज्ञान से नष्ट होती है, वह मिथ्या होती है। सत्य वस्तु ज्ञान से भी नष्ट नहीं होती और अज्ञान से भी नष्ट नहीं होती। जो वस्तु अज्ञान से प्रतीत हो और ज्ञान से नष्ट हो जाती हो, वह मिथ्या होती है। कर्म तो अज्ञान में प्रतीत होते हैं और ज्ञान से नष्ट हो जाते हैं, इसलिये कर्म मिथ्या हैं। इसे सिद्ध करने के लिये कर्मों का निर्णय किया गया है जिससे जिज्ञासु के हृदय से कर्मों का भ्रम निवृत हो। जिस प्रकार रज्जु में सर्प का भाव रज्जु के अज्ञान से है। जब रज्जु का ज्ञान होता है, तब सर्प ज्ञान नष्ट हो जाता है इसलिये निश्चय होता है कि सर्प ज्ञान मिथ्या था। वह केवल ज्ञान से नष्ट हो गया। यदि सत्य होता तो किसी उपाय से निवृत न होता। उसी प्रकार आत्मा में जो कर्म प्रतीत होते हैं, वह आत्मा के अज्ञान से प्रतीत होते हैं। जब आत्मा का ज्ञान हो जाता है, तब कर्म नष्ट हो जाते हैं। यदि कर्म सत्य होते तो अपने आपको जानने से भी नष्ट न होते क्योंकि नष्ट हो जाते हैं, इसलिए मिथ्या हैं। मिथ्या वस्तु सत्य वस्तु को विकारी नहीं कर सकती, इसलिये मिथ्या कर्म सत्य आत्मा को जन्म मरण में नहीं ला सकते। जैसे मिथ्या मृगतृष्णा का जल पृथ्वी को गीला नहीं कर सकता, वा मिथ्यास्वरूप रज्जु को विषधर नहीं कर सकता, उसी प्रकार मिथ्या कर्म सत्य आत्मा को विकारी नहीं कर सकते। यदि अज्ञान से कर्म सत्य भी प्रतीत हो रहे हैं तो भी सत्य नहीं है। जिस प्रकार बालक को अपना प्रतिबिम्ब सत्य प्रतीत होता है परन्तु सत्य होता नहीं, उसी प्रकार अज्ञानी यद्यपि कर्मों को सत्य भी देखता है तथापि वह सत्य नहीं होते और न उसके आत्मा को विकारी कर सकते हैं। इस प्रकार यह कर्म मिथ्या हैं। जब कर्म मिथ्या हैं तो इनका फल जन्म मरण भी मिथ्या है। दूसरा संचित कर्म के अर्थ पूर्व आयु के कर्म हैं, प्रारब्ध कर्म के अर्थ वर्तमान आयु के कर्म हैं और आगामी व क्रियमान कर्म के अर्थ भविष्य आयु के कर्म हैं। जैसे पूर्व वर्ष का बोया वर्तमान में काम आता है और वर्तमान का बोया भविष्य में काम आयेगा, उसी प्रकार एक पुरुष की आयु में पूर्व, वर्तमान और भविष्य का भेद है, इसी को तीन प्रकार के कर्म कहते हैं। जब यह ज्ञान हुआ, तब संशय नष्ट हो जाते हैं। जब संशय नष्ट हुआ तब कल्याण है।

कर्म और शरीर एक वस्तु के दो नाम हैं, कर्म शरीर के बिना सिद्ध नहीं हो सकता और शरीर कर्म के बिना स्थित नहीं रह सकता इसलिये शरीर और कर्म एक वस्तु हैं। जब शरीर का नाश हो जाता है, तब कर्म भी नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि कर्म के कर्त्ता और स्थान केवल इन्द्रियाँ और शरीर हैं। जब इन्द्रियाँ और शरीर अपने-अपने कारणों में समा जाते

Scanned with CamScanner

हैं, तब इनका कर्म भी समा जाता है। जब कर्म ही न रहा तो उसका फल क्या मिलेगा? इस रीति से भी कर्म में जन्म और मरण की समर्थ नहीं।

आत्मा पूर्ण है और एक है यदि आत्मा को परिच्छिन्न और अनेक मानें तो जन्म मरण सिद्ध भी हो परन्तु ऐसा नहीं। आत्मा पूर्ण और एक है, शरीर उसमें कल्पित है। जैसे महाकाश में अनेक घट होते हैं और एक ही आकाश सब घटों में पूर्ण होता है। यद्यपि घट के आने-जाने से आकाश भी आता-जाता प्रतीत होता है परन्तु आकाश स्थित है। किसी कर्म का कर्त्ता नहीं। न घट के उत्पन्न होने से उत्पन्न होता है और न नाश होने से नष्ट होता है, सदा अपने आप में स्थित है। उसी प्रकार आत्मा पूर्ण और एक है, यद्यपि शरीरों में अनेक प्रतीत होता है तथापि अनेक नहीं होता, क्योंकि निराकार वस्तु खंड-खंड नहीं होती, सदा अखंड रहती है। इसलिये अनेक शरीरों के होते हुए भी आत्मा अनेक नहीं हुआ, केवल अद्वैत रूप है। यद्यपि शरीर की क्रिया से आत्मा में क्रिया प्रतीत है तथापि पूर्ण वस्तु सदा अक्रिय अर्थात् क्रिया से रहित होती है। आत्मा पूर्ण और अव्यय है अर्थात् अखंड और निराकार है इसलिये उसमें किसी प्रकार का कर्म सिद्ध नहीं हो सकता। जब कर्म ही सिद्ध नहीं तो उनका फल किस प्रकार सिद्ध होगा? इस रीति से आत्मा कर्मों से शुद्ध अपने आप में स्थित है।

आत्मा केवल ज्ञान स्वरूप है अर्थात् ऐसा ज्ञान है जिसमें ज्ञान और अज्ञान की कल्पना नहीं। ऐसे स्वयं प्रकाश रूप में ज्ञान और अज्ञान से बंधन और मुक्ति को मानना उचित नहीं। इसलिये सब संशयों को निवृत कर यही निश्चय करें कि आत्मा सदा अपने आप में स्थित है; न कोई ज्ञानी है और न अज्ञानी। और यदि हैं तो दोनों स्वरूप से समान हैं।

प्रश्न ९६—अदृष्ट का फल मिलता है या विचार और विवेक से फल निवृत हो जाता है? यदि निवृत हो जाता है तो बिना भोगने के नष्ट हो जाता है या केवल मन ही लाभ अथवा हानि उठाता है? यदि अदृष्ट का भोग आवश्यक है तो शुभ अशुभ कर्म और उनका फल जन्म मरण सिद्ध हुए?

उत्तर—प्रथम यह समझना उचित है कि अदृष्ट किसे कहते हैं। अदृष्ट नाम उस वस्तु का है जो दृष्ट न आवे। जो वस्तु दृष्ट नहीं आती वह केवल मन से कल्पित होती है, ऐसी कल्पित वस्तु को सत्य प्रतीत करना यथार्थ ज्ञान के विरुद्ध है। जो अदृष्ट स्वयं ही कल्पित है तो उसका फल किस प्रकार सत्य होगा।

अज्ञानी जन वास्तव स्वरूप के ज्ञान से अज्ञात शरीर को अपना आत्मा निश्चय करते हैं। शरीर के बिना अपने-आपको कुछ नहीं मानते। शरीर की अवस्था भिन्न-भिन्न और परिवर्तनशील है। कदाचित् वात, पित्त और कफ़ से इसमें क्लेश रहता है, कभी सम्बन्धियों के संयोग वियोग से इसमें सुख व दुःख रहता है। कभी गृह, वित्त और दूसरे पदार्थों के हानि-लाभ से चित्त क्षुब्ध होता है। इसलिए अज्ञानी मन की दृढ़ता के लिए कोई न कोई निमित्त आरोपित करके दुःख के समय अपने चित्त को धीरज देता है। वेद-शास्त्र और पुराण मानने वालों के निश्चय में शुभ अशुभ कर्म ही सुख-दुःख का हेतु है, इसलिए शुभ अशुभ कर्म को अदृष्ट मानते हैं। उनके वचनों को सुनकर सामान्य बुद्धि के जीव भी उसी प्रकार निश्चय

Scanned with CamScanner

करते हैं। न्याय विचार से सत्य और असत्य को जाँचते नहीं। इसलिए मिथ्या आरोपण से बँधे शरीर पर्यन्त की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं से अपने आपको परिवर्तित, दुःखी अथवा सुखी मानते हैं। यह उनका अज्ञान है।

प्रकृति की मर्यादा गुप्त रीति से अपनी प्रवृत्ति में प्रवृत्त हो रही है, भविष्य काल का ज्ञान किसी को नहीं कि क्या होना है इसलिए परावरदर्शी प्रकृति की प्रवृत्ति को अदृष्ट कहते हैं और जैसे उसकी प्रवृत्ति होती है वैसे यथार्थ मानकर धैर्य सहित काल को व्यतीत करते हैं, शुभ और अशुभ कर्मों की आरोपना नहीं करते। यदि प्रकृति की मर्यादा को अदृष्ट मानें तो यथार्थ है। इसके बिना जो निश्चय है, वह अज्ञानियों का है, सम्यक् ज्ञानो उसको नहीं मानते।

तरंग के व्यवहार को समुद्र में आरोपित कर समुद्र को सुखी अथवा दुःखी देखना सम्यक् ज्ञान के अत्यन्त ही विपरीत है। इसी प्रकार शरीर के व्यवहार को चेतन में आरोपित करके चेतन को सुखी अथवा दुःखी देखना सम्यक् ज्ञान के अत्यन्त ही विरुद्ध है। जब शरीर स्वयं ही कल्पित है तो उसके कर्म सत्य रूप आत्मा को फल का भोक्ता पुण्य-पाप व जन्म-मरण के आधीन कैसे करेंगे ? आत्मा न कर्मों का कर्ता है और न फल का भोक्ता है, केवल आकाश रूप अपने आप में स्थित है। आत्मा-अखंड है, शरीरों से खंड-खंड नहीं हुआ, यदि खंड-खंड हो तो एक शरीर के कर्मों से एक आत्मा को दुःखी और दूसरे शरीर के कर्मों से दूसरे आत्मा को सुखी माने, परन्तु खंड-खंड होने वाली वस्तु साकार होती है, निराकार वस्तु किसी प्रकार खंड-खंड नहीं होती, सदा अखंड और अच्युत रहती है। जैसे घटों की अनेकता से आकाश खंड-खंड नहीं हुआ और न घटों की भिन्न-भिन्न चेष्टा से आकाश कर्मों का कर्ता अथवा फल का भोक्ता माना गया है, ज्यों का त्यों अक्रिय और स्वच्छ है। उसी प्रकार चेतन भी शरीरों की अनेकता से खंड-खंड नहीं हुआ और न शरीरों की भिन्न-भिन्न चेष्टा से कर्मों का कर्ता और फल का भोक्ता है। ज्यों का त्यों अक्रिय और अखंड है। ऐसे अखंड स्वरूप में शुभ अशुभ कर्म और उनके फल जन्म और मरण प्रतीत करने ऐसे हैं जैसे सूर्य के होते अंधकार को देखना। इसलिए शरीर की चेष्टा से पूर्ण वस्तु में संशय उत्पन्न करना ज्ञान की अदृढ़ता का लक्षण है। दृढ़ अपरोक्ष ज्ञानी खड्ग से शरीर के खंड-खंड होने पर भी चिदाकाश को खंड-खंड हुआ नहीं मानते। अथवा अग्नि से शरीर को भस्म हुआ देखकर भी चेतनाकाश को भस्म हुआ नहीं मानते। अथवा बर्फ से शरीर को गला हुआ देख कर भी चेतन आकाश को गला हुआ निश्चित नहीं करते। अथवा नाना प्रकार के रोगों से शरीर को ग्रसा हुआ देखकर भी चिदाकाश ग्रसा हुआ प्रतीत नहीं करते। मूर्ख अज्ञानी बाहर के व्यवहारों से भी अपने शुभ अशुभ कर्मों को आरोपित कर अपने को दुःखी व सुखी मान लेते हैं। यह अत्यन्त ही अनुचित है। शरीर की चेष्टा केवल शरीर पर्यन्त है, उसके उपरान्त उसका फल कुछ नहीं मिलता। जैसे जाग्रत अवस्था की चेष्टा जाग्रत अवस्था पर्यन्त है; उसके उपरान्त उसका फल कुछ नहीं मिलता। स्वप्न अवस्था की चेष्टा स्वप्न पर्यन्त है और उसके उपरान्त कुछ फल नहीं मिलता। उसी प्रकार शरीर की चेष्टा शरीर पर्यन्त है उसके उपरान्त उसका फल कुछ नहीं मिलता। इसलिए सिद्ध हुआ कि शुभ अशुभ कर्म केवल मनौत

Scanned with CamScanner

मात्र हैं और उनका फल सुख-दुःख भी मनोत मात्र है, वास्तव नहीं। वास्तव में एक वस्तु सर्व कल्पना से रहित होकर अपने आप में स्थित है।

विचार और विवेक भी मन से कल्पित हैं और संशय भी मन से कल्पित हैं, इसलिए विचार और विवेक से संशय की निवृति होती है। सजातीय सत्ता परस्पर साधक अथवा बाधक होती है और मन से रचित कर्म और उनका फल जन्म-मरण, मन से रचित विचार से नष्ट हो जाता है। उसके नाश का दूसरा उपाय कोई नहीं, क्योंकि कर्म और जन्म-मरण वास्तव नहीं हैं, केवल श्रोतमात्र हैं। इसलिए इस श्रोत को सत्य पुरुषों के वचनों की श्रोत के आसरे मिथ्या प्रतीत कर शेष जो अखंड पद रहे, वह अपना आप निश्चय करो और संशय विपर्यय से रहित रहो।

प्रश्न ६७—वेदशास्त्र और ज्ञानियों का वचन है कि ब्रह्म में एक आदि फुरने से यह सब प्रपंच उत्पन्न हुआ। जगत मानो एक संकल्प है और वह संकल्प ब्रह्म से भिन्न नहीं; फिर वही संकल्प एक से अनेक हो रहा है। जैसे एक शरीर पर अनेक रोम होते हैं, और जब तक शरीर है, उस पर रोम भी हैं और उसी शरीर से सत्ता और पालना पा रहे हैं। यदि कोई बाल जड़ से काट दिया जाए तो जब तक शरीर है फिर प्रकट हो आता है। जैसे ब्रह्म से सूक्ष्म संकल्प के आसरे स्थूल शरीर उत्पन्न हुआ है। यदि रोम की नॉईं स्थूल शरीर का पतन हो गया तो भी संकल्प तो नष्ट नहीं होता, क्योंकि संकल्प ब्रह्म के आसरे है। इसलिए सिद्ध हुआ कि शरीर के गिर जाने से संकल्प अर्थात् पुर्यष्टक मन का नाश नहीं होता। जब तक संकल्प स्थित है, वासना के अनुसार भिन्न-भिन्न शरीरों में आता जाता रहेगा। जिस ज्ञानवान में कोई संकल्प तथा वासना नहीं रही, वह जन्म-मरण से मुक्त होगा, अन्यथा और सब एक शरीर को त्यागकर दूसरे शरीर में आते-जाते रहेंगे। जैसे सर्प पुरातन त्वचा को उतार देता है और नवीन त्वचा को धारण करता है, इसी प्रकार वासनहीन ज्ञानी रोडों में भी दुर्लभ है। इससे आवागमन का वाक्य सत्य और यथार्थ सिद्ध होता है।

उत्तर—वेद शास्त्र और ज्ञानवान का यह तात्पर्य नहीं कि ब्रह्म में फुरना हुआ है, क्योंकि ब्रह्म को फुरने से रहित निर्विकल्प भी उन्होंने ही कहा है। जहाँ आदि फुरने से सृष्टि की उत्पत्ति का प्रसंग आया है, उसका यह अर्थ है कि वास्तव में जगत् कोई वस्तु नहीं, केवल फुरना अर्थात् मनोत है। जैसे स्वप्नलोक कुछ नहीं, केवल मनोराज है उसी प्रकार यह प्रपंच भी कुछ वस्तु नहीं, केवल मनोराज है। वास्तव में एक वस्तु अपने आप में स्थित है, जिसे ज्ञानवान ब्रह्म कहते हैं और अज्ञानी जगत कहते हैं। इसलिए न कुछ उत्पन्न हुआ है, न कुछ नष्ट होता है। और यदि प्रत्यक्ष उत्पत्ति और प्रलय दृष्टि आती है तो वह स्वप्न की तरह है। जैसे स्वप्न की उत्पत्ति भी है और निवृत्ति भी है। स्वप्न अवस्था में अनेक सृष्टि भी उत्पन्न होती और नष्ट होती दृष्टि आती है परन्तु वास्तव में एक पुरुष ही है। जब तक स्वप्न है तब तक उत्पत्ति और प्रलय प्रतीत होती है और जब स्वप्न नहीं होता है तब उत्पत्ति और प्रलय नहीं भासती। इसलिए एक ही शरीर में सब प्रपंच मन का रचा हुआ मन ही ने देखा। वास्तव में क्या देखा ? कुछ नहीं देखा। उसी प्रकार ब्रह्म चेतन अपनी चेतनता अपने आप

Scanned with CamScanner

में देखता है क्योंकि चेतनता चेतन का स्वभाव है। चेतनता का नाम संकल्प अथवा फुरना है, इसलिए अद्वैत ब्रह्म अपने में स्थित होकर अपने को देख रहा है, दूसरा न कुछ था, न है और न होगा। क्योंकि सर्व चेतनता अर्थात् फुरना एक ही चेतन में है और वह चेतन कहीं आता-जाता नहीं इसलिए न कुछ उत्पन्न होता है और न कुछ नाश होता है, और न कोई कहीं आता है और न जाता है।

शरीर और रोम का दृष्टान्त जो आपने दिया है। उससे भी सिद्ध होता है कि शरीर और रोम एक वस्तु हैं, दो नहीं हैं। यदि शरीर से रोम उत्पन्न होते हैं तो इससे क्या सिद्ध हुआ ? यदि न हो तो उससे क्या सिद्ध होगा ? जब शरीर को त्यागकर रोम कहीं जाए और फिर उस स्थान पर उत्पन्न हो, तब हम मानें कि आपका आवागमन का यह दृष्टान्त यथार्थ है। रोम शरीर से निकलता है, शरीर ही में पालना पाता है और शरीर ही के आसरे रहता है तो रोम शरीर से भिन्न नहीं है किन्तु उसका स्वरूप है। रोम शरीर से भिन्न होने पर अपने स्वरूप में स्थित नहीं रहता। इसलिए यह रोम नहीं, शरीर ही रोमरूप होकर प्रकट होता है। उसी प्रकार सूक्ष्म संकल्प से स्थूल शरीर उत्पन्न हुआ। सूक्ष्म संकल्प ब्रह्म के आसरे है, कि स्थूल शरीर ब्रह्म के आसरे है। यदि ब्रह्म को त्यागकर दूसरे स्थान पर उत्पन्न हो उसे आवागमन मानें। जब संकल्प ब्रह्म को कभी त्याग नहीं करता तो सिद्ध हुआ कि संकल्प ब्रह्म स्वरूप है और अब सिद्ध हुआ है कि स्थूल शरीर संकल्प रूप है, इसलिए स्थूल शरीर ही ब्रह्मरूप है। क्योंकि ब्रह्म में उत्पत्ति और लय नहीं मानी गई। इसलिए स्थूल शरीर भी उत्पत्ति और लय से शून्य है।

संकल्प और चेतनता एक ही अर्थ रखते हैं। चेतनता चेतन का स्वरूप है, इसलिए अविनाशी और अच्युत है और सभी सृष्टि संकल्प में हैं अर्थात् चेतनता में हैं। ऊपर सिद्ध हो चुका है कि चेतनता चेतन स्वरूप है और अब सिद्ध हुआ है कि सृष्टि संकल्परूप अर्थात् चेतनता रूप है। इसलिए सृष्टि चेतनरूप है। जब चेतन उत्पत्ति और नाश से रहित है, सृष्टि भी उत्पत्ति तथा नाश से रहित है।

यदि जीव को ब्रह्म से भिन्न अनेक मानें तो आवागमन सिद्ध होता है और यदि जीव को ब्रह्मरूप माने तो आवागमन मिथ्या और यथार्थ है। क्योंकि ब्रह्म स्वस्थित है, न कहीं आता है, न कहीं जाता है, सदा एकरस अपनी महिमा में स्थित है।

मुक्ति कोई वस्तु नहीं, केवल रुचि के लिए यह वचन प्रसिद्ध हैं। यदि बंधन सत्य होता तो मुक्ति भी सत्य होती, क्योंकि बंधन आज तक किसी को नहीं हुआ तो मुक्त कौन होगा; यह केवल रोचक वचन हैं। वास्तव में बंधन और मुक्ति निर्थरक हैं। जब यह अवस्था है तो संकल्प से रहित को मुक्ति कहना और संकल्प सहित को आवागमन मानना यथार्थ ज्ञान के विरुद्ध है।

जगत कोई दूसरी वस्तु नहीं, केवल परमात्मा ही है। परमात्मा सत्ता मात्र चेतन-स्वरूप है, इसलिए जितनी सृष्टि जड़ अथवा चेतन प्रकट है, वह परमात्मा की सत्ता है, चतन स्वरूप में चल और जड़ स्वरूप में अचल है। जहाँ चल है वहाँ जीव माना गया है

Scanned with CamScanner

और जहाँ अचल है उसको निर्जीव माना गया है। निर्जीव अर्थात् जड़ पदार्थ आवागमन से रहित माने गये हैं और चेतन वस्तु जीव होने से आवागमन के अधीन माना गया है। बड़ा आश्चर्य है कि जड़ सत्ता तो सत्य और जन्म मरण से रहित है और चेतन सत्ता जन्म मरण के अधीन मानी गई है; वास्तव में जड़ और चेतन ब्रह्म की सत्ता है, अब एक को आवागमन से रहित और एक को आवागमन के अधीन मानना परमार्थ के विरुद्ध है। परमार्थ वास्तव में आवागमन नहीं है। यह वचन केवल भेदवादियों ने भय उत्पन्न करने के लिए प्रसिद्ध किया हुआ है। वास्तव में एक वस्तु अपने-आप में स्थित है, न कहीं आती है और न कहीं जाती है, न उत्पन्न होती है, न नाश होती है, एक रस अपनी सत्ता में स्थित है।

सूक्ष्म और स्थूल वास्तव में एक वस्तु है। जैसे जड़ और चेतन परमात्मा की सत्ता सिद्ध हो चुके हैं, उसी प्रकार स्थूल और सूक्ष्म भी परमात्मा की सत्ता हैं। अर्थ यह कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ये पाँच तन्मात्र सूक्ष्म कहे जाते हैं और आकाश, पवन, अग्नि, जल, पृथ्वी ये पाँच तत्व स्थूल कहे जाते हैं। यदि विचार से देखें तो इन दोनों का स्वरूप एक है अर्थात् शब्द और आकाश एक वस्तु हैं, शब्द से बिना आकाश का कोई स्वरूप नहीं; इसी प्रकार स्पर्श और पवन एकरूप है, स्पर्श से बिना पवन का कोई स्वरूप नहीं; इसी प्रकार रूप और अग्नि एक वस्तु हैं, रूप से बिना अग्नि का कोई स्वरूप नहीं। इसी प्रकार रस और जल एक वस्तु है, रस से बिना जल का कोई स्वरूप नहीं; इसी प्रकार गंध और पृथ्वी एक वस्तु हैं, गंध से बिना पृथ्वी का कोई स्वरूप नहीं। इसलिए सिद्ध हुआ कि जो सूक्ष्म है वही स्थूल है, और जो स्थूल है वही सूक्ष्म है। अब यह मानना कि स्थूल के नाश होने से सूक्ष्म नष्ट नहीं होता और सूक्ष्म के नाश होने से स्थूल का नाश होता है परमार्थ से विरुद्ध है। प्रथम तो नाश का शब्द ही निर्थक है, क्योंकि वास्तव में कोई वस्तु नाश नहीं होती, केवल आकार का आरम्भ और परिणाम है और यदि नाश माना भी जाए तो एक के नाश से दोनों का नाश मानना होगा, क्योंकि एक-दूसरे के संयोग के बिना ये दोनों नहीं रह सकते। इसलिए जब स्थूल शरीर को नाशवान माना जाता है तो सूक्ष्म शरीर को नाशवान मानना पड़ेगा। यह नहीं कि स्थूल शरीर के नाश के उपरान्त सूक्ष्म शेष रहता है और फिर दूसरे शरीर को बनाता है। ये दोनों समान रूप हैं। वास्तव में स्थूल और सूक्ष्म भिन्न-भिन्न नहीं हैं। एक शक्ति है और वह शक्ति परमात्मा से भिन्न नहीं है किन्तु परमात्मा रूप है। परमात्मा है और सदा एक अवस्था में स्थित है इसलिए उसकी शक्ति भी सत्य है और एक अवस्था में स्थित है। जीव भी कोई भिन्न वस्तु नहीं है वह एक शरीर को त्यागकर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। जीव पूर्ण है, आवागमन से रहित है और परमात्मा स्वरूप है। स्थूल और सूक्ष्म दोनों जीव की शक्तियाँ हैं। सृष्टि रूप होकर भासना जीव का स्वभाव है, क्योंकि जीव चेतन है और चेतन का स्वभाव सत्ता स्फुरणा है। इसलिए सत्ता स्फुरण वस्तु अपने स्वभाव में स्थित है। अज्ञान से उस सत्ता स्फुरण को उत्पन्न होने वाला और नाश होने वाला; आने वाला और जाने वाला मानते हैं। जैसे जल का द्रवित अर्थात् पिघलने का स्वभाव है और वह स्वभाव ही तरंग और बुदबुदारूप होकर भासता है, यदि कोई कहे

Scanned with CamScanner

कि तरंग उत्पन्न हुआ है और वह तरंग नाश हो गया है और यह तरंग फिर दूसरी वार उत्पन्न हुआ है तो कहने वाला अज्ञानी है, क्योंकि उसको जल के द्रवीभूत स्वभाव का ज्ञान नहीं है, यदि ज्ञान हो तो किसी तरंग की उत्पत्ति और नाश कभी न मानें। उसी प्रकार चेतन का स्वभाव सत्ता स्फुरण है, वही स्वभाव ही शरीर रूप होकर उत्पन्न होता, नाश होता, आता, जाता संकल्प करता और संकल्प से रहित प्रतीत होता है, जो कोई उसको इन विकारों सहित मानता है, वह यथार्थ ज्ञान से अज्ञात है। यदि यह ज्ञान हो कि चेतन वस्तु अपने स्वभाव में स्थित है तो कभी भी शंका उत्पन्न न हो, सदा स्थित रहकर सर्व संशय और शंका से शुद्ध रहे। स्वभाव ने स्वभाव वाले को संशय में डाल रखा है अर्थात् फुरने ने फुरने वाले को बाँधा हुआ है। इसका कारण केवल अज्ञान है। यदि अपने स्वरूप को यथार्थ रीति से जाने तो फिर आवागमन का संशय कभी भी उत्पन्न न हो।

यदि आवागमन को सत्य माना जाय तो जीव भी अनेक मानने पड़ेंगे और उन जीवों को निरन्तर ब्रह्म से भिन्न मानना पड़ेगा और उनकी मुक्ति कभी न होगी जिससे सब अद्वैत विद्या और वेद वचन मिथ्या होंगे, इसलिए आवागमन असत्य और कल्पित है। जीव एक है, वह ब्रह्म रूप है और सदा मुक्तरूप है। विचार करो, जब आकाश जिसको एक भूत माना गया है अनेक मृत का वासन और मंदिरों के बनने और टूटने से अपनी अवस्था को नहीं त्यागता और न कभी अपनी एकता को त्यागकर अनेक व खण्ड-खण्ड होता है। जीव चेतन केवल चिदाकाश रूप है पुनः किस प्रकार भिन्न-भिन्न शरीरों के सम्बन्ध से अपनी वास्तव अवस्था से विपर्यय होगा? अथवा शरीरों की उत्पत्ति व नाश से उत्पन्न व नाश होगा? अथवा शरीरों की अनेकता से अपनी एकता को त्यागकर अनेक व खण्ड-खण्ड होगा? कभी नहीं हो सकता, वह सदा एक रस केवल केवलीरूप अपनी चेतना में स्थित है और अद्वैत रूप है; सर्व शरीर उसी में उसी से उत्पन्न होते और नाश होते हैं। वह जीव अपनी सत्ता में सत्य है, न ऊँच है न नीच है, न दैत्य है न राजा है, न अधिक है न न्यून है, न पुरुष है न नारी है, न कंगाल है न देवता, न बंध है न मुक्त, न स्वामी है न दास; है केवल सत्-चित आनन्द। इसलिए इस दृष्टि से सर्व संशय और विपर्यय से रहित रहना ज्ञान का फल है।

मुक्ति नाम संशय की निवृत्ति का है। जब यथार्थ ज्ञान से सर्व संशय अर्थात् नाम, वर्ण, आश्रम, कर्म, पुण्य-पाप, जन्म-मरण, नर्क-स्वर्ग आदि जो श्रोत द्वारा जगत में फैले हुए हैं, मिथ्या निश्चय होकर निवृत हो जाते हैं तब मुक्ति समझी जाती है तात्पर्य यह कि वृत्ति की निःसंशय और निर्भय अवस्था मुक्ति है। यह नहीं कि जब संकल्प न उठे तब मुक्ति है, संकल्प के आसरे सर्व कार्य विराट में सिद्ध हो रहे हैं। यदि संकल्प से रहित को मुक्त माना जावे तो पहाड़ और वृक्ष आदि भी मुक्त हैं। इनके बिना किसी और की मुक्ति नहीं बनती। यदि संकल्प से रहित अवस्था को मुक्ति अवस्था माना जावे तो सुषुप्ति में सर्व संकल्प लीन हो जाते हैं, तब भेद से रहित ज्ञानी और अज्ञानी सब मुक्त होने चाहिएँ। फिर किसी को सावधान होकर व्यवहार में न बरतना चाहिये, परन्तु सब प्राणधारी नित्यप्रति सुषुप्ति अवस्था में संकल्प से रहित होते हैं और फिर जाग्रत अवस्था में संकल्प अपना नाना प्रकार

Scanned with CamScanner

के व्यवहार करते हैं। इसलिये सिद्ध होता है कि संकल्प के निवृत्त होने से मुक्ति की प्राप्ति नहीं, किन्तु अज्ञान के निवृत होने से मुक्ति की प्राप्ति है। अज्ञान की निवृति ज्ञान से होती है, इसलिये जब ज्ञान प्राप्त हो तब मुक्ति है, क्योंकि जिसने अपने स्वरूप को यथार्थ पहचान लिया है; उसका आवागमन जो केवल भ्रमरूप है नाश हो जाता है। इसलिये उचित है कि अपने वास्तव स्वरूप में स्थित होकर इस मिथ्या संशय को अत्यन्त ही निवृत करे।

इस प्रसंग की सिद्धि श्रुति से होती है "न निरोधो, न च उत्पत्तिः न बद्धो न च साधकाः, न मुमुक्षुः न विमुक्ता, इत्येषः परमार्थता।" अर्थात् न उत्पत्ति है, न नाश है, न बंध है, न साधक है, न मुमुक्षु है, न मुक्त है, इतना ही परमार्थ है। इससे सिद्ध होता है कि जितने वचन आवागमन के प्रसिद्ध हैं, वे सारे केवल स्वभावों की शुद्धि के लिए सनातन आचार्यों ने कल्पित करके लिखे हैं, क्योंकि भय से बिना कोई उत्तम या महत कार्य पूर्ण नहीं होता। स्वभावों का सुधारना अपने को जीवित मारना है, इसलिये भय के बिना यह कर्म सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे जगत में राजनीति व धर्मनीति से राजदण्ड व धर्मदण्ड का भय न हो, मनुष्य अपने नीच स्वभावों को त्यागकर उत्तम स्वभाव नहीं बना सकता, उसी प्रकार केवल स्वभावों की शुद्धि के लिए भयानक व रोचक वचन प्रवृत चले आते हैं, वास्तव में जो कुछ ऊपर वर्णन हुआ है, वही यथार्थ है और सत्य है।

शास्त्रों में तीन प्रकार के वाक्य होते हैं। एक यथार्थ, दूसरे रोचक, तीसरे भयानक। यथार्थ वचन केवल ब्रह्मज्ञान के विषय में होते हैं। रोचक वचन ऐसे होते हैं जिनसे जिज्ञासु प्रेम सहित अपने कर्म और स्वभाव शुद्ध करने का पुरुषार्थ करे। जैसे स्वर्ग की प्राप्ति, पुण्य, देवता शरीर की प्राप्ति, सिद्धि, मुक्ति, धन अथवा राज्य की प्राप्ति इत्यादि वाक्य; इस रुचि से पुरुष अपने कर्म और स्वभाव उज्ज्वल करके अन्तःकरण की शुद्धि का लाभ उठाता है। भयानक वचन ऐसे होते हैं जिनसे पुरुष भयभीत होकर सत्य मार्ग पर वैराग्य सहित होकर चले और अपने स्वभाव को शुद्ध करे, जैसे नर्क, जन्म-मरण, अपयश, नीच जूनी की प्राप्ति, निर्धनता, दुःख इत्यादि, इनसे पुरुष भयभीत होकर अपनी शुद्धि का उपाय करता है। अब इन तीन प्रकार के वचनों में से यथार्थ वचन सत्य हैं, रोचक और भयानक कल्पित हैं; सत्य वचन प्रतीत करने योग्य हैं, रोचक और भयानक वचन प्रतीत करने योग्य नहीं है। क्योंकि मुक्ति रोचक वचन हैं और आवागमन भयानक वचन है इसलिये दोनों कल्पित होने से प्रतीत करने योग्य नहीं हैं, इन दोनों को त्यागकर केवल उपर्युक्त यथार्थ वचनों पर निष्ठा दृढ़ करे। यद्यपि जिज्ञासु के लिए रोचक और भयानक वचन भी लाभदायक हैं और उसकी उन्नति का कारण हैं। अब क्योंकि एक महत् संशय की निवृत्ति पर वाद हो रहा है। इसलिए रोचक और भयानक को त्यागकर केवल यथार्थ वचन लिखे गए हैं, जिससे बुद्धिमान इनको निश्चय करके सदा संशय से रहित होकर निर्विकल्प, शान्तिवान और परमानन्दी रहे। स्वभावों का सुधारना भी उचित है, उसके निमित्त सत्य-असत्य, विवेक अथवा ज्ञानवान का संग अथवा अपने कर्मों का विचार सहित न्याय उत्तम, पूर्ण साधन और सहायक है।

प्रश्न ९८—पुरातन इतिहास का कथन है—श्री रामचन्द्र जी जब लंका को जीत कर

अयोध्यापुरी को जा रहे थे, तब मार्ग में आहार समाप्त हो गया। उन्होंने हनुमान जी को एक पर्वत पर सीधा लेने के लिए भेजा और समझाया कि उस स्थान पर एक माई रहती है, उसको हमारी अँगूठी देकर राशन ले आओ। हनुमान आज्ञा मानकर उस पर्वत पर गया और चक्की का शब्द सुनकर चीख निकाली। नीचे से शब्द आया कि पत्थर की शिला उठाकर नीचे उतर आ। यद्यपि हनुमान अत्यन्त बलवान और पौरषवान था तथापि वह शिला को न उठा सका नीचे से एक वृद्ध स्त्री ने अर्थात् काने लकड़ी के आसरे उस शिला को धक्का देकर एक ओर फेंका। जब नीचे उतरने का मार्ग दृष्टि में आया तो हनुमान नीचे उतरा और देखा कि एक अत्यन्त ही वृद्ध स्त्री चक्की पीसने में प्रवृत्त है और उसके भौंवें गालों तक लटके हुए हैं। भौंवें उठाकर जब उस स्त्री ने देखा तो पूछा कि हे हनुमान! तू प्रसन्न है और रामचन्द्र जी भी प्रसन्न हैं? हनुमान इस वचन को सुनकर आश्चर्यचकित हुआ कि यह स्त्री बड़ी त्रिकालज्ञ है और मौनरूप होकर खड़ा हो गया। फिर उस स्त्री ने कहा कि जो अँगूठी तू मेरे लिए लाया है, उसे कुएँ में डाल दे। उस कुएँ के ऊपर श्वेत वस्त्र पड़ा था। जब हनुमान ने कपड़ा उठाया तो आधा कूप अँगूठियों से भरा हुआ पाया। वह अत्यन्त आश्चर्य चकित होकर पूछने लगा कि हे माता! इतनी अँगूठियाँ कहाँ से आई हैं? स्त्री हँस कर बोली, कि इतनी बार तू और रामचन्द्र जी हुए और सदा तू अँगूठी लेकर इस स्थान पर आता रहा है और रसद ले जाता रहा है। मैं ज्यों की त्यों अपने-आप में स्थित हूँ, हनुमान सुनकर चुप हो रहा और सीधा लेकर रामचन्द्र जी के पास आया। इस इतिहास से भी गमन आगमन अथवा आवागमन सिद्ध होता है, इसके तात्पर्य क्या हैं? यथार्थ रीति से निरूपण करें?

उत्तर—इसका तात्पर्य यह है पर्वत स्थान अचल ब्रह्म हैं; वृद्ध स्त्री चेतन शक्ति है, उसका चक्की पीसना अपने स्वभाव में प्रवृत्त रहना है। रामचन्द्र जी जीवात्मा रूप हैं और हनुमान मन स्वरूप हैं; लंका अविद्या है; कूप स्मृति है; श्वेत कपड़ा विस्मृति है; अँगूठी नामरूप है पत्थर की शिला प्रच्छिन्न दृष्टि है और काना अर्थात् पतली लकड़ी यथार्थ ज्ञान है। अब इसका सिद्धान्त लिखा जाता है; जब ज्ञान स्वरूप जीव अपने मन के आसरे अविद्यारूपी कोट को जीतकर अपने निज धामरूप अयोध्यापुरी अर्थात् ब्रह्मपुरी को जाता है तो क्या देखता है कि शुद्ध ब्रह्म अपनी चेतन शक्ति में पूर्ण है और नामरूप जगत चेतन की स्मृति शक्ति में स्थित चला आता है। वास्तव में न कुछ हुआ है, न कुछ होता है और न होगा। रामचन्द्र और हनुमान भी स्मृतिरूप कूप की अँगूठियाँ अर्थात् नामरूप हैं। तात्पर्य यह कि तत्वज्ञानी प्रच्छिन्न दृष्टिरूप शिला को चेतन शक्ति के यथार्थ ज्ञान रूपी काने अर्थात् बल के आसरे उठाकर शुद्ध ब्रह्म में स्थिति पाता है और सफलता रूप सीधे को पाकर तृप्त रहता है। मन अपनी मनोगति को त्यागकर आश्चर्य-रूप समुद्र में लीन होता है और सब संशय से मुक्त होकर अपने-आप में स्थित रहता है। इसलिए इस इतिहास से परम निर्वाणरूप सिद्धान्त सिद्ध होता है, गमन आगमन व जन्म-मरण का अत्यन्त अभाव प्रतीत होता है। इसलिए उचित है कि पूर्वोक्त सिद्धान्त को निश्चय करके सर्व संशयों को अपने अन्तःकरण से निवृत्त करें।

Scanned with CamScanner

प्रश्न ९९—जन्म मरण का प्रसंग जो शास्त्रों में है वह रोचक है, यथार्थ है या भयानक है ?

उत्तर—वह रोचक और भयानक है, यथार्थ नहीं है, क्योंकि यथार्थ स्वरूप चिदाकाश है, वह एक रस स्थित है और शरीर पाँच तत्वों में स्थित है। पाँच तत्व नित्य स्थित हैं। इसलिए जन्म मरण सिद्ध नहीं होता; केवल भय अथवा रुचि के लिए शास्त्रकारों ने जन्म मरण का प्रसंग लिखा है, वास्तव नहीं है।

प्रश्न १००—नासक्रेत ने अपने शास्त्र में जो नाना प्रकार के वचन स्वर्ग, नरक, धर्मराज, चित्रगुप्त, यमदूत, लोक परलोक, गमन, आगमन, पुण्य-पाप आदि निरूपित किये हैं, उनका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—तीन प्रकार के शास्त्र और वचन हैं, एक भयानक, द्वितीय रोचक, तृतीय यथार्थ। इनमें से भयानक शास्त्रों का अभिप्राय यह है कि किसी प्रकार लोग भय के द्वारा अशुभ कर्मों और मलिन स्वभावों का त्याग करें; जैसे माता कटुक औषधि देने के समय अपने बालक को भयानक वचन सुनाकर औषधि पिलाती है और बालक भी भय के आधीन होकर औषधि पीता है उसी प्रकार महात्माओं ने धर्मराज, नरक आदि के वचन सुनाकर सब लोगों को शुभ मार्ग की ओर चलने की प्रेरणा की है।

रोचक शास्त्रों का तात्पर्य यह है कि रुचि दिलाकर लोगों को शुभ कर्मों और श्रेष्ठ स्वभावों की ओर लगाना; जैसे माता अपने पुत्र को किसी शुभ कर्म कराने के लिए लड्डू, पेड़ा, भूषण, वस्त्र देने का वचन सुनाती है और उस रुचि के आसरे वह बालक उस कर्म को करता है, उसी प्रकार महात्माओं ने स्वर्ग, बैकुंठ; धनप्राप्ति, यश प्राप्ति आदि की रुचि देकर लोगों को शुभ कर्मों और श्रेष्ठ स्वभावों को धारने की प्रेरणा की है।

यथार्थ शास्त्रों का प्रयोजन यह है कि भय और रुचि के बिना यथार्थ वस्तु को निरूपण करना और उस मार्ग को दिखलाना जिस पर चलने वाले को मोक्ष प्राप्त हो। अब नासक्रेत का शास्त्र भयानक शास्त्र है, उसका प्रयोजन केवल अन्तःकरण की शुद्धि है, क्योंकि अन्तःकरण में जो मल है वह अशुभ कर्म चितवन, मलिन स्वभाव और विषय वासना का है। जब भयानक वचनों से पुरुष सब प्रकार की मल का त्याग करता है तब अन्तःकरण शुद्ध होता हैं और यथार्थ वचनों को श्रवण करके यथार्थ ज्ञानी होता है। उस समय सब भयानक वचनों को केवल आचार्यों की कृपादृष्टि निश्चय कर विचारता है कि मेरे कल्याण के लिए आप्तकाम, यथार्थदर्शी आचार्यों ने ऐसे भयानक वचन कल्पित करके लिखे हैं, क्योंकि उनका प्रयोजन सिद्ध हो गया है। इसलिए अब वे वचन विस्मरण करने योग्य हैं। जैसे बालक जब युवा अवस्था से वृद्ध अवस्था को प्राप्त होता है तब रोग के समय औषधि का सेवन अपने सुख का हेतु निश्चय करता है और अपने-आप ही भय अथवा रुचि के बिना पीता है, माता के भयानक अथवा रोचक वचन उसके लिए उचित नहीं होते, उसी प्रकार उत्तम जिज्ञासु और यथार्थ ज्ञानी रोचक और भयानक वचनों का अधिकारी नहीं। ज्ञानरूप प्रकाश से भय अथवा रुचि से बिना सत्यकर्त्ता, सत्यधर्मी, सत्यवक्ता, सत्यमन्ता, सत्यज्ञाता, सत्यनिष्ठी, सत्यदर्शी, सत्य-

Scanned with CamScanner

स्थित और सत्यरूप रहता है।

धर्मराज नाम साक्षी चेतन का है जो सर्व शरीरों में व्यापक और चित्रगुप्त नाम चित्त का है, वह भी शरीरों में पूर्ण है। हृदयरूप मण्डल में इनका दरबार लगता है, चित्रगुप्त चित्-वना रूप कलम के आसरे बुद्धि रूप बही पर नाना प्रकार के मनोराज और वासना लिखकर साक्षीरूप धर्मराज के सन्मुख सुनाता है जिसका फल हर्ष अथवा शोक; राग अथवा द्वेष प्राप्त होते हैं, अथवा पुण्य-पाप व लोक-परलोक, गमन आगमन भ्रान्ति रूप प्रतीत होती है और इन्हीं विक्षिप्त रूप संकल्पों का नाम नर्क अथवा स्वर्ग है; वास्तव में न कोई धर्मराज है न कोई चित्रगुप्त है, केवल सुधार के लिए शास्त्रकारों ने भयानक वचन लिखे हैं।

प्रश्न १०१—जब जन्म मरण, स्वर्ग आदि का भय न हुआ और उनके लिए कर्तव्य भी न रहा तो फिर जिज्ञासु को किसलिए यत्न अर्थात् सत्शास्त्रचिन्तन, सत्पुरुष समागम, ध्यान आदि साधन में प्रवृत्त किया जाता है ?

उत्तर—यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति, मनोरज के निरोध और दैवी सम्पदा के स्वभावों के लिए जिज्ञासु यत्न में प्रवृत्त किया जाता है, क्योंकि यथार्थ ज्ञान से अपने वास्तव स्वरूप का बोध और जगत् का ज्ञान होकर जन्म-मरण आदि संशय की निवृत्ति होती है; मन के निरोध से भूत, भविष्य की स्मृति और चिंता से रहित होकर वर्तमान काल में रागद्वेष से रहित रहता है और दैवी सम्पदा के स्वभावों से समय की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं, शरीर के दुःख अथवा सुख, सम्बन्धियों के संयोग अथवा वियोग, धन की न्यूनता अथवा अधिकता और व्यवहार की प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति स्वभावों और भिन्न-भिन्न वचनों को समबुद्धि, शान्ति और क्षमा सहित सहारता है; इस प्रकार शरीर पर्यन्त सुख सहित आयु व्यतीत करने के योग्य और समर्थ होता है; इसलिए इन तीनों साधनों के लिए सुख के जिज्ञासु को यत्न करना उचित है जिससे देह सम्बन्धी काल शोक और चिंता से रहित, राग और द्वेष से शून्य, दुःख और सुख में समान, आपदा अथवा सम्पदा में तुल्य व्यतीत हो।

प्रश्न १०२—

॥ दोहा ॥

जो जाने तो आप है नहिं जाने तो आप।
अनजाने से होत है मध्यकाल संताप॥

इसके अर्थ क्या हैं ?

उत्तर—यदि मनुष्य अपने स्वरूप को जाने तो भी आप है अर्थात् जो उसका स्वरूप है, वही है। जानने से स्वरूप अधिक नहीं हो जाता और यदि अपने स्वरूप को न जाने तो भी आप है अर्थात् जो उसका स्वरूप है वही है। न जानने से स्वरूप अधिक व न्यून नहीं हो जाता किन्तु दोनों अवस्था ज्ञान और अज्ञान में स्वरूप तो समान है। भेद इतना है कि जो जानता है, वह निःसंशय, निर्भय, निर्विकल्प, निर्मान और निष्काम होकर आयु व्यतीत करता है। जो नहीं जानता है, वह संशय, भय, विकल्प, मान और कामना सहित आयु व्यतीत करता है। इससे उसको सन्ताप और क्लेश रहता है, क्योंकि लोक और परलोक के सब दुःख

Scanned with CamScanner

ताप और क्लेश केवल अज्ञान में हैं; ज्ञान में इनका अभाव है। इसलिए अज्ञानी मध्यकाल अर्थात् जीवित काल व शरीर काल में संशययुक्त, भयभीत, कर्मों का कर्त्ता और सुख-दुःख के फल का भोक्ता आपको मानकर दुःखी और सन्तप्त रहता है। ज्ञानी मध्यकाल में संशय और भय से युक्त कर्म और फल से रहित, सुखी और शीतल चित्त रहता है। इसलिए ज्ञान-सहित आयु व्यतीत करना सुख रूप है और अज्ञान सहित आयु व्यतीत करना दुःखरूप है; यद्यपि स्वरूप सदा समान है तथापि सुख ज्ञान में है। इसलिए उचित है कि अपने स्वरूप को यथार्थ रीति से जानकर संशय, विपर्यय, भय, कर्त्ता, भोक्ता भाव से रहित होकर आनन्द और कुशल सहित शरीर सम्बन्धी काल को व्यतीत करे। वास्तव में स्वरूप अच्युत और नित्य स्थित है, ज्ञान और अज्ञान में समानरूप है, यह यथार्थ अर्थ है और यही यथार्थ दृष्टि है।

प्रश्न १०३—ज्ञानी अज्ञानी में भेद है अथवा नहीं ?

उत्तर—ज्ञान और अज्ञान में भेद है। जैसे पंडित और मूर्ख में विद्या और अविद्या का भेद है अथवा जैसे बलवान और निर्बल में बल और निर्बलता का भेद है उसी प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी का भेद केवल ज्ञान और अज्ञान का है और किसी में नहीं। वह ज्ञान और अज्ञान अन्तःकरण के धर्म है, अन्तःकरण में रहते हैं, शरीर के किसी अंग, इन्द्रिय, अवस्था, चेष्टा और व्यवहार के साथ उनका सम्बन्ध कोई नहीं। इस प्रकार ज्ञानी अज्ञानी के शरीर में भी ज्ञान अज्ञान से भेद नहीं होता, दोनों का शरीर पंचभौतिक, चौदह इन्द्रिय सहित प्राणों के सहारे चेष्टा करने वाला है। वास्तव स्वरूप भी ज्ञानी और अज्ञानी का तुल्य है। उसमें भी ज्ञान अज्ञान से भेद प्रवेश नहीं करता, सदा अभेदरूप सत्ता सामान है, इसलिए ज्ञानी अज्ञानी का भेद वास्तव नहीं, कल्पित है। ज्ञान अज्ञान भी साक्षी भास होने से कल्पित हैं। कल्पित वस्तु अधिष्ठान को विकारी नहीं कर सकती। इसलिए कल्पित ज्ञान और अज्ञान वास्तव स्वरूप में भेद उत्पन्न नहीं कर सकता। इस प्रकार भेद असिद्ध है। जब भेद ही नहीं तो ज्ञानी और अज्ञानी में भेद कैसे सिद्ध होगा ? केवल मध्य भावी अवस्था में ज्ञानी सर्व पदार्थों को सम्यक् जानकर बरतता है और अज्ञानी असम्यक् जानकर बरतता है, परन्तु वरतारा दोनों का समान है।

प्रश्न १०४—शास्त्रों में और लोगों में प्रसिद्ध है कि "अन्त मते सोई गते" इसके क्या अर्थ हैं ?

उत्तर—अंत का अर्थ यथार्थ ज्ञान है और वही ज्ञान ही मनुष्य की गति अर्थात् मुक्ति का साधन है। तात्पर्य यह कि सब पदार्थों का अंत केवल अनुभव मात्र सत्ता है। जब उस अनुभव का यथार्थ निश्चय हुआ, वही गति है। इसके बिना न कोई आदि है न अंत है, और न गति है। इसी अभिप्राय को लेकर शास्त्रकारों ने लिखा है कि "अंत मते सोई गते"। लोगों में शरीर और प्राणों के वियोग काल को अंत कहते हैं और उस समय मन की वासना के अनुसार गति मानते हैं। वह यथार्थ ज्ञान से विरुद्ध है, क्योंकि सर्व का अर्थ अधिष्ठान है। अर्थ यह जिसमें सर्व हैं और सर्व लीन हो जाते हैं, ऐसा जो सत्य है वह अंत है। उसका मता अर्थात् निश्चय अन्त का मता है और उसका फल जो परमानन्द अवस्था है, गति है, इससे बिना

Scanned with CamScanner

जितने अर्थ इसके प्रसिद्ध हैं, वह सर्व ही अयथार्थ और कल्पित हैं। वास्तव में किसी वस्तु का आदि और अंत नहीं, सर्व पदार्थ अनादि और अनन्त हैं, न कोई उत्पन्न हुआ था न होता है और न होगा, न कोई मित्र हुआ था, न होता है और न होगा, अद्वैत सत्ता अपने-आप में स्थित है, यह ज्ञान ही अंत मता हैं, तात्पर्य यह कि ज्ञान के उपरान्त और ज्ञान की प्राप्ति के लिए यत्न नहीं रहता। इसलिए इस ज्ञान के ज्ञानी को गति अर्थात् कृत-कृत्य अवस्था प्राप्त होवी है, अन्यथा मनुष्य भ्रमरूप महा घोर वन में भटकता रहता है। इसलिए सब बुद्धिमानों को उचित है कि ऐसे अंत-ज्ञान अर्थात् पूर्ण ज्ञान, सम्यक्-ज्ञान, सत्य-ज्ञान, अधिष्ठान-ज्ञान, अद्वैत-ज्ञान वा समाप्ति-ज्ञान पर अपना निश्चय दृढ़ करके शरीर में अशरीरी होवे और प्रच्छिन्नता में पूर्ण गति की प्राप्त करे।

प्रश्न १०५—जो-जो कर्म होता है वह ईश्वर की इच्छा से होता है अथवा ईश्वर करता है वा इन्द्रिय आदि? परन्तु इन्द्रिय सब जड़ हैं, चेतन की प्रेरणा के बिना क्रिया नहीं कर सकते। जैसे मदारी की पुतली प्रेरणा के बिना चेष्टा नहीं कर सकती, इसलिए सब सृष्टि का कारण और कर्ता ईश्वर को समझना उचित है? वा किस प्रकार?

उत्तर—प्रथम यह विचार करना उचित है कि कर्म किसको कहते हैं? किस प्रकार हो रहे हैं? कहाँ हो रहे हैं? किससे हो रहे हैं? और उनके प्रकाश करने वाला कौन है? जब इन प्रश्नों का उत्तर हो जावेगा तब सब वृतान्त प्रत्यक्ष प्रतीत होकर संशय की निवृत्ति होगी। इसलिए प्रथम इन प्रश्नों के उत्तर देते हैं।

पाँच तत्वों के स्वभावों का नाम कर्म है। भाव यह कि एक-एक तत्व सतोगुण रूप में ज्ञान और रजोगुण रूप में कर्म होकर क्रिया करता है, और इन तत्वों के दो स्वरूप हैं, एक समष्टि स्वरूप दूसरा व्यष्टि स्वरूप। समष्टि स्वरूप में कर्ता, कर्म, क्रिया से मुक्त जड़ रूप है और व्यष्टि स्वरूप में कर्त्ता, कर्म, क्रिया रूप होकर भिन्न-भिन्न कर्मों के कर्त्ता हैं। अभिप्राय यह कि विराट स्वरूप में जड़ अर्थात् अकर्त्ता है और काया स्वरूप में एक-एक तत्व दो-दो इन्द्रिय होकर अपने ज्ञान और कर्म को प्रकट करता है। जैसे आकाश जो शब्द स्वरूप है, श्रोत इन्द्रिय के स्वरूप में शब्द को श्रवण करता है और वाक् इन्द्रिय के स्वरूप में शब्द का उच्चारण करता है। इसलिए आकाश ही शब्द है, आकाश ही श्रोत इन्द्रिय है, और आकाश ही वाक् इन्द्रिय है अर्थात् आकाश ही शब्द है, आकाश ही सुनने वाला है और आकाश ही बोलने वाला है। इसी प्रकार पवन जो स्पर्श रूप है, त्वचा इन्द्रिय होकर स्पर्श को प्रतीत करता है और हस्त इन्द्रिय होकर स्पर्श करता है। इसलिये पवन ही स्पर्श है, पवन ही स्पर्श का ज्ञाता है और पवन ही स्पर्श करने वाला है। अर्थात् पवन ही स्पर्श है, पवन ही त्वचा है और पवन ही हस्त है। इसी प्रकार अग्नि जो रूप स्वरूप है, नेत्र इन्द्रिय होकर रूप को देखता है और पाद इन्द्रिय होकर रूप को दिखलाता है। इसलिए अग्नि ही रूप है, अग्नि ही रूप को देखने वाला है और अग्नि ही रूप को दिखलाने वाला है। अर्थ यह कि अग्नि ही रूप है, अग्नि ही नेत्र है और अग्नि ही पाद है। इसी प्रकार जल जो रसरूप है जिह्वा रूप होकर रस लेने वाला है और उपस्थ इन्द्रिय होकर रस भोगने वाला है। इसलिए जल ही

Scanned with CamScanner

रस है, जल ही रस का ज्ञाता है और जल ही रस का भोक्ता है अर्थात् जल ही रसना है, जल ही रस है और जल ही उपस्थ है। इसी प्रकार पृथ्वी जो गंध स्वरूप है, नासिका इन्द्रिय होकर गंध को प्रतीत करती है और गुदा इन्द्रिय होकर गन्ध का त्याग करती है। इसलिए पृथ्वी ही गँध है, पृथ्वी ही गंध को लेने वाली है और पृथ्वी ही गन्ध को त्यागने वाली है। अर्थात् पृथ्वी ही गंध है, पृथ्वी ही नासिका है और पृथ्वी ही गुदा है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि पंचतत्व अपने स्वभाव में स्थित हैं और यह पंचतत्व ईश्वर के स्वभाव हैं। इसलिए एक ही ईश्वर अपने आप में स्थित है, न कोई कर्त्ता है, न कर्म है, न क्रिया है। जब कर्म ही असिद्ध है तो कर्म का ईश्वर की इच्छा से होना किस प्रकार निश्चय किया जावे? अर्थात् जब कर्म ही नहीं तो कर्म की प्रवृति भी नहीं, और यह जो संसार में कर्मों का विभाग प्रसिद्ध है अर्थात् कोई शुभ कर्म है, और कोई अशुभ कर्म है, वह यथार्थ स्वरूप के अज्ञान से है। जो कुछ अज्ञान में होता है वह अत्यन्त ही कल्पित, अत्यन्त ही मिथ्या और अत्यन्त ही अभाव रूप होता है इसलिए तत्ववेत्ता ईश्वर को कर्म की उपाधि से शुद्ध निश्चय करके अक्रियपद में स्थित रहता है।

यदि कर्म इन्द्रियों से माने जायें और ईश्वर की चेतना से उन कर्मों की प्रेरणा निश्चय की जावे तो भी ईश्वर कर्त्ता सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे सूर्य के प्रकाश से सब नेत्र देखते हैं परन्तु सूर्य देखने वाला नहीं माना जाता, उसी प्रकार यद्यपि इन्द्रिय और अन्तःकरण ईश्वर की चेतनता से कर्म करते हैं तथापि ईश्वर कर्मों का कर्त्ता नहीं माना जा सकता।

जहाँ द्वैत होता है वहाँ कर्त्ता, कर्म और क्रिया की भी कल्पना होती है और जहाँ अद्वैत मात्र है वहाँ कर्त्ता, कर्म और क्रिया रूप त्रिपुटी किस प्रकार मान ली जाये, क्योंकि ईश्वर अद्वैत है, दूसरा न था, न है और न होगा। इसलिए ईश्वर में कर्त्ता, कर्म और क्रिया आदि त्रिपुटियों का प्रतीत करना यथार्थ ज्ञान से विरुद्ध है।

यदि ईश्वर को सब का कारण माना जाये तो भी ईश्वर का कारण सोचना पड़ेगा, परन्तु ईश्वर का कारण आजतक सिद्ध नहीं हुआ, जो वस्तु आप अकारण है उसको दूसरी वस्तु का कारण मानना ऐसा है। जैसे निर्विकार को विकारी निश्चय करना, इसलिए ईश्वर कारण और कार्य भाव से रहित अपने आप में स्थित है।

यदि विचार करके देखें तो आज तक कर्म नहीं हुआ एक वस्तु स्वस्थित है, केवल प्रच्छिन्न ज्ञान अर्थात् देह अभिमान से भिन्न-भिन्न कर्म और उनके फल अज्ञानी को प्रतीत हो रहे हैं और क्योंकि अज्ञानी की प्रतीत कल्पित और मिथ्या है इसलिए सर्व कर्म और उनके फल कल्पित और मिथ्या हैं; कल्पित और मिथ्या वस्तु को यथार्थ और सत्य वस्तु से संयुक्त करना सम्यक् ज्ञान के विरुद्ध है।

सुषुप्ति अवस्था में सर्व कर्म और इन्द्रिय अज्ञान में लीन हो जाते हैं और केवल ईश्वर स्वस्थित रहता है। यदि ईश्वर कर्मों का कर्ता होता तो सुषुप्ति अवस्था में भी कोई कर्म प्रतीत होता, क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में कोई कर्म प्रतीत नहीं होता इसलिए सिद्ध होता

Scanned with CamScanner

है कि ईश्वर किसी कर्म का कर्ता नहीं और न कोई कर्म हो रहा है। अज्ञान में कर्ता, कर्म और क्रिया की प्रतीति है। वह अज्ञान केवल अज्ञानमात्र है और अज्ञान का कार्य अज्ञान पर्यन्त है, जब अज्ञान यथार्थ ज्ञान से निवृत्त होता है, तब अज्ञान का कार्य कर्ता, कर्म और क्रिया रूप त्रिपुटी निवृत हो जाती है। वह प्रथम भी निवृत थी, अज्ञान से प्रवृत्ति रूप प्रतीत होती थी। जब यथार्थ ज्ञान के आसरे सिद्ध हुआ कि अज्ञान स्वयं ही कोई वस्तु नहीं तो सत्य स्वरूप ईश्वर को किस प्रकार कलंकित अथवा विकारी कर सकता है। इसलिए कर्ता, कर्म और क्रिया का अत्यन्त अभाव है; अद्वैत वस्तु अपने आपमें स्थित है।

प्रश्न १०६—यदि शरीरों की चेष्टा एक जैसी है और तत्वों का स्वभाव भी सब में प्रवृत्त हो रहा है तो ज्ञानी और अज्ञानी का भेद कुछ न हुआ।

उत्तर—शरीर, शरीर की चेष्टा के फल में ज्ञानी और अज्ञानी समान हैं, क्योंकि शरीर एक है, दृष्टि दोष से नाना और अनेक प्रतीत होते हैं। वास्तव में एक ही ज्ञान, एक ही कर्म और एक ही स्वभाव सब शरीरों में व्यापक होकर प्रवृत्त है। तात्पर्य यह कि एक ही आकाश का कार्य जो श्रोत है वह सर्व शरीरों में एक है और उसका स्वभाव जो शब्द का सुनना है वह भी एक है। एक ही पवन का कार्य त्वचा सब शरीरों में एक है और उसका स्वभाव स्पर्श करना भी एक है। एक ही अग्नि का कार्य नेत्र है, सब शरीरों में एक है और उसका स्वभाव देखना भी एक है। एक ही जल का कार्य रसना सब शरीरों में एक है और उसका स्वभाव रस लेना भी एक है। एक ही धरती का कार्य नासिका सब शरीरों में एक है और उसका स्वभाव गन्ध का ग्रहण करना भी एकहै। इसी प्रकार दूसरे इन्द्रिय भी एक-एक तत्व का कार्य होने से सर्व शरीरों में समान स्वभाव वाले हैं। शरीर एक है, अनेक नहीं, यह यथार्थ ज्ञान है। जो इस ज्ञान का ज्ञानी है वह अनेकता और भेद से मुक्त होकर सहज स्वभाव में स्थित रहता है। जो इस ज्ञान से अज्ञात है वह नानात्व और भेद को सत्य प्रतीत कर सदा विक्षिप्त और खिन्न रहता है। इसलिए ज्ञानी और अज्ञानी में ज्ञान और अज्ञान का भेद है और कोई भेद नहीं। वह ज्ञान और अज्ञान भी इन तत्वों का कार्य है, क्योंकि बुद्धि के आसरे ज्ञान और अज्ञान रहता है और बुद्धि मिश्रित तत्वों का कार्य है। सतोगुण अर्थात् निर्मलता से सब पदार्थों का यथार्थ प्रतिबिम्ब बुद्धि में तत्वों का अत्यन्त ही शुद्ध और सूक्ष्म भाग पड़ता है। तमोगुण अर्थात् पदार्थों का निर्मलता से विपर्यय प्रतिबिम्ब पड़ता है। यथार्थ प्रतिबिम्ब को ज्ञान कहते हैं और विपरीत प्रतिबिम्ब को अज्ञान कहते हैं, क्योंकि प्रतिबिम्ब रूप ज्ञान व अज्ञान और दर्पण रूप बुद्धि एकरूप हैं। इसलिए ज्ञान और अज्ञान भी एक रूप हैं; निर्मलता और समलता से एक वस्तु दो संज्ञाओं से अभिधेय हो रही है, यथार्थ दृष्टि से अद्वैत वस्तु अपने आप में स्थित है, ज्ञानी और अज्ञानी का भेद कोई नहीं। जो ज्ञान ऊपर सिद्ध हो चुका है, वह ज्ञान, ज्ञान और अज्ञान के भेद से रहित अद्वैत रूप है। उस ज्ञान की निर्मलता को ज्ञान और समलता को अज्ञान कहते हैं। वास्तव में इन भावों से भी ज्ञान अपने अद्वैत भाव से विपरीत नहीं हुआ किन्तु सदा आप में आप है। जब ऐसी अवस्था है तो ज्ञानी किसको और अज्ञानी किसको माना जाए? केवल ज्ञान मात्र सत्ता अपने आप में स्थित है।

Scanned with CamScanner

इस दृष्टि को धारने वाला सब द्वंद्वों से मुक्त होकर निर्द्वन्द्व, अभेद, अचल, अनाम, अखण्ड और निर्भय सिंहासन पर विराजमान रहता है। इसलिए उचित है कि ज्ञान और अज्ञान से उल्लंघित होकर यथार्थ स्वरूप में स्थित रहना ही सुख और निर्विकल्पता का हेतु है। यथार्थ अवस्था भी यही है और सम्यक् ज्ञान भी इसी को कहते हैं और तत्व दृष्टि भी यही है, सहज अवस्था इसका फल है। इसलिए परावरदर्शी यथार्थ को यथार्थ जानकर विकल्प और संशय से मुक्त जैसे हैं वैसे रहते हैं, और सबको अपने समान देखते हैं, न ज्ञान से किसी की विशेषता और न अज्ञान से किसी की न्यूनता निश्चित करते हैं। सत्ता सामान रूप होकर सबको आप और आपको सब किन्तु सब और आप से रहित अनुभवमात्र निश्चय करते हैं, इससे वह सदा, पावन, निर्विकार, निर्मूल, शुद्ध और गम्भीर रहते हैं।

प्रश्न १०७—जड़ और चेतन में क्या भेद है?

उत्तर—जड़ और चेतन में कुछ भेद नहीं, जड़ सघन चेतनता का नाम है और चेतन संवेग चेतनता का नाम है। संवेग चेतनता क्योंकि सघन चेतनता के आसरे स्थित है और प्रतीत होती है इसलिए सघन चेतनतारूप है। जैसे शरीर सघन चेतनतारूप है, उसकी अपेक्षा से इन्द्रिय संवेग चेतनरूप हैं, परन्तु क्योंकि इन्द्रिय स्थूल शरीर के आसरे स्थित हैं इसलिए स्थूल शरीर रूप हैं। इसी प्रकार इन्द्रिय सघन चेतनरूप हैं और प्राण संवेग चेतनरूप है। प्राण क्योंकि सघन चेतनरूप इंद्रिय के आसरे स्थित है और इन्द्रिय से प्राणों की रक्षा होती है इसलिए प्राण इन्द्रिय रूप है। फिर प्राण सघन चेतनरूप हैं और अन्तःकरण संवेग चेतनरूप है परन्तु क्योंकि अन्तःकरण प्राण के आसरे स्थित है इसलिए अन्तःकरण की रक्षा प्राण से होती है, प्राण के बिना अन्तःकरण कुछ नहीं, इसलिए अन्तःकरण प्राण स्वरूप है। फिर अन्तकरण सघन चेतन रूप है और चिदाभास संवेग चेतनरूप है, क्योंकि चिदाभास अन्तःकरण के आसरे स्थित हैं और अन्तःकरण के बिना चिदाभास सिद्ध नहीं होता। इसलिए चिदाभास अन्तःकरण रूप है, और क्योंकि चिदाभास कूटस्थरूप शुद्ध चेतन का प्रकाश है, इसलिए एक ही शुद्ध चेतन सघन और संवेग रूप को धारण कर अपनी महिमा में स्थित है। दूसरा न कोई जड़ है और न चेतन है, इस प्रकार जड़ और चेतन में कोइ भेद नहीं किन्तु अभेदरूप हैं।

प्रश्न १०८—योग और ज्ञान में क्या भेद है और कौन धारण करने योग्य है?

उत्तर—योग नाम प्राणायाम अथवा एकता का है और ज्ञान नाम सत्य वस्तु को जानने का है। योग में भेद रहता है और ज्ञान में अभेद हो जाता है। योग जड़ अवस्था है और ज्ञान चेतन अवस्था है। योग का अर्थ हठ योग है और ज्ञान का अर्थ राजयोग है। हठ योग करने वाले सदा उद्यम और क्लेश में रहते हैं और राजयोग करने वाले सदा अचिंत और प्रसन्नमूर्ति रहते हैं। हठयोगी सिद्धि और दूसरे संशय रूप पदार्थों और लोकों को मानते हैं, राजयोगी सर्व संशयों और विकल्पों से रहित होकर सदा अपने-आप में मग्न रहते हैं। इस प्रकार हठयोगी भेदवादी और भ्रमी हैं और राजयोगी ज्ञानी अभेदवादी ब्रह्मरूप हैं। इसलिए हठयोगी त्यागने योग्य हैं और राजयोग अर्थात् ज्ञानयोग धारण करने योग्य है।

प्रश्न १०९—परावरदर्शियों का वचन है कि सूरदास को यथार्थ अपरोक्ष ज्ञान नहीं

Scanned with CamScanner

होता है। इसका कारण युक्तियों सहित कृपा करके लिखें ?

उत्तर—यथार्थ ज्ञान का अर्थ है यथा अर्थ ज्ञान होना। तात्पर्य यह कि वस्तु के अनुसार ज्ञान होना। शरीर में ज्ञान का कारण पाँच ज्ञान इन्द्रिय हैं जिनमें से प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु नेत्र हैं। जो पुरुष जन्मकाल से अंध है, उसे जगत् के किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान का साधन उसके शरीर से प्रकट नहीं हैं। इसलिए फलस्वरूप ज्ञान भी उसके चित्त में प्रकाशित नहीं हो सकता, ब्रह्मज्ञान भी दृष्टान्त की सहायता के विना अपरोक्ष अनुभव रूपगति को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि आत्मारूप ब्रह्म निराकार और अगोचर है। दृष्टान्त द्वारा जिज्ञासु के हृदय में सत्य प्रतीत होकर प्रत्यक्ष होता है। जब सूरदास को दृष्टान्त का ज्ञान ही प्रत्यक्ष नहीं, तो दृष्टान्त का ज्ञान किस प्रकार से प्रत्यक्ष होगा ? इस प्रकार परावरदर्शी जन्मान्ध को यथार्थज्ञान से शून्य मानते हैं। यदि वास्तव विचार करके देखें तो अन्धे का वास्तव स्वरूप ज्यों का त्यों है, श्रोत के आसरे उनके हृदय में नाम, वर्ण, आश्रम, पुण्य, पाप की कल्पना निश्चित हुई है, यदि सत्संग द्वारा इन वचनों को मिथ्या और कल्पित निश्चय करें तो शेषरूप आत्मा उसको भी अपने अनुभव से प्रतीत हो सकता है, क्योंकि 'आत्मा नेत्रों का विषय नहीं' आत्मा का ज्ञान शब्द जन्य है, और शब्द ग्रहण करने वाले इन्द्रिय उसके विद्यमान हैं। इसलिए उत्तम जिज्ञासु सूरदास को श्रोत सम्बन्धी महावाक्य द्वारा आत्मा का ज्ञान प्रत्यक्ष हो सकता है परन्तु पंचभौतिक पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता; केवल पदार्थों के नाम गुण और कर्म का ज्ञान हो सकता है परन्तु पदार्थों के रूप, रंग और आकार का ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए सिद्ध हुआ कि मननशील पुरुष को स्वरूप ज्ञान में किसी इन्द्रिय की न्यूनता प्रतिबन्धक नहीं होती और हठधर्मी को सब इन्द्रियों की विद्यमानता में भी ज्ञान की प्राप्ति के लिए आगे भारी परदा है। इसलिए सूरदास वह है, जिसके श्रद्धा और आस्तिक भावना रूपी नेत्र अन्ध हैं और नेत्रों से अन्ध परन्तु श्रद्धा और आस्तिक भावना से युक्त सचक्षु है।

प्रश्न ११०—लोग ज्ञान को पाकर कुकर्म क्यों करते हैं ?

उत्तर—ज्ञान से कुकर्म नहीं होता, अज्ञान से कुकर्म होता है। जो लोग कुकर्म करते हैं उनको अभी ज्ञान नहीं हुआ। यद्यपि वाणी से ज्ञान की चर्चा करते हैं परन्तु वह ज्ञान उनके कल्याण का हेतु नहीं होता। ज्ञान नाम प्रकाश का है, प्रकाश का फल यही है कि चोट न लगे, पाँव न फिसले, चलते-चलते गिर न पड़े, मार्ग को त्याग कर कुमार्ग पर न जावे, किसी से ठोकर न खावे, किन्तु विश्राम और शान्ति सहित सत्यमार्ग पर चलते जावें और जो प्रकाश को पाकर भी गिर पड़े वा मार्ग को न पावे वा किसी से ठोकर खावे तो सिद्ध होता है कि इसके नेत्र अन्ध हैं। उसी प्रकार ज्ञान को पाकर जो कुकर्म करे तो समझना चाहिए कि इसके बुद्धि रूपी नेत्र अभी अन्ध हैं, क्योंकि ज्ञानवान सत्य और असत्य को भली प्रकार समझकर सत्य को अंगीकार करता है और असत्य का त्याग करता है, यदि ज्ञान को पाकर भी असत्य में लगा रहा तो ज्ञान का लाभ कुछ न हुआ, इसलिए समझा गया कि उसका ज्ञान अंधे के हाथ में दीपक की नाईं दूसरों को प्रकाश करने वाला है और स्वयं को

Scanned with CamScanner

अन्धेरे में रखने वाला है। इसलिए वह ज्ञानी नहीं बंधज्ञानी है। ऐसे बंधज्ञानी से अज्ञानी भला है, क्योंकि अज्ञानी परमेश्वर से भय करके कुकर्म का त्याग करता है व सत्गुरु के वचन को सुनकर अपने कल्याण के निमित्त पुरुषार्थ करता व सत्शास्त्रों को सुनकर उनके अनुसार चलता है, व अपने नीच कर्मों को विस्मरण करके स्वयं ही पश्चात्ताप करता है। इससे उसका अन्तःकरण शुद्ध होकर उत्तम पद का अधिकारी होता है। बंधज्ञानी किसी का भय नहीं मानता, ज्ञान की आड़ में निर्भय होकर मलिन कर्मों को करता है। इसलिए दिन-दिन उसकी अवस्था नीच होती है; इसलिए बंधज्ञानी महामूर्ख और महा दुष्ट है, उसका संग करना उचित नहीं।

जो लोग ज्ञान को पाकर कुकर्म करते हैं वे बंधज्ञानी हैं। अभिप्राय यह कि ज्ञान को धारण कर विषयों में बंधमान हैं; जैसे कोई पुरुष हाथ में दीपक लेकर कूप में गिर पड़े उसी प्रकार ज्ञान को पाकर संसार रूपी कूप में गिरे हुए हैं इसलिए उनकी गति महा नीच है। अज्ञान के अधीन होकर अपनी बुद्धि को नष्ट कर रहे हैं, और अपने ज्ञान को कलंकित करके दूसरे ज्ञानियों पर हँसी करा रहे हैं। इसलिए सब जिज्ञासुओं को उचित है कि ऐसे पुरुष का संग कभी भी न करे और स्वयं ही सब कुकर्मों से रहित होकर निर्विकार और पावन रीति से अपनी आयु व्यतीत करें।

प्रश्न १११—जगत् में मनुष्य अपनी कामना पूर्ण करने के लिए जो भिन्न-भिन्न देवता और देवी मना रहे हैं वे देवता कहाँ हैं और किस प्रकार उनकी कामना पूर्ण करते हैं? यह निश्चय उनका यथार्थ है वा कल्पित?

उत्तर—अनुभव कल्पवृक्ष है। जैसी इच्छा की जाए वैसा ही फल मिलता है, दूसरा देवता कोई नहीं, अनुभव ही सब कामना को सिद्ध करने वाला देवता है, वह अनुभव सब की आत्मा है। जब अपने-आप से ही कोई मनोरथ माँगता है, तब अपने से ही उसकी सिद्धि पाता है। अज्ञान से दूसरे देवता की कल्पना मानकर अपने वास्तव देवता से अज्ञात रहता है। यथार्थ दृष्टि से देखें तो अनुभव ही सब घटों में पूर्ण होकर सब शरीरधारियों की भिन्न-भिन्न कामनाओं को देश, काल और वस्तु के अनुसार पूर्ण कर देते हैं। जितने देवता और देवियाँ जगत् में प्रसिद्ध हैं सारे ही अनुभव रूपी समुद्र के तरङ्ग हैं। तात्पर्य यह कि अनुभव के बिना किसी की सिद्धि नहीं होती। इसलिए अनुभव ही सर्व देवों का देव है, सब कर्मों का फल प्रदाता है, ईश्वरों का ईश्वर है और नित्य स्थित है, ऐसे अनुभव को अपना आत्मा निश्चय करके सदा सन्तुष्ट रहना ही यथार्थ स्थिति है।

सब कायिक, वाचक और मानस कर्म अनुभव के आसरे सिद्ध हो रहे हैं अर्थात् अनुभव में सब की सिद्धि है इसलिए सर्व ही अनुभव रूप हैं, अनुभव के बिना रंचक मात्र भी नहीं। अनुभव चिदाकाशरूप है, अन्दर बाहर, अर्ध, ऊर्ध, सामान्य विशेष भाव से रहित अपनी महिमा में आप स्थित है, कदाचित् अपने स्वरूप को त्यागकर और स्वरूप को अंगीकार नहीं करता। नाना प्रकार की सृष्टि बादलों की न्याईं चिदाकाश में उदय होती है और अस्त होती है। चिदाकाश को त्यागकर कहीं नहीं जाती किन्तु चिदाकाश से उदय होती है, चिदाकाश

Scanned with CamScanner

में रहती है और चिदाकाश में लीन हो जाती है, इसलिए सब ही चिदाकाश है। स्थूल, सूक्ष्म निराकार, साकार, जड़, चेतन, चर-अचर, उत्तम मन्द, देवता मनुष्य, जीव ईश्वर इत्यादि द्वन्द चिदाकाश रूप हैं। इनका भेद केवल शब्द में है। शब्द आकाशरूप है, जब भेद की कल्पना करने वाला शब्द भी आकाश रूप है तो भेद आकाश के बिना किस प्रकार सिद्ध होगा। भेद भी आकाशरूप है, जब भेद भी आकाशरूप है तो भेद का रचा हुआ संसार आकाश के बिना कैसे सिद्ध होगा, इसलिए केवल आकाश ही आकाश में स्थित है। क्योंकि आकाश अनुभव रूप है इसलिए उसको चिदाकाश कहते हैं। वही चिदाकाश सब की आत्मा है। ऐसे चिदाकाश को अपना आत्मा निश्चय कर नित्य सन्तुष्ट रहना ही यथार्थ ज्ञान है। इसके बिना सब निश्चय भेद और संशय का हेतु होने से कल्पित और त्यागने योग्य है।

प्रश्न ११२—

॥ दोहा ॥

दृष्ट अदृष्ट प्रपंच का, क्या है वास्तव रूप।
क्या सम्बन्ध सर्वत्र का, भाखो मुनिवर भूप॥

उत्तर—

॥ दोहा ॥

जो भासे सो ज्ञान है, ज्ञान बिना नहीं रंच।
ज्ञानरूप सब देवता, विष्णु महेश विरंच॥ १॥
तीन लोक चौदह भुवन, ज्ञान स्वरूप पछान।
वेद शास्त्र विद्या सकल, केवल ज्ञान प्रमाण॥ २॥
ज्ञानरूप परमात्मा, आतम ज्ञान स्वरूप।
नामरूप सब ज्ञान लख, निर्विकार निःरूप॥ ३॥
ज्ञान भानु उज्ज्वल महा, उदय अस्त से शून्य।
सम स्वरूप इस्थित सदा, नहिं विशेष नहिं न्यून॥ ४॥
स्वयं प्रकाशी स्वस्थ निज, स्वतः स्वभाव अनूप।
सत्ता मात्र अडोल अति; सत्चित् आनन्द रूप॥ ५॥
जो है सो अनुभव अमल, चिदाकाश चिद रूप।
स्वतः सिद्ध पूर्ण अचल, नौतन नित्य अनूप॥ ६॥
ताँको लख निज आत्मा, पावो नित विश्राम।
क्षोभ रहित संतुष्टमन, स्थित मन निष्काम॥ ७॥
देह भेद को छेद कर, देखो पूर्ण एक।
देश काल और वस्तु का, फुरे न रंच विवेक॥ ८॥
सब है सबका आत्मा, सब है सब का रूप।
ज्यों जल सागर सिन्धु नद, नाला, वापी कूप॥ ९॥

Scanned with CamScanner

इसी दृष्टि को धार कर, विचरो जग में मीत।
हेमराज नित्य मुक्त हो, गद गद गावो गीत ॥१०॥

प्रश्न ११३—शिव लिंग की पूजा जो लोगों में प्रसिद्ध हो रही है; इसका क्या प्रयोजन है? दूसरे अंगों की पूजा को त्यागकर केवल लिंग की पूजा किस लिए करते हैं? शिव अक्षर के अर्थ क्या हैं?

उत्तर—आदि में लोग निर्गुण परमात्मा के ज्ञान से शून्य थे, इसलिए परमात्मा को महत् वस्तु जानकर पहाड़ों की पूजा करते थे और घर में एक-एक पत्थर रखकर उसको परमात्मा मानते थे, सब छोटे बड़े उसकी पूजा करते थे और उसको शिवलिंग करके बुलाते थे। शिव का अर्थ कल्याणरूप परमात्मा है और लिंग का अर्थ चिह्न अर्थात् स्वरूप है। क्योंकि उनको केवल स्थूल और साकार रूप पर निश्चय था इसलिए पत्थर को शिवलिंग अर्थात् परमात्मा का स्वरूप मानते थे, वही रीति आज तक प्रसिद्ध चली आती है।

पुराणों में शिव और शक्ति से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं; शिवरूप पुरुष है और शक्ति प्रकृति है; सो पुरुष में पुरुषत्वभाव केवल लिंग के अर्थात् लिंग इन्द्रिय से शरीर पुरुष पदवी को प्राप्त करता है और इसी लिंग द्वारा दूसरे जीवों की उत्पत्ति होती है, और जितने अङ्ग शरीर में हैं, उनमें से किसी में इतनी सामर्थ्य नहीं है जो आप जैसा उत्पन्न कर सके और क्योंकि लिंग में इतनी समर्थ है कि अपनी चेष्टा द्वारा सर्व अङ्गों सहित शरीर को उत्पन्न कर सकता है, इसलिएसृष्टि की उत्पत्ति का चिह्न, कारण, हेतु, अथवा निमित होने से लिंग कहा जाता है और यही लिंग ही पुरुष रूप है, क्योंकि लिंग से बिना पुरुष उत्पत्ति नहीं कर सकता और पुरुष शिवरूप हैं इसलिए शिव ही लिंगरूप है। इस प्रकार केवल लिंग ही पूजने योग्य है दूसरे अंग नहीं।

शिव का अर्थ कल्याण है और कल्याण केवल जड़ अवस्था में है। जब पाषाणवत् इन्द्रिय अंतःकरण और प्राणों की चेष्टा से रहित हो तब पूर्ण कल्याण है। इसलिये पुरातन आचार्यों ने यह रीति रखी थी कि जिज्ञासुओं को पाषाण की शिला के सम्मुख बिठाते थे और समझाते थे कि जिस प्रकार यह शिला अस्फुरण रूप है उसी प्रकार तुम भी अस्फुरण रूप रहो, मानो अस्फुरण का चिन्ह उसके सम्मुख रखकर उसकी वृति को अस्फुरण करने का उपाय बतलाते थे और जिज्ञासु भी एकांत देश में पाषाण के सम्मुख बैठकर पाषाण की न्याई अपनी वृति को स्थिर रखते थे जिसका फल शिवरूप अवस्था प्राप्त होती थी, इसलिये उस पाषाण को शिवलिंग अर्थात् कल्याण का हेतु व चिन्ह कहते थे। जब तक ज्ञान द्वारा इस अभ्यास का प्रचार रहा तब तक बुद्धिमान पाषाण के संग से निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त करते रहे। जब यह अभ्यास शिथिल हो गया, केवल पुरातन रीति का प्रचार रहा तब लोग पाषाण को लिंग के आकर बनाकर मन्दिरों में स्थापित करने लगे और उसको ईश्वर रूप जानकर जल, पुष्प, बिलपत्र आदि से पूजने लगे, यथार्थ फल से शून्य होकर केवल लोकाचार में प्रवृत हो गये, यही प्रवृति आज तक चली आती है।

प्रश्न ११४—गरुड़ एक पक्षी है, उसको गरुड़ भगवान कहते हैं और कहते हैं कि यह

Scanned with CamScanner

भगवान का वाहन है, इसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—वास्तव में देखें तो सारे शरीर ही भगवान के वाहन हैं, क्योंकि सारे शरीरों में भगवान् पूर्ण है इसलिये सारे शरीर भगवान रूप हैं। पुराणों में जो गरुड़ को भगवान का वाहन लिखते हैं, उसका तात्पर्य यह है जैसे गरुड़ पक्षी सर्प को मारता है वैसे ही जो पुरुष मलिन स्वभावों को त्यागकर उत्तम स्वभावों को ग्रहण करता है, वह पुरुष भगवान का वाहन अर्थात् भगवान के ज्ञान का अधिकारी है, क्योंकि भगवान के अर्थ षड (भग) गुण सम्पन्न के हैं, वह षड (भग) गुण ये हैं, समग्र-विद्या, समग्र वैराग्य, समग्र धर्म, समग्र बल, समग्र यश, समग्र लक्ष्मी। यह सारे भग अर्थात् गुण सात्वकी हैं, इसलिये जो पुरुष सात्विक गुण सहित है, वह भगवानरूप है और पक्षी केवल दृष्टांत है, दृष्टांत उसका उत्तम जिज्ञासु है।

गरुड़ दो अक्षरों से रचित है, एक गा दूसरा आरुढ़। 'गा' का अर्थ इन्द्रिय, आरुढ़ का अर्थ 'सवार'। इन्द्रिय पर जो सवार है वह गरुड़ है, इसके दो तात्पर्य हैं, एक यह जिसने दमन करके इन्द्रियों को विषयों से जीता है और अपने आधीन किया है वह गरुड़ है, ऐसा पुरुष उत्तम जिज्ञासु है। दूसरा इन्द्रिय पर सवार चेतन है अर्थात् जिसकी प्रेरणा से इन्द्रियाँ अपने-अपने धर्मों में बरतती हैं, ऐसे चेतन को जो अपना आप जानता है, वह गरुड़ है। ऐसा पुरुष आत्म-ज्ञानी है इसलिए गरुड़ के अर्थ जिज्ञासु और ज्ञानी के हुए। इससे जिज्ञासु भगवान् का वाहन है अर्थात् भक्त है और ज्ञानी भगवानरूप है, यथार्थ अर्थ गरुड़ के यह हैं।

शास्त्रों में दो मार्ग हैं, एक विहंगम मार्ग है दूसरा चीटी मार्ग। विहंगम का अर्थ पक्षी है और चीटी का अर्थ कीड़ी है। जो पुरुष ज्ञान के आसरे सत्य वस्तु के साथ तद्रूप होता है, वह विहंगम पर चलने वाला कहा जाता है। जैसे पक्षी अल्पकाल में एक वृक्ष से उड़कर दूसरे वृक्ष पर जा बैठता है वैसे ही ज्ञानी अल्पकाल में शरीर भावना को त्यागकर ब्रह्म भावना में स्थित होता है इसलिये ज्ञानी को शास्त्रों ने गरुड़ की उपमा दी हैं, वह यथार्थ है। दूसरा चीटी-मार्ग यह है कि हठ योग अर्थात् प्राणों के निरोध से सत्य रूप के साथ तद्रूप होना, और यह मार्ग कठिन है, बहुत काल के उपरान्त बड़े यत्न सहित प्राप्त होता है, वह भी किसी-किसी को; इसलिये उसको चीटी-मार्ग कहते हैं। इन दोनों मार्गों में से विहंगम मार्ग श्रेष्ठ है, इसमें केवल वृत्ति को ज्ञान आरूढ़ करना पड़ता है और कोई यत्न नहीं करना पड़ता इसलिए इसको राज योग कहते हैं। ऐसे ज्ञान आरूढ़ राजयोग को गरुड़ पक्षी के समान भगवान का वाहन शास्त्रकारों ने लिखा है।

गरुड़ नामक एक ब्राह्मण था, वह अल्पकाल में अपने स्वरूप को प्राप्त हुआ था, इसलिये व्यास जी ने गरुड़ पुराण में उसे पक्षीवत् अतिशय वेगवान निरूपण किया है, उसके तात्पर्य को न समझकर मूर्खों ने एक पक्षी गरुड़ को मान रखा है और यह अज्ञानी पुरुषों की अल्प और अज्ञान दृष्टि है।

प्रश्न ११५—दसवें द्वार के क्या अर्थ हैं ?

उत्तर—शरीर में नौ द्वार हैं और दसवाँ द्वार आत्मा है। इनका विस्तार इस प्रकार है। दो नेत्रों के द्वार, दो कानों के द्वार, दो नाक के द्वार, एक मुख का द्वार, एक लिंग का द्वार,

Scanned with CamScanner

एक गुदा का द्वार, यह नौ द्वार हैं। इनमें प्रकाश करने वाला दसवाँ द्वार चेतन आत्मा है और वही सार है, दूसरे नौ असार हैं। इस प्रकार दसवें द्वार के अर्थ ज्ञान स्वरूप आत्मा हैं। जो इससे पृथक् दशम द्वार को सिर में मानते हैं, वे हठ योगी हैं, यथार्थ ज्ञान से शून्य हैं, उनके वचन अयथार्थ और सारहीन हैं।

प्रश्न ११६—

॥ दोहा ॥

"हम वासी उस देश के, जहाँ जाति वर्ण कुल नाँहि ;
शब्द मिलावा होत है, देह मिलावा नाँहि।"

इसके क्या अर्थ हैं ?

उत्तर—इस दोहा के यह अर्थ हैं, हम अर्थात् सब जीव उस देश के बसने वाले हैं जहाँ जाति, वर्ण और कुल की प्रतीत अथवा मनौत तथा भेद नहीं है, उस देश में केवल शब्द का मिलाप है, शरीर का मिलाप नहीं। तात्पर्य यह कि सब जीव चिदाकाश रूप हैं। चिदाकाश केवल शून्य ज्ञान मात्र है। सब जीवों का निवास भी चिदाकाश में है। शब्द आकाश रूप होने से नित्य ही आकाश में रहता है इसलिए शब्द ही आकाश रूप है। ऊपर सिद्ध हुआ है कि जीव भी आकाश रूप है और अब सिद्ध हुआ है कि शब्द भी आकाश रूप है, इसलिए शब्द और जीव दोनों आकाश रूप होने से एक रूप हैं। इसलिए शब्द का मिलाप जीव के साथ माना गया है। देह का मिलाप जीव के साथ नहीं माना गया क्योंकि शरीर, पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन और आकाश से रचित है, आकाश का अंश शरीर में केवल शब्द है और दूसरे चार भूतों के अंश स्थूल रूप होकर देह की संज्ञा पाते हैं इसलिए देह स्थूल और जड़ है। केवल शब्द से इसकी चेतनता का ज्ञान प्रतीत होता है क्योंकि ज्ञान का कारण केवल शब्द है, शब्द के बिना किसी और उपाय से ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, इसलिए शब्द सारभूत है। क्योंकि शब्द के आसरे जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान होता है और शब्द के आसरे शुद्ध ब्रह्म के साथ एकता का ज्ञान होता है, इसलिए सिद्ध हुआ कि अपने स्वरूप का ज्ञान, ब्रह्म के साथ एकता का ज्ञान शब्दजन्य है, इसलिए शब्द का जीव के साथ मिलाप ही अपने वास्तव स्वरूप केसाथ मिलाप है, अथवा शब्द का मिलाप ही ब्रह्म के साथ मिलाप है। यद्यपि अपना स्वरूप नित्य प्राप्त रूप है और ब्रह्म नित्य अभेद रूप है परन्तु अज्ञान से आत्मा अप्राप्त और ब्रह्म भिन्न निश्चय हो रहा है जब शब्द प्रमाण से अपने स्वरूप का और ब्रह्म की एकता का ज्ञान होता है तब नित्य प्राप्त आत्मा, और नित्य अभेद रूप ब्रह्म अभेद प्रतीत होता है इसलिए शब्द का ही मिलाप हुआ और कोई मिलाप नहीं। वस्तु अद्वैत रूप अपने आप में स्थित है, शब्द से भेद निश्चय होता है और शब्द से भेद नाश होता है, शब्द से अपना स्वरूप अप्राप्त प्रतीत होता है और शब्द से प्राप्त रूप प्रतीत होता है इसलिए वास्तव में न कुछ प्राप्त होता है और न कुछ नाश होता है, केवल शब्द का शब्द के साथ मिलाप होता है और शब्द का शब्द के आसरे वियोग होता है, अतः शब्द ही सर्व रूप होकर प्रवृत हो रहा है इसीलिए शब्द को ब्रह्म रूप कहते हैं, इस प्रकार मिलाप केवल शब्द मात्र माना गया है, देहमात्र नहीं।

Scanned with CamScanner

व्यवहार में भी जब दो पुरुष एक-दूसरे के सम्मुख आते हैं तो उनका मिलाप शब्द के आसरे होता है, तात्पर्य यह कि शब्द के आसरे परस्पर प्रणाम करते हैं, शब्द के आसरे एक-दूसरे का कल्याण पूछते हैं, शब्द के आसरे हृदय का अभिप्राय एक-दूसरे के आगे खोलते हैं, शब्द के आसरे परस्पर प्रेम, प्रीति, दया, हर्ष आदि प्रकट करते हैं और शब्द के आसरे एक-दूसरे से मित्रता और सुहृदयता धारकर अभेद रूप होकर बरतते हैं, इसलिए सिद्ध होता है कि जगत् में भी सर्व शरीर धारियों का मिलाप केवल शब्द मात्र है, देहमात्र नहीं और जहाँ शरीर सम्मुख नहीं होते वहाँ कानी व वाणी के आसरे अपने हृदय के अभिप्राय को खोलकर शब्द को पत्र का रूप करके भेजते हैं, दूसरा पुरुष उसको पढ़कर उसके अभिप्राय को अपनी बुद्धि के साथ एकरूप करता है। यद्यपि उन पुरुषों का परस्पर भेद एक हजार कोस का है तथापि शब्द के आसरे दोनों पुरुषों का भेद अभेद हो जाता है। अब देह से उन पुरुषों का मिलाप नहीं हुआ केवल शब्द से उनका मिलाप हुआ है इसलिए सब व्यवहारिक, लौकिक और वैदिक मिलाप केवल शब्दमात्र है। जैसे सतयुग में जिन मुनीश्वरों ने भिन्न-भिन्न मंत्र, श्रुतियाँ, स्मृतियाँ; शास्त्र और पुराण रचे हैं; अब कलयुग में उनके अभिप्राय के अनुसार, मत के अनुकूल और युक्ति के आधीन अगणित सृष्टि प्रवृत हो रही है, देह से किसी ऋषि, मुनि का दर्शन नहीं हुआ केवल शब्द जन्य ज्ञान अब तक पुरुषों के हृदय में आरूढ़ हो रहा है, उससे कलयुग के पुरुष सतयुग के मुनीश्वरों के साथ अभेदरूप होकर प्रवृत हो रहे हैं इसलिए सिद्ध हुआ कि चार युगों के अन्तर का भेद भी शब्द ने दूर करके मिलाप करा दिया है। इसलिए जितना मिलाप है, सब शब्द का है, देह शब्द के रहने का स्थान है। जैसे तबला, सितार, सारंगी और तार शब्द के रहने के स्थान हैं। जब रागी इन चारों की एकता करते हैं तब तबले के आकार, सितार के आकार, सारंगी व तार के आकार की एकता नहीं करते किन्तु चारों के शब्द की एकता करते हैं, और साथ ही रागी अपना शब्द उन चारों से मिलाता है इसलिए पाँच शरीरों का मिलाप केवल शब्द से हुआ, आकारों से उनका मिलाप सिद्ध नहीं होता, इसलिए जितना मिलाप है केवल शब्द मात्र है।

जाति, वर्ण, कुल और नाम का मिलाप भी शब्द से है, देह से नहीं, क्योंकि आज तक किसी ने अपनी जाति, वर्ण, आश्रम, कुल और अपना नाम नहीं देखा; केवल शब्दजन्य ज्ञान सब पुरुषों को है इसलिए जाति केवल शब्द रूप है, उस जाति के साथ जो पुरुष का मिलाप है वह भी केवल शब्द रूप है, क्योंकि पुरुष अपने-आपको नाममात्र मानता है और वह नाम शब्द स्वरूप है, नामरूप शब्द का जातिरूप शब्द से मिलाप होता है। इसी प्रकार वर्ण भी शब्दरूप है, इसका मिलाप भी नाम से होता है और क्योंकि नाम शब्द मात्र है इसलिए वर्णरूप शब्द का नामरूप शब्द से मिलाप होता है। इसी प्रकार कुल भी शब्द है और कुलरूप शब्द का नाम से मिलाप होता है और क्योंकि नाम केवल शब्द मात्र है इसलिए कुल रूप शब्द का नामरूप शब्द से मिलाप होता है। इसी प्रकार सर्व ब्रह्मांड में शब्द के साथ मिलाप होता है। सम्बन्ध भी केवल शब्द मात्र है। शब्द से बिना, पुत्र, पिता, माता, बहन आदि का स्वरूप कोई नहीं और जगत में पिता, पुत्र आदि का सम्बन्ध भी बलवान और

Scanned with CamScanner

दृढ़ हैं, परन्तु वास्तव में पिता भी शब्दरूप है और पुत्र भी शब्दरूप है इसलिए पिता पुत्र का सम्बन्ध केवल शब्द रूप है, देह से पिता पुत्र का मिलाप नहीं, इस रीति से सर्व ही सम्बंध केवल शब्द रूप हैं। इसलिए सिद्ध हुआ कि सर्व प्रपंच शब्द रूप हैं और क्योंकि शब्द आकाश रूप होने से शून्य रूप है इसलिए सर्व प्रपंच और प्रपंच का कार्य जो नाम, जाति, वर्ण, आश्रम; कुल, सम्बन्ध, लोक परलोक आदि हैं शून्यरूप हैं, शून्य कुछ नहीं को कहते हैं इसलिए जितना प्रपंच शब्द जन्य प्रतीत होता है वह तीनों काल अभाव रूप हैं। ऐसा जो देश यथार्थ ज्ञान है, जहाँ बोध मात्र से बिना द्वैत का अत्यन्त अभाव है उसमें हम अर्थात् सर्व ही बसते हैं। तात्पर्य यह कि यही ब्रह्माण्ड वही देश है अथवा यही देह वही देश है, इससे बिना और देश कोई नहीं; इसी देश में शब्द का मिलाप है, शब्द से बिना रंचक मात्र भी कुछ नहीं हुआ। वास्तव में न कोई किसी से मिला है और न कोई किसी से भिन्न हुआ है, न कोई किसी का मित्र और न कोई किसी का शत्रु है, न कोई किसी का स्वामी है न कोई किसी का दास है, न कोई जीव है, न कोई ईश्वर है, न कोई जीव ईश्वर की एकता है न जीव ईश्वर का भेद है, न कोई बंध है न कोई मुक्त है, न कोई ज्ञानी है न कोई अज्ञानी है, न जगत है न ब्रह्म है, न वेद है न शास्त्र है, न पुराण है न इतिहास है, न गुरु है न चेला, न किसी ने कुछ पाया है न किसी ने कुछ गँवाया है, न कोई ऊँच है न कोई नीच है, केवल शब्द का विलास आकाश में हो रहा है। क्योंकि शब्द आकाश से अभिन्न है इसलिए शब्द आकाश रूप है और शब्द ज्ञान का हेतु होने से ज्ञान से अभिन्न है इसलिए ज्ञान भी आकाश रूप है। आकाश चिदाकाश रूप है और नित्य स्थित है। वही चिदाकाश हम हैं और वही चिदाकाश शब्द है इसलिए हम चिदाकाश रूप देश के वासी हैं जहाँ चिदाकाश से बिना दूसरी वस्तु का मिलाप नहीं, क्योंकि द्वैत का अभाव है। इसी रीति से यह अर्थ सिद्ध हुआ कि हम अर्थात् सर्व जन चिदाकाश देश में रहते हैं, जहाँ केवल शब्दमात्र है, दूसरा कुछ नहीं, देह और देह की प्रतीत भी आकाश मात्र है; ऐसे चिदाकाश देश में चिदाकाश रूप होकर स्थित हैं।

प्रश्न ११७—वेद, शास्त्र और वचन तो बहुत हैं परन्तु भेद आज तक नहीं खुला कि वास्तव क्या है, यह भेद किस प्रकार खुले ? और खुल भी सकता है वा नहीं ?

उत्तर—नहीं ! क्योंकि जिस वस्तु का भेद खुलता है वह द्वैत और असत्य होती है और जिस वस्तु का भेद गुप्त रहता है वह अद्वैत और सत्य होती है इसलिए भेद का न खुलना वस्तु की सत्यता और अद्वैतता का लक्षण है। और यथार्थ सिद्धान्त भी यही है जहाँ मन, चित्त, बुद्धि, अहङ्कार ऐसे लीन हो जाएँ कि अपनी स्फुरण रूप शक्ति से कुछ न समझ सकें किन्तु जड़ रूप होकर स्थित रहें और जब तक स्फुरण शक्ति के आसरे कुछ सोचते और समझते हैं तब तक विक्षेप्ता और मनमुखता रहती है, इसलिए जब मन का संकल्प, चित्त का चितवन, बुद्धि का ज्ञान अथवा निश्चय; अहंकार की अहंता, असमर्थ और निर्बल होकर विलीन हो जाए तब जो सत्ता शेष रहे, वह यथार्थ है। अब उसको कौन खोले ? खोलने वाला अन्तःकरण लीन हो गया और सत्ता अद्वैत रूप है इसलिए ज्ञान अज्ञान से मुक्त, समझने और समझाने से रहित, देखने और दिखलाने से परे, सोचने और निश्चय से शुद्ध, उपदेश और

Scanned with CamScanner

उपदेश के विषय से उल्लंघित, भेद और अभेद से पुनीत; वाणी और कानी से अगोचर अपने आपमें आप है, दूसरा न था, न है और न होगा इसलिए क्या कहें और क्या लिखें? जो है वह यथार्थ है। इस सिद्धान्त पर सन्तुष्ट होकर भेद के खुलने और भिन्न-भिन्न शंका के फुरने को निवृत करके निर्विकल्प और शान्त आत्मा रहना उचित है, क्योंकि वस्तु ज्यों की त्यों है, केवल वचन में भेद है और वचन का भेद वस्तु में भेद उत्पन्न नहीं कर सकता इसलिए वचन को त्यागकर अवाच्य में स्थिति पाना ही परमपद है।

॥ सोरठा॥

प्रश्न ११८—कीजे सत् उपदेश, वेद शास्त्र का सार जो।
रहे न रंच कलेश, तृप्त चित्त विचरूँ सदा॥

उत्तर—

नाम रूप संसार, केवल मन की कल्पना।
सत्चित्तआनन्दसार, मन ते परे विचारिये॥ १॥
सिमरो अपना आप, नित्यप्राप्त नित्यमुक्त जो।
जपो न दूसर जाप, जाँते दुतिया मन बसे॥ २॥
निमख न भूलो आप, जो चाहो कल्याण नित्।
जपो अजप्या जाप, भासे रवि ज्यों आत्मा॥ ३॥
रहो असङ्ग पुनीत, लोभ मोह परसे नहीं।
कहूँ न बाँधों चीत, विचरो पवन समान नित॥ ४॥
सत्गुरु अविध अगाध, क्षोभरहित निश्चल सदा।
करे अहं मम बाध, लहे अगाध तरंग वत्॥ ५॥
एका एकी एक, दूसर हुआ न होवई।
जाँको कहित अनेक, सो भी एक पछानिये॥ ६॥
नहिं ईश्वर नहिं जीव, सत्ता मात्र अभेद इक।
नहिं चेतन नहिं जीव, अनुभव मात्र अक्षोभ नित॥ ७॥
निज स्वरूप निर्वाच, वाच लखो भी तास को।
हेमां भाखे साच, एक वस्तु पूर्ण सदा॥ ८॥

॥ भजन॥ (१)

इक निर्गुण सत्ता है पूरण, यही यथार्थ ज्ञान है।
है नामरूप सब चिद्घन, यही यथार्थ ज्ञान है॥ १॥
नहीं जगत् ब्रह्म में भेद कोई, नहीं मैं तू में परिछेद कोई।
जो दृष्टा वह दृश्य है दर्शन, यही यथार्थ ज्ञान है॥ २॥
भ्रम कल्पित ज्ञान अज्ञान सभी, है अनुभवराम समान सभी।
निश्चय सब वस्तु हैं ब्रह्म दर्पण, यही यथार्थ ज्ञान है॥ ३॥

Scanned with CamScanner

हैं भूत भविष्यत सब कल्पित, केवल है वर्तमान शुद्ध सत।
है शब्दमात्र मुक्ति बन्धन, यही यथार्थ ज्ञान है॥ ४॥
सुख दुःख पुण्य-पाप मनौत तेरी, शत्रु और मित्र मनौत तेरी।
मन कल्पित कर्म जन्म अरु मरण, यही यथार्थ ज्ञान है॥ ५॥
मन बुद्धि की जहाँ नहीं है गम्य, वाणी जहाँ हो जावे उपसम।
वही है सरूप तेरा सज्जन, यही यथार्थ ज्ञान है॥ ६॥
जहाँ तेरा मेरा कोई नहीं, परकाश अन्धेरा कोई नहीं।
न उपास्य उपासक और उपासना, यही यथार्थ ज्ञान है॥ ७॥
है पूरण सत्ता निज स्थित, हैं इतर वचन सब यह कल्पित।
नहीं साधक सिद्ध का नहीं साधन, यही यथार्थ ज्ञान है॥ ८॥
शास्त्रों के वाक्य विसारो सब, लोगों के वाक्य विसारो सब।
रहो निर्विकल्प मन सदा प्रसन्न, यही यथार्थ ज्ञान है॥ ९॥
सब संशय तज विश्राम गहो, सब प्रापत लख निरवास रहो।
नित हेमां रहो आपन में मगन, यही यथार्थ ज्ञान है॥ १०॥

॥ भजन ॥ (२)

तू सागर परम अपार है, जरा आँख खोल के देखना।
तू पूरण चिद्घन सार है, जरा आँख खोल के देखना॥ १॥
सब सागर बूंद समान हैं, त्रिलोक हैं बालूवत् तुझमें।
लहरों वत् चारों फ़ानी हैं, जरा आँख खोल के देखना॥ २॥
सामग्री त्रिभुवन की सभी, तेरे अन्दर मुक्ता शुक्तावत्।
नहीं तेरा पारावार है, जरा आँख खोल के देखना॥ ३॥
स्थूल नदी यह असंग है, तू निराकार जीवातमा।
जड़ तन के पीछे खुआर है, जरा आँख खोल के देखना॥ ४॥
वह किसी का शत्रु मित्र नहीं, साकार नदी अरूप तू।
दुशमन है किसी का यार है, जरा आँख खोल के देखना॥ ५॥
साकार नद यह बहता है, सद् ही असंग किनारों से।
तू मोहित सुत और नार पर, जरा आँख खोल के देखना॥ ६॥
साकार दरिया सदैव ही, निर्मान होके बहता है।
तुझ अरूप को अहंकार है, जरा आँख खोल के देखना॥ ७॥
साकार दरिया मिल जावे, कड़वे मीठे से समान ही।
तुझे मीठे से ही प्यार है, जरा आँख खोल के देखना॥ ८॥
इतना गम्भीर गहीर तू, परछिन नदी से नीच हुआ।
तुझ पर फिर धिक्कार है, जरा आँख खोल के देखना॥ ९॥

Scanned with CamScanner

चेतन तू निर्भय एक रस, न्यारा है हर्ष और शोक से।
तू असंग रहित विकार है, जरा आंख खोल के देखना ॥१०॥
अभिमान देह बरबाद कर, अपने स्वरूप को याद कर।
तू केवल अनुभवसार है, जरा आँख खोल के देखना ॥११॥
जग में अलेप रहो सदा, न किसी में मन अपना फँसा।
तू अद्वै ओंकार है, जरा आँख खोल के देखना ॥१२॥
आतम सरूप में तृप्ती ने, समता रस में नित भीने रहो।
हेमां पूरण चिदसार है, जरा आँख खोल के देखना ॥१३॥

॥ भजन ॥ (३)

अब मैं ज्ञान यथार्थ पाया ॥
ईश्वर का परकाश जीव है, मन बुद्धि जीव की छाया ॥ १ ॥
अन्त:करण प्रकाश इन्द्रिय हैं, विषय प्रकाश इन्द्रियन का ॥ २ ॥
ताँते ईश्वर जीवरूप है, जीव ही ब्रह्म कहाया ॥ ३ ॥
अन्त:करण हुए इन्द्रिय गण, इन्द्रिय विषय सबाया ॥ ४ ॥
विषय जगत् स्वरूप है ताँते, जग ईश्वर बन आया ॥ ५ ॥
इस विधि एक अद्वैत वस्तु ने, अद्भुत खेल रचाया ॥ ६ ॥
सबका तादात्म्य सम्बन्ध है, ईश जीव जग काया ॥ ७ ॥
हेमराज पूरण सत्ता इक, भेद और भरम चुकाया ॥ ८ ॥

॥ भजन ॥ (४)

जग शब्द मात्र है प्यारो ॥
शब्द ज्ञान आकाश सरूपा, पवन से होय उच्चारो ॥ १ ॥
शून्य रूप आकाश लखो, अरु पवन रहित आकारो ॥ २ ॥
ताँते शब्द शून्य निश्चय कर, निराकार आधारो ॥ ३ ॥
नहिं अकाश सुख दु:ख का हेतु, सुख दु:ख भरम निवारो ॥ ४ ॥
शून्य शब्द नहीं सुख दु:ख कारण, यह निश्चय उर धारो ॥ ५ ॥
परा पश्यन्ती मधमा वैखरी, शब्दरूप यह चारो ॥ ६ ॥
फुरनामात्र पश्यन्ती मध्यमा, परा कल्पना न्यारो ॥ ७ ॥
वैखरी थूल शब्द है प्यारे, भरमों का आगारो ॥ ८ ॥
यही पुण्य अरु पाप है मैं तूं, जन्म मरण आधारो ॥ ९ ॥
जिसका कारण शून्यरूप है, कारज असत् चितारो ॥१०॥
सकले शब्द व्यर्थ निश्चय कर, दु:ख क्लेश सब जारो ॥११॥
शब्द अर्थ की नहीं एकता, इसका भेद विचारो ॥१२॥
निराकार जल शब्द कभी नहीं, प्यास बुझावे यारो ॥१३॥
हेमराज सहजे हो मुक्ति, सकले शब्द विसारो ॥१४॥

॥ इति श्री एकादश सिद्धान्त समाप्तम् ॥

Scanned with CamScanner

★ यथार्थ ज्ञानी सिद्धान्त ★

: १२ :

प्रश्न १—शरीर दिशा में ज्ञानी को मोक्ष किस ज्ञान से प्राप्त होता है ?

उत्तर—शरीर दिशा में नाना प्रकार के द्वन्द और कल्पनाऐं निश्चित होकर स्वरूप में आवरण का कारण हैं परन्तु आत्मदिशा में द्वन्द और कल्पनाओं का सर्वथा अभाव है। जैसे वृक्ष में नाना प्रकार के द्वन्द और भेद बीज के अज्ञान का कारण होते हैं, बीज में ग्रीष्म और वसंत ऋतु का अत्यन्त अभाव है परन्तु वृक्ष में ग्रीष्म और वसंत ऋतु प्रत्यक्ष भावरूप प्रतीत होते हैं, बीज में छाया और धूप का कोई भेद नहीं परन्तु वृक्ष में छाया और धूप का प्रत्यक्ष भेद प्रतीत होता है, बीज बढ़ने, घटने, ऊँच-नीच भाव से रहित सदा एकरस रहता है और वृक्ष कभी ऊँच, कभी नीच, कभी अधिक और कभी न्यून भाव को प्राप्त होता है। वृक्ष की सार्व अवस्था वृक्ष में प्रतीत होती है और बीज में सब का अभाव होकर सामान्य अवस्था शेष रहती है, वैसे ही शरीर में जन्म मरण, सुख दुख, युवा वृद्ध, ऊंच-नीच, ज्ञानी अज्ञानी, पुण्य पाप, बंध-मोक्ष ; तृष्णा-संतोष, क्रोध-धैर्य, मोह-वैराग्य, काम-जत, अहंकार-विचार आदि प्रतीत होते हैं और आत्मदिशा में सर्व का अत्यन्त अभाव है, क्योंकि आत्म-ज्ञानी आत्मदिशा में स्थित होकर शरीर और शरीर के विकारों को अत्यन्त कल्पित निश्चय करता है। इसलिये शरीर दिशा में ही सब दुखों की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्तिरूप मोक्ष उसको प्राप्त होता है और इससे उल्लंघित वह ऐसे गम्भीर और निर्भय सिंहासन पर विराजमान होता है जहाँ दुःख और आनन्द का भेद नहीं रहता, केवल-केवली भाव अपने आप में स्थित नित्य तृप्त और स्वच्छन्द विचरता है। क्योंकि ऐसे महापुरुष का वचन ज्ञान का साधक अर्थात् ज्ञान प्रदान करने वाला और अज्ञान का बाधक होता है। ऐसे वचनों के बिना और जितने वचन हैं वे सर्व ही बंधन का कारण हैं और जिज्ञासु को बाँधते हैं। इस-लिये बुद्धिमान मुमुक्षु और प्रीतिवान जिज्ञासु अपने कल्याण और हित को सम्मुख रखकर ऐसे यथार्थ और सत्य वचनों के श्रवण में रुचि उत्पन्न करता है और उन्हें सुनता है। तद-न्तर अपने दृढ़ पुरुषार्थ से वास्तव स्वरूप को पहचानता है जिससे कृत-कृत्य होकर परमा-नन्द हिंडोरें में झूलता है।

प्रश्न २—शरीर की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में ज्ञानवान कैसे निर्विकल्प रहता है ?

उत्तर—शरीर पाँच तत्वों से रचित है और पाँचों तत्व एक-दूसरे से विरोध रखते हैं। यही कारण है कि उनका कार्य सदा परिणामी रहता है परन्तु इन पाँच तत्वों का साक्षी और

Scanned with CamScanner

प्रकाशक जो आत्मा के नाम से प्रसिद्ध है, सदा एकरस और समरूप अपने-आप में स्थित रहता है, और यही आत्मा का स्वरूप सत्य है। ऐसे सत्य स्वरूप आत्मा को अपना आप जानकर ज्ञानवान और यथार्थदर्शी निर्विकल्प और आनन्द रूप अवस्था में मग्न रहते हैं। शरीर एक तरंग है और आत्मा एक अगाध समुद्र के समान है, तरंगों के उत्पन्न होने अथवा लीन होने से, समुद्र में कोई विशेषता व न्यूनता नहीं आती, क्योंकि समुद्र में अनेकों ही तरंगें उठती और लीन होती रहती हैं; समुद्र अपनी महिमा में स्थित रहता है। इसी प्रकार आत्मा सदा अमर और अजर है, शरीर और उसमें उठने वाले विकारों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु वह इन पदों से भी उल्लंघित है।

यदि शरीर तीनों काल नहीं है तो दुःख सुख कहाँ है; केवल अद्वैत वस्तु अपने-आप में स्थित, परमानन्द स्वरूप, दुःख क्लेश से रहित है, ऐसे स्वरूप में ज्ञानवान नित्य स्थित होकर नित्य मग्न और निर्विकल्प रहता है।

प्रश्न ३—शरीर के दुःख सुख में ज्ञानवान को शोक तथा हर्ष होता है या नहीं?

उत्तर—शरीर की किसी अवस्था से ज्ञानवान हर्ष और शोक नहीं करते, सदा सम-बुद्धि, स्वस्थ चित्त और निर्विकल्प मन रहते हैं, शरीर और शरीर के धर्म ज्ञानवान की दृष्टि में आकाश की नाईं प्रतीत होते हैं, इसलिये ज्ञानवान को चंचल नहीं कर सकते।

प्रश्न ४—लोग कहते हैं कि ज्ञानवान देह का आसरा नहीं रखते। अब यह शंका है कि यदि ज्ञानवान को पाद अथवा हस्त में पीड़ा हो, तो उसको ज्ञान होता है या नहीं? और यदि होता है तो उस पीड़ा की औषधि भी करता है या नहीं? जो औषधि नहीं करता उसे ज्ञानवान कहते हैं वा औषधि करने वाले को भी ज्ञानवान कहते हैं?

उत्तर—यद्यपि ज्ञानवान शरीर का आसरा नहीं रखता तथापि ज्ञानवान का स्वरूप चेतन है और चेतन उसी वस्तु को कहते हैं, जो अपने आप को और दूसरे को भी जाने इस-लिये ज्ञानवान् अपने आप को भी जानता है और अपने से भिन्न शरीर को भी जानता है। शरीर के दुःखों और दर्दों को भी जानता है, उन दुःखों के निदान और औषधि को भी जानता है और उस ज्ञान के आसरे दुःख की औषधि भी करता है परन्तु अपने साक्षी स्वरूप में सदा स्थित रहता है। यह नहीं कि ज्ञानवान् को पीड़ा का ज्ञान नहीं होता वा वह औषधि नहीं करता, किन्तु ज्ञानवान को ही पीड़ा का ज्ञान होता है अज्ञानी को नहीं, ज्ञानवान ही औषधि करता है। और अज्ञानी नहीं करता? क्योंकि ज्ञानवान नाम जानने वाले का है, जानने वाला उसको कहते हैं जो सब को जाने, यह नहीं कि किसी को जाने और किसी को न जाने। जैसे दीपक सर्व पदार्थों को प्रकाश करता है और आपको भी प्रकाश करता है। प्रकाश उसका स्वरूप है, वैसे ही ज्ञानवान सब पदार्थों को जानता है, क्योंकि जानना अर्थात् ज्ञान ज्ञानवान का स्वरूप है। यदि ज्ञानवान ने पीड़ा को जाना और जानकर औषधि की तो उसमें उसके ज्ञान की हानि नहीं किन्तु बृद्धि है।

जो लोग ज्ञानवान पर इस प्रकार की शंका करते हैं जैसी तुमने की है, वह सिद्धान्त से अज्ञात गिने जाते हैं। ज्ञानवान ज्योतिस्वरूप, स्वयं प्रकाश, बोधरूप, चेतनमात्र, अन्तः-

Scanned with CamScanner

करण के सब धर्मों, इन्द्रियों के कर्मों, और शरीर के दुःखों का प्रकाश करने वाला है और इनसे असंग स्वच्छ और निर्मलरूप भी है। यह ज्ञानवान की गम्भीरता है, जो अपनी पीड़ा को प्रकट न करे या औषधि न करे परन्तु उस पीड़ा को और उसकी औषधि को वह भली प्रकार जानता है। इसलिए ज्ञानवान के ऊपर किसी प्रकार का दंड व नियम स्थापन नहीं हो सकता, वह स्वतन्त्र और स्वच्छन्द है, जैसे चाहे बरते। धीरज करे तो उसका ज्ञान बढ़ता नहीं, हाय-हाय करे तो उसका ज्ञान घटता नहीं, औषधि न करे तो बड़ा महात्मा नहीं हो जाता और औषधि करे तो शरीर का दास नहीं हो जाता किन्तु सर्व प्रकार से वह मध्यस्थ और केवल केवलीरूप है। ऐसे ज्ञानवान की अवस्था को ज्ञानवान ही जानता है, दूसरे लोग क्या जानें। जैसे मछली के खोज को मछली जानती है वैसे ही ज्ञानी की गति को ज्ञानी जानता है।

प्रश्न ५—यदि ज्ञानवान को किसी रोग, पीड़ा और क्लेश से रुदन आवे अथवा वाणी से हाय-हाय करे तो उसके ज्ञान की हानि है वा नहीं?

उत्तर—नहीं, क्योंकि रुदन और हाय-हाय शब्द तत्वों के स्वभाव और कार्य हैं। शरीर भी तत्वों का स्वभाव और कार्य है। तत्व सदा अपने स्वभाव में स्थित हैं, जब कोई तत्व शरीर में अधिक होकर पीड़ा अथवा रोग का हेतु होता है, तब उसके बल से दूसरा तत्व क्षुब्ध होकर अपना स्वभाव विपर्यय रीति से प्रकट करता है जैसे सूर्य के अधिक तेज़ और ताप से बर्फ पर्वत से द्रवीभूत होकर धरती पर गिरती है और प्रवाह रूप होकर नदी अथवा नाले रूप में होकर बहती है, अब किसको रुदन करने वाला कहें। सूर्य अपने स्वभाव में स्थित महाकाश में अपनी क्रीड़ा करता है और बर्फ पर्वत के ऊपर स्थित अपनी सघनता और शीतलता से पूर्ण है। जब सूर्य का तेज बर्फ के साथ तादात्म्य सम्बन्ध को धारणकर एकत्र होता है, तब जल की द्रवीभूत शक्ति उदय होकर बर्फ के अभाव का हेतु होती है, इसलिए तेज की अधिकता बर्फ के द्रवीभूत होने का कारण है और वास्तव में देखें तो अग्नि, जल, सूर्य और बर्फ का कारण कार्य सम्बन्ध है अग्नि और सूर्य कारण हैं, जल और बर्फ कार्य हैं। कारण का बल अपने कार्य पर होता है और कार्य सदा कारण के आसरे रहता है। कारण से उत्पन्न होता है और कारण में लीन होता है। इसलिए कार्य कारण से भिन्न नहीं है किन्तु कारण रूप है। वैसे ही शरीर में जब अग्नि अथवा पित्त बलवान् व प्रकुपित होता है तब कफ द्रवीभूत होकर नेत्रों के मार्ग से निकलता है, इसलिए कफ़ जल का अंश होने से जलरूप है और बर्फ की तरह अस्थिरूप पर्वत पर स्थित रहती है, अग्नि के तेज से द्रवीभूत होती है और नेत्र, नाक, मुख आदि छिद्रों से बाहर निकलती है, अब किसको रुदन करने वाला निश्चय करें? कफ अपने स्वभाव में स्थित है और अग्नि अथवा पित्त भी अपने स्वभाव में स्थित हैं, केवल पित्त की अधिकता कफ के द्रवीभूत होने का कारण है और वास्तव में देखें तो पित्त और कफ़ का कारण कार्य सम्बन्ध है, पित्त कारण है और कफ़ कार्य है। ऊपर सिद्ध हो चुका है कि कारण और कार्य अभेद रूप हैं इसलिये पित्त और कफ़ एक रूप हैं। इस प्रकार शरीर में रुदन आदि की उत्पत्ति होती नवीन नहीं, तत्वों का अनादि स्वभाव है

Scanned with CamScanner

और इस स्वभाव का प्रतिबन्धक दूसरा स्वभाव है। तात्पर्य यह कि एक तत्व का स्वभाव दूसरे तत्व के स्वभाव का प्रतिबन्धक है। प्रतिबन्धक क्या, एक तत्व अधिक होकर दूसरे तत्व को अपने में लीन कर लेता है और यह रीती प्रवाह रूप चली आती है, इसमें ज्ञान और अज्ञान का सम्बन्ध कोई नहीं, सर्व शरीर तत्वों का कार्य हैं और सब में समान चेष्टा होती है। इस-लिए ज्ञानी के शरीर में भी तत्वों के स्वभावों के अनुसार चेष्टा होती है और ज्ञानी इस वार्ता को भली प्रकार जानता है कि शरीर की सर्व चेष्टा तत्वों से, तत्वों के आसरे, तत्वों में हो रही हैं और यथार्थ है, इसलिए ज्ञानवान की हानि किसी अवस्था के आने-जाने से नहीं होती, वह सदा अपने-आप में स्थित रहता है।

ज्ञानवान का अर्थ जानने वाला है। जब ज्ञानी सर्व पदार्थों को यथार्थ रीति से जानकर निश्चय करता है कि जो कुछ हो रहा है अथवा होता है अथवा होगा, सब यथार्थ है। तब कोई चेष्टा उसको विपरीत प्रतीत नहीं होती। सब अवस्था में समानरूप रहता है। ज्ञान को अपना आत्मा जानकर सब प्रकार के संशय और विकल्प से मुक्त रहता है। किसी अवस्था को उत्तम अथवा अधम नहीं कहता। सब को ज्ञानमात्र निश्चय करता है और देखता है कि ज्ञान ही आकाश रूप होकर आकाश है, ज्ञान ही स्फुरणरूप होकर पवन है, ज्ञान ही प्रकाश रूप होकर अग्नि है। ज्ञान ही द्रवित रूप होकर जल है और ज्ञान ही कठोर रूप होकर धरती है, ज्ञान ही इन पाँचों की एकत्रता है, ज्ञान ही एकत्रता का फल जड़ और चेतनरूप सृष्टि है और ज्ञान ही सृष्टि में भिन्न-भिन्न कर्म, धर्म और स्वभाव है इसलिए अद्वैतज्ञान अपने-आप में स्थित है, ऐसे ज्ञान का ज्ञानी सब अवस्था में तुल्य रहता है। किसी अवस्था को अपने स्वरूप से भिन्न नहीं देखता किन्तु आपको और सब अवस्था को ज्ञानमात्र देखता है; ऐसे ज्ञान के ज्ञानी की हानि कदाचित नहीं होती।

प्रश्न ६—तत्वज्ञ देह के होते ही देहभाव से रहित केवल चिदाकाशरूप किस प्रकार रहते हैं ?

उत्तर—चिदाकाशरूप आत्मा नित्य अभेद रूप है, देह की उपाधि से भेद प्रतीत होता है। यदि देह दृष्टि को उठाकर देखें तो नित्य ही अभेद और एकता है। इसलिए तत्वज्ञ देह के होते ही देहभाव से रहित होकर केवल चिदाकाशरूप रहते हैं और समीप और दूर भेद और अभेद की कल्पना से रहित स्वस्थ रहते हैं; देह के संयोग का आनन्द भी लेते हैं परन्त इच्छा से रहित स्वच्छन्द होकर विचरते हैं।

प्रश्न ७—

आतम ज्ञानी आपको, जानत हैं किस भाँत।
कैसे विचरत जगत में, जाँते पावत शाँत॥

उत्तर—

॥ दोहा ॥

अगम अगोचर एक रस, पूर्ण आतमराम।
शब्द कल्पना से परे, सो मेरो निज धाम॥ १॥

Scanned with CamScanner

चिदाकाश चिदरूप मम, जाँ में शब्द कलोल।
यद्यपि क्षण-क्षण उदय हों, तद्यपि अचल अडोल ॥ २ ॥
वस्तु एक इस्थित सदा, जां में अधिक न न्यून।
नहिं सूक्षम अस्थूल नहिं, नहिं पूरण नहिं शून्य ॥ ३ ॥
आदि अन्त बंध्या सवन, मध्य नभ नील समान।
प्राप्त अप्रापत नहीं, नहिं आतम नहिं आन ॥ ४ ॥
आतम मंगल रूप है, निर्भय अचल अकाम।
दुःख सुख मन के धर्म हैं, ज्ञानी आतम राम ॥ ५ ॥

॥ चौपाई ॥

सदा रहे आतम रंग राता, निर्भय अचल प्रेममद माता।
हानि लाभ जानत है ऐसे, नभ में नीलापन है जैसे ॥ १ ॥
सुख आवे आतम की पूजा, दुःख आवे आतम की पूजा।
सदा रहे आतम रस भीना, आप माँहि आपे तृप्तीना ॥ २ ॥
भेद दृष्टि है दुःख की राशि, भेद दृष्टि बन्धन की फाँसी।
ताँते भेद दृष्टि को त्यागो, सर्वातम दृष्टि अनुरागो ॥ ३ ॥
वास्तव रूप अखंड अडोला, कल्पित ताँ में बोल कबोला।
वास्तव रूप अगाध अपारा, मान अपमान समग्र असारा ॥ ४ ॥
नहिं कोई दास नहिं कोई स्वामी, घट घट पूरण अन्तर्यामी।
ऐसी दृष्टि जान सुखदाता, **हेमराज** ज्ञानी मद माता ॥ ५ ॥

॥ दोहा ॥

सदा रहे निश्चल मति, आतम सुख में लीन।
संकल्प रूप संसार में, होय न कबहुँ दीन ॥ १ ॥
सत्‌चित आनन्द रूप का, निशिदिन राखो ध्यान।
सावधान एकाग्र चित, **हेमां** फुरे न आन ॥ २ ॥

प्रश्न ८—तत्वदर्शी काल के चक्कर में अकाल गति को कैसे प्राप्त होता है और किस दृष्टि को धारकर नाना प्रकार के द्वन्दों में सत्तासामान रूप रहता है ?

उत्तर—वास्तव में काल-काल भाव से रहित होकर अपनी गति में स्थित है। यद्यपि उसके दो चक्कर एक श्वेत, द्वितीय श्याम अपनी क्रिया में प्रवाहपूर्वक स्थित होकर एक-दूसरे के भाव अभाव के साधक और बाधक हैं। अर्थात् श्वेत चक्कर श्याम चक्कर का बाधक है और श्याम श्वेत का बाधक परन्तु आकाश रूप अधिष्ठान का कोई चक्कर बाधक अथवा साधक नहीं हैं। आकाश सामान्यभाव से स्थित होकर दोनों चक्करों को घूमने का अवकाश देता है और स्वयं अचल स्थित है, क्योंकि तत्वदर्शी अपने-आपको आकाशरूप निश्चय करता है, इसलिए इसको काल का चक्कर क्षुब्ध नहीं कर सकता। तत्वदर्शी काल में अकाल सिंहासन पर विराजमान होकर अजर, अमर, अखंड और अविनाशी आनन्द का अनुभव करता है।

Scanned with CamScanner

भौतिक प्रपंच की सब चेष्टा काल के आधीन होकर श्वेत और श्याम चक्कर के द्वारा सिद्ध होती है और प्राणधारी जीव इन्हीं चक्करों पर आरूढ़ होकर आयु पर्यन्त घूमते हैं। नाना प्रकार के व्यवहारों को सिद्ध करते हैं। राग-द्वेष, हर्ष-शोक, लोभ-मोह, पुण्य-पाप, सुख-दुःख, काम-क्रोध, ईर्षा-मत्सर आदि के अधीन होकर निरन्तर क्लेश का अनुभव करते हैं। तत्वदर्शी प्राणधारी, तत्वज्ञान के द्वारा काल के श्वेत और श्याम चक्कर के होते ही सर्व चंचलता और भटकना से रहित महाकाशवत् सत्तासामान में स्थित रहता है। इसलिए उसको आकाश पुरुष की संज्ञा शास्त्रकारों ने दी है। इस रीति से तत्वज्ञानी आकाशरूप होकर अपने-आप में स्थित रहता है।

प्रश्न ९—जगत् में नाना प्रकार की व्यभिचारी अवस्थाओं का क्या कारण है? और इन अवस्थाओं में वृत्ति की चंचलता और क्षोभ से मुक्त होकर निश्चल, अडोल और समान कौन रहता है और किस विचार से रहता है?

उत्तर—भूताकाश में तीन बालकों-पवन, जल और अग्नि ने अपनी क्रीड़ा और विलास के द्वारा बहुत ही उत्साह और मंगल मनाया हुआ है। कभी पवन का वेग आकाश में पूर्ण होकर वृक्षों को हिलाता है, मिट्टी को उड़ाता है और सब जीवों को व्याकुल कर देता है। कभी अग्नि का तेज सूर्य रूप होकर अपनी उष्ण और दाह शक्ति को आकाश में ऐसा फैलाता है, जिससे सब प्राणधारी संतप्त और व्याकुल हो जाते हैं और उनके शरीर द्रवीभूत होकर पानी-पानी हो जाते हैं, पर्वतों से बर्फ पिघलकर धरती पर बह चलती है कभी सब ओर जल ही जल दृष्टि में आता है और धरती के साथ परम प्रेम और प्रीति को धारकर ऐसा सम्बन्ध बनाता है कि पृथ्वी के सब निवासियों को व्याकुल और विक्षिप्त चित्त कर देता है। कामी पुरुष की तरह पृथ्वी के साथ मिलकर ऐसा आनन्द पाता है कि अनेक उपाय करने पर भी उसका संग नहीं छोड़ता और ऊपर से मेघ रूप होकर वर्षा करता है। इस प्रकार इन तीन बालकों का कलोल भूताकाश में सब दुःखों, उपाधियों, यत्नों और विकारों को उत्पन्न कर रहा है। ऐसे विलास को देखकर तत्ववेत्ता अपनी महत्त शक्ति और ब्रह्म-विभूति की महिमा का अनुभव करके अपने-आप में स्थित रहता है और अज्ञानी इस वार्त्ता को न जानकर क्लेश का अनुभव करता है। वास्तव में देखें तो वस्तु में वस्तु स्थित है, न कुछ बढ़ता है न घटता है, न आता है, न जाता है, न उत्पन्न होता है, न नाश होता है, तीन गुणों की प्रवृत्ति गुणों में स्थित होकर नाना प्रकार के विलास दिखाती है अर्थात् तत्वों की लीला तत्वों में स्थित है। आज तक कोई भी वस्तु अपने स्वभाव अथवा अपने धर्म को त्यागकर दूसरे के स्वभाव को प्राप्त नहीं हुई, इसलिए एक अद्वैत सत्ता अपने-आप में स्थित है। इस दृष्टि को धारण करने से सर्व अवस्थाओं में निश्चलता, अडोलता और समता की प्राप्ति होती है।

बुद्धिमान किसी के संयोग और वियोग से हर्ष और शोकवाला नहीं होता, सदा अपने स्वरूप में स्थित रहता है। शरीर पक्ष में संयोग, वियोग, गमन आगमन, जन्म-मरण प्रतीत होता है और शरीर की ममता से पिता, पुत्र, भाई, भार्या, भगिनी आदि का सम्बन्ध प्रसिद्ध है परन्तु ज्ञानवान शरीर की अवस्था और शरीर के सम्बन्ध को अज्ञान से रचित देखकर

Scanned with CamScanner

सदा अडोल और निश्चल रहता है। न कोई अपना सम्बन्धी देखता है और न कोई पराया देखता है, सब को अपना आत्मा देखकर प्रसन्नचित रहता है। न किसी के उत्पन्न होने से हर्षित होता है और न किसी की मृत्यु से शोकातुर होता है, सदा एकरस, गम्भीर मति और प्रसन्न आत्मा रहता है। किसी प्रकार से अपने वैराग्य, उपरति, निश्चिन्तता, उदासीनता को नहीं भुलाता, सदा पवनवत् असंग होकर विचरता है। धन, स्त्री, भ्राता, सन्तान में बंधा रहकर अपनी उपरति और स्वतन्त्रता से उपरत नहीं होता। सदा सावधान होकर परमानन्द सहित अपने काल को निभाता है। इस रीति से सब अवस्थाओं में समान और अडोल रहता है।

प्रश्न १०—ज्ञानवान की दृष्टि में भ्राता, सुत, वनिता आदि सम्बन्धी किस प्रकार प्रतीत होते हैं ?

उत्तर—कल्पनामात्र। इसका विस्तार सुनें। सृष्टि दो प्रकार की है। एक ईश्वर सृष्टि, दूसरी मनोमय सृष्टि, ईश्वर सृष्टि स्वतः सिद्ध है और मनोमय सृष्टि कल्पित है। एक पुरुष का शरीर ईश्वर रचित होने से ईश्वर सृष्टि है। उसमें अनेक प्रकार की कल्पना मन से होती है, कोई उस शरीर को बेटा मानता है; कोई बाप कोई भाई; कोई श्वसुर, कोई जमाई, कोई साला, कोई बहनोई, कोई मामा, और कोई भान्जा मानता है। इस रीति से एक पुरुष के शरीर में मन रचित अनेक कल्पनाऐं होती हैं, सो इनमें शरीर मात्र ईश्वर रचित है और पिता-पुत्र आदि सम्बन्ध मन रचित हैं। ईश्वर रचित यथार्थ एक हैं और मन-रचित कल्पित और अनेक हैं। इसलिये ईश्वर रचित शरीर पर निश्चय करके मनरचित बाप, बेटा, भाई आदि की कल्पना से वृत्ति को शुद्ध करना उचित है। जब यह सारे सम्बन्ध कल्पित प्रतीत हुए, तब ज्ञानी किसको बेटा माने और किसको बाप माने और किसको भाई माने ? सबको कल्पित जानकर शरीर को यथार्थ देखता है। फिर शरीर को जब विचार रूपी तराजू में तोलता है तो शरीर भी कोई वस्तु नहीं निकलता, पाँच तत्वों की भिन्न-भिन्न तनु मात्रा, इन्द्रिय, अन्तःकरण, प्रकृति और कर्मों का नाम शरीर है। जब इन सारों को पाँच तत्वरूप करके देखा, तब शरीर नहीं रहता, पाँच तत्व ही रहते हैं। फिर जब पाँच तत्वों को विचारता है तो पाँच तत्व परमात्मा के पाँच स्वभाव प्रतीत होते हैं। अर्थात् परमात्मा का पूर्ण स्वभाव आकाश है, चेतन स्वभाव पवन है, प्रकाश स्वभाव अग्नि है, सर्वात्म स्वभाव जल है और आधार स्वभाव धरती है इसलिये पाँच तत्व कोई वस्तु नहीं, एक परमात्मा ही अपनी महिमा में स्थित है। इस प्रकार ज्ञानी को पुत्र, भ्राता और दूसरे सम्बन्धी भासते हैं। स्त्री के लिए भी यही विचार समझना। भाव यह कि स्त्री का शरीर ईश्वर रचित होने से ईश्वर सृष्टि है और उस शरीर पर मन अनेक कल्पना करता है, उसको बहन, कोई उसको माता, कोई उसको मामी, कोई उसको बनिता और कोई उसको चाची मानता है। इससे लेकर और भी अनेक कल्पनाऐं होती हैं सो यह सारी कल्पनाऐं मनरचित होने से मनोमय सृष्टि है; क्योंकि ईश्वर सृष्टि यथार्थ और एक है और मनोमय सृष्टि कल्पित और अनेक है। इसलिये ज्ञानी ईश्वर सृष्टि पर दृष्टि रखकर मनोमय सृष्टि को मिथ्या प्रतीत करता है। क्योंकि दारा अथवा बनिता की कल्पना मनोमय सृष्टि है इसलिये ज्ञानी की दृष्टि में बनिता की

Scanned with CamScanner

कल्पना नहीं है, केवल शरीरमात्र उसको भासता है और शरीर पाँच तत्वों का संघात है पाँच तत्व परमात्म स्वरूप हैं, इसलिये ज्ञानी को एक ही परमात्मा भासता है।

प्रश्न ११—जब ज्ञानी सबको ब्रह्म रूप देखता है तो अपनी वनिता को भी ब्रह्म रूप देख सकता है या नहीं ?

उत्तर—हाँ देख सकता है। इसका निर्णय विस्तार सहित ऊपर आ चुका है और दूसरा ब्रह्म के बिना जो कुछ भासे, वह बाँझ के पुत्र के समान है। भाव यह कि ब्रह्म के बिना न कुछ था, न है और न होगा, यह दृष्टि ज्ञानवान की है।

प्रश्न १२—गृहस्थ में देह अभिमान किस प्रकार निवृत हो सकता है, क्योंकि व्यवहार में समय अनुसार अन्तःकरण में ज्ञान होने पर भी मेरा मेरी शब्द बोलने पड़ते हैं ?

उत्तर—देह अभिमान दो प्रकार का है, एक स्थूल दूसरा सूक्ष्म। यद्यपि ज्ञान से सूक्ष्म अहंकार निवृत हो जाता है तथापि स्थूल अहंकार शरीर पर्यन्त रहता है, क्योंकि व्यवहार की सिद्धि अहंकार के बिना नहीं हो सकती। जब तक शरीर रहता है, तब तक व्यवहार भी रहता है और जब तक व्यवहार रहता है तब तक अहंकार भी रहता है, जब शरीरपात हो जाता है तब व्यवहार और अहंकार दोनों लीन हो जाते हैं। इसलिये स्थूल अभिमान ज्ञान के उपरान्त भी रहता है। इस स्थूल अभिमान से ज्ञानवान का स्वरूपनिष्ठा में कुछ अन्तर नहीं आता। वह सदा अपने अशब्द, अखंड, अगणित, अविगत स्वरूप में स्थित रहता है। शरीर की क्रिया दस इन्द्रियों से होती है और दस इन्द्रियों का प्रेरक अहंकार है। इसलिये अहंकार भी इन्द्रियों की प्रेरणा के लिए अपने कर्म में प्रवृत रहता है। परन्तु ज्ञानी अपने आपको इन्द्रिय और अहंकार का प्रकाशक जानता है इसलिये इन्द्रिय और अहंकार के होने पर भी असंग और शुद्ध रहता है। जैसे- जैसे व्यवहार घटता जाता है, वैसे-वैसे अहंकार भी घटता जाता है तो भी शरीर पर्यन्त कुछ न कुछ रहता है, सो इसके रहने से ज्ञानवान की कुछ हानि नहीं। ज्ञानवान अपने आपको अगाध समुद्रवत् देखता है। शरीर और शरीर के व्यवहार, इन्द्रिय और इन्द्रिय के कर्म, अन्तःकरण की चेष्टा, सबको अपनी तरंगों की तरह देखता है। मानो सब ब्रह्माण्ड को अपना विलास देखकर नित्य-प्रसन्न, नित्य-तृप्त, नित्य-मुक्त और निर्विकल्प रहता है। इन्द्रिय और अन्तःकरण की चेष्टा से अपने स्वरूप में रंचक-मात्र भी क्षोभ और विघ्न नहीं देखता।

ज्ञानवान ऐसे समझता है कि सर्व शरीरों में कहने वाला भी मैं हूँ, क्योंकि मैं सर्व का आत्मा हूँ और आत्मा का वाच्य लक्षण मैं हूँ। इसलिए सब शरीरों में जो मैं का उच्चार हो रहा है वह मैं कर रहा हूँ, मुझसे बिना 'मैं' कहने वाला दूसरा नहीं; जब मैं ही मैं हूँ तो मैं के त्याग का क्या प्रसंग और ग्रहण की क्या कथा। इस विचार से ज्ञानवान मैं मेरी के उच्चार समय भी अपने आपको ज्यों का त्यों देखता है और फिर इसी 'मैं' को सब घट में पूर्ण देख-कर ब्रह्म निश्चय करता है। मानो मैं को पूर्ण देखता है। जब मैं ही पूर्ण है तो मैं का अंश मेरा और मेरी कैसे पूर्ण न होंगे ? पूर्ण वस्तु सब देश, सब काल और सब वस्तु में होती है। इसलिये मैं, मेरा और मेरी भी सब देश, सब काल और सब वस्तु में पूर्ण है। ऐसी पूर्ण

Scanned with CamScanner

वस्तु का किस प्रकार त्याग हो सकता है निर्विकल्प होकर आयु को व्यतीत करना उचित है।

बाहर से मैं मेरी करने में कुछ विघ्न नहीं। अन्तर से परिच्छिन्न देह के साथ मिलकर मैं मेरी में सत्य बुद्धि न हो, क्योंकि मैं मेरी का त्याग केवल राग-द्वेष की निवृति के लिए है। जब ज्ञानी ज्ञान द्वारा परिच्छिन्न मैं का त्याग करता है तब राग-द्वेष का कारण कोई नहीं रहता। इसलिए जिज्ञासु को उचित है कि अपना स्वयं साक्षी होकर जाँच करे कि मेरे हृदय में परिच्छिन्न अहंकार की सत्य प्रतीति है अथवा मिथ्या! यदि सत्य प्रतीति हो तो बारम्बार वास्तव स्वरूप को चिन्तन करके उस अहंकार की प्रतीत को निवृत करे और यदि मिथ्या प्रतीति हो तो निर्विकल्प होकर देह के व्यवहार को सिद्ध करता रहे परन्तु राग-द्वेष का भागी किसी व्यवहार में न हो। इसी का नाम जीवनमुक्त अवस्था है।

प्रश्न १३—सत् पुरुष पदार्थ अंगीकार करते हैं या नहीं?

उत्तर—सत् पुरुष श्रद्धा के भूखे हैं, पदार्थ के भूखे नहीं। परन्तु जब कोई शिष्य श्रद्धा सहित कोई पदार्थ भेंट करे, उसकी प्रसन्नता के लिए उसे अंगीकार करते हैं, अन्यथा इच्छा से रहित, कामना से शून्य, नित्यतृप्त और संतुष्ट हैं, क्योंकि इस जगत में धन के लिए किसी को कहना, किसी दूसरे साधन से धन लेना, प्रसन्न करना, प्रेरणा करनी अथवा प्रार्थना करनी परमार्थ न्याय के विरुद्ध है। यह सम्बन्ध अतिशय दुःख रूप और क्लेश दायक है। ऐसा संबंध किसी के साथ रखना उचित नहीं, इसलिए सतपुरुष आप्तकाम और संतुष्ट रहते हैं।

प्रश्न १४—ज्ञानवान में ग्रहण और त्याग है अथवा नहीं?

उत्तर—प्रथम ग्रहण और त्याग को विचारना उचित है कि यह क्या वस्तु हैं और किस प्रकार सिद्ध हो रहे हैं; जब इनका यथार्थ ज्ञान होगा तब ज्ञानी क्या अज्ञानी में भी ग्रहण और त्याग प्रतीत नहीं होगा। ग्रहण और त्याग का कारण पाँच तत्त हैं वह पाँच तत्त तीन स्वरूप धारकर ग्रहण और त्याग करते हैं। एक स्वरूप में अन्तःकरण रूप होकर ग्रहण अथवा त्याग के कर्ता होते हैं। दूसरे स्वरूप में इन्द्रिय रूप होकर ग्रहण अथवा त्याग का कर्म होते हैं। तीसरे स्वरूप में विषय रूप ग्रहण अथवा त्याग करने योग्य होते हैं। इसलिए ग्राहक, ग्रहण और ग्राह्य, त्यागी, त्याज्य और त्यागरूप त्रिपुटी पाँच तत्व हैं। फिर इन पाँच तत्वों के मिले हुए भाग से अन्तःकरण है और एक-एक तत्त के सतोगुण भाग से एक-एक ज्ञान इन्द्रिय और एक-एक तत्त के रजोगुण अंश से एक-एक कर्म इन्द्रिय है। इसी प्रकार एक-एक इन्द्रिय का विषय और कर्म भी भिन्न-भिन्न हैं और अन्तःकरण के धर्म भिन्न और अभिन्न रूप हैं। तात्पर्य यह कि जिस इन्द्रिय के साथ अन्तःकरण की वृत्ति मिलती है उस इन्द्रिय के विषय को ग्रहण करती है और दूसरी इन्द्रियों के विषयों का त्याग करती है। इस प्रकार एक-एक इन्द्रिय के विषय से भोग अथवा कर्म के समय ग्रहण और त्याग सिद्ध है, ग्रहण त्याग के बिना इन्द्रियों का व्यवहार सिद्ध नहीं होता और एक-एक इन्द्रिय अपने-अपने कारण के स्वभाव में बरतती है। जैसे श्रोत इन्द्रिय आकाश का कार्य होने से केवल शब्द को ग्रहण करती है और स्पर्शरूप रस और गन्ध का त्याग करती है क्योंकि उसमें केवल शब्द ग्रहण करने की सामर्थ्य है। त्वचा इन्द्रिय पवन का कार्य होने से केवल स्पर्श को ग्रहण करती है और शब्

Scanned with CamScanner

रूप, रस और गन्ध को त्याग करती है, क्योंकि त्वचा में केवल स्पर्श के ग्रहण करने की सामर्थ्य है। नेत्र इन्द्रिय, अग्नि का कार्य होने से केवल रूप को ग्रहण करती है और शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध को त्याग करती है, क्योंकि नेत्र में केवल रूप ग्रहण करने की सामर्थ्य है। रसना इन्द्रिय जल का कार्य होने से केवल रस को ग्रहण करती है और शब्द, स्पर्श, रूप और गन्ध का त्याग करती है, क्योंकि रसना में केवल रस के ग्रहण करने की सामर्थ्य है। नासिका इंद्रिय पृथ्वी का कार्य होने से केवल गन्ध को ग्रहण करती है और शब्द, स्पर्श, रूप और रस का त्याग करती है, क्योंकि नासिका में केवल गन्ध के ग्रहण की सामर्थ्य है। इस प्रकार एक-एक इन्द्रिय में ग्रहण और त्याग रहता है और वृत्ति जिस इन्द्रिय के साथ तद्रूप होती है, उसके अनुसार ग्रहण अथवा त्याग करती है।

कर्म इन्द्रिय में भी इसी प्रकार ग्रहण और त्याग रहता है, क्योंकि ग्रहण और त्याग के बिना कर्म, ज्ञान, भोग अथवा योग सिद्ध नहीं होता। सब प्राणधारी सृष्टि में चौदह इन्द्रियों से काम करते हैं और प्राणी इनका प्रवर्तक है। चौदह इन्द्रिय का विस्तार ऊपर लिखा गया है। अपने-अपने धर्म में सावधान हैं और दूसरे के धर्म को अंगीकार नहीं करती। इसलिए चौदह इन्द्रियों में ग्रहण और त्याग रहता है, ग्रहण नाम अपने धर्म के अंगीकार करने का है और त्याग नाम दूसरे के धर्म को त्यागने का है। पाँच तत्त भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले हैं इसलिए उनके कार्य-इन्द्रिय भी भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले हैं। भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले पदार्थों में ग्रहण और त्याग रहता है, इसके बिना कार्य सिद्ध नहीं होता। इसलिए ग्रहण त्याग शरीर के प्रवर्तक हैं। शरीर पर्यन्त ये दोनों स्वभाव स्थित रहेंगे, क्योंकि प्रिय वस्तु का ग्रहण और अप्रिय वस्तु का त्याग सुख का कारण और दुःख निवर्तक है। सब शरीरधारी सुख चाहते हैं, सलिए प्रिय पदार्थ के ग्रहण और अप्रिय पदार्थ के त्याग में यत्न करते रहते हैं।

प्रकृति की मर्यादा भी ऐसी है कि ग्रहण और त्याग के बिना शरीर की उत्पत्ति, वृद्धि, रक्षा, पालन और संहार नहीं होते। इसका विचार इस प्रकार है कि प्रथम पुरुष से वीर्य का त्याग होता है और स्त्री में वीर्य का ग्रहण होता है, उस समय शरीर का स्वरूप गर्भ में बनता है, फिर नौ मास के उपरान्त उस शरीर का स्त्री के गर्भ से त्याग होता है और विराट के गर्भ में ग्रहण होता है। विराट के गर्भ में मुख से ग्रहण होता है और गुदा व उपस्थ इन्द्रिय से त्याग होता है। यदि गुदा से त्याग निवृत हो जाए अथवा मुख से ग्रहण न हो तो मृतक होता है। इस प्रकार ग्रहण और त्याग द्वारा शरीर बालक अवस्था को प्राप्त होता है। ग्रहण और त्याग की अधिकता से युवाअवस्था प्राप्त होती है। ग्रहण और त्याग की न्यूनता से वृद्धावस्था प्राप्त होती है। अन्त में ग्रहण और त्याग की अत्यन्त न्यूनता से मृतक अवस्था प्राप्त होती है। इसलिए ग्रहण और त्याग ही शरीररूप हैं। ग्रहण और त्याग के बिना शरीर का कोई स्वरूप नहीं। ज्ञानी भी शरीर स्वरूप है और अज्ञानी भी शरीर स्वरूप है। शरीर का व्यवहार दोनों का तुल्य है परन्तु इतना भेद है कि ज्ञानी जानता है कि ग्रहण और त्याग यथार्थ है, स्वतः सिद्ध है और प्रकृति से चले आते हैं। सब कार्य इनके द्वारा सिद्ध हो रहे हैं इसलिए उसको न ग्रहण में राग होता है और न त्याग में द्वेष होता है, समानरूप में रहता है।

Scanned with CamScanner

अज्ञानी ऊपर लिखित ज्ञान से शून्य है। इसलिए ग्रहण और त्याग में हर्ष और शोक का अनुभव करके दुःखी और विक्षिप्त चित्त रहता है।

वास्तव में ग्रहण और त्याग का अभाव नहीं होता। ग्रहण और त्याग कोई वस्तु नहीं हैं, सब इन्द्रियाँ अपने-अपने स्वभाव में बरतती हैं। इसमें ग्रहण क्या और त्याग क्या? ये दोनों शब्द निरर्थक और कपोलकल्पित हैं। वास्तविक दृष्टि में वे अपने स्वतः स्वभाव में स्थित है। ज्ञानी अपने-आप को स्वतः स्वभाव निश्चय करता है, सब कर्मों को अपना कर्म निश्चय करता है और सर्व धर्मों को अपना धर्म निश्चय करता है। किसी स्वभाव, कर्म अथवा धर्म में उसकी ग्रहण और त्याग की बुद्धि नहीं होती, समानरूप जैसा काल और देश होता है वैसे ही स्वच्छन्द, निर्भय, निर्विकल्प, निःसंशय और निर्मान होकर विचरता है, इसलिए ज्ञानवान में ग्रहण और त्याग नहीं है और वास्तव दृष्टि से देखें तो किसी में ग्रहण और त्याग नहीं है। इस प्रकार अपने आपको निश्चय करना और सब सृष्टि को देखना और सदा ग्लानि से रहित रहना यथार्थ ज्ञान, सम्यक् दृष्टि और परमानन्द अवस्था है।

प्रश्न १५—महापुरुष संयोग वियोग की कल्पना से रहित किस विचार से रहते हैं?

उत्तर—क्योंकि स्थूल संयोग क्षणभंगुर और मिथ्या है और स्थूल पदार्थ देहकाल आधीन होने से कदाचित् समान और स्थित नहीं रहता इसलिए महापुरुष इसके संयोग को संयोग नहीं मानते किन्तु अधिष्ठानरूप चिदाकाश को अपनी आत्मा निश्चय कर संयोग वियोग की कल्पना से रहित रहते हैं।

प्रश्न १६—ज्ञानी को कुशल और कल्याण का पूछना अथवा उसके निमित्त आशीर्वाद देना या माँगना उचित है या नहीं?

उत्तर—सत्चित् आनन्द स्वरूप में कल्याण और कुशल का पूछना या आशीर्वाद देना सिद्ध नहीं होते। जो सत्य है वह कदाचित् असत्य भाव को प्राप्त नहीं होता। और असत्य, जड़-दुःखरूप शरीर की अवस्था का कल्याण पूछना व आशीर्वाद देना भी उचित नहीं, क्योंकि जो असत्य-परिणामी और क्षणभंगुर है वह कदाचित् सत्य नहीं होता। इसलिए दोनों प्रकार से कल्याण और कुशल का पूछना व देना नहीं बनता। वास्तव स्वरूप सदा शिव, सत्चित् आनन्द है, उसमें कल्याण की प्रार्थना अज्ञान से है इसलिए ज्ञानी सदा शिव सत्चित आनन्द स्वरूप को सर्व आत्मा निश्चय करके सर्व कल्पना से मुक्त रहता है।

प्रश्न १७—सज्जनों को धर्म और दृष्टि कौन-सी धारण करनी उचित है जिससे उनकी प्रीति, सत्यविलास, शान्ति और तृप्ति स्थित रहे?

उत्तर—सज्जनों का यही धर्म है कि जलतरंगवत् परस्पर सत्य-प्रतीति, सत्य-विलास, सत्य-सम्बन्ध और सत्य-धर्म को स्थित रखें। देश और काल का अन्तर शुद्ध चित्त में अन्तर उत्पन्न करके वियोग बुद्धि और विस्मृति निश्चय नहीं कराता। शुद्ध चित्त में व्यापक चेतन निरन्तर प्रतिबिम्बित होकर चित्त को परिच्छिन्न और विशेष भाव से मुक्त करके अपरिच्छिन्न और समान रखता है। इसलिए शुद्ध चित्त वाले, तत्व अनुसंधान और तत्वस्थिति के बल से तत्वस्वरूप को देश काल वस्तु के परिच्छेद से रहित अनुभव करके निरन्तर ही तृप्त और

Scanned with CamScanner

शान्तरूप रहते हैं।

दृष्टान्त—घट-दृष्टि आकाश में विभाग कल्पना उत्पन्न कर अखंड में खण्ड, अक्रिय में क्रिया और अपरिच्छिन्न में प्रच्छिन्नता प्रतीत कराती है। आकाश-दृष्टि सर्व आरोपित उपाधियों के होते आकाश की वास्तव अखण्डता, अचलता, स्वच्छता और अपरिच्छिन्नता को अपरोक्ष अनुभव कराकर संशय विपर्यय से रहित सत्य सिंहासन पर विराजमान करती है। इसलिए आकाश दृष्टि ही धारणीय है। यह दृष्टान्त ही दारिष्टान्त रूप है। महान बुद्धिमान सज्जनों के समक्ष यह दृष्टान्त रूप दारिष्टान्त भेंट है।

प्रश्न १८—आत्मवेत्ता की दृष्टि में निंदक और भक्त का भेद है अथवा अभेद? निंदा से ज्ञानी के ज्ञान की हानि होती है या नहीं? संसारी लोग निन्दा से क्या फल पाते हैं? वे किस तरह निन्दा रूप महापाप से मुक्त होते हैं?

उत्तर—आत्मवेत्ता की दृष्टि सदा पावन और निर्विकार है, उसकी दृष्टि में न कोई निन्दक है और न कोई भक्त, वह सबको अपना आत्मा देखता है। जब उसकी दृष्टि में द्वैत नहीं है तो अवगुण क्या और क्षमा कहाँ से? इन विकारों से शुद्ध वह अपनी गंभीरता में स्थित है। जैसे पवन के वेग से पहाड़ नहीं हिलता वैसे ही शब्द के उच्चारण से तत्ववेत्ता क्षुब्ध नहीं होता; वह सदा अपने-आप में स्थित हैं। संसारी जन अविद्या से अंध उनकी महिमा को न जानकर अपने कपोल कल्पित वचन कहते रहते हैं परन्तु उनकी वृत्ति रंचकमात्र भी चलायमान नहीं होती, उल्टा स्थित होती जाती है। जैसे उल्लू की निन्दा से सूर्य के तेज की हानि नहीं होती, वैसे ही अज्ञानी के वचन और निन्दा से ज्ञानी के ज्ञान की हानि नहीं होती। संसारी लोग इस निन्दा से मनमुख होकर संसाररूप कंटक वन में ठोकरें खाते फिरते हैं, कहीं स्थान नहीं पाते। संशय विपर्यय के काँटे उनके मन रूप पाद में चुभकर भय, द्वेष, चिन्ता, भ्रान्ति, विक्षेप्ता के दुःख उत्पन्न करते हैं। इसलिए निन्दक अज्ञानी सदा दुःखी रहते हैं। जब किसी उत्तम संस्कार से महात्मा की शरण को प्राप्त होते हैं और उनके गुणों को अंगीकार करते हैं तब दुःख से मुक्त होते हैं।

प्रश्न १९—ज्ञानवान को इन्द्रियों पर जो विजय प्राप्त होती है, वह केवल स्वरूप के निश्चय से होती है अथवा किसी जाप से?

उत्तर—स्वरूप के विचार से इन्द्रियों पर निरन्तर विजय होती है और जाप से क्षणभंगुर विजय होती है। इन्द्रिय मन के आधीन हैं और मन जीवात्मा के आधीन है, जब जीवात्मा अपने को मन का साक्षी और स्वामी निश्चय करता है, तब मन वश में हो जाता है। जब मन वश में हुआ, तो उसकी सेना इन्द्रियाँ स्वाभाविक ही वश में हो जाती हैं इसलिए ज्ञानवान तत्वविचार से मन को शान्त कर इन्द्रियों को दमन अर्थात् वश में करता है। इस प्रकार ज्ञानवान चक्रवर्त्ती राजा की तरह अंतःकरण और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर निष्कंटक राज्य करता है। इसलिए जिज्ञासु को उचित है कि वह विचार के आसरे इन्द्रियों को दमन करे, जब मन किसी विषय का चिन्तन करे तब मन का निरोध करे। यदि मन न रुके, उस विषय के दूषण सोचकर मन को धिक्कार करे और जिस इन्द्रिय का विषय है उस

Scanned with CamScanner

इन्द्रिय के साथ मन् को न मिलने दे। यदि मन इन्द्रिय मिल जावें तो स्थूल शरीर को विषय भोगने के लिए न ले जावे। इस रीति से अपने-आप में सावधान होकर मन और इन्द्रिय को वश में करे। यद्यपि जप से भी मन अल्पकाल स्थिर होता है और इन्द्रिय भी रुक जाती हैं परन्तु जाप के उपरान्त फिर मन फुर कर इन्द्रियों को चेतन करता है। इसलिए जाप इन्द्रियों को वश करने का पूर्ण उपाय नहीं, केवल विचार से इन मित्रवत् शत्रुओं पर विजय होती है।

प्रश्न २०—ब्रह्म विद्या से किसको आनन्द होता है और वह पुरुष दूसरों को भी लाभ देता है या नहीं ? और ऐसे पुरुष बहुत हैं या दुर्लभ ?

उत्तर—ब्रह्मविद्या परम अगाध और अति विस्तीर्ण है। उत्तम दृष्टिवान इस अमृत सागर में निमग्न होकर प्राणान्तपर्यन्त ब्रह्मानन्द का अनुभव करते हैं और सर्वात्म हित से तटस्थ जिज्ञासुओं पर वचन वृष्टि कर शीतल और स्निग्ध बनाते हैं। मानो नदी के वेगवत् तटस्थ वृक्षों को यथा-अधिकार प्रफुल्लित और सुगंधित कर उपकार बतलाते हैं। ऐसे सज्जन और परम हितकारी पुरुष इस मायावी प्रपंच में अति दुर्लभ हैं।

प्रश्न २१—

अनुभावक शास्त्रज्ञ में; भगवान क्या है भेद।
आन ज्ञान ततज्ञान में, क्यों भासे प्रच्छेद॥

उत्तर—

॥ दोहा ॥

सूरदास शास्त्रज्ञ है, अनुभावक चक्षुवान।
आन ज्ञान खद्योत वत्, तत्व ज्ञान सम भान॥

प्रश्न २२—यदि ज्ञानवान की दृष्टि समता में ऐसी दृढ़ हो जाती है कि चींटी से हस्ती तक एक देखता है और ज्ञानी अज्ञानी दोनों उसकी दृष्टि में समान होते हैं फिर सारे शास्त्र ज्ञानियों द्वारा रचित हैं, जब उनकी दृष्टि में एकता प्रपक्व है और शुभ या अशुभ उनको एक समान दृष्टि में आता है तो शास्त्र किसलिए रचे हैं ? जब था भी एक, है भी एक और होगा भी एक, तो इस भेद का क्या कारण ?

उत्तर—समदृष्टि में न कोई गुरु है न कोई शिष्य, न वेद है न शास्त्र, न कोई शास्त्र को रचने वाला है और न इनके रचने की कुछ उपयुक्तता है। यदि ज्ञानवान सदा समता में मग्न रहे, उससे कोई वचन भी नहीं निकलता और न कोई व्यवहार सिद्ध होता है। शरीर के सम्बन्ध से जो अविद्या का लेश रहता है, उस अविद्या के स्वभाव भी कभी-कभी उसमें दृष्टिगोचर होते हैं। सतोगुणी अविद्या का स्वभाव दया और उपकार धारकर ज्ञानवान वेद और शास्त्र रचते हैं। इससे दूसरे अज्ञानी उपदेश पाकर सत्य मार्ग पर चलते हैं। यदि ज्ञानी दया कर वाणी और कानों से उपदेश न करते या न करें, अविद्या घोर तम की तरह फैल जावे। यदि न्याय वृत्ति से देखें, इसमें भी उनका परम उपकार है कि समतारूप सिंहासन से उतरकर सतोगुणी विक्षेप्ता को अंगीकार करते हैं। जैसे वैद्य यद्यपि नीरोग है, तथापि रोगी के सुख के लिए उसके रोग की ओर वृत्ति लगाकर उसकी औषधि विचारता है, उसका मूत्र उसकी

Scanned with CamScanner

नाड़ी और उसके शरीर को देखता है। वैसे ही ज्ञानी में यद्यपि कोई कल्पना नहीं और न कोई संशय है परन्तु दया दृष्टि धारकर उपदेश करता है और शास्त्र बनाता है। यद्यपि अज्ञान में भी दया है तथापि अज्ञान के बिना कोई अर्थ व परमार्थ सिद्ध नहीं होता। जैसे वशिष्ठ पुराण में लिखा है कि जब वशिष्ठ जी उत्पन्न हुए तो शुद्ध ज्ञान की मूर्ति थे; पितामह ब्रह्मा जी ने उनको गोद में बिठलाकर समझाया कि हे पुत्र ! मैंने तुम्हें सृष्टि के सुधार के लिए उत्पन्न किया है और सुधार उपदेश के बिना नहीं हो सकता। उपदेश अज्ञान के बिना नहीं होता। इसलिए मेरी आज्ञा मानकर तू एक मुहूर्त अज्ञान को अंगीकार कर और भारत खंड में ब्रह्म-विद्या का उपदेश कर। वशिष्ठ जी ने ब्रह्मा की आज्ञा मानकर अज्ञान को धारण कर उपदेश किया। इससे सिद्ध होता है कि सब वेद और शास्त्र अज्ञान और भेद से बने हैं, ज्ञान और समता से नहीं। ये अज्ञानियों के लिए हैं और अज्ञान को नाश करने की सामर्थ्य इनमें हैं। जैसे स्वप्न का सिंह जब गरजता है तो निद्रा में स्थित पुरुष को जगा देता है, वैसे ही अज्ञान काल के बने हुए वेदशास्त्र भी अज्ञान को नाश कर देते हैं। जैसे अज्ञान में दूसरे कर्म हैं, वैसे ये कर्म भी हैं। अपने कल्याण के लिए उनको पढ़ना व विचारना उचित है, जैसे पाँव में जब काँटा चुभता है तो उसको निकालने के लिए दूसरा काँटा ग्रहण किया जाता है। जब कंटक निकल जाता है तब दोनों कंटक त्याग दिये जाते हैं। वैसे ही अज्ञान के नाश के लिए शास्त्रों को पढ़ा जाता है, जब अज्ञान निवृत्त होता है तब दोनों ही त्याग दिए जाते हैं।

प्रश्न २३—श्रीकृष्ण भगवान पर स्त्रियों का आरोप किस प्रकार लगाया है?

उत्तर—कृष्ण का अर्थ काला है। नेत्रों में जो पुतली है वह कृष्णरूप है, उसका कर्म रूप का देखना है। इसलिए सदा रूप को देखती है। फिर वह पुतली सबके नेत्रों में पूर्ण है, इसलिए विष्णुरूप है। वह विष्णु कृष्णरूप पुतली होकर सबके नेत्रों में स्थित है। नेत्रों का सब साकार पदार्थों से सम्बन्ध है इसलिए कृष्णरूप पुतली का सब साकार पदार्थों से सम्बन्ध है। मानो सारे ही रूप इस पुतली के साथ मिलते हैं। पुतली कृष्ण है और सृष्टि गोप ग्वाला है। इस प्रकार कृष्ण भगवान सब गोपियों और ग्वालों के साथ मिलकर रास-मण्डल लगा रहा है। इससे उसको लेप कुछ नहीं; दर्पण की न्याईं सदा स्वच्छ है, किसी के साथ मिल-कर अपना स्वरूप और स्वभाव त्याग नहीं करता इसलिए सदा निर्लेप और निर्विकार है।

श्रीकृष्ण भगवान यथार्थ वेत्ता और यथार्थदर्शी हुए हैं। वह मनोहर और मधुर वाणी से लोगों का मन वश में कर अपना उपदेश उनके हृदय में बसाते थे। प्रेम से सबको रिझाते थे। बाँसुरी बजाकर सबके चित्त को प्रफुल्लित करते थे। सुन्दर कान्ति, मंगलीक शोभा, रमणीक भूषण, पीताम्बर से सबके मन को भाते थे। उदारता, कोमलता, समता, मुदता, मित्रता, सुहृदयता, गम्भीरता, असंगता और दूसरे दैवी गुणों से सम्पन्न थे। इसलिए कवी-श्वरों की कविता और अलंकारों का प्रसंग थे। सब स्त्री और पुरुष उनकी मंगल मूर्ति पर ऐसे मोहित थे कि अपनी लज्जा को त्यागकर पतंग की तरह उनके चौफेर घूम-घूमकर उनके स्मरण, स्वरूप दर्शन, वाक्-श्रवण, और कीर्तन में मग्न हो जाते थे, अपने तन की सुधि भूल कर मतवारों की तरह प्रेम का आनन्द मनाते थे और श्रीकृष्णजी भी समदृष्टि को धारकर

Scanned with CamScanner

सबके समान रीति से बरतते थे। स्त्री और पुरुष के भेद से रहित होकर केवल वस्तु मात्र पर दृष्टि रखते थे। उनका निश्चय सांख्य शास्त्र के अनुसार था। इसलिए प्रकृति में सब शरीर की चेष्टा को आरोपित कर पुरुष को असंग और अक्रिय देखते थे और उस पुरुष को अपना स्वरूप मानते थे। इसलिए निर्भय होकर सब क्रीड़ा करते थे परन्तु आकाशवत् स्वच्छ और निर्लेप थे।

तत्ववेत्ता सबकी आत्मा है और आत्मा परम प्रियरूप है इसलिए सबको प्रिय होता है। अज्ञानी जन उसकी चेष्टा को देखकर नाना प्रकार के दूषणों की कल्पना करते हैं। भक्त-जन उसकी चेष्टा को उत्तम भूषणवत् मंगलरूप और शोभनीक जानकर उसका स्मरण व कीर्तन करते हैं और ज्ञानी उसे असंग और अक्रिय देखकर निःसंशय रहते हैं। इसलिए अज्ञानी की दृष्टि यथार्थ नहीं है। अज्ञानी जो कुछ कहते हैं और सुनते हैं वह सब ही अज्ञान रूप होने से विस्मरण और त्याग करने योग्य है। अज्ञानी वह है जो वस्तु को ज्यों का त्यों नहीं जानता, शरीर की मर्यादा को प्रकृति के अनुसार नहीं विचारता और सर्व को सत्यरूप नहीं मानता। इसलिए ऐसे पुरुष अपनी कल्पना से स्वयं बंधे हैं। वास्तव में देखें तो कुछ हुआ ही नहीं, अद्वैतवस्तु स्वयं स्थित है; नाना प्रकार की सृष्टि भिन्न-भिन्न कर्मों, धर्मों और ज्ञानों के होते ही अद्वैत रूप हैं, क्योंकि कारण के अनुसार ही कार्य होता है, कारण अद्वैत है इसलिए कार्यरूप सृष्टि भी अद्वैत है। ऐसे अद्वैतरूप में स्त्री-पुरुष और नपुंसक का भेद कहाँ? कर्त्ता, कर्म, क्रिया; भोक्ता, भोग, भोग्य, आदि त्रिपुटियाँ कहाँ? सर्व द्वन्द्व शब्दों का अर्थ सहित अभाव है। जब ऐसी अवस्था है तो क्या कहा जाए कि अमुक ऐसा था और अमुक वेसा था। जब किसी के लिए किसी प्रकार का कलंक वा गुण सिद्ध नहीं हो सकता तो तत्व-वेत्ता के लिए किसी प्रकार सिद्ध होगा? वह तो अद्वैत रूप, अद्वैत निष्ठी, अद्वैत ज्ञाता, अद्वैत दृष्टा, अद्वैत मन्ता, अद्वैतवक्ता और अद्वैत स्थितिवान है, भ्रांति से अज्ञानी अपनी कल्पना में आप बद्धमान हैं। वास्तव दृष्टि में चिदाकाश अपनी महिमा में स्थित है। शब्द के भेद से भेद सिद्ध होता है, सो शब्द भी आकाश रूप है; आकाश का भेद आकाश से होता नहीं, क्योंकि आकाश आकाश की आत्मा है, और शब्द आकाश रूप है। इसलिए शब्द आकाश का आत्मा है, शब्द आकाश में भेद व प्रच्छेद को उत्पन्न नहीं कर सकता परन्तु अभिन्न व अप्रच्छिन्न रूप है, इसलिए चिदाकाश शुद्ध, स्वच्छ, अच्युत और निर्लेप है। श्रीकृष्ण भगवान अपने को केवल चिदाकाश रूप निश्चय करते थे, इसलिए सर्व विकारों से शुद्ध, निर्विकार और निर्लेप थे।

प्रश्न २४—गुरु नानक जी का अकाल पुरुष के देश में जाना और अकाल पुरुष के साथ संवाद जन्म साक्षी में पाया जाता है। कबीर साहिब की सुरत शब्द अभ्यास में प्रवृति और पैगम्बर साहिब का मैराज मुहम्मदी प्रसिद्ध हैं? इनका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—वास्तव दृष्टि से देखें तो अकाल में देश और पुरुष अर्थात् वस्तु की कल्पना सम्भव नहीं हो सकती, क्योंकि वह अकाल अर्थात् काल की कल्पना से रहित है। वह देश, और वस्तु की कल्पना से भी रहित है, यदि देशकाल और वस्तु की कल्पना से रहित है तो

Scanned with CamScanner

उसमें आना-जाना और संवाद कदाचित् बन नहीं सकते। इस रीति से सिद्ध होता है कि सत्ता सामान देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित स्वयं स्थित है। यथार्थ ज्ञान से शून्य पुरुषों ने महिमा के लिए नाना प्रकार की रोचक वार्ता शास्त्रों में लिखी है जो मान्य नहीं हैं। इसलिए यथार्थ वेत्ता केवल यथार्थ वचन को सत्य प्रतीत कर रोचक और भयानक वचनों को कल्पित और मिथ्या प्रतीत करता है।

यदि विचार दृष्टि से देखें तो जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति काल हैं और इन तीनों का साक्षी अकाल पुरुष है और तुरिया उसका देश है। जब जिज्ञासु विवेक वृत्ति को धार साक्षी को तीन अवस्थाओं में भिन्न करके सत्य और अविनाशी निश्चय करता है। उस साक्षी को अपनी आत्मा प्रतीत कर जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति के अभिमान से रहित होता है और तुरिया में स्थिति पाता है, यही उस जिज्ञासु का अकाल पुरुष के देश में जाना है और जब वह अपने को मानता है कि मैं साक्षी रूप हूँ, अविनाशी हूँ, शुद्ध हूँ, निर्विकार हूँ, सत्य हूँ, चेतन हूँ, आनन्द हूँ और ब्रह्म हूँ, शरीर का सम्बन्ध तीनों काल मेरे साथ नहीं है, मैं अपने-आप में स्थित हूँ और इसी दृष्टि को धारकर वह सर्व शरीरों का विवेक करके शरीरों से भिन्न एक चेतन पुरुष को देखता है और फिर आपको और सर्व को एक रूप निश्चय करके कहता है कि मैं ब्रह्म हूँ, यह अकाल पुरुष के साथ संवाद है। जब इस प्रकार जिज्ञासु चौथी भूमिका में प्रवेश करता है तब तत्वज्ञानी होकर मुक्त होता है और दूसरे जिज्ञासुओं के प्रति उपदेश करने का अधिकारी होता है, सो ऐसी चतुर्थ भूमिका व तुरिया अवस्था को बाबा नानकजी प्राप्त होकर गुरु के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। इसलिए जीवन साक्षी में अकाल पुरुष के देश में जाने और अकाल पुरुष के साथ सम्वाद करने का यही तात्पर्य है जो ऊपर निर्णय हुआ है।

कबीर साहिब के सुरत शब्द के अभ्यास में प्रवृति का तात्पर्य यह है कि कबीर जी शब्दों को विचारशील बुद्धि के साथ विचार कर उसके तात्पर्य को अपने हृदय में धारण करते थे। जैसे सब मनुष्य सुरत सहित शब्द सुनकर उसके अनुसार प्रवृत होते हैं। यह कोई नई बात नहीं; ज्ञानी और अज्ञानी सब ही सुरत अर्थात् बुद्धि और शब्द अर्थात् वाक्य के संयोग से व्यवहार और परमार्थ में प्रवृत हो रहे हैं। परन्तु अज्ञानी शब्द के भेद को न समझ शब्द रूप महाशून्य वन में भटक रहे हैं और ज्ञानवान शब्द के स्वरूप को निश्चय कर अशब्द पद में स्थित रहते हैं। इसलिए कबीर जी ने भी यथार्थ बुद्धि से शब्द को शून्य निश्चय कर अशब्द में स्थिति पाई थी।

यदि विचार दृष्टि से देखें तो शब्द चार प्रकार का है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैक्षरी। इन चारों में से परा अशब्दरूप है, पश्यन्ती संकल्परूप है, मध्यमा वेगरूप है और वैक्षरी शब्दरूप है। इसमें परा अधिष्ठानरूप होने से सत्य है, पश्यन्ती मध्यमा और वैक्षरी अध्यस्तरूप होने से असत्य हैं। सब जगत और जगत के धर्म, कर्म, ज्ञान, फल, साधन और सिद्धि आदि पश्यन्ती, मध्यमा और वैक्षरी से सिद्ध हैं। परा में सर्वत्र का अत्यन्त अभाव है। पश्यन्ती, मध्यमा और वैक्षरी कल्पित होने से मिथ्या हैं। इसलिये सामग्री सहित सब जगत इन तीनों में कल्पित है। अध्यस्त अर्थात् मिथ्या है। केवल पररूप अशब्द पद सत्य

Scanned with CamScanner

है। इस विचार से कबीर जी ने अपनी दुद्धि को परा के साथ अभेद करने का अभ्यास किया था; अभिप्राय यह है कि सब शब्दों को अर्थों सहित विस्मरण कर शेष सत्तामात्र वस्तु में स्थिति पाई थी। अब भी सब बुद्धिमान जिज्ञासु जब तक पश्यन्ती, मध्यमा और वैक्षरी की कल्पना को त्यागकर परा का अभ्यास न करें तब तक निर्विकल्पता की प्राप्ति असम्भव है। इसलिये कबीर जी ने भी इस पद को श्रेष्ठ और पूज्य मानकर अपना इष्ट बनाया हुआ था।

मेराज मुहम्मदी के यह अर्थ हैं कि मुहम्मद साहिब ने अपनी वृति को एकाग्र कर उस पद का अनुभव किया। इसमें शरीर और शरीर का व्यवहार नहीं था और न है, परम पद केवल तुरिया है। इसे विचार के द्वारा मुहम्मद साहिब ने निश्चय किया। भाव यह कि पहले जाग्रत को मिथ्या जानकर त्याग किया, फिर स्वप्न को मिथ्या जानकर त्याग किया और फिर सुषुप्ति को अज्ञान रूप मानकर त्याग किया। इनके त्याग के उपरान्त जो केवल बोधमात्र सत्ता शेष रही उसे सत्य निश्चय कर अपने जिज्ञासुओं के प्रति उपदेश किया कि वास्तव स्वरूप स्थूल, सूक्ष्म कारण शरीर और जगत से उल्लंघित जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था का प्रकाशक, केवल केवलीमात्र सब कल्पना से शून्य है। इस दृष्टि का नाम मेराज अर्थात् चौथा पद, तुरीयावस्था व अपरोक्ष ज्ञान है। इसी ज्ञान को मुहम्मद साहिब ने विचाररूपी घोड़े द्वारा पाया। तात्पर्य यह कि विचाररूपी अश्व पर आरूढ़ होकर भूताकश और चित्ताकाश को लाँघ कर चिदाकाश में स्थित हुआ। भूताकाश अर्थात् स्थूल संघात और चित्ताकाश अर्थात् सूक्ष्म संघात; अथवा भूताकाश अर्थात् अविद्या और चित्ताकाश अर्थात् माया, इन दोनों को कल्पित निश्चय कर केवल चेतन को यथार्थ प्रतीत किया। इस रीतिसे मुहम्मद का मेराज उनके शिष्यों में प्रसिद्ध चला आता है। इसके बिना गमन आगमन की क्रिया का आरोप अथवा निश्चय बालबुद्धियों का अनुभव है। यथार्थ में न कोई कहीं से आया है और न कहीं जाता है, न किसी ने कुछ खोया है और न कोई कुछ पाता है! अज्ञान और ज्ञान का तमाशा है; अज्ञानी अद्वैत वस्तु को नानाभाव से देखते हैं और ज्ञानी अद्वैतवस्तु को अद्वैतरूप करके देखते हैं। जब तक अज्ञान का अभाव न हो, तब तक इस प्रकार के अनेक संशय, आरोपित विकल्प, वार्तिक कथा, कपोलकल्पित इतिहास, रोचक और भयानक वचन चित्त को क्षुब्ध कर व्याकुल रखते हैं। जब यथार्थ ज्ञान से निश्चय होता है कि वस्तु ज्यों की त्यों अपने आप में स्थित है; साधन, साधक और सिद्धि से न्यूनता और विशेषता को प्राप्त नहीं होती; योग और ज्ञान से कुछ और की और नहीं हो जाती; सदा क्षमा रूप अपने आप में स्थित है; उसका दूसरा नाम जगत कहलाता है। वस्तु न थी, न है और न होगी। अद्वैत, अनाम वस्तु ज्ञान अज्ञान के भेद से रहित, जीव ईश्वर संज्ञा से शून्य, प्राप्त अप्राप्त कलंक से शुद्ध, भेद अभेद भाव से रहित, गुप्त प्रकट भाव से विमुक्त, ऊंच-नीच पद से परे जो केवल केवली मात्र है, वही है, वही होगी और वही थी। यह भी वही है। वह भी वही है, सब सोई है; सोई और वही के भेद से रहित थी और होगी के प्रच्छेद से शुद्ध अपने आप में स्थित है। ऐसी यथार्थ दृष्टि सब संशयों की घातक, विकल्पों की बाधक और भ्रान्तियों की नाशक है। अतः इसी दृष्टि का आश्रय कर सब संशयों और विकल्पों से मुक्त होकर काल को अकाल की नाईं व्यतीत करें।

Scanned with CamScanner

प्रश्न २५—ब्राह्मण अपने को उत्तम क्यों मानते हैं और सब लोगों को भ्रम में क्यों डाल रहे हैं ?

उत्तर—ब्राह्मण शब्द का अर्थ है जो ब्रह्म को जाने, सो ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म-रूप होता है। "ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति' अथवा 'ब्रह्मजानाति इति ब्राह्मण:' इस वेद वाक्य से जो पुरुष ब्रह्म को यथार्थ रीति से जानने वाला है, वह ब्राह्मण है और वन्दना करने योग्य तथा उत्तम है। ऐसा ब्राह्मण किसी को भ्रम में नहीं डालता किन्तु सब संशयों, भ्रमों और विकल्पों को नाश कर केवल सत्य स्वरूपब्रह्म का उपदेश करता है और नाना प्रकार की युक्तियों से अद्वैतरूप वस्तु का निश्चय दृढ़ करता है। ऐसा ब्राह्मण उत्तम और श्रेष्ठ है। जो ब्रह्मज्ञान से शून्य है और अपने आपको ब्राह्मण मानता है, वह ब्राह्मण नहीं किन्तु भ्रमण है, आप भी भ्रम में लीन है और दूसरों को भी भ्रम में लीन रहने का उपदेश करता है। ऐसे भ्रमणरूप ब्राह्मण जगत में सर्वत्र फैले हुए हैं और भ्रम को अपनी दृष्टि मानकर उसका उपदेश करते हैं और सब देशों में भ्रम को प्रवृत कर अपनी पूजा कराते हैं, क्योंकि यथार्थ ज्ञान से शून्य हैं इसलिए स्वयं भी भ्रम और संशयरूप वन में भटकते हैं और दूसरों को भी अपने जैसा रखते हैं। परन्तु वास्तव ब्राह्मण सर्वत्र नहीं है, अति दुर्लभ हैं, फिर वह दंभ, मत्सर और इच्छा से रहित हैं, इसलिये उनका पहचानना बहुत कठिन है। जो पुरुष उनको पहचानता है और द्वैतरूप भ्रम को त्याग कर अद्वैत रूप ब्रह्म को सत्य मानता है, वह पुरुष भ्रमणरूप ब्राह्मणों के भ्रम और संशय रूप फंदों से मुक्त होकर स्वच्छन्द, निर्विकल्प और शान्तात्मा रहता है! इसलिये उचित है कि यथार्थ ब्राह्मण की संगति करें।

प्रश्न २६— **दोहा**

ब्राह्मण के लक्षण कहें, हे स्वामी सुखधाम।
जाँको निश्चय कर लखें, ब्राह्मण योग्य प्रमाण ?

उत्तर—

सत्चित आनन्द रूप घन, जामें मैं तूं बाध।
नित्य प्राप्त निर्मल सदा, साधक सिद्ध न साध ॥ १ ॥
देश काल प्रच्छेद बिन, सत्ता मात्र समान।
भेद अभेद विवाद ते, रहित शून्य विज्ञान ॥ २ ॥
ऐसे अचल स्वरूप को, सम्यक् जाने जोय।
संशय तज इस्थित रहे, निश्चय ब्राह्मण सोय ॥ ३ ॥
जगत भावना त्याग कर, पावे नित विश्राम।
भूत, भविष्यत, चिंत तज, सदा रहे निष्काम ॥ ४ ॥
सोई ब्राह्मण सार है, जाँको दम्भ न मान।
ताके सत्य उपदेश से, उदय होत है ज्ञान ॥ ५ ॥
ऐसे ब्राह्मण को सदा, नमस्कार प्रणाम।
जाँकी कृपा से मिले, **हेमराज** सुख धाम ॥ ६ ॥

Scanned with CamScanner

श्न २७—तत्ववेत्ता जड़ और चेतन को कैसे देखता है ?

उत्तर—अद्वैत वस्तु सघन और संवेग रूप से अपनी महत् शक्ति को अपने-आप में प्रकट कर स्वयं स्थित है और आदि तथा अन्त से रहित वस्तु मात्र है। जड़ता और चेतनता अल्प दृष्टि में भासती हैं। महत् दृष्टि में जड़ता और चेतनता का भेद प्रतीत नहीं होता। जड़ता को द्रवीभूत देखकर यह निश्चय होता है कि यह जड़ता नहीं किन्तु द्रवता ही सघन रूप होकर स्थित है, द्रवता को फलीभूत देखकर यह प्रतीत होता है कि द्रवता ही उद्भुज रूप होकर सघन है और उद्भुज को प्राण का कारण विचार कर यह ज्ञान होता है कि उद्भुज ही अण्डज, जेरज, स्वेदज रूप होकर सृष्टि रूप है। भाव यह कि पर्वत द्रवीभूत होकर जल होता है, जल प्रफुल्लित होकर वनस्पति होता है, वनस्पति जठराग्नि में पाचक रूप होकर प्राण होती है और प्राण सब शरीरों में चेतनता का कारण है। इसलिए जड़ता और चेतनता एक रूप है, रंचक-मात्र भेद नहीं। इस दृष्टि को धारण कर तत्वदर्शी सब पर्वतों को चिद्रूप निश्चय कर वस्तु के बिना और कुछ नहीं देखते। यद्यपि बड़े-बड़े ऊँचे और गम्भीर पर्वत नेत्रों में प्रतिबिम्बित होते हैं परन्तु ज्ञानरूप नेत्रों में ज्ञान के बिना और कुछ सिद्ध नहीं होते। अद्वैत वस्तु अन्दर और बाहर के भेद के बिना सिद्ध है, इस दृष्टि को धार अपनी विभूति का स्वयं दर्शन करते हैं। न जड़ को देखते हैं और न चेतन को; केवल अस्तिमात्र को देखकर तृप्त रहते हैं। इसलिए जड़ और चेतन में कोई भेद नहीं, एक रूप हैं।

प्रश्न २८—तत्वदर्शी सब को आप और आप को सब किस युक्ति से निश्चय करता है ?

उत्तर—सब पदार्थों का सब पदार्थों के साथ सम्बन्ध है, क्योंकि सर्व पदार्थों का उपादान कारण और निमित्त कारण एक अर्थात् अभिन्न हैं। जहाँ कारण की एकता होती है, वहाँ कार्य की एकता भी होती है। जैसे शरीर के सब अंगों का सम्बन्ध सब अंगों के साथ है क्योंकि शरीर के सब अंगों का उपादान कारण और निमित्त कारण अभिन्न है। इसलिए कार्यरूप सब अंग भी एक अर्थात् अभिन्न हैं, वैसे ही विराट् रूप शरीर के सब अंगों का उपादान और निमित्त कारण एक है, इसलिए विराट् के सब अंग एक हैं। जब सब पदार्थों का सब पदार्थों के साथ एकता रूप सम्बन्ध है तो भेद भी सब पदार्थों में स्थित है। इसलिए भेद भी अभेद से न्यारा नहीं किन्तु अभेद रूप है। इस प्रकार तत्वदर्शी सब को आप और आप को सब निश्चय कर भेद और अभेद की कल्पना से रहित निर्द्वन्द और निर्भय विचरता है। सब और आप पद भी शरीर दिशा में कल्पित हैं। अशरीर दिशा में सब और आप दोनों असिद्ध हैं। इसलिए सब और आपकी कल्पना से भी उल्लंघित केवल रूप रहता है। ऐसी पावन, निर्विकार, परम गम्भीर, परम शान्त और कूटस्थ अवस्था सब सज्जनों को धारण करनी उचित है।

प्रश्न २९—सब को अपना आत्मा जानने वाला नीच पुरुषों अर्थात् चाण्डाल आदि के स्पर्श से क्यों संयम करता है और उसके साथ मिलकर क्यों नहीं खाता ?

उत्तर—यद्यपि आत्मज्ञानी सबको अपना आत्मा जानता है परन्तु शरीर का व्यवहार जैसे प्रकृति की मर्यादा है, वैसे करता है। जिसके साथ स्पर्श करना होता है करता है और जिसके साथ मिलकर खाना होता है खाता है। सब के साथ मिलकर खाया नहीं जा सकता

Scanned with CamScanner

और न सब का स्पर्श सुख रूप होता है। इसलिए जैसी मर्यादा जगत् में प्रवृत्त है, उसी के अनुसार ज्ञानी बरतता है। देहदिशा में दृष्टि अथवा ज्ञान समान हो सकता है परन्तु कर्म अथवा व्यवहार सम नहीं हो सकता। इसलिए आत्मज्ञानी केवल निश्चय में सब को अपना आत्मा प्रतीत करता है और व्यवहार में जैसा जिसके साथ बरतना योग्य है बरतता है। जैसे शरीरधारी का शरीर अपनी आत्मा है और अंग और सब इन्द्रियाँ एक ही शरीर में होने से शरीरधारी की आत्मा हैं परन्तु सब अंगों और सब इन्द्रियों के साथ समान व्यवहार नहीं कर सकता किन्तु जैसा-जैसा, कर्म जिस-जिस अंग या इन्द्रिय का है उससे वही कर्म करता है; विपर्यय नहीं करता और न विपर्यय करने की इसमें सामर्थ्य है। जगत् में भिन्न-भिन्न शरीरों के भिन्न-भिन्न कर्म, आचार, स्वभाव, आहार, व्यवहार और निश्चय है। इसलिए देह दृष्टि में सब का परस्पर मिलाप होना असम्भव है, अपने-अपने सजातीय सम्बन्धियों के साथ सब का मिलाप है। इससे जगत् की मर्यादा सुन्दर और शोभनीय रीति से चलती है। ज्ञानी भी मर्यादा पुरुषोत्तम है और सब पुरुषों के कल्याण का प्रयोजन रखता है। इसलिए अपना आचार, व्यवहार, आहार, मर्यादापूर्वक रखता है।

यदि वास्तव में विचार दृष्टि से देखें तो सब का मिलाप सब के साथ है, क्योंकि सर्व शरीरों का निवास एक ही धरती पर है। सब शरीर एक ही अन्न, फल और औषधि से अपनी उदरपूर्ति करते हैं। सर्व शरीर एक ही जलपान करते हैं और एक ही नदी, नाला अथवा तालाब में एकत्र होकर स्नान करते हैं। एक ही सूर्य का प्रकाश सब नेत्रों में पड़ता है। सब प्राणधारी एक ही जठराग्नि द्वारा जीते हैं; एक ही अग्नि को सब तापते हैं और एक ही अग्नि द्वारा रोटी पकाते हैं। एक हो पवन का स्पर्श सब शरीरधारियों की त्वचा से स्पर्श करता है और सब शरीर एक ही प्राण द्वारा क्रिया करते हैं। एक ही आकाश सब शरीरों के अन्दर बाहर पूर्ण है; सब शरीरों की सामग्री अर्थात् इन्द्रिय और अन्तःकरण एक जैसे हैं और सब की चेष्टा समान है, रंचकमात्र भेद नहीं। सब शरीरों में एक ही चेतन पूर्ण है, इसलिए सब का सब के साथ मिलाप है, किसी का किसी से भेद अथवा विरोध नहीं; क्योंकि निमित्त कारण अर्थात् बनाने वाला सर्व शरीरों का एक है। तात्पर्य यह कि उपादान और निमित्त कारण अभिन्न है और वही अभिन्न निमित्त और उपादान कारण सब सृष्टि रूप हैं। इसलिए सारी सृष्टि एक रूप है; यह दृष्टि ज्ञानी की है, इस दृष्टि को धार वह सब काल आत्मज्ञान से प्रकाशित रहता है और शरीर का व्यवहार भी जगत की मर्यादा के अनुसार करता है।

प्रश्न ३०—ब्रह्मज्ञानी दूसरे के अन्तर का वृतान्त जानता है अथवा नहीं ?

उत्तर—ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि में दूसरा कोई नहीं। जब दूसरा ही नहीं तो किसके हृदय की वार्ता को जाने ? वह अपने से भिन्न दूसरे को अत्यन्ताभाव रूप निश्चय करता है। दूसरे को मानना अथवा दूसरे की हृदय की बात जानना भेददर्शी और अज्ञानी का काम है। अभेद-वादी ब्रह्मज्ञानी अद्वैतदर्शी होता है इसलिये इन कलंकों से रहित केवल अपने आप में स्थित रहता है।

प्रश्न ३१—ज्ञानवान की दृष्टि में सब वस्तु पूर्ण हैं। जहाँ उसकी दृष्टि पड़ती है, वहाँ

Scanned with CamScanner

सत्य वस्तु प्रतीत होती है। इसलिये सब देश, सब काल और सब वस्तु में वह समान रहता है, परन्तु ज्ञानी के सम्मुख परमानन्द होता है, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—जैसे नेत्रवान दर्पण के सम्मुख अपने मुख का प्रतिबिम्ब देखकर अतिशय हर्षित होता है वैसे ही ज्ञानी ज्ञानी के सम्मुख अपने वास्तव स्वरूप को अपरोक्ष अनुभव कर परमानन्दी होता है। इसलिये ज्ञानी का संग रसदायक होता है।

प्रश्न ३२—परावरदर्शी किस प्रकार समय व्यतीत करते हैं ?

उत्तर—वास्तव में कुछ नहीं हो रहा परन्तु शरीर दिशा में यह कुछ नहीं भी बहुत कुछ हो रहा है, क्योंकि शरीर अल्प बल वाला है। इसलिये अल्प व्यवहार भी इसको दीन और दुःखी कर देता है। यद्यपि विराट में इसके व्यवहार अथवा कर्म की रंचक मात्र भी गिनती नहीं परन्तु विराट दशा इस समय इसको केवल ज्ञान द्वारा प्राप्त हो सकती है और वरतारा इसका अपने बल और आकार के अनुसार रहता है। इसलिये परावरदर्शी, तत्ववेत्ता, महाकर्त्ता, महाभोक्ता और महात्यागी होकर अचिन्त और शोकरहित अपने काल को व्यतीत करते हैं।

प्रश्न ३३—बहुत स्थल में ऐसा भी लिखा है कि ज्ञानी को समाधि से उत्थानकाल में जो व्यवहारिक जगत् भासता है, वह भूने अन्न की तरह किसी संस्कार को उदय नहीं करता इसलिए ज्ञानी का जन्म नहीं होता—यह बात यथार्थ है अथवा नहीं ?

उत्तर—यथार्थ है, क्योंकि वास्तव में जन्म किसी का नहीं और न कोई व्यवहारिक जगत् है। केवल परमार्थ सत्ता अपने-आप में स्थित है। ज्ञानी इस बात को सम्यक् ज्ञान के बल से दृढ़ अपरोक्ष निश्चय करता है। इसलिए कल्पित और आरोपित द्वन्दों से रहित होकर निर्विकल्प शरीर सम्बन्धी समय को व्यतीत करता है और शरीर से रहित चिदाकाश होता है। जैसे घटाकाश घट के टूटने के अनन्तर महाकाश होता है और अज्ञानी भिन्न-भिन्न संस्कारों को सत्य प्रतीत कर अपने संशय से आप भयातुर रहता है। जैसे बालक अपने प्रतिबिम्ब से आप भयभीत होकर दौड़ता है परन्तु उसे प्रतिबिम्ब त्याग नहीं करता, जब यथार्थ ज्ञान के बल से प्रतिबिम्ब को अपने शरीर का आभास निश्चय करता है और साथ ही यह भी जानता है कि प्रतिबिम्ब कोई वस्तु नहीं; मेरा शरीर ही प्रकाश के बल से द्वैतरूप प्रतीत होता है, तब प्रतिबिम्ब के होने पर भी उससे भयभीत नहीं होता, उल्टा उसको अपनी शोभा का लक्षण जानकर अपने में लय करता है। वैसे ही अज्ञानी अपने संशय से आप भयभीत होता है और अपने स्वरूप के अज्ञान से अपने को जन्म मरण वाला निश्चय करता है। वास्तव में अज्ञानी का भी जन्म नहीं, क्योंकि स्वरूप समान और अद्वैत है, ज्ञान अज्ञान से स्वरूप की समानता और अद्वैतता, न्यून अथवा विशेष भाव को प्राप्त नहीं होती। जैसे तम और प्रकाश से आकाश के शून्य और व्यापक स्वरूप की न्यूनता अथवा विशेषता नहीं होती। यद्यपि किसी देश में आकाश सूर्य, चन्द्र, दामनी, तारागण, दीपक आदि के प्रकाश से प्रकाशवान होता है और किसी देश में प्रकाश से रहित महानतम् रूप होता है तथापि इन दोनों अवस्थाओं में आकाश की शून्यता और विस्तीर्णता में भेद नहीं होता, एक रस अपने-आप में स्थित

Scanned with CamScanner

है, वैसे ही चिदाकाश समान और अद्वैत रूप है। यद्यपि किसी अन्त:करण में ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित प्रतीत होता है और किसी अन्त:करण में ज्ञान से शून्य अज्ञान से तम प्रतीत होता है तथापि इन दोनों अन्त:करणों में स्वरूप की समानता और अद्वैतता में भेद प्राप्त नहीं होता। इसलिए ज्ञान अथवा अज्ञान स्वरूप में रंचक मात्र भी प्रवेश नहीं करते, जब इनका स्वरूप में प्रवेश ही नहीं, इनका फल जो बन्धन और मोक्ष है, उसका प्रवेश कैसे होगा ? इसलिए न अज्ञानी का जन्म है न ज्ञानी का। ज्ञानवान इस बात को जान निर्विकल्प, देह सम्बन्धी काल को व्यतीत करता है और अज्ञानी इस बात से अज्ञात देह सम्बन्धी काल को विकल्प सहित, भय, संशय, और विपर्यय से युक्त प्रतीत कर व्यतीत करता है।

वास्तव में न कोई ज्ञानी है और न अज्ञानी है, केवल गुणों की अधिकता और न्यूनता ज्ञान व अज्ञान रूप होकर शरीरों के यश अथवा अपयश का कारण हो रही है। अर्थात् सतोगुण की अधिकता ज्ञानरूप है और तमोगुण की अधिकता अज्ञान रूप है। यथार्थ दृष्टि से देखें तो अद्वैत सत्ता ज्यों की त्यों अपने-आप में स्थित है। ज्ञानी की मुक्ति और अज्ञानी का बन्धन तब मानें जब जीव नाना प्रकार का हो, वा जीव ईश्वर का वास्तविक भेद हो, और यदि जीव ईश्वर का कल्पित भेद मानें और जीव भी एक माने तो ज्ञानी और अज्ञानी का भेद सम्भव नहीं होता और एकता उस वस्तु की होती है जो पहले भी एक-रूप होती है। यदि पहले जीव को ईश्वर से भिन्न माने और ज्ञान अथवा योग के बल से जीव की ईश्वर के साथ एकता माने तो वह एकता यथार्थ नहीं, क्योंकि ज्ञान के नाश और योग के विषम होने पर वह एकता नष्ट हो जाएगी, इसलिए वेदान्त का मत खण्डित हो जाएगा। अत: सिद्ध होता है कि वास्तव में जीव और ईश्वर की एकता नहीं करनी किन्तु एकता के ज्ञान को प्राप्त करना है। वास्तव में ईश्वर ही जीवरूप है और जीव ही ईश्वर रूप है। जैसे सूर्य ही दिवस रूप है और दिवस ही सूर्य रूप है। इसलिये एक वस्तु ज्यों की त्यों समान रूप है। यदि अज्ञान से भेद माने और ज्ञान से अभेद माने और फिर ज्ञानी की मुक्ति माने और अज्ञानी को बंध माने तो अद्वैतवाद हास्यास्पद होगा। यदि जीव अनेक माने और जीव ईश्वर का भेद वास्तव माने तो ज्ञान और अज्ञान का भेद और इनके फल बंध और मोक्ष का भेद भी यथार्थ होगा। यदि इसके विरुद्ध अद्वैतवाद को माने तो ज्ञान और अज्ञान, बन्धन और मोक्ष सब ही समान अद्वैत-रूप हैं। जब यथार्थ दृष्टि से अज्ञानी का जन्म ही सिद्ध नहीं होता तो ज्ञानी के जन्म और मरण से मुक्त होने में क्या संशय है।

वास्तव दृष्टि ही सुखदायक है; कल्पित दृष्टि में नाना प्रकार के अयथार्थ विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं। इनका फल अनर्थरूप विक्षेप अथवा विपरीत बुद्धि उदय होकर क्लेश और भय का कारण होता है। इसलिए ययार्थ दृष्टि को धारण करना उचित है, यथार्थ दृष्टि यही है कि केवल परमार्थ सत्ता अपने-आप में स्थित है, व्यवहारिक और प्रतिभासिक सत्ता भी परमार्थ से भिन्न नहीं है किन्तु परमार्थरूप है। जिज्ञासु के ज्ञान के लिए प्राचीन आचार्यों ने एक ही सत्ता को परमार्थिक, व्यवहारिक और प्रतिभासक अध्यारोप वाद में लिखा है। यथार्थ दृष्टि में एक ही सत्ता है, न परमार्थिक है, न व्यवहारिक है और न प्रतिभासक है। ये तीनों

Scanned with CamScanner

द्वन्द परस्पर विरोध से एक-दूसरे का अभाव करते हैं। जैसे प्रतिभासक के ज्ञान से व्यवहारिक का अभाव है और व्यवहारिक के ज्ञान से प्रतिभासक का अभाव है और परमार्थिक के ज्ञान से व्यवहारिक और प्रतिभासक दोनों का अभाव है। इसलिए परमार्थिक, व्यवहारिक और प्रतिभासक एक-दूसरे की अपेक्षा से अभावरूप होने से असिद्ध हैं। वास्तव सत्ता शेष रहती है, सो यथार्थ है। महान् दीर्घदर्शी केवल सत्ता को यथार्थरूप निश्चय कर परमार्थिक, व्यवहारिक और प्रतिभासक की कल्पना से रहित सत्तामात्र रहते हैं और यही स्वरूप सब जड़, चेतन, चर-अचर, दृष्ट-अदृष्ट, गोचर-अगोचर, चल-अचल सृष्टि का है। तात्पर्य यह कि सत्ता मात्र है, क्योंकि अस्ति और अस्तित्व दोनों सम-पद हैं और अस्तित्व की सिद्धि 'है' के बिना नहीं होती इसलिए अस्तित्व है। वास्तव में 'है' ही समझने योग्य है और 'है' का अर्थ जो केवल अनुभव है, वह धारणीय है। यह दृष्टि परम उत्तम, पावन और यथार्थ है इसलिए शास्त्रकारों ने यथार्थ ज्ञानी को जो-जो उपमा लिखी हैं, वह यथार्थ हैं।

प्रश्न ३४—यदि वास्तव दृष्टि से जन्म मरण, स्वर्ग नरक, शुभ-अशुभ, और दृष्ट-अदृष्ट पदार्थ कोई नहीं तो फिर सत्संग, शास्त्र-अभ्यास और समाधि आदि से क्या फल है?

उत्तर—मध्य अवस्था अर्थात् देह सम्बन्धी काल के लिए सत्संग आदि साधन हैं। जैसे देह सम्बन्धी काल को सुख सहित व्यतीत करने के लिए पुरुष विद्या अध्ययन करता है। सेवा, वणिज, खेती आदि से धन संग्रह करता है। निवास के लिए सुन्दर और रमणीक मन्दिर बनाता है। नित्य के सुख और विश्राम के लिए अनेक प्रकार की सामग्री को अपने गृह में रखता है। मरण पर्यन्त व्यवहार में प्रवृत्त होकर देह का पालन करता है। विषय सुख के लिए स्त्री का दास रहता है। अपने नामाचार के लिए पुत्र उत्पन्न करके उसका पालन, रक्षण, विवाह आदि करता है और कृपणता से धन का त्याग नहीं करता। कदाचित् मृत्यु को स्मरण कर गृहस्थ और व्यवहार से उदासीन नहीं होता है किन्तु दृढ़ निश्चयवान होकर केवल मध्यभावी अवस्था के सुख के लिए नाना प्रकार के कष्ट सहारकर धन आदि पदार्थ संग्रह करता है और विषय आनन्द भोगता है। फिर यह भी जानता है कि कोई पदार्थ मेरे साथ नहीं जाएगा, सारे यहीं पर रहेंगे। वैसे ही बुद्धिमान सत्संग, सत्यशास्त्र चिन्तन और समाधि आदि अभ्यास केवल मध्यभावी अवस्था को सुख और शान्ति सहित व्यतीत करने के लिए करते हैं, क्योंकि उत्तम स्वभावों से आयु सुख सहित व्यतीत होती है। यथार्थ ज्ञान से संशय और भय की निवृत्ति होती है और चित्त की एकाग्रता से परम कल्याण रूप अवस्था प्राप्त होती है। ये तीनों गुण सत्संग, सत्शास्त्र-चिन्तन और समाधि आदि अभ्यास से प्राप्त होते हैं और यही तीन गुण ब्रह्मानन्द के अंग हैं, इसलिए सफल हैं। यद्यपि इनका लाभ देह के अनन्तर कुछ नहीं मिलता तथापि देह सम्बन्धी काल में इनके प्रसाद से वह अवस्था प्राप्त होती है जो शरीर के प्रथम थी और शरीर के उपरान्त होगी। इसलिए सत्संग आदि साधनों का सेवन सफल है। वास्तव ज्ञान भी सत्संग और सत्शास्त्र की सहायता से प्राप्त होता है, अन्यथा पुरुष संशय और विपर्यय रूप घोर वन में भटकता रहता है और नाना प्रकार के कठिन और दुःसाध्य वैदिक, पौराणिक और लौकिक साधनों को साध कर भी शान्ति प्राप्त

Scanned with CamScanner

नहीं करता। जब पूर्ण पुरुष के यथार्थ वचनों को निश्चय करता है कि अद्वैतवस्तु स्वयं स्थित है तब संशय और विपर्यय से रहित होकर अपनी आयु को गम्भीरता, तृप्ति, निर्भयता, समता, मुदिता और सुमित्रता सहित व्यतीत करता है। यह सब लाभसत्-संग द्वारा प्राप्त होता है। इसलिए मरणपर्यन्त सत्संग में स्थित होकर ब्रह्मानन्द का लाभ उठाना उचित है।

मुक्ति अर्थात् सब दुःख की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति सत्संग का प्रसाद है और सत्संग भण्डार है। भण्डार का त्याग उचित नहीं। जैसे शरीर पालन के लिए नित्यप्रति भण्डार में जाकर भोजन किया जाता है वैसे ही यथार्थ दृष्टि की रक्षा के लिए श्रद्धा, सतता, निर्मानता और दृढ़ता सहित सत्संग में स्थित होकर अमृतरूप वचनों के भोजन को श्रवण-रूप मुख द्वारा खाना उचित है, जिससे सम्यक् दृष्टि पुष्ट और बलवान रहे। जैसे मायावी पुरुष मरण पर्यन्त मायावी समाज का त्याग नहीं करता वैसे ही ब्रह्म-लक्ष्मीवान सत्संगी को उचित है कि मरण पर्यन्त ब्रह्म-लक्ष्मी भण्डार का त्याग न करे। जैसे संसारी पुरुष यह जानता है कि मरने के पश्चात् सारी सामग्री इसी स्थान पर रह जाएगी। शरीर भी आग में जलकर भस्म हो जाएगा। फिर भी वैराग्य को धारकर वह किसी वस्तु का त्याग नहीं करता; वैसे ही ज्ञानी यह जानता है, कि न जन्म है न मरण है न नरक है, न स्वर्ग है, न बन्धन है न मोक्ष है, न शुभ है, न अशुभ, केवल सत्ता सामान स्वयं स्थित है। फिर भी वह सत्संग और सत्शास्त्र से वैराग्य स्वीकार नहीं करता किन्तु इनमें दृढ़ प्रीति कर दूसरे अज्ञानी जनों को वास्तव दृष्टि का ज्ञान दान करता है इसलिए सत्संग नित्य ही सफल और सेवन करने योग्य है।

प्रश्न ३५—यदि ज्ञानी और अज्ञानी की गति समान है, तो ज्ञानी को ज्ञान से क्या लाभ हुआ?

उत्तर—ज्ञानी को ज्ञान से यह लाभ होता है कि वह देह सम्बन्धी काल को विवेक वैराग्य, सम, संतोष, शान्ति, समता, मुदता, मित्रता और उपेक्षा सहित व्यतीत करता है और सर्व प्रकार से सुखी और आनन्द रूप रहता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्षा, वासना आदि के क्लेश नहीं सहारता। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध के आधीन होकर दीन नहीं होता। केवल अपने स्वरूपानन्द में संतुष्ट रहता है। किसी माया पदार्थ के साथ चित्त नहीं बाँधता। असंग निर्विकार, पावन और शुद्ध रहता है, तात्पर्य यह कि शरीर के धारने के प्रथम जो अवस्था थी अथवा शरीर के त्याग के उपरान्त जो अवस्था रहेगी वही अवस्था शरीर के होने पर धारण करता है। जो आनन्द शरीर के आदि में था और शरीर के अन्त में होगा, उसी आनन्द का अनुभव शरीर में करता है। यह विशेषता ज्ञानी को ज्ञान से प्राप्त होती है।

प्रश्न ३६—अज्ञानी पुरुष भी विषय आनन्द से आनन्दित रहते हैं और अपने को सुखी मानते हैं तो ज्ञानवान की क्या महिमा हुई?

उत्तर—अज्ञानी को जो विषय आदि से सुख प्राप्त होता है वह उसकी भ्राँति है क्योंकि विषय के संयोग से क्षणमात्र वृत्ति की एकाग्रता से रंचकमात्र सुख उत्पन्न होता है और फिर विषय के वियोग से वृत्ति की विक्षेप्ता से महादुःख होता है। इससे अज्ञानी सुख और दुःख की पीड़ा सहता रहता है, और काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, गर्व, द्रोह, ईर्षा, हिंसा आदि

Scanned with CamScanner

के क्लेश सहारता रहता है, आपको शरीर रूप निश्चय करके शरीर के दुःख से दुःखी और सुख से सुखी रहता है; कदाचित् शान्ति, समता और मुदिता का अनुभव नहीं करता, भेद बुद्धि को धारकर निरन्तर जलता रहता है। इस प्रकार अज्ञानी देह सम्बन्धी काल को महा दुःख, अत्यन्त क्लेश और विपर्यय सहित व्यतीत करता है। यद्यपि वह अपने को सुखी अनुभव करता है, तथापि उसको सुख नहीं होता। सुख की निधि आत्मज्ञान है और वह उसको प्राप्त नहीं। इसलिए अज्ञानी अपना समय दुःख सहित व्यतीत करता है। जब उसे यथार्थ-ज्ञानी के उपदेश से ज्ञान होता है, तब दुःख से रहित आयु व्यतीत करता है। इसलिए जीवित काल में ज्ञान की महिमा है और अज्ञान की निष्प्रयोजनता है।

प्रश्न ३७—नास्तिक और ज्ञानी में क्या भेद है ?

उत्तर—नास्तिक केवल तत्वों को जगत का उपादान कारण मानता है और चेतन के मूल कारण को नहीं मानता। परन्तु ज्ञानी चेतन स्वरूप कारण को मानता है। नास्तिक सर्व को जड़ रूप देखता है और ज्ञानी सबको चेतनरूप देखता है। नास्तिक अज्ञान में लीन रहता है। नास्तिक भेद-बुद्धि और भेद-दृष्टि से मुक्त नहीं होता और ज्ञानी भेद-बुद्धि और भेद-दृष्टि से मुक्त होता है तथा सबको अभेदरूप निश्चय करता है। नास्तिक पदार्थों में भावना वा पदार्थों का संकल्प करता है और ज्ञानी पदार्थों को कल्पित निश्चय कर निर्विकल्प रहता है। नास्तिक अहंता, ममता से बद्ध सम्बन्धियों के मोह से बंधा रहता है और ज्ञानी अहंता ममता से रहित सम्बन्धियों के मोह से मुक्त रहता है। नास्तिक केवल बाहर के स्वभावों को उज्ज्वल और निर्मल करने का पुरुषार्थ करता है और ज्ञानी अन्तर और बाहर दोंनों के स्वभावों को निर्मल और उज्ज्वल करने का पुरुषार्थ करता है और स्वभावों को लांघ कर मध्य में स्थित रहता है। नास्तिक अपने को केवल शरीर मात्र निश्चय करता है और ज्ञानी अपने को अशब्द मात्र अस्तिरूप निश्चय करता है। नास्तिक अपने को विशेषरूप मानकर अल्प दृष्टि में बंधा रहता है और ज्ञानी अपने को समान रूप निश्चय कर पूर्ण दृष्टि का रस लेता है। नास्तिक शरीर के कर्मों, धर्मों और स्वभावों से अपनी श्रेष्ठता और महत्ता निश्चय करता है परन्तु ज्ञानी अपने कर्मों, धर्मों से अपनी श्रेष्ठता व महत्ता निश्चय नहीं करता, सर्व से असंग रहता है। नास्तिक अपने को केवल मनुष्यमात्र निश्चय करता है। नास्तिक शास्त्रों और महात्माओं के यथार्थ वचनों के विरुद्ध बरतता है और ज्ञानी शास्त्रों और महात्माओं के यथार्थ वचनों के अनुसार चलता है। नास्तिक आत्म ज्ञान से शून्य है और ज्ञानी आत्म-ज्ञान से प्रकाशित है। नास्तिक नास्ति अर्थात् 'नहीं है' को मानता और ज्ञानी अस्ति अर्थात् 'है' को मानता है। नास्तिक शरीर के होते हुए भूतकाल की स्मृति और भविष्यकाल की चिन्ता करता है और ज्ञानी इन सबसे मुक्त होकर केवल वर्तमान काल में सम-स्थित रहता है। नास्तिक जगत् के पदार्थों को उत्तम और रमणीक जानकर उनकी प्राप्ति के लिए यत्न और पुरुषार्थ करता है और ज्ञानी जगत के पदार्थों को केवल प्रवाहरूप निश्चय कर किसी के लिए यत्न व पुरुषार्थ नहीं करता। नास्तिक अपने को लम्बा, नाटा, स्थूल सूक्ष्म, मोटा, मोटा, पतला, लाल, पीला, दुःखी-सुखी, रोगी-निरोगी; ऊँच-नीच धनी-निर्धन, मूर्ख-बुद्धि-

Scanned with CamScanner

मान, निर्बल-बली, युवा, बालक, वृद्ध और मृतक निश्चय करता है और ज्ञानी अपने को सब विकारों से शुद्ध केवल चिदाकाश रूप निश्चय करता है वह अपने को क्या, सर्व सृष्टि को चिदाकाश रूप जानता है। नास्तिक केवल उपादान कारण की एकता से अथवा शरीर रूप कार्य कारण में लीनता से जन्म-मरण, नरक स्वर्ग, लोक-परलोक, गमन-आगमन निश्चय नहीं करता और ज्ञानी उपादान कारण और निमित्त कारण की एकता से और कार्य की कारण में लीनता से, एवं जीव चेतन और ईश्वर चेतन की अभिन्नता से जन्म-मरण, स्वर्ग-नरक, लोक-परलोक, गमन-आगमन निश्चय नहीं करता। नास्तिक अनेक वस्तुओं के मिश्रित होने से जगत की उत्पत्ति मानता है और ज्ञानी केवल अद्वैत रूप वस्तु पर प्रतीत करके एकता और अनेकता के भ्रम से मुक्त रहता है। नास्तिक नाम को सत्य प्रतीत कर विषमभाव, अनेकता, भेद, अनस्थिरता और कल्पना का दर्शन करता है। और ज्ञानी नामरूप को त्याग कर अस्ति, भ्रांति, प्रेय की दृष्टि से समता, अभेद, एकता और सम्यक् वस्तु का दर्शन करता है। नास्तिक पदार्थों से अपने को तृप्त मानता है और ज्ञानी अपने को आत्मा से तृप्त मानता है। नास्तिक शास्त्र-चिन्तन, सत्संग, प्रेमाभक्ति, समाधि, नामस्मरण आदि का आनन्द और रस न जानता है और न लेता है, ज्ञानी शास्त्र-चिन्तन, प्रेमभक्ति और नामस्मरण आदि का रस जानता भी है और लेता भी है और दूसरों की प्रेरित भी करता है। नास्तिक अनात्म दृष्टि से किसी को अपना, किसी को शत्रु और किसी को मित्र मानता है। ज्ञानी आत्म दृष्टि से सबको अपना आत्म निश्चय करता है। शत्रु मित्र, अपना पराया भाव से रहित सदा सम-दर्शी, समनिष्ठी और समवर्ती रहता है। नास्तिक केवल विषय के संयोग से आनन्द का अनु-भव करता है और ज्ञानी विषय के संयोग के बिना अपनी आत्मा को आनन्द रूप जानता है, इसलिए विषय के अधीन नहीं रहता। नास्तिक अपने को शरीरमात्र निश्चय करके शरीर पर्यन्त अपनी सत्ता निश्चय करता है और ज्ञानी अपने को चिदाकाश रूप निश्चय करके अवि-नाशी, सत्य, नित्य, अजर और अमर मानता है। नास्तिक सर्व पदार्थों में भूतों का दर्शन करता है और ज्ञानी सर्व पदार्थों में अभूत का दर्शन करता है। नास्तिक के हृदय में राग, द्वेष, हर्ष शोक, हानि लाभ, मान अपमान का संकल्प उत्पन्न होकर उसको सुखी अथवा दुःखी बनता है और ज्ञानी के हृदय में सब द्वन्द्वों का अभाव हो जाता है तथा नित्य तृप्त, नित्य मुदिन, समानरूप रहता है। नास्तिक अपने को केवल पंचभौतिक रूप निश्चय करता है और ज्ञानी अपने को केवल सत्तामात्र चिद्रूप मानता है। नास्तिध अपने को सब में और सबको अपने में निश्चय नहीं करता, परन्तु ज्ञानी अपने को सबमें और सबको अपने में निश्चय करता करता हैं। नास्तिक विषय और इद्रिय के संयोग में आनन्द मावकर विषयों की प्राप्ति के लिए यत्न करता है परन्तु ज्ञानी विषय और इन्द्रिय को जड़ रूप मानकर केवल चेतन आत्मा को आनन्द स्वरूप निश्चय करता है और फिर उस आत्मा अपना आप मानकर यत्न और पुरुषार्थ से उपरत रहता है। नास्तिक दृश्यमान को जगत प्रपंच अथवाा संसाररूप निश्चय कर भेद और परिच्छेद को देखता है और ज्ञानी दृश्यमान को चिद्रूप, शिद्विवृत और चिद्विलास निश्चय कर अभेद और अपरिच्छेद का दर्शन करता है। नास्तिक की वृति

Scanned with CamScanner

पाषाणवत् कठोर होती है और ज्ञानी की वृति नमकवत् रसमयी होती है। नास्तिक लोक, परलोक, जन्म-मरण, नरक-स्वर्ग, जीव-ईश्वर, बंध और मोक्ष के अभाव का निश्चय कर लौकिक व्यवहार, गृहस्थ सेवन, राज्य मर्यादा, विद्या, विद्या-चतुराई, विषय-भोग, धनसंग्रह में प्रवृत हो जाता है और ज्ञानी यथार्थज्ञान के बल से लोक-परलोक, जन्म-मरण, नरक-स्वर्ग, जीव-ईश्वर, बंध और मोक्ष के अभाव को निश्चय कर सब लौकिक और व्यवहारिक चतुराइयों से उपरत, धन संग्रह बुद्धि से अज्ञात, राज्य आदि इच्छाओं से मुक्त विषय-भोग अभिलाषा से तृप्त, गृह आसक्ति से असंग, लोक-वासना से शुद्ध, शास्त्र-वासना से मूढ़ होता है, देह वासना से जड़ वत् केवल अपने-आप में स्वयं स्थित रहता हैं। इसलिए ज्ञानी नास्तिक से श्रेष्ठ है और बंदनीय है। जो पुरुष निर्भय होकर शुद्ध, पावन और निर्विकार रहे, वह श्रेष्ठ हैं और जो पुरुष निर्भय होकर अशुद्ध, मलीन और विकारी हो जावे, वह अधम और निन्दनीय है। भाव यह है जो पुरुष ज्ञान को पाकर निर्विकार, शुद्ध और पावन रहे वह श्रेष्ठ और बंदनीय महात्मा है और जो ज्ञान को पाकर विकारी, अशुद्ध, और मलिन कर्मो में प्रवृत हो वह बंधज्ञानी, मन-मुख, नास्तिक और अधम आत्मा है। इसलिए सभी मुमुक्षु और जिज्ञासुओं को उचित है कि श्रेष्ठ ज्ञानी के लक्षणों को सत्य जान वैसा अपना स्वभाव बनाएँ।

प्रश्न ३८—ज्ञानवान किस युक्ति से सर्वात्म दर्शन पाता है ? उसे प्राप्त कर वह क्या अनुभव करता है !

उत्तर—मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार आत्मारूपी समुद्र के तरंग हैं। इन्द्रिय और इंद्रियों के विषय अन्त:करण रूप समुद्र के तरंग है। पाँच विषय रूप भौतिक पदार्थ इन्द्रिय रूप समुद्र के तरंग हैं। इसलिए अन्त:करण से बाह्य पदार्थ पर्यन्त सब ही आत्मरूपी समुद्र, के तरंग है। जब ऐसी अवस्था है तो आत्मा के सिवाय कुछ नहीं। जो कुछ दृष्टि में आवे, जो शब्द सुनाई दे, जहाँ-जहाँ मन का फुरना जावे, सब ही आत्मा है। जो सत्ता शब्द से रहित अचित्त, चिन्मात्र स्वयं स्थित है वही अपनी चित्त शक्ति के संयोग से वायु, जल, अग्नि, पृथ्वी और आकाश रूप है, अर्थात् वही सत्ता अपनी पाँच शक्ति सम्पन्न जगत के नाम से प्रसिद्ध है; दूसरा न कुछ था, न कुछ है और न कुछ होगा। तात्पर्य यह कि जब पूर्वोक्त रीति से आत्मा का साक्षात्कार हो, तब आकाश से लेकर पृथ्वी पर्यन्त एक ही वस्तु प्रतीत होती है। अर्थात् आकाश शीश है, पाताल चरण है, दस दिशा भुजा हैं, अन्तरिक्ष लोक उदर है, पृथ्वी कमर है, समुद्र बस्ती स्थान है, पहाड़ हड्डियाँ हैं, नदियाँ नाड़ियाँ है, सकल वनस्पति रोम है, सूर्य-चाँद नेत्र हैं, तारागण तिलोले हैं, अग्नि मुख है, चार खानी उदर के जन्तु हैं। ऐसे स्वरूप का ध्यान जब चित्त में स्थित होता है तब जिस ओर दृष्टि जाती है आत्मा दृष्टिगोचर होती है, तब उस समय आश्चर्य रूप होकर ज्ञानी अपने चित्त में हुलास पूर्वक गद्गद वाणी से कहता है कि आश्चर्य है। महान आश्चर्य है कि मेरी वृत्ति ऐसी मतवारी हो गई है कि स्वरूप के बिना अन्तर-बाहिर उसे दृष्टि में कुछ नहीं आता। इसलिए अब मैं आप आश्चर्य में हूँ कि क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, क्या त्यागूं, क्या ग्रहण करूँ ? आत्मा महाप्रलय के जल की तरह पूर्ण है। ऐसी दृष्टि पाकर ज्ञानवान सर्वोत्तम दर्शन करता है और सबको उल्लंघित कर विचरता है।

Scanned with CamScanner

॥ भजन ॥ (१)

ज्ञानी निर्लेप पछानो ॥
देह क्रिया से सदा असंगी, चिद्घन आनन्द भानो ॥ १ ॥
रोवे हँसे अचल वा चंचल, रंचक शंक न आनो ॥ २ ॥
वन में रहे वा करे गृहस्थी, ज्ञानी है समानो ॥ ३ ॥
यह सब क्रीड़ा भौतिक जाने, ज्ञानी लाभ न हानो ॥ ४ ॥
निर्विकार अक्रिय नित ज्ञानी, अनुभव मात्र सुजानो ॥ ५ ॥
सब स्वभाव तत्वों में बरते, ज्ञानी साक्षी जानो ॥ ६ ॥
क्रीड़ा करे बालवत् ज्ञानी, रंच न देह अभिमानो ॥ ७ ॥
करम भरम वृत्ति नश्वर हो, सो निर्लेप प्रमानो ॥ ८ ॥
परछिन्न भाव गया जब **हेमां** सो पूरण भगवानो ॥ ९ ॥

॥ भजन ॥ (२)

संत हैं अगम देश के वासी ॥
सापेक्षक है देश कल्पना, संतन को यह हासी ॥ १ ॥
मन रचना है देश दिशा वह, मन बुद्धि परे निवासी ॥ २ ॥
भूमि निज स्वभाव में इस्थित, कहाँ देश की हासी ॥ ३ ॥
जल निज-निज सुभाव में बरते, उसमें देश न भासी ॥ ४ ॥
उत्तम मन्द देश नहिं कोई, नहीं पर सब देसासी ॥ ५ ॥
स्वर्ग नरक अरु लोक परलोका, मूढ़न हृदे प्रभासी ॥ ६ ॥
आना जाना आदिक जाने, पवन स्वभाव संन्यासी ॥ ७ ॥
निज स्थित सत्ता इक पूरण, नहीं उपाधि जरा सा ॥ ८ ॥
अनुभव मात्र अडोल सुभावा, **हेमां** स्वयं प्रकाशी ॥ ९ ॥

॥ भजन ॥ (३)

ज्ञानी का धरम है समता ॥
हस्ती चीटीं ज्ञानी मूरख, रंक धनी इक गिनता ॥ १ ॥
गुरु सिख में इक सत्ता जाने, इक चेतनता जड़ता ॥ २ ॥
जो अपना सो आहि पराया, जो दाता सो हरता ॥ ३ ॥
शत्रु मित्र पुजारी द्वेषी, सबको इक समद्रष्टा ॥ ४ ॥
आप समान सरब सृष्टि को, सद् ही निश्चय धरता ॥ ५ ॥
सुख दुःख मान निरादर मांही, रंचक नहीं बदलता ॥ ६ ॥
किसी अवस्था कर्म न मांही, उसे न शोक प्रसन्नता ॥ ७ ॥
सद इक रस आतम मगनाना, त्यागी हंगता ममता ॥ ८ ॥
मत्त मतान्तर वेद कतेबां, कल्पित निश्चय करता ॥ ९ ॥

Scanned with CamScanner

॥ भजन ॥ (४)

निर्दोष संत हैं भाई ॥
हंगता ममता जिसकी नाशी, उस पर दोष न राई ॥ १ ॥
रामरूप जो देखे सबको, सो पावन हो जाई ॥ २ ॥
प्रेम भरयो जिसकी रग रग में, उस पर दोष न काई ॥ ३ ॥
नामरूप सब जारे जिसने, उसे क्या दोष लगाई ॥ ४ ॥
निर्विकार सो संत पछानो, समता जिस प्रगटाई ॥ ५ ॥
तज्ञ के कर्मों पर अज्ञानी, धृग अपराध बनाई ॥ ६ ॥
तत्वित् गुरु की सरव चेष्टा, भक्तों को अति भाई ॥ ७ ॥
इन्द्रिन के कर्मों पर तत्वित्, दृष्टि नहीं ठहराई ॥ ८ ॥
तत्वित् के दूषण जो कल्पे, पापी मूढ़ कहाई ॥ ९ ॥
निष्कलंक निष्पाप संत हैं, **हेमां** तिंह शरणाई ॥१०॥

॥ भजन ॥ (५)

जग में सन्त महा रस भीने ॥ १ ॥
घूरम आतम मद के माते, निर्भय सद् तृपतीने ॥ २ ॥
समदरशी शीतल हृदये, नित रहित विखाद अदीने ॥ ३ ॥
सब द्वन्दन से न्यारे बरते, नित्य प्रबुद्ध प्रवीने ॥ ४ ॥
निशि-बासर भूलें तुरिया पद, ब्रह्म दृष्टि को लीने ॥ ५ ॥
द्वैत-भाव निश्चय नहीं आने, केवल आतम चीने ॥ ६ ॥
ममता लोभ न व्यापे जिनके, असुर करम तज दीने ॥ ७ ॥
सद संतुष्ट विराजें **हेमां** नूतन नित्य नवीने ॥ ८ ॥

॥ कुण्डली ॥

ऐसे ज्ञानी जगत् में, दुर्लभ देखे जाहिं।
जांके दम्भ न ईरष्या, मान बड़ाई नाहिं ॥ १ ॥
मान बड़ाई नाहिं, सरव को सम कर देखें।
विद्या पढ़ सुन समझ, आपको अधिक न पेखें ॥ २ ॥
कहें **हेमां** स्वराज, रहें जैसे के तैसे।
धरें न रंच गुमान, दुर्लभ हैं ज्ञानी ऐसे ॥ ३ ॥

॥ इति श्री द्वादश सिद्धान्त समाप्तम् ॥

Scanned with CamScanner

★ विज्ञान सिद्धांत ★

: १३ :

प्रश्न १—विज्ञान क्या है ?

उत्तर—शुभ कर्म,सतोगुणी-वृत्ति और यथार्थज्ञान सहित अवस्थाका नाम विज्ञान है।

प्रश्न २—जिज्ञासु को विज्ञान के लिए किस क्रम से अभ्यास करना उचित है कि परमार्थ यत्न का समाप्त हो ?

उत्तर—परिपक्वता सब पदार्थों अर्थात् सब फलों को मृदु, रसदायक और शोभनीय बनाती है। इसलिए सब बुद्धिमान जिज्ञासुओं को उचित है कि पहले अपनी जिज्ञासा को परिपक्व करें। जब जिज्ञासा का फल ज्ञान प्राप्त हो, फिर उस ज्ञान को परिपक्व करें। ज्ञान का फल अवस्था प्राप्त हो, तब अवस्था को परिपक्व करें। अवस्था का फल निर्विकल्पता प्राप्त हो, तब निर्किल्पता को परिपक्व करें। निर्विकल्पता का फल सहज अवस्था और कृतकृत्यता प्राप्त हो तब इनको परिपक्व करे। और जब इनका फल तृप्तिरूप परमानन्द प्राप्त हो, तब स्थिति रूप सिंहासन पर विराजमान होकर मग्न रहें। इसलिए उचित है कि दृढ़ होकर सब पदों को सिद्ध करें, जिससे यत्न की समाप्ति हो।

प्रश्न ३ —

॥ दोहा ॥

भगवन् किरपा कर कहो, ऐसा निज अभ्यास।
जांते प्रगटे आत्मा, केवल स्वयं प्रकाश ॥ १ ॥
शब्द भेद परिच्छेद का, होय अत्यन्ताभाव।
परमाकाश अशब्द अज, भासे स्वतः स्वभाव ॥ २ ॥

उत्तर—

शून्य देश में इस्थित वह, जहाँ न शब्द प्रकाश।
केवल शून्य विज्ञान निज, निर्मल परम अकाश ॥ ३ ॥
ओंकार अक्षर तजो, अर्थ विचारो नीत।
तीन मात्र त्रिभुवन तजो, अशब्द माँहि धर चीत ॥ ४ ॥
अकार उकार मकार तज, गहो अशब्द अमात्र।
कारण सूक्ष्म स्थूल तज, चीनो आतम मात्र ॥ ५ ॥

Scanned with CamScanner

नेत्र कंठ और हृदय से, रहो असंग पुनीत।
जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति से, अहिनिशि रहो अतीत ॥ ६ ॥
पष्यन्ती मध्यमा तजो, तजो वैक्षरी नाम।
परामांहि स्थिति लहो, अचल अरूप अनाम ॥ ७ ॥
अन्तर बाहर भेद तज, रहो अखंड अभेद।
चीनो अपना आप नित, रहे न भेद परिच्छेद ॥ ८ ॥
सावधान एकाग्र चित्त, सेवो आतम सार।
हेमराज मुक्ति लहो, नसे सकल संसार ॥ ९ ॥

प्रनन ४—लौकिक और व्यवहारिक यत्न से मुक्ति किस विचार और दृष्टि से प्राप्त होती है ?

उत्तर—प्रकृति की मर्यादा ऐसी चली आती है कि सर्व कार्य शनैः-शनैः पूर्ण होते हैं और शनैः-शनैः अभाव गति को प्राप्त हो रहे हैं, सो इस मर्यादा को समझना और उसी के अनुसार चलना बुद्धिमानों का धर्म है। मूर्ख प्रकृति की मर्यादा को न समझकर सर्व कार्यों में शीघ्रता करते हैं, इसलिए हर्ष शोक के भागी होकर महाक्लेशरूप संसार में शुष्क कुशावत् भ्रान्ति रूप पवन से भटकते रहते हैं। इसलिए सर्वदाकाल शान्ति, गम्भीरता, धैर्य, अचिन्तता, निश्चलता, और निर्विकल्पता से सर्व लौकिक, धार्मिक व्यवहारिक, कायिक, वाचक और मानस कर्मों को सिद्ध करना उचित है। सर्व कार्य पहले ही से सिद्ध हैं, केवल परिछिन्न दृष्टि और अल्प बुद्धि से असिद्ध प्रतीत होते हैं, इसलिए परिछिन्न अभिमानी परिछिन्न साधनों से परिछिन्न यत्न करके परिछिन्न सिद्धता का लाभ उठाकर हर्षमान होते हैं और पूर्णदर्शी पूर्णदृष्टि को धारकर यत्न से रहित, पुरुषार्थ से शून्य अभिलाषा से मुक्त, सिद्धता और असिद्धता के भेद से उल्लंघित अपने-आप में स्थित रहते हैं। इसलिए पूर्णदृष्टि को धारण करने योग्य है जिससे यत्न बुद्धि, परिछिन्न तृष्णा, पदार्थ कामना, भूत भविष्यत चितवना देह-भावना, शब्द सत्यता, अर्थ प्रतीति, मनोराज समाज, कल्पित व्यवहार, और कपोल कल्पित धर्म अत्यन्त अभावगति को प्राप्त होकर परम निर्वाण, परम शुद्ध, परम गम्भीर चिदाकाश शेष रहे।

प्रश्न ५—भिन्न-भिन्न वर्ण और आश्रम के भिन्न-भिन्न कर्मों से जिज्ञासु अपने आपको किस रीति से मुक्त करके जीवन मुक्ति का आनन्द प्राप्त करें ?

उत्तर—क्योंकि वर्ण और आश्रम शरीर की उत्पत्ति के उपरान्त कल्पित किये गये हैं और वास्तव में देखें तो शरीर में भी इनका लक्षण प्रतीत नहीं होता इसलिए वर्णाश्रम केवल कल्पना मात्र हैं। क्योंकि जिज्ञासु ने विवेक के आसरे अपने आपको शरीर, वर्ण और आश्रम से भिन्न निश्चय किया है, और अपना स्वरूप केवल ज्ञान मात्र सत्ता प्रतीत किया है, जिसमें कल्पना का अत्यन्ताभाव है इसलिये शरीर, वर्णाश्रम की कल्पना से शुद्ध है। जब जिज्ञासी शरीर, वर्ण, आश्रम की कल्पना से शुद्ध है तो वर्णाश्रम के कर्म और धर्म के कर्तव्य से भी मुक्त है।

Scanned with CamScanner

जो पुरुष वास्तव स्वरूप के अज्ञान से अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र मानें, उसको वर्ण के अनुसार कर्म करने योग्य हैं। अथवा जो अपने गृहस्थ वा ब्रह्मचर्य वा वान-प्रस्थ वा संन्यास आश्रम में निश्चय करे तब उसको उस आश्रम के धर्मों में बरतना पड़ता है और जो अपने को चतुष्टिय वर्ण और चतुष्टिय आश्रम से रहित निश्चय करें उसको किसी वर्ण और किसी आश्रम के कर्म करने योग्य नहीं हैं, वह सर्व कर्मों और धर्मों से मुक्त केवल सत्तामात्र है, यद्यपि शरीरधारी प्रतात होता है तथापि शरीर की कल्पना से रहित निराकार, निर्विकार, शुद्ध और अक्रिय है। इस रीति से विचार करके जिज्ञासु अपने आपको भिन्न-भिन्न वर्ण और आश्रभ के भिन्न-भिन्न कर्मों से मुक्त निश्चय करे। यथार्थ ज्ञान सर्व कर्मों और धर्मों का बाधक है, जब यथार्थ ज्ञान से जिज्ञासु ने अपने स्वरूप को सम्यक् निश्चय किया तब वह जिज्ञासु ग्यानवान होकर सर्व कर्मों और कर्मों के फल से मुक्त हो जाता है। यद्यपि शरीर दिशा में इन्द्रिय और अन्तःकरण अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त दृष्टि आते हैं तथापि यथार्थदर्शी यथार्थ दृष्टि को लेकर सर्व कर्मों से अपने आपको अतीत शुद्ध निश्चय करता है, यही दृष्टि ही जीवन मुक्ति है। इस रीति से उत्तम जिज्ञासु रूप ज्ञानी सर्व कर्मों से मुक्त होकर जीवन मुक्ति का रस लेता है और शरीर दिशा में भी शुद्ध आचार, शुद्ध आहार और शुद्ध व्यवहार से निर्वाह करता है परन्तु किसी विशेष अथवा कल्पित कर्म में बंधमान नहीं होता, सामान्य रीति से अपना अन्तर और बाहर का वरतारा पावन और निर्विकार करता है। आसुरी सम्मदा के स्वभावों से रहित शुद्ध सतोगुणी भाव को लेकर देह सम्बन्धी काल को समाप्त करता है; इस रीति से ज्ञानवान सर्व लौकिक, पौराणिक और वैदिक कर्मों से कायिक, वाचक और मानस कर्तव्य से शुद्ध होकर अपने आप में मग्न रहता है। जब ऐसे पावन सिंहासन पर विराजमान होता है तब स्वाभाविक ही कर्म और कर्मों का कर्तव्य विस्मरण होकर अभाव हो जाता है। इसलिए जिज्ञासु को उचित है कि बारम्बार अपने वास्तव स्वरूप का चिंतन करके अपने आपको भिन्न-भिन्न कर्मों और धर्मों से मुक्त करे, जिससे शरीर के होते ही अशरीर गति को प्राप्त हो, इससे बिना और कोई उपाय कर्मों से मुक्त होने का नहीं।

प्रश्न ६—

ऐसी प्रभु किरपा करो, रहूँ सदा सुख सहित।
विचरूँ जग में पवनवत्, मोह शोक से रहित॥ १॥
शब्द मात्र संसार का, चढ़े न रंचक रङ्ग।
विषय गृहस्थ-विवहार का, लिपे न कबहूं संग॥ २॥

उत्तर—

॥ दोहा ॥

वर्णाश्रम अभिमान से, रहित असंग पुनीत।
निशिदिन गुरुउपदेश में, स्थिर राखो चीत॥ १॥
देहभाव से होत है, भेददृष्टि अज्ञान।
भेददृष्टि दुःखमूल अति, त्यागो तांहि सुजान॥ २॥

Scanned with CamScanner

भेददृष्टि के त्याग बिन, सुख नहिं प्रापत होय।
तांते आतम-ज्ञान से, भेद दृष्टि को खोय॥ ३॥
दुःख सुख में समदृष्टि हो, काटो भव जंजाल।
जन्म-मृत्यु से रहित हो, विचरो होय अकाल॥ ४॥
सत्चित् आनन्द आतमा, निर्विकार निजरूप।
सर्व समय सिमरत रहे, मिटे जगत तम कूप॥ ५॥
निमिष न भूलो आपको, निशिदिन रहो अक्षोभ।
देहभाव को धारकर, गहो न ममता लोभ। ६॥
जो जो इन्द्रिय से करो, गहो न करता भाव।
अक्रिय, अचल अडोल अज, चीनो स्वतःस्वभाव॥ ७॥
भूत भविष्यत चिन्त तज, वर्तमान सुख पाय।
समता मुदता मित्रता, शांति हृदय बसाय॥ ८॥
जो जो मन फुरना करे, सबसे रहो असंग।
साक्षी जानो आपको, चढ़े न मन का रंग॥ ९॥
दृष्टिमान परपंच को अस्ति भाँति प्रिय मान।
नामरूप संकल्प तज, पेखो ब्रह्म समान॥ १०॥
एका एकी होय कर, हेमां रहो असंग।
परम मौन निर्मम रहो, भव का चढ़े न रंग॥ ११॥

प्रश्न ७—यज्ञ, हवन और जाप आदि कर्मों के अनुष्ठान से शान्ति की प्राप्ति होती है या नहीं ?

उत्तर—इन कर्मों से शान्ति नहीं आती क्योंकि यह सब कल्पित हैं। यद्यपि लोगों में प्रसिद्धि होती है कि अमुक पुरुष भजन करने वाला है, हवन करने वाला है, दान करने वाला है, या शुभ कर्म करने वाला है परन्तु आत्मनिष्ठा और असंग बुद्धि नष्ट होकर उपरति, वैराग्य, शांति, आत्म-स्थिति और तृप्ति नाश हो जाती हैं। इसलिए आत्म-जिज्ञासी का यही जाप है कि अपने सत्चित् आनन्द के बिना दूसरी ओर मन न लगावे ! हवन यह है कि सब इन्द्रिय, विषय, अन्तःकरण और अन्तःकरण के धर्मों को आत्मज्ञान रूप अग्नि में हवन करे। तात्पर्य यह कि सबको मिथ्या प्रतीत कर केवल आत्मा को सत्य निश्चय करे। यज्ञ का स्वरूप यह है कि किसी पदार्थ में ममता न करे, सब सामग्री को ईश्वर-अर्पण करे, इसके बिना जितने कर्म हैं वे भ्रमरूप हैं। इनके अनुष्ठान में आयु नष्ट होती है। इसलिए जिज्ञासु शांति सहित अपने आत्मा में मग्न होकर काल व्यतीत करे। आरम्भ में रजोगुणी-तमोगुणी वृति से खेद होता है और बहिर्मुखी पुरुषों और उनके कर्मों के संग और अनुष्ठान से वास्तव स्वरूप विस्मरण हो जाता है। इसलिए अपने ऊपर निश्चय रखे। दूसरे कर्मों और मन्त्रों पर निश्चय करनेसे कुछ सिद्ध नहीं होगा। जिससे मन्त्र सिद्ध होतेहैं, ऐसे स्वतःसिद्ध चेतन स्वरूप के ऊपर प्रतीत रखने से संशय निवृत होंगे और शांति प्राप्त होंगी। भिन्न-भिन्न कर्मों के अनुष्ठान से

Scanned with CamScanner

बुद्धि व्यभिचारी हो जाती है और बालवत् पुरातन कथा, कपोल-कल्पित इतिहास, विनोद रूप अर्चन और पूजन में अपनी श्रेष्ठता और महत्ता समझती है, इसलिए वृद्ध पुरुष, परावर-दर्शी, शांतात्मा—, एकांतसेवी; आत्म-स्थितिवान व आत्म-स्थिति के जिज्ञासु इन कर्मों से उपरत होकर केवल सत्तामात्र स्वरूप में स्थित रहते हैं। इसलिए उचित है कि वृद्ध पुरुषों की रीति को स्वीकार कर शान्ति रस पावें।

प्रश्न ८—शान्ति क्या है और किस रीति से प्राप्त होती है ?

उत्तर—शान्ति नाम वासना के अभाव का है। जैसे-जैसे वासना नाश होती जाती है, वैसे-वैसे हृदय में शान्ति उदित हो जाती है। इसलिए शांतिलाभ के निमित्त वासना के त्याग का यत्न करना उचित है। यत्न यही है कि जब विषयों की वासना अथवा स्त्री, पुत्र, धन की वासना उत्पन्न हो, उस समय विचार और वैराग्य द्वारा उस वासना का त्याग करे। भाव यह कि अपने को शरीर, इन्द्रिय, धन, स्त्री, पुत्र से न्यारा निश्चय करे, किसी पदार्थ के साथ अपना सम्बन्ध न माने। इस रीति से जब वासना से चित्त शुद्ध हो, तब शान्ति है।

प्रश्न ९— **॥ दोहा ॥**

हे सुखदाता परम गुरु, भाखो सत् उपदेश।
जांको हृद में धारकर, नाशें सकल कलेश ?

उत्तर—

सत्गुरुसेवी शुभ मति, श्रद्धालु सत् काम।
निर्मल बुध निरमान चित, चाहत मन विश्राम॥ १॥
निशिदिन रहो उदासचित्त; सहित विवेक वैराग।
कदाचित् उपजे नहीं, धन दारा सुत राग॥ २॥
निर्मम निरहंकार हो, साधो सब व्यवहार।
रहो पवित्र विकारबिन, दैवी गुण को धार॥ ३॥
देहभाव को त्यागकर, निशिदिन रहो निरास।
नामरूप संसार की, रंच फुरे नहिं आस॥ ४॥
अहं देह बंधन महा, पुन्य पाप को मूल।
राग द्वेष का बीज है, हेमां गहो न भूल॥ ५॥
ग्रस्थ मांहि निर्मम रहो, निर्मल निरहंकार।
कर्ताबुद्धि परसे नहीं, इतविधि उतरो पार॥ ६॥
सदा रहो गम्भीरमत, निश्चल शांत स्वरूप।
लोकशास्त्र तन वासना, रहित अक्षोभ अनूप॥ ७॥
निर्विकार कूटस्थ अज, चिदाकाश चिद्रूप।
स्वयं प्रकाश अखण्ड सत्, आतम तत् स्वरूप॥ ८॥
सावधान जोड़ो सदा, वृति को आतम संग।
मगन रहो निज रूप में, चढ़े न भव का रंग॥ ९॥

Scanned with CamScanner

कोमल चित शीतल हृदय, गुण ग्राहक निर्मान।
जग में रहो अकाम मति, सहित ज्ञान विज्ञान ॥१०॥
इस्थितप्रज्ञ अन्तर्मुखी, निर्मम निरहंकार।
हेमराज विचरो सदा, निर्भय परम उदार ॥११॥

प्रश्न १०—तृप्ति क्या है और कैसे प्राप्त होती है ?

उत्तर—तृप्ति नाम विषयों की वासना के अभाव का है, जब विषयों की वासना नाश हो जाती है, तब तृप्ति अवस्था प्राप्त होती है। विषयों की तृष्णा पुरुष को दीन, दुःखी, नीच और कंगाल रखती है। धन भी विषयों का साधन होने से विषय रूप है। जब धन, स्त्री और पाँच विषयों की वासना से वृत्ति शुद्ध होगी, केवल शरीर के निर्वाहार्थ व्यवहार रहेगा, वह तृप्त अवस्था है। इसलिए जिज्ञासु को उचित है कि अहर्निश वृत्ति को विषयों की वासना से शुद्ध रखे और अपने स्वरूप को आनन्द रूप निश्चय कर विचार करे कि विषयों में आनंद नहीं है। मेरा आनन्द विषयों में पूर्ण है, मैं अपने को भूलकर विषयों के संयोग से आनन्द मनाता हूँ; विषय दुःखरूप हैं और मैं सुखरूप हूँ। मेरे साथ मिलकर विषय भी सुख रूप प्रतीत होते हैं। इसलिए सुख रूप मैं हूँ, अपने को भूल कर अपने प्रतिबिम्ब के पीछे क्यों दौड़ता हूँ। इस विचार से जब विषयों की वासना नष्ट होगी। वह तृप्त अवस्था है।

प्रश्न ११—सुख के साधन कौन से हैं ?

उत्तर—सुख के साधन दो हैं, एक उत्तम स्वभाव। दूसरा आत्मज्ञान। जिसमें से आत्मा नित्य प्राप्त है उसकी प्राप्ति के लिए कोई यत्न नहीं, केवल सत्गुरु के उपदेश को श्रवण, मनन, और निदिध्यासन कर उसे दृढ़ अपरोक्ष निश्चय करना है। उत्तम स्वभाव यत्न से सिद्ध होते हैं। इसलिए इन्हीं के निमित्त यत्न करना पड़ता है; क्योंकि आत्मज्ञानी भी उत्तम स्वभाव के बिना शान्ति और विश्राम नहीं पा सकता। जब दोनों पदार्थ—अर्थात् उत्तम स्वभाव और आत्मज्ञान प्राप्त होते हैं, तब पुरुष पूर्ण आनन्द सहित अपनी आयु व्यतीत करता है अन्यथा ज्ञान को पाकर भी विक्षेप्ता, चंचलता, राग द्वेष आदि से मुक्त नहीं होता। जैसे विद्वान विद्या के बिना विद्या का लाभ नहीं उठाता वैसे ही आत्मज्ञानी दैवी सम्पद् के स्वभावों के बिना सुख नहीं अनुभव करता। इसलिए सब मुमुक्षुओं को उचित है कि न्याय-वृत्ति धारकर अपने सब स्वभावों को विचाररूप तराजू में तोलें। जो नीच हों उन्हें यत्न से निकालें और जो उत्तम हो उन्हें दृढ़ करें, क्योंकि सत्यमार्ग में सबसे कठिन और यत्नसाध्य कर्म यही है, इसीका नाम जीते जी मरना हैं। जब इस रीति से जिज्ञासु जीते जी मरता है तब अमर होकर फिर मरने से नहीं डरता। भाव यह कि सब विकारों से शुद्ध केवल सत्-चित आनन्द रूप अपने को निश्चय करता है और अपने आत्मा में तृप्त रहता है, इसलिए सदा सुखी और निर्विकार रहकर वरिष्ठ जीवनमुक्ति का रस प्राप्त करता है।

प्रश्न १२—

हे भगवन् सुख सागर स्वामी, निज आतम में नित विश्रामी ॥
कैसे मन शांति पद पावे, निज आतम में निज तृप्तावे ॥ ?

Scanned with CamScanner

उत्तर— ॥ चौपाई ॥

नभ ज्यों रहो असंग निरन्तर, संगरंग पर से नहीं अन्तर।
पवन समान क्रिया सब कीजे, रागद्वेष का भाग न लीजे ॥ १ ॥
तेज समान धरो संतोषा, यथालाभ पर कीजे तोषा।
जलवत् सर्वातम मति धारो, भेद भावना सकल विसारो ॥ २ ॥
धरतीवत् धीरज को धारो, सुख दुःख मान अपमान सहारो।
इतविधि अहिनिशि वरते जोई, **हेमराज** शान्त आतम सोई ॥ ३ ॥

प्रश्न १३—संसार में सुख सहित आयु व्यतीत करने अर्थात् जीवन-मुक्ति प्राप्त करने की युक्ति क्या है ?

उत्तर—सदा अपने सत्-चित्-आनन्द स्वरूप में मग्न रहना विश्राम की उत्तम युक्ति है। नामरूप से दृष्टि उठाकर सत्चित्, आनन्द आत्मा को सब देश, सब काल और वस्तु में देखना परमात्मा का दर्शन है। किसी समय में अपने को परमात्मा से भिन्न न जानना मानो नित्य ही परमात्म-मिलाप का आनन्द पाना है। जगत् कपोल कल्पित है, इसका संकल्प सदा निवृत्त रखना सुख का निमित्त है। सम्बन्धियों में रहकर सम्बन्धियों के मोह से शुद्ध रहना शूरमति है। दूसरे मनुष्यों के कटु-कठोर वचन सहारने धैर्य है। इस युक्ति से संसार में सुख रहता है अर्थात् जीवनमुक्ति प्राप्त होती है।

प्रश्न १४—

कैसे विचरूं जगत् में, रहे निरन्तर शान्त।
मन कल्पित संसार की, रंच न उपजे भ्रान्त ?

उत्तर— ॥ दोहा ॥

निशदिन सिमरो आत्मा, जांते सुख नित होय।
परमातम में मगन हो, कल्पित भव दुख खोय ॥ १ ॥
हृदय माहिं आतम अचल, सत्ता मात्र सरूप।
ज्ञान स्वरूप अनूप भज, नासे भ्रम तम कूप ॥ २ ॥
विषय वासना त्याग कर, तृप्त रहो निज माहिं।
स्वर्गलोक शिवलोक की, श्रद्धा उपजे नाहिं ॥ ३ ॥
सदा रहो शान्तात्मा, रागद्वेष से रहित।
साक्षीवत् विचरो अमल, समता मुदता सहित ॥ ४ ॥
सदा रहो निर्क्षोभ मन, लोभ मोह से शून्य।
समदर्शी शीतल हृदय, फुरे विशेष न न्यून ॥ ५ ॥
सदा बसो निज धाम में, जहाँ न मैं तू भाव।
अन्तर बाहर एक रस, निर्मल स्वतः स्वभाव ॥ ६ ॥
सदा बसो निजधाम में, शब्द अर्थ जहाँ बाध।
अगम अगोचर एक रस, सत्ता मात्र अगाध ॥ ७ ॥

Scanned with CamScanner

सदा रहो थित आप में, फुरे न रूप और नाम।
चिदाकाश चिद्वपु लखो, भूले हाड़ और चाम ॥ ८ ॥
सदा रहो इस्थित अचल, अनुभव रूप अकाम।
क्षोभ रहित सामान चित, बिन आरंभ परिणाम ॥ ९ ॥
इतविधि विचरो स्वस्थ हो, रहे निरन्तर शांत।
मन कल्पित संसार की, हेमां नाशे भ्रांत ॥१०॥

प्रश्न १५—इस जगत् में सुख का स्थान कौन-सा है और वह कैसे प्राप्त होता है ?

उत्तर—इस जगत् में सुख का स्थान केवल चित्त का निरोध है। ऐसा पावन और अचल स्थान स्वरूप-ज्ञान के बिना प्राप्त होना अति कठिन है; और स्वरूपज्ञान सत्गुरु के उपदेश के बिना और किसी उपाय से प्राप्त नहीं होता। सत्गुरु के वचन पर सत्य प्रतीत कर अपने वास्तव स्वरूप के ज्ञान से प्रकाशित रहे और उस ज्ञान के बल से चित्त की चंचलता से उपरत होकर परम पावन और परमसुख रूप निरोध सिंहासन पर विराजमान रहे। अथवा सर्वदा चित्त की विक्षेप्ता से रहित होकर एकाग्र, शीतल और सुगन्धित ताल में निमग्न रहे, तब सत्गुरु उपदेश और यथार्थ ज्ञान का फल और प्रयोजन है। इसलिए सब सुहृद, मित्रवर, श्रद्धावान, प्रेमयुक्त, कोमल चित्त, निर्मल हृदय जिज्ञासुओं और सज्जन यथार्थ ज्ञान के द्वारा संशयरूप संसार से उपरत होकर अधिष्ठानरूप चेतन में स्थिर रहें। कदाचित् कल्पित शब्द को सत्य प्रतीत कर विक्षिप्त न हों, पर्वत की नाईं अपने स्वरूप की निष्ठा में अचल और गम्भीर रहें। भूत और भविष्य की स्मृति और चिन्ता से रहित होकर केवल वर्तमान में संतुष्ट रहें। देह, इंद्रिय, प्राण, अंतःकरण, अवस्था, गुण, कर्म और फल के सम्बन्ध से शुद्ध और पावन होकर केवल निज स्वरूप में स्थिति का आनन्द मानते रहें। समता, मुदता, सुहृदयता, उपेक्षा, क्षमा, उदारता, ब्रह्मविद्या और विनम्रता से विभूषित अपना काल व्यतीत करें। गृहस्थ की चिंता, शरीर के दुःख, लोकलाज, कुल-मर्यादा, परलोक भय, भ्रान्त वचन, मान, मत्सर, दंभ, ईर्षा से पावन होकर सत्संग और सत्शास्त्र विचार से अपने स्वरूपानन्द में मग्न रहें। स्वरूप के बिना दूसरी चितवना न करें, सदा अचित्त, पद में लीन रहें। यह परम सुख और अखंडित शांति का स्थान है।

प्रश्न १६—देह अध्यासकी निवृति किस उपाय से होती है और स्वरूपाकार वृत्ति कैसे रहती है ?

उत्तर—जैसे यदि पुरुष सूर्य के सम्मुख मुख करे तो प्रतिबिम्ब सम्मुख नहीं रहता, और यदि सूर्य को पोठ करे तो प्रतिबिम्ब सन्मुख होता है, वही दृष्टिगोचर होता है। यदि वृत्ति स्वरूप के सम्मुख रहे तो प्रतिबिम्ब देहअध्यास की न्याईं सन्मुख नहीं रहता, और यदि वृत्ति स्वरूप को विस्मरण कर दे, तो देह अध्यास सन्मुख रहता है। इसलिए परावरदर्शी जिज्ञासु क्षण-क्षण अपनी वृत्ति को स्वरूप में जो केवल बोधमात्र सत्ता है, स्थित रखते हैं। सब चेष्टाएँ भी बोध के आसरे करते हैं, अबोध होकर किसी कर्ममें प्रवृत नहीं होते। जब अबोधका बल होता है, प्रथम देह-अध्यास फुरता है, फिर जो-जो दूषण इस अध्यास के हैं, सर्व वृत्ति में

Scanned with CamScanner

प्रवेश कर जाते हैं जिससे आनन्द जो शांति और एकाग्रता का फल है निवृत होकर विक्षेपता, चिन्ता, विरोध, अनात्मदृष्टि आदि वृति को व्याकुल करते हैं। इसलिए उचित है कि निरन्तर वृति को स्वरूपाकार रखें, जिससे देह-अध्यास वृति में प्रवेश न करे और न देहअध्यास के मलिन और नीच स्वभाव वृति को क्षुब्ध करें। सो उसका उपाय यही है कि वृति को स्वरूप के सम्मुख रखे, कदाचित् विमुख न करे।

प्रश्न १७—

किस विचार को धारकर, ध्यावें आतम राम।
दुःख निधि काया ताल में, नित पावें विश्राम ?

उत्तर—

॥ दोहा ॥

पुरुषार्थ कर सावधान; निज अज्ञान मिटाय।
ज्ञान भानु परकाश कर, सत्चित्आनन्द ध्याय ॥ १ ॥
निर्मम निरहंकार हो, सेवो गुरु उपदेश।
प्रकटे परमानन्द नित, रहे न ताप क्लेश ॥ २ ॥
सत्गुरु वचन अमोल भज, नाशे भव जंजाल।
सावधान हो आप में, टूटे माया जाल ॥ ३ ॥
नाश करो संकल्प को, निशिदिन बल को धार।
जब उपजे तब सावधान, त्यागो सहित विचार ॥ ४ ॥
नहिं सोचो चितवो कछु, रहो सहित विश्राम।
निर्मल निरसंकल्प हो, चीनो आतम राम ॥ ५ ॥
भूत भविष्यत काल की, चिन्ता सकल भुलाय।
वर्तमान सुख मानकर, अस्ति भांति प्रिय ध्याय ॥ ६ ॥
निशिदिन सिमरो आपको, छिन-छिन चीनों आप।
आप बिना जो चितवना, निश्चय सो है ताप ॥ ७ ॥
अपना आप पूजन करो, अपने आप गुण गाय।
संग आप क्रीड़ा करो, आप ही आप समाय ॥ ८ ॥
सदा रहो शीतल सुखी, लोभ, मोह से रहित।
हेमां विचरो कमलवत्, समता मुदता सहित ॥ ९ ॥

॥ कुण्डली ॥

दुःख निधि काया ताल में, रहो कमलवत् शुद्ध।
राग द्वेष पुन-पाप की, रंच फुरे नहीं बुद्ध ॥ १ ॥
रंच फुरे नहिं बुद्ध, नैन मूंदो भव जल से।
एकाएकी होय, रहो निर्मल तन मल से ॥ २ ॥
कहे **हेमां** स्वाराज, सदा भूलो तुरिया सुख।
परसे नांही रंच, मन, वाचक तन दुःख ॥ ३ ॥

Scanned with CamScanner

प्रश्न १८—वृति आत्माकार कैसे होती है?

उत्तर—अन्तःकरण की वृति अतिशय द्रवीभूत है। जिस पदार्थ के सन्मुख होती है उसी के आकार हो जाती है। जब इन्द्रियों का सम्बन्ध त्यागकर अपने अधिष्ठान के सन्मुख होती है, तब अधिष्ठान के आकार की हो जाती है। इसलिए वृति को अधिष्ठान के सन्मुख रखे, जिससे वृति अपने वृत्तत्त्व भाव से मुक्त होकर अधिष्ठानरूप हो जाए। संसार भी वृति से सिद्ध होता है। जब वृति नामरूप के आकार होती है तब संसार रूप होती है। जब नाम-रूप को त्यागकर केवल अस्तिमात्र के आकार होती है तब संसार का अभाव हो जाता है, केवल सत्य स्वरूप ही रहता है जो सार है और सर्व का आत्मा है। इस रीति से वृति आत्मा-कार होती है।

प्रश्न १९—मन एकाग्र होकर आत्मानन्द का अनुभव कैसे करता है?

उत्तर—इन्द्रियों से जो विषय होता है, उसी का संस्कार मन है, वही दुःख रूप है। इन्द्रियों को त्यागकर देखें तो मन कोई वस्तु नहीं। अथवा इन्द्रियों से जो विषय होता है वही अनेकता है और इन्द्रियों से जो अगोचर है वही एकता है। इसलिए एकता के जिज्ञासु इन्द्रियों के विषय और दृष्टि से रहित होकर स्थित हों जिससे आत्मा का अनुभव उनको प्राप्त हो। अन्तर दृष्टि में कोई विघ्न और क्लेश नहीं, क्योंकि वहां स्व, पर, राग, द्वेष आदि का अभाव है। जब मन इन्द्रियों के साथ एकत्र होकर भिन्न-भिन्न पदार्थों को विषय करता है, तब भिन्न-भिन्न संस्कारों के अनुसार भिन्न-भिन्न फलों का भोक्ता होता है। भाव यह कि विक्षेप्ता से व्याकुल होता है। अतः सिद्ध हुआ कि विक्षेप्ता इन्द्रियों के संग के बिना और कहीं नहीं और एकाग्रता इन्द्रियों के संग त्याग के बिना और कहीं नहीं।

एकाग्रता के जिज्ञासु इन्द्रियों के संग को त्यागकर एकाएकी अपने-आप में मग्न रहे। यद्यपि शरीर का व्यवहार इन्द्रियों के संग के बिना पूरा नहीं होता तथापि व्यवहारमात्र उनके साथ एकत्र हो और फिर उनसे भिन्न होकर अपने-आप में मग्न रहे—आनन्द की प्राप्ति का उत्तम उपाय है। सबको केवल ज्ञान स्वरूप देखना, किसी को भिन्न निश्चय न करना आनन्द-प्राप्ति की परम पावन युक्ति है। इन्द्रियों से जो भेद प्रतीत होता है, उसे अत्यन्त विस्मरण कर अभेद सिंहासन पर विराजमान रहना आत्मआनन्द के अनुभव का उत्कृष्ट साधन है।

प्रश्न २०—एकाग्रता और निर्विकल्पता की प्राप्ति में वृति का सहायक कौन है?

उत्तर—अभ्यास के समान कोई साधन अथवा सहायक नहीं। यदि स्वरूप चिंतन का अभ्यास क्षण-क्षण रहे तो वृति आठ पहर स्वरूपाकार रहती है। यदि परमार्थ की ओर संकल्प नाममात्र रहे तो बहुत काल सत्संग भी करता रहे, आशीष भी माँगता रहे तो भी वांछित मनोरथ न पा सकेगा। चित्त की एकाग्रता से जो कुछ किया जाता है, वह लाभदायक होता है। क्योंकि कुटुम्ब प्रीति, लोक-लज्जा, व्यवहार आसक्ति, और आलस्य आदि ज्ञान विज्ञान की प्राप्ति और स्थिति के शत्रु हैं, इसलिए सब ओर से अपराधी होकर आत्म-निदिध्यासन का अभ्यास करता रहे जिससे वृत्ति नित्य ही एकाग्र होकर निर्विकल्प रहे।

Scanned with CamScanner

प्रश्न २१—आनन्द कैसे प्राप्त होता है और उसकी स्थिति किस उपाय से होती है और स्थिति के अनन्तर फल क्या मिलता है ?

उत्तर—आनन्द अभ्यास में है। निदिध्यासन उसी का दूसरा नाम है। जैसे रस सदा रसना में रहता है परन्तु आनन्द प्रतीत नहीं होता, जब पदार्थ का संयोग होता है और उसके स्पर्श का बारम्बार अभ्यास होता है, उस समय रस प्रकट होकर आनन्द देता है। उसी प्रकार आनन्द अपना स्वरूप है परन्तु प्रतीत नहीं होता, जब सतगुरु का संयोग होता है और उनके उपदेश का बारम्बार अभ्यास होता है उस समय आनन्द प्रकट होता है। फिर जैसे-जैसे अभ्यास दृढ़ और तीव्र होता है वैसे-वैसे आनन्द अधिक होता है। मानो अभ्यासी आनन्द का कुण्ड हो, इसलिए जिज्ञासु प्राणान्त पर्यन्त अभ्यासमें सावधान रहे। यद्यपि अभ्यास से स्वरूप में अधिकता व न्यूनता नहीं तथापि विक्षेप्ता और एकाग्रता में जो भेद है और उस भेद से जो क्लेश व हर्ष वृत्ति में प्रतीत होता है, उसे सम्मुख रखकर अभ्यास को करने योग्य कहा गया है। जैसे देह की पुष्टि और निरोगता के लिए अन्न आदि औषधि का सेवन अंत-पर्यन्त किया जाता है; वैसे ही ब्रह्म-अभ्यास भी अविनाशी सुख और अखण्ड तृप्ति का कारण होने से अंतपर्यन्त करने योग्य है। जब एक बार ब्रह्म-अभ्यास दृढ़ हो जाता है, तब स्वाभाविक ही होता रहता है, फिर उसके निमित्त यत्न नहीं रहता। इसलिए उचित है कि सार-ग्राही सतगुरु के उपदेश को सत्य प्रतीत कर अभ्यास में सावधान रहे, जिससे ब्रह्मानन्द प्रकट होकर ब्रह्मभूत अवस्था प्राप्त हो। तात्पर्य यह कि स्थितप्रज्ञ, समाहित चित्त, निर्विकल्प मन, कल्याणमूर्ति, दैवी गुणवान, उपामी, आत्मसंतुष्ट और परमानन्द रूप होकर विचरे।

प्रश्न २२—मन सदा संकल्प उठाता रहता है इसलिए शान्ति वा निर्विकल्पता की प्राप्ति कठिन प्रतीत होती है। निर्विकल्पता के बिना शरीर दिशा में सुख रंचकमात्र भी नहीं। इसलिए वह कौन-सी दृष्टि है जिससे मन के होते ही निर्विकल्पता प्राप्त होती है ?

उत्तर—क्योंकि फुरना, अफुरना मन के धर्म हैं और आत्मा मन से न्यारा है इसलिए फुरने और अफुरने से असंग होकर अपने स्वरूप में मग्न रहना ही उचित है। संकल्प और विकल्प के साथ आत्मा का सम्बन्ध कल्पित है; क्योंकि कल्पित वस्तु अधिष्ठान को रंचक-मात्र भी विकारी नहीं कर सकती। इसलिए सदा अपने वास्तव स्वरूप में स्थित होकर सहज अवस्था से आयु व्यतीत करे, कल्पित की ओर दृष्टि कर विक्षिप्तचित्त होना उचित नहीं। अनुभव स्वरूप पूर्ण है; सूक्ष्म, स्थूल, जड़, चेतन, उत्तम, मन्द आदि उसमें कल्पित हैं और वही अनुभव सबकी आत्मा है। मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार उसमें तरंगों के समान उठते-बैठते हैं; वह अगाध समुद्रवत् अपनी महिमा में स्थित है। तरंग का उठना समुद्र में किसी प्रकार का विघ्न उत्पन्न नहीं कर सकता, इसलिए संकल्प विकल्प अनुभव स्वरूप की लीला अथवा विलास हैं; द्वितीय वस्तु न थी, न है और न होगी। मन भी कोई दूसरी वस्तु नहीं किन्तु अनुभव ही मन है, अनुभव ही जगत है और अनुभव ही परमात्मा है। इसलिए अनुभव ही अनुभव है और वही अनुभव सर्वरूप है। इस रीति से केवल अनुभव को पूर्ण देखकर शांति मेंस्थिति पाना उचित है इससे भिन्न और कोई साधन वा उपाय शांति और निर्वि-

Scanned with CamScanner

कल्पता कान ही है।

प्रश्न २३—यद्यपि आत्मा नित्यप्राप्त है और जितने विशेषण शास्त्रकारों ने आत्मा के लिखे हैं, सारे ही स्वतःसिद्ध और स्वतःस्वभाव हैं तथापि वृत्ति प्राप्त रूप आत्मा और स्वतःस्वभाव विशेषणों में स्थिति नहीं पाती, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—जब तक अनात्माकार प्रवाह निवृत न हो तब तक आत्माकार प्रवाह में किस प्रकार वृत्ति प्रवृत हो ? वृत्ति की सहायता के बिना आत्मज्ञान और आत्म स्थिति की प्राप्ति असम्भव है। इसलिए वृत्ति को वृत्ति से अनात्माकार प्रवाह से विमुख करे। आत्मा के लिए यत्न वांछित नहीं, केवल प्रतियोगी की निवृत्ति के लिए वाच्छित है, जब प्रतियोगी ही न रहा तब आप ही आप है। इसलिए जो कुछ अपने से भिन्न निश्चय किया हुआ है, सबको बाँझ के पुत्रवत् अत्यन्त अबाधरूप निश्चय करे। केवल आत्मा को सत्य और पूर्ण प्रतीत करे। वृत्ति की उत्पत्ति, स्थिति और लय आत्मा में देखें। आत्मा से भिन्न वृत्ति का स्वरूप प्रतीत न करे। आत्मा की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में आत्मा को समान और अच्युत देखें। रंचकमात्र द्वैत न देखे, अंतर और बाहर आत्मा को पूर्ण निश्चय कर निर्विकल्प सिंहासन पर विराजमान हो। जब इस प्रकार सजातीय प्रवाहरूप अभ्यास की दृढ़ता और स्थिरता होती है, तब वृत्ति अपने वृत्तिभाव से रहित होकर आत्मरूप हो जाती है। यद्यपि प्रथम भी आत्म रूप थी तथापि अपनी अज्ञान रूप शक्ति से अपने को आत्मा से भिन्न निश्चय कर कल्पित कर्मों और संशयों में बंधमान हुई और आत्म प्राप्ति की जिज्ञासा धारकर भिन्न-भिन्न साधनों में प्रवृत्त हुई; परन्तु निर्विकल्पता को पाकर संशय और कंटक रूप वन में अपने से आप खिन्न रही। जब काकताली न्यायवत् आत्मवेत्ती वृत्ति के सम्मुख हुई, तब उसके संग से यथार्थ अवस्था और वास्तव स्वरूप का ज्ञान प्रतिबिम्बत हुआ। सब अज्ञान रचित सामग्री का समकाल अभाव होकर सनातन और पुरातन रूप आत्म अवस्था शेष रही। इससे वृति सब साधनों और यत्नों से मुक्त होकर कृत-कृत्य और परमानन्द रूप हुई। ऐसी पावन अवस्था ही अपनी अवस्था है, केवल मध्यभावी संशय की निवृति के लिए रंचक मात्र कर्तव्य है और वह कर्तव्य भी केवल यथार्थ ज्ञान है, इससे भिन्न और कुछ नहीं।

प्रश्न २४—यथार्थ ज्ञान को स्थिति किस उपाय से होती है ?

उत्तर—यथार्थ ज्ञान की स्थिति निदिध्यासन से होती है; क्योंकि आत्मा नित्यप्राप्त रूप है, केवल देहअध्यास से अप्राप्त प्रतीत होता है। वह देहअध्यास आत्म-अभ्यास रूप निदिध्यासन से निवृत्त होता है। भाव यह कि बारम्बार अपने को पूर्ण, चिद्घन, सत्तामात्र और अनुभव रूप चिन्तन करने से देह अभ्यासके फल प्रच्छिन्नता, असत्यता, जड़ता, विक्षेप्ता और अज्ञान निवृत्त हो जाते हैं। इसलिए ज्ञानवान को केवल स्वरूपाकार वृत्ति रूप अभ्यास कर्तव्य है। इसके बिना रंचक मात्र भी कर्तव्य नहीं, क्योंकि वस्तु अपने में आप स्थित केवल केवलीमात्र चिदाकाश रूप है।

प्रश्न २५—आत्म निदिध्यासन के निमित्त जो महात्मा और शास्त्र उपदेश करते हैं, इससे क्या फल मिलता है ?

Scanned with CamScanner

उत्तर—आत्म निदिध्यासन श्रवण और मनन का परम सहायक और फलदायक है; इसलिए सब वृद्ध, सारग्राही, अन्तर्मुखी, तत्वज्ञ, परावरदर्शी और जीवनमुक्त जिज्ञासुओं को इष्ट है, क्योंकि सब सुख की प्राप्ति चित्त की एकाग्रता से होती है और एकाग्रता आत्म निदिध्यासन का फल हैं। इसलिए ज्ञान की सफलता और सिद्धि के लिए निदिध्यासन का सेवन करना सब ज्ञानवानों और जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी है।

प्रश्न २६—यद्यपि अभ्यास और समाधि का यत्न भी किया जाता है तथापि मन उपशम नहीं होता इसका क्या कारण है!

उत्तर—मन की विक्षिप्तता के कारण बहुत हैं। उनमें से कई लिखे जाते हैं। प्रथम, भिन्न-भिन्न संस्कार; द्वितीय, भिन्न-भिन्न शास्त्रों का पठन व श्रवण; तृतीय, विस्तार सहित व्यवहार; चतुर्थ, भिन्न-भिन्न पुरुषों का संग; पंचम, वृद्ध अवस्था; षष्ठम्, कायिक निर्बलता; सप्तम्, वात, पित्त, कफ की अधिकता और न्यूनता; अष्टम्, अयोग्य आहार; नवम्, नशे वाले पदार्थों का सेवन; दशम्, मन के साथ तद्रूपता आदि और भी हैं। इनके त्याग से मन एकाग्र हो जाता है और आनन्द पाता है। यदि कदाचित् किसी बलवान कारण से एकाग्रता न हो सके तो अपने को साक्षी रूप निश्चय कर इसके भिन्न-भिन्न संकल्पों को अपने विनोद और विलास का कारण निश्चय करो; परन्तु यह संशय कदाचित् हृदय में न धारो कि मन का फुरना तुम्हारी मुक्ति व स्वरूप में किसी प्रकार का विघ्न उत्पन्न करेगा। तुम्हारा तो स्वरूप सदा मुक्तिरूप, जन्म मरण से रहित, समाधि उत्थान से भिन्न केवल शून्य विज्ञान रूप है। इस निश्चय को धारकर सब संशयों को निवृत्त कर निर्विकल्पता और सहज अवस्था का रस प्राप्त करो।

प्रश्न २७—जब अभ्यास न हो सके अथवा अभ्यास के समय वृत्ति स्थिर और एकाग्र न हो तो जिज्ञासु को क्या करना चाहिए?

उत्तर—जिज्ञासु अपने स्वरूप का चिन्तन कर यह निश्चय करे कि मैं वृत्ति की विक्षेप्ता और एकाग्रता का साक्षी हूँ और सदा निर्विकार, शुद्ध स्वरूप, स्वस्थ, चिदाकाश हूँ। अभ्यास से मेरे स्वरूप में अधिकता नहीं होती और अभ्यास के बिना मेरे स्वरूप में न्यूनता नहीं होती। मैं सदा एकरस, सत्ता मात्र, बुद्ध स्वरूप अपने-आप में स्थित हूँ। इस विचार के आसरे वृति के चंचल भाव में भी आनन्द, उत्साह, मंगल और आह्लाद रहता है।

जो अपने-आपको अभ्यास कनने और वृति का धर्म अनना धर्म माने, उस पुरुष को अखण्ड आनन्द और अविनाशी सुख प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वृति पांच तत्वों का सूक्ष्म अंश है और सब प्रकार का ज्ञान इसी में रहता है। इसलिए यह सदा स्फुरण रूप और चंचल स्वरूप रहती है। कदाचित् निद्रा से अथवा मूर्छा से, रोग से वा समाधि से वा विचार से क्षणमात्र अफुर और निश्चल भी हो जाती है परन्तु वह निश्चलता, विकारी, सोपाधिक, क्षणिक और विनाशी है। इसलिए पूर्णदर्शी वृति की किसी अवस्था पर दृष्टि नहीं रखते हैं केवल अपने स्वरूप पर दृष्टि रखते हैं।

प्रश्न २८—यदि अत्यन्त शारीरिक अस्वस्थता से अभ्यास भी न हो सके तो उस समय

Scanned with CamScanner

क्या करना उचित है ?

उत्तर—आपको दुःख का साक्षी मानकर दुःख में समानबुद्धि रहना सबसे उत्तम समाधि और अभ्यास है। इस रीति से अपने अन्तर ही केवल तत्व विचार से अपने चित्त को एकाग्र कर आनन्दित हो रहे, समाधि और अभ्यास का यत्न न करें। अपने को अक्रिय, अचल, अडोल, समाधि उत्थान से परे, ज्ञान-अज्ञान से शुद्ध, स्वतः सिद्ध केवल अनुभव मात्र निश्चय करे।

यदि शरीर के दुःख से अभ्यास न हो सके तो न करे, सुख सहित बैठा रहे अथवा सोया रहे; परन्तु जहाँ-जहाँ दृष्टि जावे अथवा जहाँ-जहाँ मन का फुरना जावे, केवल सत्चित् आनन्द रूप देखे।

प्रश्न २९—हे भगवन् ! दुःख-सुख से मुक्ति किस विचार से होती है ?

उत्तर—हे मुमुक्षु ! तुम अपने वास्तव स्वरूप का बारम्बर चिन्तन कर अपने को स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से भिन्न निश्चय करो, इन्द्रिय और अन्तःकरण के कर्मों का साक्षी अपने को मानो। क्यों अपने को भूलकर अन्तःकरण के स्वभावों और इन्द्रियों के कर्मों को अपने स्वभाव और कर्म मानकर दुःख-सुख व राग द्वेष के भागी हो रहे हो ? जितना काल शरीर में प्राणों का संयोग रहेगा, उतना काल अन्तःकरण भिन्न-भिन्न संकल्पों और स्वभावों में प्रवृत रहेगा और इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न कर्मों में प्रवृत रहेंगीं। केवल सुषुप्ति अवस्था में इन्द्रिय और अन्तःकरण की चेष्टा कारण में लीन होकर लोप हो जाती है। जाग्रत और स्वप्न अवस्था में इनकी चेष्टा अपनी मर्यादानुसार प्रवाह रूप प्रवृत रहती है। दुःख-सुख भी जाग्रत अथवा स्वप्न अवस्था में प्रतीत होता है। सुषुप्ति में दुःख-सुख का अभाव है; इसलिए सिद्ध हुआ कि दुःख-सुख अन्तःकरण के धर्म हैं और इन्द्रियों की चेष्टा से प्राप्त होते हैं।

जो पुरुष दुःख-सुख से मुक्त होना चाहे, वह अपने को इन्द्रिय और इन्द्रियों के कर्म, अन्तःकरण और अन्तःकरण के धर्मों से न्यारा केवल सत्तामात्र निश्चय करे। रंचकमात्र सम्बन्ध किसी कर्म अथवा स्वभाव से न रखे। निरन्तर अपने को स्मरण करता रहे। उसे स्वाभाविक ही परमानन्द अवस्था प्राप्त होगी। इसी का नाम बोध, उपरति और वैराग्य का समकाल अभ्यास है। इसको भली प्रकार विचारें।

प्रश्न ३०—वृति किस साधन से निरन्तर ब्रह्मानन्द का रस ले सकती है ?

उत्तर—मन की वृति ऐसी है कि जिस ओर इसका प्रवाह अधिक रहे उसी का स्वरूप हो जाती है। इसलिए बुद्धिमान, परावरदर्शी इसे अधिष्ठान की ओर लगाते हैं, कल्पना की ओर नहीं लगाते। वृति का अधिष्ठान सत्य स्वरूप है और वृति की कल्पना प्रपंच है। सत्य अद्वैत स्वरूप है और प्रपंच विचित्र रूप है। यदि वृति सत्यस्वरूप के आकार रहती है तो अद्वैतरूप रहती है और एकाग्रता का फल देती है; और यदि प्रपंच के आकार होती है तो विचित्ररूप हो जाती है और विक्षेप्ता का फल देती है। इसलिए ज्ञानवान वृति को निरन्तर सत्यरूप के आकार रखता है और ब्रह्मानन्द का रस चखता है। वृति की रक्षा के निमित्त निरन्तर महापुरुषों की समीपता और उनके अमृतवचनों का श्रवण करता है, क्योंकि

Scanned with CamScanner

निरन्तर तत्वअनुसन्धान ही इस साधन का परम सहायक और रक्षक है।

प्रश्न ३१—महात्मा कहते हैं, "निर्विकल्प आत्मरस चाखो।" वे आत्मरस किस प्रकार चाखें? आत्मा अरूप और निराकार है, किस रीति से मन उसमें लीन हो, जिससे कोई संकल्प न उठे?

उत्तर—"निर्विकल्प आतम रस चाखो" का अर्थ है कि निर्विकल्प होकर अपने-आप में स्थित रहो। अतः अपना-आप केवल अस्तिमात्र है; अस्तिमात्र में स्थित होना ही आत्म स्थिति है। नाम रूप का फुरना मन को चंचल करता है, और वह नामरूप अस्तिरूप आत्मा में ऐसे कल्पित है जैसे जल में तरंग। कल्पित वस्तु अधिष्ठान को विकारी नहीं कर सकती। इसलिए नामरूप को कल्पित जानकर अस्तिरूप आत्मा में लीन करो। तात्पर्य यह कि नाम-रूप को अस्तिरूप निश्चय करो, द्वैतभाव रंचकमात्र भी न मानो। जब अन्तर-बाहर अस्ति-रूप आत्मा ही प्रतीत होगा, तब मन का संकल्प स्वभाविक लीन हो जाएगा, क्योंकि द्वैत-दृष्टि में मन का संकल्प दुःखरूप होता है और अद्वैतदृष्टि में मन का संकल्प सुखरूप होता है, किन्तु मन स्वयं अस्तिरूप आत्मा प्रतीत होता है, दूसरी वस्तु का अत्यन्त अभाव हो जाता है। इसलिए अपने को संकल्प-विकल्प का अधिष्ठान निश्चय कर अपने में आप स्थित रहे। संकल्प के फुरने से अपने को कुछ और निश्चय न करे, सदा गम्भीर और निश्चल रहे।

भूत और भविष्य को त्याग कर केवल वर्तमान में स्थित होना निर्विकल्प आत्मरस चखना है। लौकिक, व्यवहारिक, पौराणिक और वैदिक शब्दों के विस्मरण करने के उपरांत जो सत्ता शेष रहे, उसमें स्थित होना निर्विकल्प आत्म-रस प्राप्त करना है। मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार का साक्षी होकर इनके धर्मों से अलग रहना निर्विकल्प आत्मरस पाने का साधन है। सर्व मन रचित प्रपंच को मन सहित मिथ्या करके सत्य वस्तु में स्थिति पाना आत्मरस का चखना है।

प्रश्न ३२—चेतन अद्वैत है, उसमें एकता और अनेकता कैसे अनुभव होती है और किस साधन से अनेकता की दृष्टि नष्ट होकर अद्वैतदृष्टि स्थित होती है?

उत्तर—चेतन के अर्थ सत्ता स्फुरण है। सत्ता मानो स्फुरण रूप होकर चेतन कहलाती है। सत्ता अधिष्ठान है और फुरना उसमें कल्पित है, फुरने में अनेकता है और सत्ता में अद्वैतता है। जब चेतन अपनी स्फुरण शक्ति को सामर्थ्य देता है तब अनेकता का अनुभव करता है और जब चेतन अपनी सत्तामात्र में स्थित होता है तब एकता का अनुभव करता है। एक ही चेतन एकता और अनेकता का दृष्टा है। चेतन के बिना अनेकता और एकता किसी में प्रतीत नहीं होती, जैसे बीज ही अनेकता और एकता का कारण है। तात्पर्य यह कि बीज अपने बीजत्व भाव में एकरूप है और वृक्ष भाव में अनेक रूप है। वैसे चेतन ही अनेकता और एकता का कारण है। अर्थात् चेतन अपनी सत्तामात्र में एकरूप है और अपने स्फुरण भाव में अनेकरूप है। इस रीति से एक ही चेतन अपनी महिमा में स्थित है। यद्यपि अनेकता चेतन में चेतन से पृथक् वस्तु नहीं तथापि स्फुरण रूप होने से सत्तामात्र की आच्छादक है। इसलिए जब चेतन अपनी सत्तामात्र की ओर जाता है तब अपने स्फुरण रूप को लीन कर

Scanned with CamScanner

केवल केवलीभाव रहता है। इससे अनेकता के क्लेश अत्यन्त निवृत्त हो जाते हैं। इसलिएसब आचार्यों और ऋषियों ने अपने-अपने शास्त्रों में फुरने का त्याग श्रेष्ठ और धारने योग्य लिखा है। अतः फुरने का त्याग निरन्तर अभ्यास के बिना और किसी उपाय से सिद्ध नहीं होता। वह अभ्यास भी अपने निज स्वरूप का है। जब चेतन निजस्वरूप सत्तामात्र में स्थित होने का अभ्यास करता है तब स्वभाविक स्फुरण भाव उसी में लीन हो जाता है। इसलिए सत्ता-मात्र का निरन्तर अभ्यास ही अनेकता की निवृति और अद्वैत की स्थिति का परम साधन है।

प्रश्न ३३—जब स्वरूप में समाधि करता हूँ तो शून्य स्वरूप में आनन्द रहता है और जब विराट की ओर दृष्टि जाती है तो भ्रम हो जाता है कि ऐसे पवित्र आत्मा को कृमि आदि नीच शरीरों में आने की इच्छा क्यों हुई ? यह संशय निवृत करें।

उत्तर—यह भ्रम स्वरूप में स्थित न होने से और स्वरूप को यथार्थ न समझने से उत्पन्न होता है। वास्तव में जैसे समाधि में शून्य स्वरूप है वैसे ही नेत्रों के खोलने से जो विराट दृष्टि में आता है, वह भी शून्य स्वरूप है। जो आदि होता है वही अन्त होता है, क्योंकि सब का आदि शून्य स्वरूप हैं इसलिए सारे ही शून्य हैं, दृष्टिमात्र भ्रम है, वास्तव भ्रम कोई नहीं।

जैसे स्वप्न में सब प्रपंच प्रतीत होता है और वास्तव में देखें तो शून्यरूप होता है। स्वप्न अवस्था में जो प्रपंच भिन्न-भिन्न रूप वाला, भिन्न-भिन्न नाम वाला और भिन्न-भिन्न गुण वाला प्रतीत होता है, जब सुषुप्ति अवस्था आती है तो वही प्रपंच लीन होकर शून्य अवस्था रहती है, और फिर जाग्रत अवस्था में नेत्रों के खोलने से भिन्न-भिन्न रूप वाला भिन्न-भिन्न नाम वाला और भिन्न-भिन्न गुण वाला प्रपंच प्रत्यक्ष प्रतीत होता है; फिर जब नेत्रों को मूंदते हैं तो सुषुप्ति अवस्था में सब नामरूप का अभाव होकर शून्य अवस्था शेष रहती है। इन तीनों अवस्थाओं में अर्थात् जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति में सुषुप्ति कारण है और जाग्रत स्वप्न कार्य हैं, कार्य सदा कारण रूप होता है; जब सुषुप्ति शून्यरूप है तो स्वप्न और जाग्रत भी शून्य रूप हैं। केवल भ्रांति से वही शून्य स्वरूप नाना रूप होकर भासता है। जैसे वृक्ष का कर्ता बीज है और बीज का कारण आकाश है जो उसके अन्तर रहता है; क्योंकि जब बीज को तोड़ें तो आकाश के बिना कुछ नहीं निकलता। इसलिए सिद्ध हुआ कि शून्य ही सारे वृक्ष का बीज है। शून्य में न बीज है न जड़ है, न मूल है न स्कन्ध हैं, न शाखा है न पत्र है, न फूल हैं और न फल हैं। वृक्ष को देखें तो भिन्न-भिन्न रूप सहित प्रतीत होता है। यथार्थदर्शी बीज की ओर देखता है और अयथार्थदर्शी वृक्ष की ओर देखता है। बीज का दर्शन भ्रम का नाशक है और वृक्ष का दर्शन भ्रम का साधक है। इसलिए वृक्ष के दर्शन को मिथ्या और भ्रमरूप जानकर बीज के दर्शन का बारम्बार अभ्यास करता है, क्योंकि वास्तव स्वरूप वृक्ष का बीज है और बीज शून्य रूप हैं। इसलिए वृक्ष भी शून्य रूप है, शून्य रूप वृक्ष को देखना यह वृक्ष का वास्तव दर्शन है। वैसे ही सुषुप्ति में जो शून्य रूप होता है, वही बीज है; स्वप्न रूप जड़ है, जाग्रत रूप मूल है, अन्तःकरण रूप स्कन्ध है, इन्द्रिय रूप शाखाएँ हैं, कर्म और विषय रूप पत्र हैं, सुख और दुःख रूप फूल हैं, हर्ष व शोक फल हैं। इस वृक्ष का बीज शून्य रूप है इस-लिए यह विराट रूप वृक्ष भी शून्य रूप है, यह वास्तव दर्शन विराट का है। शून्य का अर्थ

Scanned with CamScanner

अभाव है। तात्पर्य यह कि तीनों कालों में अनेकता नहीं है, अद्वितीय वस्तु अपनी महिमा में स्थित है। शून्य तमोगुणी अवस्था है और अपना स्वरूप शून्य के भी प्रकाश करने वाला है। इसलिए शून्य और शून्य में स्थित जगत को अपने स्वरूप में न देखकर महात्मा उस पद में विराजमान रहते हैं, जहाँ न भ्रम है न निश्चय, न प्रश्न है न उत्तर, न तर्क है न वाद, न कारण है न कार्य, न उत्तम है न अधम।। जब ऐसी अवस्था है तो उसमें क्या कहें कि ऐसे पवित्र आत्मा को कृमि आदि शरीरों में आने की क्यों इच्छा हुई ? जो वस्तु कभी भी अपने स्वरूप को न त्यागे और न व्यभिचारी हो, उसको भिन्न-भिन्न स्वरूपों में आता और जाता हुआ देखना ही अज्ञान है।

आत्मा आकाश रूप है, अखंड स्थित है। उसमें आना और जाना नहीं बन सकता, न किसी शरीर में उसने प्रवेश किया है और न उसका स्वरूप कुछ और का और हुआ है। बादलों की तरह शरीर उत्पन्न होते हैं और लीन होते हैं। कई बादल छोटे होते हैं और कई बादल बड़े होते हैं, परन्तु सारे आकाश रूप हैं। जैसे बादल का स्वरूप आकाश से भिन्न और कोई नहीं; वैसे ही शरीर भी और कोई वस्तु नहीं, आत्मा ही शरीर रूप होकर प्रतीत होता है। आत्मा अद्वैत है, आत्मा के बिना दूसरा कुछ नहीं। आत्मा सत्ता स्फुरण है अर्थात् चेतन है, अपनी चेतनता से नानारूप होकर प्रतीत होता है, कहीं ब्रह्मा रूप और कहीं कीट रूप; परन्तु दोनों स्वरूपों में समान है, और यह दोनों स्वरूप आत्मा के हैं, आत्मा के अज्ञान ब्रह्मा उत्तम और कीट नीच प्रतीत होता है, जब ज्ञान होता है तो दोनों समान भासते हैं।

आत्मा अगाध समुद्र है, और शरीर तरंगों की तरह उत्पन्न और लीन होते हैं। कई तरंग बड़े होते हैं, जैसे ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, कुबेर, यम, शक्ति गणेश आदि। कई मध्य-स्वरूप जैसे मनुष्य पशु आदि और कई छोटे जैसे कीट, मच्छर आदि। अब तरंगों में भेद प्रतीत होता है परन्तु समुद्र में कोई इच्छा नहीं कि तरंग रूप होकर अपने को भिन्न-भिन्न स्वरूप में प्रकट करूँ। केवल गम्भीरता और महत्ता से अपने-आप में विलास करता है, विलास अवस्था में भी अपने स्वरूप से चलायमान नहीं होता; ज्यों का त्यों अपने-आप में स्थित है। इस दृष्टि से द्वैत का खंडन होता है।

प्रश्न ३४—समाधि के समय सब शरीर के रोम-रोम का ज्ञान रहता है, शरीर के किसी अंग पर मच्छर व मक्खी बैठ जाय तो उसका ज्ञान भी होता है, उसका कारण क्या है ? यदि आत्मा रोम-रोम में व्यापक है तो मच्छर व मक्खी में भी है, उसको दूसरा समझ कर क्यों उड़ाता है। उसके दुःख से क्यों पीड़ा होती है ? अब ऐसी निर्विकल्प समाधि की इच्छा है कि जाग्रत में सुषुप्ति की तरह जड़ता रहे और आनन्द बना रहे, ऐसी समाधि की युक्ति कृपा कर वर्णन करें ?

उत्तर—आत्मा में समाधि नहीं। समाधि चित्त की अवस्था है, जब तक शरीर में प्राणों की चेष्टा रहती है तब तक चित्त भी अपने स्वभाव अथवा धर्म में प्रवृत्त रहता है परन्तु ज्ञानवान अपने को साक्षी आत्मा जानकर चित्त और चित्त के धर्मों से न्यारा रहता है। इस प्रकार का निश्चय ही निर्विकल्प समाधि है।

Scanned with CamScanner

यदि यह माना जाए कि जब मच्छर अथवा मक्खी के बैठने और उनके स्पर्श से खेद होने की प्रतीति न रहे, तब समाधि है', तो सब जड़ पदार्थ, जिन्हें मक्खी व मच्छर के बैठने का ज्ञान नहीं रहता, समाधि में समझने चाहिएं परन्तु वह जड़ पदार्थ हैं, केवल जड़ता से उनमें ज्ञान शक्ति का अभाव है। इसलिए उनकी यह अवस्था समाधि रूप नहीं हो सकती। इस प्रकार की समाधि प्राणधारी को भी प्राप्त नहीं हो सकती है, क्योंकि जब तक प्राण आते-जाते हैं, तब तक अन्तःकरण में स्फुरण रहता है। अन्तःकरण में जो चेतन का आभास है वह अपने प्रकाश रूप धर्म में प्रवृत्त होकर सब इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों के ज्ञान में प्रेरित करता है। स्पर्श विषय त्वचा-इन्द्रिय का है, इसलिए त्वचा को स्पर्श का ज्ञान होता है; जब तक प्राण का संयोग शरीर से है, तब तक जो वस्तु त्वचा के साथ स्पर्श करेगी, उसका ज्ञान चिदाकाश द्वारा बुद्धि में होगा। इस ज्ञान से अद्वैत निश्चय का अभाव नहीं होता क्योंकि यह ज्ञान केवल शरीर की उपाधि से है। आत्मा में इस ज्ञान की कल्पना नहीं आत्मा सत्ता सामान रूप है और इस प्रकार के द्वैत निश्चय से आत्मा की अद्वैतता नष्ट भी नहीं होती। जैसे अनेक घण्टों से आकाश की अद्वैतता निवृत्त नहीं होती। वैसे ही अनेक शरीर, इन्द्रिय, विषय और विषय के भिन्न-भिन्न ज्ञान से आत्मा की अद्वैतता निवृत्त नहीं होती इसलिए निश्चय करना चाहिए कि आत्मा सदा अद्वैत रूप है। और मेरा अपना आप है। शरीर, इन्द्रिय, प्राण, विषय और विषयों का ज्ञान मेरे में कल्पित हैं, इसलिए मिथ्या है। जो कुछ भासता है, वह मेरे प्रकाश से भासता है। मेरे प्रकाश के बिना कोई पदार्थ सिद्ध नहीं होता इसलिए मुझसे बिना सब पदार्थ मिथ्या और कल्पित हैं। मिथ्या और कल्पित वस्तु अधिष्ठान को विकारी नहीं कर सकती। जैसे मृग तृष्णा के जल से पृथ्वी गीली नहीं होती और रज्जु का सर्प किसीको डंक नहीं मारता, न उसका विष चढ़ता है, वैसे ही जब सब नाम रूप अपने ज्ञान सहित मुझ अधिष्ठान में कल्पित हैं तो उनका भाव और अभाव मेरे स्वरूप में एक जैसा है। मेरी वास्तव अद्वैत सत्ता को रंचक मात्र व्यभिचारी नहीं कर सकते। यह निश्चय ज्ञानवान् का अखण्ड समाधि रूप है।

तुम जो आत्मा में इस प्रकार की स्थिति का प्रश्न उठाते हो, सो तुम अपने को क्या वस्तु समझकर उठाते हो, अर्थात् शरीर, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण अथवा आत्मा समझकर? यदि शरीर, प्राण, इन्द्रिय या अन्तःकरण अपने को निश्चय कर समाधिमें स्थित होना चाहते हो तो आत्मदर्शन तुमको कभी प्राप्त नहीं होगा, क्योंकि इन पदार्थों का सम्बन्ध आत्मा में अनात्म भ्रांति का निमित्त है। तात्पर्य यह कि इन पदार्थों की प्रतीति से आत्मा अपने-आप प्रतीत नहीं होता। यदि अपने को आत्मा समझकर आत्मा में स्थिति का प्रश्न उठाते हो तो द्वैत रूप भ्रांति को निवृत किये बिना और कोई उपाय आत्म-स्थिति का नहीं; क्योंकि आत्मा नाम अपने-आपका है और अपना आप कदाचित् अपने-आपको त्याग कर दूसरे स्थान में नहीं रहता। जब तुम्हें अपने-आप में संशय हुआ है तो प्रतीत होता है कि तुम्हें अपने-आप का ज्ञान अब तक पूरा-पूरा नहीं हुआ। जब तुमको अपने-आपका ज्ञान होगा, तब कोई अवस्था, अथवा देश अथवा काल अथवा वस्तु तुम्हारे स्वरूप में इस

Scanned with CamScanner

प्रकार का भ्रम उत्पन्न नहीं कर सकेगी कि अब मैं कुछ और हो गया हूँ, अथवा मुझको कोई नवीन अवस्था प्राप्त हो, अथवा मुझे मूढ़ता व जड़ता प्राप्त हो। उस समय सदा अपने-आपको अपने-आपमें निश्चय करकेअपने-आपमें मग्न रहोगे। आत्मा में समाधि ऐसे कल्पित है जैसे विक्षेप्ता। इसलिए तुम सब संशयों को त्यागकर यही निश्चय करो कि मैं निर्विकल्प, निर्विघ्न, निर्वाण, अच्युत, अगम, अपार रूप हूँ; इस प्रकार के निश्चय की दृढ़ता तुम्हें शरीर के होते ही शरीर से ऐसा अज्ञात करेगी कि सब क्रिया के होते ही तुम अपने को अकर्त्ता, असंग, कूटस्थ और निर्विकार मानोगे।

आत्मा अद्वैत है उसमें मनुष्य, पशु, पक्षी, मच्छर, मक्खी आदि ऐसे कल्पित हैं, जैसे स्वर्ण में नाना प्रकार के भूषण कल्पित हैं। जैसे भूषणों के भेद से स्वर्ण में भेद नहीं आता वैसे ही शरीरों के भेद से आत्मा में भेद नहीं आता। यदि एक भूषण के गिरने से दूसरा भूषण टूट जाए तो स्वर्ण की अद्वैतता में दूषण नहीं आता; वैसे ही यदि एक शरीर दूसरे शरीर को दुःख दे तो आत्मा की अद्वैतता में भेद नहीं आता। तुम इन शरीरों से दृष्टि उठाकर चिदाकाश रूप आत्मा पर दृष्टि रखो; और उस आत्मा को खण्ड-खण्ड न मानो किन्तु अखण्ड, अद्वैत और सामान निश्चय करो। फिर सो आत्मा अपने-आपको मानो और प्रतीत करो कि मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, मच्छर मक्खी में मैं ही पूर्ण हूँ अर्थात् सब रूप हूँ। इस निश्चय को धार कर भेद भावना से रहित रहो, यही निर्विकल्प समाधि है।

जाग्रत में सुषुप्ति रूप होने का प्रयोजन यह नहीं है कि सुषुप्ति अवस्था की नाँई सब इन्द्रिय और अन्तःकरण जड़ हो जावें। इसका प्रयोजन यह है कि ज्ञान की ऐसी दृढ़ता हो कि शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण के होते ही इनकी सत्यता बुद्धि में न रहे। और इनके शुभ और अशुभ कर्मों में कर्त्ता बुद्धि उत्पन्न होकर राग द्वेष न हो; अपना वास्तव स्वरूप, केवल शून्य विज्ञान ही निरन्तर अपरोक्ष रहे। सुषुप्ति में सब इन्द्रिय और अंतःकरण अज्ञान में लीन होकर जड़रूप रहते हैं, क्योंकि अज्ञान जड़ है और फिर सुषुप्ति के नाश होने पर सब सावधान हो आते हैं; परन्तु ज्ञान रूप समाधि में इन्द्रिय और अन्तःकरण ज्ञान में लीन होते हैं। ज्ञान चेतन है, इसलिए ज्ञान द्वारा इन्द्रिय और अन्तःकरण का जो संग निवृत हो गया है, फिर कभी नहीं होता। इसलिए ज्ञान रूप समाधि सुषुप्ति से उत्तम है। तुम नित्य-प्रति अपने वास्तव स्वरूप में सावधान रहो, यही केवल समाधि रूप है। दूसरे के धर्मों को धार कर क्यों समाधि का यत्न करते हो और फिर मन वांछित मनोरथ न पाकर शोक और निराशा से हाथ मलते हो ?

यदि प्राणायाम की युक्ति से कुछ काल शरीर से जड़ता अर्थात् मूढ़ता हो भी गई, जो अवस्था तुम माँगते हो प्रगट भी हुई और फिर प्राण उतारने के समय उसी प्रकार सब पदार्थ भासने लगें तो उस समाधि का आनन्द क्षणभंगुर हुआ और उसका यत्न भी निरर्थक हुआ। इसलिए तुम इस भ्रम को चित्त से निवृत्त कर पूर्वोक्त व्याख्यान को हृदय में धारण करो और ज्ञान रूप समाधि में अपनी वृत्ति को ऐसा लगाओ, जिससे निरन्तर आनन्द समान रहे।

प्रश्न ३५—अभ्यास करते-करते शरीर में शून्यता, शांति, सुख और कुछ मस्ती आ

Scanned with CamScanner

जाती है परन्तु अंतर अर्थात् हृदयाकाश में किसी का दर्शन नहीं होता। सुना है गीता में लिखा है, कि ओंकार का अभ्यास करते हुए नाभिकमल के ऊपर अष्टांगुल प्रमाण जो आत्म स्वरूप है, उसके दर्शन होते हैं। मैं पूछता हूँ हृदय में ऐसा दर्शन होता है या परमात्मा को पूर्ण निश्चय किया जाता है, कृपा करके भली प्रकार मुझे समझाइए?

उत्तर—अभ्यास करते-करते शरीर में जो शून्यता, शांति, सुख और मस्ती आ जाती है, यही आत्म दर्शन है; क्योंकि आत्मा नाम अपने-आपका है, जब सुख और शांति से अपने-आप में स्थिति हुई, इसी का नाम दर्शन है। दूसरा जो कुछ हृदय में देखा जाता है, वह सब मनोराज अर्थात् मन की कल्पना है। जैसे स्वप्न में मन की कल्पना से नाना प्रकार के स्वरूप देखे जाते हैं वैसे ही कई लोग अपने मन में किसी स्वरूप का ध्यान दृढ़कर स्वप्न की तरह उसी स्वरूप को देखते हैं और प्रसन्न होते हैं कि हमने दर्शन पाया है। यह दर्शन नहीं भ्रम है। आत्मा केवल ज्ञानरूप है, ज्ञान ही उसका दर्शन है, दर्शन दूसरी वस्तु का होता है। आत्मा अपने-आपको कहते हैं, आपको आप नहीं देखा जा सकता। जैसे नेत्र को नेत्र नहीं देख सकते। यदि कहें दर्पण द्वारा नेत्र देखे जा सकते हैं, उसका उत्तर यह है कि दूसरी वस्तु के आसरे मिथ्या नेत्र अर्थात् वास्तव नेत्र के प्रतिबिम्ब को देखा जा सकता है। वास्तव नेत्र अपने स्थान पर वैसे स्थित है। इस-लिए कुछ नहीं देखा, क्योंकि नेत्र ने अपने प्रतिबिंब को देखा वह वास्तव नहीं। यदि देखा भी तो अपने को आप देखा, इसलिए देखना सिद्ध न हुआ। आत्मा के दर्शन में तो नेत्र का दृष्टांत भी नहीं आ सकता, क्योंकि आत्मा केवल केवलीरूप है, उसमें देखने वाला, देखना और देखने योग्य किस प्रकार मानें। केवल सतगुरु के उपदेश से जब ज्ञान होता है कि मैं स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर, जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति अवस्था का साक्षी और प्रकाशक केवल सत्चित्तआनन्द चिदा-काश रूप हूँ, यही दर्शन है। जब इस ज्ञान को मनन और निदिध्यासन करने से संशय और विपर्यय निवृत हो जाते हैं फिर किसी भी समय किसी शास्त्र के सुनने से वा किसी अज्ञानी वा भेदवादी के वचन को सुनकर संशय उत्पन्न नहीं होता। पर्वत की तरह अपने निश्चय में अचल हो जाता है। इसलिए तुम अपने को आत्मा निश्चय करो। अपने को भूलकर आत्मा की खोज में न भटको और न दर्शन की अभिलाषा रखो। तुम्हारा स्वरूप स्वतः सिद्ध केवल चिदाकाश रूप है। सब आकार और स्वरूप तुम्हारे में कल्पित हैं। इस रीति से अपने को निश्चय कर सब संशय हटा दो। तुम ज्ञानस्वरूप हो, अन्तःकरण की सब वृतियों के साक्षी हो, शुभ और अशुभ के तुम ही प्रकाशक हो, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र चार अंगुल, अष्ट अंगुल के तुम ही ज्ञाता हो। अपने को भूलकर अपनी परछाईं के पीछे क्यों दौड़ते हो? जैसे नेत्र द्वारा पदार्थ देखे जाते हैं, परन्तु नेत्र विस्मरण हो जाते हैं और दूसरे पदार्थ दृष्टि आते हैं। वैसे ही साक्षी द्वारा सब अन्तर और बाहर के पदार्थ प्रतीत होते हैं परन्तु साक्षी का ज्ञान नहीं रहता और दूसरे पदार्थों का ज्ञान परिपक्व हो जाता है। इसलिए साक्षी के दर्शन की जिज्ञासा रहती है। अतः साक्षी तुम स्वयं हो। अपने को भूलकर दूसरे पदार्थों की ओर दृष्टि लगा रहे हो और इच्छा कर रहे हो कि अन्तर भी दर्शन हो। यदि दर्शन भी हुआ तो विचार करो कि उस स्वरूप को देखने वाला और समझने वाला कौन है? उस स्वरूप को देखने वाला

Scanned with CamScanner

और समझने वाला साक्षी है। इसलिए साक्षी सब अन्तर और बाहर के पदार्थों और दृश्यों से उत्तम है। वह साक्षी तुम अपने-आप हो। इसलिए अपने को साक्षी निश्चय कर दर्शन के भ्रम से मुक्त रहो। तुम सबको देखने वाले हो और आप अनुभव रूप हो। न कोई तुम्हारा प्रमाण है, न रंग है, न स्थान है, पूर्ण स्वरूप, सत्तामात्र, शून्य विज्ञान, केवली केवली भाव आप में आप स्थित हो। ऐसे स्वरूप को निश्चय करके तृप्त रहो।

जो गीता में लिखा है, "आत्मा अष्ट अंगुल प्रमाण है, और नाभि कमल के ऊपर है, ओंकार का अभ्यास करने से उसका दर्शन होता है।" उसका अभिप्राय यह है कि ओंकार में चार मात्राएँ हैं; अकार, उकार, मकार और अमात्र। अकार नाम स्थूल संघात का है, अकार नाम सूक्ष्म संघात का है, मकार नाम कारण संघात का है और अमात्र नाम साक्षी का है। अकार के अर्थ समष्टि स्थूल अर्थात् स्थूल जगत और व्यष्टि स्थूल अर्थात् स्थूल शरीर हैं, समष्टि स्थूल का अर्थ विराट है और व्यष्टि स्थूल का अर्थ विश्व है। क्योंकि दोनों अर्थों अर्थात् विराट और विश्व की उपाधि स्थूल है इसलिए दोनों एक-रूप हैं। वैसे ही उकार नाम समष्टि सूक्ष्म अर्थात् सूक्ष्म जगत और व्यष्टि सूक्ष्म अर्थात् सूक्ष्म शरीर का है, समष्टि सूक्ष्म का अर्थ हिरण्यगर्भ वा सूत्रआत्मा है और व्यष्टि सूक्ष्म का अर्थ तेजस् है, क्योंकि दोनों अर्थों अर्थात् हिरण्यगर्भ और तेजस् की उपाधि सूक्ष्म है इसलिए दोनों एकरूप हैं। वैसे ही मकार नाम समष्टि कारण अर्थात् माया और व्यष्टि कारण अर्थात् अविद्या का है, समष्टि कारण का अर्थ ईश्वर है और व्यष्टि कारण का अर्थ प्राज्ञ है क्योंकि दोनों अर्थों अर्थात् ईश्वर और प्राग की उपाधि कारण है, इसलिए दोनों एकरूप हैं। इसी प्रकार अमात्र के अर्थ समष्टि स्थूल सूक्ष्म, कारण का प्रकाशक और अधिष्ठान ईश्वर साक्षी और व्यष्टि स्थूल, सूक्ष्म कारण का प्रकाशक और अधिष्ठान जीव साक्षी है, क्योंकि दोनों साक्षी प्रकाशक, अधिष्ठान निर्विकार, उपाधि से रहित हैं, इसलिए दोनों एकरूप हैं। इस रीति से विराट, विश्व, हिरण्यगर्भ, तेजस, ईश्वर, प्राज्ञ, ईश्वर साक्षी, जीव साक्षीरूप अष्ट अंगुल प्रमाण आत्माका है और नाभि कमल के ऊपर है, इसका प्रयोजन यह है कि सर्व की नाभि वृति है और वह वृति दो प्रकार की है, एक समष्टि, दूसरी व्यष्टि, समष्टि वृति का नाम माया है और व्यष्टि वृति का नाम अविद्या है। आत्मा दोनों प्रकार की वृति अर्थात् माया और अविद्या के ऊपर है। भाव यह कि माया और अविद्या से रहित उनका प्रकाशक वा साक्षी है। ऐसे आत्मा का दर्शन होता है। इस रीति से साक्षी ही आत्मा सिद्ध हुआ। साक्षी तुम्हारा स्वरूप है, इसलिए अपने को स्वप्रकाश, स्वतःसिद्ध, द्रष्टा, दर्शन, दृश्य से रहित अपने आप में स्थित निश्चय करो।

स्थूल सूक्ष्म का कार्य है इसलिए स्थूल सूक्ष्म रूप है। जैसे स्थूल का अर्थ विराट-विश्व, हिरण्यगर्भ तेजस रूप है। यह सूक्ष्म कारण अर्थात् माया का कार्य है, इसलिए सूक्ष्म कारण-रूप है। वैसे ही सूक्ष्म का अर्थ हिरण्यगर्भ तेजस, ईश्वर, प्राज्ञरूप है। क्योंकि कारण अर्थात् माया अधिष्ठान में कल्पित है, इसलिए कारण रूप माया अधिष्ठान रूप है। माया का अर्थ ईश्वर, प्राग, अधिष्ठान रूप ईश्वर, साक्षी-जीव, साक्षीरूप है। इस रीति से एक अधिष्ठान रूप साक्षी अपने-आप में स्थित है अर्थात् सर्वसाक्षी है। साक्षी देने योग्य दूसरी कोई वस्तु

Scanned with CamScanner

नहीं, इसलिए साक्षी की संज्ञा भी स्थापन नहीं हो सकती। साक्षी साक्षीभाव से रहित अनुभव सत्ता अपने-आप में स्थित है। न अन्दर है न बाहर, न गुप्त है न प्रकट, न शक्ति है न शक्तिमान, न माता है न पिता, न जगत है न शरीर, न शुभ है न अशुभ, न देखने वाला है न देखना, और न देखने योग्य है। केवल ज्ञानमात्र अपने में आप है। वह तुम्हारा स्वरूप है। इसी स्वरूप में स्थित होकर मग्न रहो।

द्वैत को त्यागकर एक वस्तु को देखो, निश्चय करो और आनन्दित रहो। जो कुछ है सो है, न न्यून होता है न विशेष, न उसमें आरम्भ है न परिणाम, न कुछ देखा जाता है न पाया जाता है, यह सब भ्रम एक-दूसरे के वचन सुनकर उत्पन्न हो गए हैं। अतः उन्हें विस्मरण कर जो कुछ हो, उसी प्रकार यथार्थ हो और स्थित रहो। इसके बिना सर्व मनोराज या स्वप्न है। अपने स्वरूप को सत्य, सनातन, अच्युत और केवल मानकर स्थिति के सिंहासन पर विराजमान रहो। नित्य प्रति इस व्याख्यान को शुद्ध बुद्धि के साथ विचार किया करो और अपना निश्चय इसी प्रकार परिपक्व करो, इससे तुम्हारे सब संशय निवृत्त हो जावेंगे।

प्रश्न ३६—शून्य समाधि के समय जो मन्त्र व पाठ का उच्चारण होता है, वह कौन करता है? और वाणी के बिना शब्द कैसे निकलते हैं? फिर शून्य समाधि से उतर कर जो शरीर को जानता है और उसमें बंधा रहता है, वह कौन है और क्यों होता है।

उत्तर—वाणी चार प्रकार की है। एक परा अर्थात् वह वाणी जो सब शरीरों में व्यापक होकर रहती है। दूसरी पश्यन्ती अर्थात् फुरना, तीसरी मध्यमा अर्थात् वह फुरना जब कंठ में आता है। चौथी वैक्षरी अर्थात् वह फुरना जब अक्षर के स्वरूप में वाणी से निकलता है, वह शब्द होता है। समाधि के समय जो उच्चारण वा ध्यान वा जाप होता है वह पश्यन्तीरूप वाणी द्वारा होता है, और परारूप व्यापक वाणी से निकलता है, जितनी विद्या, संकल्प, मनोराज और मंत्र हैं वे सब परारूप भंडार में रहते हैं, समय के अनुसार परा से निकलकर अपने-आपको दिखलाते हैं। बाहर की इन्द्रियाँ उस समय कर्ता नहीं होती, केवल अन्तर, जो मन है, वह कर्म करता है। जब दृढ़ अभ्यास से मन लीन हो जाता है, तब केवल परारूप अवस्था शेष रहती हैं, जिसको निर्विकल्प समाधि कहते हैं। इसलिए जिज्ञासु अभ्यास में स्थित रहे और साक्षी होकर सब विकारों से रहित परमानन्द का अनुभव करे।

समाधि दो प्रकार की है। एक सविकल्प समाधि, दूसरी निर्विकल्प समाधि। फिर सविकल्प समाधि भी दो प्रकार की है, एक शब्दानुविधि अर्थात् शब्दरूप और दूसरी अशब्दानुविध अर्थात् अशब्द रूप। निर्विकल्प समाधि भी दो प्रकार की है, एक अद्वैत भावनारूप और दूसरी अद्वैत अवस्थानरूप। अब इनका विस्तार भिन्न-भिन्न करके सुनाया जाता है। शब्दरूप सविकल्प समाधि वह है, जब किसी शब्द अर्थात् ओंकार अथवा महावाक्य अथवा किसी दूसरे मन्त्र व पाठ के द्वारा वृत्ति को एकाग्र किया जावे। अशब्दरूप सविकल्प समाधि वह है जब शब्द के बिना केवल आत्मविचार द्वारा वृत्ति को एकाग्र किया जावे। अद्वैत भावनारूप निर्विकल्प समाधि वह है, जब केवल भावना से वृत्ति अद्वैताकार हो जाए,

Scanned with CamScanner

उच्चार और विचार की सहायता न रहे। अद्वैत अवस्थानरूप निर्विकल्प समाधि वह है,जब वृत्ति सबप्रकार के यत्न के बिना अद्वैत अवस्था को प्राप्त हो, कोई संशय और विपर्यय न रहे मानो वृत्ति अद्वैतरूप हो जावे।

अब इनका सम्बन्ध दिखलाया जाता है, शब्दरूप साविकल्प समाधि साधन है। जब कुछ काल इस समाधि का अभ्यास करता है और वृत्ति शब्द के साथ एक रूप हो जाती है, उस समय यह समाधि परिपक्व हो जाती है। जब अशब्द रूप साविकल्प समाधि का यत्न करता है, तब जो शब्द पहले वृत्ति के साथ मिला हुआ था, वह स्वाभाविक फुर आता है। मानो विचार को त्यागकर वृत्ति उस मन्त्र व पाठ को पढ़ने लगती है। जब बारम्बार के यत्न से शब्द के उच्चार को त्याग कर केवल विचार को वृत्ति के साथ मिलाता है और विचार के तात्पर्य में वृत्ति को मग्न करके स्थित रहता है,उस समय अशब्दरूप साविकल्प समाधि परिपक्व होती है। इसके परिपक्व होने के पश्चात् अद्वैत की भावनारूप निर्विकल्प समाधि प्राप्त होती हैं। तात्पर्य यह कि जिस समय अद्वैत की भावना उदय होती है, उस समय वृत्ति अद्वैतरूप होकर निर्विकल्प हो जाती है; उच्चार और विचार की सहायता नहीं रहती। यद्यपि प्रथम विचार की ओर भी वृत्ति लग जाती है परन्तु जब चिरकाल अभ्यास किया जाता है तब विचार के बिना केवल भावना से वृत्ति एकाग्र हो जाती है। जब यह समाधि परिपक्व हो जाती है, तब अद्वैत अवस्थान रूप निर्विकल्प समाधि प्राप्त होती है। इसमें कोई कर्तव्य नहीं रहता, स्वाभाविक वृत्ति अद्वैत रूप होकर स्थित रहती है। शब्द विचार वा भावना के बिना निर्विकल्प अवस्था वृत्ति की रहती है। यह फलस्वरूप अवस्था है इसमें पूर्ण पुरुष स्थित होकर वरिष्ट जीवनमुक्ति का आनन्द लेते हैं। सब संशयों, विकल्पों और कर्मों से रहित अद्वैतरूप स्थित रहते हैं। इसका दूसरा नाम सहज-समाधि है, जब ऐसी सहज समाधि प्राप्त होती है, तब कृत-कृत्य अर्थात् ब्रह्मभूत अवस्था होती है।

ऊपर लिखे हुए प्रसंग से सिद्ध होता है कि समाधि के समय वृत्ति मन्त्र अथवा पाठ को पढ़ती है। वह वृत्ति चेतन के आभाससहित होती है, क्योंकि वृत्ति सतोगुण का कार्य होने से स्वच्छ और शुद्ध है; इसमें चेतन का आभास सदा रहता है। उस आभास के संग से वृत्ति चेतन होती है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि आभास सहित वृत्ति समाधि के समय पढ़ती है और वह समाधि शब्दरूप साविकल्प कहलाती है। शून्य समाधि नहीं कहलाती। जैसे निद्रा के समय सब जगत भासता है। बाहर तो इन्द्रियाँ शून्यरूप हैं और अन्तर संसार का भान हो रहा है। उस अवस्था में भी आभास सहित वृत्ति ही जगत्रूप होकर भासती है और साक्षी चेतन उसको प्रकाश करता है। जब अभ्यास की दृढ़ता से निर्विकल्प समाधि प्राप्त होती है, तब वृत्ति लीन हो जाती है। जैसे सुषुप्ति अवस्था में वृत्ति अज्ञान में लीन हो जाती है,केवल चेतनमात्र ही रहता है। वैसे ही निर्विकल्प समाधि में वृत्ति ज्ञान में लीन हो जाती है, केवल अनुभव मात्र रहता है। जैसे जल की बूंद दरिया में डाली हुई दरियारूप हो जाती है, वैसे ही वृत्ति अद्वैत की भावना करती-करती अद्वैतरूप हो जाती है। इसलिए जिज्ञासु अभ्यास करता रहे, शनैः-शनैः परम पावन, परम आनन्द, निर्विकल्प समाधि प्राप्त होगी, उस समय

Scanned with CamScanner

और कुछ करना नहीं रहेगा।

समाधि से उतरती भी वृत्ति है और वृत्ति ही शरीर से बंधी रहती है। जैसे सुषुप्ति से जब वृत्ति जाग्रत हो जाती है तब जगत् के पदार्थों और स्थूल शरीर में बंध जाती है। इसके दो कारण हैं, एक वैराग्य सहित विचार की न्यूनता, दूसरा वृत्ति का शरीर के साथ दीर्घ-काल का सम्बन्ध। जब आठोयाम अपने वास्तव स्वरूप को स्मरण रखता है और शरीर को नश्वर और क्षणभंगुर निश्चय करता है, तब समाधि से उतरने के समय भी मुक्त अवस्था रहती है। तात्पर्य यह कि तत्व चिचार के बल से वृत्ति शरीर से नहीं बंधती किन्तु तत्व-विचार रूप होकर स्थित रहती है। इसलिए दृढ़ अभ्यास से वृत्ति को ऐसा अद्वैताकार करे कि किसी समय भी द्वैत प्रतीत न हो। विचाररूप सविकल्प समाधि सब अज्ञान रचित द्वैत का नाश कर देती है। जब द्वैत नाश हो जाता है, उस समय समाधि और उत्थान का भेद भी जाता रहता है। आत्मा सदा एकरस अद्वैत रूप है। वृत्ति का विक्षेप वृत्ति को फंसा रहा है। वृत्ति कल्पित हैं, इसलिए वृत्ति की सब अवस्थाएँ कल्पित हैं। इन सब को त्याग कर अपने-आप में स्थित रहना ही परम समाधि है। वह स्वतः सिद्ध है, केवल बोध और निष्ठा चाहिए।

प्रश्न ३७—'चुपै चुप न होवई, जे लाय रहाँ लिवतार", इसके अर्थ क्या हैं?

उत्तर—प्रथम चुप का अर्थ वाणी का मौन है और द्वितीय चुप का अर्थ मन की मौन है। यदि तेल धारावत् वाणी को मौन करके रखा जाए तो भी मन का मौन सिद्ध नहीं होगा, इस-लिए केवल वाह्य मौन से अन्तर मौन प्राप्त नहीं हो सकता, यह अर्थ हैं।

अब इसकी विस्तार सहित टीका करते हैं वाणी चार प्रकार की है, तीन प्रकार की वाणी अर्थात् पश्यन्ती, मध्यमा; वैक्षरी स्फुरण रूप होने से साविकल्परूप हैं और परारूप वाणी अस्फुर रूप होने से निर्विकल्परूप है। जब वैक्षरीरूप साविकल्प वाणी का मौन साविल्परूप से पश्यन्ति वाणी का मौन सिद्ध नहीं हो सकता तो निर्विकल्परूप परा की सिद्धि किस प्रकार होगी? इसलिये मौन से भी निर्किल्पता की सिद्धि नहीं होती। अतः बाह्य हठकर्मों को त्यागकर केवल सत्ता सामानरूप में स्थिति ही निर्विकल्पता की प्राप्ति है। सत्ता सामान परारूप है और परा, पश्यन्ति, मध्यमा और वैक्षरी का आधार और अधिष्ठान है। तात्पर्य यह कि पश्यन्ति, मध्यमा और वैक्षरी परा से उत्पन्न होतो हैं, परा द्वारा रहती हैं और परा में लीन होती हैं, इसलिए परारूप हैं। परा के बिना इनकी सत्ता रंचकमात्र भी नहीं। परा ही मानो पश्यन्ति, मध्यमा और वैक्षरीरूप है। परा अशब्द रूप, मौन, निर्वि-कल्प और परमगम्भीर है। इसलिए पश्यन्ति, मध्यमा और वैक्षरी भी अशब्द रूप, मौन निर्वि-कल्प और परम गम्भीर है। परा आत्मा है इसलिए अपना स्वरूप नित्य ही निर्विकल्प है। जब इस रीति से परारूप आत्मा का यथार्थज्ञान हैं, तब सब प्रकार से नित्य निर्विकल्पता प्राप्त होती है। इसलिए अपने को परारूप महा गम्भीर और अगाध सागर निश्चय करें और पश्यन्ति, मध्यमा, वैक्षरी को अपनी तरंग निश्चय करें। जैसे तरंगों के क्षोभ से सागर की गम्भीरता और अगाधता में रंचकमात्र भी क्षोभ और न्यूनता नहीं आती, उल्टा सागर

Scanned with CamScanner

की महिमा प्रतीत होती है। वैसे ही पश्यन्ति, मध्यमा और वैक्षरी रूप तरंगों के क्षोभ से परारूप सागर की गम्भीरता, अगाधता और निर्विकल्पता में भी रंचकमात्र क्षोभ व न्यूनता नहीं आती; उल्टा महत्ता, व्यापकता, सर्वज्ञता, चेतनता प्रतीत होती है; इसलिए नित्य ही अपने धर्म परम गम्भीर और परम अगाध स्वरूप में स्थित होकर मन और वाणी के क्षोभ से रंचक मात्र भी क्षुब्ध न होना यथार्थ और सत्य निर्विकल्पता है। इसके बिना जो-जो साधन निर्विकल्पता के हैं वे सब ही अयथार्थ और कल्पित हैं। इसलिए सर्व ही त्यागने योग्य हैं; केवल निज स्वरूप में स्थिति ही कर्तव्य है।

प्रथम मौन का अर्थ हठयोग अर्थात् प्राणायाम है और द्वितीय मौन का अर्थ राज योग अर्थात् आत्म साक्षात्कार रूप निर्विकल्पता है। इसलिए, "चुपे-चुप न होवई जे लाय रहां लिवतार" के तात्पर्य यह हैं कि प्राणों को निरोध करके भीत की न्याईं स्थिर भी हो रहें तो भी आत्मसाक्षात्कार रूप निर्विकल्पता प्राप्त न होगी; क्योंकि जब प्राण स्फुरण होंगे तब मन संकल्प विकल्प सहित होकर विक्षेप्ता का हेतु होगा। इसलिए केवल प्राणों के निरोध से भी निर्विकल्पता सिद्ध नहीं होती और राजयोग रूप तत्वज्ञान से जब यह निश्चय हुआ कि सब ही ब्रह्म है, तब मन और मन का फुरना भी ब्रह्म से भिन्न प्रतीत नहीं होते। जहाँ-जहाँ मन का फुरना जाता है वहाँ-वहाँ सत्तासामान रूप भासता है। इसलिए मन का आना और जाना सिद्ध नहीं होता, केवल पूर्ण वस्तु प्रतीत होती है। इससे विकल्प और भेद निवृत हो जाते हैं। इसलिए तत्व ज्ञान से ही निर्विकल्पता की प्राप्ति सिद्ध है। अतः हठयोग को त्यागकर राजयोग रूप तत्वज्ञान के आसरे निर्विकल्पता और समता प्राप्त कर परमानन्द का अनुभव करें।

प्रश्न ३८—तुरिया पद अथवा जीवन मुक्ति कैसे प्राप्त हो ? देह अभ्यास ऐसा दृढ़ और बलवान हो रहा है कि इसकी निवृत्ति अतिशय कठिन प्रतीत होती है। इसलिए कृपा कर इसकी निवृति का सुगम उपाय और परम आनन्द रूप जीवन मुक्ति की प्राप्ति का साधन उपदेश करें।

उत्तर—निःसंशय देह अध्यास महा बलवान है अज्ञानी, बुद्धिमान, शास्त्रज्ञ त्यागी, भेषधारी और वनवासी सभी इस अध्यास रूप पिशाच के आधीन होकर मिथ्या राग द्वेष की चोटें खा रहे हैं। यद्यपि विचार काल में यह अध्यास तुच्छरूप प्रतीत होता है, परन्तु व्यवहार काल में सत्य रूप होकर ऐसा क्लेश देता है कि इससे सर्व सौभाग्य, मोद और शास्त्रीय दृष्टि लुप्त होकर अज्ञानीवत् विक्षेप, कलह, विरोध, हर्ष और शोक संगी हो जाते हैं। इसलिए परावरदर्शी बुद्धिमान इसकी निवृति का उपाय नित्य प्रति करते रहते हैं। सत्संग, सत्यशास्त्र चिन्तन, तत्व विचार, एकान्त सेवन समाधि आदि का मुख्य फल देह अध्यास की निवृति है। इसके बिना ज्ञान फल गौण हैं। इसलिए सब प्रकार से इसकी निवृति का उपाय करना चाहिए। सुगम उपाय यह है कि निरन्तर अपने स्वरूप का चिन्तन, कथन, मनन, निदिध्यासन, परस्पर बोध और विचार रखें। किसी समय अपने स्वरूप को भूलकर अपने को देहमात्र अथवा नाममात्र, वर्णमात्र अथवा आश्रममात्र न माने। कदाचित्

Scanned with CamScanner

धन, स्त्री, पुत्र, प्रताप, यश, गुण, विद्या, भजन, ज्ञान, दान आदि के अभिमान से अपने को कुछ न मानें। सब मन रचित और लौकिक कल्पना से रहित केवल चिदाकाश अपने को निश्चय करें। अपने को अन्तःकरण की सब वृत्तियों से अतीत जानें। इन्द्रियों की चेष्टा से भी अपने को न्यारा मानें। शरीर की उत्पत्ति स्थिति और लय से अपने को ऊपर निश्चय करें। सब प्रकार से दृश्य भ्रम से अपने को मुक्त मानकर सर्वदा चिद्घनरूप रहें। इस रीति से अभ्यास करते-करते जब तत्वदृष्टि दृढ़ हो जाती है और मिथ्यादृष्टि क्षीण हो जाती है, तब तुरिया पद, निर्वाणपद अथवा जीवनमुक्ति प्राप्त होती है। इसलिए सब इस दृष्टि का अभ्यास करते रहें और देह अध्यास रूप बल्ली को निरन्तर तत्वविचाररूप कुल्हाड़े से काटते रहें। इससे सब दुःख रूप देहअध्यास की निवृति और परमानन्द रूप जीवनमुक्ति की प्राप्ति होगी।

प्रश्न ३९—इस मरुस्थल संसार के सब बुद्धिकल्पित आरोप का अभाव होकर सनातन और स्वतःसिद्ध वस्तु का मनुष्यमात्र में अनुभव कैसे होता है ?

उत्तर—सत्य विद्या का प्रकाश बुद्धि को सत्यज्ञान से प्रकाशित करता है। सत्यवस्तु का संग जीव को मिथ्या भावना से मुक्त कर सत्वभावना और सत्यदृष्टि से ऐसा तद्रूप करता है कि यद्यपि वह जीव प्रत्यक्ष प्रमाण से असत्य, जड़, दुःखरूप शरीर का संगी है तथापि निरन्तर अभ्यास की महिमा से सत्चित आनन्द का संगी होकर सद्गति को प्राप्त होता है और दुःखरूप शरीर के होते ही परमानन्द स्वरूप आत्मा को हस्तामलकवत् अपरोक्ष निश्चय कर निर्भय, निर्मल और नित्य संतुष्ट रहता है। ऐसे जीव इस आरोप नगर में अत्यंत ही दुर्लभ हैं। जिस देश में ऐसे सत्संगियों का निवास हो, वह देश महापावन और उपमा-योग्य है। इसलिए विद्वान आजीवन शरीर पालन की तरह सत्यविद्या और सम्मक् ज्ञान की वृद्धि के लिए तत्व अनुसन्धानरूप अन्तर्मुखता का त्याग न करे, क्योंकि विरोधी पदार्थों की विद्यमानता बुद्धि को समता के निश्चय से चंचल कर विषम करने को शक्य है। तात्पर्य यह कि असत्य पदार्थ देह अपरोक्ष है और सत्य रूप आत्मा शास्त्रीय दृष्टि से प्राप्त होने से परोक्ष है। एक काल में दो पदार्थों का ज्ञान सामान्य बुद्धि वाले पुरुष को महा गम्भीर सागर में भरमाता है। इसलिए परावरदर्शी और न्यायकारी मुनीश्वर न्याय वचन से इस वार्ता को जिज्ञासुओं के प्रति सत्य धर्म रूप से स्थापित करते हैं। अतः यावत् पर्यन्त परोक्षरूप आत्मा अपरोक्षगति को प्राप्त न हो और अपरोक्षरूप देह परोक्ष गति को प्राप्त न हो, तावत् पर्यन्त तत्व अनुसन्धान करणीय है। इसलिए सुहृद और गुणग्राहक सत्संगियों को उचित है कि नित्य प्रति निज अभ्यास के बल से अविनाशी आनन्द में मग्न रहें, जिससे देह के होते ही विदेहगति प्राप्त रहे।

प्रश्न ४०—

॥ दोहा ॥

हे भगवन् ! वर्णन करो, उत्तम युक्ति विचार।
ज्ञानी जांको धारकर, वरते मध्य संसार ॥ १ ॥
रहे असंग पुनीत नित, क्षोभ खेद से रहित।
काटे देह सम्बन्ध को, समता मुदता सहित ॥ २ ॥

Scanned with CamScanner

उत्तर— ॥ दोहा ॥

तृप्त चित्त शीतल हृदय, पावन रहित विकार।
न्याय सहित विचार युक्त, वरतो मध्य संसार ॥ १ ॥
सावधान निशदिन रहो, निज स्वरूप में लीन।
व्यवहारिक वृत्ति धरे, होय न कबहूँ दीन ॥ २ ॥
ममता रहित उदास चित्त, विचरो लोक मंझार।
लोभ मोह से रहित नित, साधो निज व्यवहार ॥ ३ ॥
सुत वित्त दारा नेह से, रहो असंग पुनीत।
संगदोष के दोष से, चंचल होय न चीत ॥ ४ ॥
नामरूप गुण कर्म की, भावन त्यागो मीत।
द्वन्द भेद परिच्छेद से, अहिनिशि रहो अतीत ॥ ५ ॥
कर्म उपासना भ्रांति से, रहित अडोल असंग।
ब्रह्मज्ञान के रंग से, शोभित उत्तम अंग ॥ ६ ॥
केवल वाचक ज्ञान में, धरो न सत्य प्रतीत।
निशिदिन निज अभ्यास से, सेवो वचन अतीत ॥ ७ ॥
संशय मल से शुद्ध नित, राग - द्वेष से रहित।
ब्रह्म निष्ठ इस्थित रहो, समता मुदता सहित ॥ ८ ॥
हितकारी निर्दोष चित्त, सतमंता सतकाम।
वैर विरोध विषाद तज, पावो नित विश्राम ॥ ९ ॥
क्रोध द्रोह मत्सर गरव, दंभ ईरषा काम।
विषय वासना रहित नित इस्थित आतम राम ॥१०॥
कमल समान निर्लेप हो, विचरो भव में मीत।
नैन न बाँधो कास से, नहिं लावों कहीं चीत ॥११॥
सत् संतोष विचार सम, क्षमा गरीबी ज्ञान।
जत् धीरज वैराग्ययुक्त धारो आतमज्ञान ॥१२॥
कहनी रहनी एक कर, रहो अमान असंग।
देह संग के संग से, हेमां चढ़े न रंग ॥१३॥
सदा रहो शांत आत्मा; परमानन्द स्वरूप।
लीन रहो निज रूप में, जो है अचल अनूप ॥१४॥
सदा रहो पावन अमल, संग दोष से रहित।
चीनो पूरण ब्रह्म नित, समता मुदता सहित ॥१५॥
भूत भविष्यत चिन्त से, रहो सदा निर्लेप।
वर्तमान में तुष्ट हो, त्यागो चित्त विक्षेप ॥१६॥

Scanned with CamScanner

निज में नित इस्थित रहो, अचल अडोल असंग।
नाम रूप संसार का चढ़े न, रंचक रंग ॥१७॥
सावधान आतम भजो, त्यागो तन परतीत।
चिदाकाश में लीन हो, तजो अहं मम रीत ॥१८॥
आन दृष्टि दुःख मूल है, राग-द्वेष की खान।
हेमराज तज आन मति, झूलो पद निर्वाण ॥१९॥

प्रश्न ४१—ज्ञानी किस अभ्यास से द्वन्दों से रहित हो ?

उत्तर—देह-दृष्टि, हर्ष-शोक, दुःख-सुख, मोह-वैराग्य, लोभ-संतोष, क्रोध-धीरज, काम-जत अहंकार-निरहंकार, अज्ञान-ज्ञान, उत्थान-समाधि, निर्विकल्पता-साविकल्पता, विक्षेप्ता-एकाग्रता, भेद-अभेद और बंधन-मोक्ष का हेतु है। चिदाकाश दृष्टि सब द्वन्दों से रहित केवल शुद्ध रूप है। इसलिए निरन्तर चिदाकाश दृष्टि का अभ्यास करता रहे, जिससे कल्पित द्वन्द नाश होकर स्वतः स्वभाव प्राप्त हो।

प्रश्न ४२—द्रष्टा, दर्शन, दृश्यरूप, त्रिपुटी का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—दृष्टा, दर्शन दृश्य, अस्ति भाँति प्रेय रूप हैं। तात्पर्य यह कि दृष्टा अस्ति-रूप है, दर्शन भाँति रूप है और दृश्य प्रेय रूप है। प्रेय वस्तु का नाम पूछा और स्मरण रखा जाता है, इसलिए नाम रूप दृश्य प्रेयरूप है। इस रीति से त्रिपुटी अस्ति भाँति प्रेय रूप है। दूसरी कोई वस्तु नही। यह त्रिपुटी जगतरूप है, इसलिए जगत ही अस्ति भाँति प्रेयरूप है। अस्ति भाँति प्रेय के बिना दूसरी वस्तु न थी, न है और न होगी। इस दृष्टि का नाम सत्य-ज्ञान है। इसके बिना सब कपोल कल्पना है, इसलिए सदा इस दृष्टि को धारकर परम आनन्द में स्थित रहें।

प्रश्न ४३—इस दृष्टि को धारकर किस प्रकार आयु व्यतीत करें जिससे जीवन मुक्ति का सुख प्राप्त हो ?

उत्तर—इस दृष्टि को धारकर मन की मनौत, चित्त की चितवन, बुद्धि की निष्ठा और अहंकार की अहंता को अधिष्ठान रूप सत्य में लीन करे। केवल सत्यरूप होकर स्थित रहे। लौकिक आशा और व्यवहारिक अभिलाषा को खेद का मूल जानकर हृदय से निकाले, क्योंकि जितना-जितना व्यवहार अल्प होगा उतना-उतना सुख विशेष होगा। मन की अवस्था अतिशय चंचल है, जब वासना के साथ तद्रूप होता है, तब अत्यन्त चंचल हो जाता है। जैसे बंदर को बंदरी की संगति अतिशय चंचल कर देती है, वैसे ही वासना मन को अति-शय चंचल कर देती है। इसलिए बुद्धिमान और परावरदर्शी आयु की वृद्धि के साथ तृष्णा को घटाता जावे। जब ज्ञान दृढ़ और वृद्ध हो एकान्त सेवी होकर जीवनमुक्ति का रस लें। संसारी जनों की संगति मन को संसारी कर देती है। इनकी संगति से जितना उपरत रहे, उतना भला है। ज्ञानी को भी संसारी पुरुषों की संगति संसारी बना देती है। जगत के लोगों पर उपकार करना अपने दुःख का निमित्त है। इसलिए इन पर उपकार यही है कि उनसे असंग और उदासीन रहे तथा अपने आत्मा में मग्न होकर आयु को निभावे।

Scanned with CamScanner

प्रश्न ४४— **॥ चौपाई ॥**

कौन दृष्टि भगवन् सुख राशी, जांते भान होय अविनाशी।
द्वैतरूप संसार न भासे, सत्यरूप अद्वैत प्रकाशे ?

उत्तर—

शब्दमात्र संसार पछानो, शब्द अगोचर आतम मानो।
शब्द अर्थ से रहित विराजो, निर्वाणी सुन्दर छवि छाजो ॥ १ ॥
काल कल्पना मन की जानो, मन से रहित अकाल पछानो।
सत्तामात्र एक अविनाशी, परमानन्द परम सुख राशि ॥ २ ॥
अनुभवमात्र अनामय आतम, परम ज्योति पूरण परमातम।
सत्य सनातन चेतन सारा, स्वतः सिद्ध निर्गुण आधारा ॥ ३ ॥
आदि मध्य अरु अंत से सूना, दीर्घ अल्प विशेष न न्यूना।
चिदाकाश सामान स्वरूपा, सत् चित् आनन्द परम अनूपा ॥ ४ ॥
स्वस्थ रूप कूटस्थ अडोल, द्वैतरहित अव्यक्त अमोल।
निरावयव चिन्मात्र अकाल, रहित प्रच्छेद देश और काल ॥ ५ ॥
नित्यप्राप्त सर्वातम जानो, जड़ चेतन्य अभेद पछानो।
द्वैतभाव सुपने नहिं देखो, जित कित पूर्ण अद्वै पेखो ॥ ६ ॥
जो है सो अस्ति ही मानो, जो भासे सो भाँति जानो।
जो मन चितवे सो प्रियरूपा, तांते एक अखंड स्वरूपा ॥ ७ ॥
नाम रूप ताँका चमकारा, निश्चय सकलो ब्रह्म पसारा।
यह दृष्टि पूरण सुखराशि, जांते भान होय अविनाशी ॥ ८ ॥
तांते निशिदिन तत्व विचारो, प्रेम सहित आतम उर धारो।
भूत भविष्यत काल भुलावो, वर्तमान में स्थिति पावो ॥ ९ ॥
हानि लाभ को सम कर देखो, मैं तू यह वह एको पेखो।
ना कहीं आवो ना कहीं जावो, **हेमराज** निज माँहि समावो ॥१०॥

प्रश्न ४५—समाधि सर्वदा नहीं रहती। किस साधन से समाधि सर्वदा रहती है ?

उत्तर—स्वरूप नित्यप्राप्त, नित्य-स्थित, अचल, स्वतःसिद्ध और स्वस्थ है। कदाचित् अपने स्वभाव को नहीं त्यागता। वही स्वरूप तुम हो। शरीर, इन्द्रिय, जन्तःकरण और इनके कर्म तुम्हारा प्रकाश है, द्वैत का अत्यन्त अभाव है। जब यह अवस्था है तो किससे दोष दृष्टि धार-कर और किस अवस्था की इच्छा कर सर्वदा समाधि में रहना चाहते हो ? तुम्हारा स्वरूप स्वतःसिद्ध स्थित है। स्थित स्वरूप के स्थित करने का पुरुषार्थ अज्ञान से हैं। यदि समाधि यथार्थ होती तो यत्न के बिना सर्वदा प्राप्त रहती। जब दृढ़ पुरुषार्थ और दीर्घ यत्न के उप-रान्त भी इनकी प्राप्ति मन वांछित और पूर्ण रीति से नहीं होती, तो निश्चय होता है कि यह अवस्था मिथ्या और कल्पित है। इसलिए इस संशय को त्यागकर सहज और शांति से अपना काल व्यतीत करे। केवल अंतःकरण की निर्मलता, स्वभावों की शुद्धि और शरीर

Scanned with CamScanner

की निरोगता के लिए विचार, परावरदृष्टि और न्याय सहित विचार करें। इसके बिना भ्रामक अवस्था, संशययुक्त साधन, निरर्थक वादविवाद, कल्पित सिद्धि और अक्षरी महिमा के निमित्त यत्न और पुरुषार्थ करना लाभ से रहित और अर्थ से शून्य है। जब तक प्राण का शरीर के साथ सम्बन्ध है, तबतक स्फुरण शक्ति रहती है। इसी स्फुरण शक्ति से सब इन्द्रियाँ अन्तःकरण और दूसरे अंग अपनी-अपनी चेष्टा को सिद्ध करते हैं। इसलिए यह स्फुरण-शक्ति जीवन का लक्षण है और परमात्मा की महत् और उदित शक्ति है। अतएव महात्मा इसे चेतन कहते हैं। इसी चेतन को वेदों और शास्त्रों में ध्येय, ज्ञेय, पूज्य, वास्तव स्वरूप और शेष-सत्ता माना है। जो स्वरूप धारकर शरीर और जगत् की मर्यादा को चला रहा है, सामान्य स्वरूप से समष्टि जगत् का कर्त्ता और प्रेरक है और विशेष स्वरूप से व्यष्टि जगत् अर्थात् शरीर का कर्त्ता और प्रेरक है वही वास्तव में अद्वैत स्वरूप है। केवल प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरण की उपाधि से उसको विशेष माना गया है और इनकी उपाधि से रहित उसको सामान्य माना गया है। इनके सम्बन्ध का भाव अथवा अभाव उसके स्वरूप को व्यभिचारी नहीं कर सकता। इसलिए विज्ञानात्मा चेतन को केवल चेतन प्रतीत कर स्वयं स्थित रहते हैं, यद्यपि प्राण, इन्द्रिय और अंतःकरण के होते ही समता में स्थित होकर जीवन-मोक्ष के विलक्षण आनन्द को भोगते हैं तथापि यत्न से किसी नवीन अवस्था को प्राप्त नहीं करते, सहज स्वभाव अपने-आप में मग्न रहते हैं।

प्रश्न ४६—शास्त्रों में लिखा है कि जाग्रत् के अन्त और स्वप्न के आदि समय में जो अवस्था होती है, वह परमात्मा है। वह अवस्था सब अन्तर और बाह्य मनोराज से शुद्ध किन्तु दोनों की साक्षी केवल ज्ञानमात्र है। उस अवस्था को अपना-आप जानकर स्थित होना वास्तविक स्मरण है इसका तात्पर्य क्या है ? कृपा करके निर्णय करें।

उत्तर—जाग्रत के अन्त और स्वप्न के आदि का यह प्रयोजन है कि जब स्थूल और सूक्ष्म शरीर के अभिमान से चित्त रहित होता है तब चेतन रूप है। तात्पर्य यह कि जब अन्तःकरण में विषयों की चितवन, अनात्म मनोराज अथवा विषय-आनन्द और वासना-आनन्द दोनों न हो, उस समय जो अवस्था होती है वह शांतरूप है। ऐसी अवस्था कहीं दूर नहीं, क्षण-क्षण में प्राप्तरूप है परन्तु जीव अज्ञान से उसको समझ नहीं सकता। यदि विचार दृष्टि से देखें तो सब का निज स्वरूप वही अवस्था है, क्योंकि सर्व अन्तर और बाहर की वृत्तियों के जानने वाला चेतन है। केवल अज्ञान से कदाचित् बाहर की वृत्ति के साथ और कभी अन्तर की वृत्ति के साथ तद्रूप होकर अपने वास्तव स्वरूप को नहीं पहचान सकता और वास्तव में अन्तर और बाहर अर्थात् जाग्रत और स्वप्न दोनों चेतन के स्वरूप में इस प्रकार कल्पित हैं जैसे सीपी में रूपा। जब यह दोनों अवस्था कल्पित रूप प्रतीत हों, तब सब अवस्था में स्वरूप का साक्षात्कार है। वह स्वरूप आत्मा अर्थात् अपना-आप है। इस रीति से आप में स्थित होना ही वह अवस्था है, जिसे शास्त्रकार परमात्मा कहते हैं।

प्रश्न ४७—जब वेद तथा सत्गुरु सिद्धान्त का उपदेश करते हैं तो ऐसा कहते हैं कि जो है सो तूँ है, तेरे से भिन्न नहीं, तेरा स्वरूप है। जब ऐसा उपदेश करते हैं तब गुरु और

Scanned with CamScanner

शिष्य का भाव क्यों रहता है ? वह भेद नहीं रहना चाहिए, क्योंकि जब सब मैं हूँ तब मुझ में भेद भावना क्यों उदय होती है ? कृपा कर इस संशय का निवारण करें जिससे आत्म अनुभव उदय हो ?

उत्तर—जब तक सिद्धान्त का निश्चय शिष्य के हृदय में परिपक्व नहीं होता, तब तक उसे भेद-बुद्धि रहती है। जब अभ्यास की दृढ़ता, काल की वृद्धि और निश्चय की अपरोक्षता होती है, तब भेद बुद्धि निवृत्त हो जाती है इसलिए सत्गुरु के उपदेश के मनन और निदिध्यासन आत्मजिज्ञासु के लिए भेद की निवृत्ति का परम उपाय है।

शरीर दिशा में भेद प्रतीत होता है और अशरीर दिशा में नहीं होता है। सत्गुरु भी शरीरधारी हैं और शिष्य भी शरीरधारी है। जब तक इनके शरीर रहते हैं, तब तक शरीर के भेद से गुरु शिष्य का भेद रहता है। अशरीर दिशा अर्थात् आत्मदिशा में दोनों में अभेद हैं। प्राण-पर्यन्त सब पारमार्थिक और व्यवहारिक कार्य शरीर द्वारा सिद्ध होते हैं और शरीर भेद का साधक है इसलिए सब पारमार्थिक और व्यवहारिक कार्यों में भेद रहता है, वह प्रकृति के अनुसार है। यद्यपि आत्म दृष्टि से भेद नहीं है तथापि शरीर दृष्टि से भेद के बिना कोई कार्य सिद्ध नहीं होता, इसलिए यथार्थदर्शी निश्चय में अभेद दृष्टि रखते हैं और व्यवहार में भेद सहित दृष्टि बरतते हैं।

जब तक गुरु शिष्य का भाव फुरता है तब तक भेद रहता है, जब यह फुरना लीन हो जाता है, तब भेद भी निवृत हो जाता है। फुरने की निवृति, अतिशय कठिन है। गृहस्थी, व्यवहारिक, विद्वान, चतुर, लोक प्रीतिवान फुरने का संकोच नहीं कर सकता, यद्यपि सत्गुरु का उपदेश सुनकर निश्चय भी करता है कि सर्व मैं हूँ तथापि फुरने के त्याग बिना यह निश्चय भेद-बुद्धि को अत्यंत निवृत नहीं कर सकता। कथन में अभेद वाक्य रहता है परन्तु निश्चय में अभेद नहीं हो सकता, क्योंकि निश्चय फुरने की निरोधता से अभेद रूप होता है, वचनों से नहीं होता। इस जगत् में भेद का कारण फुरना है। फुरने की वहिरंग अवस्था वाणी है। जब तक फुरना निश्चल और शुद्ध न हो तब तक भेद की निवृति अत्यन्त ही कठिन है। क्योंकि गृहस्थ, व्यवहार, विद्या और चतुराई फुरने की उत्पत्ति के कारण उस शिष्य के सम्बन्धी हैं। इसलिए वह शिष्य फुरने से रहित नहीं हो सकता। जैसे गृहस्थ के सम्बन्धियों में भेद-बुद्धि रहती है अथवा व्यवहार के सम्बन्धियों में भेद-दृष्टि रहती है व राजद्वारपालों में भेद-बुद्धि रहती है, वैसे ही परमार्थ-सम्बन्धी सत्गुरु में भी भेद-बुद्धि रहती है। जब दृढ़ अभ्यास और उपरति से गृहस्थ व्यवहार आदि का त्याग कर कुछ काल एकाकी होकर आत्माभ्यास करे और सब भेदों के संकल्प विस्मरण हों, तब गुरु शिष्य का भेद भी प्रतीत नहीं होगा। सत्-गुरु का उपदेश यथार्थ है परन्तु शिष्य का पुरुषार्थ निर्बल है इसलिए उपदेश के अनुसार उसकी अवस्था नहीं होती। जब उपदेश के अनुसार अभ्यास करता है तब निश्चय और अवस्था तुल्य हो जाते हैं। वास्तव में भेद भो अभेदरूप है, जैसे तरंगों का भेद जल की अभेदता से अभेदरूप है परन्तु जिज्ञासु की एक दृष्टि परिपक्व नहीं; इसलिए अभेद के होते ही इसको भेद प्रतीत होता है। जब तक पुरुषार्थ कर भेद उत्पन्न करने वाले कारणों का त्याग

Scanned with CamScanner

न करे तब तक वास्तव अभेद दृष्टि अपरोक्ष नहीं होती। यदि तुमको इस अवस्था की इच्छा है तो पूर्वोक्त रीति से वैराग्य, उपरति और ज्ञान का समकाल अभ्यास करते रहो।

प्रश्न ४८—कभी-कभी यह विचार होता है कि भजन किसका करूँ? मेरे बिना दूसरा कोई नहीं। सत्गुरु ने जो मंत्र की शिक्षा दी है, वह दूसरी वस्तु है। मेरे बिना दूसरा कौन हैं, जिसको भजूं और उससे क्या मागूं? इस संशय को निवृत करें।

उत्तर—जब अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान अर्थात् संशय विपर्यय से रहित ज्ञान हो जाए तब भजन की आवश्यकता नहीं। जब तक दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान न हो तब तक भजन करना उचित है। जैसे प्रकाश नेत्रों का स्वरूप है परन्तु सहायता के लिए नेत्रों में अंजन डाला जाता है, वैसे ही तुम्हारा स्वरूप स्वतः सिद्ध है उसकी दृढ़ता के लिए अपने स्वरूप का बारम्बार स्मरण किया जाता है। जब सब अवस्थाओं में समता उदय हो जावे, तब भजन की अपेक्षा नहीं। जब तक समता उदय नहीं हुई तब तक वृत्ति को सम करने के लिए भजन किया जाता है। भजन में सत्य वस्तु की महिमा होती है, वह सत्य वस्तु अपना स्वरूप है दूसरी वस्तु नहीं। अपने-आप को मानो बारम्बार स्मरण करना होता है। इससे विपरीत भावना निवृत होकर निश्चलता और दृढ़ता प्राप्त होती है।

अन्तःकरण में तीन दोष होते हैं। एक मल, दूसरा विक्षेप, तीसरा आवरण। मल नाम नीच और मलिन स्वभावों का है; विक्षेप नाम चित्त की चंचलता का है और आवरण नाम अज्ञान का है। जब तक मल और विक्षेप दोष से अन्तःकरण शुद्ध न हो, तब तक यथार्थ रीति से ज्ञान का प्रकाश नहीं होता। इसलिए मल और विक्षेप दोष की निवृति के लिए पुरुषार्थ और यत्न करना उचित है। यद्यपि महात्मा के वचन श्रवण करने से वे सत्यशास्त्र विचारने से आत्मा का ज्ञान हो जाता है तथापि मल और विक्षेप सहित अन्तःकरण में स्थित नहीं होता। स्थिति के लिए मल और विक्षेप दोष की निवृति का यत्न किया जाता है। वह यत्न यही है कि नीच स्वभावों को त्यागकर उत्तम स्वभावों को धारण करें और भजन कर चित की चंचलता को हटावें। जब नीच स्वभाव और चंचलता निवृत होंगे, तब ज्ञान दृढ़ होकर विलक्षण आनन्द का कारण होगा। जिज्ञासु स्वयं अपनी वृत्ति का न्याय करें। यदि शुद्ध और एकाग्र हो तो कोई कर्म व उपासना वांछित नहीं और यदि मलिन और चंचल हो तो कर्म और उपासना से उसको शुद्ध और एकाग्र करे, जिससे पूर्ण लाभ हो। ज्ञान सुगम है परन्तु स्थिति यत्नसिद्ध है। जितने यत्न हैं सब स्थिति के लिए हैं, क्योंकि स्थिति से सुख और विश्राम होता है, ज्ञान से सुख नहीं होता। इसलिए उत्तम और परावरदर्शी केवल ज्ञान पर संतोष नहीं करते। ज्ञान से अधिक स्थिति के लिए यत्न करते हैं। स्थिति उत्तम स्वभावों और एकाग्रता से होती है। उसी के लिए सत्गुरु भजन का उपदेश करते हैं।

भजन नाम मनन और निदिध्यासन का है। मनन और निदिध्यासन से साक्षात् होता है इसलिए सत्गुरु उपदेश करते हैं कि बारम्बार निदिध्यासन करो। इससे स्वरूप ज्ञान दृढ़ अपरोक्ष होता है। क्योंकि शरीर दिशा में सर्वदाकाल वृत्ति का स्वरूपाकार रहना अत्यन्त ही कठिन है। इसलिए स्वरूपाकार रखने के लिए बारम्बार अपने स्वरूप का चिंतन,

Scanned with CamScanner

कथन, परस्पर ज्ञान, मनन और निदिध्यासन किया जाता है। इसका फल आत्म स्थिति होती है।

शरीर अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष है और आत्मा परोक्ष अर्थात् गुप्त है। सारा दिन शरीर की टहल सेवा, पालन पोषण में व्यतीत होता है। इसलिए वृत्ति शरीराकार हो गई है। शरीर के बिना एक क्षण भी वृत्ति नहीं रहती। यद्यपि सत्संग और सत्यशास्त्र विचार से यह ज्ञान भी हो जाता है कि आत्मा सत्य है और शरीर उसका है और मैं आत्मा हूँ परन्तु मनन और निदिध्यासन के बिना यह ज्ञान केवल कथनमात्र रहता है। हर्ष, शोक, मान, अपमान, दुःख-सुख की निवृत्ति में सहायक नहीं होता, इसलिए बुद्धिमान जिज्ञासु यत्न से मनन और निदिध्यासन कर वृत्ति को ऐसा उज्ज्वल और निर्मल करते हैं कि आत्मा अपरोक्ष हो जाता है और शरीर परोक्ष हो जाता है। जब इस पद में वृत्ति का प्रवेश होता है तब किसी साधन की कर्तव्यता नहीं रहती; क्योंकि यह वार्ता स्व-संगत है कि मेरी वृत्ति की क्या अवस्था है? इसलिए बुद्धिमान न्यायकारी होकर देखें कि मेरी वृत्ति आत्माकार है अथवा अनात्माकार। यदि आत्माकार हो तो भजन की समाप्ति है और यदि शरीराकार हो तो भजन करना उचित है।

अज्ञानी दूसरा जानकार भजन करता है और ज्ञानी अपना आत्मा जानकर भजन करता है। अज्ञानी के भजन से अन्तःकरण की शुद्धि का फल मिलता है और ज्ञानी को आत्म-स्थिति का फल मिलता है। इसलिए आत्म स्थिति के लिए निरन्तर अपने स्वरूप को स्मरण करते रहो, इसमें न्यूनता नहीं, महिमा है।

जितने मंत्र हैं, सब अपने स्वरूप के विशेषण निरूपित करते हैं, उनको पढ़ना मानो अपने स्वरूप को स्मरण करना है। द्वैत कहीं नहीं, सब मंत्रों से, सर्व अक्षरों से, सर्व शास्त्रों से और सर्व पदार्थों से अद्वैत वस्तु सिद्ध होती है। इस दृष्टि से अद्वैत निष्ठा परिपक्व होती है।

जैसे शरीर प्राप्तरूप है और उसके अंग भी प्राप्त हैं परन्तु उनको पुष्ट रखने के लिए साधन किया जाता है। वैसे ही स्वरूप प्राप्त रूप है परन्तु उस प्राप्ति का निश्चय परिपक्व करने के लिए साधन किया जाता है। इसमें कोई दूषण नहीं, अपना भजन स्वयं किया जाता है।

प्रश्न ४९—इस जीव को जब अपने स्वरूप का ज्ञान होकर सब आत्मा निश्चय होता है, तब उपासना अथवा ध्यान किसका किया जावे ?

उत्तर—अपने आपका; क्योंकि सर्व मंत्रों और शास्त्रों का यही प्रयोजन है कि अपने आप में स्थित हो। अपने आप की स्थिति अपने ज्ञान-ध्यान बिना प्राप्त नहीं हो सकती, इसलिए ज्ञानवान सदा अपने आपका ध्यान, पूजा, चिंतन, मनन, निदिध्यासन और दर्शन करते हैं।

प्रश्न ५०—मन निरर्थक संकल्प उठाता है। यद्यपि साक्षी होकर समझाया जाता है तथापि वह अपने स्वभाव में प्रबल रहता है। इसलिए कृपा करके कोई ऐसा उपाय लिखें

Scanned with CamScanner

जिससे यह आध्यात्मिक रोग निवृत हों और मन शान्त रहकर आनन्दरूप सागर में लीन रहे ?

उत्तर—जब तक मन को आत्मा से भिन्न निश्चय करते रहोगे, तब तक मन विश्राम नहीं देगा, क्योंकि मन कोई वस्तु नहीं। आत्मा की चेतन शक्ति का नाम मन है। चेतन शक्ति का स्वभाव फुरना है, फुरने से शरीर की चेष्टा होती है। इसलिए यह स्वभाव शरीर पर्यन्त रहेगा। अब इसको आत्मा से भिन्न निश्चय करना और फिर उसको उपसम करना अत्यन्त कठिन और असम्भव है। उत्तम उपाय यह है कि मन को उसके फुरने समेत आत्मा निश्चय करो और उसकी यात्रा को अपने से बाहर न देखो। जैसे तरंग की यात्रा जल से बाहर नहीं होती वैसे ही मन की यात्रा आत्मा से बाहर नहीं होती। आत्मा मानो समुद्र है और मन तरंग है। तरंग का स्वभाव चंचल होता है और नित्य ही कलोल और क्रीड़ा करता है, इधर-उधर जाता है परन्तु जल का त्याग नहीं करता। वैसे ही मन भी यद्यपि चंचल है और इधर-उधर भी भटकता है तथापि आत्मा का त्याग नहीं करता। इस-लिए आत्मस्वरूप है, इस दृष्टि से मन के संशय को निवृत्त करो। मन कोई वस्तु नहीं, चेतन ही स्वतः स्वभाव में स्थित है और वह चेतन आत्मा अर्थात् अपना आप है। जब आप हैं तो इधर क्या और उधर क्या ? अद्वैत सत्ता अपने आप में स्थित है। इस विचार से मन शान्त होकर आनन्दरूप हो जाता है।

प्रश्न ५१—

हे भगवन् ! आतम विश्रामी, निर्मम निर्भय आपतकामी।
शान्ति सुख कैसे हम पावें, किस प्रकार चित रोग मिटावें ॥
किस विधि भव का शोक निवारें, किस विधि नाना शब्द विसारे।
कैसे बरतें जग के माँहीं, संग द्वेष परसे हूँ नहीं ?

उत्तर— ॥ चौपाई ॥

हे शुभ गुण की खान पियारे, सदा रहो निर्मान पियारे।
दम्भ ईर्षा परसे नांहीं, निशिदिन मगन रहो निज माँही ॥ १ ॥
लोक वासना चित नहिं आवे, शास्त्र वासना मूल न भावे।
देह वासना दुःख की राशी, तजो कटे जीवन की फाँसी ॥ २ ॥
शान्ति से तब काल बितावो, सहिजे ही भवरोग मिटावो।
धर्म - अर्थ का मेटो झगड़ा, काम-मोक्ष का त्यागो रगड़ा ॥ ३ ॥
जगत् - भावना चित से नाशे, केवल पूर्ण ब्रह्म प्रकाशे।
भेद भाव रञ्चक नहिं भासे, वैर विरोध सकल दुर नासे ॥ ४ ॥
शब्द मात्र संसार पछानो, मारग पन्थ शब्द ही मानो।
सम वैराग्य क्षमा संतोषा; धार हृदय विचरो निर्दोषा ॥ ५ ॥
धर्म समाज शब्द को देखो, वैर विरोध शब्द ही पेखो।
जहाँ शब्द तहाँ द्वितीयो भासे, बिना शब्द अद्वैत प्रकासे ॥ ६ ॥

Scanned with CamScanner

ताँते तत्ववित् शब्द तियागे, सदा अशब्द पद अनुरागे।
जाग्रत में है शब्द बिखेरो, सुषुप्ति में नहिं मेरो तेरो ॥ ७ ॥
जाग्रत में सुषुप्ति हो रहिये, नहिं कुछ सुनिये नहिं कुछ कहिये।
सदा रहो आतम रङ्ग राते, क्षोभ रहित समता मद माते ॥ ८ ॥
जग मर्याद सब हासी भासे, लौकिक मान प्रताप विनाशे।
भूत कहानी मन नहिं भावे, भावी काल चीत नहिं आवे ॥ ९ ॥
वर्तमान सुख पावो ऐसे, महाकाश सम वरतो जैसे।
मोह दम्भ का रंग न लागे, मान ईर्षा चित से भागे ॥१०॥
तुम हो परम पवित्र अरूपा, आदि अन्त से रहित अनूपा।
वेद शास्त्र की गम्य न तामें, ब्रह्मा विष्णु रुद्र नहिं जामें ॥११॥
भव में जितने शब्द प्रकाशे, निज स्वरूप में रञ्च न भासे।
अति गम्भीर अगाध स्वरूप, स्वयं प्रकाश अखण्ड अनूप ॥१२॥
नित्य सन्तुष्ट परम रस भीने, निर्भय वासन रहित अदीने।
निर्विकल्प निष्काम विराजो, **हेमराज** मंगल छवि छाजो ॥१३॥

प्रश्न ५२—नामरूप आदि द्वैत कल्पना को त्यागकर केवल केवली भाव मात्र आत्म-स्थिति ज्ञानवान का अनुभव है और द्वैत का पुनः-पुनः भासना प्रारब्धवश से देह के रहने पर्यन्त बाधित अनवरतरूप कहा है ? नामरूप आदि द्वैत के त्यागने और केवल आत्ममात्र स्थिति की युक्ति क्या है और किस प्रकार इसका चिन्तन है ?

उत्तर—यथार्थदर्शी ग्रहण और त्याग की कल्पना से मुक्त अपने-आप में स्थित रहता है, क्योंकि द्वैत वस्तु का अत्यन्ताभाव है, केवल अस्तिमात्र अपने-आप में स्थित है। इसलिये यथार्थदर्शी को यथार्थ ज्ञान के उपरान्त रंचकमात्र भी कर्तव्य नहीं रहता। उसकी दृष्टि में नामरूप केवल अस्तिमात्र है। अस्ति को त्यागकर नाम रूप सिद्ध नहीं होते। अस्ति ही नाम रूप होकर मानो अपनी महिमा में स्थित है। इसलिए नामरूप अस्ति को आच्छादित नहीं कर सकते, उल्टा उसकी महिमा को प्रसिद्ध करतेहैं। जैसे धूप सूर्य को आच्छादित नहीं कर सकती किन्तु उसकी महिमा को और अधिक प्रसिद्ध करती है। इसलिए नामरूप अस्ति से भिन्न नहीं है किन्तु अस्तिरूप है। नामरूप का दर्शन अस्ति का दर्शन है। जैसे प्रकाश का दर्शन सूर्य का दर्शन है। द्वैत न था, न है और न होगा। जब द्वैत ही नहीं, उसके त्याग का उपाय निरर्थक है। जैसे नामरूप अस्तिरूप हैं, वैसे ही भाँति और प्रेय भी अस्तिरूप हैं। भाव यह कि अस्ति ही नामरूप होकर भाँति प्रतीत होती है। और रूप होकर प्रेय होती है। एक ही मानो अस्ति नामरूप भाँति और प्रेय हैं। अस्ति से भिन्न करके देखें तो इन चारों का स्वरूप असिद्ध है। इसलिए अस्ति ही चतुर्रूप होकर अपने-आप में स्थित है। अज्ञानकाल में यह नामरूप होकर प्रतीत होती है और ज्ञानकाल में भाँति प्रेयरूप होकर प्रतीत होती है, किन्तु अस्ति नित्य और सामानरूप है। अज्ञान से नास्ति भाव को प्राप्त नहीं होती, और अज्ञान से अस्ति भाव को प्राप्त नहीं होती। नित्य ही स्वतः स्वभाव में स्थित है। तात्पर्य

Scanned with CamScanner

यह कि ज्ञान और अज्ञान में सत्ता सामानरूप है, अज्ञान और ज्ञान दोनों अस्तिरूप हैं। अस्ति को त्यागकर ज्ञान और अज्ञान असिद्ध हैं। इसलिए केवल अस्ति ही स्वतःसिद्ध है, नामरूप, ज्ञान, अज्ञान अत्यन्त अभाव रूप हैं। यह जो कुछ भासता है वह सारा ही अस्ति रूप अर्थात् सत्य है, जब सारा ही सत्य है तो किस वस्तु के त्याग के लिए पुरुष को यत्न करना उचित है? इस रीति से यथार्थवेत्ता देह अस्थायी काल पर्यन्त कृत-कृत्य होकर परमानन्द स्वरूप रहता है। कर्तव्य उसकी दृष्टि में रंचकमात्र नहीं रहता, क्योंकि कर्तव्य असत्य के लिए होता है। असत्य तीनों काल नहीं हैं, इसलिए उसके लिए यत्नवांछित नहीं, और सत्य स्वतः सिद्ध है। स्वतःसिद्ध वस्तु के लिए भी यत्न निष्फल और निरर्थक है और फिर सत्य वस्तु ही प्रतीत होती है; असत्य वस्तु नहीं। जैसे गंगा का जल प्रतीत होता है, मृगतृष्णा का नहीं; वह केवल भ्रांतिमात्र हैं। वैसे ही जो कुछ भासता है वह सब ही अस्ति अर्थात् सत्यरूप है, अस्ति केवल भांति मात्र है। जब सब ही सत्य है तो किसलिए ग्रहण और त्याग की कल्पना कल्पित यत्नों में प्रवृत्त हों? इसलिए यथार्थदर्शी नित्य ही निर्विकल्प सहज अवस्था में स्थित रहता है। शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण, प्राण और उनकी चेष्टा को भी अस्तिरूप निश्चय करता है, रंचकमात्र द्वैत को नहीं देखता। इसलिए प्रारब्ध भी कल्पना से अतीत है। जब प्रारब्ध की कल्पना ही नहीं तो बाधित अनविरत दृष्टि भी कपोल कल्पित है। इस दृष्टि को धारकर पुरुष नित्य ही आत्ममात्र में जो केवल अस्तिरूप है स्थित रहता है। पूर्वोक्त रीति से अस्ति का चिन्तन कर भिन्न-भिन्न शब्दों और मन्त्रों की कल्पनारूप प्रतीति को ऐसा विस्मरण करें कि फिर स्वप्न में भी उनकी स्मृतिरूप प्रतीत उदय होकर द्वैत दृष्टि की प्रतीति का कारण न हों। इसके बिना जितनी युक्तियाँ प्रसिद्ध है, वे सब ही द्वैत की साधक हैं, बाधक नहीं। इसलिए द्वैत की निवृति और अद्वैत की स्थिति के लिए केवल अस्तिमात्र निश्चय करना, देखना, होना और स्थित रहना उचित है।

प्रश्न ५३—नामरूपात्मक द्वैत संकल्पमात्र है और संकल्प मन का धर्म है। यदि मन का संकल्प-विकल्प नाश नहीं होता, फिर निर्विकल्प समाधि में स्थितिरूप मन की शांत दशा अष्टांग योग से हो सकती है या आत्मचिंतन की कोई सुखेन युक्ति है, जिससे इस कलि-युग अर्थात् अष्टाँग योग के दुःसाध्य समय में निर्विकल्पता की प्राप्ति हो सकती है?

उत्तर—इस प्रश्न का उत्तर प्रथम प्रश्न के उत्तर में आ चुका है परन्तु निश्चय की दृढ़ता के लिए कुछ और लिखा जाता है। नामरूपात्मक द्वैत वास्तविक नहीं, यदि वास्तविक होता तो ज्ञान अथवा योग से इसकी निवृति कदाचित् न होती। निवृति उस वस्तु की होती है जो वास्तव न हो, केवल भ्रांति से सिद्ध हो। भ्रांतिमात्र वस्तु यथार्थ वस्तु के अज्ञान से सिद्ध होती है। जैसे भ्रांतिमात्र सर्प यथार्थरूप वस्तु रज्जु के अज्ञान से सिद्ध होता है; वास्तव में सर्प कोई नहीं। केवल रज्जु ही अपने-आप में स्थित है परन्तु भ्रांति से जो सर्प का आभास और ज्ञान निश्चय हुआ है, उसकी निवृति के लिए भ्रांतिजन्य कल्पित उपाय की सहायता वांछित होती है, जैसे सर्प कल्पित है वैसे ही सर्प की निवृति और निवृति के उपाय भी कल्पित हैं, क्योंकि कल्पित की निवृति कल्पित से होती है; यथार्थ वस्तु ज्यों-की-त्यों है। वैसे ही नामरूपात्मक द्वैत

Scanned with CamScanner

संकल्पमात्र होने से कल्पित है। इसलिए उसकी निवृति और निवृति के उपाय ज्ञान और योग भी कल्पित हैं। कल्पित की निवृति जिस कल्पित उपाय से हो, श्रेष्ठ है, परन्तु दीर्घदर्शी बल, बुद्धि और समय के अनुसार उपाय का सेवन कर कल्पित की निवृति करता है। यथार्थ-ज्ञान सुखेन और प्रमाणजन्य और अष्टांग योग कठिन और हठजन्य है। इसलिए परावर-दर्शी ज्ञान से कल्पित की निवृति कर निर्विकल्पता से अपने काल को व्यतीत करते हैं। ज्ञान अष्टांगयोग से श्रेष्ठ है, क्योंकि अल्पकाल में अज्ञानजन्य नामरूपात्मक द्वैत को निवृत्त कर कृतकृत्य करता है और अष्टांगयोग बहुत काल के यत्न के अनन्तर भी सिद्ध नहीं होता। जो स्वयं भी सिद्ध न हुआ तो द्वैतरूप रोग की निवृत्ति कैसे करेगा? इसलिए अष्टांगयोग द्वैत की निवृति का उपाय नहीं किन्तु द्वैत की सिद्धिका उपाय है और केवल जड़रूप है। यदि जड़ता से द्वैत की निवृति मानें तो सुषुप्ति अवस्था निर्यत्न सर्व प्राणधारियों को प्राप्त होती है परन्तु नामरूपात्मक द्वैतज्ञान किसी का निवृत नहीं होता। जब जाग्रत अवस्था में यथार्थ ज्ञान द्वारा अज्ञान जन्य भ्रांति की निवृति होती है, तब सब अवस्था में यथार्थ वस्तु का भान और प्रतीति रहती है। इसलिए केवल अष्टांग योग सुषुप्तिवत् मूढ़ होने से अज्ञान की निवृति का साधक नहीं। जब अज्ञान की निवृति का साधक ही नहीं, तब अज्ञान जन्य नामरूपात्मिक द्वेत की निवृति कैसे करेगा? जब नामरूपात्मक द्वैत की निवृति न हुई, तब मन को शान्ति कैसे प्राप्त होगी? अष्टांग योग से अज्ञान और अज्ञान जन्य द्वेत की निवृति नहीं होती। इसलिए अष्टांग योग निष्फल होने से केवल परिश्रम और रोग का हेतु है, रंचकमात्र लाभ की प्राप्ति इससे नहीं होती। यदि न्यायविचार से देखें तो प्राणों का निरोध प्रकृति के विरुद्ध है। जो कर्म प्रकृति के अनुसार हैं, वे यत्न के बिना स्वाभाविक ही सिद्ध हो रहे हैं। जैसे दस इन्द्रिय चतुष्टय अंत:करण और प्राणों की चेष्टा और कर्म स्वाभाविकहो रहे हैं और प्राणों के निरोध के लिए बहुत काल पर्यन्त भी किया जाता है तो भी पूरा-पूरा निरोध नहीं होता। यदि कुछ काल निरोध भी हुआ और मन भी शान्तगति को प्राप्त हुआ, परन्तु फिर प्राणों की क्रिया से मन चंचल हो गया तो यत्नसाध्य हठयोग से क्या लाभ मिला? न अज्ञान निवृत हुआ और न मन निर्विकल्प हुआ। उल्टा आयु भी यत्न करते-करते व्यतीत हो गई, बल क्षीण हो गया और रोगों से शरीर पीड़ित हो गया, इसलिए सब प्रकार से अष्टांग योग त्याज्य है। अत: कलियुग अर्थात् महाश्रेष्ठ, महापूज्य और महा तेजोमय समय में इस साधन की प्रवृति अनुचित और निष्फल जानकर बुद्धिमान और दीर्घदर्शी आचार्यों ने तत्वज्ञान ही कल्याणका हेतु, मोक्ष का उपाय और शांति का दाता निश्चय कर सब मुमुक्षु जनों को इसकी प्राप्ति का उपदेश किया है। इसलिए केवल तत्वज्ञान ही अज्ञान और अज्ञानजन्य द्वैत की निवृति का साधक होने से श्रेष्ठ और धारणीय है। यत्न के बिना केवल श्रोत सम्बन्धी वाक्य द्वारा वृति के साथ तद्रूप होकर वृत्ति के अज्ञान को निवृत्त करता है। इसलिए परम सरल और अल्पकाल मेंसिद्ध हो सकता है। इसकी प्रोप्ति के लिए साधनकाल में और प्राप्ति के अनन्तर इन्द्रिय और अन्त:करण के धर्मों का त्याग अपेक्षित नहीं किन्तु सर्व पदार्थों को सम्यक् और यथार्थ जानकर निज स्वरूपमें स्थित रहना ज्ञानका फल है। हमारा स्वरूप केवलज्ञानमात्र सत्ता है। दस इन्द्रिय,

Scanned with CamScanner

चतुष्टय अंतःकरण, दस प्राण, तीन शरीर, तीन अवस्था, तीन काल, तीन गुण, तीन देश और सब त्रिपुटियों के भाव और अभाव के मध्य स्थित है। अर्थात् सब द्वंदों की सन्धिरूप है इसलिए केवल अस्तिमात्र अनुभवगम्य है। ऐसे स्वरूप में स्थित पुरुष को रंचकमात्र कर्तव्य करना उचित नहीं। आत्मस्थिति का जिज्ञासु नित्य ही संधि में स्थित रहे। न मन के फुरने के साथ प्रीत करे; न प्राणों की क्रिया को देखे, और न प्राणों के निरोध का यत्न करे। दोनों के मध्य केवल सत्तामात्र होकर स्थित रहे। अर्थात् स्वयं स्थित रहे। कैसा अपना स्वरूप है जिसमें मन, चित, बुद्धि, अहंकार अनन्त वृत्तियों सहित तरंगों के समान उत्पन्न और लीन होते हैं और उस अगाध सत्तारूप सागर की वृद्धि और न्यूनता नहीं कर सकते। उल्टा उसी में उसी का रूप होकर उसी में समा जाते हैं। ऐसा अगाध, अनादि, अनन्त, अगम और अपार जो स्वरूप है वह अपना-आप है और नित्यप्राप्त है। उसके लिए और कोई यत्न वांछित नहीं, केवल ज्ञान वांछित है। ज्ञान द्वैतरूप नहीं किन्तु आत्मा का निज स्वरूप है, इसलिए आत्मा आत्मरूप से प्राप्तरूप है। इस रीति से विचारना और स्थित होना आत्मस्थिति, निर्विकल्पता, कृतकृत्यता और आत्मसंतुष्टि का परम उपाय है।

प्रश्न ५४—बहुत वाचक अथवा अनुभवी ज्ञानियों को शुद्ध चेतन में स्थिति के लिए समाधि आदि अभ्यास में प्रवृत न देखकर भेदवादी जीवधारा को लेकर मायामिश्रित चेतन देश और देह आदि सम्बन्ध से उपरत होकर शुद्ध चेतन में स्थिति के लिए यत्न करने का उपदेश करते हैं। क्या यह उपदेश ठीक है या नहीं ?

उत्तर—भेदवादियों का उपदेश ठीक नहीं है। उनके उपदेश द्वारा कदाचित् शुद्ध चेतन में स्थिति नहीं होती औ न स्थिति का मार्ग प्राप्त होता है क्योंकि भेदवादी सम्यक् बोध का ज्ञाता नहीं इसलिए अज्ञानी है। जो स्वयं ही अज्ञानी है, उसका उपदेश दूसरों को कैसे फलीभूत करेगा ? केवल अज्ञानी जन अज्ञानी की वार्ता को श्रवण कर प्रसन्न होते हैं और ज्ञानवान अज्ञानी के वचनों को निरर्थक निश्चय कर त्याग देते हैं। जैसे अंधा पुरुष दूसरे अंधे पुरुष को मार्ग पर नहीं लगा सकता अथवा ग्राम में नहीं ले जा सकता दोनों ही मार्ग में भटकते रहते हैं। जब अंधा ही अंधे की दीक्षा से लाभ नहीं उठाता तो सचक्षु अंध से किस प्रकार मार्ग पूछेगा ? वैसे ही ज्ञानवान और अनुभवी पुरुष भेदवादियों के वचनों, युक्तियों, दृष्टान्तों और सिद्धान्तों को केवल कपोल कल्पित व अज्ञानजन्य मानकर त्याग देते हैं। जैसे सचक्षु पुरुष अंध पुरुषों के वचन पर प्रतीत नहीं करता वैसे ही ज्ञानवान अनन्त भेदवादियों के अनन्त शास्त्रों पर और अनन्त वचनों पर दृष्टि भी नहीं करता किन्तु सबको पक्षियों के शब्द की तरह निरर्थक और त्याज्य निश्चय कर हास्य करता है अथवा दयायुक्त होकर कहता है कि ये अज्ञान भेद आश्रित कल्पित साधनों, उपासनाओं, समाधियों और अभ्यासों में यत्न कर अपनी आयु, बल और बुद्धि का नाश कर रहे हैं और अपरोक्ष-नित्य प्राप्त वस्तु को परोक्ष और यत्नसाध्य निश्चय कर मिथ्या उपायों में प्रवृत हो रहे हैं। यह नहीं समझते कि सत्य वस्तु की प्राप्ति स्वतः सिद्ध होती है। जिस वस्तु की प्राप्ति यत्न और साधन से हो, वह वस्तु मिथ्या और कल्पित होती है। इसलिए शुद्ध चेतन की प्राप्ति व स्थिति के लिए भेद-

Scanned with CamScanner

वादियों का यत्न अथवा यत्न का उपदेश असमीचीन और त्याज्य है।

शुद्ध चेतन नित्य प्राप्तरूप है, भेदवादियों के वचन द्वारा अन्य और अप्राप्त प्रतीत होता है इसलिए शुद्ध चेतन की प्राप्ति के लिए केवल यथार्थ ज्ञान का श्रवण ही उचित है। यदि केवल श्रवण से संशय और विपर्यय रहित ज्ञान हो जावे तो उसके उपरान्त किसी अभ्यास अथवा समाधि की आवश्यकता नहीं रहती। यदि श्रवण के अनन्तर भी असंभावना और विपरीत भावना अन्तःकरण में उत्पन्न हो, उसकी निवृत्ति के लिए श्रवण किए हुए यथार्थ वचनों का बारम्बार मनन करे। यदि मनन से भी संशय और विपर्यय रहित अपना स्वरूप ज्यों का त्यों साक्षात् प्रतीत न हो, निदिध्यासन करे अर्थात् जितने वचन भेदवादियों के शास्त्रों और मुख से पठन और श्रवण किये है और जो जो वचन व्यवहारी और अज्ञानियों से श्रवण किये हैं, जितने संस्कार भूतकाल के हृदय में स्थित हैं, भविष्यकाल के लिए चिन्ता है, अपने को शरीर रूप निश्चय कर भिन्न-भिन्न कर्मों के कर्त्ता और भोक्ता का अभिमान है, लोकलज्जा, कुल लज्जा, वेद लज्जा का जो भय है, वा जन्म-मरण की जो भ्रांति है, पर-लोक गमन का जो भय है, अष्ट सिद्धि की जो इच्छा है, जीव और ईश्वर का जो भेद है, जगत् और ब्रह्म तथा जीवों का परस्पर भेद है अथवा जड़-जड़ का परस्पर जो भेद है, जड़ और चेतन का परस्पर जो भेद है, भेदवादियों और अभेदवादियों का जो परस्पर भेद है; सबको कल्पित और अयथार्थ निश्चय कर विस्मरण करने के अनन्तर जो केवल केवलीमात्र रहे, वह शुद्ध चेतन है, उसमें स्थित होना ही निदिध्यासन है। जब निदिध्यासन से संशय विपर्यय की निवृत्ति से युक्त ज्ञानी अपने को केवल अनुभवमात्र देखता है, तब कृत कृत्य होकर सहज अवस्था सहित अपने काल को व्यतीत करता है। अपने स्वरूप के बिना अन्तर और बाहर रंचकमात्र दूसरा नहीं देखता। जब अन्य अर्थात् द्वैत का अत्यन्त अभाव निश्चय होता है, तब ज्ञानी किसके ग्रहण और किसके त्याग का यत्न करे? इसलिए ज्ञानवानों और अनुभवी पुरुषों में समाधि आदि अभ्यास के लिए यत्न नहीं रहता। जैसे निर्मल नेत्र वाले को किसी पदार्थ का स्वरूप देखने में यत्न नहीं होता, वैसे ही ज्ञानवान को ज्ञान के बल से अद्वैत वस्तु प्रत्यक्ष प्रतीत होती है। जैसे मलीन नेत्रवान पुरुष को सब पदार्थ विपरीत प्रतीत होते हैं; समीप स्थित होकर भी किसी पदार्थ का स्वरूप सम्यक् नहीं भासता, वैसे ही भेद-वादी अज्ञानी अद्वैत वस्तु को द्वैतरूप मानकर भेदरूपी महाघोर वन में भिन्न-भिन्न यत्नों, साधनों और अभ्यासों की चोटें खाता रहता है। जैसे निर्मल नेत्रवान की गति को मलीन नेत्रवान नहीं जान सकता वैसे ही अभेदवादी ज्ञानी की गति को भेदवादी अज्ञानी नहीं समझ सकता। इसलिए भेदवादी अज्ञानी अभेदवादी ज्ञानी पर नाना प्रकार के दूषण, तर्क, शंकाएँ और उपहास करता है।

देह दिशा में भेद प्रत्यक्ष है और अभेद गुप्त है। सब पुरुष प्रत्यक्ष वस्तु को देखकर सत्य मानते हैं। कोई परावरदर्शी, बुद्धिमान अनुभव ज्ञान द्वारा गुप्तरूप अभेद को भेद की न्याईं प्रत्यक्ष करता है और सर्वत्र अभेद ही देखता है। भेद को भी अभेद ही देखता है, क्योंकि भेद भेद द्वारा स्थित नहीं रह सकता, अभेद द्वारा स्थित रहता है। जैसे अक्षरों का भेद अभेद

Scanned with CamScanner

रूप कागजों द्वारा रहता है। भूषणों का भेद अभेद रूप स्वर्ण द्वारा रहता है। वस्त्रों का भेद अभेद रूप तंतुओं द्वारा रहता है। तरंगों का भेद अभेद रूप जल के द्वारा रहता है। ग्रामों, नगरों, द्वीपों और खण्डों का भेद अभेद रूप धरती द्वारा रहता है। दीपकों, मशालों और स्फुलिगों का भेद अभेद रूप अग्नि द्वारा रहता है। मूल, टहनी, शाखा, पत्र, फूल और फल का भेद अभेदरूप बीज द्वारा रहता है। आशा, सोरठ, जय-जयवन्त, जंगला, धनाश्री कानड़ा, बिहाग, तिलंग आदि रागों का भेद वैखरीरूप वाणी द्वारा रहता है। दिवस, रात्रि, शीत, उष्ण, वसन्त और पतझड़ ऋतुओं का भेद अभेदरूप सूर्य द्वारा रहता है। बालपन, युवा और वृद्धावस्था का भेद अभेद रूप शरीर द्वारा रहता है। सब इन्द्रियों, अंतःकरण और अंतर के अंगों के भिन्न-भिन्न कर्मों का भेद अभेदरूप प्राण द्वारा रहता है। इन्द्रिय, अंतःकरण प्राण और नाना नाड़ियों और अंगों के बल और व्यवहार का भेद अभेदरूप अन्न और जल द्वारा रहता है। नाना प्रकार की बोलियों का भेद एक वैखरी रूप शब्द द्वारा रहता है। भिन्न-भिन्न तिथियों का भेद अभेदरूप चन्द्रमा द्वारा रहता है। सब गिनती का भेद अभेदरूप एक में रहता है। तारागण का भेद अभेदरूप आकाश के द्वारा रहता है। धरती, जल, अग्नि पवन का भेद अभेदरूप महा आकाश द्वारा रहता है। जैसे भिन्न-भिन्न अक्षरों, श्लोकों, श्रुतियों स्मृति द्वन्दों आदि के अर्थों का भेद एक बुद्धि द्वारा रहता है। नाना प्रकार के अभिमानों प्रतापों, अलंकारों, ऐश्वर्यों, महत्ता और श्रेष्टता का भेद अभेदरूप अहं द्वारा रहता है। नाना प्रकार के मनोरथों का भेद अभेदरूप मन के द्वारा रहता है। नाना प्रकार के चिन्तनों का भेद चित्त और नाना प्रकार की विद्या और ज्ञानों का भेद एक बुद्धि द्वारा रहता है। सब जड़ चेतन पदार्थों के सम्बन्ध का भेद एक ममता द्वारा रहता है। न्याय की भिन्न-भिन्न युक्तियों का भेद अभेदरूप नैयायिक द्वारा रहता है, जैसे योग के भिन्न-भिन्न साधनों और सिद्धि का भेद अभेदरूप जोगी द्वारा रहता है। सांख्य की भिन्न-भिन्न प्रक्रिया का भेद अभेदरूप साक्षी द्वारा रहता है। वेदान्त की भिन्न भिन्न युक्तियों का भेद अभेदरूप वेदान्ती द्वारा रहता है। भिन्न-भिन्न सिद्धियों का भेद अभेदरूप सिद्ध द्वारा रहता है, भिन्न-भिन्न मंत्रों, पंथों, मार्गों, समाजों। धर्मों का भेद अभेद रूप देह द्वारा रहता है। भूताकाश, चिताकाश और चिदाकाश का भेद अभेद रूप आकाश द्वारा रहता है, समाधि और उत्थान का भेद अभेदरूप मन द्वारा रहता है। जीव, ईश्वर और ब्रह्म का भेद अभेदरूप अनुभव द्वारा रहता है। जैसे ज्ञान और अज्ञान का भेद अभेदरूप बुद्धि द्वारा रहता है। वैसे ही सब प्रकार का भेद अभेद द्वारा रहता है। इसलिए भेद कल्पित है और अभेद सत्य है।

कल्पित भेद की निवृत्ति केवल अभेद ज्ञान से होती है; दूसरे योग आदि उपायों से नहीं होती, क्योंकि अष्टांग योग अथवा सविकल्प समाधि अथवा शब्द और सुरत का मिलाप अथवा अनाहद शब्द का श्रवण अथवा माया मिश्रित चेतन के आसरे शुद्ध चेतन देश में गमन अथवा यत्न साध्य अवस्था की प्राप्ति में आत्म स्थित बुद्धि, अथवा स्वतः सिद्ध अवस्था का निषेध अथवा ऊपर चढ़ने की इच्छा और नीचे गिरने का भय अज्ञान जन्य होने से भेद के साधक हैं। इसलिए यथार्थदर्शी ज्ञानवान और अनुभवी महात्माओं की दृष्टि में ये सब

Scanned with CamScanner

बालकों की क्रीड़ावत् तुच्छ और त्याज्य हैं। केवल स्वतःसिद्ध अवस्था में स्थित ज्ञानवान का धर्म है। कदाचित् संशय रहित होकर आपको कुछ और का और नहीं देखता; नित्य-निर्विकल्प, नित्य-संतुष्ट, नित्य-तृप्त, साधन, साधक, सिद्ध से रहित स्वयं स्थित रहता है। इसी का नाम अखंड समाधि है। ऐसी अखंड अवस्था को त्यागकर योग आदि साधनों द्वारा सिद्ध खंडित समाधियों के लिए यत्न करना उचित नहीं। वह जो है, सो है, सब स्थान, सब क्रिया, सब काल और सब वस्तु में यथार्थ स्वरूप है। ऐसे महान ज्ञान की अवस्था को भेद-वादी बालक कैसे समझ सकते हैं? वह तो बालकों के समान ऊपर चढ़ने, नीचे उतरने, नाक दबाने, आँखें मूंदने, नाड़ियों का शब्द श्रवण करने, प्राणों के गमन आगमन पर मन कल्पित मोह शब्द का ध्यान करने, मन को थकित अवस्था को समाधि निश्चय करने, कल्पित अक्षरों के स्मरण करने, मन के संकल्प की उत्तमता को उत्तम लोक और मन की मूढ़ता को नीच लोक समझने में अपनी बुद्धि बल और आयु का नाश कर रहे हैं। उनका उपदेश अथवा यत्न ज्ञानवान की दृष्टि में रंचक मात्र भी महिमा नहीं रखता। इसलिए यथार्थ ज्ञानी अथवा अनुभवी इन सबको कल्पित जानकर केवल अपने आप में मग्न रहते हैं।

प्रश्न ५५—शास्त्रों के विचारने से पुरातन ज्ञानियों की योगाभ्यास में प्रवृत्ति देखने में आती है। फिर आप कैसे कहते हैं कि ज्ञानियों की योग में प्रवृत्ति नहीं होती?

उत्तर—योग के बिना ज्ञान की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि योग का अर्थ दो को एक करना है। जब तक जीव और ब्रह्म की एकता का अभ्यास न किया जाए तब तक ब्रह्म और आत्मा का एकत्र ज्ञान अपरोक्ष निश्चय नहीं होता। योग-विवेक, वैराग्य, षट्संपति, मोक्ष-इच्छा, श्रवण, मनन, निदिध्यासन तत्व-एकत्व साक्षात ज्ञान—इन अष्ट साधनों से सिद्ध होता है। इस अष्टांग योग से ज्ञान की सिद्धि होती है। पुरातन और नवीन ज्ञानी इस योग अभ्यास में प्रवृत्त होकर अपने ज्ञान को दृढ़ अपरोक्ष करते हैं। इसके बिना जो पातंजलि योग-शास्त्रों में प्रसिद्ध है वह ज्ञान का साधक नहीं, उल्टा बाधक है, क्योंकि उस योग का अभिप्राय भेद है और वेदान्त का अभिप्राय अभेद है। भेद और अभेद का परस्पर विरोध है, इसलिए अष्टाँग योग अर्थात् हठयोग का आत्मज्ञान अर्थात् राजयोग से अत्यन्त विरोध है। विरोधी पदार्थों का निवास एक देश में नहीं हो सकता। जैसे तम और प्रकाश का निवास एक देश में नहीं हो सकता, वैसे ही राजयोग और हठयोग का निवास एक हृदय में नहीं हो सकता। जब हठयोग का अभ्यास होगा, तब भेद का निश्चय साक्षात् होगा। जब राजयोग का अभ्यास होगा तब अभेद का निश्चय उदय होगा इसलिए न योग परिपक्व होगा न ज्ञान, भेद और अभेद के मध्य वृत्ति डोलायमान रहेगी। न वह पुरुष योगीश्वर समझा जाएगा और न आत्मज्ञानी, विषम-निश्चय, विक्षिप्त चित्त, और संशयात्मक रहकर अपने काल को व्यतीत करेगा। इसलिए दूर दर्शी जिस मार्ग में गमन करते हैं, दूसरे उसी का अनुसरण कर वांछित स्थान को प्राप्त करते हैं। जो दो मार्गों के मध्य आ जाते हैं, वह संशयरूप वन में भटकते रहते हैं परन्तु इच्छित स्थान को प्राप्त नहीं करते। वैसे ही योगाभ्यासी ज्ञानी यद्यपि बाह्य-दृष्टि से आसनधारी, स्थितिवान, मौनी और गंभीर प्रतीत होता है तथापि अन्दर से संशया-

Scanned with CamScanner

त्मक, शिथिल निश्चय, भयभीत, कर्त्तापने के आधीन, और भविष्य फल इच्छुक होता है। इससे ज्ञान का परम प्रयोजन सर्वदुःख निवृत्ति और परमानन्द प्राप्ति उसे प्राप्त नहीं होती, इसलिए उसका ज्ञान और योग निष्फल हो जाता है।

ज्ञान ज्ञान से परिपक्व होता है और योग योग से परिपक्व होता है। जो पुरुष ज्ञान को योग से परिपक्व करना चाहे, ज्ञान कदाचित् परिपक्व नहीं होगा, क्योंकि ज्ञान चेतन है और योग जड़ है; ज्ञान प्रमाणजन्य है और योग हठजन्य है। इसलिए ज्ञान अधिष्ठान है और योग कल्पित है। कल्पित से अधिष्ठान की सिद्धि नहीं हो सकती, उल्टा अधिष्ठान आच्छादित हो जाता है। इसलिए योगाभ्यासी ज्ञानी की महिमा नहीं। जो पूर्वोक्त योग प्रमाण द्वारा अपने स्वरूप के ज्ञान को दृढ़ करे, वह श्रेष्ठ है और महिमा करने योग्य है। सदा अनन्त प्रकार के पुरुष होते चले आये हैं और भिन्न-भिन्न शास्त्रकार उनकी कथा शास्त्रों में इतिहासों की तरह लिखते चले आये हैं। इसलिए पढ़ने वालों को उचित है कि न्यायवृत्ति से विचार करें कि यथार्थ क्या है और अयथार्थ क्या है। इसका यह अर्थ नहीं कि पिछले शास्त्रों के वचन सारे ही अयथार्थ हैं। साधारणतः शास्त्रकार अथवा कवीश्वर जब तक एक माशे का सेर भर न बनावे, एक पाषाण को पर्वतरूप करके न दिखलावें, एक बात की सौ बात करके न बतलावें, तब तक उसकी कृति अथवा कविता शोभनीय और मनोहर नहीं होती। सब शास्त्रों में यथार्थवचन बहुत ही अल्प हैं, इसलिए सारग्राही पुरुष केवल यथार्थ वचन पर प्रतीत करे और दूसरे वचनों और इतिहासों को जो केवल शोभा के लिए कपोल कल्पित हैं, असार जानकर त्याग दें। तब यथार्थ मार्ग को पाकर वांछित स्थान निर्विकल्प-रूप आत्म-स्थिति पावेगा अन्यथा शास्त्रों के महाघोर वन में भटक-भटककर संशय रूप कंटकों से क्षुब्ध हुआ देह सम्बन्धी काल को व्यर्थ नष्ट करेगा। इसलिए उचित है कि केवल अपने स्वरूप पर दृढ़ प्रतीत कर सर्व कल्पित साधनों और उपायों से मुक्त रहे। इस रीति से जो पुरुष अपने स्वरूप में स्थिति पाता है, वह पूर्ण ज्ञानी है। ऐसा पूर्णज्ञानी इस जगत् में दुर्लभ होता है, आगे भी कोई-कोई पूर्ण हुआ है अब भी कोई-कोई पूर्ण है, भविष्य काल में भी कोई-कोई पूर्ण होगा। ऐसा न समझना कि जो लोगों में व शास्त्रों में प्रसिद्ध है वे सारे पूर्ण हैं। जगत् का यह नियम है कि दंभी, कर्मकांडी, भेषधारी, पाखंडी, मौनी आदि मूढ़ पुरुषों का सेवन और पूजन बहुत करते हैं और पूर्ण पुरुषों को वाचक ज्ञानी अथवा अभ्यास-हीन अथवा सामान्य पुरुष निश्चय कर उसके संग और विचार का लाभ नहीं उठाते। जैसे दूज के चन्द्रमा के आगे सब नर-नारी प्रणाम करते हैं और उस रात्रि को श्रेष्ठ और मंगलीक मानकर उत्साह से मनाते हैं परन्तु पूर्णमाशी के चन्द्रमा को कोई नहीं पूछता और न ही आदर करता है। इसलिए इस जगत की प्रसिद्धि प्रतीत करने योग्य नहीं, केवल अपने पर स्वयं प्रतीत कर अपने-आप में मग्न रहना उचित है।

प्रश्न ५६—किन्हीं शास्त्रकारों के अनुसार ज्ञान के उपरान्त अभ्यास करना ऐसे निष्फल है जैसे गर्भ स्थिति के बाद स्त्री का भर्त्ता के साथ संयोग करना। दूसरा शास्त्रकार कहता है कि विशेष सुख की प्राप्ति और ज्ञान की वृद्धि के लिए ज्ञान के उपरान्त भी अभ्यास

Scanned with CamScanner

करना उचित है क्योंकि जब तक देह आदि का सम्बन्ध है तब तक अन्तःकरण की वृत्ति व्यवहार और विषय द्वारा बहिर्मुख होकर विक्षिप्त हो जाती है। इसलिए जीवन मुक्ति के विलक्षण आनन्द की प्राप्ति के लिए वृत्ति को अर्न्तमुख करने का अभ्यास उचित है। अब कृपया आप बताएँ कि इनमें से कौन-सा वचन श्रेष्ठ और मान्य है ?

उत्तर—पहला ज्ञान की समझ है और दूसरा ज्ञान की अवस्था। ज्ञान की समझ सहज प्राप्त होती है और ज्ञान की अवस्था यत्न और अभ्यास से प्राप्त होती है। यद्यपि ज्ञान के उपरान्त ज्ञान की समझ के लिए अभ्यास करना निष्फल है तथापि ज्ञान के उपरान्त ज्ञान की अवस्था के लिए अभ्यास करना आवश्यक है। इसलिए दीर्घदर्शी और बुद्धिमान समझ से अवस्था को उत्तम और पूज्य निश्चय कर अवस्था की प्राप्ति के लिए मनोनाश और वासना क्षय के अभ्यास में प्रवृत्त होते हैं। जैसे गर्भवती स्त्री गर्भ के उपरान्त भी गर्भ की स्थिति की स्थिति और रक्षा के लिए यत्न करती है। यदि गर्भ के पश्चात् वह उसकी रक्षा का यत्न त्याग दे तो प्राप्त हुआ गर्भ भी नष्ट हो जाता है; सन्तान रूप फल नहीं पाती। वैसे ही ज्ञानवान को ज्ञान के उपरान्त यद्यपि ज्ञान के लिए अभ्यास वांछित नहीं तथापि ज्ञान की रक्षा, दृढ़ता और अवस्था के लिए अभ्यास उचित है। यदि ज्ञान के उपरान्त ज्ञान की रक्षा, दृढ़ता और अवस्था के लिए ज्ञानवान मनोनाश और वासना क्षय का अभ्यास नहीं करेगा तो प्राप्त हुआ ज्ञान भी व्यवहार सेवन, विषयासक्ति, गृहस्था सक्ति, देहाध्यास और विषय दृष्टि रूप मलिन स्वभावों से शिथिल और निर्बल हो जाएगा। इसलिए ज्ञान के उपरान्त मनोनाश और वासनाक्षय का अभ्यास जीवनमुक्त जिज्ञासु के लिए उचित है। क्योंकि तत्वज्ञानी को तत्व चिंतन, तत्व कथन, तत्व श्रवण, तत्व मनन, तत्व ज्ञान, तत्व निदिध्यासन, तत्व दर्शन और तत्व स्थिति के बिना दूसरा अभ्यास अथवा व्यवहार प्रिय नहीं होता इसलिए सर्व मन रचित वासना से शुद्ध होकर केवल अनुभवमात्र में स्थित रहना ही परम अभ्यास है।

यद्यपि संशय की निवृति तत्वज्ञान से होती है, परन्तु सुख की प्राप्ति मनोनाश और वासनाक्षय के बिना नहीं होती। इसलिए जीवन मुक्त के विलक्षण आनन्द के साधन तत्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय है। इन तीनों का समकाल अभ्यास उचित है, इसके बिना और कोई अभ्यास करना उचित नहीं, क्योंकि दूसरा अभ्यास ज्ञान की शिथिलता का हेतु है। तत्व का अभ्यास ही तत्वज्ञान का संवर्धक और रक्षक है। इसलिए ज्ञान के उपरान्त भेद दृष्टि से किसी अभ्यास में प्रवृत्त होना उचित नहीं है। अभेदनिष्ठा और दृष्टि की दृढ़ता के लिए निरन्तर तत्वस्वरूप का चिन्तन रूप अभ्यास ही उचित है, क्योंकि स्वरूप केवल ज्ञान मात्र है और वह ज्ञान विशेषणों द्वारा गुरु के मुख से प्राप्त होता है। जब तक वह विशेषण आत्मरूप प्रतीत न हों तब तक आनन्द की प्रतीति नहीं होती। जैसे शास्त्रों में लिखा है, आत्म सत्ता सामान कूटस्थ, निर्विकार, आनन्द धन और शुद्ध है। गुरु भी शिष्य को उपदेश करता है, हे शिष्य ! तू सत्ता सामान कूटस्थ और निर्विकार है। शिष्य भी इन वचनों को श्रवण करके निश्चय करता है कि मैं कूटस्थ रूप हूँ। जब तक इन वचनों के अर्थों को अपना स्वभाव न बनावे तब तक ज्यों का त्यों स्वरूप अनुभव नहीं होता। तात्पर्य यह जब कूटवत् स्थित

Scanned with CamScanner

होकर अन्तःकरण की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में समता और निश्चलता का अनुभव न हो, तब तक कूटस्थ की प्राप्ति सिद्ध नहीं होती, इसलिए कूटस्थ के अर्थ को निज स्वभाव करने के लिए अभ्यास करना उचित है, क्योंकि शरीर दिशा में परिच्छिन्न दृष्टि से भेदबुद्धि प्रत्यक्ष रहती है। जब तक भेदबुद्धि निवृत न हो, तब तक अभेद बुद्धि परिपक्व नहीं होती और अभेद बुद्धि बिना स्वरूप दिशा प्राप्त नहीं होती। देह में ममता रखना अति सामर्थ और तत्ववेत्ता बुद्धि का काम है। इसलिए महान बुद्धिमान परिछिन्न दिशा में महान् प्राप्ति के लिए बारम्बार अपने सत्ता सामान, कूटस्थ, निर्विकार, परम गंभीर, नित्यतृप्त और परमानन्द स्वभाव का अभ्यास करते हैं। इस अभ्यास के बल से देह के होते ही विदेह गति प्राप्त होती है। तात्पर्य यह कि सब द्वन्दों में समानता प्राप्त होती है और यही परमानन्द अवस्था है। इस अवस्था के लिए अभ्यास करना उचित है।

प्रश्न ५७—जब पुरुष को सामान्य चेतन का ज्ञान हो आए, उसके उपरान्त उपासना आदि का अभ्यास कुछ फल देता है या नहीं ?

उत्तर—उपासना का फल चित्त की एकाग्रता है। यह सब पुरुषों के लिए अत्यावश्यक है। ज्ञानी ज्ञान के उपरान्त यदि उपासना में प्रवृत रहे तो वह भी एकाग्रता का लाभ उठाता है और अज्ञानी यदि उपासना में प्रवृत रहे तो उसको भी एकाग्रता का फल मिलता है। इसलिए ज्ञानवान यदि ज्ञान के उपरान्त उपासना में अपना समय व्यतीत करें तो उसे ज्ञान की दृढ़ता, चित्त की एकाग्रता, एकान्त, सेवन, मौन, आसन, धारना, उपरति, तितिक्षा और वासना क्षय की सिद्धि प्राप्त होती है। इससे ज्ञान श्रेष्ठ और पूज्य होकर सुखरूप होता है। यदि ज्ञान के उपरान्त साधन से रहित काल को व्यतीत करे तो एकाग्रता, उपरति, शान्ति और एकान्त सेवन का लाभ नहीं उठाता। इसलिए उचित है कि अपने ज्ञान की दृढ़ता के लिए उपासना में प्रवृत रहें। जब संशय, विपर्यय, विक्षेप्ता, चिन्ता और वासना से रहित दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान हो तब साधन से मुक्त होकर सहज अवस्था का आनन्द लें।

॥ भजन ॥ (१)

अंतर बाहर का वरतारा, पावन होना चाहिये।
आचार व्यवहार आहारा, पावन होना चाहिये॥ १॥
दूषित अरु तामस आचार को, पुरुषारथ से दूर करो।
उत्तम शुद्ध स्वभावों का; नित धारण होना चाहिये॥ २॥
अति वर्णाश्रम सत्तामात्री, ज्ञानी मुक्त विराजे है।
देह दिशा में कर्म विवेचन, नित ही होना चाहिये॥ ३॥
निस्संशय समान वरतारा, ज्ञानी को उपयोगी है।
कल्पित कर्मों से उसको, नहीं बन्धन होना चाहिये॥ ४॥
अपने-अपने निश्चय से, हर कोई कर्म को करता है।
निश्चय सत्य सत्ता पर जिसका, सत्जन होना चाहिये॥ ५॥

Scanned with CamScanner

भिन-भिन वर्णाश्रम के कर्मों, धर्मों से मुक्ति चाहते हो।
आतम स्वरूप का निशिवासर; निदिध्यासन होना चाहिये ॥ ६ ॥
करनी समान हो रहनी तव, ज्ञान का फल जानो निश्चय।
तत्वनिष्टी तत्दर्शी **हेमां**, आत्मन होना चाहिये ॥ ७ ॥

॥ भजन ॥ (२)

कल्पित प्रयोग हवन आदिक, कर्मों से शान्ति नहीं आती।
यह कर्म अभिमान भरे मन में, इनसे कभी भ्रांति नहीं जाती ॥ १ ॥
शुभ कर्म दान भजन आदिक, पर सिद्धि निमित्त करे जग में।
इनसे वृति असंग अरु निर्मल, आतम इस्थिति नहीं पाती ॥ २ ॥
सर्व इन्द्रिय विषय अन्त:करण को, आतम ज्ञान की अग्नि में।
भस्मी करना यह सत् हवन; अरु सत् आहुति कहलाती ॥ ३ ॥
ममता न धरे किसी वस्तु में, ईश्वर अर्पण कर दे सब कुछ।
यह यज्ञ यथार्थ है प्यारे, बुध शुद्ध होवे अर तृप्ताती ॥ ४ ॥
सत्चित् आनन्द स्वरूप से मन, नहीं जावे दूसर ओर कभी।
यह सत्य प्रयोग कहावे है, इससे है अविधा विनसाती ॥ ५ ॥
आतम में मगन हो काल अपना, शान्ति से नित्य व्यतीत करो।
भिन-भिन लौकिक कर्मों से बुद्धि, व्यभिचारी हो भरमाती ॥ ६ ॥
इतर मन्त्रों कर्मों पर निश्चय, करने से कुछ सिद्ध न हो।
तुझे मन्त्राधार स्वत: सिद्ध चेतन, पर परतीती नहीं आती ॥ ७ ॥
कल्पित इतिहास कथा अर्चन, पूजन की बालकवत् क्रीड़ा।
मिथ्या अभिमान और संशय में, आयु भर तुझको भटकाती ॥ ८ ॥
वृद्ध पुरुषों वत् आतम इस्थित, निश्चलमति शान्तिरस पावो।
पूरण चिद्धन में 'मग्न रहो', **हेमां** आनन्द हो दिन राती ॥ ९ ॥

॥ भजन ॥ (३)

उत्तम स्वभाव धारण करो, तुम्हें आयु का सुख प्राप्त हो।
ज्ञान आत्मा में उत्पन्न करो, तुम्हें आयु का सुख प्राप्त हो ॥ १ ॥
आतम ज्ञान निमित्त सत्गुरु, उपदेश का श्रवण मनन।
दृढ़ होकर निदिध्यासन करो, तुम्हें आयु का सुख प्राप्त हो ॥ २ ॥
शान्ति और विश्राम नहीं पाता, आतम ज्ञानी उत्तम गुण बिन।
इन दोनों का दृढ़ ग्रहण करो, तुम्हें आयु का सुख प्राप्त हो ॥ ३ ॥
चञ्चलता राग और द्वेष नहीं, हटते हैं केवल ज्ञान से।
दैवी गुण पालन करो तुम्हें, आयु का सुख प्राप्त हो ॥ ४ ॥
नीच मलीन स्वभावों को तुम, निवृत करो पुरुषार्थ कर।
शुभ गुण अपने भूषण कर, तुम्हें आयु का सुख प्राप्त हो ॥ ५ ॥

Scanned with CamScanner

सकल विकार दूर हों याहीं, जीते जी मरना **हेमां**।
अन्तर बाहर पवित्र करो, तुम्हें आयु का सुख प्राप्त हो॥ ६॥

॥ भजन ॥ (४)

साधो देह अध्यास निवारो॥
सकल विकार दुःख की खानी, देह अध्यास संभारो॥ १॥
भय विरोध चिन्ता चंचलता, देह अध्यास अगारो॥ २॥
देह नाशी की हंगता ममता, ज्ञान अग्नि से जारो॥ ३॥
सत्चित् आनन्द पूरण अक्रिय, निज स्वरूप उर धारो॥ ४॥
जड़ मलीन दुःख रूप देह से, तू है सदा नियारो॥ ५॥
चिन्ता द्वेष अरु मन विक्षेप्ता, देहाध्यास परिवारो॥ ६॥
आतम बोध बिना जो कीजे, सो कलेश भण्डारो॥ ७॥
देह भावना ही सब भ्रम है, बन्धन रूप विचारो॥ ८॥
अहं देह जब नाशे **हेमां**, तब ही ब्रह्म अपारो॥ ९॥

॥ भजन ॥ (५)

साधो आत्मार्थभ्यास न छोड़ो॥
आनन्द निधि है आतमचिन्तन, तां में वृत्ति को जोड़ो॥ १॥
ज्यों अभ्यास अधिक अरु दृढ़ हो, त्यों आनन्द घनेरो॥ २॥
निध्यासन को सेवन करके, राग द्वेष दुःख होड़ो॥ ३॥
आतम अन्त पर्यन्त विचारा, रख कर बन्धन तोड़ो॥ ४॥
देहेन्द्रिय की स्वपन सामग्री, तां पीछे नहीं दौड़ो॥ ५॥
नाम रूप शब्दारथ कल्पित, इनसे नित मन मोड़ो॥ ६॥
मैं पूरण चिद्धन सत्ता हूँ, मनन करो निशि भोरो॥ ७॥
हेमराज दृढ़ निध्यासन कर, दुःख न होवे बहुड़ो॥ ८॥

॥ भजन ॥ (६)

तेरे स्वरूप में मन का फुरना, कोई विघ्न नहीं लाता है।
पर विक्षेप्ता से आयु का; नाश सुख हो जाता है॥ १॥
जीवन सुख निमित्त विक्षेप्ता, के सब कारण दूर करो।
चित एकाग्रता प्रापत होवे, जो आनन्द उपजाता है॥ २॥
भिन्न-भिन्न संस्कार शास्त्रों का, श्रवण पाठ विक्षेप करे।
बहु धन्धा बहु संग नरो का, चञ्चल चित्त बनाता है॥ ३॥
मन से मिलकर फुरने विरथा, बारम्बार उठावो मत।
संयम और उपरति से सहजे, मन निश्चलता पाता है॥ ४॥
जन्म मरण से रहित समाधि, उत्थान से तू निर्लेप है।
नित मुक्ता तू शून्य विज्ञाना, क्यों मन तुझे डराता है॥ ५॥

Scanned with CamScanner

तेरे विनोद विलास निमित्त हैं, फुरने और संकल्प सभी।
सब का अधिष्ठान तू ही है, संशय तुझे सताता है॥ ६॥
सत्चित् आनन्द में निश्चय धर, निर्विकल्प तुम रहो सदा।
मन चित्त बुद्धि का साक्षी तू है, हेमां सकल विधाता है॥ ७॥

॥ भजन॥ (७)

साधो सहज समाधि लगाइये॥
जो जो वरते सत् कर मानो, चिन्ता शोक मिटाइये॥ १॥
पाँचों इन्द्रिय बस कर राखो, इत-उत नाहिं डुलाइये॥ २॥
विषयानन्द असार परिणामी, ब्रह्मानन्द समाइये॥ ३॥
भूत भविष्यत् चिन्ता त्यागो, वर्तमान सुख पाइये॥ ४॥
लोक परलोक पछानो कल्पित, नहिं आइये नहिं जाइये॥ ५॥
सर्वोतम दृष्टि सुखदाई, पेख-पेख बिगसाइये॥ ६॥
सर्व पदार्थ दर्पन हरि का, रुच-रुच दर्शन पाइये॥ ७॥
अन्तर बाहिर ब्रह्म पछानो, द्वितीया भाव भुलाइये॥ ८॥
सहिजे जागो सहिजे सोवो, सहजे भोजन खाइये॥ ९॥
सहजे लीजे सहजे दीजे, सहजे कार कमाइये॥ १०॥
सहज शिला पर आसन बांधो, निश्चल ताड़ी लाइये॥ ११॥
अन्तर मुख होय अमृत अचवो, भव जंजाल भुलाइये॥ १२॥
अंजन माहिं निरंजन रहिये, मुक्ति पदारथ पाइये॥ १३॥
बन्ध मुक्ति दोऊ से मुक्ते हेमां सहज समाइये॥ १४॥

॥ इति श्री त्रयोदस सिद्धान्त समाप्तम्॥

★ जीवन मुक्ति सिद्धांत ★

: १४ :

प्रश्न १—मुक्ति क्या हैं ?

उत्तर—सर्व दुःख की निवृति और परमानन्द की प्राप्ति वा सर्व संशयों की निवृति और शांति की प्राप्ति मुक्ति है।

प्रश्न २—मुक्ति कैसे प्राप्त होती है ?

उत्तर—यथार्थ-ज्ञान से। अर्थात् जब अपना, परमात्मा का और जगत का सम्यक् ज्ञान हो जाता है, तब सर्व संशयरूप दुःखों की निवृत्ति होकर शांतिरूप आनन्द की प्राप्ति होती है।

प्रश्न ३—मुक्ति कब प्राप्त होती है ? मरने के पूर्व या पश्चात् ?

उत्तर—जब पुरुष के हृदय में गुरुमुख द्वारा ज्ञान होता है उसी समय मुक्त हो जाता है, क्योंकि मुक्ति अन्तःकरण की अवस्था है और अन्तःकरण प्राण सहित शरीर में रहता है, प्राण रहित शरीर में अन्तःकरण नहीं होता। इसलिए मुक्ति प्राणों के होते ही अर्थात् जीवित ही प्राप्त होती है। तात्पर्य यह कि जिस क्षण में ज्ञानरूप रवि अन्तःकरण में उदय होता है, उसी क्षण मुक्ति धूप की तरह प्रकाशित होती है।

प्रश्न ४—मुक्ति मिली तो क्या लाभ है और न मिली तो क्या हानि है ?

उत्तर—यदि मुक्ति मिली तो दोषों से रहित, क्लेशों से मुक्त, तापों से शुद्ध, संशयों से निर्मल, विकल्पों से निर्विकल्प, भय से निर्भय, कल्पना से अतीत, केवल आनन्द, शान्ति, समता और मुदता सहित आयु व्यतीत होती है। यही लाभ अथवा फल जीवन मुक्ति का है और यदि न मिली तो दुःखों, क्लेशों, तापों, संशयों, विकल्पों, भय और कल्पना सहित आयु व्यतीत होती है।

प्रश्न ५—जिसे पहले से ज्ञान नहीं हैं, उसे क्या करना चाहिए जिससे मुक्ति प्राप्त हो ?

उत्तर—वे ज्ञानवान महात्माओं में श्रद्धा उत्पन्न कर उनकी संगत करें। विवेक, वैराग्य, सम, दम, तितिक्षा और उपरति सहित उनके सत्य उपदेश को सावधानता से श्रवण करें। हृदय में केवल मोक्ष की इच्छा रखें। श्रवण किये वचनों को एकान्त में बैठकर मनन करें। मनन किए हुए वचनों का निदिध्यासन करें। निदिध्यासन के परिपक्व होने पर जब अपरोक्ष अनुभव आत्मा का उदय होगा, तब सब संशय और विकल्प निवृत्त हो जाएँगे। इसी का

Scanned with CamScanner

नाम मुक्ति है; इस रीति से अभ्यास करने वाला पुरुष जीवन मुक्त होकर परमानन्द का लाभ उठाता है।

प्रश्न ६—आनन्द क्या है ? किस तरह प्राप्त होता है ?

उत्तर—चित्त की एकाग्रता का नाम आनन्द है। एकाग्रता अभ्यास करने से प्राप्त होती है। भाव यह है कि जैसे-जैसे स्वरूप का ज्ञान दृढ़ होता है, वैसे-वैसे दूसरे संकल्प विस्मरण होते हैं। जैसे-जैसे संकल्प विस्मरण होते हैं वैसे-वैसे आनन्द प्रकट होता है।

प्रश्न ७—'समता, मुदता, सतता, विद्या, आतम भेट करीजे' इसके क्या अर्थ हैं ?

उत्तर—समता का अर्थ है समान दृष्टि। अर्थात् दुःख सुख, निर्धनता, धन, शत्रु मित्र को समान जानकर एक अवस्था में रहना; हर्ष शोक स्वीकार न करना और सर्व सृष्टि को आत्मरूप जानकर सब में एक जैसा बरतना, सबको एक जैसा देखना, किसी में राग द्वेष न करना और न किसी को विशेष अथवा न्यून समझना।

मुदता अर्थात् प्रसन्नता। तात्पर्य यह कि सर्व अवस्था में प्रसन्नता के बिना और किसी अवस्था को धारन न करना; किसी अवस्था के भाव अथवा अभाव से अपनी वृत्ति को हर्ष अथवा शोक के अधीन न करना; सदा एक रस रहकर परमानन्द का लाभ प्राप्त करना।

सतता अर्थात् सत्य भावना। तात्पर्य यह कि सदैव अपनी बुद्धि को सत्य और निश्चल रखना।

विद्या अर्थात् अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान। इन चार धर्मों को आत्मा के भेंट करना। अभिप्राय यह कि इन चारों धर्मों को अपना धर्म बनाने से आत्म पद की प्राप्ति होती है। आत्मा सम, आनन्द, सत्य और ज्ञान स्वरूप है इसलिए समता, मुदता, सतता और विद्या को बरतना आत्म धर्म, आत्म ज्ञान, आत्म दर्शन और स्थिति के लिए आवश्यक है।

प्रश्न ८—यद्यपि आत्मा नित्य प्राप्त रूप है परन्तु देह का सम्बन्ध ऐसा बलवान है कि देह में समता को धारना और अपने सत्ता सामान में स्थित होना कठिन है, कृपा करके कोई ऐसी युक्ति समझाइए जिससे आत्मा में स्थिति प्राप्त हो ?

उत्तर—जिस प्रकार आत्मा नित्य प्राप्त है, उसी प्रकार समता भी नित्य प्राप्त है और सत्ता सामान्य स्वरूप में भी नित्य स्थित है। देह का सम्बन्ध कोई नहीं, क्योंकि देह कोई वस्तु नहीं। सत्ता सामान्य ही अपने आप में स्थित है। यदि विचार से देखें तो देह समता का स्वरूप है, क्योंकि सब इन्द्रियाँ और अन्तःकरण अपने-अपने धर्म में समान ही स्थित हैं, कदाचित् भेद को स्वीकार नहीं करते। शरीर के दूसरे अंग भी समान रूप से अपने-अपने स्वभाव में स्थित हैं। इसलिए शरीर द्वितीय वस्तु नहीं, सत्ता सामान ही शरीर रूप होकर स्थित हैं, रचक मात्र भेद नहीं है। जब भेद नहीं है तो सम्बन्ध किसका माना जाए? सम्बन्ध सम्बन्धि भाव से रहित, सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद से शून्य, आत्म-अनात्म भाव से शुद्ध, समता-असमता भेद से मुक्त, सामान्य और विशेष भाव से ऊपर, केवल सत्ता मात्र अपने-आप से स्थित है। इस दृष्टि को धारने से सदा समता रहती है और सत्ता सामान में स्थिति प्राप्त होती है।

Scanned with CamScanner

प्रश्न ९—एकान्त देश में स्थिति के क्या अर्थ हैं ?

उत्तर—जहाँ एक का अन्त हो जाता है, ऐसी गम्भीर अवस्था में स्थित होना एकान्त देश में स्थिति है। तात्पर्य यह कि एक और अनेक की कल्पना से रहित होकर निर्विकल्प रहना एकांत देश में स्थिति है। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय और ध्याता; ध्यान, ध्येय आदि त्रिपुटियों से रहित होकर निज स्वरूप में स्थित होना एकांत देश में स्थिति है। मैं, तूं, यह, वह के भेद से रहित जो केवल बोधमात्र अवस्था है उसका नाम एकांत देश है। उसी देश में सदा स्थिति है, परन्तु भ्रांति से उस देश को दूर और कठिन साध्य मानकर अज्ञानी नाना प्रकार के यत्नों और साधनों में प्रवृत्त हो रहा है और रंचकमात्र शांति को प्राप्त नहीं करता। जब यथार्थ-वेत्ता के वचन द्वारा यथार्थज्ञान होता है, तब उस देश को निज देश निश्चय कर यत्न और साधन से रहित निर्विकल्प स्थित होता है, इसलिए यही एकांत देश में स्थिति है। अन्तर और बाहर के भेद से रहित होकर स्थित होना एकांत देश में स्थिति है। अर्थ यह कि अन्तर और बाहर अभेदरूप निश्चय करना, रंचकमात्र भेद न देखना केवल चिदाकाश अपनी महिमा में पूर्ण प्रतीत करना एकांत देश में स्थिति है। इस रीति से अभ्यास करना जीवनमुक्ति के जिज्ञासु को उचित है।

प्रश्न १०—आत्म-अभ्यास के लिए जब हम एकांत देश में बैठते हैं तो अनाहद शब्द सुनाई देता है परन्तु स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—एकांत देश में स्वरूप का अनुभव होता है, परन्तु तुमको उसका ज्ञान नहीं। अनाहद शब्द को जो प्रकाशित करता है, वह स्वरूप है। तात्पर्य यह जिससे शब्द उत्पन्न होता है, जिसके आसरे रहता है और जिसमें लीन होता है और जो इसकी तीनों अवस्थाओं को जानता है, वह स्वरूप है और वही तुम्हारा अपना-आप है। अपने को भूलकर अपनी कल्पना को किसलिए सत्य प्रतीत कर रहे हो ? तुम स्वयं ही स्वरूप हो, अपना अनुभव किसलिए चाहते हो ? तुम्हारा स्वरूप स्वतःसिद्ध और अद्वैत है। उसके लिए साधन वांछित नहीं, नित्य अनुभवरूप है। अनुभव का अनुभव कैसे हो, क्योंकि अनुभव केवल केवलीरूप है और सब का प्रकाशक है। सब उसके प्रकाश्य हैं, प्रकाश्य वस्तु प्रकाशक को कैसे प्रकाशित करें ? प्रकाश्य कल्पित हैं और प्रकाशक सत्य है इसलिए कल्पित वस्तु सत्य को प्रकाशित नहीं कर सकती, क्योंकि स्वरूप के बिना सब कल्पित हैं। इसलिए किसको स्वरूप का अनुभव हो ? यदि कहे स्वरूप को स्वरूप का अनुभव हो तो स्वरूप स्वयं अनुभवरूप है। अनुभव का अनुभव सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि अनुभव अद्वैत है। अद्वैत अनुभव तुम्हारा अपना स्वरूप है और नित्य प्राप्त है। क्यों संशय विपर्यय के अधीन होकर निरर्थक यत्न में प्रवृत हो रहे हो ? यत्न त्यागकर अपने-आप में स्थित रहो। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध होते रहेंगे। इनके साथ तुम्हारा क्या प्रयोजन ? यह भी तुमसे भिन्न नहीं हैं। सर्व ब्रह्मांड अनुभवरूप है, रंचकमात्र भिन्न नहीं। वह अनुभव तुम हो, इसलिए तुम सर्वरूप हो। किसको त्याग करना चाहते हो और किसको ग्रहण करना ? जब तुम आप-ही-आप हो तो ग्रहण और त्याग निरर्थक और असम्भव है, इस दृष्टि को धारकर नित्य ही संतुष्ट रहो।

Scanned with CamScanner

अनाहद शब्द सब शरीरों में होता रहता है। शरीर के अन्दर जो भिन्न-भिन्न नाड़ियां है, उनमें पवन के वेग से निरन्तर शब्द होता रहता है। जब वृति को बाहर के संकल्प से रोककर अन्दर किया जाता है तब स्वाभाविक ही अन्दर का शब्द सुनने में आता है अर्थात् वृति का विषय होता है। वृति को बाहर भी शब्द सुनने का तीव्र अभ्यास है इसलिए वृति अन्दर भी शब्द के साथ तद्रूप हो जाती है। शब्द को त्यागकर शब्द के अधिष्ठान को ग्रहण नहीं करती। जब गुरुमुख द्वारा आत्माकार होती है, तब शब्द को त्यागकर अशब्द में स्थित होती है। तात्पर्य यह विकल्प को त्यागकर निर्विकल्प होती है। यह अवस्था वृति की है आत्मा की नहीं। आत्मा आत्ममात्र है, उसमें ग्रहण और त्याग संभव नहीं होते। सदा समानरूप है, न कभी उदय होता है न अस्त होता है। नित्य स्थित और स्वयं प्रकाशरूप है, किसी से आच्छादित नहीं होता, स्वतःसिद्ध और स्वतःस्वभाव है। स्वरूप तुम्हारा है, ऐसे स्वरूप में निरन्तर स्थित रहो।

प्रश्न ११—हे सुखदाता! वृति के व्यभिचारी धर्मों अर्थात् ग्रहण, त्याग, विक्षेप्ता, एकाग्रता आदि से ऊपर उठकर जीवन मुक्ति का विलक्षण आनन्द कैसे प्राप्त होता है?

उत्तर—हे परमानन्द के जिज्ञासु! ग्रहण और त्याग केवल वृति के कार्य हैं। वृति के अधिष्ठान में इन द्वन्दों की असम्भवता है इसलिए वृति से वृति के कार्य को सिद्ध करना और उस सिद्धि को केवल वृति पर्यन्त देखना बुद्धिमानों की निष्ठा है। यह वृति अधिष्ठान में ऐसे कल्पित हैं जैसे जल में तरंग। जैसे तरंग का ग्रहण जल में दूषण उत्पन्न नहीं कर सकता और तरंग का त्याग जल में गुण उत्पन्न नहीं कर सकता, बल्कि जल तरंग के भाव अभाव और ग्रहण त्याग में समान है। इसलिए जल की दृष्टि यथार्थ है और तरंग की दृष्टि अयथार्थ है। वैसे ही वृति का ग्रहण अधिष्ठान की न्यूनता नहीं करता और वृति का त्याग अधिष्ठान की विशेषता नहीं करता। वृति का ग्रहण और त्याग वृति में हैं। अधिष्ठान वृति के भाव अभाव, ग्रहण और त्याग में समान है इसलिए अधिष्ठान की दृष्टि यथार्थ है और वृति की दृष्टि अयथार्थ है। अधिष्ठान सत्य स्वरूप है और वृति कल्पित है। सत्य स्वरूप में स्थित होना उचित है, वृति को वृति की कल्पना से अधिष्ठान में लीन कर अपने को केवल अधिष्ठान रूप निश्चय करना यथार्थज्ञान है। ऐसे यथार्थ ज्ञान को दृढ़ कर वृति के भाव और अभाव में समता का रस पीते रहना। कदाचित् वृति की चंचलता, विषमता, अनस्थिरता, लयता, विक्षेप्ता, एकाग्रता, अथवा निश्चलता को अपने अधिष्ठान स्वरूप में आरोपित न करना, सब द्वन्दों से रहित केवल केवली भाव स्वरूप में स्थित रहना ही निर्विकल्प अवस्था है। ऐसी अवस्था का दृढ़ अभ्यास कर जीवन मुक्ति के विलक्षण आनन्द का लाभ प्राप्त होता है।

प्रश्न १२—जीवनमुक्ति के जिज्ञासु के लिए जो तत्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय का अभ्यास महात्माओं ने लिखा है, उसका अभ्यास किस रीति से होता है?

उत्तर—तत्वज्ञान से मन और वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं। यदि केवल ज्ञान से शांत न हों, तो ज्ञान के बारम्बार मनन और निदिध्यासन से मन और वासना क्षीण हो जाती है, तत्वज्ञान का स्वरूप स्वयंस्थित अद्वैत वस्तु है। द्वैत न था, न है और न होगा। जब द्वैत ही

Scanned with CamScanner

असिद्ध है, मन और वासना कैसे सिद्ध होंगे ? इसलिए मन और वासना दोनों असिद्ध हैं, केवल सत्तासामान्य अपने आप में स्थित है। सत्ता चेतनरूप है। चेतन के अर्थ सत्ता स्फुरण हैं। फुरना सत्ता का स्वरूप है और नित्य ही सत्ता से अभिन्न होकर अपने स्वभाव में प्रवृत्त रहता है। इसलिए फुरने का नाश कदाचित नहीं होता। मन, वासना और फुरना पर्याय शब्द हैं। फुरना और चेतन भी पर्याय शब्द हैं। इसलिए मन और वासना चेतनरूप हैं, द्वैत वस्तु नहीं है। इस रीति से निरन्तर विचारना और निर्विकल्प होकर स्थित रहना मनोनाश और वासनाक्षय का अभ्यास है। जब अद्वैत ही स्वतःस्वभाव में स्थित है तो मन और वासना भी अद्वैत रूप होने से अपने स्वभाव में स्थित है। वे अपना स्वभाव त्यागकर दूसरा स्वभाव नहीं धारते। इसलिए सदा सत्यरूप है। इस रीति से मन और वासना को अद्वैत और सत्य-रूप निश्चय करने से मन और वासना की भ्रांति नष्ट हो जाती है। इसी का नाम मनो-नाश और वासनाक्षय है। तात्पर्य यह कि तत्वज्ञान की अपरोक्षता और दृढ़ता से मन और वासना की सत्ता का अभाव हो जाता है। केवल अद्वैत वस्तु भेद और प्रच्छेद से रहित प्रतीत होती है। इसलिए इसी दृष्टि का अभ्यास जीवन मुक्ति के जिज्ञासु को उचित है। इसके बिना दूसरे अभ्यास भेद के साधक और अद्वैत दृष्टि के बाधक हैं।

प्रश्न १३—जीवनमुक्ति का आनन्द कैसे होता है ?

उत्तर—जगत के धंधों से रहित पुरुष ही जीवन मुक्ति का पूरा-पूरा आनन्द उठा सकते हैं, नहीं तो पदार्थों में चित्त को फँसाने की शक्ति बड़ी बलवती है। जब तक मनुष्य गृहस्थ, जगत व्यवहार, लौकिक शब्द, राज्य कार्य से असंग होकर अनन्य सत्संग न करे, तब तक परमानन्द का अनुभव ज्यों का त्यों उदय नहीं होता।

प्रश्न १४— ॥ दोहा ॥

हे भगवन्, करुणाभवन, भाखो सम्यक् ज्ञान।
जीवन मुक्ति आनन्द का, होवे अन्तर भान ॥ १ ॥
सत् वस्तु भासे अमल, जामें भेद न भ्रांत।
सकल आरोपित कल्पना, रिद से होवे शांत ? ॥ २ ॥

उत्तर— सत्ता मात्र केवल अमल, निर्विकार चिद्रूप।
भेद अभेद प्रच्छेद शुद्ध, स्वतः स्वभाव अनूप ॥ १ ॥
ऐसे अमल स्वरूप में, लह स्थिति गहो शान्त।
भूले तत् हिंडोर नित, जामें भेद न भ्रांत ॥ २ ॥
अन्तर बाहर अर्ध उर्ध, मैं तू यह ओह भेद।
शब्द मात्र सगरे लखो, शब्द अकाश अभेद ॥ ३ ॥
शब्द मात्र जेतक जगत, सगरो मान अकाश।
सो अकाश नित स्वच्छ है, बिन प्रतिबिम्ब अकाश ॥ ४ ॥

Scanned with CamScanner

तांते एक आकाश है, जांका रूप न रंग।
शून्य मात्र केवल अचल, निरावयव बिन संग ॥ ५ ॥
तांही को आरोप कर, कल्पे अनेक प्रकार।
ब्रह्म जगत अध्यास पुन, अधिष्ठान आधार ॥ ६ ॥
वास्तव कर अद्वैत है, शब्द मात्र है भेद।
शब्द भेद वास्तव नहीं, वास्तव नभ अभेद ॥ ७ ॥
शब्दाकाश पर्याय लख, जैसे भेद अभेद।
तैसे सगरे शब्द लख, रहे न शेष प्रच्छेद ॥ ८ ॥
देइ विदेह समान लख, जीव ईश दोऊ एक।
जगत ब्रह्म पर्याय लख, कल्पित एक अनेक ॥ ९ ॥
ऐसे अति गंभीर हो, बैठो आसन धार।
चीनो निजपद अगम अज, अचल अवाच अपार ॥ १० ॥
सहज अवस्था धारकर, विचरो पवन समान।
रागद्वेष परसे नहीं, चिद्वपु रहो अमान ॥ ११ ॥
मृत्यु दोष से रहित नित, अमर अदोष स्वरूप।
भुञ्चो परमानन्द नित, मंगल रूप अनूप ॥ १२ ॥
निर्भय निर्मम अचल चित्त, निशदिन रहो सुजान।
कायक वाचक खेद से, मानस खेद न मान ॥ १३ ॥
सत्य वस्तु तत् रूप अज, अभय अशोक अनाम।
हेमराज नित्य स्वस्थ इक, अगम अपार अकाम ॥ १४ ॥

प्रश्न १५—जगत में सुखी कौन है ?

उत्तर—जगत में वही पुरुष सुखी है जो अपना स्वभाव शास्त्रानुसार उत्तम और शुद्ध बनाता है। आत्म ज्ञान के बल से शरीर के अभिमान से रहित होकर अपना समय बिताता है। सर्व लौकिक रीतियों को केवल कपोल कल्पना मानकर चित्त से भुलाता है। धन, स्त्री, पुत्र को स्वप्न पदार्थ के समान निश्चय कर अपने आत्मा में तृप्ति पाता है। किसी विषय की ओर अपने चित्त को नहीं लगाता। गम्भीर, मुदित, उपरत, संतुष्ट, तृप्त चित्त और निन्दा स्तुति से मौन होकर सर्वात्म दृष्टि का आनन्द मनाता है। सब संशयों से रहित होकर अचल सिहासन पर आसन जमाता है। ऐसा पुरुष जीवनमुक्त कहा जाता है; उचित है कि सर्व जिज्ञासु इस अवस्था के लिए यत्न करें जिससे मनुष्य जीवन सफल हो।

प्रश्न १६—जीवन में शान्ति, निर्विकल्पता, गम्भीरता, आनन्द और समता प्राप्ति के लिए संसार में कैसे रहें ?

उत्तर—संसार प्रवाह रूप से अपने स्वभाव में स्थित है। कोई पदार्थ व कार्य नवीन अथवा आश्चर्यमय नहीं है। केवल नाम और रूप की विलक्षणता से अनेकता और विचित्रता प्रतीत हो रही है अन्यथा अद्वैत वस्तु अपने-आप में स्थित है। नाम रूप केवल मन में स्थित

Scanned with CamScanner

है और मन अद्वैत वस्तु में तरंगवत् है। तरंग जल से भिन्न नहीं होती, इसलिए नाम रूप भी अद्वैत रूप हैं। ऐसी दृष्टि से तत्ववेत्ता अपना दर्शन स्वयं करता है। यही दृष्टि उत्तम और धारने योग्य है। नामरूप का निश्चय चित्त को चंचल करता है और अद्वैत वस्तु का निश्चय चित्त को निश्चल करता है। चंचलता में दुःख हैं और निश्चलता में सुख है। इसलिए परावर-दर्शी बुद्धिमान अद्वैत निष्ठा को धारकर सुख का लाभ ले और सदा निश्चलमति रहकर मौन और गम्भीर जल की तरह आयु व्यतीत करे।

बाह्य पदार्थों में भी कल्पना का अभाव है और अन्तर आत्मा में भी कल्पना का अभाव है। केवल मध्य में अज्ञान में नाना प्रकार की कल्पना से स्वप्न लोक की भाँति संसार का अखाड़ा लगाया है। जब अज्ञान ज्ञान में बदल जाता है, तब अन्तर और बाहर की तरह मध्य में भी कल्पना का अभाव प्रतीत होता है। केवल चिदाकाश अन्तर बाहर दृष्टि में आता है और सर्व कल्पना भी आकाश रूप प्रतीत होती है। आकाश का अर्थ शून्य है। शून्य कुछ नहीं को कहते हैं। इसलिए सर्व कल्पना कुछ नहीं प्रतीत होती हैं। जब सर्व कल्पना का अभाव निश्चय हुआ, उसके उपरान्त जो अनुभव होता है वह शब्द और अर्थ से परे, मन, चित्त, बुद्धि अहंकार की कल्पना से मुक्त, जीव, ईश्वर, ब्रह्म, चेतन आदि संज्ञाओं से अतीत, केवल केवली भाव निज स्थित है। ऐसी अवस्था को अनुभव कर पुरुष कृत-कृत्य होता है। इसलिए सब जिज्ञासु इस दृष्टि का अभ्यास करें। जो कुछ पाँच इन्द्रियों से ग्रहण होता है और जो कुछ चतुष्टय अन्तःकरण का विषय होता है, सबका विस्मरण कर जो शेष रहे, वही स्वरूप है। उसी में स्थिति का अभ्यास करते रहें कि सदा निश्चलता और शान्ति रहे।

प्रश्न १७—उपनिषद् में लिखा है कि जब तक तीन अवस्थाएँ हैं तब तक ब्रह्मज्ञान नहीं होता। यह बड़ा कठिन है। शरीर के होने पर तीन अवस्थाएँ किस प्रकार निवृत हों?

उत्तर—उपनिषद् में जो लिखा है, वह यथार्थ है। उसके तात्पर्य यह हैं कि जब तक अवस्था का ज्ञान रहता है, तब तक ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि अवस्था प्रच्छिन्न है और ब्रह्म पूर्ण है। प्रच्छिन्न के ज्ञान से पूर्ण का ज्ञान नहीं होता, जब प्रच्छिन्नता निवृत्त हो जाती है, तब पूर्णता प्रतीत होती है। प्रच्छिन्नता की निवृति यथार्थ ज्ञान से होती है। यथार्थ ज्ञान यह है कि अद्वैत वस्तु स्वयं स्थित है। न शरीर है और न शरीर की अवस्था है, केवल अद्वैत वस्तु है। अद्वैत वस्तु के अज्ञान से जो शरीर भासता है, उसके संग से तीन अवस्थाओं का भ्रम हो गया है। वास्तव में देखें, अवस्था एक है, तीन नहीं, क्योंकि एक ही चेतन सत्ता स्फुरण रूप होकर जागृत और स्वप्न होती है। इसलिए एक ही चेतन जागृत, स्वप्न और सुषुप्तिरूप है और वही चेतन शरीररूप है। चेतन के बिना शरीर और शरीर की अवस्था बाँझ के पुत्रवत् अत्यन्त अभावरूप हैं। जब ऐसा यथार्थ ज्ञान उदय होता है तब शरीर के होने पर भी शरीर नहीं रहता और अवस्था के होने पर अवस्था नहीं रहती। केवल चेतन सत्ता अपनी महिमा में पूर्ण प्रतीत होती है। यही ब्रह्मज्ञान है।

किसी वस्तु को नष्ट नहीं करना और न कोई वस्तु नष्ट हो सकती है, क्योंकि सब सत्य है। केवल यथार्थ ज्ञान से जिस प्रकार है उसी प्रकार समझना है, उस समझ के बल से जो

Scanned with CamScanner

मिथ्या ज्ञान भ्रांति का कारण, क्षोभ का निमित्त और बंधन का हेतु होता है निवृत होकर यथार्थ वस्तु ज्यों की त्यों प्रतीत होती है।

शरीर चेतन का विवर्त और विलास है। जैसे तरंग जल का विलास है और अवस्था शरीर का कलोल है। जैसे तरंग का कलोल उभरना और लीन होना है इसी प्रकार शरीर और अवस्था दोनों चेतन का विलास हैं। यह सदा इसी प्रकार रहते हैं। चेतन नाम सत्ता स्फुरण का है और सत्ता स्फुरण निरन्तर अपने स्वभाव में स्थित है। इसलिए शरीर और शरीर की अवस्था चेतन का स्वभाव होने से इसी प्रकार रहेंगे। इनके नाश करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता और न यह नाश हो सकते हैं। केवल यही निश्चय करना है कि सब ही चेतनमात्र है और फिर इस निश्चय को ऐसा परिपक्व करना है कि कदाचित् संशय और विपर्यय की उत्पत्ति न हो।

प्रच्छिन्नता भ्रांति का कारण है और पूर्णता शान्ति का कारण है। प्रच्छिन्नता पूर्णतः से भिन्न नहीं है तथापि प्रच्छिन्नता पूर्णतः को आच्छादित कर अपनी विचित्रता और अनेकता प्रकट करती है। वही विचित्रता भ्रान्ति का कारण होकर अल्पबुद्धि को पूर्णता के ज्ञान से अज्ञात रखती है। जैसे तरंग की दृष्टि जल को आच्छादित कर अपना आप प्रकट करती है। यद्यपि तरंग जल से भिन्न नहीं है तथापि अपनी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं से जल के नाना रूपों को प्रतीत कराने का हेतु है। जब यथार्थदर्शी तरंग को और तरंग की भिन्न-भिन्नअवस्थाओं को केवल जलरूप देखता है, तब सब संशयों और भ्रमों से रहित होकर तरंगों के होने पर भी जल को अद्वैत देखता है। वैसे ही यथार्थ ज्ञानी जब शरीर और शरीर की प्रच्छिन्न रूप अवस्थाओं को चेतन रूप निश्चय करता है, तब शरीर और जागृत, स्वप्न सुषुप्ति अवस्थाओं के होने पर भी सत्य वस्तु को अद्वैत रूप देखता है। यही यथार्थज्ञान है। इसे उपनिषद् में ब्रह्मज्ञान लिखा है।

प्रश्न १८—"तीन अवस्था सम भईं, जीवनमुक्ति है सोय" इसके क्या अर्थ हैं?

उत्तर—जब यथार्थज्ञान से प्रतीत हुआ कि मैं ही जाग्रत रूप हूँ, मैं ही स्वप्नरूप हूँ और मैं ही सुषुप्ति रूप हूँ, तब त्रिपुटी से रहित होकर केवल केवली रूप होता है। इसलिए यही जीवन मुक्त अवस्था है। यह निश्चय पूर्ण ज्ञानवान का है, क्योंकि ज्ञानी रंचकमात्र भी अपने से भिन्न न जानता है और न देखता है। जैसे सूर्य प्रातः मध्याह्न और सायंकाल को अपना स्वरूप देखता है, तात्पर्य यह कि तीनों कालों में सूर्य समान प्रकाशरूप रहता है इसलिए सूर्य की दृष्टि में तीनों काल सम हैं, वैसे ही ज्ञानवान जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति में समान रहता है इसलिए ज्ञानवान की दृष्टि में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति सम है। ज्ञानवान का स्वरूप केवल स्वयं प्रकाशरूप ज्ञान है और ज्ञान ही तीनों अवस्था रूप है और नित्य ही समान है। इसलिए तीनों अवस्थाएँ भी समरूप हैं। यह अर्थ हैं।

प्रश्न १९—तत्वदर्शी देह सम्बन्धी भविष्यकाल के कर्म को किस रीति से सिद्ध करते हैं और किस दृष्टि से भविष्यकाल की चिन्ता से अचिन्त रहते हैं?

उत्तर—गमन आगमन, ग्रहण त्याग आदि कर्मों का आधार देह और प्राणों का संयोग

Scanned with CamScanner

है। वह सदा अनित्य और क्षणभंगुर है, इसलिए सत्यवादी तत्वदर्शी सत्यधर्म के नियमानुसार किसी आगामी कर्म का संकल्प करना उचित और न्यायपूर्वक नहीं समझते। वर्तमान में स्थित रहकर जैसा कर्म देश, काल वस्तु के अनुसार प्राप्त हो; उसमें कर्ता भोक्ता बुद्धि से रहित प्रवृत होते हैं और सदैव ही अपने सत्य स्वरूप, सत्य स्वभाव, सत्य धर्म, सत्य संकल्प, सत्य वचन और सत्य कर्म में स्थित रहते हैं। लज्जा और भय से मुक्त होकर यथार्थ रीति से अपना निर्वाह करते हैं। भविष्य काल को कल्पित निश्चय कर उसकी चिन्ता से मुक्त रहते हैं, क्योंकि जो काल व्यतीत होता है वह वर्तमान काल होकर व्यतीत होता है। वर्तमान को त्यागकर भूत और भविष्यत् का स्वरूप और कोई नहीं। जब वर्तमान ही वर्तमान है तो चिन्ता करना उचित नहीं, इसलिए तत्वज्ञ सर्व भविष्य कर्मों की चिन्ता और यत्न से मुक्त रहकर वरिष्ठ जीवनमुक्ति का आनन्द प्राप्त करता है। यत्न और पुरुषार्थ को त्यागकर सहज अवस्था के हिंडोरे में झूलता है। भूत और भविष्य को वर्तमान में लीन करता है और वर्तमान को अपने सत्यस्वरूप में लीन कर केवल आप ही आप रहता है। इस रीति से कर्म, कर्म की चिन्ता, कर्म के यत्न, कर्म के कर्ता और भोक्ता से मुक्त होकर शरीर के होते ही अशरीर, क्रिया के होते ही अक्रिय और आकार के होते ही निराकार के सिंहासन पर विराजमान रहता है।

स्वाभाविक कर्म अकर्म के समान है और यत्न सिद्ध व इच्छाधीन कर्म संस्कार द्वारा राग-द्वेष का हेतु है। इसलिए ज्ञातज्ञेय स्वाभाविक क्रिया पर संतुष्ट रहकर यत्न सिद्ध क्रिया का त्याग करते हैं। स्वाभाविक कर्म में भी वे कर्म के कर्ता, और कर्ता के फल से अज्ञात होकर आकाशवत् अचल, निर्मल, असंग और स्वच्छ रहते हैं। इस रीति से तत्वदर्शी भविष्यकाल के कर्म और कर्म की चिन्ता से मुक्त होकर आत्मानन्दी रहते हैं।

तत्वदर्शी किसी धर्म, कर्म, शास्त्र इतिहास और वचन में नास्तिक व आस्तिक बुद्धि को नहीं रखते। सबको अधिष्ठान आत्मा में कल्पित देखकर स्थित रहते हैं। तात्पर्य यह कि अधिष्ठान रूप होकर रहते हैं। जैसे जल के चलने से तट नहीं चलता, वैसे ही कर्म, धर्म, और वचन के उत्पन्न नाश और व्यभिचारी होने से अनुभव रूप अधिष्ठान चलायमान नहीं होता। सब मनोराज, चिंतन, निश्चय, संकल्प, ज्ञान, विद्या, कर्म, धर्म शास्त्र, वेद पुराण इतिहास और अनन्त वचन अनुभव रूप धरती के ऊपर जलवत् अपने प्रवाह में स्थित हैं। सबका आदि भी अनुभव है और अन्त भी अनुभव है। आदि और अन्त मानो दो तट हैं और मध्यभावी जलवत् नाना प्रकार के संस्कार रूप कर्म और वचन हैं। इसलिए उनकी प्रवृत्ति से अधिष्ठान रूप अनुभव में प्रवृत्ति का प्रवेश नहीं हो सकता। इसलिए अनुभव सामान्य रूप ज्यों का त्यों अखंड आप में आप है, क्योंकि तत्वदर्शी अपने को अनुभव रूप जानता है इसलिए सर्व कर्मों, धर्मों और वचनों के भाव और अभाव से उल्लंघित होकर अपनी स्थिति और समानता में रहता है, यही दृष्टि यथार्थ और सत्य है।

प्रश्न २०—मन के निरोधकाल में अर्थात् निर्विकल्प समाधि में ज्ञानी को अस्फुरण अवस्था आत्म-स्वरूप व सामान्य चेतन भासता है और देह आदि बाह्य पदार्थ प्रतीत नहीं

Scanned with CamScanner

होते हैं। वह अवस्था सर्वदा होनी चाहिए। यदि सर्वदा वैसी अवस्था रहे तो देह आदि बाह्य पदार्थ त्रिपुटि सहित प्रतीत होंगे अथवा नष्ट होंगे ? यदि त्रिपुटी नष्ट न होगी तो सदैव निर्विकल्प समाधि किस प्रकार सिद्ध होगी ? तात्पर्य यह कि त्रिपुटि सदैवकाल निवृत्त होनी चाहिए अथवा समान देह आदि व्यवहार में त्रिपुटि प्रवृत्त होनी चाहिए ?

उत्तर—निर्विकल्प अवस्था नित्य ही प्राप्त रूप है, क्योंकि आत्मा निर्विकल्प है और आत्मा निज स्वरूप होने से सदा प्राप्त रूप है। उसकी प्राप्ति के लिए किसी प्रकार का यत्न उचित नहीं किन्तु आत्मा की नित्य प्राप्ति ज्ञान के लिए यत्न वांछित है। जब श्रुति सम्बन्धी महावाक्य से यह ज्ञान होता है कि मैं निर्विकल्प, कूटस्थ, निर्विकार, अजर अमर आत्मा हूँ तब त्रिपुटी भी आत्मरूप प्रतीत होती हैं। आत्मज्ञानी की दृष्टि में द्वैत रंचकमात्र नहीं रहता। यदि श्रवण के बाद भी आत्मस्वरूप में असम्भावना और विपरीत भावना उदय हो व देह आदि बाह्य पदार्थ की प्रवृत्ति काल में राग-द्वेष आदि प्रतीत हों, तब मनन और निदिध्यासन में तद्रूप होकर पूर्वोक्त दूषणों से मुक्त रहें। जब निरावरण अर्थात् संशय विपर्यय रहित अपरोक्ष अनुभव आत्मा का होता है, तब सब नामरूप का अभाव होकर केवल अस्तिरूप सामान चेतन निश्चित होता है। जब सामान्य चेतन का दर्शन होता है, तब देह आदि बाह्य पदार्थ नहीं भासते। केवल अस्तिरूप सामान्य चेतन ही भासता है। तात्पर्य यह कि सब नाम रूप पदार्थ अपने-अपने धर्मों, कर्मों और स्वभावों सहित अस्तिरूप सामान्य चेतन भासते हैं और अपना स्वरूप भी सामान्य चेतन भासता है। जब अन्तर बाहर के भेद के बिना केवल सामान्य चेतन ही सिद्ध हैं, तब त्रिपुटी की कल्पना किस प्रकार हो ? जब त्रिपुटी ही असिद्ध है तब उसकी प्रवृति अथवा निवृति का प्रसंग भी अयुक्त हैं; केवल अस्तिमात्र है। जब ऐसा यथार्थ दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान होता है, तब स्वाभाविक ही निर्विकल्प अथवा सहज अवस्था रहती है; देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण और प्राण अपने-अपने धर्मों और स्वभावों में बरतते हैं परन्तु तत्वदर्शी को उनकी भिन्न-भिन्न चेष्टा में किसी प्रकार का विकल्प नहीं होता, सदैव समान अवस्था में स्थित रहता है। जब ऐसी अनूप, अकृत्रिम, स्वतः सिद्ध और पावन अवस्था प्राप्त होती है तब देश काल वस्तु, कर्ता, कर्म, क्रिया, ज्ञाता, ज्ञान ज्ञेय की अपेक्षा से रहित सामान्य और विशेषभाव से शून्य ग्रहण त्याग की कल्पना से मुक्त, सविकल्प और निर्विकल्प भेद से परे, समाधि और उत्थान से शुद्ध, निरोध और विक्षेप से ऊपर केवल केवलीरूप होता है।

प्रश्न २१—अभ्यास करना उचित है या नहीं ?

उत्तर—अभ्यास स्वतः हो रहा है परन्तु करने वाले को निश्चय नहीं। जब तुम स्वयं ही सत्चित्आनन्द रूप हो तो फिर अभ्यास किसका करना चाहते हो ? तुम्हारा स्वरूप नित्य प्राप्त है, इस निश्चय को परिपक्व करना ही अभ्यास है।

प्रश्न २२—सत्चित्आनन्द का स्वरूप के साथ क्या सम्बन्ध है, और किस प्रकार सत्चित आनन्द की प्राप्ति होती है ?

उत्तर—शास्त्रकार आत्मा को सत्चित्आनन्द कहते हैं। इसलिए यह तीन विशेषण

Scanned with CamScanner

आत्मा के हैं; वास्तव में इनका प्रवेश स्वरूप में नहीं है, क्योंकि यह स्वयं कोई वस्तु नहीं हैं, केवल अक्षर हैं, इनके अर्थ को वास्तवस्वरूप निश्चय करना यथार्थ ज्ञान है। अर्थ ज्ञान के बिना सत्‌चित् आनन्द कहीं दृष्टि नहीं आते, इसलिए विज्ञानी महात्मा सत्य के अक्षर को विस्मरण कर सत्य के अर्थ को अपना स्वरूप प्रतीत करते हैं, इसी प्रकार चित् के अक्षर को विस्मरण करके चित्ता के अर्थ को अपना आत्मा मानते हैं, इसी प्रकार आनन्द के अक्षर को विस्मरण करके आनन्द के अर्थ को अपना स्वरूप निश्चय करते हैं; तीनों अक्षरों के अर्थों से जो ज्ञेय होता है, उसको अपना आप निश्चय करते हैं और फिर अपने आप में स्थित होकर अपनी परम विभूति का दर्शन करते हैं। इस रीति से विज्ञानी और परावरदर्शी तत्ववेत्ता सहज, शांति, एकाग्रता, गम्भीरता, मुदता, समता और तृप्ति सहित ब्रह्मभूत अवस्था में विराजमान रहते हैं। शब्द और अर्थ को अपने स्वरूप में लीन कर शुद्ध और स्वच्छ रहते हैं। सब अवस्थाओं को अपनी अवस्था निश्चय कर स्वस्थ और आनन्दरूप रहते हैं; यही अवस्था ही सत्‌चित् आनन्द की प्राप्ति है।

प्रश्न २३—अभेद मन्ता ज्ञानी की सेवा, पूजा, भक्ति और समाधि क्या है?

उत्तर—मैं चिदाकाशरूप हूँ, देह नहीं हूँ इसलिए सदा अभेद रूप हूँ। इस प्रकार अपने को ज्यों का त्यों निश्चय करना और अपने को अन्तर, बाहर, ऊपर-नीचे, आगे-पीछे अभेद देखना और सबको अपने में लीन करके सुखी रहना, अभेद ज्ञानी की परम सेवा, परम-भक्ति और परम पूजा है। जहाँ होना आप में होना, अपने से बाहर न होना, अल्प दृष्टि से किसी में अन्तर न देखना। महत् दृष्टि से अन्तर से रहित निरन्तर ही अपने आप में स्थित रहना अभेद ज्ञानी की परम समाधि है।

प्रश्न २४—अभ्यास के समय ऐसा प्रेम और आनन्द उदय होता है कि मन उठने की इच्छा भी नहीं करता, और उस अवस्था में न मैं रहती है और न तू, न कोई शब्द होता है और न कोई स्वरूप भासता है। यह अवस्था परमानन्द रूप है अथवा ईश्वर रूप?

उत्तर—यह अवस्था परमानन्द रूप है, ईश्वर रूप नहीं, क्योंकि ईश्वर मन की कल्पना है। इस अवस्था में मन शान्त अवस्था को प्राप्त हो जाता है। इसलिए यह अवस्था परम निर्वाण, परम सुख, परम आनन्द और परम शांतरूप है, इसी का अभ्यास आत्म जिज्ञासु और ज्ञानी को करना चाहिए।

प्रश्न २५—जीवित में मृतक होने के क्या अर्थ हैं?

उत्तर—देह अध्यास की निवृत्ति। अर्थ यह कि मनरचित सब पदार्थों की मनौत और प्रतीत से शुद्ध होकर केवल समान सत्ता में स्थित रहना, कदाचित् विशेष अवस्था के साथ तद्‌रूप होकर अपने को विशेषरूप अर्थात् जीवरूप निश्चय न करना। नित्य ही अपने को समान, अखंड, निर्विकार, चिदाकाश, निराकार, निष्कलंक और अविनाशी देखना। शरीर के होने पर शरीर को समान पंचभूतरूप प्रतीत करना। अल्पज्ञता, दीनता, भय, शोक, चिन्ता, प्रच्छिन्नता आदि देह संयोग से जीवन में मृतक होना है। विशेष स्वभाव से मुक्त होकर केवल सत्तासामान और परम आनन्द रूप स्थित रहना।

Scanned with CamScanner

प्रश्न २६—प्रच्छिन्न व्यक्ति में तत्वज्ञ की क्या दृष्टि और अवस्था रहती है ?

उत्तर—तत्वज्ञ की दृष्टि में आनन्द समुद्र चेतनता रूपी पवन से अपनी लीला में नित्य स्थित है। इसलिए उसमें शोक, रोग, चिन्ता, दीनता, प्रार्थना और आशीर्वाद का अत्यन्ता-भाव है। आनन्द की लीला आनन्द रूप होती है। यद्यपि वह लीला व्यक्ति के स्वरूप में विकारी प्रतीत होती है तथापि वह विकार भी आनन्द समुद्र से भिन्न नहीं हैं। इसलिए तत्वज्ञ सर्व आरोपित भावना को त्यागकर गंभीर और स्वच्छन्द रहता है।

एक ही सागर के तरंग अहं, त्वं वा वक्ता-श्रोता भाव को धार अपने विनोद के लिए अपने अधिष्ठान की कथा करते हैं। उस कथा के बल से भेद के होने पर अपने को अभिन्न देखते हैं। यद्यपि तरंग भाव में नाना कल्पना प्रतीत होती है, तथापि अधिष्ठान दृष्टि सब कल्पनाओं से रहित नित्य शुद्ध है। ऐसी पावन और गम्भीर दृष्टि को धार तत्वज्ञ प्रच्छिन्न व्यक्ति के होने पर अप्रच्छिन्न अव्यक्त गति में स्थित रहता है। इसलिए सर्व मनरचित व कपोल-कल्पित संज्ञा से अतीत है।

प्रश्न २७—महापुरुष देह संयोग के होने पर विदेह गति कैसे प्राप्त होते हैं ?

उत्तर—यह जगत केवल शब्द का विलास है। भिन्न-भिन्न शास्त्र, मत, पंथ, समाज, कर्म, उपासना, ज्ञान, लोक, गति, मोक्ष-मार्ग और भिन्न-भिन्न निष्ठा केवल शब्द मात्र हैं। शब्द के बिना इनका कुछ स्वरूप सिद्ध नहीं होता। और जितना भेद और प्रच्छेद इस जगत में प्रसिद्ध होकर वाद-विवाद अथवा खंडन-मंडन का कारण हो रहा है वह शब्द पर्यन्त है। शब्द के बिना इनकी सिद्धि नहीं होती, क्योंकि परावरदर्शी, महाबुद्धिमान, सर्व धार्मिक, व्यवहारिक, लौकिक, पौराणिक, वैदिक शब्दों को कपोल कल्पित निश्चय करके अशब्द रूप अधिष्ठान में स्थित रहते हैं। इसलिए देह-संयोग के होते ही विदेह गति को प्राप्त रहते हैं।

शब्द चार प्रकार का है, परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। इनमें से परा निर्विकल्प है, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी सविकल्प हैं। वास्तव में देखें तो सविकल्प पश्यन्ती, मध्यमा और वैक्षरी निर्विकल्प रूप परा में अध्यस्त हैं, केवल निर्विकल्प परा ही सत्य और यथार्थ है। संसार में जितना वाद-विवाद मत-मतान्तर हो रहा है, वह सब पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी में है। तात्पर्य यह कि पश्यन्ती से विकल्प की उत्पत्ति होती है, मध्यमा से विकल्प परिपक्व होकर वैखरी द्वारा प्रकट होता है। इनमें पश्यन्ती को मन, मध्यमा को प्राण और वैखरी को वाणी कहते हैं। इसलिए सब वाद-विवाद मन, प्राण और वाणी में हैं। मन, प्राण और वाणी तीनों ही कल्पित और अध्यस्त हैं तथा सब मत, मार्ग, पंथ, उपासना, योग, कर्म, शास्त्र, वेद, ज्ञान समाधि आदि इन तीनों में कल्पित हैं। इसलिए सब मत आरोपित और कल्पित हैं। केवल निर्विकल्परूप परा यथार्थ है। परा सब की आत्मा होने से स्वतःसिद्ध और नित्य प्राप्त है। पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी से सिद्ध आत्मा होने से यत्नसाध्य और अप्राप्तरूप है। चार वेद, षट् शास्त्र, अठारह पुराण और उनके अनुयायी मत पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, रूप होने से कल्पित और अध्यस्त हैं। इसलिए सब ही अनात्मा हैं, अनात्म वस्तु आत्मा में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखती, केवल कल्पनामात्र ही रहती है। इसलिए

Scanned with CamScanner

आत्मवेत्ता निर्विकल्प रूप परा में स्थित होकर सब कल्पित साधनों, युक्तियों, यत्नों और फलों से निष्काम और मुक्त रहते हैं। अनात्मवेत्ता सविकल्परूप पश्यन्ती अर्थात् मन, प्राण और वेद आदि वाणी में स्थित होकर नाना प्रकार के दुःसाध्य और प्रकृति विरुद्ध यत्नों और साधनों में प्रवृत्त रहते हैं। वांछित फलरूप परिपक्वता या निर्विकल्पता को न पाकर प्रणांतपर्यन्त यत्न में लगे रहते हैं। कदाचित् कृतकृत्य होकर तृप्त नहीं होते। संसार में सब मनुष्य त्रिपुटी में बंध कर कपोलकल्पित वाद-विवाद में और मन रचित फलों में आसक्त होकर स्वतःसिद्ध और नित्य प्राप्तरूप अवस्था का रस नहीं भोगते। इसलिए अविद्या के साधन वन में गीदड़ों की तरह शब्द के पीछे मतवाले होकर व्यर्थ शब्द में पड़े रहते हैं। इसीलिए कहा गया है कि जगत केवल शब्द का विलास है। वास्तव में अशब्द रूप परा स्वयं स्थित है। इसी दृष्टि को धारकर महापुरुष देह संयोग काल में विदेह गति को प्राप्त होते हैं।

प्रश्न २८— **॥ चौपाई ॥**

कौन देश बसे तत्वज्ञानी, जाँ में पावे पद निर्वाणी।
जहाँ खेद रंचक नहिं भासे, केवल ब्रह्मानन्द प्रकाशे॥

उत्तर—

अगम, अगाध अपार अरुपं, उपमा रहित अवाच अनूपं।
अचल, अनादि, अखण्ड अडोलं, अलख अलेख अमोल अतोलं॥ १॥
ऐसे देश बसे तत्वज्ञानी, केवल रूप सदा निर्वाणी।
यही देश जहाँ क्षोभ न भासे, यही देश जहाँ संशय नाशे॥ २॥
यही देश जहाँ भूले काया, यही देश जहाँ नाशे माया।
यही देश जहाँ भूले रामा, यही देश जहाँ बिसरे नामा॥ ३॥
यही देश जहाँ काल न आवे, मन तन का नहिं रोग दुखावे।
यही देश जहाँ जन्म न मरणा, यही देश जहाँ वृद्ध न तरुणा॥ ४॥
यही देश जहाँ कर्म न कर्ता, यही देश जहाँ धरन न धरता।
यही देश जहाँ भव दुःख नाशे, केवल ब्रह्मानन्द प्रकाशे॥ ५॥
ऐसे देश विराजो सब ही, कृत कृत्य विगसो गद्‌गद् ही।
यही देश हेमां निज धामा, लीन होय पावो विश्रामा॥ ६॥

प्रश्न २९—जीवन मुक्ति के विलक्षण आनन्द का क्या स्वरूप है?

उत्तर—तीन ताप, तीन क्लेश, त्रिधा वासना, तीन गुण और पाँच दोषों से रहित चित्त की जो सम अवस्था है, जिसमें रंचकमात्र भी संसार का लेश नहीं है, केवल शांतरूप निर्विघ्न अवस्था है, वही ब्रह्मानन्द रूप जीवन मुक्ति का विलक्षण आनन्द है।

प्रश्न ३०—ऐसी अवस्था की प्राप्ति किस साधन से होती है?

उत्तर—वैराग्य, बोध और उपरति को समकाल सेवन करने से ऐसी निष्कलंक मंगल रूप अवस्था प्राप्त होती है।

प्रश्न ३१—वैराग्य का क्या स्वरूप है और जीवन मुक्ति के विलक्षण आनन्द की

Scanned with CamScanner

प्राप्ति में इसके साधने से क्या फल मिलता है ?

उत्तर—सर्व मनरचित प्रपंच का त्याग वैराग्य है तात्पर्य यह कि मन रचित किसी पदार्थ में सत्य प्रतीत से राग न हो। सब को कल्पित निश्चय कर चित्त से ऐसा भुलावे कि चित्त अचित्त होकर ब्रह्मानन्द का अधिकारी हो। सर्वदा सावधान होकर वैराग्य का ऐसा सेवन करें कि हिरण्यगर्भ का ऐश्वर्य भी असार और परिणामी जान चित्त को न लुभावे। अष्ट प्रकार की सिद्धि कपोलकल्पित बालकों का खेल प्रतीत होकर चित्त को न सुहावे। मान, प्रभुता, जगत की चतुराई केवल बंधनरूप समझकर चित्त को अपनी ओर न लगावें। भूत और भविष्यकाल की स्मृति और चिन्ता विस्मृति कुण्ड में समावें। सब ओर से चित्त का वेग निवृत्त होकर निर्द्वन्द हो जाये, तब निश्चय करे कि वैराग्य सेवन का फल प्राप्त हुआ है।

प्रश्न ३२—ज्ञान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—आत्मा को तीन शरीर, तीन अवस्था, तीन अभिमानी, तीन देश, तीन गुण, तीन काल, पंचकोष, कर्ता, कर्म, क्रिया आदि त्रिपुटियों से रहित, सजातीय, विजायतीय, स्वगत, भेद से असंग केवल सत्‌चित् आनन्दरूप निश्चय करना ज्ञान है।

प्रश्न ३३—उपरति का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—सर्व अनात्म वृतियों से उपरत रहना और अनात्मसेवी पुरुषों के संग से दूर रहना उपरति है।

प्रश्न ३४—इन तीनों का समकाल सेवन का साधन किस रीति से होता है ?

उत्तर—वैराग्य से सर्व भूत भविष्य के चिंतन को त्याग करना; उपरति से चित्त को सर्व अनात्म पदार्थों की चिंतन से उपरत रखना और ज्ञान द्वारा वास्तव स्वरूप का चिंतन करना। भाव यह कि जिस समय चित्त भूतकाल की स्मृति करे, उसी समय वैराग्य द्वारा उसका त्याग करना। जिस समय भविष्य काल की चिन्ता चित्त को क्षुब्ध करे, उसी समय उपरति से उस चिन्ता से दूर रहना; इन दोनों काल की कल्पना से रहित होकर ज्ञान द्वारा अपने यथार्थ स्वरूप का चिन्तन करना। अर्थात् सत्य स्वरूप से बिना दूसरी ओर चित्त को न लगाना। निरन्तर स्वरूप चिन्तन से चित्त आत्माकार होकर परमानन्द को अनुभव करता है और देह के होते ही विदेह हो जाता है। इस रीति से वैराग्य उपरति और ज्ञान के समकाल सेवन करने से विलक्षण आनन्द की प्राप्ति होती है।

प्रश्न ३५—स्वरूप चिन्तन का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—वैराग्य और उपरति द्वारा सर्व अनात्मकार वृत्तियों से रहित होकर स्वरूप का चिन्तन करें कि मैं सत्य हूँ, चेतन हूँ, आनन्द हूँ, कूटस्थ हूँ, निर्विकार हूँ, शुद्ध हूँ, अक्रिय हूँ, निर्भय हूँ, अदाह हूँ, अछेद हूँ, अकलेद्य हूँ, अशोष्य हूँ, निराकार हूँ, अजन्मा हूँ, अमृत्यु हूँ, अव्यक्त हूँ, ब्रह्म हूँ, स्वच्छ हूँ, अकृत्रिम हूँ, पूर्ण निर्लेप और असंग हूँ। मैं साक्षीआत्मा और स्वयं प्रकाश हूँ। मैं स्वतः सिद्ध हूँ, नित्य तृप्त हूँ, सनातन हूँ, चिन्मात्र हूँ, नित्य मुक्त हूँ, चिद्घनरूप हूँ, निष्कलंक हूँ, निष्प्रपंच हूँ, निष्काम हूँ, अद्वैत हूँ, अच्युत हूँ, ओंकार हूँ, परमात्मा हूँ, शून्य विज्ञान हूँ, केवल हूँ, अति सूक्ष्म हूँ; अतीन्द्रिय हूँ, अति वर्णाश्रमी हूँ, अनाम

Scanned with CamScanner

हूँ, अकाम हूँ, राम हूँ, द्रष्टा हूँ, नित्य उदित रूप हूँ, मंगल रूप हूँ, शिव स्वरूप हूँ, शांत रूप हूँ, अचल अमल स्वरूप हूँ, अटल हूँ; निरामय हूँ, निज स्वरूप हूँ, ज्ञान स्वरूप हूँ, अच्युत हूँ, अमन हूँ, निर्मम, निरहंकार, निर्द्वन्द, अभेद और एक हूँ। मैं सत्ता सामान हूँ। निरंजन हूँ, अक्षोभ हूँ, गंभीर हूँ, परम पावन हूँ, निर्विघ्न हूँ, अखण्ड हूँ, घन स्वरूप हूँ, सुखधाम हूँ, अशोक हूँ, अमोह हूँ, अलोभ हूँ, अक्रोध हूँ, अनूप हूँ, अरूप हूँ, सत्तामात्र हूँ, स्वतःस्वभाव हूँ, अगोचर हूँ, अदृष्ट हूँ, अकर्ता हूँ, अभोक्ता हूँ, नित्य स्थित हूँ, अपार हूँ, अनादि हूँ, अनन्त हूँ, परम प्रकाश हूँ, अगम, अगाध और नित्य स्वस्थ हूँ। मैं निर्विक्षेप हूँ, निर्मल हूँ, निराधार हूँ, अधिष्ठान हूँ, सर्वाधार हूँ, ध्येय हूँ, ज्ञेय हूँ, पूज्य हूँ, परम मौन स्वरूप हूँ, निर्वाणरूप हूँ, निरूपाधिक हूँ, सर्व त्रिपुटियों से रहित हूँ। मैं निस्पंद रूप हूँ, निर्वाच पद हूँ, नित्य प्राप्त हूँ, परमपद हूँ, सर्व कल्पना से रहित देश काल वस्तु के प्रच्छेद से मुक्त हूँ। न मुझ में भूत है, न भविष्य है और न वर्तमान है, स्वयं स्थित परम शान्त रूप हूँ। मेरी मुझे नमस्कार है। इस रीति से निरन्तर अपने यथार्थ स्वरूप का चिन्तन करता रहे। जब वृत्ति एक क्षण, एक पल अथवा एक घड़ी स्वरूपाकार स्थित हो जाए, वह परमानन्द अवस्था है, उस अवस्था को अनुभव करके स्थित रहे। फिर जब वृत्ति उत्थान को पावे उसी समय वैराग्य और उपरति द्वारा अनात्म-चिन्तन से रहित होकर आत्म-चिन्तन करे। इस प्रकार चिरकाल तक निरन्तर अभ्यास करता रहे। जब अभ्यास के बल से सर्व अनात्म पदार्थों का अत्यन्त अभाव इसे निश्चित हो जाए और निज स्वरूप सर्वदा साक्षात् रहे, स्वरूप के बिना कुछ न फुरे, अन्तर बाहर और आत्मा अनात्मा के भेद से रहित होकर स्वच्छ और स्वस्थ रहे, उस समय केवल परमानन्द रूप कृत-कृत्य होता है। फिर इसको कुछ कर्तव्य नहीं रहता। इसी अवस्था का नाम निर्वाण पद और तुरियातीत है और यही जीवन मुक्त अवस्था का विलक्षण आनन्द है।

प्रश्न ३६—ऐसी अवस्था की दृढ़ता किस प्रकार होती है?

उत्तर—षट् अंग से हीन पुरुष निरन्तर ही जीवन मुक्ति के विलक्षण आनन्द का अनुभव करता है।

प्रश्न ३७—षट् अंग से हीन का क्या तात्पर्य है?

उत्तर—नेत्रों से अंध हो, कानों से बहरा हो, जिह्वा से अजिह्वा हो, मन से मूर्ख हो, उपथ इन्द्रिय से हीन हो और चरणों से पंगु हो। तात्पर्य यह कि नेत्रों से केवल अस्ति भाँति प्रेय देखे और अनात्म दर्शन से अंध रहे। किसी नामरूप को सत्य प्रतीत से देखकर मोहित न हो। सर्व नामरूप को कल्पित और क्षणभंगुर जानकर प्रत्यक्ष नेत्रों से सर्व ठौर सत्ता सामान अस्ति भाँति प्रेय देखे।

कानों से ब्रह्म ज्ञान, गीत गोविन्द और हरि कथा सुने। लौकिक सब शब्दों को अर्थ से रहित निश्चय कर उनके श्रवण से उपरत रहे। अपनी निन्दा व स्तुति सुनकर हर्ष व शोक को प्राप्त न होवे और न किसी शब्द से मोहित हो। समान रूप रहकर सर्वदा सुखी रहे।

जिह्वा के दो कर्म हैं, एक रस लेना दूसरा शब्द उच्चारण करना। रस लेने में जो कुछ निर्यत्न और शुद्ध रीति से प्राप्त हो, उस पर संतोष करना, किसी रस दायक पदार्थ की

Scanned with CamScanner

इच्छा न करनी और विरस वस्तु से ग्लानि न करनी, यथा लाभ संतुष्ट होकर रसना रूप जिह्वा से अजिह्व रहना।

शब्द उच्चारण में गम्भीरता, समता, मुदता और सुहृदयता से बोलना, सबको अपने समान जानकर कोमल, स्निग्ध और यथार्थ वचन से प्रसन्न करना; निन्दास्तुति और व्यवहारिक गप्प व हँसी से गूंगे रहना, केवल परमार्थ वचन के उच्चारण में अपनी वाणी को खोलना, व्यर्थ वचन कदाचित् न बोलना।

मन से सब लौकिक व्यवहारों को भुलाना, जगत की चतुराई से मूर्ख रहना, स्वरूप चिन्तन के बिना किसी कल्पित पदार्थ की ओर मन न लगाना, जगत के धन्धों से अनजान होकर ब्रह्मानन्द का अनुभव करना।

उपस्थ इन्द्रिय से हीन होना। तात्पर्य यह कि काम चेष्टा, काम चिंतन, कामी पुरुष के संग और काम उत्पत्ति के साधनों से उपरत रहना, लड़की। युवा और वृद्ध स्त्री को समान निश्चय कर किसी से राग-द्वेष न करना और सुन्दर बालक की प्रीति से भी उपरत रहना, किसी प्रकार काम रूपी अग्नि से दग्ध न होना।

पाँवों से केवल वन यात्रा और विष्टा मूत्र त्याग के लिए जाना, व्यर्थ इधर-उधर न फिरना, सदा एकान्त देश में स्थित होकर परमानन्द का अनुभव करना। इस प्रकार चिरकाल अभ्यास करने से जीवनमुक्ति के विलक्षण आनन्द की प्राप्ति होती है और निरन्तर अभ्यास के बल से ऐसी दृढ़ता होती है कि देह के होते ही देह के धर्मों और दुःखों से रहित होकर आनन्दघन होता है। पावन और मंगलरूप होकर समता, मुदता, सुमित्रता और शांति सहित देह सम्बन्धी काल को व्यतीत करता है और विदेह मुक्त होकर परम धाम को प्राप्त होता है।

प्रश्न ३८—शरीर के मौन का स्वरूप, युक्ति, दृष्टांत और फल क्या है ?

उत्तर—स्वरूप—शरीर के नाम, वर्ण, आश्रम, कुल, सुन्दरता और बल के अभिमान का अभाव अर्थात् अपरोक्ष मिथ्या प्रतीति शरीर का मौन है।

युक्ति १—विवेक—अर्थात् नित्य और अनित्य विचार से शरीर के अभिमान की मिथ्या प्रतीति निश्चय होती है। जब शरीर को विचार से पंचभूतों का कार्य निश्चय किया और उन कार्यों को अपने-अपने कारणों में लीन किया, तो शरीर कुछ वस्तु प्रतीत नहीं होता है। जिज्ञासु शरीर के अभिमान से गूंगा होकर नित्य आत्मा का अभ्यास करता है।

दृष्टान्त—जैसे किसी पुरुष को भूत का आवेश हो तो भूत उतारने वाले मंत्र द्वारा बलि-दान देकर भूत को निकालते हैं। उसी प्रकार जीव को शरीर रूप भूत का आवेश है, सत् गुरु विवेक रूपी मंत्र से पंचभौतिक शरीर की भिन्न-भिन्न प्रकृति, एक-एक भूत को बलिदान देकर शरीर का अभाव निश्चय कराते हैं। इससे जीव अपने को शरीर से असंग केवल शुद्ध निर्विकार निश्चय करता है। जो शब्द पंचभौतिक शरीररूप भूत के आवेश के समय कथन करता था, उससे मौन रहकर निज स्वरूप में मग्न होता है।

फल—मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, दुःख-सुख, जन्म-मरण, बल निर्बलता, रोग-नीरो-

Scanned with CamScanner

गता इत्यादि उपाधियों का अभाव निश्चय होता है।

प्रश्न ३९—इन्द्रियों की मौनता, युक्ति, दृष्टांत और फल क्या है ?

उत्तर—स्वरूप—इन्द्रियों के कर्मों के कर्ता और भोक्तापन का अभाव अर्थात् इन्द्रियों के कर्मों का कर्ता और भोक्ता अपने-आपको निश्चय न करना इन्द्रियों का मौन है।

युक्ति १—इन्द्रिय पाँच तत्वों के सतोगुण और रजोगुण का कार्य हैं और इन्द्रिय के विषय भी पाँच तत्वों का कार्य हैं। मैं पाँच तत्वों से रहित केवल ज्ञान स्वरूप हूँ और सर्व इन्द्रियों के भाव और अभाव का दृष्टा हूँ। इसलिए मेरा इन्द्रिय के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं।

दृष्टान्त—एक बधिक वन में मृग के शिकार को गया। संयोगवश मृग उसकी दृष्टि से छिप गया। बधिक उसके पीछे-पीछे इधर-उधर देख रहा था। इतने में एक तपस्वी वृक्ष के नीचे बैठा हुआ दिखाई दिया। बधिक ने पास जाकर पूछा; हे बनवासी जी ! मृग दायें गया है या बायें ? तपस्वी ने उत्तर न दिया। बधिक ने फिर पूछा, परन्तु उसने कुछ उत्तर न दिया। तीसरी बार पूछने पर तपस्वी ने कहा, देखना धर्म नेत्रों का है और नेत्र कह नहीं सकते, और कहना धर्म वाणी का है और वाणी देख नहीं सकती, अब तुझको कौन कहें कि मृग दायें गया है वा बायें ? बधिक ने कहा, आप कहें। तपस्वी ने उत्तर दिया, अहंकार रूपी तागे के टूटने से इन्द्रिय रूपी मणि भिन्न हो गए हैं। मैं इन्द्रियों से न्यारा केवल विज्ञान मात्र हूँ। मेरे में न देखना है न कहना है, इसलिए मौन ही मौन हूँ। इस प्रकार इन्द्रियों का मौन धार वह तपस्वी अपने-आप में मग्न हो गया।

फल—विषयों में आसक्ति का अभाव, सब लौकिक, धार्मिक कर्मों के अभिमान का अभाव, अर्थात् इन्द्रियों के होने पर इन्द्रियों से मुक्त होकर जीवन मुक्ति का विलक्षण आनन्द अनुभव करना।

प्रश्न ४०—चतुष्टय अन्तःकरण के मौन का स्वरूप, युक्ति, दृष्टान्त और फल क्या है ?

उत्तर—स्वरूप—राग-द्वेष, धर्म-अधर्म, विक्षेप्ता, समाधि, ज्ञान अज्ञान का अभाव अर्थात् अन्तःकरण के धर्मों से अपने को असंग निश्चय करना, अन्तःकरण की मौन है।

युक्ति—सुषुप्ति अवस्था में अन्तःकरण अपने धर्मों सहित अज्ञान में लीन हो जाता है और मैं केवल केवली रूप अपने-आप में स्थित रहता हूँ। इसलिए मेरा अन्तःकरण के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं। जाग्रत स्वप्न अवस्था में भी मैं अन्तःकरण के स्पन्द-निःस्पन्द, राग-द्वेष आदि का साक्षी हूँ। इसलिए अन्तःकरण का मेरे स्वरूप में रंचक मात्र भी प्रवेश नहीं। मैं कूटस्थ, निर्विकार अधिष्ठान रूप हूँ।

१. दृष्टान्त—महाभारत के युद्ध में जब अर्जुन को सम्बन्धियों को देखने से मोह और विषाद उत्पन्न होकर वैराग्य हुआ, उस समय अर्जुन का देह काँपने लगा और वह धनुष-बाण रखकर युद्ध से उपरत हो गया। तब श्रीकृष्ण जी ने तत्वज्ञान का उपदेश देकर उसको बताया कि आत्मा न हंता है न हन्य है। यह अदाह, अछेद्य, अक्लेद्य, अशोय नित्य स्थित है। तू और सब संग्रामवासी सत्य स्वरूप अनादि स्थित चले आते हैं। तू अपने निज धर्म में स्थित

Scanned with CamScanner

हो। इस ज्ञान को श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके अर्जुन निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त हुआ, निःसंशय होकर युद्ध किया और विजय प्राप्त की। तात्पर्य यह कि जब उसको इन्द्रिय, शरीर और अन्तःकरण की मौन प्राप्ति हुई, उस समय निर्विकल्प हो व्यवहार एवं समाधि को तुल्य जानकर संग्राम करने लगा।

२. **दृष्टान्त**—प्राचीनकाल में राजा शिखरध्वज जब वैराग्य लेकर वन में गया, उसकी पत्नी चुड़ाला भी ब्रह्मचारी का भेष बदलकर उसके पीछे हो चली। उसने उसे जगाया और उपदेश दिया कि तूं सर्व त्याग कर। राजा ने अपना त्याग माना हुआ था किन्तु चुड़ाला के वचन सुनकर उसके हृदय में निश्चय हुआ कि उसने सर्व त्याग नहीं किया, जिज्ञासु होकर पूछा कि सर्व त्याग के क्या अर्थ हैं? चुड़ाला ने उत्तर दिया कि जब तक चित्त का त्याग न किया जाए, तब तक सर्व त्याग सिद्ध नहीं होता। इस पर शिखरध्वज ने चित्त के त्याग का उपाय पूछा, चुड़ाला ने उसे तत्व ज्ञान का उपदेश किया। जब शिखरध्वज चित्त से रहित अचित्त पद को प्राप्त हुआ, उस समय कृत्य-कृत्य होकर राज्य करने लगा। तात्पर्य यह कि ग्रहण त्याग की कल्पना से रहित होकर निर्विकल्प विचरने लगा। इससे अन्तःकरण का मौन सिद्ध हुआ।

३. **दृष्टान्त**—जब वृहस्पति ने अपने पुत्र कच को तत्वज्ञान का उपदेश किया, और कच ने एकान्त देश में स्थित होकर उसका मनन और निदिध्यासन किया, तो उसे यह अनुभव हुआ, 'किंकरोमिक्व, गच्छामि, किंग्रहामि, त्यजामि किम्? आत्मा पूरितं सर्वत्र महाकल्पांबुना यथा।" अर्थात् मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, क्या ग्रहण करूँ, क्या त्याग करूँ, क्योंकि आत्मा महा-प्रलय के जल की तरह सर्वत्र पूर्ण है, ऐसे अनुभव से गद्गद् प्रसन्न होकर निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त हो गया। तात्पर्य यह कि वह अन्तःकरण के मौन को प्राप्त कर निर्वाण गति को प्राप्त हुआ।

४. **दृष्टान्त**—एक पुरुष की दो स्त्रियाँ थीं। एक दिन एक स्त्री का रत्नों का हार घर में गुम हो गया। स्त्री ने अपनी दासी को स्वामी के पास भेजा कि हार गुम हो जाने का संदेश दे आ। जब दासी धनी पुरुष के समीप आई, उस समय कई मनुष्य उसके समीप बैठे थे। दासो ने समाचार सुनाया कि हार गुम हो गया। धनी पुरुष ने क्षणमात्र नेत्रों को मूंदकर मौन धारकर गद्गद् प्रसन्न होकर कहा, "अहो कल्याण"! दासी इस वचन को सुनकर घर में आ गई। कुछ दिन पश्चात् वही हार घर में दूसरे स्थान से मिला, फिर स्त्री ने उसी दासी को स्वामी के पास हार मिल जाने का समाचार सुनाने के लिए भेजा। उस समय भी वही मनुष्य जो पहले संदेश के समय बैठे थे स्थित थे। बाँदी ने हार मिलने की खबर सुनाई। धनी ने पहले की तरह नेत्र मूंद मौन धरकर गद्गद् प्रसन्न होकर कहा, अहो कल्याण, 'अहो आनन्द! धन्योऽहं! धन्योऽहं!!' समीपवर्ती पुरुषों ने हाथ बाँधकर पूंछा, हे भगवन्! हार के लोप हो जाने के समय और प्राप्त होने के समय आपने केवल एक ही रीति से वचन निकाला है। इसके क्या तात्पर्य हैं? धनी ने उत्तर दिया कि जब हार के लोप हो जाने का समाचार मुझे मिला था, उस समय मैंने साक्षी रूप होकर अन्तःकरण को देखा कि शोक वा मोह की प्राप्ति हुई है

Scanned with CamScanner

नहीं ? प्रतीत हुआ कि शोक और मोह नहीं हुआ इसलिए मैं प्रसन्न हुआ कि अन्तःकरण की कल्पना निवृत होकर मौन हुई। पुनः जब हार की प्राप्ति का संदेशा मेरे सन्मुख आया, उस समय भी दृष्टा रूप होकर अन्तःकरण की गति को देखता रहा, उस समय भी हर्ष की प्राप्ति न हुई। इसलिए गद्‌गद् प्रसन्न होकर वचन निकाला कि अहो कल्याण, अहो आनन्द मैं धन्य हूँ! मैं धन्य हूँ। जिसका अन्तःकरण राग-द्वेष, हर्ष-शोक से रहित होकर परम मौन गति को प्राप्त हुआ है।

फल—सर्व दुःख की निवृति और परमानन्द की प्राप्ति; शरीर के होने पर ही जीवन मुक्ति के विलक्षण आनन्द का अनुभव है।

प्रश्न ४१—शुद्ध अन्तःकरण वाले में वर अथवा शाप देने को सामर्थ्य होती है वा नहीं ? वह किसी को देता भी है वा नहीं ?

उत्तर—शुद्ध अन्तःकरण वह है जिसमें राग-द्वेष, मान-अपमान, दम्भ-ईर्षा, वर-शाप, अधिकता, न्यूनता न फुरे। वही अन्तःकरण निर्वाण स्वरूप परमानन्दी होता है। तात्पर्य यह जब सत्‌गुरु उपदेश द्वारा अथवा अपने अनुभव द्वारा यथार्थ ज्ञान उदय होता है, वह निश्चय करता है कि वस्तु मात्र अपने-आप में स्थित है, उस समय उसकी दृष्टि में द्वैत का अत्यन्त अभाव हो जाता है। जीव-ब्रह्म, ज्ञानी-अज्ञानी की कल्पना से रहित, नित्य-तृप्त, शांत-रूप होता है। ऐसा शांत रूप यदि ईश्वर को उसकी शांति से कल्पित निश्चय करता है, तो अष्ट सिद्धि और त्रिलोकी की विभूति उसकी दृष्टि में तुच्छ से अति तुच्छ हो जाती है। पूज्य-पूजक भाव रंचकमात्र प्रतीत नहीं होता। सृष्टि ही नहीं रहती तो सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति प्रलय कैसे सम्भव हो ? सब लौकिक, व्यवहारिक, पारमार्थिक आरोप से रहित केवल केवली भाव को प्राप्त होता है। ऐसे पूर्णदर्शी पुरुष की दृष्टि में गुरु शिष्य भाव की कल्पना नहीं रहती। वह ऐसी अवस्था को अनुभव करता है जो अगोचर और अगम्य है। वह आप में आप स्थित; न जीव, न ईश, न ब्रह्म, न पूज्य, न पूजक, न अधिक, न न्यून, न समान, न विशेष, न कर्त्ता, न भोक्ता, न फल, न दाता, न यह, न वह, सब मन-रचित, आरोप से ऊपर वर्तमान में मग्न रहता है; वह पुरुष पूर्ण है। ऐसी अवस्था के अनुभव के बिना कृतकृत्यता प्राप्त नहीं होती। ज्ञान पाने पर अपने को दूसरों से अधिक मानना, समर्थ निश्चय करना, अथवा पूज्य समझना महान् अज्ञान है। ब्रह्म पूर्ण है, पूर्ण में उत्तम कौन और नीच कौन ? एक वस्तु अपने-आप में स्थित है। इस दृष्टि से ज्ञानस्वरूप अज्ञान का त्याग उचित है। रंचकमात्र विशेषता से अपने को कुछ मानना मानों अज्ञान से भेद निश्चय करना है। अज्ञानकाल में नाना प्रकार के भेद प्रतीत होते हैं। उस समय अपने को दूसरों से अधिक मानकर मनुष्य प्रतिष्ठा चाहता है किन्तु ज्ञान की दशा में अपने को सर्वरूप देखता है। सेवा करने वाले और दुःख देने वाले को भी अपनी आत्मा निश्चय करता है। रंचकमात्र द्वैत नहीं फुरता, न किसी से अपनी प्रतिष्ठा चाहता है। ऐसा गम्भीर और पूर्ण अवस्थावान किसको वर और किसको शाप दे ? सौम्य जल की तरह देह संयोग काल को व्यतीत कर अवाच्यपद को प्राप्त होता है।

प्रश्न ४२—पूर्णदर्शी में गमन-आगमन क्रिया होती हैं वा नहीं ? यदि होती है, क्या वह

Scanned with CamScanner

अपनी इच्छा से या किसी की प्रेरणा से होती है ?

उत्तर—पूर्णदर्शी सदा निष्काम, तृप्त-चित्त, स्थितप्रज्ञ और अचल मूर्त हैं। गमन-आगमन तो देह उपाधि में प्रतीत होता है और देह सम्बन्धी काल द्वारा सिद्ध होता है। पूर्णदर्शी देह उपाधि से मुक्त है। इसलिए देह सम्बन्धी काल द्वारा सिद्ध होने वाली गमन-आगमन क्रिया से मुक्त हैं। श्रद्धावान, शुद्ध-मन, परम-हितकारी, हृदयंगम, मननशील जिज्ञासुओं और भक्तों की प्रेरणा अपने प्रेम के बल से उसे क्रिया में प्रवृत्त करती है। पूर्णपुरुष सब कल्पना से अतीत काल के अधीन होकर किसी प्रयोजन के लिए प्रतिज्ञा नहीं करता। निर्विकल्प होकर जिस प्रकार काल के वेग से अवस्था प्राप्त होती है, वह उसी प्रकार बरतता है। वह विकल्प और चिन्ता से कोई कार्य नहीं करता और नित्य ही सहज हिंडोरे में झूलता रहता है। जैसे एक बालक झूले में निष्प्रयोजन और प्रसन्न चित्त झूलता है। माता-पिता अथवा दूसरे सम्बन्धी अपनी प्रीति और इच्छा से उसे उठाकर फिराते हैं। जब थक जाते हैं, तब फिर उसे झूले में सुला देते हैं। वैसे ही ब्रह्मभूत पुरुष निर्विकल्प रूप हिंडोरे में सहजरूप शय्या पर विश्राम करता है। प्रयोजन और इच्छा से शून्य आत्म-संतुष्टि का रस चखता है। जब कोई दूसरा हितकारी और प्रेमी अपनी भावना से उसे गमन-आगमन की प्रेरणा करता है, तब वह प्रवृत्त होकर उनकी इच्छा पूर्ण करता है। जब श्रद्धा से रहित और भावना से शून्य जनों में निवास करता है, तब भी निर्विकल्पता से सहज अवस्था का रस लेता है।

प्रश्न ४३—तत्ववेत्ता जगत् को और जगत् के पदार्थों को किस दृष्टि से देखता है?

उत्तर—तत्ववेत्ता की दृष्टि में सर्व पदार्थ दर्पण के समान अपने ही स्वरूप का प्रतिबिम्ब प्रकट करते हैं। इससे भी अधिक सब पदार्थ उसे अपनी आत्मा प्रतीत होते हैं। एक ही वस्तु सर्व चराचर सृष्टि का अभिन्न निमित्त, उपादानकारण, है, इसलिए सर्व सृष्टि एक-रूप है। यद्यपि एक-दूसरे की अपेक्षा से पदार्थ व्यभिचारी और भिन्न-भिन्न नामरूप वाले प्रतीत होते हैं परन्तु अधिष्ठान रूप कारण की अपेक्षा सर्व पदार्थ अभिन्न हैं। जैसे नेत्र, कर्ण, नासिका और मुख आदि इन्द्रियाँ एक दूसरे की अपेक्षा भिन्न धर्म वाले और भिन्न-भिन्न नामरूप वाले प्रतीत होते हैं परन्तु शरीर की अपेक्षा सर्व इन्द्रियाँ अभिन्न हैं। एक ही शरीर में सब इन्द्रियाँ स्थित हैं और एक ही अन्न जल से सब का पालन हो रहा है। इसलिए इनका रूप परिवर्तन केवल दृष्टि भ्रम है, वास्तव नहीं। वैसे ही पवन, अग्नि, जल, पृथ्वी इन्द्रियवत् एक दूसरे की अपेक्षा से व्यभिचारी और भिन्न-भिन्न नामरूप वाले प्रतीत होते हैं परन्तु अधिष्ठान रूप कारण की अपेक्षा से सर्वभूत और भौतिक पदार्थ अभिन्न हैं। सब भूत एक ही अधिष्ठान में स्थित हैं और एक ही चेतन सत्ता से सत्ता पा रहे हैं। इसलिए इनका रूप परिवर्तन और भिन्न-भिन्न भाव केवल दृष्टि भ्रम है, वास्तव नहीं। वास्तव एक अद्वैत घनस्वरूप वस्तु अपने आपमें स्थित है। ऐसी दृष्टि धारकर तत्ववेत्ता लीला और विनोद के लिए अपनी यात्रा आप करता है और अपनी भिन्न-भिन्न शक्तियों का अवलोकन कर अपने आप में मुदित रहता है। भिन्न स्वरूप में स्थित होकर अभिन्न दर्शन करता है, प्रच्छिन्न रूप होकर

Scanned with CamScanner

अप्रच्छिन्न सिंहासन पर स्थित रहता है। सब देश, सब काल, सब वस्तु को अपनी आत्मा निश्चित कर स्वस्थ, स्वयंप्रकाश, कूटस्थ, निर्विघ्न, अच्युत और गम्भीर रहता है। इसलिए उचित है कि सब उत्तम जिज्ञासु और नवीन ज्ञानी निरन्तर अभ्यास से इस दृष्टि में स्थिति पावें जिससे सर्व काल अखण्ड समाधि बनी रहे।

प्रश्न ४४—कृपया नीचे लिखे पद्यों की टीका करें—

संत सभा मिल होरी गावें, प्रेमयुक्त आनन्द मनावें ॥
भर पिचकारी वचनन वारी, रुच-रुच आपस माँहि चलावें ॥

सुनो—संत लोग मिलकर हुलास के गान करते हैं और प्रेम सहित आनन्दित होते हैं। भाव यह कि पाँच तत्व पाँच संत हैं। वे मिलकर सृष्टि का हुलास प्रकट करते हैं क्योंकि पाँच तत्व निर्विकार, शुद्ध असंग, स्वच्छ अपने स्वभाव में स्थित हैं। इसलिए संत रूप हैं। इनका परस्पर मिलाप सभा है। यह जगत नहीं मानो संत सभा है। पाँच तत्व रूप संत नित्य उदित, प्रफुल्लित, मुदित और संतुष्ट रहते हैं, इसलिए नित्य ही हुलासरूप हैं। अपने हुलास से नाना प्रकार के रमणीक, मंगलीक और पूज्य शरीरों और पदार्थों को प्रकट कर अपने हुलास और विलास का ऊँचे स्वर से गान करते हैं। तात्पर्य यह कि सब सृष्टि का होना केवल विलास-रूप है। आदि, मध्य और अन्त आनन्द ही आनन्द है। इस रीति से नित्य ही हुलास, विलास और आनन्द है। ऐसे आनन्द रूप समुद्र में सृष्टि रूप तरंग परस्पर प्रेम से आनन्द का अनुभव कर रहे हैं। अर्थात् सब आनन्दरूप हैं।

टीका—सृष्टि में परस्पर वचनों वाली पिचकारी भर कर आपस में चलाते हैं। तात्पर्य यह कि केवल शब्द से ही एक दूसरे के साथ सम्बन्ध कर आनन्द मनाते हैं। शब्द केवल आकाश-रूप है और आकाश असंग है। इसलिए सब सृष्टि एक दूसरे से असंग होकर आनन्द का अनुभव कर रही है। शब्द के बिना जगत में कोई विलास नहीं और कोई हुलास नहीं, कोई प्रकाश नहीं। शब्द ही मानो सर्वरूप होकर स्थित है। शब्द ही ईश्वर है, शब्द ही जीव है, शब्द ही जड़ है, शब्द ही चेतन है, शब्द ही नाम है, शब्द ही वर्ण है, शब्द ही आश्रम है, शब्द ही प्रताप है, शब्द ही मान है, शब्द ही अमान है, शब्द ही वेद है, शब्द ही पुराण है, शब्द ही शास्त्र है, शब्द ही कुरान है, शब्द ही अंजील है, शब्द ही छन्द है, शब्द ही मन्त्र है, शब्द ही भजन है, शब्द ही योग है, शब्द ही श्रुति है, शब्द ही स्मृति है, शब्द ही उपदेश है, शब्द ही दृष्टांत है, शब्द ही सिद्धांत है। इस प्रकार सर्वत्र शब्द का पसारा है। यही शब्द सब कर्मों का साधक है। शब्द के बिना रंचक मात्र भी सिद्ध नहीं होता। इसलिए सब शरीर शब्द के निवास का स्थान है अर्थात् सर्व शरीर शब्द रूप जल की पिचकारियाँ हैं। वे प्रेम से एक दूसरे पर चल रही हैं। मानो शब्द ही शब्द से मिलता है। शब्द ही शब्द को पूछता है, शब्द ही शब्द को सुनता है, शब्द ही शब्द को उपदेश करता है, शब्द ही शब्द को आदर देता है, और शब्द ही शब्द का निरादर करता है। इस रीति से सब कर्म शब्द ही करता है। शरीर नाम मात्र है, शब्द ही का पसारा है, शब्द ही का अखाड़ा है और शब्द ही का चमकारा है। इसलिए शब्दरूप जल वचन का रूप धार शरीर की पिचकारी से निकलकर हुलास बना रहा है। शब्द आकाश-

Scanned with CamScanner

रूप है, इसलिए आकाश ही अपने धर्म में स्थित है। न कुछ होता है, न कुछ हो रहा है, न कुछ हुआ था और न कुछ होगा। केवल चिदाकाश अपने शब्दरूप स्वभाव में स्थित होकर अपनी महिमा फैला रहा है। इस रीति से आनन्द और हुलास नित्य स्थित है, क्योंकि सर्व शरीरों में एक ही शब्द है और वह शब्द आकाशरूप है इसलिए सर्व ही आकाशरूप है।

निशिदिन आत्मरंग सो भीने, ज्ञान गुलाल अम्बीर उड़ावें ॥

टीका—दिन रात आत्मरंग में राते ज्ञानरूपी गुलाल और अम्बीर उड़ाते हैं। तात्पर्य यह कि सब शब्द आकाशरूप होने से एक दूसरे की आत्मा हैं और इसलिए सब शब्द एक दूसरे को पहचानकर ज्ञानरूपी गुलाल उड़ाते हैं। शब्द से मानो शब्द का ज्ञान पाकर फिर शब्द से उत्तर देते हैं। ज्ञान शब्द की अन्तरंग अवस्था है। जब शब्द परस्पर मिलता है तब अन्तरंग अवस्था रूप ज्ञान उदय होता है। इस रीति से सब शब्द आत्मरूप होकर ज्ञान का अम्बीर उड़ा रहे हैं। ज्ञान का मानो हुलास बना रहे हैं और ज्ञान के रंग से सब को रँग रहे हैं। ज्ञान भी आकाशरूप है, इसलिए केवल चिदाकाश अपने आप में स्थित है। शब्द और ज्ञान मिलकर नाना प्रकार की क्रीड़ा कर रहे हैं परन्तु दोनों चिदाकाशरूप होने से केवल केवली रूप हैं।

ओंकार सितार तम्बूरा. सोऽहं हंसो ताल बजावें ॥

टीका—कहीं यही शब्द ओंकार की सितार अथवा तम्बूरा बजाता है और कहीं सोहं अहं सः का ताल बजाता है। और कहीं—

भक्ति भाव का घुघरूं पहरें, नृत्य करें गोविन्द रिझावें ॥

टीका—भक्तिभाव के वचनों का घुघरूं पहनकर नाना प्रकार का नृत्य कर गोविन्द को रिझाता है। तात्पर्य यह कि शब्द ही ओंकार रूप होकर अपनी धुन आप लगाता है। अपने को आत्म-आकाश में फैला कर प्रसन्न होता है। कहीं दीन होकर भक्ति वचन से गोविन्द अर्थात् आकाश रूप अपनी आत्मा को रिझाता है। तात्पर्य यह कि शब्द ही शब्द की उपासना करता है और शब्द ही आकाशरूप है। आकाश गोविन्द है और शब्द भक्त है। शब्द आकाश से भिन्न नहीं, केवल आकाशरूप है इसलिए भक्त गोविन्द से भिन्न नहीं केवल आकाशरूप है, इस प्रकार एक ही शब्द पूर्ण है।

एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति, ऊँचे स्वर सों गाय सुनावें ॥

टीका—वही एक पूर्ण है दूसरा नहीं है—ऊँचे स्वर से गान कर सुनाते हैं। तात्पर्य यह कि शब्द ही पूर्ण है। वह शब्द ही अपनी पूर्णता ऊँचे स्वर से गान करके सुनाता है और वह शब्द केवल आकाशरूप है इसलिए आकाश ही पूर्ण है, सब से ऊपर अपनी गति में स्थित है।

नित्य निहारें एको आतम, जग की ओर न दृष्टि लावें ॥

टीका—इसलिए नित्य ही एक आत्मा को देखते हैं, द्वैतरूप जगत की ओर दृष्टि नहीं लगाते। तात्पर्य यह कि यथार्थदर्शी सब शब्दों को चिदाकाश में लीन कर केवल चिदाकाश ही देखते हैं। शब्दों के भेद को स्वीकार नहीं करते क्योंकि शब्दों का भेद भी शब्दों से भिन्न नहीं है परन्तु शब्दरूप है। शब्द आकाशरूप है इसलिए शब्दों का भेद भी आकाशरूप है।

Scanned with CamScanner

आकाश में भेद और अभेद की समाई नहीं, इसलिए भेद और अभेद को त्यागकर सब शब्दों को केवल आकाशरूप देखते हैं। आकाश अपना आप है, इसलिए अपने आप को देखकर अपने में स्थित रहते हैं।

मंगल रूप रहें निसवासर; गद्गद् जय जयकार बुलावें।

टीका—दिन रात मंगलरूप गद्गद् होकर जय जयकार बुलाते हैं। तात्पर्य यह कि शोक और चिन्ता से रहित हो प्रसन्न और आनन्दरूप रहते हैं, क्योंकि दुःख देने वाला भेद अत्यन्त अभावगति को प्राप्त हो गया है, केवल आत्म मात्र ही है।

नित्य रहें समता मद माते, निंदा इस्तुति सकल भुलावें॥

टीका—नित्य ही समता रूपी मद से मतवाले रहते हैं, निंदा और स्तुति सब भुला देते हैं। निंदा और स्तुति केवल शब्द रूप हैं, शब्द केवल आकाशरूप है और आकाश अपनी आत्मा है। इसलिए द्वैत न था और न होगा, केवल समरूप चिदाकाश अपने आप में स्थित है। इसलिए समता ही यथार्थ अवस्था है। ऐसी यथार्थ अवस्था धारण कर--

भूलें तुरिया के हिंडोरे, **हेमां** परमानन्द समावें॥

टीका--शब्द से अगोचर अवस्थारूप हिंडोरे में भूलते हुए परमानन्द में लीन रहते हैं। तात्पर्य यह कि सब शब्द सब अर्थ को अपने में लीन कर केवल केवली रूप स्थित रहते हैं, इसलिए परमानन्द रूप हैं।

प्रश्न ४५—दसवें द्वार स्थित पुरुष को सब जगत का वृतान्त प्रतीत होता है, इसके क्या तात्पर्य हैं ?

उत्तर—आत्मा में स्थित पुरुष को जगत् शून्यरूप प्रतीत होता है, क्योंकि जगत् नौ द्वारों का विषय है। जब पुरुष नौ द्वारों को त्यागकर दशम द्वार में स्थित होता है, तब जगत् का अत्यन्ताभाव हो जाता है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि आत्मस्थितिवान पुरुष को जगत् अपने से भिन्न प्रतीत नहीं होता किन्तु अपना आप प्रतीत होता है। अपना आप ज्ञान और अज्ञान से रहित हैं। इसलिए दशम द्वार में स्थित पुरुष को किसी को जानने और न जानने की उपमा नहीं दे सकते। वह सदा अपने आप में स्थित है। जगत न था, न है और न होगा। अद्वैत वस्तु अपने आप में स्थित है। यह निश्चय दशम द्वार-वासी का है।

प्रश्न ४६—पूर्णपुरुष की दृष्टि और निष्ठा क्या है ?

उत्तर—पूर्ण पुरुष की दृष्टि में सब पदार्थ ही पूर्ण रूप हैं। भेद और प्रच्छेद उसके निश्चय में नहीं होता। सदा अखंड रूप, अडोल मति, निर्भय, स्वस्थ-चित्त, अक्षोभ-मन और परमानन्द स्वरूप रहता है। वह सब उपमा से रहित अनूप है। गुरु और शिष्य की कल्पना से शुद्ध केवल केवली भाव है। ऐसे पुरुष का दर्शन करना उपदेश श्रवण करना और मनन करना तथा निदिध्यासन करना उचित है।

प्रश्न ४७— **॥ दोहा ॥**

भगवन्! लक्षण तज्ञ के, भाखो किरपा धार।
सुनकर निदिध्यासन करूं, उपजे तत्व विचार॥ १॥

Scanned with CamScanner

उत्तर—

श्रीमत् विद्यायुत अमल, तृप्त चित्त निरवास।
गुणग्राहक शीतल हृदय, निरमम परम विलास ॥ १ ॥
आत्म ज्ञान विज्ञान कर, भूषित सहित वैराग्य।
विचरत जग में पवनवत्, रहित द्वेष अरु राग ॥ २ ॥
वर्णाश्रम अभिमान से, रहित असंग पुनीत।
दंभ ईरषा से अमल, हितकारी जग मीत ॥ ३ ॥
सत् वक्ता ज्ञाता सुसत, मंता सत्य स्वरूप।
सम्यक् ज्ञानी पुरुष वर, मंगल रूप अनूप ॥ ४ ॥
समदर्शी निष्काम चित्त, शान्तवान गंभीर।
क्षोभ रहित आनन्दमय, परम पुमान सुधीर ॥ ५ ॥
सदा रहे मोदात्मा, निज स्वरूप में लीन।
अचल, अडोल अखंड मति, निर्भय तृप्त अदीन ॥ ६ ॥
नाम रूप संसार का, करे अत्यन्त-भाव।
निज में निज इस्थित रहे, भीने स्वतः स्वभाव ॥ ७ ॥
मोह लोभ परसे नहीं, तत्तवित् परम पुनीत।
निर्विकार संतुष्ट मन, इस्थितप्रज्ञ अजीत ॥ ८ ॥
भूत भविष्यत से अमल, वर्तमान सुख पाय।
में मेरी अभिमान तज, पूरण ब्रह्म समाय ॥ ९ ॥
अस्ति भाँति प्रेय आतमा, पूरण चीने तज्ञ।
द्वंद भाव परसे नहीं, **हेमराज** सर्वज्ञ ॥१०॥

प्रश्न ४८—विज्ञानी किस प्रकार जग में विचरते हैं और जीवन मुक्ति का विलक्षण आनन्द प्राप्त करते हैं ?

उत्तर—विज्ञान फुलवाड़ी के विज्ञानी परम सुगन्धित फूल नित्यप्रति प्रफुल्लित रहते हैं और भूत भविष्य से निश्चिन्त रहते हैं। समयानुसार सब कार्य सिद्ध करते हैं परन्तु अन्तःकरण से सब राजसी और तामसी वृत्तियों को निकाल शुद्ध सतोगुणी स्थिति रखते हैं। शत्रु और मित्र भाव को त्याग सब जीवों को आत्मरूप देखते है, बुरा करने वाले को भी आत्मा निश्चय करते हैं। सब लौकिक शब्द और अर्थ हृदय से भुलाकर शान्तात्मा रहते हैं। चित्त के चिंतन से रहित सदा अचिंत पद में स्थित रहते हैं। इसलिए सदा मंगलरूप और मुदित रहते हैं। किसी अवस्था में विशेषता व न्यूनता नहीं मानते। सत्ता सामान रूप होकर अपने-आप में स्थित रहते हैं। अपने को आप देखते हैं आप में आप क्रीड़ा करते हैं। आप से आप तृप्त रहते हैं। ज्ञान अज्ञान से ऊपर केवल केवली भाव होकर अपना रस आप लेते हैं। इस रीति से विज्ञानी देह सम्बन्धी काल को व्यतीत कर जीवन मुक्ति का विलक्षण आनन्द पाते हैं और आप में आप समाते हैं।

Scanned with CamScanner

प्रश्न—४६

आतमवित्त संसार में, कैसे बिचरे नीत।
किस विचार को धारकर, इस्थिर राखे चीत?

उत्तर— ॥ दोहा ॥

आत्म वित्त मत्सर रहित, निरमम निरहंकार।
शीतल चित निष्कपट मन, विचरत सहित विचार॥ १॥
सदा रहे अन्तर्मुखी, राग-द्वेष से रहित।
भुंचे परमानन्द रस, समता मुदता सहित॥ २॥
जगत भावना त्याग कर, लीन रहें निज मांहि।
ग्रहण त्याग की कल्पना, रंचक परसे नांहि॥ ३॥
स्वस्थ होय विचरें सदा, दुःख सम्बन्ध से हीन।
भूलें तुरियातीत पद, आतम सुख में लीन॥ ४॥
नहीं बंध मुक्ति कहाँ, नहीं ग्रहण कहाँ त्याग।
नहीं भेद समता नहीं, नहीं राग वैराग्य॥ ५॥
वस्तु एक पूरण सदा, जामें भेद न भ्रांत।
ऐसो पूर्ण बोध लहे, **हेमराज** गहे शान्त॥ ६॥

प्रश्न ५०—विज्ञानी किस दृष्टि को धारकर आत्म-संतुष्ट रहता है?

उत्तर—सब कल्पना से रहित एक वस्तु अपने आप में स्थित है। यह ऐसी विचित्र रचना है कि इन्द्रिय और अन्तःकरण के सम्बन्ध से प्रतीत होती है। सब ही सत्य वस्तु का विलास है। अर्थात् सत्य वस्तु रूप है। ऐसे अद्वैत और अच्युत स्वरूप में उपदेश और उपदेश की कल्पना भ्रांति से सिद्ध है। वह भ्रांति भी अधिष्ठान के बिना सिद्ध नहीं होती किन्तु अधिष्ठान ही इस प्रकार होकर प्रतीत होता है इसलिए सब नाम रूप वस्तु हैं। वस्तु ही मानो सब आत्मा होकर पूज्य-पूजक भाव से रहित अपने-आप में स्थित है और फिर पूज्य-पूजक भाव होकर अपने विलास में मग्न है। वही वस्तु तुम्हारी आत्मा है और वही वस्तु मेरा आत्मा है। इसलिए तू और मैं केवल वस्तु रूप हैं। वस्तु शब्द से वस्तु विशेष नहीं समझनी किन्तु जिसमें शब्द और अर्थ की गम्य नहीं ऐसी निर्विशेष सत्ता केवल अनुभवमात्र है, वह वस्तु है और वही वास्तव स्वरूप है। ऐसे स्वरूप में मग्न होकर विज्ञानी उस अवस्था का अनुभव करता है जिसकी उपमा वचन और संकल्प से अगोचर है। वास्तव दृष्टिवान ऐसी अवस्था का निरन्तर अनुभव कर परमानन्दी है। देह और जगत को नाम मात्र जानकर उस वस्तु का दर्शन करते हैं, जिसमें द्रष्टा, दर्शन, दृश्य नहीं बनते। जीव और ईश्वर की कल्पना से रहित केवल ज्ञानमात्र हैं। आत्मा और अनात्मा का भेद त्याग कर सहज अवस्था में सन्तुष्ट है। इनकी दृष्टि में रंचक मात्र भी समाधि और उत्थान का भेद प्रतीत नहीं होता वे ऐसी निरालम्भ और निर्विघ्न अवस्था को प्राप्त होते हैं जिसमें ब्रह्म आदि शब्द भी विक्षेप रूप प्रतीत होते हैं। सर्व इन्द्रियाँ अपने सत्ता सामान भाव में विचरती हैं। अन्तःकरण जल

Scanned with CamScanner

की तरह अपनी साधारण चेष्टा को करता हुआ शान्त-रूप रहता है। प्राण शनैः-शनैः अपनी चेष्टा को सिद्ध कर शरीर का निर्वाह करते हैं। दिन-रात का व्यतीत होना क्षण के समान भी नहीं प्रतीत होता। ऐसी गम्भीर अवस्था को पाकर विज्ञानी विराजमान हैं।

॥ भजन ॥ (१)

साधो समता धर्म बनाइये ॥
शत्रु मित्र सुख-दुःख सम जानो, इकरस सदा निभाइये ॥ १ ॥
हर्ष शोक और राग द्वेष की, अग्नी को विसमाइये ॥ २ ॥
सब को आतमरूप जानकर, पेख-पेख विगसाइये ॥ ३ ॥
वरतो इक जैसा सबनों से, सबको सुख पहुँचाइये ॥ ४ ॥
सबको चिद्घनरूप देखकर, ऊँच-नीच विसराइये ॥ ५ ॥
निर्धनता धन-मान अपमाना, आतम भेंट चढ़ाइये ॥ ६ ॥
आप समान सरब को देखो, भय अरु मान भुलाइये ॥ ७ ॥
समता में इस्थित हो **हेमां**, जीवन मुक्ति पाइये ॥ ८ ॥

॥ भजन ॥ (२)

जीते जी जो मरे हैं, जीवन मुक्त वही हैं।
सब वासना हरे है, जीवन मुक्त वही हैं ॥ १ ॥
अपने में आप स्थित, सन्तुष्ट अरु तृपतचत्।
सबसे असंग रहे है, जीवन मुक्त वही है ॥ २ ॥
विषयों से जो अतीता, शांति में मगन चीता।
भरमों से जो परे है, जीवन मुक्त वही है ॥ ३ ॥
काम आदि को निवारे, अज्ञान बीज जारे।
ममता न कुछ धरे है, जीवन मुक्त वही है ॥ ४ ॥
बीती को जो भुलावे, भावी न चित्त आवे।
खुश रह जोई बने है, जीवन मुक्त वही है ॥ ५ ॥
अभिमान सब मिटावे; भय नेड़े हूँ न आवे।
समता को दृढ़ करे है, जीवन मुक्त वही है ॥ ६ ॥
कोई वस्तु नहिं लुभावे, आश्चर्यता न आवे।
गम्भीरता भरे है, जीवन मुक्त वही है ॥ ७ ॥
संकल्प से है खाली, लज्जा सभी निकाली।
जो स्वच्छन्द वीचरे है, जीवन मुक्त वही है ॥ ८ ॥
समता, उपेक्षा, मुदता, करते हैं जिसकी सेवा।
हेमां वह परम प्रिय है, जीवन मुक्त वही है। ९ ॥

Scanned with CamScanner

॥ भजन ॥ (३)

साधो सब सत्ता सामान ॥
इक सत्ता स्थित निज मांहीं, नहीं कोई देह जहान ॥ १ ॥
निज स्वभाव में सब अंग देह के, वरतें सदा समान ॥ २ ॥
तांते देह नहिं दुतिया वस्तु, सत्ता रूप पछान ॥ ३ ॥
रंचकमात्र भेद नहीं हुआ, सत्ता पूरण मान ॥ ४ ॥
नहीं सम्बन्ध सम्बन्धी कोई, त्रिविध भेद नहीं जान ॥ ५ ॥
आतम नहीं अनातम कोई, सम नहीं विषम प्रमाण ॥ ६ ॥
आप - आप में इस्थित सत्ता, केवल पद निर्वाण ॥ ७ ॥
ऐसा पूरण-निष्ठी **हेमां**, जीवन मुक्त प्रमान ॥ ८ ॥

॥ भजन ॥ (४)

दृढ़ हुआ तत्तज्ञाना ॥
बारम्बार मनन निदिध्यासन, कर मन शान्त समाना ॥ १ ॥
मन की दौड़ मिटे जब सगरी, दृढ़ अपरोक्ष ज्ञाना ॥ २ ॥
सकल वासना नाशें जब ही, चढ़े ज्ञान का भाना ॥ ३ ॥
अद्वै वस्तु आप ही आपा, द्वैत सकल विसराना ॥ ४ ॥
फुरना सत्ता रूप सुहावे, मन का भरम तजाना ॥ ५ ॥
चेतन अरु फुरना समअर्थी, चिद्घन सब दर्शाना ॥ ६ ॥
मन वासन लख चिद्घन रूपा, इनका खेद मिटाना ॥ ७ ॥
निर्विकल्प में इस्थिति पाई, वासन मनो भगाना ॥ ८ ॥
अद्वै सत्य रूप पर निश्चय, दृढ़कर करो सुजाना ॥ ९ ॥
नाम देहवत् तत् निश्चय हो, **हेमां** निज मगनाना ॥१०॥

॥ भजन ॥ (५)

अन्तर बाहर नहीं कल्पना, यह सब अज्ञान पसारा है।
जग की लीला है स्वप्न सृष्ट, अरु मृगजल का चमकारा है ॥ १ ॥
तत्ज्ञान का भान चढ़े जब, ही मिट जावे सकली कलना।
अन्तर बाहर चिद्घन का यह, मंगलरूप उजियारा है ॥ २ ॥
अनुभव सत्ता हिये प्रकाशे, जब नाशे जग की कलना।
शब्द अर्थ की ठौर तहां नहीं, नहीं मन बुद्धि हंकारा है ॥ ३ ॥
निज स्वभाव में इस्थित है, परवाह रूप जग की लीला।
कारज वस्तु नवीन न कोई, सब नामरूप आखाड़ा है ॥ ४ ॥
नाना नाम अरु भिन-भिन रूपों,को जग संसार बुलावे है।
तत्वज्ञान अद्वैत वस्तु ही, अनिक नाम आकारा है ॥ ५ ॥

Scanned with CamScanner

अद्वै दृष्टि को धर वेत्ता, सदा निश्चल चित से रहता है।
नाम अरु रूपों का निश्चय चित, चंचल करने हारा है॥ ६॥
अद्वैनिष्ठी सद् निश्चल मति, सुख से आयु निभावे है।
गंभीर अरु शान्त स्वरूपा, **हेमां** जीवनमुक्त अपारा है॥ ७॥

॥ भजन ॥ (६)

सब कुछ अविनाशी प्यारो॥
नाश न होय सके कोई वस्तु, निश्चय सब सत सारो॥ १॥
नाश शब्द है मिथ्या ज्ञाना, उसको तुरत विसारो॥ २॥
भ्राँति क्षोभ बंधन का कारण, मिथ्या ज्ञान संभारो॥ ३॥
ज्यों की त्यों सत् वस्तु सब ही, यह सिद्धान्त चितारो॥ ४॥
देह अरु देह अवस्था सगरी, चिद्विलास वीचारो॥ ५॥
परछिन्नता भ्रांति दुःख मूला, पूरण रूप तुम्हारो॥ ६॥
तरंग दृष्टि भ्रम को उपजावे, जल दृष्टि नित धारो॥ ७॥
हेमराज सब ब्रह्म खलु ये, सत्ता मात्र अपारो॥ ८॥

॥ भजन ॥ (७)

भूत भविष्यत होय दलन, नाशें आशा मनसा सब ही।
प्रापत हो आनन्द विलक्षण, जीवन मुक्ति का तब ही॥ १॥
राजस तामस वृति होय हवन, हो जावे सत् क्रिया ही सबही।
प्रापत हो आनन्द विलक्षण, जीवन मुक्ति का तब ही॥ २॥
रहे न शत्रु भाव अरु सज्जन, अपना स्वरूप देखो सब ही।
प्रापत हो आनन्द विलक्षण, जीवन मुक्ति का तब ही॥ ३॥
भासे है अपना ही आत्मन, हितकारी दुष्कारी सब ही।
प्रापत हो आनन्द विलक्षण, जीवन मुक्ति का तब ही॥ ४॥
शांति बसे हो जाय विस्मरण, लौकिक शब्दा-रथ सब ही।
प्रापत हो आनन्द विलक्षण, जीवन मुक्ति का तब ही॥ ५॥
सदा विराजे निर्विकल्प मन, तजी कल्पना चित सब ही।
प्रापत हो आनन्द विलक्षण, जीवन मुक्ति का तब ही॥ ६॥
शुद्ध सत्ता में रहें मगन, मिट जाए द्वन्द अरु भाव सभी।
प्रापत हो आनन्द विलक्षण, जीवन मुक्ति का तब हो॥ ७॥
अपना आप करे दर्शन, देखे अपनी लीला सब ही।
प्रापत हो आनन्द विलक्षण, जीवन मुक्ति का तब ही॥ ८॥
चिद्वप चिह्न मात्र लख पूरण, देहोहं भाव तजे सब ही।
प्रापत हो आनन्द विलक्षण, जीवन मुक्ति का तब ही॥ ९॥

Scanned with CamScanner

आपन आप तृप्त पावन रस, अपना **हेमां** ले सद ही।
प्रापत हो आनन्द विलक्षण, जीवन मुक्ति का तब ही ॥१०॥

॥ भजन ॥ (८)

सब वासना को तजना, संतों का यह धरम है।
निज आतमा को भजना, संतों का यह धरम है॥ १ ॥
मन वेग को निवारे, इन्द्रिय सकल सुधारे।
चित सदा स्वस्थ रखना, संतों का यह धर्म है॥ २ ॥
गुजरी हुई न चितवे, आगे की चिन्त त्यागे।
जो बने प्रसन्न ही रहना, संतों का यह धरम है॥ ३ ॥
मैं तू नहीं है जिसमें, नहीं ऊँच नीच उसमें।
समता को नित वरतना, संतों का यह धर्म है॥ ४ ॥
सद मगन आतमा में, नित तृप्त और निर्भय।
शान्त आतमा विचरना, संतो का यह धरम है॥ ५ ॥
सब द्वन्द जिसके भागें, त्रिपुटी का संशा नासे।
सद निर्विकल्प बसना, संतों का यह धरम है॥ ६ ॥
संशय जन्म-मरण का, देह जग का भेद नांही।
चिन् मात्र में है मगना, संतों का यह धरम है॥ ७ ॥
लाभ हानि में बराबर, सम्मान अरु निरादर।
कुछ भी न आप बनना, संतों का यह धरम है॥ ८ ॥
जिसका विमल अचारा, अल्प और शुद्ध अहारा।
साचा विहार करना, संतों का यह धरम है॥ ९ ॥
सन्तुष्ट आप में जो, पूरण लखे सर्व को।
हेमां अनूप धरमा, संतों का यह धरम है॥१०॥

॥ भजन ॥ (९)

जो जीवित काल में मरता है, सो जीवन मुक्त कहाता है।
आशा नहिं कोई करता है, सो जीवन मुक्त कहाता है॥ १ ॥
नहीं भूत भविष्यत चिन्त रहे, जो बने उसी में अचिन्त रहे।
कोई विकल्प नहीं फिर धरता है, सो जीवन मुक्त कहाता है॥ २ ॥
नहीं ऊँच नीच का भेद उसमें, नहीं मैं तू का परिच्छेद उसमें।
सबसे असंग जो चलता है, सो जीवन मुक्त कहाता है॥ ३ ॥
हंगता ममता का न लेश उसमें, नहीं काल वस्तु अरु देश उसमें।
सकल उपाधि को तजता है, सो जीवन मुक्त कहाता है॥ ४ ॥
जो सहज बने उस पर प्रसन्न, आरम्भ नहीं उसमें न यत।
हेमां कृत कृत्य सन्तुष्टा, सो जीवन मुक्त कहाता है॥ ५ ॥

॥ इति श्री चतुर्दश सिद्धान्त समाप्तम् ॥

Scanned with CamScanner

★ विदेह मुक्ति सिद्धान्त ★

: १५ :

प्रश्न १—मुक्ति का क्या अर्थ है ?

उत्तर—मुक्ति का अर्थ सर्व दुःख की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति है।

प्रश्न २—ऐसी मुक्ति किस साधन से प्राप्त होती है ?

उत्तर—वास्तव में कोई वस्तु किसी वस्तु से भिन्न नहीं हुई और न कोई वस्तु किसी के साथ अभिन्न हुई है, केवल मध्य से भ्राँति निवृत्त करनी है। जब यथार्थ ज्ञान द्वारा मध्यस्थ संशय निवृत्त होगा, तो सिद्ध होगा कि मुक्त होने से पहले ही मुक्त था; और ज्योति के मिलने से पहले ही ज्योतिस्वरूप था। ऐसे यथार्थज्ञान की प्राप्ति केवल यथार्थवेत्ता, यथार्थ-निष्ठी, यथार्थ-दर्शी और यथार्थ-उपदेशक के सत्संग से प्राप्त होती है।

प्रश्न ३—शास्त्रों में मुक्ति का जो प्रसंग लिखा है, वह क्या है ? लोग मुक्त होकर कहाँ जाते हैं ? यदि कहें, ब्रह्म हो जाते हैं, ब्रह्म तो सारे हैं। जो जीव बंधे प्रतीत होते हैं, उनमें भी ब्रह्म है। ब्रह्म में मुक्ति कैसे हो सकती है ? जो जीव मुक्त हो जाता है, वह फिर संसार में नहीं आता, आदि से लेकर आजतक करोड़ों जीव मुक्त हुए होंगे, इससे संसार की प्रवृति न्यून होनी चाहिए परन्तु ज्यों की त्यों पूर्ण है; इसलिए कृपा कर उपदेश करें कि मुक्ति का अर्थ क्या है ? सुख सहित आयु व्यतीत करने को मुक्ति कहते हैं अथवा किसी और अवस्था को ?

उत्तर—मुक्ति नाम समाप्ति का है। समाप्ति दो प्रकार की है, एक अज्ञान की समाप्ति और दूसरी शरीर की समाप्ति। अज्ञान की समाप्ति को जीवनमुक्त कहते हैं और देह की समाप्ति को विदेहमुक्त ! सो विदेहमुक्त सब कोई है और जीवनमुक्त कोई कोई है। भाव यह कि शरीर की समाप्ति सबको समान प्राप्त होती है परन्तु अज्ञान से रहित कोई कोई आयु व्यतीत करता है। इसलिए जो पुरुष ज्ञान द्वारा अज्ञान निवृत्त कर सर्व संशयों से शुद्ध होता है और उत्तम स्वभावों को धार देह सम्बन्धी काल को व्यतीत करता है, वह मुक्त है।

मुक्ति कोई देश नहीं, जहाँ जीव जाते हैं। मुक्ति नाम निःसंशय, नित्यतृप्त, नित्य उदित और सम अवस्था का है। जिस अन्तःकरण में ऐसी अवस्था प्रकट होती है, वही मुक्त है।

वास्तव में न कोई बंध है और न कोई मुक्त है। रुचि बढ़ाने के लिए महात्माओं ने यह शब्द रखे हैं। शरीर की उपाधि से यह सारे भेद हुए हैं, नहीं तो एक वस्तु अपने आप में स्थित है। ब्रह्म और जीव का भेद शरीर की दृष्टि से है, जब यह दृष्टि ही न रही अर्थात्

Scanned with CamScanner

शरीर ही न रहा तो बंधन और मुक्ति कैसे सिद्ध होंगे ? जब बंध और मुक्त ही असिद्ध सिद्ध हुए तो यह जीव ब्रह्मरूप है और यह जीव ब्रह्मरूप नहीं है यह कैसे सिद्ध होगा ? सब संशयों से रहित समान अवस्था रहेगी। जिसमें वाणी की गम्य नहीं, ऐसी अवस्था का नाम विदेहमुक्त है। भाव यह शरीर और संसार की समाप्ति होगी। इसी अवस्था को धार ज्ञानवान शरीर के होते हुए मुक्ति का आनन्द लेते हैं।

आदि कोई नहीं यह एक चक्कर है, जो अपने स्वभाव में स्थित है। जब आदि भी नहीं तो अन्त भी कोई नहीं। नित्य ही एक रस चला चलता है। ऐसे स्वतः स्वभाव में न्यूनता क्या और अधिकता कैसे ? वास्तव में न कुछ घटता है, न बढ़ता है, न कोई आता है और न कोई जाता है, ज्यों का त्यों पूर्ण स्थित है। इस ज्ञान को निश्चय करना और फिर कदाचित् संशय को न प्राप्त होना मुक्ति है।

जीव कोई प्रच्छिन्न वस्तु नहीं, कि मुक्त होकर कहीं चला जाता है या ब्रह्म हो जाता है; जीव नाम सत्य वस्तु का है। भाव यह कि जो वस्तु त्रिकालबाध हो और सदा रहे वह जीव है। ऐसी नित्य वस्तु में आना जाना या ब्रह्म से भेद अभेद मानना जीव के वास्तव स्वरूप के अज्ञान से है। वास्तव में जीव ब्रह्म का विशेषण है। जो वस्तु सत्य है, वही पूर्ण है। इसलिए ब्रह्म कोई दूसरी वस्तु नहीं किन्तु जीवरूप है, क्योंकि विशेषण सदा विशिष्ट से अभिन्न होता है। जब जीव विशिष्ट है और ब्रह्म विशेषण है तो भेद का प्रसंग कैसा ? जब भेद ही नहीं तो अभेद किस लिए ? भेद और अभेद अज्ञान में हैं। इन दोनों से रहित जीव अपनी महिमा में स्थित है। न कहीं आता है और न कहीं जाता है, शरीर तरंगों की तरह उसमें उत्पन्न और लीन होते हैं। तरंगो की उत्पत्ति और लय से जलरूप में कोई विकार नहीं आता। अगणित तरंगरूप शरीर उत्पन्न और लीन होते हैं, जीवरूप जल सदा ज्यों का त्यों है। यही विलास सदा बना रहता है, न घटता है न बढ़ता है। यदि कुछ हुआ हो तो घटे और बढ़े; जब हुआ ही कुछ नहीं और सत्य वस्तु अपने आप में स्थित है तो घटे क्या और बढ़े क्या ? इस दृष्टि को धारकर सदा आनन्दरूप रहना मुक्ति है अर्थात् संसार की समाप्ति है।

प्रश्न ४—मुक्ति का स्वरूप क्या है ?

उत्तर—संशय की निवृत्ति ही मुक्ति है।

प्रश्न ५—देह त्याग के उपरान्त मुक्त पुरुष कहाँ जाता है ?

उत्तर—कहीं नहीं जाता। आपने आप में समा जाता है। अर्थात् जैसा था वैसा रहता है, शरीर अपने कारण में लीन हो जाता है और वह पूर्ण चिदाकाशरूप है इसलिए ज्यों का त्यों रहता है।

प्रश्न ६—क्या ब्रह्म सर्वव्यापक और मूर्तिमान से दो स्वरूप धारण किये हुए हैं ? मूर्तिमान स्वरूप से आनन्द होता है और सर्वव्यापक होकर सर्व का आधार है। मूर्तिमान ब्रह्मने शास्त्रों में कथित बैकुण्ठलोक, ब्रह्मलोक, शिवलोक, इन्द्रलोक आदि बनाया हैं कि जीव मुक्त होते ही वहाँ चले जाते हैं ?

Scanned with CamScanner

होती है। यदि मूर्त माने तो अमूर्त भी मानना पड़ेगा। उससे द्वैत सिद्ध होगा, इसलिए न कोई मूर्त है और न कोई अमूर्त। सर्व व्यापक भी द्वैत से सिद्ध है, क्योंकि व्यापक व्याप्य के बिना सर्व व्यापक सिद्ध नहीं होता। वस्तु अद्वैत है, इसलिए सर्व व्यापक भी नहीं, अपने-आप में स्थित है। द्वैत न था, न है और न होगा। बंध और मुक्ति भी वास्तव नहीं हैं, केवल कथन मात्र है। इस अवस्था में मुक्त जीव का दूसरे लोकों में चला जाना किस प्रकार निश्चय किया जाए? जब एक ही वस्तु पूर्ण है तो इन्द्रलोक, शिवलोक, विष्णुलोक और ब्रह्मलोक भी उसी का स्वरूप हैं। एक ही वस्तु के सारे नाम हैं। जिस स्थान में आप बैठे हैं, सारे उसी के नाम हैं, इसके बिना कोई दूसरा स्थान नहीं। मूर्तिमान और सर्वव्यापक भी एक ही वस्तु के नाम हैं। जैसे तरंग और जल एक ही वस्तु के नाम हैं। इसलिए यही निश्चय करें कि न कोई मरता है, न उत्पन्न होता है, न कोई बंध है न कोई मुक्ति की इच्छा करने वाला है और न कोई मुक्त है। यही परमार्थ और यथार्थ ज्ञान है। इस ज्ञान के बिना संशय की निवृति नहीं हो सकती। अनेकता को देखकर न भूलें, यह अनेकता केवल एकता है। सब शब्द, सब अर्थ, सब आकार, सब मनोराज, सब पदार्थ ब्रह्म पद के अर्थ हैं। तात्पर्य यह कि सब एक है और एक सब है। जैसे सब अंग शरीर का अर्थ देते हैं इसलिए सब अंग शरीर हैं और शरीर सब अंग है, भेद कोई नहीं। वैसे ही निराकार साकार, जड़, चेतन, स्थूल, सूक्ष्म ब्रह्म है। इस दृष्टि और निश्चय को दृढ़ करें, भूत भविष्य विस्मरण कर वर्तमान में प्रसन्न तथा समचित्त रहें।

प्रश्न ७—जब ज्ञानी का शरीरपात होता है तब उसका जीवात्मा कहाँ रहता है?

उत्तर—जहाँ प्रथम होता है। अर्थात् जहाँ शरीर के होने पर होता है वहीं शरीरपात के समय होता है। जैसे आकाश घट की उत्पत्ति से पूर्व जहाँ होता है, वहीं घट के होने पर होता है। जहाँ घट के होने पर होता है, वहीं नाश के समय होता है। आकाश में देश का प्रच्छेद नहीं है किन्तु पूर्ण है इसलिए आकाश में इधर-उधर, ऊपर-नीचे का भेद कल्पित और असत्य है। आत्माकाश भी जहाँ शरीर की उत्पत्ति से प्रथम था, वहीं शरीर की वर्तमानता में रहता है और जहाँ शरीर की वर्तमानता में होता है, वहीं शरीर के पात के समय होता है। आत्माकाश अखंड और पूर्ण है। इसमें भी इधर-उधर, जहाँ-कहाँ कल्पित और असत्य हैं। इसलिए सिद्ध हुआ कि जीवात्मा अपने-आप में स्थित रहता है।

प्रश्न ८—शास्त्रों में लिखा है कि एक ही चेतन अविद्या की उपाधि से जीव है, माया की उपाधि से ईश्वर है और उपाधि से रहित ब्रह्म है। जैसे एक ही आकाश घट की उपाधि से घटाकाश है, मठ की उपाधि से मठाकाश है और उपाधि से रहित महाकाश है। कई ज्ञाती मानते हैं जीव और ईश्वर की एकता होती है और कई ज्ञानी कहते हैं जीव और ब्रह्म की एकता नहीं होती है। जिनके मत में जीव और ईश्वर की एकता मानते हैं कि शरीरपात होने के समय जीव ईश्वर में लीन होता है ब्रह्म में नहीं। जैसे घट के टूटने पर घटाकाश मठाकाश में लीन हो जाता है महाकाश में नहीं होता। जब महाप्रलय के समय ईश्वर ब्रह्म में लीन होता है तब वह जीव भी ब्रह्म में लीन होता है। जिन ज्ञानियों के मत में जीव की ब्रह्म के साथ

Scanned with CamScanner

एकता होती है, वे यह मानते हैं कि शरीर केपात होने पर जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है। अब इन भिन्न-भिन्नमतों में से कौन-सा मत यथार्थ है ?

उत्तर—वास्तव में एक ही चेतन है और वह अखंड है, अविद्या और माया की उपाधि से खंड-खंड नहीं हुआ किन्तु ज्यों का त्यों अपनी एकता में स्थित है। जैसे आकाश नाना प्रकार के घट, अगणित मन्दिर, अनन्त ब्रह्माण्डों और उपाधि के भेद से भी खण्डित नहीं हुआ किन्तु ज्यों का त्यों अपने वास्तव स्वरूप में स्थित है। इसी प्रकार एक ही चेतन अपने आप में स्थित है। जीव की ईश्वर में लयता माननी या ब्रह्म में लयता माननी अज्ञान से सिद्ध है। वास्तव में न जीव है, न ईश्वर है, न ब्रह्म है, अद्वैत वस्तु उपाधि, विशेषण, नामरूप से शुद्ध अपने-आप में स्थित है। यदि भेद और प्रच्छेद ही नहीं तो एक भाग का दूसरे भाग में लीन होना व एक भाग का महान में लीन होना किस प्रकार सिद्ध हो सकता है ? न जीव कहीं से आता है और न कहीं जाता है, जहाँ है वहाँ हैं, किसी प्रकार की कल्पना स्थापित नहीं हो सकती। जैसे घटाकाश घट के टूटने से कहीं आता-जाता नहीं, उसी देश में रहता है, वैसे ही शरीर के पात होने पर चेतन कहीं आता-जाता नहीं, उसी स्थान पर रहता है। यदि कोई यह कहे कि घट के टूटने से घटाकाश मठाकाश में लीन हो जाता है तो सोचना चाहिए कि घट के होते घटाकाश मठाकाश से भिन्न हो गया था या नहीं ? विचार से सिद्ध होता है कि घटाकाश घट के होने पर भी मठाकाश से भिन्न नहीं हुआ, क्योंकि घट के अन्तर भी आकाश है और बाहर भी आकाश है, और मध्य में मृत का खप्पर है सो उसमें भी आकाश है क्योंकि जब घट को पानी से भरें तो अंतर की नमी घड़े के बाहर प्रकट होती है। अब इस नमी को अन्तर से बाहर का मार्ग देनेवाला आकाश के बिना दूसरा कोई नहीं। इसलिए घट के अन्दर घट के बाहर और घट के मध्य एक ही आकाश है। जब एक ही आकाश है तो घट के भाव और अभाव को मानना केवल भ्रांति है। जब घट ही नहीं तो आकाश को घट से उपाधित करके घटाकाश मानना कैसे बन सकता है ? इसी प्रकार मठाकाश भी अर्थ से शून्य है, क्योंकि मठ अर्थात् मंदिर के अन्दर भी आकाश है, और मंदिर के बाहर भी आकाश है। मध्य में जो भीत है उसमें भी आकाश है, क्योंकि जब लोहे अथवा लकड़ी की कील को दीवार में दबाया जाता है तो मिट्टी के निकलने के बिना वह कील दीवार में चली जाती है, अब कील को अन्दर जाने का मार्ग देने वाला आकाश के बिना दूसरा कोई नहीं। इसलिए सिद्ध हुआ कि मन्दिर के अन्तर भी आकाश है और बाहर भी आकाश है। जब एक ही आकाश है तो दीवार की उपाधि से उसको मठाकाश मानना यथार्थ ज्ञान के विरुद्ध है। दीवारों के होने पर भी आकाश ज्यों का त्यों अपने-आप में स्थित है। इसलिए मठाकाश भी कोई नहीं, इसी प्रकार महाकाश को देखें तो महा का शब्द घट और मठ की अपेक्षा से स्थापित किया गया था, जब घट और मठ भ्रांतिमात्र निरर्थक सिद्ध हुए तो महा का शब्द भी अर्थ से रहित है। इस रीति से घट, मठ और महा की उपाधि से रहित आकाश अपने-आप में स्थित है, जब एक आकाश ही है तो फिर एक को दूसरे में लीन मानना और दूसरे को तीसरे में लीन मानना यथार्थ ज्ञान से अत्यन्त ही विरुद्ध है,। न आकाश उत्पन्न होता है, न लीन होता है, सदा

Scanned with CamScanner

एक रस, अखण्ड, अचल अपने-आप में स्थित है।

इसी प्रकार जीव, ईश्वर और ब्रह्म तीनों ही अर्थ से रहित हैं, अद्वैत वस्तु जो चिदाकाश है, स्वयं स्थित है, न अविद्या से जीव भाव को प्राप्त होता है और न माया से ईश्वर भाव को प्राप्त होता है। दोनों उपाधियों से शुद्ध है, क्योंकि अद्वैत और अखण्ड है, ये किसी प्रकार खण्डित नहीं हो सकते। शरीर के उत्पन्न होने से उत्पन्न नहीं होता और शरीर के नाश होने से नष्ट नहीं होता। शरीर से प्रथम सिद्ध है, शरीर के अन्तर, बाहर और मध्य स्थित है। शरीर के भाव और अभाव से उसका भाव और अभाव सिद्ध नहीं होता। इसलिए सदा एक रस और अचल अपने-आप में स्थित है, जीव भाव भ्रांति मात्र है! वैसे ही ईश्वर भाव भी भ्रान्ति मात्र है, क्योंकि जब एक ही चेतनपूर्ण है तो किसकी अपेक्षा से उसको ईश्वर कहते हैं? यदि कहो कि जीव की अपेक्षा से ईश्वर है तो जीवभाव सिद्ध नहीं होता। इसलिए ईश्वर भाव भी सिद्ध नहीं होता, जब जीव और ईश्वर दोनों असिद्ध हैं तो ब्रह्म किस प्रकार सिद्ध होगा? इसलिए जीव, ईश्वर, ब्रह्म भाव से शुद्ध अद्वैत वस्तु अपने-आप में स्थित है। न कोई जन्म लेता है, न मरता है, न कोई उत्पन्न होता है, न लीन होता है, केवल चिदाकाश, एकरस, अखण्ड, अचल अपने में आप है। ज्ञानी और अज्ञानी का भेद इस स्थान पर कोई नहीं, क्योंकि जीव ईश्वर की तरह ज्ञानी अज्ञानी भी भ्रांतिमात्र अर्थ से शून्य हैं। इसलिए सर्व संशयों को त्याग कर केवल केवली रूप होकर स्थित होना ही श्रेष्ठ है।

प्रश्न ९—शास्त्रकार ब्रह्मज्ञानी को मुक्त कहते हैं और अज्ञानी को बद्ध मानते हैं; मुक्त पुरुष का वृतान्त ऊपर वर्णन कर दिया है। कृपया यह बताएँ कि बद्ध पुरुष देह त्याग के उपरान्त कहाँ जाता है?

उत्तर—जैसे मुक्त पुरुष का वृतान्त है वैसे ही बद्ध पुरुष का वृतान्त है। वास्तव में मुक्त और बद्ध कोई नहीं है और न ज्ञान, अज्ञान में सामर्थ्य वस्तु को कुछ और का और करने की है। इसलिए सब शरीरों की गति समान है। अर्थात् न कोई कहीं जाता है; न कुछ होता है आप में आप समा जाता है। ज्ञान, अज्ञान, बंधन मोक्ष आदि अंतःकरण के धर्म हैं। इनका स्वरूप कोई नहीं। अन्तःकरण प्राणपर्यंत रहता है। प्राण के उपरान्त अंतःकरण अपने कारण भूतों में लीन हो जाता है। इसलिए अंतःकरण के धर्म ज्ञान-अज्ञान, पुण्य-पाप, बंधन-मोक्ष आदि भी लीन हो जाते हैं। जब यह आप ही न रहे तो दूसरों को क्या फल देंगे। इसलिए यह सर्व द्वन्द केवल शब्द मात्र हैं।

वास्तव में अद्वैत सत्ता अपने-आप में स्थित है। न उत्पन्न होती है न नाश होती है, न बंध है, न मुक्त है, न आती है, न जाती है, न शरीर है, न अशरीर है, न प्रच्छिन्न है, न व्यापक है, न देह है, न विराट है, न जीव है, न ईश्वर है। केवल केवलीरूप जैसी है वैसी है।

सिद्धांत को भली प्रकार विचार करो, जिससे संशय निवृत हो।

प्रश्न १०—ज्ञानी पुरुष तो अपने-आपको समझकर आपमें आनन्दवान है। वह शरीर के भाव अभाव में हर्ष शोकवान नहीं होता। जन्म-मरण के संशय से मुक्त है। अज्ञानी अपने-आप को नहीं जानता, उसे शरीर के भाव समय सदा राग-द्वेष आदि रहते हैं और शरीर के

Scanned with CamScanner

अभाव समय अज्ञानी को क्या होगा ? यदि शरीर के अभाव समय ज्ञानी और अज्ञानी में कुछ भेद नहीं तो ज्ञानी को आनन्द और अज्ञानी भ्रम का जाल यही भेद है या कुछ और भी ?

उत्तर—यही भेद है। अर्थात् ज्ञानी अपने स्वरूप को जानकर सब संशयों से मुक्त हो जाता है और अज्ञानी न जानकर संशयों के अधीन रहता है। वह कल्पित कर्मों से राग-द्वेष और पुण्य-पाप की पीड़ा सहता है। वास्तव में स्वरूप दोनों का समान है, केवल ज्ञान और अज्ञान का भेद है। ज्ञान और अज्ञान अन्तःकरण के धर्म हैं। आत्मा ज्ञान-अज्ञान दोनों से रहित है। जैसे आकाश, प्रकाश और तम दोनों में एक जैसा है, केवल सूर्य के उदय और अस्त से प्रकाश और तम होता है। आकाश दोनों अवस्थाओं में समान है, वैसे ही आत्मा जो चिदाकाश रूप है, ज्ञान और अज्ञान में एक जैसा है। केवल अंतःकरण में जब श्रोत्र सम्बन्धी वाक्य से ज्ञान होता है, तब प्रकाश होता है। जब वाक्य नहीं सुने जाते तब मन रहता है। प्रकाश नाम ज्ञान का है और तम नाम अज्ञान का है। इन दोनों अवस्थाओं में आत्मा केवल चिदाकाश रूप है, समान रहता है। आत्मा सब का अपना-आप है, उसमें न जन्म है, न मरण है, न आना है, न जाना, आकाशरूप अपनी महिमा में स्थित है। ज्ञान-अज्ञान दोनों उसमें कल्पित है कल्पित वस्तु वास्तव वस्तु को विकारी नहीं कर सकती। इसलिए ज्ञान और अज्ञान आत्मा में किसी प्रकार का भेद उत्पन्न नहीं कर सकते।

प्रश्न ११—जब शरीर मर जाता है और जलाया जाता है, पाँच तत्व पाँच तत्वों में मिल जाते हैं, किन्तु अन्दर प्रकाश करने वाला और साक्षी जीवात्मा कहाँ जाता है ?

उत्तर—जीवात्मा कहीं नहीं नहीं जाता, क्योंकि जीव का स्वरूप आकाश है, आकाश पूर्ण है। आकाश में आना और जाना नहीं बन सकता। जैसे घट के फूटने से घट का आकाश कहीं जाता नहीं, वैसे ही शरीर के मरने और जलने से जीवात्मा कहीं आता जाता नहीं, स्थित रहता है। भौतिक शरीर, प्राण और इन्द्रिय आदि के बिना कर्म अर्थात् आना और जाना सिद्ध नहीं हो सकता। जब भौतिक शरीर, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण अपने कारण पाँच तत्वों में मिल गए तब इनका कर्म जो आना और जाना है वह भी लीन हो जाता है। उसके उपरान्त चिदाकाश अक्रिय और निश्चल अपने-आप में स्थित रहता है। पहले भी स्थिति था परन्तु शरीर, इन्द्रिय और प्राण की उपाधि से चलायमान और कर्त्ता प्रतीत होता था। जब यह उपाधि निवृत्ति हो गई तो इस उपाधि से जो कलंक जीव को लगा हुआ था, वह भी निवृत हो जाता है। जीवात्मा, जीवात्मा के नाम, गुण, रूप और धर्मों से रहित हो जाता है और अगम, अपार, अचल, अक्रिय और गम्भीर गति को प्राप्त होता है। कहाँ, जहाँ तब कहे जाते हैं जब वस्तु प्रच्छिन्न और साकार हो परन्तु जब वस्तु अप्रछिन्न और निराकार हो तब इधर-उधर की कल्पना भी सम्भव नहीं। जीवात्मा पूर्ण और निराकार है इसलिए इसमें इधर-उधर का भेद भी सिद्ध नहीं हो सकता। जब इनका भेद ही नहीं तो इनकी अपेक्षा से आना और जाना किस प्रकार सिद्ध होगा ? इसलिए किसी प्रकार जीवात्मा का आना व जाना सिद्ध नहीं होता। सिद्ध यह होता है कि जीवात्मा वह वस्तु है, जिसका ज्ञान वेद और शास्त्र आदि से ऊपर है। भाव यह कि इनसे भी उसका पूरा ज्ञान

Scanned with CamScanner

नहीं हो सकता। ऐसी अनादि, निरंजन, निराकार, अजूनी और स्वतः सिद्ध वस्तु में सब कल्पनाएँ यथार्थ नहीं किन्तु मिथ्या है। मिथ्या वचन पर प्रतीत करने से क्लेश और भ्रम होता है। इसलिए जितने वचन जीवात्मा के आने और जाने के वाणी और लेखनी में आ रहे हैं, सबको मिथ्या प्रतीत कर यही निश्चय करो कि जीवात्मा निश्चल, गमन आगमन से परे नित्य स्थितरूप है।

प्रश्न १२—जिस पुरुष की वासना है, उसका जन्म मरण है। जिस पुरुष को वासना नहीं, वह जन्म-मरण में तो आता नहीं फिर वह कहाँ रहता है और किस स्वरूप में रहता है?

उत्तर—इसका उत्तर ऊपर दिया गया है। तुमने वासना सहित और वासना रहित जीव की गति का प्रश्न पूछा है। इसका उत्तर दिया जाता है।

वासना किसका धर्म है? विचार से सिद्ध होता कि वासना अन्तःकरण का धर्म है और जीवात्मा से भिन्न है। इसलिए जीवात्मा के होने व न होने से जीवात्मा पर कोई पुण्य और पाप व बंधन और मोक्ष स्थापित नहीं हो सकता। केवल अविवेकी पुरुषों ने अन्तःकरण के धर्मों को आत्मा में आरोप कर आत्मा को जन्म-मरण के अधीन माना है। वास्तव में आत्मा चिदाकाश रूप है, इसमें कोई क्रिया सिद्ध नहीं हो सकती। यदि वासना आत्मा का धर्म हो तो सुषुप्ति अवस्था में वासना रहे। उस अवस्था में भी आत्मा के बिना और कोई इन्द्रिय व अन्त करण नहीं होते। उस अवस्था में वासना भी नहीं होती। इसलिए सिद्ध है कि आत्मा में वासना नहीं है, वरन् अन्तःकरण में है। जब अन्तःकरण सुषुप्ति अवस्था में लीन हो जाता है, तब वासना भी लीन हो जाती है। जब शरीर के होते आत्मा के साथ वासना का सम्बन्ध नहीं, तो शरीर के उपरांत वासना ने आत्मा को क्या करना है?

वासना जड़ है, आत्मा चेतन है। आत्मा की चेतनता से वासना सिद्ध होती है। चेतन आत्मा जड़ वासना के अधीन होकर बारम्बार जड़ता को स्वीकार करता है—यह सब भ्रम ही है। आत्मा को वासना, जन्म और मरण के बन्धन में नहीं ला सकती और न वासना का त्याग आत्मा को जन्म-मरण से मुक्त कर सकेगा। आत्मा स्वतः सिद्ध, सनातन, नित्य मुक्त नित्य तृप्त, निरुपाध अपने-आप में स्थित है। अब क्या कहा जाए कि शरीर के उपरान्त आत्मा कहाँ जाता है, और किस स्वरूप में रहता है। जहाँ अब है उस समय भी वहीं, उसी स्थान पर होता है और जिस स्वरूप में अब है उस समय भी उसी स्वरूप में होता है। वासना के भाव और अभाव से उस पर बंधन और मुक्ति स्थापित नहीं हो सकती। यह दोनों अन्तःकरण के धर्म हैं और शरीर पर्यन्त हैं। इतना भेद है कि वासनाधारी यत्न और उद्यम से सदा क्लेश और ताप में रहता है और वासना रहित को यत्न के त्याग से सुख और शान्ति रहती है इसलिए महात्मा वासना के त्याग का उपदेश करते हैं। इस प्रयोजन से वासना के त्याग का उपदेश नहीं करते कि वासना से जीव जन्म-मरण पाता है और वासना के त्याग से जीव मुक्त हो जाता है, क्योंकि वासना असत्य है और जीवात्मा सत्य है। असत्य वस्तु सत्य वस्तु को कभी अपने अधीन नहीं कर सकती। इसलिए सर्व संशयों को त्याग कर यही निश्चय करना है कि जीवात्मा शुद्ध, निर्विकार, जन्म-मरण से रहित, इच्छा अनिच्छा से शुद्ध अपने

Scanned with CamScanner

आप में स्थित है।

प्रश्न १३—शास्त्रों में तीन प्रकार के शरीर का वर्णन है, एक स्थूल, दूसरा सूक्ष्म और तीसरा कारण। शंका यह है कि स्थूल शरीर के पात होने के उपरान्त तीनों शरीर नष्ट हो जाते हैं या सूक्ष्म और कारण अलग होकर भिन्न शरीर धारण करते हैं ?

उत्तर—स्थूल शरीर के नष्ट होने पर तीनों नष्ट ही नहीं, विराट में समा जाते हैं।

प्रश्न १४—मन का क्या स्वरूप है ? शरीर पात के उपरान्त मन शेष रहता है या हो जाता है ? कई कहते हैं कि मन शरीर को उत्पन्न करता है ? यह वार्ता सत्य है या मिथ्या ?

उत्तर—मन आप कोई वस्तु नहीं, स्थूल शरीर का सूक्ष्म भाग है, अन्न और जल का रस है। शरीरपात के उपरान्त यह भी नहीं रह सकता और न इसमें किसी वस्तु को उत्पन करने की सामर्थ्य है। यह केवल स्फुरणमात्र है और शरीर के आसरे रहता है। सुषुप्ति अवस्था में जैसे अन्न के पाचन समय निद्रा मूर्छा से लीन हो जाती है, वैसे ही मृत्यु अवस्था में जठराग्नि के अभाव से मृत्यु मूर्छा से अत्यन्त अभावगति को प्राप्त हो जाता है। जब सुषुप्ति में प्राण अपनी चेष्टा में सावधान हैं और मन अमन गति को प्राप्त हो जाता है, तो मृत्यु अवस्था में जब प्राण अभाव रूप हो जाते हैं तब मन के अभाव होने में क्या संशय है ? इससे सिद्ध है कि शरीर पात के अनन्तर मन शेष नहीं रहता किन्तु शरीर के समान उसका अभाव हो जाता है। जब आप ही न रहा तो शरीर को कैसे उत्पन्न करेगा ? शरीर सदा तरंगों की तरह उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं। यह प्रवाह ऐसे चला आता है परन्तु यह नहीं कि एक ही शरीर पुनः-पुनः उत्पन्न होता है। आत्मा पूर्ण है, उसमें जन्म-मरण का अत्यन्त अभाव है। केवल भूतों के पंचीकरण से उत्पत्ति और लयता का विलास हो रहा है। भूतों का विलास भूतों में भूतों का स्वरूप है। भूतों को त्यागकर भिन्न गति को प्राप्त नहीं होता। इसलिए शरीर की उत्पत्ति और लयता भी केवल भ्रांतिमात्र है। वास्तव में पंचीकृत पंच महाभूतों का विलास है। यदि कहें कि कर्म से शरीर की उत्पत्ति होती है तो वह भी नहीं बन सकती, क्योंकि कर्म शरीर का स्वरूप है। कर्म की सिद्धि के लिए शरीर है, वह कर्म भी पंचीकरण पंचमहाभूतों का धर्म है और सदा उसमें रहता है। इसलिए कर्म कोई भिन्न वस्तु नहीं, जो उसमें शरीर के उत्पन्न करने की सामर्थ्य हो। अतः सिद्ध है कि मन में शरीर को उत्पन्न करने की सामर्थ्य है और न कर्म में। केवल भूतों का विलास प्रवाहरूप से भूतों में स्थित है।

प्रश्न १५—योग वसिष्ठ, दूसरे ग्रन्थों एवं महात्माओं का वचन है कि शरीर के नाश होने से मन नष्ट नहीं होता। एक शरीर के नाश होने पर मन अपनी वासना के अनुसार दूसरा शरीर धारण करता है इसलिए ऊँच और नीच का भेद है ?

उत्तर—वास्तव में कुछ नाश नहीं होता। अपने-अपने कारण में सब कार्य लीन हो जाते हैं। शरीर तीन प्रकार का है—स्थूल, सूक्ष्म और कारण; यह तीनों शरीर पंचभूतों के कार्य हैं; स्थूल और कारण शरीर पाँच तत्वों के तमोगुण का कार्य है, क्योंकि दोनों जड़ और

Scanned with CamScanner

मूढ़ रूप हैं और सूक्ष्म शरीर पाँच तत्वों के सतोगुण और रजोगुण का कार्य है। सूक्ष्म शरीर में तीन वस्तुएँ हैं—इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण। इनमें से अन्तःकरण और ज्ञान-इन्द्रियाँ पाँच भूतों के मिश्रित सतोगुण का कार्य है। प्राण और कर्म-इन्द्रियाँ पाँच तत्वों के मिश्रित रजोगुण का कार्य है। इन्द्रियाँ दस हैं। वे दो प्रकार की हैं उनके नाम यह हैं—

ज्ञान इन्द्रिय—श्रोत, त्वचा, नेत्र, रसना, नासिका।

कर्म इन्द्रिय—मुख, हस्त, पाद, उपस्थ, गुदा।

प्राण दस हैं—प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान, नाग, कूरम, करकल, देवदत्त, धनंजय।

अन्तःकरण चार हैं—मन, चित, बुद्धि, अहंकार।

ये सब मिलकर सूक्ष्म शरीर हैं और इन्हीं के आसरे शरीर के सब कार्य, व्यवहार, चेष्टा, विषय, वासना आदि सिद्ध होते हैं। ये सब पाँचभूतों से उत्पन्न होते हैं, पाँच भूतों के आसरे रहते हैं और पाँच भूतों में लीन हो जाते हैं।

इसी प्रकार स्थूल शरीर जो पच्चीस प्रकृतियों का मिश्रण है, पाँच तत्वों से प्रकट होता है, पाँच तत्वों के आसरे रहता है और पाँच तत्वों में लय हो जाता है।

तीसरा कारण, शरीर भी पाँच तत्वों से उदय होता है, पाँच तत्वों में रहता है और पाँच तत्वों में समा जाता है इसलिए तीनों शरीर ही पंचभूतरूप हैं। इनकी उत्पत्ति, स्थिति और लयता भी पंचभूतरूप हैं और पांच भूत सदा स्थित हैं इसलिए उनका कार्य भी सदा उसमें स्थित है।

इस रीति से पंचभूत ही अपनी महिमा में स्थित हैं न कोई शरीर है और न कोई मन है। भूतों की स्थूलता का नाम शरीर है और भूतों की सूक्ष्मता का नाम मन है। भूतों से भिन्न शरीर और मन का स्वरूप कोई नहीं। ऐसी अवस्था में किसकी उत्पत्ति मानें और किसका नाश मानें? जब उत्पत्ति और नाश ही नहीं तो किसको ऊँच और किसको नीच कहें। यदि कल्पित मनौत, धन, प्रताप, महिमा, विद्या आदि को लेकर ऊँच-नीच मानें, तो यथार्थ नहीं हैं, क्योंकि ये सब पदार्थ तीनों काल नहीं हैं और न इनके भाव अभाव से शरीर में विशेषता और न्यूनता आती है। यदि इनका बल शरीर में प्रवेश करे तो इनकी अपेक्षा से किस को ऊँच और किस को नीच कहें? सब शरीरों में पच्चीस प्रकृति, दस इन्द्रिय, दस प्राण और चार अन्तःकरण समान हैं, चेष्टा भी समान ही करते हैं। सारे शरीर अपनी अपनी सामग्री सहित पाँच भूतों का कार्य है। इसलिए सारे ही समान हैं, न कोई ऊँच है और न कोई नीच।

यदि मन की वासना के अनुसार शरीर की उत्पत्ति द्वारा ऊँच-नीच मानें तो प्रथम यह विचार करना चाहिए कि मन भौतिक पदार्थों की वासना करता है अथवा भौतिक पदार्थों को त्याग कर और किसी की वासना करता है। यदि भौतिक पदार्थों की वासना करता है तो वह मन का आत्मा है और मन भी भौतिक पदार्थ है इसलिए सदा भौतिक पदार्थों का चिन्तन करता है। अपने को मानो आप स्मरण करता है अथवा चिन्तन करता है, अपने से भिन्न दूसरी ओर मन कदाचित् नहीं जाता। यदि कहें मन जगत में भटकता रहता है तो

Scanned with CamScanner

यह प्रश्न होता है कि मन या जगत् एक हैं या दो ? जगत् भी भौतिक पदार्थ है और मन भी भौतिक पदार्थ है। जगत् स्थूल है, इसलिए उसमें चंचलता रूप वासना प्रतीत नहीं होती है। मन सूक्ष्म है, इसलिए उसमें प्रतीत होती है। वासना मन से भिन्न नहीं है, किन्तु मन का स्वरूप है। इसी प्रकार मन जगत् से भिन्न नहीं, जगत् का स्वरूप है। जगत् भूतों से भिन्न नहीं, भूतों का स्वरूप है। इसलिए मन, जगत् और भूत एक वस्तु हैं। जब मन ही नहीं तो उसकी वासना का फल जो जन्म और मरण है कैसे सिद्ध होगा ? इस प्रकार मन की वासना के अनुसार भी उत्पत्ति और लयता नहीं होती। पाँच तत्वों के पंचीकरण अर्थात् मिश्रित होने से सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय होते हैं। पाँच तत्व अनादि हैं, चेतन का स्वभाव है इसलिए चेतन स्वरूप हैं और सदा अपने स्वभाव में स्थित हैं।

योग वासिष्ठ आदि ग्रन्थों ने शरीर के नाश होने से मन का नाश नहीं माना, उनका तात्पर्य यह है कि यद्यपि स्थूल शरीर अपने स्वरूप को त्याग कर अपने कारण में लीन हो जाता है तथापि केवल आकाश मात्र मन कहीं आता जाता नहीं। सूक्ष्म वस्तु निराकार होने से ज्यों का त्यों रहता है और स्थूल वस्तु साकार होने से उत्पन्न होती, बढ़ती, घटती और नाश होती हुई प्रतीत होती है। इसलिए स्थूल शरीर की उत्पत्ति और नाश प्रतीत होते हैं और सूक्ष्म शरीर रूप मन की उत्पत्ति और नाश प्रतीत नहीं होते। वास्तव में ये दोनों एक रूप हैं। यदि मन का नाश नहीं होता तो शरीर का नाश भी नहीं होता और यदि शरीर का नाश होता है तो मन का नाश भी होता है, क्योंकि इन दोनों का कारण, स्वरूप और अवधी समान है। महात्माओं का यही तात्पर्य है कि वास्तव में कोई वस्तु नष्ट नहीं होती, अद्वैत सत्ता अभिन्न निमित्त उपादान कारण रूप नाना प्रकार के कार्यों सहित अपने-आप में स्थित है।

जो मन की वासना के अनुसार शरीर की उत्पत्ति मानते हैं, उनसे यह पूछना चाहिए कि दूसरा शरीर कहाँ रहता है ? किसके आसरे कार्य करता है ? किस में लीन होता है ? उस शरीर में जो चेतन है, वह परमात्मा से भिन्न है अथवा अभिन्न ? यदि दूसरे शरीर की उत्पत्ति मानने वाला यह निश्चय करता है कि दूसरा शरीर भी ब्रह्मांड में रहता है, प्राण के आसरे कार्य करता है और पाँच भूतों में लीन होता है तथा उसमें जो चेतन है वह सदा परमात्मा से अभिन्न है। तब सोचना चाहिए कि कौन आया और कौन गया ? किसने शरीर बनाया और कौन शरीर में आया ? जब चेतन सदा चेतन रूप है और शरीर सदा शरीर रूप है तो क्या वस्तु उत्पन्न हुई और क्या वस्तु नष्ट हुई ? एक ही अद्वैत सत्ता अपनी अद्भुत शक्ति में स्थित होकर अपना कलोल आप करती है।

ऊँच और नीच पदार्थ भी पाँच भूतों के कार्य हैं। जैसे स्वर्ण उच्च पदार्थ है और मिट्टी नीच पदार्थ है परन्तु वास्तव में यह दोनों समान है, क्योंकि स्वर्ण मिट्टी का कार्य है इसलिए मिट्टी का स्वरूप है। इस प्रकार सब जड़ पदार्थों में जो ऊँच-नीच का भाव प्रतीत होता है, वह सब पाँच भूतों का कार्य होने से पंचभूत स्वरूप है। चेतन अद्वैत है, उसमें ऊँच-नीच की कल्पना नहीं है और न चेतन को किसी महात्मा और शास्त्र ने ऊँच या नीच माना है। केवल बहिर्मुखी पदार्थों में ऊँच-नीच भाव की कल्पना चली आती है। बाहर सर्व पदार्थ पंच

Scanned with CamScanner

भौतिक हैं और उन पाँच भूतों में ऊँच-नीच का ज्ञान भी नहीं, केवल अपनी जड़ता में स्थित हैं। ऊपर सिद्ध हो चुका है कि चेतन में ऊँच-नीच की कल्पना नहीं और अब सिद्ध हुआ है कि जड़ में भी ऊँच-नीच की कल्पना नहीं। जब जड़ और चेतन दोनों ऊँच-नीच की कल्पना से मुक्त हैं तो ऊँच-नीच केवल शब्द मात्र है। शब्द शून्य रूप है, शून्य का अर्थ कुछ नहीं है इसलिए ऊँच-नीच भी कुछ नहीं है। जब ऊँच-नीच भी कुछ नहीं है तो उनके लिए कल्पना अथवा संशय निरर्थक और अयथार्थ हैं।

प्रश्न १६—वेद और शास्त्र ने जगत की उत्पत्ति परमात्मा की इच्छा से कही है। इसका अर्थ यह हुआ कि जगत परमात्मा के संकल्प से प्रकट हुआ है। इसलिए सिद्ध होता है कि मन भी परमात्मा से उत्पन्न हुआ है, शरीर से नहीं ?

उत्तर—वेद और शास्त्र ने जगत को परमात्मा की इच्छा या संकल्प से उत्पन हुआ माना है। उनका तात्पर्य है कि जगत उत्पन्न नहीं हुआ किन्तु परमात्मा का विलास है, क्योंकि इच्छा—इच्छा करने वाले से भिन्न नहीं होती किन्तु सदा इच्छा करने वाले में रहती है। जब जगत परमात्मा की इच्छा है तो जगत सदा परमात्मा में है और परमात्मा में परमात्मा के बिना दूसरी वस्तु का अभाव है, परमात्मा केवल अपने-आप में स्थित है। इसलिए सिद्ध हुआ कि जगत तीनों काल नहीं है। परमात्मा केवल चेतन तत्व है। वह अपनी चेतनता में स्थित है। इच्छा, संकल्प या मन भी परमात्मा की चेतनता हैं, इसलिए परमात्मा स्वरूप हैं, दूसरी वस्तु नहीं है। जब दूसरी वस्तु ही नहीं तो मन की उत्पत्ति किस प्रकार मानी जाए ? इसलिए सिद्ध हुआ कि मन उत्पन्न नहीं होता, केवल अद्वैत वस्तु अपने-आप में स्थित है।

उत्पत्ति तब मानी जाए जब एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न होकर दूसरे स्थान पर रहे। सब पदार्थ एक ही परमात्मा में स्थित हैं, कदापि परमात्मा को त्यागकर दूसरे देश में नहीं जाते। और परमात्मा पूर्ण है, सब देश, सब काल, और सब वस्तुएँ परमात्मा में है। परमात्मा से भिन्न रंचक मात्र भी नहीं। जब परमात्मा से भिन्न कोई नहीं तो किस की उत्पत्ति किसी से मानी जाए और किसका नाम किस में माना जाए ? इसलिए न कुछ उत्पन्न हुआ था, न होता है, और न होगा। केवल चेतन तत्व अपने स्वभाव में स्थित है। शरीर, मन, जगत आदि चेतन स्वरूप हैं, दूसरे पदार्थ नहीं हैं। यदि इनकी उत्पत्ति मानी जाए तो किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं होती। यद्यपि वेदों, शास्त्रों, पुराणों, आचार्यों और महात्माओं ने भिन्न-भिन्न रीतियों से जगत की उत्पत्ति वर्णन की है तथापि एक की युक्ति दूसरे से नहीं मिलती। सर्व में विरोध है और श्रुतियों में भी भेद है, इससे सिद्ध होता है कि जगत की उत्पत्ति के विषय में जितनी श्रुतियाँ, युक्तियाँ, इतिहास, प्रसंग, संवाद और श्लोक हैं, वे सब परस्पर विरोधी होने से निश्चय करने योग्य नहीं है, किन्तु विस्मरणीय है। यदि विचार दृष्टि से देखें तो सब वेदों और शास्त्रों का प्रयोजन यही है कि जगत उत्पन्न नहीं हुआ, यदि इसकी उत्पत्ति सत्य होती तो किसी न किसी की युक्ति मिलती। जब सारे ही एक-दूसरे के मत का खण्डन कर रहे हैं, तो सिद्ध हुआ कि जगत उत्पन्न नहीं हुआ, चेतनता अपने-आप में स्थित है।

Scanned with CamScanner

प्रश्न १७—शरीर भी आत्मा का संकल्प है। जब संकल्प शांत होता है तो शरीर और जगत का चिह्न भी नहीं मिलता। इसलिए सिद्ध हुआ कि संकल्प के आने से शरीर उत्पन्न होता है और संकल्प के लीन होने से शरीर नष्ट होता है। वह संकल्प आत्मा है, आत्मा का नाश कभी नहीं होता और संकल्प आत्मा के आसरे है, जैसे बुलबुला पानी के आसरे है वैसे ही संकल्प आत्मा के आसरे है, एक शरीर के नाश उपरान्त जो संकल्प वा इच्छा मन में शेष रह जाती है और जिस ओर मन की प्रीति अथिक होती है, उसीके अनुसार मन को दूसरा शरीर प्रतीत होने लग जाता है जैसे स्वप्न में ?

उत्तर—यह यथार्थ है कि शरीर आत्मा का संकल्प है। विचार यह है कि संकल्प और आत्मा में कितना भेद है और संकल्प और शरीर में कितना भेद है ? जब संकल्प आत्मा में है और शरीर संकल्प में है तो शरीर कहाँ और क्या हुआ ? यही कहना होगा कि शरीर भी आत्मा है, क्योंकि कारण के अनुसार कार्य होता है। जैसे बुलबुला और जल दोनों एक रूप हैं, यद्यपि कहने में दो शब्द हैं परन्तु वास्तव में एक रूप हैं। इसी प्रकार संकल्प और आत्मा कहने में दो हैं, परन्तु वास्तव में एकरूप हैं, क्योंकि आत्मा चेतन है। चेतन का अर्थ सत्ता स्फुरण हैं और स्फुरण और संकल्प पर्याय शब्द अर्थात् एक अर्थ वाले शब्द हैं। इसलिए स्फुरण अथवा संकल्प आत्मा का स्वरूप है। आत्मा उत्पत्ति और नाश से रहित है इसलिए शरीर भी उत्पत्ति और नाश से रहित है। जब उत्पत्ति और नाश भी सिद्ध नहीं होते तो एक शरीर का लय अर्थात् नाश और दूसरे शरीर की उत्पत्ति कैसे मानी जाए ? चेतन सत्ता अर्थात् सत्ता स्फुरण अपने स्वभाव में स्थित है।

जैसे स्वप्नावस्था में सब पदार्थ स्वप्नद्रष्टा का स्वरूप है, स्वप्नद्रष्टा के बिना रंचक-मात्र भी नहीं। स्वप्नद्रष्टा ही दर्शन, दृश्य और द्रष्टा है। सबकी उत्पति, स्थिति और लयता स्वप्नद्रष्टा का स्वरूप है, स्वप्नद्रष्टा से भिन्न कहीं नहीं। इसलिए स्वप्न केवल स्वप्नद्रष्टा का विलास या कलोल है। विलास कदापि भिन्न न होकर,सदा अभिन्न रहता है। वास्तव में देखें तो स्वप्न दो अक्षरों से बना है, स्व, और प्न। स्व का अर्थ अपनी और पन के अर्थ अवस्था है। अर्थात् स्वप्न जिसे लोग स्वप्न कहते हैं, चेतन की निज अवस्था है इसलिए सिद्ध हुआ कि स्वप्न अवस्था भी चेतन स्वरूप है, केवल चेतन की चेतनता अपने-आप में प्रवृत्त होती है। जो लोग जगत को परमात्मा में स्वप्न की तरह जानते हैं, उनका यही तात्पर्य है कि जगत दूसरी वस्तु नहीं है किन्तु चेतन का स्वप्न, अपनापन, अथवा निज अवस्था या निज स्वरूप है। जब किसी प्रकार से मन, जगत व शरीर परमात्मा से भिन्न सिद्ध नहीं हो सकते तो इनकी उत्पत्ति और नाश कैसे माने ? यदि इनकी उत्पत्ति और नाश मानेंगे तो परमात्मा की उत्पत्ति और नाश मानना होगा, परन्तु परमात्मा सत्य है, उत्पत्ति और नाश से मुक्त हैं, इसलिए उत्पत्ति और नाश का प्रसंग ही निरर्थक है। वस्तु विचार करने से संशय की निवृत्ति होती है। केवल अक्षरों के पढ़ने से संशय की निवृत्ति नहीं होती। वह वस्तु अद्वैत है और उसकी संज्ञाएँ अनेक हैं। कई उस वस्तु को परमात्मा कहते हैं। कई उसको मन कहते हैं। कई उसको जगत कहते हैं। इस प्रकार शब्दों के भेद से आकर संशयरूप चक्कर में

Scanned with CamScanner

चकराते हैं। वास्तव में अद्वैत चेतन तत्व हैं, न कुछ था, न कुछ है और न कुछ होगा।

जो लोग एक शरीर के पश्चात् दूसरा शरीर मानते हैं, उनसे यह पूछना चाहिए कि पहला शरीर कहाँ गया ? और दूसरा शरीर कहाँ से आया ? इन दोनों शरीरों का अधिष्ठान कौन है ? इन दोनों शरीरों में पूर्ण कौन है ? इन दोनों शरीरों के आदि, मध्य और अन्त क्या हैं और इन दोनों शरीरों की सामग्री क्या है ? जब इन दोनों प्रश्नों का उत्तर निश्चय होगा, तब सिद्ध होगा कि न कोई पहला शरीर है और न कोई दूसरा, न कोई मन है और न मन की इच्छा है। चेतन अपने सत्ता स्फुरण स्वभाव में स्थित है। बड़ा आश्चर्य है कि पूर्ण में संशय की उत्पत्ति हुई है। पूर्ण उसे कहते हैं, जिससे देश, काल और वस्तु का परिच्छेद न हो, जब देश, काल, वस्तु का उसमें अत्यन्त अभाव है तो उसमें एक देश को त्यागकर दूसरे देश का ग्रहण किस प्रकार सिद्ध हो सकता है ? एक काल में उत्पत्ति और दूसरे काल में लय किस युक्ति से सिद्ध होती है ? एक शरीर का त्याग और दूसरे शरीर का धारण किस विचार से सिद्ध हो सकता है ? यदि परमात्मा परिच्छन्न हो अर्थात् किसी देश में न हो या किसी काल या वस्तु में हो और किसी काल और वस्तु में न हो तो एक शरीर का त्याग और दूसरे शरीर का धारण स्वीकार किया जाये। जब परमात्मा पूर्ण है और सर्वात्मा है तो उसमें जन्म, मरण, ग्रहण, त्याग किसको और किस प्रकार मानें ? यदि मानें तो परमात्मा का जन्म और मरण मानना होगा परन्तु वह वार्ता अत्यन्त ही विरुद्ध और अयथार्थ है इसके लिए जन्म मरण आदि द्वंद निरर्थक और विस्मरणीय हैं।

प्रश्न १८—कोई पुरुष मृत्यु के उपरान्त फिर जी बैठता है जिसे लोग परवार जाना कहते हैं और वह पुरुष परलोक की बातें प्रकट करता है। भाव यह कि उसे अपने संकल्प के अनुसार उस स्थान पर सब कुछ दृष्टि आया और सुख-दुःख भी उसने भोगा परन्तु उसका शरीर कुछ काल पर्यन्त मृतक रहा, और परलोक के मनोराज उसे भासने लगे। इसलिए सिद्ध होता है कि शरीर के नाश होने से मन का नाश नहीं होता ?

उत्तर—मृत्यु के उपरान्त कोई जीता नहीं, देह में ऐसे रोग होते हैं कि तीन दिन तक शरीर मूर्छित रहता है। ऐसा मूर्छित कि मृत्यु के समान हो जाता है। प्राण स्वाभाविक ही ब्रह्मारन्ध्र में लीन हो जाते हैं और अंग भी मृतकवत् कठोर हो जाते हैं। जब तक उस रोग की अवधि होती है, प्राण, स्वाभाविक ही स्फुरण रूप होकर इन्द्रिय और अन्तःकरण को स्फुरण करते हैं। वह पुरुष अपने जीवनकाल में गरुड़ पुराण की कथा व दूसरे लोगों से परलोक की वार्ता सुनता रहा है। इसलिए वही संस्कार स्वप्न की तरह उसके हृदय में फुर आते हैं, जिन्हें वह परलोक निश्चय करता है और दूसरे उसके सम्बन्धी भी अज्ञानी हैं। उसकी वार्ता को सुनकर निश्चय करते हैं कि यह पुरुष परलोक से हो आया है। इस प्रकार यह वार्ता यथार्थ नहीं हैं और न बुद्धिमानों को स्वीकार करनी उचित है। इस प्रकार के रोग शरीर में होते रहते हैं, इनसे स्थूल शरीर का नाश होना और मन शेष रहना सिद्ध नहीं होता।

वास्तव में मन और शरीर दो नहीं हैं जो मन है सो शरीर और जो शरीर है सो मन है, यदि शरीर का नाश मानेंगे तो मन का नाश भी मानना पड़ेगा और यदि मन का नाश

Scanned with CamScanner

नहीं मानेंगे तो शरीर का नाश भी सिद्ध नहीं होगा। यदि दोनों को अविनाशी मानेंगे तो भी उत्पत्ति और नाश का प्रसंग निरर्थक होगा और यदि दोनों को नश्वर मानोगे तो भी उत्पत्ति और नाश का प्रश्न निरर्थक होगा। इस रीति से उत्पत्ति और नाश असिद्ध है। असिद्ध वस्तु के लिए नाना प्रकार के संशयों और विकल्पों को करना परिश्रम का कारण है। इसलिए सब वैदिक लौकिक और पौराणिक वचनों को जो जन्म मरण, लोक परलोक, गमन आगमन में हैं, कल्पित निश्चय कर विस्मरण करना उचित है।

प्रश्न १९--मृत्यु शय्या पर पड़े जिज्ञासु को क्या उपदेश करना चाहिए?

उत्तर--हे सत्गुरु रूप अगाध समुद्र में नदी की तरह समाने वाले! उपदेश रूपी दीपक पर पतंग की तरह अपने आपको जलाने वाले! शरीर की उपाधि से रहित होकर शुद्ध चिदाकाश गति को पाने वाले! भौतिक क्षोभ और खेद से मुक्त होकर अक्षोभ और अडोल अवस्था का आनन्द मनानेवाले! नामरूप की कल्पना से शुद्ध होकर अस्ति, भाँति, प्रेय के पद को पाने वाले! विकारी परिणामी, परिच्छन्न और नाशी वस्तु को त्याग-कर निर्विकार, अखंड, अपरिच्छन्न और अविनाशी स्वरूप में समाने वाले! आदि की तरह मध्यवर्ती उपाय को अपने-अपने कारणों में लीन कर अगम, अगोचर और अविगत रूप में पलटा खाने वाले! लोक-लज्जा, कुल-लज्जा और वेद-लज्जा से ऊपर उठकर अलौकिक, अकारण और निर्गुण सिंहासन पर आसन जमाने वाले! कर्त्ता, कर्म और क्रिया की कल्पना से आँख मूंदकर निर्वाण नींद का आनन्द पाने वाले, सन्देह और विदेह के भेद से मुक्त होकर केवल सत्ता मात्र, स्वतः सिद्ध, परम तत्व में समाने वाले! अपने-आप में स्थित रहो।

पिता और पुत्र, कर्त्ता और कर्म, जगत की मर्यादा, लोक और लोक लज्जा, शरीर और शरीर का अभाव इत्यादि कल्पनाएँ अज्ञान में होती हैं और अज्ञान पर्यन्त रहती हैं। जब यथार्थज्ञान से अज्ञान का अभाव होता है, तब अज्ञान रचित प्रपंच का भी अभाव हो जाता है। इसलिए यथार्थ ज्ञानी को ज्ञान के अनन्तर और संसार के कर्म अत्यन्त मिथ्या रूप निश्चय होकर विस्मरण हो जाते हैं। इस कारण वह शरीर के होने पर भी तुरियातीत रूप विदेह गति को प्रात होता है। यही दृष्टि सब ज्ञानियों के लिए उपयोगी है।

तुम न पिता हो और न तुम्हारा कोई पुत्र है; न तुम शरीर हो, न तुम मरने वाले हो; न तुमको किसी को उपदेश करने और सुनने का अधिकार है, क्योंकि तुम गुरु उपदेश और अनुभव के द्वारा अपने को शरीर से भिन्न जन्म-मरण से रहित, कारण कार्य भाव से शून्य, बन्धन-मुक्ति से पृथक्, केवल सत् चित आनन्द रूप निश्चय कर चुके हो और अब भी अपने वास्तव स्वरूप में सावधान हो, इसलिए सर्व लौकिक, कर्मिक, व्यावहारिक वर्तमान और भविष्य के संकल्पों और विकल्पों से रहित होकर केवल केवली भाव में निमग्न रहो। बहि-र्मुखता को त्याग कर अन्तर्मुखी रहो, संसारी जनों के सन्मुख अपनी वाणी को खोलकर निर्बलता, विक्षेप्ता, वाद और निरर्थक परिश्रम से मुक्त रहो। निरन्तर शांत स्वरूप, निश्चल चित्त, गम्भीर मति, संसार दर्शन से अन्ध, व्यवहारिक वाणी से मूक, संसारी वचनों की श्रोत

Scanned with CamScanner

से बाहर, परम निर्वाण, शून्य विज्ञान रूप रहो। न वर्तमान के लिए कुछ सोचो न बीती को स्मरण कर अभिमान करो और न भविष्य के लिए कोई संकल्प अथवा युक्ति सोचकर अपनी वृत्ति को देहाकार बनाओ किन्तु भूत, भविष्य और वर्तमान से रहित होकर परम मौन और अत्यन्त शान्ति में स्थित रहो।

प्रश्न २०—मृत्यु के उपरान्त जीव कहीं आता-जाता है या नहीं ?

उत्तर—तत्वित्त की दृष्टि में कहीं नहीं जाता। तरंगों की तरह विलास है, वस्तु अपने-आप में स्थित है।

प्रश्न २१—जीवन मुक्त ज्ञानी जब लिंग शरीर का अभाव कर विदेह मुक्त होता है, तब सामान्य सत्ता रूप अवाच्यपद में लीन होता है। वह सृष्टि की उत्पत्ति काल में फिर उत्पन्न होता है या नहीं ?

उत्तर—ज्ञानवान के निश्चय अनुसार श्रुति का प्रमाण लिखा जाता है :

न निरोधो न चोत्पत्तिर्नबद्धो, न च साधकः,
न मुमुक्षुर्न वैमुक्तः इत्येषः परमार्थतः॥

अर्थात् न प्रलय है न उत्पत्ति, न बंध है न कोई साधक है, न कोई मुक्ति की इच्छा वाला है, न कोई मुक्त है, इतना मात्र ही परमार्थ है। ऐसे निश्चयवान की उत्पत्ति और लय मानना परमार्थ दृष्टि से विरुद्ध है। वास्तव दृष्टि में एक अद्वैत वस्तु अपनी महिमा में स्थित है। ज्ञान, अज्ञान, बंध, मोक्ष, सृष्टि-प्रलय, धर्म-अधर्म, जन्म-मरण इत्यादि द्वन्द जिज्ञासु के संशय निवारण के लिए शास्त्रों ने अध्यारोप किये हैं, वास्तव में वस्तु मात्र ही अपने-आप में आप स्थित है।

प्रश्न २२—जब मैं यह देह त्याग कर मुक्त हो गया तो कहाँ रहूँगा ?

उत्तर—आप में आप रहोगे। अर्थात् जहाँ अब हो वहीं रहोगे, क्योंकि पूर्ण वस्तु में कहाँ और जहाँ कल्पित है। जैसे घटाकाश घट के फूटने से कहीं आत-जाता नहीं, जहाँ है उसी स्थान पर रहता है, वैसे ही तुम भी देह के नाश होने से कहीं आओ-जाओगे नहीं, जहाँ हो वहीं रहोगे। भाव यह कि चिदाकाश पूर्ण है। अन्तर बाहर एक रस स्थित है। देह की उपाधि से भिन्न प्रतीत होता है। जब उपाधि निवृत होती है, तब भेद प्रतीत नहीं होता। जैसे समुद्र में एक घट पड़ा है उसके अन्तर और बाहर जल पूर्ण है परन्तु घट के आकार से अन्तर का पानी बाहर के पानी से भिन्न प्रतीत होता है, जब घट टूट पड़ता है तब अन्तर और बाहर का पानी एक रूप हो जाता है, किसी प्रकार का भेद प्रतीत नहीं होता, वैसे ही चिदाकाश रूप सागर में शरीर रूप घट पड़ा है। उसके अन्तर और बाहर चिदाकाश पूर्ण है परन्तु शरीर के आकार से भेद प्रतीत होता है। जब शरीर मध्य से निवृत होता है तब अन्तर और बाहर भी कोई नहीं रहता और आना-जाना भी नहीं रहता, चिदाकाश ही चिदाकाश रहता है। यही वास्तव स्वरूप है और नित्य स्थित है।

प्रश्न २३—आनन्द इन्द्रियों और विषयों के संयोग से होता है। जैसे अब शरीर में हो रहा है, परन्तु मुक्ति अवस्था में इन्द्रिय और विषय रहते नहीं और न कोई दूसरा पदार्थ रहता

Scanned with CamScanner

है। केवल अद्वैत रूप होता है, अद्वैत में आनन्द कैसे होगा ? शास्त्रों में लिखा है कि मुक्त पुरुष को ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है। यह अयुक्त है ?

उत्तर—आनन्द तीन प्रकार का होता है, एक वासनानन्द, दूसरा विषयानन्द, तीसरा ब्रह्मानन्द। वासनानन्द वह है, जो अज्ञानी को विषयों के चिन्तन और वासना से होता है। उपासक को अपने उपास्य अर्थात् इष्टदेव के चिन्तन और भावना से होता है। जिज्ञासु को शुभ इच्छा से होता है। यह त्रिधा वासनानन्द भी शरीर के होने पर प्रतीत होता है। किन्तु यथार्थ नहीं। किसी समय होता है और किसी समय नहीं होता इसलिए त्याज्य है।

विषयानन्द वह है, जो इन्द्रियों और विषयों के संयोग से प्रतीत होता है। तात्पर्य यह कि जब शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध में से कोई विषय जो प्रिय और इष्ट हैं, इन्द्रियों के साथ संयोग सम्बन्ध करता है, तब वृत्ति क्षणमात्र एकाग्र होकर आनन्द का अनुभव करती है। विक्षिप्त होकर दूसरे विषय की ओर लग जाती है, क्योंकि यह आनन्द भी दूसरे पदार्थ के मिलने से प्रतीत होता है। इसलिए यथार्थ नहीं किन्तु त्याज्य है।

ब्रह्मानन्द वह है, जो स्वतः सिद्ध हो। तात्पर्य यह कि जब वासना भी न हो, निद्रा भी न हो और इन्द्रियों के साथ विषयों का संयोग भी न हो, तब जो आनन्द रूप अवस्था है वह ब्रह्मानन्द है। इसमें दूसरे की अपेक्षा नहीं, यही अपना स्वरूप है और नित्य प्राप्त है। वासना, विषय और निद्रा से आच्छादित होकर प्रतीत नहीं होता, और इनकी उपाधि से भिन्न कुछ और का और प्रतीत होता है। जब इन तीनों उपाधियों से भिन्न शुद्ध वास्तव स्वरूप रहता है, वह ब्रह्मानन्द है। यही स्वरूप मुक्त अवस्था में होता है इसलिए ऐसे मुक्त पुरुष को ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है। यह ब्रह्मानन्द इन्द्रियों से प्राप्त नहीं होता। इसका अपना निज स्वरूप है और नित्य प्राप्त है। इसलिए इसके लिए दूसरे पदार्थों की सहायता वांछित नहीं। केवल अद्वैत अवस्था में प्राप्त होता है। यही अद्वैत आनन्द भी कहलाता है।

यदि तुम इन्द्रियों और विषयों के संयोग के बिना आनन्द का होना नहीं मानते हो तो योगीश्वर जो योग अभ्यास से इन्द्रियों को विषयों के संयोग से दमन करता है और मन को प्राणायाम के आसरे वासना से रोकता है, और आनन्द का अनुभव करता है, उसे योगानन्द भी न होना चाहिए, क्योंकि उस समय योगी को विषय का संयोग नहीं होता और वह आनन्द में मग्न होकर शरीर से अज्ञात होता है। इसलिए सिद्ध है कि आनन्द स्वतः सिद्ध है। दूसरे की सहायता के बिना नित्य प्राप्त है। मन, इन्द्रिय, विषय उस आनन्द के आगे पटल हैं। जब शरीर के होते ही इनको त्याग कर आनन्द का अनुभव होता है और जिज्ञासु, ज्ञानी, योगीश्वर उनके त्याग का यत्न करते रहते हैं तो मुक्त अवस्था में जब यह प्रतिबन्धक स्वभावतः नष्ट हो गए तो ब्रह्मानन्द में क्या संशय है ? इसलिए सिद्ध हुआ कि मुक्त अवस्था में केवल ब्रह्मानन्द होता है।

प्रश्न २४—यदि जीव देह पात के उपरान्त ब्रह्म हो गया तो उसे क्या मिला ? निर्गुण ब्रह्म तो पहले भी था, उसको क्या प्रतीत होगा कि मैं जीव था, अब ब्रह्म हो गया हूँ ? फिर यह आनन्द किस प्रकार का होगा ? आनन्द तो भिन्न रहकर ब्रह्म के सन्मुख होता है ?

Scanned with CamScanner

उत्तर—जीव को देह के संयोग से होने वाले क्लेश, संशय और निवृति रूप फल की प्राप्ति देह के संयोग काल में होती है।

नि:संशय जीवन का स्वरूप निर्गुण ब्रह्म है परन्तु देह के सम्बन्ध से जो अज्ञान होता है उससे अपने को ब्रह्म रूप निश्चय नहीं करता। जब सत्गुरु और सत्शास्त्र के उपदेश से इसे ज्ञान होता है कि मैं ब्रह्म रूप हूँ, तब जीवित भाव अर्थात् देह के कर्मों का कर्त्तापन और उनके फल सुख-दु:ख का भोक्तापन निवृत हो जाता है। जब तक शरीर है, तब तक शरीर की भिन्न-भिन्न अवस्था, प्राणों के भिन्न-भिन्न कर्म, इन्द्रियों की भिन्न-भिन्न चेष्टायें और अन्त:करण के नाना धर्म बने रहते हैं। जब शरीर अपने कारण में लीन हो जाता है तब प्राण इन्द्रिय और अन्त:करण भी अपने-अपने कर्मों, चेष्टाओं और धर्मों सहित अपने-अपने कारणों में लीन हो जाते हैं। शेष केवल आनन्द रूप अपनी महिमा में स्थित रहता है। यद्यपि देह के संयोग और वियोग से जीव का स्वरूप सामान है तथापि उपाधि से नाना प्रकार के विकार और गुण इसमें प्रतीत होते हैं। कई साधनों से उन विकारों की निवृति का उपाय किया जाता है, फिर भी पूर्ण निर्विकार गति प्राप्त नहीं होती। उपाधि के नाश होने पर स्वत: सिद्ध ऐसी अवस्था प्राप्त होती है जहाँ मन और बुद्धि की गम्य नहीं, केवल केवली भाव है। इसलिए शरीर के वियोग से जीव को वह पद मिलता है। जिसकी उपमा नहीं हो सकती और इसका निर्णय करने को न कोई समर्थ हुआ है, न है और न होगा।

ज्ञान उस अवस्था में होता है जहाँ प्रच्छिन्नता और भेद हो। जहाँ यह दोनों न हों तो कौन किसको जाने ? इसलिए विदेह मुक्त अवस्था में जीव ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय से रहित स्वस्थ होता है, क्योंकि ज्ञान, अज्ञान अन्त:करण के धर्म हैं। विदेहमुक्त अवस्था में अन्त:करण का अभाव हो जाता है। इसलिए ज्ञान अज्ञान का भी उस अवस्था में अभाव हो जाता है। ज्ञान अज्ञान से रहित केवल सत्य स्वरूप और स्वत: सिद्ध होता है।

सत्य किसी साधन से सिद्ध नहीं होता। वह नित्य है। सत्य न कहीं आता है और न कहीं जाता है, एक रस अपनी सत्ता में सत्य है। सत्य भेद से शुद्ध और द्वैत से रहित है। सत्य देश, काल, वस्तु की अपेक्षा से रहित अपने आप में स्थित है।

जीव स्वयं आनन्द स्वरूप है। किसी दूसरे साधन से उसमें आनन्द नहीं होता और न किसी वस्तु के सन्मुख होकर उसमें आनन्द होता है किन्तु वह आप ही आनन्दरूप है। दूसरे पदार्थों से जो आनन्द प्रतीत होता है, उसी का आनन्द है, देह संयोग काल में जो विषयों के भोगों से आनन्द प्रतीत होता है, वह आनन्द भी जीव का है। विषयों में आनन्द नहीं, अज्ञान से अपने को भूलकर दूसरे पदार्थों के संयोग से आनन्दित हो रहा है। जब अपने को यथार्थ जानता है, तब मानता है कि मैं आप ही आनन्दरूप हूँ, मेरे आनन्द से सब पदार्थों में आनन्द हो रहा है। फिर विषयों के बंधन से मुक्त होकर निजानन्द को भोगता है। तात्पर्य यह कि आप ही आनन्द रूप होकर रहता है जो इसका वास्तव स्वरूप है। दूसरे के सन्मुख या दूसरे के साधन से जो आनन्द होता है वह आनन्द नित्य नहीं होता, किसी समय होता है किसी समय नहीं होता। दूसरे के बिना स्वयं जो आनन्द होता है, वह आनन्द नित्य होता है, क्योंकि जीव

Scanned with CamScanner

आप ही आनन्द रूप है। इसलिए उसमें नित्य और अनित्य की कल्पना नहीं बन सकती। वह सब कल्पना से रहित अपने आप में मग्न है, इस रीति से सिद्ध होता है कि आनन्द स्वतः सिद्ध है और जीव का स्वरूप है।

यथार्थ स्वरूप में शंका और समाधान की समाई नहीं, संयोग और वियोग, भेद और अभेद अज्ञान से सिद्ध हैं। कोई न मिला है न मिलता है और न मिलेगा। ये सब कल्पनायें द्वैत में हैं। जहाँ एकता भी नहीं बन सकती, वहाँ इन कल्पित द्वन्दों का अत्यन्त अभाव है।

प्रश्न २५—शांति सरोवर के आत्मस्थिति घाट में छटी पौड़ी है, कृपया उसका तात्पर्य संक्षेप से वर्णन करें।

उत्तर—अब इस पौड़ी के एक-एक अंग का तात्पर्य वर्णन किया जाता है।

॥ पौड़ी ॥

सुनों अद्भुत एक कहानी है, जिस मनियाँ पद निर्वानी है।

टीका—हे जिज्ञासु जनो, सावधान होकर एक आश्चर्यमयी कथा श्रवण करो। इसके मनन करने से सब संशयों की निवृति होकर निर्वाण पद अर्थात् वाणी से अगोचर पद की प्राप्ति होती है।

कथा अथवा कहानी

पहले रुच विच जगत् उपाया, आदम होके वेखन आया।
फिर अपने विच आप समाया, ज्यों पानी विच पानी है॥

टीका—समष्टि अवस्था में जगत् रूप होकर स्थित है और व्यष्टि अवस्था में शरीर रूप है, वह व्यष्टि और समष्टि एक रूप है इसलिए व्यष्टि समष्टि में समाया हुआ है। जैसे नदी का पानी समुद्र के पानी में समाया हुआ है, क्योंकि दोनों एक वस्तु हैं; वैसे ही समष्टि रूप जगत् और व्यष्टि रूप आदम अर्थात् शरीर दोनों एक रूप हैं। समष्टि में समान भाव रहता है। इससे उसमें द्रष्टा, दर्शन, दृश्य आदि त्रिपुटियाँ प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होतीं। व्यष्टि में विशेष भाव होता है, इससे उसमें द्रष्टा, दर्शन, दृश्य आदि त्रिपुटियाँ प्रत्यक्ष होती हैं। व्यष्टि का विशेष भाव समष्टि के समान भाव से भिन्न नहीं है किन्तु अभिन्न है और सदा परस्पर संयुक्त होकर अपनी महिमा को प्रकट कर रहा है। इसलिए पहली अवस्था जगत् रूप अर्थात् समष्टि रूप कहीं गई है और दूसरी अवस्था शरीर रूप अर्थात् व्यष्टिरूप कहीं गई है। इनमें से जगत् रूप समष्टि दृष्टि है और शरीर रूप व्यष्टि दृष्टि है और इन दोनों का सम्बन्ध दर्शन है। इस प्रकार द्रष्टा रूप व्यष्टि शरीर, दृश्य रूप समष्टि जगत के साथ तादान्म्य सम्बन्ध अर्थात् भेद-अभेद रहित सम्बन्ध रखते हैं। जैसे पानी के साथ पानी तादात्म्य सम्बन्ध रखता है; इस रीति से सब शरीर, जो द्रष्टा रूप होकर प्रतीत होते हैं, जगत् रूप है। पहले भी जगत् रूप थे, अब भी जगत् रूप हैं और अभाव के उपरान्त भी जगतरूप होंगे। इसलिए व्यष्टित्व समष्टित्व रूप है और समष्टित्व व्यष्टित्व रूप है,समष्टि ही मानो व्यष्टि रूप होता है और फिर व्यष्टि समष्टि रूप हो जाता है। वास्तव में न कोई समष्टि है न व्यष्टि; न द्रष्टा है न दृश्य, न आदि है न अन्त किन्तु अद्वैत अवस्था जो सत्ता

Scanned with CamScanner

समान है अपने आप में स्थित है। इसलिए--

दुई दी धूल उड़ावो भाई, ममता मूल मिटावो भाई।
परत के घर बिच आवो भाई, इक जानी ही जानी हे॥

टीका--द्वैत को धूलि के समान त्याग करो और ममता रूप परिच्छिन्नता के अभिमान को मूल अर्थात् अविद्या से मिटाओ। फिर उलटकर अपने-आपको देखो तो अद्वैत आत्मा ही है। तात्पर्य यह कि समष्टि और व्यष्टि की उपाधि से रहित जो अद्वैत वस्तु है, वह आत्मा है।

अपने विच में आप समाई, गल लग मिलयुम जानी माही।
रह्युम खबर ते सुद्ध न काई, की आखां मैं वाणी है॥

टीका--जब ऐसे आत्मा का उदय हुआ तब मैं शब्द भी अपने आपमें लीन हो गया, क्योंकि मैं, तू की अपेक्षा से पैदा हुआ था। जब तू ही न रहा तो मैं कैसे रहेगी? जब तू और मैं ही कल्पना न हुई, तब यथार्थ अवस्था प्राप्त हो गई। इसमें खबर और सुधि अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान ज्ञेय की समाई नहीं; त्रिपुटी से रहित अद्वैत पद है। इसलिए मैं वाणी से क्या कहूँ? जो वाणी में आता है, वह मैं अथवा तू, समष्टि अथवा व्यष्टि, परिछिन्न अथवा व्यापक, साकार अथवा निराकार होता है। यथार्थ स्वरूप ऐसा है कि--

ला मकानों बाहर वसदा, बे निशानों बाहर दिसदा।
गुम शुदगी विच गुम हो सुभदा, बाझों पते निशानी है॥

टीका--लामकान अर्थात् समष्टि या व्यष्टि से भी ऊपर है और बेनिशान, निराकार अथवा सूक्ष्मता से भी मुक्त है। सब द्वन्द्वों की निवृत्ति के उपरान्त जो अवस्था है, वह सार रूप है। इसका दृष्टांत अथवा प्रमाण नहीं है, क्योंकि दूसरे से रहित है। इसलिए--

हेमां हिम थीं गल सिधानां, बाकी रह्युस न नाम निशानां।
अपने विच वह आप समाना, जिऊं पानी विच पानी है॥

टीका--हेमां अर्थात् व्यष्टि रूप आदम अपनी व्यष्टित्व को त्याग कर समष्टि रूप हुआ और फिर समष्टि को देखा कि यह भी व्यष्टि की अपेक्षा से सिद्ध है। जब व्यष्टि ही न रही तो समष्टि कैसे रहेगी? इसलिए समष्टित्व और व्यष्टित्व से उल्लंघित अपने आपमें समाया। अर्थात् जो था वही हो गया, जैसे पानी आद, मध्य और अन्त में पानी है। यद्यपि हिम अर्थात् बर्फ रूप होकर कठोर अथवा परिच्छिन्न प्रतीत होता है तथापि पानी से भिन्न नहीं होता। वैसे ही यद्यपि शरीरावस्था प्रच्छिन्न और अल्पज्ञ प्रतीत होती है तथापि समष्टि से अभिन्न रूप है। इसलिए एक सत्ता अपने आप में स्थित है, न कुछ उत्पन्न होता है और न कुछ नाश होता है। समान सत्ता, समान भाव में समानरूप होकर स्थित है। यही कथा सब शरीरधारियों की है अर्थात् सबकी है। इसलिए इस कथा का मनन यथार्थ अवस्था की प्राप्ति है।

Scanned with CamScanner

॥ सवैया ॥

एक अद्वैत सनातन अक्रिय, पूरण चिद्घन परम विलासी।
सत्तामात्र आप में आपे, अनुभव गम चिन्मात्र सुभासी॥
जन्म न मरण न बंधन मुक्ति, ज्ञान अज्ञान नहीं गुरुदासी।
त्रिपुटी द्वंद उल्लंघित केवल, आतम निष्ठी सहज निवासी॥१॥
शांतिकुण्ड और तृप्तस्वरूपा, धीर गंभीर अरु परम उदारा।
सकल उपाधि कल्पना त्यागे, निज स्वरूप में सद मतवारा॥
आतम तत्व निरन्तर पूरण, लखकर सब भय भरम को जारा।
हेमां आपन आप विराजत, सब में सबसा सबसे न्यारा॥२॥
जीव अरु ब्रह्म जगत अरु देही, केवल मनोमात्र दरसावे।
ज्ञान अज्ञान अरु बंधन भुक्ति, भ्रांति लखा भ्रम भय विनसावे॥
जग प्रभुता और सकल पदारथ, मिथ्या जितलाकर तृप्तावे।
पूरण पद में स्थित करके, **हेमां** ब्रह्म निष्ठ कहलावे॥३॥
राग न द्वेष न हर्ष न शोका, विषय तजे कामादिक सारे।
हानि न लाभ न मान अपमाना, सुख दुःख वृति समान को धारे॥
भूत भविष्यत् रंच न चितवे, वर्तमान में सुखी गुजारे।
वस्तु वस्तु वेद अक्षर लख, **हेमां** आपको ब्रह्म निहारे॥४॥
नाम अनेक, अनेक मतान्तर, वाद-विवाद का आहि बखेरो।
बाहर शून्य है अन्तर शून्य है, मध्य विखे एक शब्द को झेरो॥
शब्द ही हार है शब्द ही जीत है, शब्द है मेरो अरु शब्द है तेरो।
शब्द ही शून्य को अंश है **हेमां**, शून्य ही वाद मतान्तर हेरो॥५॥
बन्ध न मोक्ष न राग न द्वेष न, पुन्य न पाप न जन्म न मरना।
नाम न जात न भेष न पन्थन, कर्म न फल न आश्रम वर्णा॥
खण्ड ब्रह्मण्ड न लोक परलोक न, दीप न ग्राम न नगर न भवनां।
धर्म अधर्म न नरक न स्वर्ग न आर न पार न डूबन तरनां॥६॥
दृष्टि यथार्थ धार के सन्त, रहें सद ही समता रस भीने।
भेद अभेद भुलाय सभी, मन से नित ही सर्वात्तम चीने॥
वाद विवाद त्याग दिये सब, मत्सर दम्भ खुदी तज दीने।
तृष्णां दोष नहीं जिनके हृद, **हेमां** रहित सदा तृप्तीने॥७॥
शत्रु न मित्र समान जिने और मान अमान में भेद न राई।
स्वापर की बुद्धि नाश भई जिनकी, निज आतम में थित पाई॥
मोह न क्रोध न लोभ न द्रोह न, बैर विरोध न तात पराई।
देश एकान्त रहें नित **हेमां**, शीतल चित सदा सुखदाई॥८॥

Scanned with CamScanner

नाश भये संशय सगरे, इक ब्रह्म प्रकाश भयो उजियारा ।
भेद मिटाय अभेद गह्यो, जब चीनो पूरण ब्रह्म पसारा ॥
नाहिं असत्य न सत्य न शून्य न, ज्ञान अज्ञान नहीं संसारा ।
वस्तु अद्वैत निरन्तर **हेमां**, नहीं कोई मांहि नहिं कोई न्यारा ॥६॥

॥ दोहा ॥

शुभ सम्वत् उन्नीस सौ, तांपर पांच पचास ।
ग्रन्थ सकल पूरण भयो, **हेमां** सहित विलास ॥

॥ इति श्री अद्वैत सिद्धान्ते पचदश सिद्धान्तः समाप्तः ॥

Scanned with CamScanner

॥ भजन ॥ (१)

संशय से शुद्ध शुभ आचारा, पुरुष मुक्त कहलाता है।
नित्त तृप्त नित्त उदित मन, समवस्था होय निभाता है॥ १॥
मुक्ति अंत को कहते हैं, सो अंत है दो परकार का।
देह का अंत विदेह मुक्ति है, सो सब कोई पाता है॥ २॥
जब अज्ञान समाप्त होवे, जीवन मुक्ति सो भाखें।
ऐसी मुक्ति कोई पाकर, परमानन्द मनाता है॥ ३॥
चिन्मात्रसता में बंधन मुक्ति को कहाँ बनाते हैं।
रोचकशब्द यह देह उपाधिकर, नहिं कुछ आता जाता है॥ ४॥
जब शरीर संसार भरम, चित्त से निवृत हो जाते हैं।
शेष शुद्ध सामान अवस्था, मुक्ति विदेह सो पाता है॥ ५॥
नहीं आद नहिं अधिक न्यूना, स्वतः स्वभावी सत्ता में।
ज्यों का त्यों पूरण स्थित यह, निश्चय मुक्त बनाता है॥ ६॥
जीव नहीं परिछिन्न वस्तु जो, मुक्त हुआ ब्रह्म हो जावे।
सत् वस्तु को जीव कहें, ब्रह्म लक्षण जीव सुहाता है॥ ७॥
देह तरंगवत् जीव सिन्धु में, उभर-उभर कर मिट जावें।
अपनी महिमा में स्थित जीव है, कहीं न आता जाता है॥ ८॥
वास्तव कर कुछ नहीं होता, नहिं घटे बढ़े है पूरण वस्तु।
अद्वै सत्ता है नित स्थित, **हेमां** यह तत्व सुनाता है॥ ९॥

॥ भजन ॥ (२)

माई री मैं अविनाशी सुख पाया॥
ताप कलेश निवारे सकले, आपन में तृप्ताया॥ १॥
वासन शान्त हुई चित से अब, गद्गद् मंगल गाया॥ २॥
करम ज्ञान का संशय नाश्यो, सत्ता में मगनाया॥ ३॥
ज्यों तरंग सागर आतम, अरु परमातम इकभाया॥ ४॥
देह अरु जग की कलना भूली, पूरण तत् दर्शाया॥ ५॥
भेद द्वंद का भरम निवारयो, नहिं अपना न पराया॥ ६॥
राग द्वेष सुख दुःख नहिं कोई, अति गम्भीर सुहाया॥ ७॥
अंतर बाहर पूरण देख्या, ऊरन भाव मिटाया॥ ८॥
निर्विकल्प निज इस्थित **हेमां**, अपने मांहि समाया॥ ९॥

॥ भजन ॥ (३)

माई री मैं निर्विकल्पता पायो॥
वर्तमान में इस्थित पाई, भावी भूत भुलायो॥ १॥
सहज स्वभाव बनी जो आकर, सोई मन को भायो॥ २॥

Scanned with CamScanner

देह दिशा और देह निर्वाह की, चिन्ता सब बिसरायो ॥ ३ ॥
देह सम्बन्धी फुरे न कोई, आपी आप सुहायो ॥ ४ ॥
शब्द रूप रस गंध स्पर्श की, चितवन सकल मिटायो ॥ ५ ॥
ऊँच नीच मैं तूं की सत्ता, चित में मूल न आयो ॥ ६ ॥
सुख दुःख ज्ञान अज्ञान भरम तज, आतम स्थिति पायो ॥ ७ ॥
हेमराज सब विकल्प नाशें, आनन्द सिंधु समायो ॥ ८ ॥

॥ भजन ॥ (४)

इक सत्ता सरव समायो है, नहिं बंध मुक्त किन पायो है ॥ १ ॥
नहिं उपजे नहिं कोई मरता है, नहिं बंधन में कोई पड़ता है।
नहीं डूबे नहिं कोई सरता है, पूरण चिन्मात्र सुहायो हैं ॥ २ ॥
नहीं नाना एकोरूप सभी, नहिं कोई तरंग जल रूप सभी।
सुख दुःख नहिं भेद प्रच्छेद कभी, केवल सत्ता सब भायो है ॥ ३ ॥
देही नहीं, नहिं संसारा है, नहिं ज्ञान अज्ञान विकारा है।
इक अनुभव तत्व अपारा है, नहिं आयो ना कोई जायो है ॥ ४ ॥
शब्दारथ और संकल्प सभी, आकार पदारथ सब ब्रह्म ही।
परमारथ निश्चय जान यही, **हेमां,** चिद्रूप सबायो है ॥ ५ ॥

॥ भजन ॥ (५)

अहो हम कृतकृतायें हैं, परमपद में समाये हैं ॥ १ ॥
चिन्मात्र केवल अचल, सत्ता रूप अनूप।
अनुभवगम पूरण सदा, सो मेरा है रूप।
सरव संशय भुलायें हैं, सकल दुःखड़े नसायें हैं ॥ २ ॥ अहो
तृप्त रूप आतम मगन, मेटी सकल उपाध।
देह भावना उठ गई, नाशो आधि व्याधि।
सकल वासन सिधाये हैं, न कुछ पाये गवायें हैं ॥ ३ ॥ अहो
परमशान्त गम्भीर मत, स्थित चित निष्काम।
सम दर्शी सम चेष्टा, पायो निज विश्राम।
ममत हंगता जलाये हैं, चिंता भय मिटायें है ॥ ४ ॥ अहो
प्रेम भरे आनन्द घन, गद्गद् मोहन रूप।
आतम रस भीने सदा, मंगलरूप अनूप।
सब अपना आप भाये हैं, परम प्रीतम सुहाये हैं ॥ ५ ॥ अहो
देह जगत नहिं जीव ब्रह्म, नहीं ज्ञान अज्ञान।
नामरूप शब्दार्थ सब, सत्ता भिन नहिं आन।
न मैं तूं निज पराये हैं, अलख **हेमां,** सबाये हैं ॥ ८ ॥ अहो

Scanned with CamScanner

THE HINDU MADRAS, DAILY WEEKLY EDITION
SUNDAY, JANUARY 8, 1961.

SRI ADVAITA SIDDHANTA: By Vedanta Kesari Sri Swami Hemraj ji Maharaj Chidakashi (Sri Chidakashi Satya Dharma Mandal-Sri Swami Hemraj Mission, East Patel Nagar, New Delhi, Rs. 6. 50).

This rather bulky vo'ume is the work of a great Swamiji born a century ago in Multan of a family of Kandahar mi-grants. By association with personalities of diverse sects and faiths, he cultivated the habit of introspetion to a high degree. He kept himself aloof from the many controversial aspects of Vedantic lore.

This book is modelled on the literature of the Missionary catechists of the early centuries. It is divided in to fifteen 'Siddhantas'.

The discussion about the Jivatma (individual soul) in Chapter 8 is the most interesting. In between this chapter and the one dealing with 'Paramatma' (Chapter 10), intervenes 'Sansar' (world and life) which is mainly expounded as 'the vikshepta' of the 'chitta' (mind's tossing about) while 'Parmatma' is the 'ekayata' (realisation of oneness) of the 'Chitta'. 'Paramatma' is then set out in a nutshell as 'sat-chit-anand', which is the Reality having no form or colour, and the Vedas proclaim its place as the heart (Hriday). This is what one finds in The Gita. It is the Truth and the Perfect Absolute. The succeeding two chapters on The True knowledge (Yatharth gnan) and the knower (Gyani) tell the reader what knowledge is, how many kinds there are of 'Anand' (bliss) and so on. The Swamiji categorises five types of 'Anand' as Vasananand, Vishayanand, Bhajnanand, Vidyanand and Brahmanand, meaning respectively, bliss pertaining to attachment, matter, worship, knowledge and the Brahma which is an escape from all ills and sorrows. The last but one chapter relates to 'Vigyan' which is defined as the state in which 'Subha-karm' (auspicious act), 'Satoguni Vritti' (avocation with purity) and 'Yatharthgyan' (true knowledge) function together (P. 439). Winding up, the Swamiji says that 'Mukti' (liberation) is the freeing of oneself from all ills and attainment of bliss (Parmanand) and Shanti, peace free from all doubts. Altogether, this is a worthy publication that has no bias. It is surely the result of deep thinking and introspection and is well worth study.

—Sudama.

Scanned with CamScanner

"CHETANA" Monthly, Bombay, August, 1961.

Deep introspection on the life here and hereafter without entering into metaphysics, is the key-note of this noble work, which, though following the Vedantic traditions, avoids all its controversial aspects. The author, Swami Hemrajji Maharaj, was born at Multan in the Punjab about a hundred years ago and came into contact with spiritual leaders of diverse sects. He listened to all with great reverence, but laid out a spiritual highway of his own in which the highest idealism has been given a practical shape.

The work of the nature of catechism is divided systematically into fifteen chapters called Siddhanta. The subjects dealt with are fundamental to spiritual search and the method of exposition is simple and direct. The teacher is probably at his best in the expositions pertaining to Jivatma (individual soul), Paramatma (Godhead), and Sansara (the world and life). These three chapters present the crux of the Swami's teaching, which is not different from the philosophy of Bhagavad Gita. God is described as the perfect Absolute, the Supreme Truth that can be realized as the "ekyata" of "Chitta". In the last chapter Mukti is described as complete freedom from all ills wants and doubts and fear.

This book of profound importance, written in simple Hindi, both prose and verse, is worth studying. Considering the bulk of the volume, the price is quite low.

●

ORGANISER. DELHI, WEEKLY EDITION, SEPTEMBER 2, 1961.

Sri Advaita Siddhanta: By Vedanta Kesari Sri Swami Hemrajji Maharaj Chidakashi.

(Published by Chidakashi Satya Dharma Mandal, Swami Hemraj Mission Delhi; Price Rs. 6.50 Pages-536).

This is a Hindi version of an original Punjabi work on the principles of Advaita Vedanta. The treatment of the subject is elaborate and takes the form of questions and answers through which the individual, social and metaphysical doctrines of human life, conduct and destiny are elucidated. There are fifteen sections ranging over a wide field and seeking to reconcile the threefold interpretation of the ultimate Reality as Gyana, Bhakti and Karma. The spirit of catholicism which seeks to reconcile rather than accentuate subsidiary differences is highly commendable. The whole is never obscured by the parts, while the parts are also fitted into the whole. Thus a total view of man's place in the cosmic scheme is formulated which must be deemed adequate for all our needs.

The range of knowledge and the extent of studies in Vedic and Upanishdic lore unfolded in the course of this book are wide and impressive. The book deserves commendation as a manual of piety and as a digest of right knowledge.

Scanned with CamScanner

(गुजराती दैनिक "मुम्बई समाचार" शनिवार ११-१०-१९५८ में प्रकाशित समीक्षा का हिन्दी अनुवाद)

श्री चिदाकाशी सत्य धर्म मण्डल का अनुपम प्रकाशन

श्री अद्वैत सिद्धान्त का हिन्दी संस्करण

वेदान्त-सिद्धान्त के सिद्ध आचार्य और प्रतिभाशाली वक्ता ब्रह्मलीन श्री स्वामी हेमराज जी महाराज चिदाकाशी द्वारा मूल पंजाबी गुरुमुखी भाषा में रचित ग्रंथ 'श्री अद्वैत सिद्धान्त' का हिन्दी संस्करण श्री स्वामी चेतनानन्द जी चिदाकाशी ने अभी शीघ्र ही सत्य धर्म मण्डल (रजिस्टर्ड) स्वामी हेमराज मिशन मार्ग ७।५ ईस्ट पटेलनगर, नई दिल्ली-१२ से अनुवाद करके प्रकाशित किया है।

वेदान्त शास्त्र के गहन प्रश्नों का सरल समाधान देनेवाला ५३९ पृष्ठ का यह बृहद् ग्रन्थ सर्वप्रथम सन् १९०१ में सिन्ध प्रान्तान्तर्गत मुलतान स्थान से प्रकाशित हुआ था। तत्पश्चात उसका दूसरा संस्करण १९२२ में प्रसारित किया गया और अब उसी ग्रन्थ की हिन्दी-आवृति दिल्ली से मुद्रित व प्रकाशित हुई है। लगभग अर्द्धशताब्दी तक यह ग्रन्थ जन-मन की कसौटी पर कसे जाने से अपनी लोकप्रियता स्वयं सिद्ध करता है।

इस ग्रंथ के रचयिता पूज्य श्री स्वामी हेमराज जी का सुयश सिंध, पंजाब और सीमाप्रान्त में भली-भाँति छाया हुआ है। वे वेदान्त की साक्षात् मूर्ति, प्रखर वक्ता, विरक्त, निष्काम, शान्त और आत्माकार वृत्ति में विचरनेवाले सन्त थे। उनकी प्रतिभा और ज्ञान से अन्य लोग हर्षित और प्रसन्न होते थे। सत्संगी मुमुक्षुजनों को सद्बोध प्रदान कर उन्हें मोक्षमार्ग की ओर चलने की प्रेरणा सदा महाराजश्री किया करते थे। बहुत से भक्त डाक और पत्रों द्वारा अपनी शंकाएँ स्वामी जी महाराज से पूछते और आत्मसन्तुष्टि का अनुभव करते थे। स्वामी जी के एक भक्त ने इस रहस्यपूर्ण, मार्मिक एवं ज्ञान से परिपूर्ण इन पत्रों की नकल करके रखी थी। मूल ग्रन्थ के भावों और मौलिकता को सुरक्षित रखते हुए क्रमबद्ध तथा विभागबद्ध वही सामग्री समुपस्थित करने का प्रयास अनुवादक ने पद-पद पर किया है।

इस बृहद्ग्रंथ को १५ खण्डों में विभाजित किया गया है। प्रथम सिद्धान्त सत्यधर्म का है जिसमें प्राणिमात्र के लिए धर्मानुसार व्यवहार करने की सत्शिक्षा दी गई है। उसके बाद जिज्ञासा, सतगुरु, मन, उपासना, शरीर, जीवात्मा, संसार, परमात्मा, यथार्थज्ञानी, विज्ञान, जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति इस क्रम से प्रत्येक सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए प्रश्नोत्तर रूप से स्वामी जी महाराज ने स्पष्ट और सुगम भाषा में तत्त्व को समझाया है। स्वामी जी के उत्तरों में स्वानुभव की सुगन्ध स्थान-स्थान पर मिलती है। सामान्य अधिकारियों के लिए जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति-दशा का सम्यक् परिचय पाना कठिन ही है किन्तु स्वामी जी ने इस स्थिति का वास्तविक चित्रण और व्याख्या की है। उपासना सिद्धान्त में वेदान्त की साधनपद्धति के विषय में शास्त्रीय मार्गदर्शन मिलता है। 'परमात्मा सिद्धान्त' प्रकरण में परमात्मा तत्त्व का विशद निरूपण किया गया है। 'मन' सिद्धान्त में मन को स्ववश रखने के सरल उपाय दर्शित किये गये हैं। इसके पश्चात् स्फुट रीति से समाधि के विविध भेद, व्याख्या और उनका वर्णन है। शरीर की विविध अवस्थाएँ, जीव, जगत, माया और ईश्वर का स्वरूप, तत्त्वों का गुणधर्म, कर्म, प्रारब्ध, बंधमोक्ष, सत्संग की महत्ता, गुरु की महत्ता आदि के सम्बन्ध में स्वामीजी ने शास्त्रसम्मत और स्वानुभव पूर्ण उपदेश प्रदान किये हैं।

अद्वैत की साधना निश्चय ही कष्ट साध्य है, तो भी अद्वैत की परमसिद्धि कोई-कोई आचार्य प्राप्त कर लेते हैं। उनमें श्री स्वामी हेमराज भी थे, ऐसा यदि कहें तो अतिशयोक्ति नहीं है।

कितने ही द्वैतवादी अद्वैतवाद का विरोध करते हैं किन्तु सत्य और सिद्धान्त की दृष्टि से अद्वैत का ही विशिष्ट महत्त्व है। अद्वैतवादी सिद्ध महात्मा के समक्ष द्वैत-प्रपंच नहीं चल सकता इसके प्रमाण में स्वामी रामतीर्थ, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी हेमराज जी जैसे निष्किंचन महात्माओं का नाम लिया जा

Scanned with CamScanner

सकता है।

वेदान्तशास्त्र के अभ्यासियों के लिए स्वामी हेमराज जी का यह ग्रन्थ अधिक मार्गदर्शन दे सकता है। ग्रन्थ की भाषा हिन्दी है और इतनी सरल है कि हिन्दी भाषा का साधारण ज्ञान रखने वाला भी अपनी जिज्ञासु वृत्ति की तृप्ति कर सकता है।

हिन्दुस्तान और पाकिस्तान बनने के बाद स्वामी हेमराज महाराज के अनेक अनुयायी और शिष्य भारत में आकर बस गए हैं। उनके लिए तो यह हिन्दी ग्रन्थ महाराज श्री के उपदेशपान कराने में परम सहायक है।

इस ग्रन्थ के आरम्भ में श्री सत्य धर्म मंडल के उद्देश्य, नियम, स्वामी हेमराजजी का संक्षिप्त जीवन परिचय, उनके पट्ट शिष्य स्वामी परमानन्द जी का संक्षिप्त परिचय तथा उनके शिष्य इस ग्रन्थ के अनुवादक स्वामी श्री चेतनानन्दजी चिदाकाशी महाराज की प्रवृत्तियों एवं गतिविधियों की संक्षिप्त जानकारी दी गई है। सिद्धान्तों के अंतिम भाग में जो भजन दिये गये हैं; उनके रचयिता मलिक श्री दौलतराम जी चिदाकाशी हैं; जिनमें दोहा, चौपाई, भजन आदि सभी समाविष्ट हैं। यह सब सामग्री सदुपदेश के साथ-साथ आंतरिक शान्ति भी प्रदान करती है।

ग्रन्थ का मूल्य ६॥) है जो कि प्रकाशक से प्राप्त किया जा सकता है।

●

दैनिक हिन्दुस्तान नई दिल्ली ता० २९-३-५९

श्री अद्वैत सिद्धान्त

राजवंशी श्री स्वामी हेमराज जी वेदान्त के अद्वितीय पंडित और पुण्यात्मा व्यक्ति थे। उन्होंने केवल २५ वर्ष गृहस्थ जीवन बिता 'परस्पर प्रेम और सुमित्रता' को ही सच्चा धर्म मानकर संसार के उपकार के लिए इस महान् ग्रन्थ का प्रणयन किया और यावज्जीवन पंजाब तथा सिंध प्रभृति प्रदेशों की जनता को अधिकाधिक लाभ पहुँचाने का प्रयत्न किया। समालोच्य ग्रन्थ में सत्य धर्म, जिज्ञासा आदि १५ सिद्धान्त या प्रकरण हैं और उनमें ७८८ प्रश्नोत्तरों या शंका समाधानों द्वारा पाठक को धर्म की गहनता समझाने का सफल प्रयास किया है, और अन्त में अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन कर परब्रह्म की उपासना को सर्वोपरि माना है। प्रत्येक प्रकरण के अन्त कहीं-कहीं आदि में भी सार रूपेण पद्य दिए गए हैं, जिनसे बड़ी सहायता मिलती है। इसके यथार्थ ज्ञान और यथार्थ ज्ञानी प्रकरण तो बड़े ही मननीय हैं उनमें कई भ्रान्त कल्पनाओं का परिहार किया गया है, जैसे शिवलिंग की पूजा के सम्बन्ध में है। भाषा की सरलता का बड़ा ध्यान रखा गया है। स्वामी हेमराज जी कई भाषाओं के पंडित थे और ईसाई, इस्लाम आदि अनेक धर्मों का उन्हें ज्ञान था, अतः अन्य धर्मों की भी यथास्थान चर्चा मिलेगी। पुष्ट कागज, छपाई-सफाई बढ़िया, अनेक चित्रों से सुसज्जित। आशा है धार्मिक जनता इसका समादर करेगी।

Scanned with CamScanner

श्री अद्वैत सिद्धान्त

दैनिक नवभारत टाइम्स, दिल्ली, बम्बई ता० २८-६-५८

स्व० स्वामी हेमराज चिदाकाशी अविभाजित भारत के प्रमुख सन्तों में से थे। उनके विभिन्न विषयों पर विचार इस ग्रन्थ रत्न में प्रकाशित किए गए।

इन विचारों को जनता तक पहुँचाने में उक्त स्वामी जी के प्रमुख शिष्य कविराज स्वामी चेतनानन्द चिदाकाशी ने विशेष प्रयत्न किया है। स्वामी चेतनानन्द जी वेदान्त के गम्भीर विद्वान हैं और इसके अतिरिक्त आयुर्वेद एवं संस्कृत साहित्य के भी निष्णात पंडित हैं। आपने इस ग्रन्थ का भली प्रकार सम्पादन संकलन करके इस दिशा में विशेष कार्य किया है।

अद्वैतसार में स्वामी हेमराज के आत्मचिन्तन तथा भक्ति विषयक सारभूत उपदेश हैं। स्वामी जी ने कभी मतान्तर से सम्बन्धित भेदभाव को प्रश्रय नहीं दिया। परोपकार में लगे रहे। प्रस्तुत ग्रन्थ स्वामी जी के पास प्रतिदिन आनेवाले जीवन सुधार विषयक उत्तरों का संकलन है जिन्हें स्वामी जी अपने भक्तों की शंकाओं के उत्तर में दिया करते थे।

प्रस्तुत पुस्तक लगभग ५५० पृष्ठों की जिसमें पन्द्रह अध्यायों में सत्य धर्म, जिज्ञासा सत्संग, सत्गुरु, मन, उपासना, जीवात्मा, जीवन मुक्ति, विदेह मुक्ति आदि अध्यायों में अध्यात्म ज्ञान पर प्रकाश डाला है। पुस्तक आधुनिक मुद्रण साधनों से और भी आकर्षक है।

●

महामण्डलेश्वर श्री स्वामी असङ्गानन्द जी वेदान्ती, हरेराम आश्रम, कनखल, हरिद्वार। दिनांक २६-२-६२

परम ब्रह्मनिष्ठ वेदान्त केसरी श्री १०८ स्वामी हेमराज जी चिदाकाशी कृत और वेदान्ताचार्य स्वामी चेतनानन्द जी चिदाकाशी द्वारा हिन्दी में अनुवादित "श्री अद्वैत सिद्धान्त" स्वामी हेमराज जयन्ती पर मनाये जाने वाले वेदान्त सम्मेलन के अवसर पर मुझे प्राप्त हुआ। इस ग्रन्थ को देखकर और पढ़कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि इसमें भारतीय दर्शनों, न्याय, सांख्य, वैशेषिक, योगपूर्व और उत्तर मीमांसाआदि का तथा सभी वेदान्त ग्रन्थों का सार सुन्दर और सरसवाणी में वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ में आगम और निगम का चयन, उपनिषदों की गुरु शिष्य प्रणाली अर्थात् प्रश्नोत्तर के रूप में १५ सिद्धान्तों के यथार्थ वस्तु ज्ञान इत्यादि का दिग्दर्शन कराया गया है। वास्तव में स्वामी जी ने अपनी वेदान्तमयी जीवन पद्धति को ही इसमें अनुभव के रूप में अनुसूत किया है। यही कारण है कि इसकी भाषा सर्वसाधारण के समझने के योग्य, सरल और अनुभवपूर्ण भावों से ओत-प्रोत है।

मैं समझता हूँ कि इस समय जब कि मानव अपनी ही बाधाओं से व्यथित है वह प्रेय मार्ग की ओर तो जा रहा है परन्तु श्रेय मार्ग की वह कल्पना भी नहीं कर सकता। ऐसे व्यक्यिों के लिए जो अपने जीवन के थोड़े भी समय को अपने कल्याण में लगाना चाहते हैं वे लोग इस ग्रन्थ के अध्ययन, आचरण एवं व्यवहार के द्वारा आत्म सुख का अनुभव करेंगे, इसमें किंचितमात्र भी सन्देह नहीं।

Scanned with CamScanner

"योग-वेदान्त-मासिक" पत्र, लेखक-स्वामी ज्योतिर्मयानन्द सरस्वती
स्वामी शिवानन्द आश्रम ऋषिकेश दिसम्बर, १९६०

श्री अद्वैत सिद्धान्त

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ श्री १०८ स्वामी हेमराज जी महाराज चिदाकाशी में सिर तथा हृदय का अद्भुत समन्वय था। उनके वेदान्त सम्बन्धी विचार शुष्क विद्वत्ता के परिचायक नहीं वरन् हृदय में स्पन्दित एवं आलोड़ित विश्वात्म चेतना के अभिव्यंजक हैं।

इस अनुपम ग्रन्थ में वेदान्त सम्बन्धी गूढ़ विषयों को प्रश्नोत्तर के रूप में समझाया गया है। सत्य धर्म, जिज्ञासा, सत्यसंग, सत्गुरु, मन, उपासना, शरीर, जीवात्मा, संसार, परमात्मा, यथार्थ ज्ञान, यथार्थ ज्ञानी, विज्ञान, जीवन मुक्ति तथा विदेह मुक्ति—इस ग्रन्थ के महत्वपूर्ण विषय हैं। भजन तथा कविताओं के समावेश से यह ग्रन्थ हृदयग्राही तथा बड़ा ही रोचक है। इससे सुगमतया सभी साधक तथा मुमुक्षु अपने जीवन संग्राम में पर्याप्त प्रेरणा तथा शक्ति प्राप्त कर सकते हैं। जीवन की गूढ़ समस्याओं का इतना स्पष्ट विवरण एवं निदान आप शायद ही अन्यत्र प्राप्त कर सकें।

●

श्री अद्वैत सिद्धान्त

(दैनिक जागरण अजमेर, १३ दिसम्बर १९५९)

सर्व प्रथम यह पुस्तक सन् १९०१ में मुल्तान तथा मुजफ्फर गढ़ सतसंगियों ने मुद्रित कराई थी। मूलतः श्री अद्वैत सिद्धान्त गुरुमुखी पंजाबी भाषा में था। इस वर्ष स्वामी जी ने इसका अनुवाद किया है। जन साधारण का ध्यान रखते पुस्तक को अधिक क्लिष्ट नहीं होने दिया गया।

श्री स्वामी हेमराज जी द्वारा दिए गए उपदेशों का भी इस पुस्तक में संग्रह किया गया है। लेखक ने स्वामी जी के विचारों को अपनी लेखनी से यथा सम्भव सारर्भित रूप दे पंचदशम् विभिन्न सिद्धान्तों में विभक्त कर अत्यन्त ही सुन्दर ढंग से जनसाधारण के समक्ष प्रस्तुत किया है।

●

श्री स्वामी चेतनानन्द जी चिदाकाशी, दिल्ली

लेखक के० सी० धीर M.A.F.B.I. (LONDON) 'चान्द' स्टैनो हाउस एजेंसी, अमृतसर।

है पुस्तक चेतना नन्द जी ने भेजी,
मुझे है मिल गई अद्वत सिद्धान्त।
करूँ वर्णन मैं इसका किस जबां से,
है गहरा मौजज़न इक इस में वेदान्त।
यह पुस्तक दूर करती संशय सब के,
'सकूँ' दिल को है देती मन करे शान्त।
बताती है, उसे खुद, खुद में देखो,
समय ढूंढों यदि मिल जाये एकान्त।
सभी हैं भेद इस ने खोल डाले,
यह पुस्तक 'चान्द' चमकाएगी हर प्रान्त।

Scanned with CamScanner

राजेश्वर प्रसाद संजवाल

शास्त्री साहित्याचार्य, विद्यालंकार,
प्रधानाध्यापक
ज्योतिर्मठ (ज्योतिष्पीठ), जोशीमठ गढ़वाल

आज दिनांक १-६-६० को मैंने पूज्य प्रातः स्मरणीय वेदान्त केसरी श्री स्वामी हेमराजजी महाराज चिदाकाशी कृत तथा वेदान्ताचार्य श्री कविराज स्वामी चेतनानन्द जी महाराज चिदाकाशी द्वारा हिन्दी में अनुवादित अद्वैत सिद्धान्त ग्रन्थ को आमूल चूल पढ़ा।

इससे मुझे बड़ी आत्मिक शान्ति प्राप्त हुई। क्योंकि इस ग्रन्थ में जिज्ञासु को अवगत कराने के लिए प्रश्नोत्तर रूप से स्वामी जी ने वेदान्त के सूक्ष्म विषय को सरल भाषा से समझाया है।

इससे भ्रान्त जगत् का महान् कल्याण है। यह स्वामी जी की महान् देन है। श्री बदरीनाथ यात्रा प्रसंग में स्वामी श्री चेतनानन्द जी महाराज चिदाकाशी से सत्संग का मुझे परम सौभाग्य प्राप्त हुआ।

अतः मैं स्वामी जी का नितान्त आभारी हूँ।

●

हिज़होलीनिस, जगत्गुरु शंकराचार्य, ज्योतिर्पीठ स्वामी श्रीकृष्ण बोधाश्रम महाराज बदरिकाश्रम

कैम्प धर्म संघ, महाविद्यालय
७, इन्द्रप्रस्थ मार्ग, दिल्ली
ता० ३-८-१९६१

वेदान्त केसरी श्री हेमराज जी चिदाकाशी द्वारा सम्पादित दो ग्रन्थ, अद्वैत सिद्धान्त और सिद्धान्त पुष्पावली देखने को मिले। दोनों ही ग्रन्थ हिन्दी भाषियों के लिए उपयुक्त हैं। विशेषतः संगीत प्रेमी-जन सरल और सुबोध ढंग से जनता को वेदान्त की गहरी गुत्थियों को समझा सकते हैं। पुस्तक उपादेय हैं।

●

म० स्वामी हरिनारायणानन्द
महामंत्री
केन्द्रीय भारत साधु समाज
सांस्कृतिक विद्यापीठ, पटना-६
२७ मार्च, १९६२

मुझे श्री "अद्वैत सिद्धान्त" नामक ग्रन्थ को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिसका सम्पादन प्रसिद्ध आयुर्वेदीय चिकित्सक श्री स्वामी चेतनानन्द महाराज ने किया है। श्री स्वामी हेमराज मिशन की स्थापना कर आपने समाज सेवा तथा आध्यात्मिक भावना के प्रसार में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किया है। इस प्रकाशन में ब्रह्म, जीव प्रकृति तथा सृष्टि की उत्पत्ति आदि विषयों से लेकर प्राचीन तथा अर्वाचीन सिद्धान्तों की भी समीक्षा की गई है और जगत् के मूल में अद्वैत सिद्धान्त का सरल एवं मधुर भाषा में प्रतिपादन किया गया है। यह बड़ा उपयोगी ग्रन्थ है। इससे श्री स्वामी हेमराज की महत्ता तथा उन्नत विचारों का आभास मिलता है। मानव के व्यवहार में पारमार्थिक सत्ता के साथ ही सामाजिक जीवन में ब्रह्म को किस प्रकार देखा जा सकता है इसका भी कहीं-कहीं चित्रण किया गया है। मैं सम्पादक एवं अनुवादक को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

Scanned with CamScanner

श्री न० वि० गाडगिल, राज्यपाल

राजभवन, चण्डीगढ़, दिनांक २३-२-६२

स्वामी चेतनानन्द चिदाकाशी वेदान्ताचार्य

प्रिय स्वामी जी,

श्री स्वामी हेमराज जी चिदाकाशी लिखित श्री अद्वैत सिद्धान्त का ग्रन्थ मैंने पढ़ा। ज्ञानी और भक्त परमेश्वर की आराधना करते हैं। कोई भक्ति द्वारा, कोई कर्म द्वारा कोई ज्ञान द्वारा। किन्तु श्रेष्ठ मार्ग ज्ञान मार्ग है और ज्ञान, उपासना और कर्म इन तीनों का समन्वय जब होता है तब मोक्ष प्राप्ति की योग्यता या पात्रता मनुष्य को प्राप्त होती है। जीवन में कुछ संसार मग्न होते हैं, कुछ संसार के बाहर ज्ञान की प्राप्ति करने के विमुक्त होते है और ज्ञान प्राप्ति के लिए ग्रन्थ पठन, गुरु सेवा, ध्यान, धारणा आदि नाना उपाय करते हैं। जिनको संसार में रहकर श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करना है उनके लिए समता, संतोष, सुविचार और सत्संग इन चारों की आवश्यकता होती है। ज्ञान की प्राप्ति ग्रन्थ पठन से होती है, साथ-साथ गुरुप्रसाद से भी होती है।

अद्वैत सिद्धान्त सर्व वेदान्तशास्त्र का सार है और वेदान्त का महावाक्य है **"ब्रह्म सत्यम् जगत् मिथ्या जीवोब्रह्मैव नापरा।"**। यह एक वेद वेदांग का सार श्रीमद् आदिशंकराचार्य जी ने बताया है। जग मिथ्या है और ब्रह्म सत्य है। जीव और ब्रह्म, जीव और शिव यह दो नहीं एक हैं, यही अद्वैत सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का विवरण स्वामी हेमराज जी ने इस अद्वितीय ग्रन्थ में किया है।

सत्य धर्म का स्वरूप, ज्ञान की जिज्ञासा से उत्पत्ति, सत्संग, सतगुरु वर्णन, जीवात्मा, परमात्मा, मन, उपासना, शरीर इत्यादि विषयों का विवरण सुबोध और सरस भाषा में इस ग्रन्थ में वाचकों को मिलता है। उपनिषद् और वेदों में जो कुछ कहा है वही स्वामी जी के ग्रंथ में कहा है। साधक प्रश्न करता है और गुरु उसका उत्तर देता है। यह ज्ञान दान की पद्धति बहुत उपयुक्त है। इस पद्धति में प्रश्न का जवाब भी मिलता है और साथ-साथ प्रश्न करने वाले की बुद्धि को आह्वान भी किया जाता है। उसके दिल में जो शंकाएँ होती हैं वह पूछता है और गुरुदेव उसका उत्तर देते हैं। गीता में लिखा है ज्ञान प्राप्ति अभ्यास और परिप्रश्न द्वारा होती है। यही योजना इस ग्रन्थ में अपनायी गई है। सारे वेदान्त का सार इस ग्रन्थ में वाचकों को मिलता है। स्वामी जी कहते हैं—

"आत्मवित्त मत्सर रहित, निरमम निरहंकार
शीतल चित निष्कपट मन, विचरत सहित विचार।"

इस उपदेश पर अगर मानव चले तो उसके लिए मोक्ष निश्चित है।

"ज्योंकि त्यों सत् वस्तु सब ही, यह सिद्धान्त चितारो।
देह अरु देह अवस्था सगरी, चिदविलास वीचारो।"

विदेह मुक्ति का सिद्धान्त जो स्वामी जी ने स्पष्ट किया है उसमें मुक्ति का अर्थ दुख की निवृति और परमानन्द की प्राप्ति ऐसा बताया है यह मेरी दृष्टि से भी बिल्कल ठीक है। वेदान्त शास्त्रों के कई सिद्धान्तों को स्वामी जी ने उदाहरणों के साथ स्पष्ट किया है। जो ज्ञानी हैं वह तो वेद और उपनिषद को पढ़ेंगे लेकिन जो जन साधारण और अपठित जन हैं उनके लिए मोक्ष प्राप्ति का मार्ग इस ग्रन्थ ने सुलभ कर दिया है। उपासना और कर्म किसी न किसी रूप से मानव को अनिवार्य हैं। **"नहि कश्चित्क्षणमीप जातुष्ठित्य-कर्मकृत्"** एक क्षण के लिए भी मानव कर्म रहित नहीं रह सकता। कायिक और मानसिक कार्य तो अविरत होता हीहैं। अगर यही कर्म, उपासना के साथ, यानी कुछ अनुशासन के साथ हो, तो वह श्रेष्ठ कर्म हो जाता है और ज्ञान के साथ अगर वह किया जावे तो वह श्रेष्ठतम हो जाता है। इतना ही नहीं, कुछ काल करने के बाद मानव को ज्ञान एवं मोक्ष, इस सिद्धान्त का साक्षात्कार हो जाता है।

ऐसे सरल और सुबोध ग्रन्थ का प्रकाशन करके "सत्य-धर्म मण्डल" ने एक सुन्दर और उपयुक्त कार्य किया है इसलिए वह अभिनन्दन पात्र है।

Scanned with CamScanner

श्रद्धांजलि, माननीय श्री हरिभाऊ उपाध्याय, वित्तमंत्री, राजस्थान द्वारा, स्वामी हेमराज जयन्ती पर स्वामी हेमराज मिशन में २९-९-६१ को निखिल भारतीय वेदान्त-सम्मेलन के अवसर पर श्री उपाध्याय जी द्वारा दिए गए उद्घाटन भाषण से उद्धृत एक अंश :—

आदरणीय स्वामी जी,

सादर प्रणाम !

मैं जो यह श्रद्धांजलि अर्पित कर रहा हूँ, वह केवल शिष्टाचार और लोकाचार के नाते ही अर्पित नहीं कर रहा। वास्तव में श्री स्वामी चेतनानन्द जी महाराज चिदाकाशी ने "श्री अद्वैत सिद्धान्त" नाम का ग्रन्थ मुझे दिया, जो आपने हिन्दी में अनुवाद करके प्रकाशित किया है, उसको मैंने काफी पढ़ा, और मुझे इतना अच्छा लगा कि उसके कई अंश मैंने अपने घर में स्त्रियों को पढ़कर सुनाए और वह समय-समय पर पढ़ती हैं उनको। वह इतनी सरल भाषा में और प्रभावपूर्ण शब्दों में है कि ज्ञान, विवेक, वैराग्य इत्यादि के बारे में भी उन्होंने अनुभवपूर्ण जो लिखा, वह वास्तव में हृदय पर प्रभाव डालता है।

जिससे मैं विशेष रूप से प्रभावित हुआ, वह केवल एक महापुरुष के प्रति जो साधारण श्रद्धा होती है या होनी चाहिए, उसी तरह श्रद्धांजलि अर्पित नहीं कर रहा हूँ, पर मैंने जो पढ़ा और समझा, उसके आधार पर मैं यह हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

जिनको मैं हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करने यहाँ आया, वह वेदान्त केसरी थे और अद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादक थे। आज वेदान्त सम्मेलन है और वेदान्त सिद्धान्त तो अद्वैत सिद्धान्त ही है, ऐसा मैं समझता हूँ।

●

दैनिक हिन्दुस्तान सिंधी, बम्बई ९ अगस्त, १९५९

स्वामी हेमराज साहब चिदाकाशी अजे नाले खाँ हरको सिंध वासी बंखूबी वाकफ आहे ! स्वामी जन जा केतराई श्रद्धालू सिंध में हुआ। ऐं सन्दन अमोलक वचनन ऐं वाणी अजो प्रचार करिण लाय चिदाकाशी मन्दिर कायम थियल हुआ !

विरहांगे खाँ पोइ दिल्ली अमे सत्य धर्म मण्डल स्वामी हेमराज मिशन मार्ग ७।५ पूर्वी पटेलनगर में कायम कयो वियो आहे, हिन मिशन तर्फां स्वामी जनजो रच्यल धर्मी साहित्य प्रकाशित कयो वञें थो ! मथ्यों पुस्तक स्वामी हेमराज साहब जे रच्यल चून्ड पुस्तकन माँ हिकु आहे, उनमें स्वामी जन जा वचन दोहा, भजन, स्वाल, जवाब ऐं चौपायूँ वगैरा ड़िनल आहिन ! पुस्तक में कुल ५४९ सुफा आहिन। हर हिक दोहे, चौपाई अथवा भजन जो अक्षर-अक्षर रूहानी राज भरियो आहे, हिन दूखमय दुनिया मे जड़हिं चौतर्फ निराशा, क्लेश ऐं कष्ट नज़र पियो अचे, मनुष्य मुंझयल ऐं मूड़हल पियोपसजे तड़ हिं हहिड़ा धर्मी पुस्तकई तनखे तक्यो, मनखे उन्नती ऐं आत्मिक आनन्द वठाईन था। स्वामी हेमराज मिशन ऐं सत्य धर्म मन्दिर जो संचालक श्री स्वामी चेतनानन्द चिदाकाशी काफी लगन सांहीउ सत् धर्म प्रचार कार्य करे रहयोआहे !

Scanned with CamScanner

श्री स्वामी आत्मानन्द जी महाराज मुनि, आनन्द कुटीर, आश्रम पुष्कर राज, अजमेर

४।४।६२

श्रद्धेय ब्रह्म निष्ठ श्रीमान् स्वामी जी महाराज,

परमानन्द की प्राप्ति और दुःखरूप संसार की निवृत्ति—यही मोक्ष का स्वरूप है। दुर्लभ मानव-जीवन का यही चरम लक्ष्य है और इस लक्ष्य की पूर्ति यहीं की जा सकती है, इसके सिवा अन्य किसी देवादि योनियों में भी नहीं। दुःखरूप संसार के मूल में एक मात्र भेद बुद्धि का ही राज्य होता है। भेदबुद्धि अपने निजात्मस्वरूप के अज्ञान से होती है और अज्ञान की निवृत्ति केवल आत्मज्ञान से ही सम्भव हो सकती है। क्योंकि यह नियम है कि जिसके अज्ञान से जो कार्य उत्पन्न होता है, उसके ज्ञान से ही उस कार्य की निवृत्ति होती है। जैसे रज्जु के अज्ञान से उत्पन्न हुआ सर्प रज्जु के ज्ञान से ही निवृत्त हो सकता है, अन्य किसी भी प्रकार से नहीं। आत्म ज्ञान की सिद्धि ज्ञान में प्रतिबन्धक आत्मविषयक संशय-विपर्यय की निवृत्ति बिना असम्भव है। संशय-विपर्यय केवल वेदान्त शास्त्र के श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन से ही निवृत्त हो सकते हैं, इसके लिए अन्य कोई उपाय नहीं हो सकता। इसलिए मोक्षार्थी के लिए वेदान्त-शास्त्र का श्रवण-मनन निदिध्यासन मुख्य कर्तव्य है। यद्यपि वेद का अन्तिम भाग होने से उपनिषदें ही 'वेदान्त' नाम से अभिहित की जाती हैं, तथापि वे देववाणी में होने से उस वाणी से अनभिज्ञ जिज्ञासु उनसे लाभ नहीं उठा सकते। इसलिए उनके आशय और लक्ष्य को ध्यान में रखकर तत्त्ववेत्ता अनुभवी पुरुषों ने उनपर द्रवीभूत होकर प्राकृत भाषा में जो अपने अनुभव के उद्‌गार निकाले हैं वे सब भी वस्तुतः वेदान्त ही हैं, रञ्चक भी भेद नहीं। क्योंकि ज्ञान सर्वव्यापी होने से किसी वाणी विशेष में सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता।

वेदान्त केसरी श्रीमान् स्वामी हेमराज जी चिदाकाशी द्वारा रचित प्रस्तुत पुस्तक

श्री अद्वैत सिद्धान्त इसी प्रकार का खरा वेदान्त-दर्शन है जो भाषा-भाषी जिज्ञासुओं पर अनुग्रह करके उनके अपने निजी अनुभव के आधार पर रचा गया है। इसके श्रवण-मनन से साधनसम्पन्न जिज्ञासुओं के संशय-विपर्ययों की अवश्य निवृति होगी। इसमें विशेषता यह है कि यह ग्रन्थ प्रश्नोत्तर के रूप में लिखा गया है, जिनसे प्राय सभी प्रकार की शंकाओं का समाधान मिल जाता है। इसके अतिरिक्त जो पद जहाँ-तहाँ इस ग्रन्थ में अनुभव के आधार पर रचे गए हैं, वे भी जिज्ञासु के लिए स्वरूप स्थिति में सहायक होंगे।

यह मूल ग्रन्थ गुरुमुखी लिपि और पंजाबी भाषा में रचा गया था जोकि केवल इसी भाषाविदों के लिए उपयोगी होता था। इस मिशन के वर्तमान सञ्चालक श्रीमान् स्वामी चेतनानन्द जी चिदाकाशी महाराज ने इस त्रुटि का अनुभव किया और उन्होंने बड़े परिश्रम से राष्ट्र भाषा हिन्दी में इसका अनुवाद करके सर्वसाधारण जिज्ञासुओं पर बड़ा उपकार किया है। इसके लिए उन जिज्ञासुओं की ओर से पूर्ण धन्यवाद के पात्र हैं। इस ग्रन्थ की उपयोगिता इसी से प्रमाणित हो जाती है कि थोड़े समय में ही इसकी अन्य आवृत्ति निकल रही हैं॥ ॐ॥

Scanned with CamScanner

महा मण्डलेश्वर, १०८ श्री स्वामी पूर्णानन्द जी महाराज

श्री कृष्ण निवास आश्रम, संन्यास रोड कनखल :—

तर्क प्रचुर एवं विज्ञान प्रधान इस बौद्धिक युग में मानव विज्ञान के बल पर सूर्य और चन्द्रलोक की पर्यवेषणा में अपनी बुद्धि की पराकाष्ठा समझता है।

आज पाश्चात्य देश का एक वैज्ञानिक व्यक्ति भौतिक विज्ञान से निष्पादित सफल प्रयोगों से अपने आपको कृतकृत्य मानकर संसार को चुनौती (चैलेंज) दे रहा है। "यावद् विद्या तावत् ज्ञानम्" इस न्याय के अनुसार उनका कथन किसी अंश तक ठीक हो सकता है, परन्तु भारतीय वाङ्मय के सूक्ष्मपर्यवेक्षकों ने भौतिक विज्ञान से आगे 'अध्यात्मवाद' को सर्वोपरि बताया है। आज दोनों वादों में कश्मकश बड़े जोरों से चल रहा है और अब पौर्वात्य एवं पाश्चिमात्य दार्शनिकों ने यह सादर अंगीकार कर लिया है कि भौतिकवाद की अपेक्षा 'अध्यात्मवाद' ही सर्वोपरि है।

आज संसार में जितने भी प्राणी हैं उनका एक मात्र अभिप्रेत यही है कि 'दुःख' की निवृत्ति और निर्बाध शाश्वत 'सुख' का आस्वादन। इसी के लिए मानवमात्र का अहर्निश प्रचुर प्रयास हो रहा है। शब्दान्तर से इसी को शास्त्र में 'मुक्ति' शब्द से कहा गया है। दार्शनिक सार्वभौम महर्षि गौतम के मतानुसार 'बाधनालक्षणं दुःखम्' और 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः' पदार्थ ही का नाम 'मुक्ति' है। मुक्ति की अवस्था में जीव किसी 'देश' अथवा 'जनपद' विशेष में जाकर स्थित हो जाता है, यह बात नहीं; अपितु स्फुरणा से रहित होकर समान अवस्था का सतत संवेदन ही 'मुक्ति' की अवस्था है। इसी स्थिति को प्राप्त करने के लिए "अद्वैत वेदान्त-सिद्धान्त" को समझने की महती आवश्यकता होती है।

चार वेद, छः शास्त्र, अठारह पुराण आदि समस्त वैदिक एवं आर्ष वाङ्मय उसी एक अर्थ का अवबोध कराकर जीव को मुक्तावस्था की स्थिति का अनुभव कराता है। उस अवस्था का अनुभव ही "आत्मसाक्षात्कार' है। उसी आत्मा के ज्ञान के लिए मानवमात्र का निखिल प्रयत्न है और उसी ज्ञान की अवाप्ति के लिए 'अद्वैत वेदान्त' का श्रवण-अध्ययन मनन और निदिध्यासन बताया गया है।

'अद्वैत वेदान्त' से तात्पर्य वेद के शिरोभाव ज्ञानकाण्ड से है। उसको उपनिषद् शब्द से भी कहा गया है। श्रौतप्रस्थान 'उपनिषद् दार्शनिक प्रस्थान 'ब्रह्म-सूत्र' और स्मार्त प्रस्थान 'भगवद् गीता' है। इसको त्रिमुनि वेदान्त' कहते हैं। अद्वैत वेदान्त के प्रमुख तीन आचार्य सुप्रसिद्ध हैं। बादरायण, आद्य भगवान् शंकर और सुरेश्वराचार्य। अद्वैत वेदान्त का वास्तविक अर्थ 'एक ब्रह्मवाद' 'एकात्मवाद' जिसको आचार्य गौड पाद के शब्दों में 'अजातवाद' कह सकते हैं।

"वेदानामन्तो भवति यस्मिन् स वेदान्तः" उपक्रम-उपसंहार द्वारा वेदों का अन्तिम निर्णय "जीवो ब्रह्मैव नापरः" ब्रह्म से भिन्न जीव की कोई सत्ता ही नहीं है। इस प्रकार जीव-ब्रह्म के ऐक्य की परमार्थ साधना ही प्रस्थानत्रय का वास्तविक अभिप्राय है। इस बात का श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ गुरुजनों से ही साक्षात्कार हो सकता है। अतः हमारे आर्ष वाङ्मय में सद्गुरु की महिमा का विशेष उल्लेख किया गया है— "गुरु साक्षात् परब्रह्म, तस्मै श्री गरुवे नमः" इतना ही नहीं, मोक्ष प्रतिपादक शास्त्र में यहाँ तक कथन किया गया है—

अखण्डमण्डलाकारं, व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवेनमः॥
अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानांजनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः॥

आज से पूर्व समय में जीव के कल्याण के लिए वेदान्त सम्मेलनों का समय-समय पर आयोजन हुआ करता था। उसी अभिप्राय को लेकर आज पुनः वेदान्त-सम्मेलनों का आयोजन हो रहा है और अद्वैत वेदान्त

Scanned with CamScanner

सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराकर जीव के नाना जन्मों के दुरितों को दूर कराने का सुप्रयास किया जा रहा है। यह आज के युग की एक नयी देन है। उसी प्रसंग में—मुझे मेरी सम्मानित आत्मा—श्री अद्वैत सिद्धान्त के निर्माता वेदान्त केसरी श्री स्वामी हेमराज जी महाराज चिदाकाशी-ब्रह्मनिष्ठ-आत्मवेत्ता के ग्रन्थरत्न के अवलोकन करने का शुभावसर संप्राप्त हुआ।

इसमें 'अद्वैत वेदान्त' के सिद्धान्त का सरल सुचारु हिन्दी भाषा में प्रतिपादन किया गया है। कठिन से कठिन गुत्थियो को सुलझाने का जो सुप्रयास किया गया है, सर्वथा प्रशंसनीय है। यद्यपि अद्वैत वेदान्त एक क्लिष्ट विषय है, साधारण मनुष्य के समझ में जल्दी नहीं आता। जीव एक तुच्छ-पृथक् पदार्थ है और ब्रह्म एक महत् वस्तु है। दोनों का समन्वय जीव के लिए अति कठिन कार्य है। जीव अज्ञान कलुषित है। वेदान्त शास्त्र में जीव का लक्षण किया है 'अल्पज्ञत्व विशिष्टो जीवः, और ब्रह्म सर्वज्ञ-सर्ववित् है। उसका लक्षण 'सर्वज्ञत्वविशिष्टं ब्रह्म' बताया है। दोनों का ऐक्य बताकर एक वस्तु के प्रतिपादन द्वारा अविद्यान्वित जीव को युक्ति-प्रयुक्ति से बोध कर देना अत्यन्त कठिन है। दोनों का ऐक्य कर समझना जीव के लिए अत्यन्त कठिन है। तथापि गुरु-शिष्य एवं प्रश्नोत्तर के रूप में कठिन विषय को भी सरल सुन्दर-रोचक एवं तर्क संगत दृष्टान्तों से हृदयंगम कराने का लेखनी द्वारा जो सुप्रयास किया गया है, सर्वथा स्तुत्य है। यह बात लेखक की लेखनी की सफलता का परिचायक है।

मैंने "श्री अद्वैत सिद्धान्त" ग्रन्थरत्न को बड़े मनोयोग से पढ़ा। वेदान्त के प्रायः सभी अनिवार्य अंगों (पहलुओं) पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है। ग्रन्थ पन्द्रह प्रकरणों में विभक्त है।

व्याकरण महा भाष्य में प्रयोग आता है 'कणोहत्य पिवति' और 'कणेहत्य अत्ति' इसका अर्थ है पात्र में स्थित जल और भोजन को खाता है। पर ऐसा खाता है कि, एक चावल का दाना या एक बून्द जल भी नहीं छोड़ता है। इसी प्रकार प्रस्तुत पुस्तक में कोई भी विषय वेदान्त का छोड़ा नहीं गया है। साधारण अधिकारी को भी इस ग्रन्थ से अद्वैत वेदान्त का अच्छा ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

यह ग्रन्थ आचार्य गौड़पाद के अजातवाद और व्यास-शंकर-सुरेश्वर के अद्वैतवाद का समर्थक होने से सर्वथा-सर्वदा संग्राह्य एवं उपादेय है। ग्रन्थ के बीच-बीच में भजन-दोहा-चौपाई-सोरठा एवं कुण्डली छन्दों में अद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादन से ग्रन्थ का गौरव और भी बढ़ गया है। यहाँ पर हिन्दी की प्रसिद्ध "चार-चाँद लग जाने" की अभिज्ञोक्ति चरितार्थ होती है। प्रसाद गुण युक्त कुछ छन्दों के उद्धहरण से आप समझ सकेंगे कि ग्रन्थ अद्वैत सिद्धान्त का कितना परिपोषक है।

भजन :— साधो परमात्मा है पूरण ।।
रोम-रोम और अणु-अणु में व्याप रहा है चिद्घन ।।
डार-डार और पात-पात में फूल और फल में दर्शन ।।
साधो सब में पूर रह्यो है राम ।।
जहाँ-जहाँ देखा तहाँ-तहाँ सोई सकल रूप अरूनाम ।।

इन भजनों की पंक्तियों में ब्रह्म के सर्व व्यापकता की ध्वनि प्रस्फुरित हो रही है।

दोहा :— इन्द्रिय अन्तःकरण कर, विषय होइ जो वस्तु।
केवल अस्तिमात्र है, तजो ज्ञान अध्यस्त ।।
कार्य सहित अज्ञान को, लीन करो निज माहिं।
निज को निजकर निज लखो, द्वन्द भाव जहाँ नाहिं ।।

इस दोहे में अध्यस्त ज्ञान के अनुमोदन द्वारा एक अधिष्ठान ब्रह्म की सत्ता को अंगीकार कर वेदान्त के उस प्रसिद्ध उक्ति की ओर चित्त आकृष्ट किया गया है —"अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः"

Scanned with CamScanner

अन्त में एक ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है और समस्त कल्पित भूत-भौतिक कार्यकलाप का लोप हो जाता है।

सोरठा :— निज स्वरूप को ज्ञान, भाखो भगवन् दया कर।
रहे न रंचक आन, एक वस्तु भासे अमल॥

इस सोरठे में शिष्य अभिमान त्याग कर विनम्रभाव से श्री गुरुजी के चरण-कमलों में उपस्थित होकर अपने वास्तविक स्वरूप की जिज्ञासा करता है। इसके उत्तर में श्री गुरुदेव नम्रभूत शिष्य के लिए 'भूमा ब्रह्म' के स्वरूप का कथन कर अद्वैत का मार्ग-दर्शन कराते हैं।

कुण्डली :— ऐसे ज्ञानी जगत् में, दुर्लभ देखे जाहिं।
जाँके दम्भ न ईर्ष्या, मान बढ़ाई नाहिं॥

इस कुण्डली में परमार्थ दर्शी ज्ञानी के लक्षण बताकर "ब्रह्म विद-ब्रह्मैव भवति" का स्फुट उल्लेख किया और गीता के बारहवें अध्याय में बताये हुए ज्ञानी के लक्षण की ओर संकेत किया। इसमें भी अद्वैत सिद्धान्त ही ध्वनित होता है। अतः ग्रन्थ का अभिधान भी अन्वर्थ ही है। यह अपने ढंग का वेदान्त के अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादक अपूर्व ग्रन्थरत्न है।

प्रेमी-सज्जन, सत्संगी-भक्त-साधक—ब्रह्मात्मैक्य-अद्वैत ज्ञान के परम जिज्ञासुओं के लिए एक मात्र वेदान्त-ज्ञान ही उनके अन्तःकरण को स्वच्छ करने में सफल साधन सिद्ध हो सकता है।

अतः उन जिज्ञासुजनों एवं सद् गृहस्थों से अनुरोध है कि "श्री अद्वैत सिद्धान्त" ग्रन्थ को अपना कर इसके अध्ययन-चिन्तन-मनन द्वारा वे अपने जीवन का चरम (अन्तिम) एवं परम अभिप्रेत अखिल अनर्थ निवृत्ति पूर्वक परमानन्द प्राप्ति रूप, चरम पुरुषार्थ स्वरूपभूत नित्य सिद्धमोक्ष का अनुभव करेंगे।

—:o:—

Scanned with CamScanner

Scanned with CamScanner

B131.C5830 c.1
Sri advaita siddhanta
089 858 341
UNIVERSITY OF CHICAGO

Scanned with CamScanner